TEXT PROBLEM WITHIN THE BOOK ONLY

UNIVERSAL LIBRARY
OU_186372
UNIVERSAL LIBRARY

अठारह सौ सत्तावन

लेखक
सुरेन्द्रनाथ सेन

भूमिका लेखक
मौलाना अबुल कलाम आज़ाद

पब्लिकेशन्स डिवीज़न
सूचना एवं प्रसार मन्त्रालय
भारत सरकार

१५ अगस्त १९५७ (२४ श्रावण १८७९)

४ रुपये ५० नये पैसे

Checked 1965

Checked 1969

डायरेक्टर, पब्लिकेशन्स डिवीज़न, ओल्ड सेक्रेटेरियट, दिल्ली द्वारा प्रकाशित
तथा एलबियन प्रेस, कश्मीरी गेट, दिल्ली द्वारा मुद्रित

भूमिका

लगभग पांच वर्ष हो चुके हैं, जब भारतीय ऐतिहासिक आलेख आयोग (इण्डियन हिस्टॉरिकल रिकार्ड्स कमीशन) के वार्षिक अधिवेशन में मैंने उसके सदस्यों का ध्यान १८५७ के महान विद्रोह का नया इतिहास लिखने की आवश्यकता की ओर आकर्षित किया था। इस विद्रोह को आम तौर पर "सिपाही-ग़दर" भी कहा जाता है। मैं यह जानता था कि इस विषय पर बहुत-से लोगों ने काफी अध्ययन किया है। अगर हम केवल मान्यताप्राप्त इतिहासज्ञों की ही कृतियों को लें, तब भी इस विद्रोह पर लिखी हुई पुस्तकों की संख्या सैकड़ों में होगी। इतने पर भी मैंने यह अनुभव किया कि इस संघर्ष पर अभी तक निरपेक्ष भाव से कोई इतिहास नहीं लिखा गया है। प्रायः ये सभी पुस्तकें एक ही दृष्टिकोण से लिखी गयी हैं, अर्थात अंग्रेज़ों के दृष्टिकोण से।

इस महान संघर्ष के रूप और विस्तार के बारे में बहुत समय तक भारत में और भारत से बाहर भी एक विवाद चलता रहा। इस संघर्ष के सम्बन्ध में लिखी गयी प्रायः सभी पुस्तकों में यह कहा गया है कि भारतीय सेना ने तत्कालीन सरकार के विरुद्ध विद्रोह किया था। उनमें यह स्वीकार किया गया है कि कुछ भारतीय रियासतें भी इस विद्रोह में शामिल हो गयी थीं, लेकिन वे ऐसी रियासतें थीं, जिन्हें लार्ड डलहौज़ी ने अपने अधिकार में ले लिया था। इसलिए उनमें रोष था। ब्रिटिश सरकार ने देश के शासक के रूप में इस विद्रोह को दबा दिया और शान्ति स्थापित की।

इन अनेक पुस्तकों में से एक ने भी १८५७ की घटनाओं को किसी दूसरे दृष्टिकोण से प्रस्तुत नहीं किया। यह उल्लेखनीय है कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी का क़ानूनी अधिकार केवल इतना था कि वह राजस्व के मामले में बंगाल, बिहार और उड़ीसा में मुग़ल बादशाह के दीवान या एजेंट के रूप में काम करे। कम्पनी ने जो क्षेत्र अपने अधिकार में लिये थे, वे उसने सेना के जोर से जीते थे, लेकिन कहीं भी उसने बादशाह की सत्ता को चुनौती नहीं दी थी। जब सेना ने कम्पनी का अधिकार मानने से इन्कार कर दिया तो कम्पनी ने बादशाह से कहा कि वह अपना अधिकार पुनः स्थापित करे। इसलिए यह विवादपूर्ण प्रश्न है कि क्या भारतीय सेना के विद्रोह को देश की शासन-सत्ता के विरुद्ध विद्रोह मात्र माना जाए? यह भी उल्लेखनीय है कि जहां बहुत से लेखकों ने अपनी पुस्तकों में भारतीयों द्वारा यूरोपीय पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों पर किये गये अत्याचारों का विस्तार से वर्णन किया है, वहां दूसरी ओर बहुत कम लेखक ऐसे हैं, जिन्होंने अंग्रेज़ों द्वारा भारतीयों पर किये गये वैसे ही अत्याचारों की चर्चा की है।

१

मैं समझता हूं कि इस विद्रोह के सम्बन्ध में बीसवीं सदी के शुरू में प्रकाशित तीन जिल्दों वाला इतिहास विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यह इतिहास शाही आलेख विभाग (इम्पीरियल रिकार्ड्स डिपार्टमेंट) में विद्यमान सरकारी कागज-पत्रों के आधार पर लिखा गया था। वह विभाग अब भारत का राष्ट्रीय आलेख संग्रहालय (नेशनल आर्काइव्ज़ आफ़ इण्डिया) कहलाता है। अब यह एक आम प्रथा है कि लगभग ५० साल बीत जाने पर सरकारी कागज-पत्र गवेषणा करने वालों को अध्ययन के लिए दिये जाते हैं। ब्रिटेन ने नेपोलियन के साथ हुए युद्धों के बारे में आलेख या काग़ज-पत्र गवेषकों को देने का जो निर्णय किया था, उसी से यह प्रथा चली है। यूरोप के अधिकांश देशों ने यही प्रथा अपनायी है। १९०७ में भारतीय विद्रोह के पचास वर्ष पूरे हुए थे और इसलिए शायद तत्कालीन भारत सरकार ने यह अनुभव किया कि उन सरकारी कागज-पत्रों के आधार पर एक इतिहास लिखा जाए, जो उन दिनों गवेषणा करने वालों के लिए उपलब्ध किये जाने वाले थे।

यह इतिहास यद्यपि सरकारी कागज-पत्रों के आधार पर लिखा गया है, किन्तु इसमें भी संघर्ष का वर्णन उसी भावना से किया गया है, जिससे अन्य अंग्रेज़ लेखकों ने किया है। इस इतिहास में केवल एक नयी बात है। लेखक ने स्पष्ट रूप से कहा है कि अवध में हुए संघर्ष में राष्ट्रीय क्रान्ति के बीज मौजूद थे। कम्पनी ने अवध को उन्हीं दिनों एक भारतीय राजा से अपने अधिकार में ले लिया था और लोगों में इस बात का रोष था। इसलिए उन्हें उस कम्पनी का विरोध करना उचित लगा, जिसने अवध को अनुचित रूप से हथिया लिया था। अवध में विद्रोह के राष्ट्रीय रूप का उल्लेख करना कोई नयी खोज नहीं थी, इसलिए लेखक को वही बात दोहराने में कोई कठिनाई नहीं हुई, जो लार्ड कैनिंग पहले ही मान चुके थे। लेखक ने यह भी कहा है कि कुछ हद तक इसी वजह से विद्रोह को दबाने के बाद अवध के ताल्लुकेदारों से नर्मी का व्यवहार किया गया।

जैसा मैं पहले कह चुका हूं, मैंने यह अनुभव किया कि १८५७ के आन्दोलन का एक नया और निरपेक्ष इतिहास लिखने का समय अब आ गया है। १९५४ की शरद ऋतु में फिर मुझे इस बात का ध्यान आया और मैंने यह अनुभव किया कि इस विद्रोह की शताब्दी के अवसर पर, उथल-पुथल करने वाली तत्कालीन घटनाओं का एक नया और अधिकृत विवरण प्रस्तुत करना उचित होगा। तथाकथित ग़दर में सबसे पहले गोलियां १० मई, १८५७ को चलायी गयी थीं। इस संघर्ष का विस्तृत इतिहास निकालने का १० मई, १९५७ से अच्छा और कोई अवसर नहीं हो सकता।

२

मैं यह समझता हूं कि जो घटनाएं लोगों की भावनाओं को पहले इतना अधिक भड़का चुकी हैं, उनका निरपेक्ष विवरण लिखना कितना कठिन काम है। व्यक्तिगत, जातीय या राष्ट्रीय भावना से प्रभावित होने के कारण किसी भी व्यक्ति के लिए सन्तुलन कायम रखना आसान काम नहीं है। फिर भी अगर वह सही अर्थ में इतिहासज्ञ है, तो उसे निरन्तर इस

प्रकार का सन्तुलन बनाये रखने का प्रयत्न करना चाहिए। मैं यह भी मानता हूं कि भारत को स्वतन्त्रता मिलने से पहले इस विद्रोह का निरपेक्ष इतिहास लिखना अधिक कठिन था। आज दो कारणों से यह कार्य अधिक सम्भव प्रतीत होता है। जिन घटनाओं का हमें अध्ययन करना है, वे १०० साल पुरानी हो चुकी हैं। उस समय ताजी घटनाओं के बारे में जो तीव्रता थी, वह अब बहुत कुछ समाप्त हो चुकी है। बीच में इतना अधिक समय निकल जाने के कारण अब हम तटस्थ भाव से उन लोगों के कार्यकलाप का अध्ययन कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त अब इन पुरानी घटनाओं से राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति भी नहीं होती। भारत और ब्रिटेन की राजनीतिक समस्या सुलझायी जा चुकी है। यह कार्य आपसी बातचीत और समझौते से हुआ है, जिससे दोनों देशों में मैत्री की नयी भावना पैदा हुई है। पहले भारत और ब्रिटेन के सम्बन्धों में कटुता थी, वह अब नहीं है। अब ऐसा वातावरण बन गया है कि १८५७ के संघर्ष के दोनों पक्षों की त्रुटियों की निन्दा या प्रशंसा किये बिना निष्पक्ष और तटस्थ रूप से उस समय की घटनाओं का अध्ययन किया जा सकता है।

यह ध्यान रखने की बात है कि उन दिनों किसी भी भारतीय ने ऐसा कुछ नहीं लिखा, जो संघर्ष का भारतीय दृष्टिकोण से लिखा गया विवरण माना जा सके; लेकिन अगर हम इस पर विचार करें, तो हमें कोई आश्चर्य की बात दिखाई नहीं देगी। हम जानते हैं कि इस संघर्ष को बहुत शक्ति से दबाया गया था। कई साल तक देश में आतंक का वातावरण रहा। सैकड़ों को बिना मुकदमा चलाये फांसी दे दी गयी; उत्तर भारत का शायद ही कोई ऐसा इलाका बचा था, जहां फांसी के खम्भों से झूलती हुई लाशें लोगों को सरकार की प्रतिहिंसा की याद न दिलाती हों। ऐसे समय में किसी भी भारतीय ने स्वतन्त्र रूप से १८५७ की घटनाओं के बारे में कुछ कहने या लिखने की हिम्मत नहीं की, सिर्फ कुछ ऐसे भारतीयों का लिखा हुआ विवरण मिलता है, जो सरकारी कर्मचारी थे या सरकार के समर्थक थे। लेकिन स्वतन्त्र और स्पष्ट रूप से लिखने का साहस किसी को भी न हुआ।

मिर्ज़ा मैनुद्दीन के उदाहरण से यह पता चलता है कि उन दिनों भारतीय कितने आतंकित थे। विद्रोह के दिनों में वह दिल्ली की बस्तियों में पुलिस सब-इंस्पेक्टर था। वह ईरान भाग गया और दो साल बाद लौटा। उसने विद्रोह के दिनों में सर थियोफ़िलस मेटकाफ़ की जान बचायी थी। सर थियोफ़िलस के कहने पर उसने अनुभवों का एक विवरण लिखा था, लेकिन उसने मेटकाफ़ को अपनी पाण्डुलिपि इस शर्त पर दी थी कि वह उसके जीते जी प्रकाशित न की जाएगी। उसकी किताब में सरकार के विरुद्ध एक शब्द भी नहीं है। उसमें सिर्फ यही लिखा है कि उस काल में उसने खुद क्या किया। तब भी वह इतना अधिक आतंकित था कि उपर्युक्त शर्त पर ही वह सर थियोफ़िलस मेटकाफ़ को पाण्डुलिपि देने को राजी हुआ। मेटकाफ़ ने अपना वचन निभाया और मैनुद्दीन की मृत्यु का समाचार सुनने के बाद ही उसने उस पुस्तक का अंग्रेज़ी अनुवाद तैयार किया। फिर भी वह पुस्तक मेटकाफ़ के जीवनकाल में प्रकाशित न हो सकी।

३

प्रायः यह प्रश्न उठाया जाता है कि इस विद्रोह के जिम्मेदार कौन लोग थे। कुछ

लोगों का कहना है कि एक संगठित दल ने इसकी योजना बनायी और उसी के अनुसार आन्दोलन चलाया गया। मैं इस कथन को ठीक नहीं मानता। संघर्ष के दौरान और उसके तत्काल बाद के वर्षों में ब्रिटिश सरकार ने विद्रोह के मूल कारणों की बड़ी सावधानी से जांच-पड़ताल की। लार्ड सैलिसबरी ने हाउस आफ़ कामन्स में कहा कि मैं यह मानने के लिए तैयार नहीं हूं कि इतना व्यापक और शक्तिशाली आन्दोलन सिर्फ चर्बी वाले कारतूस को लेकर ही उठा। उन्होंने यह विश्वास प्रकट किया कि विद्रोह का ऊपर से जो कारण दिखायी देता था, उसके अलावा भी कोई कारण अवश्य था। भारत सरकार और पंजाब सरकार ने इस प्रश्न के अध्ययन के लिए कई आयोग और बोर्ड नियुक्त किये। उन दिनों जो किस्से और अफवाहें प्रचलित थीं, उन सबका बड़ी सावधानी से अध्ययन किया गया। एक किस्से में कहा गया था कि चपातियों के जरिये जगह-जगह सन्देश पहुंचाये जाते थे। किसी की यह भविष्यवाणी भी थी कि भारत में ब्रिटिश शासन सिर्फ सौ वर्ष तक चलेगा और प्लासी की लड़ाई के सौ साल बाद, यानी जून १८५७ में, उसका अन्त हो जाएगा। काफी देर तक और काफी गहराई में जाकर जांच करने पर भी इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिला कि यह विद्रोह पहले से आयोजित था या सेना और भारतीय लोगों ने कम्पनी के शासन को उखाड़ फेंकने का षड्यन्त्र रचा था। चिरकाल से मेरा यही विश्वास है, और हाल की गवेषणाओं से कोई ऐसे तथ्य प्रकाश में नहीं आये, जिनके कारण मुझे अपने विचार बदलने पड़ें।

जब बहादुरशाह पर मुकदमा चलाया जा रहा था, तो उसमें यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया कि वह पूर्व आयोजित षड्यन्त्र में शामिल था। जो प्रमाण प्रस्तुत किया गया उससे मुकदमे पर विचार करने वाले ब्रिटिश अफसरों तक की तसल्ली न हो पायी। वह ऐसा था कि कोई साधारण ज्ञान वाला व्यक्ति भी उसे बेकार का प्रमाण मानेगा। वास्तव में इस मुकदमे से यह स्पष्ट हो गया कि अंग्रेज़ों की तरह ही बहादुरशाह को भी इस विद्रोह पर आश्चर्य था।

४

इस सदी के शुरू में कुछ भारतीयों ने इस संघर्ष के बारे में लिखा था। अगर सच कहा जाए, तो यह मानना होगा कि उनकी पुस्तकें इतिहास नहीं, बल्कि राजनीतिक प्रचार-मात्र हैं। ये लेखक यह सिद्ध करना चाहते थे कि यह विद्रोह ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध भारत के बड़े-बड़े लोगों द्वारा आयोजित स्वातन्त्र्य संग्राम था। उन्होंने कुछ लोगों को युद्ध के आयोजक सिद्ध करने की भी कोशिश की है। यह कहा गया है कि अन्तिम पेशवा बाजीराव के उत्तराधिकारी नानासाहब विद्रोह के संचालक थे और उन्होंने सभी भारतीय सैनिक ठिकानों से सम्पर्क स्थापित किया था। इसके प्रमाण के रूप में उनका कहना है कि नाना साहब मार्च और अप्रैल, १८५७ में लखनऊ और अम्बाला गये थे और मई, १८५७ में संघर्ष शुरू हो गया। इसे पुष्ट प्रमाण नहीं माना जा सकता। नानासाहब विद्रोह से कुछ समय पहले लखनऊ और अम्बाला गये थे, सिर्फ इसी तथ्य से यह प्रमाणित नहीं हो सकता कि उन्होंने उसका आयोजन किया।

जब हम यह देखते हैं कि कुछ इतिहासज्ञों ने अवध के वजीर अली नक़ी ख़ां को

प्रमुख षड्यन्त्रकारी कहा है, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके अनुमान कितने निराधार हैं। जिस किसी ने भी अवध का इतिहास पढ़ा है, वह इस कथन को हास्यास्पद ही कहेगा। अली नक़ी खां, ईस्ट इण्डिया कम्पनी का गुर्गा था। वाजिद अली शाह को स्वेच्छा से अपना राज्य छोड़ने के लिए राजी करने के प्रयत्न में अंग्रेज़ों का इसी व्यक्ति पर विश्वास था। ब्रिटिश रेज़िडेंट जनरल ऊटरम ने अली नक़ी खां से कहा था कि अगर वह इस काम में सफल हो जाएगा, तो उसे बहुत इनाम दिया जाएगा। अली नक़ी खां ने इसके लिए इतनी ज्यादा कोशिश की कि वाजिद अली शाह की माता के मन में यह डर पैदा हो गया कि कहीं वह किसी चाल से वाजिद अली शाह को मरवा न दे। इसलिए उसने सरकारी मुहर अपने कब्जे में कर ली और उसे जनानखाने में रखा और यह आदेश दे दिया कि वह मुहर उसके हुक्म के बिना बाहर न जाने पाये। लखनऊ में लोग इन सब तथ्यों को अच्छी तरह जानते हैं और अली नक़ी खां को देशद्रोही मानते हैं। यह कहना कि इस संघर्ष के पीछे इस तरह के व्यक्ति का बड़ा हाथ था, बिल्कुल बेकार-सी बात मालूम पड़ती है।

यह भी कहा गया कि मुंशी अज़ीमुल्ला खां और रंगो बापूजी ने विद्रोह की योजनाएं बनायी थीं। अज़ीमुल्ला खां, नानासाहब का एक प्रतिनिधि था, जिसे उन्होंने यह वकालत करने के लिए लन्दन भेजा था कि बाजीराव को मिलनेवाली पेन्शन नानासाहब को मिले। भारत लौटते समय वह तुर्की गया था, जहां वह क्रीमिया की लड़ाई के मैदान में उमरपाशा से मिला। इसी तरह सतारा को ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाने के डलहौज़ी के निर्णय के खिलाफ अपील करने के लिए रंगो बापूजी लन्दन गया था।

इन उद्देश्यों से उनके लन्दन जाने को ही यह समझा जाता है कि वे षड्यन्त्र में शामिल थे। फिर भी यह स्पष्ट है कि इस तरह के अनुमानों को प्रमाण नहीं माना जा सकता। इसके अलावा अगर उन्होंने लन्दन में इन विषयों पर बातचीत की थी, तो भी उन्हें विद्रोह के आयोजक कहना तब तक उचित नहीं माना जा सकता, जब तक कि हम भारत की घटनाओं में उनके योग को सिद्ध न कर सकें। उनके इस तरह के योग का कोई प्रमाण नहीं मिलता और प्रमाण के बिना हम इन्हें विद्रोह के आयोजक नहीं मान सकते। कानपुर के पास बिठूर को जीतने के बाद, अंग्रेज़ों ने नानासाहब के सभी कागज-पत्र अपने हाथ में ले लिये। अज़ीमुल्ला खां के कागज-पत्र भी अंग्रेज़ों के हाथ में आ गये। इन कागजों में उमरपाशा के नाम एक पत्र भी था, जो कभी भेजा नहीं गया, लेकिन इसमें यह बताया गया था कि भारतीय सैनिकों ने अंग्रेज़ों के विरुद्ध विद्रोह कर दिया है। इस पत्र से तथा अज़ीमुल्ला खां के और किसी कागज से जरा भी यह पता नहीं चलता कि उसने कभी भारतीय विद्रोह की योजना बनायी हो।

उपलब्ध प्रमाण के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि १८५७ का विद्रोह सावधानी से बनाई गई किसी निश्चित योजना पर आधारित नहीं था और न उसके पीछे बड़े-बड़े चतुर आयोजक ही थे। हुआ यह था कि १०० वर्षों में लोग कम्पनी के शासन से विमुख हो गये थे। शुरू में कम्पनी नवाबों या बादशाह के नाम पर काम चलाती रही, इसलिए काफी समय तक तो भारतवासी यही नहीं समझ सके कि अधिकार किसी विदेशी के हाथ में चला गया है और वे अपने ही देश में गुलाम बन गये हैं। लेकिन जब लोगों को

वस्तुस्थिति का पता चल गया तो विद्रोह का वातावरण बनने लगा। इसलिए जब विद्रोह हुआ तो वह कुछ व्यक्तियों या गुटों के षड्यन्त्र के कारण नहीं, बल्कि जनता के बढ़ते हुए असन्तोष के कारण हुआ।

५

अगर यह पूछा जाए कि भारतवासियों का यह विद्रोह लगभग १०० वर्ष तक क्यों रुका रहा, तो उसका उत्तर इन तथ्यों से मिल सकेगा। भारत में जिस तरह ब्रिटिश सत्ता कायम हुई, उस तरह इतिहास में और कोई सत्ता कायम नहीं हुई थी। उन्होंने देश को जीत कर अपने अधिकार में ही नहीं किया बल्कि वे धीरे-धीरे अपने पैर जमाते चले गये और खुद इस देश के लोगों ने उनकी मदद की। भारत में अंग्रेज़ों ने अपनी सत्ता ब्रिटेन की सरकार के नाम पर नहीं जमायी, इसलिए लोगों से उनके कार्यों का सही मन्तव्य छिपा रहा। अगर भारत के मामलों में शुरू से ही ब्रिटेन की सरकार के नाम से सीधा हस्तक्षेप हुआ होता, तो भारतीय यह समझ जाते कि एक विदेशी शक्ति देश में प्रवेश कर रही है। ईस्ट इण्डिया कम्पनी एक व्यापारी कम्पनी थी, इसलिए लोग यह नहीं समझ सके कि वह शासन जमा लेगी। यही कारण था कि कम्पनी के प्रतिनिधि जिस तरह अपना काम कर सके, उस तरह ब्रिटिश सरकार के प्रतिनिधि न कर पाते। ब्रिटेन की सरकार के प्रतिनिधि को राजे-महाराजों और मुगल दरबार के स्थानीय अधिकारियों की खुशामद, मिन्नत और चापलूसी करने में कुछ संकोच होता, लेकिन कम्पनी के प्रतिनिधियों में ऐसी कोई बात नहीं थी। वे छोटे से छोटे अधिकारी को भी उसी तरह खुशामद करते थे, जिस तरह भारतीय व्यापारी करते थे। घूसखोरी और भ्रष्टाचार करते हुए उन्हें इस बात का डर नहीं था कि उसके लिए उनकी अपनी सरकार उन्हें कुछ कहेगी।

यह भी उल्लेखनीय है कि बहुत समय तक कम्पनी ने अपने नाम से कार्रवाई नहीं की। उसने हमेशा अपने हित-साधन के लिए किसी न किसी स्थानीय सरदार की आड़ ली। इस तरह कम्पनी ने दक्षिण के कर्नाटक के नवाब की मांगों का समर्थन करके, वहां मजबूती से अपना पैर जमाया। इसी तरह, बंगाल में उसने मुर्शिदाबाद के नवाब नाज़िम के नाम पर काम चलाया। बंगाल का शासन अपने हाथ में आ जाने के बाद भी, कम्पनी ने उस पर अपनी प्रभुसत्ता का दावा नहीं किया। क्लाइव ने बादशाह से दीवानी अधिकार मांगे थे और कई दशकों तक कम्पनी बादशाह के एजेंट के रूप में ही काम करती रही। सिर्फ इतना ही नहीं, कम्पनी दूसरे सूबेदारों और प्रान्तों के गवर्नरों के ही ढंग से काम करती रही। प्रान्तों के इन गवर्नरों की अपनी मुहरें होती थीं, लेकिन वे हमेशा अपने को मुगल बादशाह का सेवक बताते थे। कम्पनी के गवर्नर-जनरल की भी अपनी मुहर थी, लेकिन वह अपने को दिल्ली के बादशाह शाह-आलम का सेवक कहता था। दूसरे गवर्नर और सूबेदार बादशाह से मिलने गये, उन्होंने उसे नज़राने दिये और बदले में बादशाह ने उन्हें पुरस्कार दिये। गवर्नर जनरल भी बादशाह के पास गया और १०१ गिन्नियां नज़र कीं, उसके बदले में बादशाह ने उसे खिलअत और पदवियां दीं। गवर्नर जनरल अपने सब सरकारी कागज पत्रों में यह पदवियां भी लिखता था। इस तरह बादशाह की प्रभुसत्ता का दिखावा कायम रखा गया।

बहुत समय तक लोग यह नहीं समझ सके कि कम्पनी धीरे-धीरे इस देश की असली शासक बनती जा रही है।

यह क्रम १९वीं सदी के लगभग दूसरे दशक तक चलता रहा। तब तक कम्पनी का शासन सतलज तक फैल गया था। तत्कालीन गवर्नर-जनरल, लार्ड हेस्टिंग्स ने यह अनुभव किया कि अब धीरे-धीरे बादशाह की सत्ता को त्यागने और अपना सिक्का जमाने का समय आ गया है। इस दिशा में उसने बादशाह से पहली मांग तो यह की कि उसे बादशाह से बातचीत करते समय बैठने की अनुमति दी जाए। दूसरे उसने नज़राने की छूट भी मांगी। बादशाह ने ये दोनों बातें नामंजूर कर दीं और कुछ समय तक गवर्नर-जनरल ने अपनी इन मांगों पर जोर नहीं दिया।

तब कम्पनी ने ऐसे राज्यों की स्थापना को प्रोत्साहन दिया, जो दिल्ली के अधीन नहीं थे। इस तरह उसने बादशाह की प्रतिष्ठा कम करने का प्रयत्न किया। हैदराबाद के निज़ाम से कहा गया कि वह अपने आपको राजा घोषित कर दे। निज़ाम इसके लिए राजी न हुआ, लेकिन अवध के नवाब-वज़ीर को यह बात जँच गयी। इस तरह अवध बादशाह के साम्राज्य का एक प्रान्त न रह कर एक अलग राज्य बन गया और उसने बादशाह की सत्ता त्याग दी।

सन् १८३५ तक कम्पनी अपने को इतना शक्तिशाली समझने लगी कि उसने बादशाह का नाम हटाकर अपने सिक्के चलाने शुरू कर दिये। बहुत-से लोगों को इससे धक्का लगा। तब उन्होंने समझा कि कम्पनी सिर्फ व्यापारी या बादशाह की एजेंट न रहकर, वास्तव में भारत के विशाल भू-क्षेत्र की शासक बन गयी है। १८३५ में ही फारसी की जगह अंग्रेज़ी को दरबार की भाषा बनाने का भी निश्चय किया गया। इन सब बातों का काफी असर पड़ा और लोग कम्पनी की बदली हुई स्थिति को समझ गये। इस तथ्य का पता लगने पर उनके मन में बड़ी उथल-पुथल मची और इसका असर सिर्फ नागरिकों पर ही नहीं, बल्कि सशस्त्र सैनिकों पर भी पड़ा।

उस समय के एक प्रतिष्ठित अंग्रेज़ असैनिक अधिकारी ने जो अध्ययन किया था, उससे हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि १८४० से पहले के दशक में देश की क्या स्थिति थी। फ्रेड्रिक जान शोर, सर जान शोर का पुत्र था और उसने बंगाल प्रेसीडेंसी के उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र में पुलिस, राजस्व और न्यायिक विभागों में कई पदों पर काम किया। उसने कलकत्ते के एक दैनिक "इण्डिया गजट" में छद्मनाम से एक लेखमाला लिखी और बाद में, १८३७ में, "नोट्स आन इण्डियन अफ़ेयर्स" नामक पुस्तक में उन्हें प्रकाशित कर दिया। शोर के उन लेखों से हमें लोगों की मनःस्थिति का ठीक से पता चलता है। उसने जगह-जगह पर यह कहा है कि यद्यपि ऊपर से सब कुछ शान्त था, लेकिन अन्दर-अन्दर आग सुलग रही थी और सिर्फ एक चिंगारी ही उसे एक भयंकर ज्वाला में बदल देने के लिए काफी थी। इसी असन्तोष ने बाद में १८५७ के विद्रोह का रूप धारण किया।

यह बढ़ता हुआ असन्तोष दो बातों की वजह से और भी तीव्र हो गया, जिन्हें १८५७ के विद्रोह का तात्कालिक कारण कहा जा सकता है। पहली बात तो उत्तर-पश्चिमी प्रान्त (बाद में आगरा और अवध) के लेफ्टिनेंट गवर्नर श्री थामसन द्वारा चलायी गयी नयी

नीति थी। पहले कम्पनी ऐसे जमींदारों का एक वर्ग कायम रखने या बनाने की नीति के पक्ष में थी, जो स्वाभाविक रूप से सरकार के पक्षपाती हों। लेकिन थामसन का विचार कुछ और ही था। उसका विश्वास था कि बड़े-बड़े जमींदारों से कम्पनी को खतरा पैदा हो सकता है, इसलिए उसका विचार था कि जमींदार एक वर्ग के रूप में कायम न रहें और सरकार को रैयत से सीधा सम्पर्क स्थापित करना चाहिए। इस नयी नीति के परिणामस्वरूप कम्पनी ने जमींदारों की जमींदारियां खत्म करने और काश्तकारों को सीधे अपने अधीन करने का हर सम्भव प्रयत्न किया।

दूसरी मुख्य बात डलहौज़ी की वह नीति थी, जिसके अनुसार वह एक के बाद दूसरी भारतीय रियासत को ब्रिटिश साम्राज्य में शामिल करता गया। उस जमाने में भारत में सामन्तशाही का अन्तिम दौर था। उस सामन्ती प्रणाली में लोगों की वफादारी अपने जमींदार या राजा के प्रति रहती थी। लोगों में राष्ट्र या देश के प्रति वफादारी की भावना नहीं थी। जब लोगों ने देखा कि एक के बाद दूसरी भारतीय रियासतें खत्म हो रही हैं और जमींदारों का वर्ग भी समाप्त किया जा रहा है, तो उन्हें एक बड़ा धक्का-सा लगा। उन्होंने अनुभव किया कि आखिरकार अब कम्पनी अपने असली रूप में आ रही है और भारत के सामाजिक और राजनीतिक जीवन के रूप को ही बदल रही है। जब कम्पनी ने अवध को अपने अधिकार में लिया, तो असन्तोष की भावना अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच गयी। अवध रियासत ७० साल से कम्पनी के प्रति वफादार थी। इस दौरान उसने एक बार भी कम्पनी के हितों के खिलाफ कोई काम नहीं किया था। लेकिन इतने पर भी जब वहां के राजा को गद्दी छोड़ने पर मजबूर किया गया और कम्पनी ने रियासत को अपने अधिकार में ले लिया तो लोगों को बड़ा जबर्दस्त धक्का लगा।

अवध राज्य को समाप्त करने का असर इसलिए ज्यादा हुआ क्योंकि बंगाल-सेना के अधिकांश सैनिक वहीं के थे। उन्होंने बड़ी वफादारी से कम्पनी की सेवा की और देश के विभिन्न क्षेत्रों में कम्पनी का प्रभुत्व बढ़ाने में उनका बड़ा योग था। उन्होंने अचानक यह अनुभव किया कि उनकी सेवा और बलिदान के द्वारा कम्पनी ने जो प्रभुत्व स्थापित किया है, उसी से उनके अपने राजा का राज्य समाप्त कर दिया गया है। निस्सन्देह १८५६ में जब अवध को हस्तगत किया गया, तभी से आम सैनिकों में और खास तौर पर बंगाल-सेना के सैनिकों में विद्रोह की भावना पैदा हुई। तभी से वे यह सोचने लगे कि कम्पनी के शासन का अन्त करना चाहिए। विद्रोह के दिनों में लारेन्स तथा अन्य लोगों ने आम सैनिकों की भावनाओं का पता लगाने की कोशिश की थी। वे लोग इस मत के पक्ष में काफी प्रमाण छोड़ गये हैं। चर्बी के कारतूस का मामला सेना के असन्तोष का कोई नया कारण नहीं था, बल्कि उसने दबे हुए असन्तोष को उभार दिया था।

६

शुरू में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भारतीय भावनाओं का काफी ध्यान रखा। उसने भारतीय भावना का आदर किया और उच्च वर्ग के लोगों का काफी ख्याल रखा। गवर्नर जनरल की परिषद् के सदस्यों के यहां यह रिवाज था कि वे राजे-महाराजों को ही नहीं, बल्कि

किसी भी उच्च सामाजिक स्थिति के भारतीय को दरवाजे तक छोड़ने जाते थे। जब कम्पनी ज्यादा शक्तिशाली हो गयी, तो उसका रुख बदला और भारतीय भावनाओं के प्रति उसका ध्यान कम होता गया। यह सोचे बिना नये कानून बना दिये गये कि भारतीयों पर उनकी क्या प्रतिक्रिया होगी। यह मानना होगा कि प्रायः कम्पनी अज्ञानवश ऐसा करती थी, जान-बूझ कर नहीं। एक परिषद् की सहायता से गवर्नर-जनरल कम्पनी का कार्य संचालित करता था। उस परिषद् में सिर्फ अंग्रेज़ ही थे। वास्तव में कम्पनी यह सोच भी नहीं सकती थी कि उस परिषद् में कोई भारतीय होना चाहिए। इसके अलावा कोई ऐसी प्रतिनिधि संस्था भी नहीं थी, जिससे कम्पनी को लोगों की भावना का पता चल सके। इन परिस्थितियों में कम्पनी के पास लोगों की इच्छा जानने का कोई तरीका नहीं था। इस तरह कम्पनी और उसके प्रजा जनों के बीच का अन्तर बढ़ता गया।

७

१८५७ के विभिन्न विवरणों को पढ़ने के बाद पाठक कुछ निष्कर्षों पर पहुंचे बिना नहीं रह सकता। स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि क्या यह विद्रोह केवल राष्ट्रीय भावनाओं के उभरने के कारण ही हुआ? अगर राष्ट्रीयता का अर्थ हम आधुनिक दृष्टि से समझें तो इसका उत्तर 'हां' नहीं हो सकता। इसमें कोई शक नहीं है कि लोगों ने देश-प्रेम की भावना से प्रेरित होकर ही विद्रोह में हिस्सा लिया था। लेकिन ये भावनाएं इतनी तीव्र नहीं थीं कि इनसे विद्रोह भड़क उठता। लोगों को विद्रोह के लिए उभारने में देशभक्ति के साथ-साथ धार्मिक भावना भी काम कर रही थी। चर्बी वाले कारतूसों के बारे में प्रचार, इसका सिर्फ एक उदाहरण है। अपने विदेशी शासकों के विरुद्ध उठ खड़े होने से पहले सैनिकों की धार्मिक भावनाओं को और तरह से भी ठेस पहुंची थी।

यह आरोप भी निराधार है कि कम्पनी ने हिन्दू सैनिकों के धार्मिक विश्वासों पर आघात पहुंचाने के लिए आटे में गाय की हड्डियों का चूरा मिलाया। आज कोई भी समझदार आदमी इस आरोप को स्वीकार नहीं करेगा, लेकिन उस समय यह झूठी खबर खूब फैली और बहुत से सैनिकों को इस पर विश्वास भी हो गया तथा वे कम्पनी के खिलाफ भड़क उठे।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भारतीयों को पश्चिमी ढंग की शिक्षा देने का निश्चय किया और इस कार्य के लिए कालेज और स्कूल खोले। यह कार्य मुख्यतः उन भारतीयों के कहने पर किया गया था, जिनके विचार कुछ ज्यादा उन्नत थे। लेकिन आम लोगों ने इसका मतलब यह लगाया कि भारतीयों को ईसाई बनाने के लिए यह सब किया जा रहा है। स्कूलों और कालेजों के अध्यापकों को "काला पादरी" कहा जाता था और घृणा की दृष्टि से देखा जाता था। आज कोई भी व्यक्ति पश्चिमी ढंग की शिक्षा के लिए किये गये इन कार्यों को विद्रोह का एक कारण नहीं मानेगा।

८

ज्यों-ज्यों मैं १८५७ की घटनाओं के बारे में पढ़ता हूं, त्यों-त्यों मैं इस निष्कर्ष पर

पहुंचता जाता हूं कि उस समय भारतवासियों का राष्ट्रीय चरित्र बहुत गिर गया था। विद्रोह का संचालन करने वाले नेता कभी भी एक दूसरे से सहमत नहीं होते थे। उनको एक दूसरे से ईर्ष्या थी और वे एक दूसरे के खिलाफ चालें चलते रहते थे। उन्हें इस बात का कोई ध्यान नहीं था कि उनकी इस फूट का सामान्य उद्देश्य पर क्या प्रभाव पड़ेगा। सही बात यह है कि बहुत हद तक इसी व्यक्तिगत ईर्ष्या-द्वेष के कारण ही भारतीयों की हार हुई।

बख्त खां, जिसने संघर्ष के अन्तिम दौर में दिल्ली में विद्रोहियों की कमान संभाली थी, एक ईमानदार व्यक्ति था। वह सच्चे दिल से जीतने की कोशिश कर रहा था, लेकिन दूसरे सैनिक नेताओं ने उसे हराने की कोशिश की। जब वह लड़ने के लिए मैदान में आया, तो उन्होंने उसे मदद नहीं दी। लखनऊ में भी यही हालत थी। रेज़िडेंसी के चारों तरफ भारतीय सैनिकों का घेरा पड़ा हुआ था, लेकिन सैनिक यह समझते थे कि रेज़िडेंसी जीत लेने के बाद अवध की रानी की सरकार को उनकी कोई जरूरत नहीं रह जाएगी। उनका विचार था कि जब तक यह संघर्ष चलेगा, तभी तक उनकी आवश्यकता रहेगी। इसलिए उन सैनिकों ने विजय प्राप्त करने की कभी कोशिश नहीं की।

इसके मुकाबले दूसरी तरफ अंग्रेज़ अपनी साम्राज्ञी के प्रति वफादारी से लड़े। अंग्रेज़ पुरुषों और औरतों ने यह समझ लिया कि राष्ट्रीय विपत्ति आयी है और जीवित रहने तथा विजय पाने के लिए उन्हें जी-जान से लड़ना चाहिए।

यह भी उल्लेखनीय है कि कुछ सम्माननीय व्यक्तियों को छोड़कर—जिनमें अहमद उल्ला और तात्या टोपे सर्वप्रमुख थे—अधिकांश नेताओं ने व्यक्तिगत कारणों से इस संघर्ष में हिस्सा लिया। जब तक उनके व्यक्तिगत हितों को ठेस नहीं पहुंची, तब तक उन्होंने अंग्रेज़ों का विरोध नहीं किया। विद्रोह शुरू हो जाने के बाद भी नानासाहब ने कहा था कि अगर डलहौज़ी के निर्णय बदल दिये जाएं और उसकी मांगें पूरी कर दी जाएं, तो वह समझौता करने को तैयार है। झांसी की रानी की भी अपनी शिकायतें थीं, लेकिन एक बार युद्ध में शामिल होने के बाद वह फिर कभी पीछे नहीं हटी और अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उसने अपना जीवन बलिदान कर दिया।

जब विद्रोह के नेताओं की यह हालत थी, तो जनता की हालत का अन्दाजा लगाना मुश्किल नहीं है। आम तौर पर लोग संघर्ष के दर्शक मात्र रहते थे और मौके पर वे जिस पक्ष को अधिक शक्तिशाली पाते, उसी के पक्ष में हो जाते थे। तात्या टोपे की जो हालत हुई, उसी से यह अन्दाजा लगाया जा सकता है कि लोगों का रुख क्या था। जब वह अन्तिम रूप से हार गया तो उसने नर्मदा पार करके मध्यप्रदेश में जाने का निश्चय किया। उसे विश्वास था कि मराठा क्षेत्र में पहुंचने पर लोगों की उसे पूरी सहायता मिलेगी। असाधारण साहस और दृढ़ता से उसने पीछा करने वालों को चकमा दे कर नर्मदा पार कर भी ली। लेकिन, दूसरे किनारे पर पहुंचने के बाद किसी भी गांव ने उसे आश्रय नहीं दिया। सब उसके खिलाफ हो गये और फिर उसे भागकर जंगल में शरण लेनी पड़ी। अन्त में उसी के तथाकथित मित्र ने उसे सोते हुए धोखा दिया।

९

महान विद्रोह के दिनों में किये गये अत्याचारों के सम्बन्ध में भी यहां कुछ कहना अनुचित न होगा। अंग्रेज़ लेखकों ने कई जगह विस्तार से भारतीय सैनिकों तथा उनके नेताओं के बहुत से पाशविक कृत्यों का वर्णन किया है। खेद के साथ यह मानना पड़ेगा कि इनमें से कुछ आरोप सही हैं। दिल्ली, कानपुर या लखनऊ में यूरोपीय औरतों और कहीं-कहीं बच्चों की भी हत्या के लिए कोई सफाई पेश नहीं की जा सकती। नानासाहब ने जनरल ह्वीलर को जो वचन दिया था, उसको तोड़ने की जिम्मेदारी सम्भवतः उन पर नहीं डाली जा सकती। वास्तव में सैनिक उनके नियंत्रण में नहीं रहे थे और वे अपनी मन-मानी कर रहे थे। अंग्रेज़ इतिहासज्ञों ने यह स्वीकार किया है कि एक बच्चे की लाश को पानी में उतराते हुए देख कर नाना को धक्का लगा था। जो भी हो, ये अपराध उन्हीं भारतीय सिपाहियों ने किये थे, जो नानासाहब के अधीन होने का दावा करते थे। इसके अलावा हैवलाक के पहुंचने से पहले ही मारे गये बन्दियों की खास जिम्मेदारी भी नाना पर थी। कहा जाता है कि अंग्रेज़ों ने इलाहाबाद में जो अत्याचार किये थे, उसकी प्रतिक्रिया के रूप में उन्होंने उन बन्दियों को मरवा दिया था। लेकिन एक गलती से दूसरी गलती का औचित्य सिद्ध नहीं किया जा सकता। इन निरीह बन्दियों की हत्या का जिम्मेदार नाना को ही ठहराना होगा।

अगर काले कारनामों ने भारतीयों के नाम पर धब्बा लगाया तो अंग्रेज़ों का नाम भी उज्ज्वल नहीं रहा। अंग्रेज़ इतिहासज्ञ आम तौर पर अंग्रेज़ों द्वारा किये गये अत्याचारों को छोड़ गये हैं, लेकिन कुछ ने बदले के रूप में किये गये इन भयंकर अपराधों की निन्दा की है। हाडसन का नाम भीषण अत्याचारों का प्रतीक बन गया था। नील को इस बात का गर्व था कि उसने सैकड़ों भारतीयों को बिना मुकदमा चलाये मरवा दिया। इलाहाबाद के आस-पास शायद ही कोई ऐसा पेड़ बचा हो, जिस पर किसी न किसी अभागे भारतीय की लाश न लटकी हो। हो सकता है अंग्रेज़ बहुत उत्तेजित हो गये हों, लेकिन भारतीय भी उत्तेजित थे। अगर बहुत से भारतीयों के कृत्य माफ नहीं किये जा सकते, तो बहुत से अंग्रेज़ों के अपराध भी अक्षम्य थे। मुसलमान सरदारों को जीते जी सूअर की खाल में सी दिया गया और सूअर का मांस जबर्दस्ती उनके मुंह में ठूंस दिया गया। हिन्दुओं को मौत का डर दिखाकर गाय का मांस खाने को बाध्य किया गया। जख्मी बन्दियों को जिन्दा जला दिया गया। अंग्रेज़ सैनिकों ने अभागे गांववालों को अपने कब्जे में करके, उन्हें इतनी यात-नाएं दीं कि वे मर गये। कोई भी राष्ट्र या व्यक्ति इतने भयंकर अत्याचार करके अपने को सभ्य नहीं कह सकता।

१०

१८५७ के विद्रोह की अस्पष्ट कहानी से दो तथ्य स्पष्ट रूप से ज्ञात होते हैं। पहला यह कि उस समय भारत में हिन्दू और मुसलमानों में बहुत एकता थी और दूसरा यह कि लोग मुगल बादशाह के प्रति बहुत वफादार थे।

यह आन्दोलन १० मई, १८५७ को शुरू हुआ और करीब दो साल तक चलता रहा। इस दौरान दोनों तरफ के लोगों ने बहुत से उज्ज्वल कार्य भी किये और काले कारनामे भी। दोनों तरह के उदाहरण मिलते हैं—शानदार वीरता के भी और अविश्वसनीय अत्याचार के भी। इस सम्पूर्ण अवधि का हमें एक भी ऐसा उदाहरण नहीं मिलता, जिससे यह ज्ञात हो कि कहीं साम्प्रदायिक झगड़े हुए। सभी भारतीय, चाहे मुसलमान हों या हिन्दू, हर बात को एक ही दृष्टिकोण से देखते थे और घटनाओं को एक ही ढंग से आंकते थे।

नेताओं को साम्प्रदायिक एकता कायम करने के लिए कोई विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ा। इस बात का कोई भी उल्लेख नहीं मिला कि १८५७ के नेताओं ने हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए कहीं प्रयत्न किया हो। सदियों तक इकट्ठे रहने के परिणामस्वरूप हिन्दू और मुसलमानों के स्थायी मैत्री सम्बन्ध हो गये थे। इसलिए किसी खास कार्य के लिए हिन्दू-मुस्लिम एकता की अपील करने की कोई आवश्यकता नहीं हुई। जब यह ध्यान में आता है कि उस समय लोगों में कितनी ज्यादा उत्तेजना थी, तो साम्प्रदायिक झगड़ों का अभाव और भी अधिक महत्त्वपूर्ण दिखायी देता है। स्पष्ट रूप से यह कहा जा सकता है कि अंग्रेज़ों के शासन के पहले भारत में हिन्दू-मुस्लिम-समस्या नाम की कोई चीज नहीं थी।

१८५७ से भी पहले अंग्रेज़ों ने "फूट डाल कर शासन करने" का तरीका अपनाने की कोशिश की थी। यह ठीक है कि ब्रिटेन की सरकार ने भारत का शासन के चलाने की कोई जिम्मेदारी नहीं ली थी, लेकिन १०० वर्ष पहले की प्लासी की लड़ाई के समय से ईस्ट इण्डिया कम्पनी भारत में स्थायी रूप से जम गयी थी। इन वर्षों में अंग्रेज़ अफसर प्रायः भारतीय सम्प्रदायों के मतभेदों को बढ़ाने का प्रयत्न करते रहे। कम्पनी के डायरेक्टरों के पत्रों में बार-बार यह कहा गया कि हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच अन्तर जरूर डालना चाहिए। वे समझते थे कि मुसलमानों की वफादारी पर कोई विश्वास नहीं किया जा सकता।

टाड की "एनाल्स आफ़ राजस्थान" और उनकी "हिस्ट्री आफ़ इण्डिया" में इलियट की भूमिका से यह स्पष्ट हो जाता है कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी हिन्दू और मुसलमानों में फूट पैदा करना चाहती थी। ये दो व्यक्ति ईस्ट इण्डिया कम्पनी के उच्च अधिकारी थे और इन्होंने उन हिन्दू इतिहासज्ञों की निन्दा की है, जिन्होंने मुसलमान राजाओं की प्रशंसा की। उन्होंने इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया कि हिन्दू इतिहासज्ञ मुसलमान शासक की न्यायप्रियता और निष्पक्षता की प्रशंसा क्यों करता है।

टाड के "एनाल्स" में मध्य युग के इतिहास के सम्बन्ध में ऐसी बहुत-सी बातें हैं जिनसे हिन्दू और मुसलमानों की एकता पर आघात पहुंचता है। जब भी किसी घटना के सम्बन्ध में दो मत हुए, तो उन्होंने उस मत पर जोर दिया, जिससे हिन्दू और मुसलमानों के सम्बन्ध बिगड़ें। फिर भी १८५७ की घटनाओं से यह सिद्ध होता है कि उनकी ये कोशिशें सफल नहीं हुई। हिन्दू और मुसलमानों में भाई-चारे और परस्पर सहानुभूति की ऐसी भावना पैदा हो गयी थी कि उसने १०० वर्ष तक फूट डालने के इन प्रयत्नों का मुकाबला किया। यही कारण था कि १८५७ के संघर्ष ने राष्ट्रीय और जातीय रूप धारण किया, साम्प्रदायिक नहीं। स्वातन्त्र्य संग्राम में हिन्दू और मुसलमानों ने कंधे से कंधा भिड़ा कर काम किया। उनका उद्देश्य ब्रिटिश शासन से मुक्ति पाना था।

एकता की यह भावना सेना में ही नहीं, बल्कि आम लोगों में भी थी। यद्यपि ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जब अंग्रेज़ अफसरों ने साम्प्रदायिक मतभेद पैदा करके भारतीय पक्ष को कमजोर करने की कोशिश की, लेकिन धार्मिक आधार पर किसी झगड़े का उल्लेख नहीं मिलता।

भारत ने १८५७ की कठिनाइयों को संगठित रूप से झेला। तब क्या कारण है कि कुछ ही दशकों में साम्प्रदायिक मतभेद भारतीय राष्ट्रीयता के मार्ग का रोड़ा बन गये? भारतीय इतिहास में यह एक दुःख का विषय है कि यह समस्या दिन-प्रति-दिन गम्भीर होती चली गयी और अन्त में साम्प्रदायिक आधार पर देश का बटवारा करके ही इसका समाधान किया जा सका।

सन् १८५७ के बाद अंग्रेज़ों ने जो नीति अपनायी, उसी से इस बात का जवाब मिल जाता है। जब अंग्रेज़ों ने देखा कि कठिनाई के दिनों में भी हिन्दू और मुसलमान एक रहे, तो उन्होंने यह समझ लिया इन दोनों में फूट डाल कर ही शासन कायम रखा जा सकता है। अंग्रेज़ों के तत्कालीन पत्र-व्यवहार को पढ़ने से यह निष्कर्ष और भी पुष्ट हो जाता है। विद्रोह के दमन के बाद सेना का जिस ढंग से पुनर्गठन किया गया, उससे भी यह बात स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जातो है। न केवल सेना का लड़ाकू और गैर-लड़ाकू जातियों के आधार पर विभाजन किया गया, बल्कि उसका नये ढंग से ऐसा पुनर्गठन किया गया जिससे वे संगठित रूप से विद्रोह न कर सकें। ऐसी कार्रवाई की गयी कि भविष्य में हिन्दू और मुसलमान मिल कर कोई काम न कर सकें। आम जनता में भी फूट डालने की ऐसी नीति अपनायी गयी, जिससे धीरे-धीरे हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे के खिलाफ होते गये। जो भी मौका आया, इन दोनों के मतभेद बढ़ाने की ही कोशिश की गयी। लार्ड राबर्ट्स की आत्मकथा से यह स्पष्ट हो जाता है कि सेना में इस सिद्धान्त के अनुसार किस प्रकार काम हुआ।

११

विद्रोह के दिनों की दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि किस तरह मुसलमान और हिन्दू दोनों दिल्ली और बहादुरशाह को अपना मानते थे। दिल से सब लोग इस बात से सहमत थे कि सिर्फ बहादुरशाह को ही भारत का बादशाह होने का अधिकार है। याद रहे, शुरू में सेना के जिन लोगों ने विद्रोह में भाग लिया, उनमें अधिकांश हिन्दू थे। जब १० मई को उन्होंने मेरठ में विद्रोह किया, तो उनका पहला नारा "दिल्ली चलो" था। यह नारा किसी विचार-विमर्श के बाद नहीं, बल्कि सामान्य सैनिकों की स्वाभाविक हार्दिक इच्छा के फलस्वरूप उठाया गया। जहां-जहां छावनियों में विद्रोह हुआ, हर जगह यही बात हुई। जो सेना दिल्ली नहीं पहुंच सकती थी, उसने भी मुगल बादशाह के प्रति वफादारी की घोषणा की।

कानपुर में नानासाहब ने विद्रोह में प्रमुख भाग लिया। उन्होंने भी अपने आपको पेशवा घोषित किया। मराठों और मुगलों के पुराने झगड़े को भूलकर उन्होंने बिना किसी संकोच के अपने आपको मुगल दरबार का सूबेदार या गवर्नर कहा। उन्होंने कहा कि असली

शासक दिल्ली का बादशाह है। सिक्के भी बादशाह के नाम के थे और सब आदेश बादशाह के नाम से ही दिये जाते थे। नानासाहब के कुछ ऐसे आदेश हैदराबाद-दकन के संग्रहालय में सुरक्षित हैं। हर आदेश दिल्ली के बादशाह के नाम से जारी किया गया। मुगल दरबार के रिवाज़ के मुताबिक तारीख भी पहले हिजरी और उसके बाद संवत् के रूप में दी गयी है।

हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि १८५७ में बहादुरशाह सिर्फ एक कठपुतली की तरह ही था। उसका शासन दिल्ली के किले की चहारदीवारी तक ही सीमित था। दिल्ली शहर का काफी हिस्सा भी उसके नियंत्रण से बाहर था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी उसे एक लाख रुपया महीना अनुदान देती थी और उसी पर उसकी गुजर होती थी। यही नहीं उससे एकदम पहले के पूर्वज भी नाममात्र के शासक थे। उसके पास न सेना थी और न खजाना। न उसका कोई प्रभाव था, न शक्ति। सिर्फ एक यही बात उसके पक्ष में थी कि वह अकबर और शाहजहां का वंशज था। बहादुरशाह के प्रति भारत के लोगों की वफादारी इसीलिए थी कि वह महान मुगलों का वंशज था। भारत के लोगों के दिलों पर मुगल दरबार का ऐसा प्रभाव था कि जब यह प्रश्न उठा कि अंग्रेज़ों से शासन की बागडोर कौन ले, तो हिन्दू और मुसलमानों ने एक मत से बहादुरशाह को ही चुना। इससे यह ज्ञात होता है कि बाबर द्वारा स्थापित और अकबर द्वारा संगठित मुगल साम्राज्य की जड़ें भारत में कितनी गहरी चली गयी थीं। भारतवासी मुगलों को विदेशी शासक नहीं, बल्कि अपने ही बादशाह मानते थे।

भारत के लिए यह दुर्भाग्य की बात थी कि बहादुरशाह एक प्रतीक के रूप में भी शासन चलाने के लिए उपयुक्त नहीं था। वह इतना कमजोर था कि न वह सैनिकों को अपने नियंत्रण में रख सकता था, न अपने सरदारों को। उसकी इन व्यक्तिगत कमियों के बावजूद किसी ने उसके स्थान पर किसी दूसरे के बारे में नहीं सोचा। अन्त तक सैनिक और जनता बहादुरशाह को ही अपना बादशाह मानती रही। सितम्बर, १८५७ में अंग्रेज़ों ने फिर दिल्ली को अपने कब्जे में कर लिया। उस समय बख्त खां ने बहादुरशाह से यह अपील की कि वह शहर छोड़कर चला जाए और सेना को बाहर जुटा दे। उसने बादशाह को यह समझाने की कोशिश की कि अभी मौका है, रुहेलखण्ड और अवध अब भी हाथ से गये नहीं हैं। लेकिन बादशाह मौके का फायदा न उठा सका और फिर असफल रहा। इसके अलावा, अंग्रेज़ों को देशद्रोही इलाही बख्श का सहयोग मिल गया था, जिसने बहादुरशाह को वहीं रहने के लिए राजी कर लिया। अन्त में बहादुरशाह गिरफ्तार कर लिया गया, और यही राष्ट्रव्यापी प्रतिरोध का अन्त था।

१२

जनवरी, १९५५ में मैंने यह निश्चय किया कि १८५७ के भारतीय संघर्ष का एक नया इतिहास तैयार करने का काम एकदम शुरू हो जाना चाहिए। यह बात मेरे मन में स्पष्ट थी कि संघर्ष का यह सच्चा इतिहास होना चाहिए और घटनाओं का इसमें निष्पक्ष उल्लेख होना चाहिए। यह भी कि इतिहास केवल तथ्यों पर आधारित हो और किसी भी तरह की भावनाओं से प्रभावित न हो। मैंने इस कार्य के लिए प्रख्यात भारतीय इतिहासज्ञ, डा०

सुरेन्द्र नाथ सेन को आमंत्रित किया और भारतीय ऐतिहासिक आलेख आयोग की वार्षिक बैठक में इसकी घोषणा भी कर दी। इस विषय के सब आलेख उनके लिए उपलब्ध करने के अलावा, उन्हें लन्दन के इण्डिया आफिस से भी आवश्यक तथ्य और आंकड़े एकत्रित करने की सुविधा दी गयी। मैंने इस बात की भी स्वीकृति दी कि वे स्वयं लन्दन जाएं और वहां उन ऐतिहासिक आलेखों को देखें, जो अन्यथा उन्हें न मिल सकते।

भारत सरकार के कहने पर डा० सेन ने जो कार्य किया, वह इस पुस्तक के रूप में प्रस्तुत है। मैंने सिर्फ यही आदेश दिया था कि वे एक सच्चे इतिहासज्ञ के दृष्टिकोण से पुस्तक लिखें। इसके अलावा उनके कार्य में हस्तक्षेप करने या उनके निष्कर्षों को प्रभावित करने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया। इसलिए घटनाओं के चयन और व्याख्या की पूरी जिम्मेदारी उन्हीं पर है। भारत सरकार इस पुस्तक में व्यक्त किये गये उनके किसी मत से किसी भी तरह बंधी हुई नहीं है।

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई है कि डा० सेन ने इस विषय को निरपेक्ष और निर्लिप्त भाव से प्रस्तुत किया है। उन्होंने न किसी की निन्दा की है और न किसी से सहानुभूति प्रकट की है; उन्होंने संघर्ष में भाग लेने वाले अंग्रेज़ों और भारतीयों को सच्चे ऐतिहासिक दृष्टिकोण से आंका है। हो सकता है, मैं उनके सब कथनों से सहमत न होऊं, लेकिन जिस निरपेक्ष भाव से उन्होंने यह कठिन कार्य किया है, उसकी मैं प्रशंसा करता हूं।

अबुल कलाम आजाद
शिक्षा, प्राकृतिक साधन तथा
वैज्ञानिक गवेषणा मंत्री,
भारत सरकार

नयी दिल्ली,
९ फरवरी, १९५७

आमुख

सन् १९५५ के शुरू में भारत सरकार ने मुझे १८५७ के विद्रोह के सम्बन्ध में एक ग्रन्थ लिखने का कार्य सौंपा। सरकार ३० जून, १९५६ तक मेरी पाण्डुलिपि चाहती थी। मुझे जो समय दिया गया था, वह काफी नहीं था और सामग्री यद्यपि एकतरफा थी, लेकिन बहुत थी और विषय भी बहुत विवादपूर्ण था। किन्तु मैंने सोचा कि सिपाही-युद्ध के कारणों, रूप और परिणामों की नये सिरे से समीक्षा का प्रयत्न करना वांछनीय है।

इस विषय में शुरू में जो कटुता थी, वह अब काफी हद तक दूर हो गयी है, लेकिन दुर्भाग्यवश कुछ एक पक्षीय धारणाएं अब भी ब्रिटेन और भारत में मौजूद हैं। कुछ अंग्रेज़ यह मानने को तैयार नहीं है कि शासकों ने कुछ गलतियां कीं। ऐसे भारतीय भी हैं, जो यह नहीं स्वीकार करते कि कुछ विद्रोही नेताओं ने देशभक्ति की भावना से नहीं बल्कि अन्य उद्देश्यों से प्रेरित होकर विद्रोह में भाग लिया। इसलिए इतिहास के विद्यार्थी को पूर्व-निश्चित सिद्धान्तों और गहरे विश्वासों का सामना करना पड़ता है।

समय का प्रभाव बड़ा शमनकारी होता है। स्वतन्त्र भारत भूतपूर्व शासकों की त्रुटियों को भुला सकता है और अंग्रेज़ भी अब उन सब बातों का समर्थन नहीं करते, जो औपनिवेशिक साम्राज्यवाद ने कीं। इसलिए एक ऐसे विवादपूर्ण विषय का निरपेक्ष भाव से अध्ययन करने के लिए अब उपयुक्त अवसर है, जिस पर लोगों के विचार अब भी काफी हद तक भिन्न-भिन्न हैं। मुझे यह काम हाथ में लेने में भारत सरकार के उदार दृष्टिकोण से विशेष प्रोत्साहन मिला। उसने यह स्वीकार किया कि १८५७ के इतिहास के पुनरध्ययन का औचित्य तभी सिद्ध हो सकता है, जब वह पूर्णतः निरपेक्ष और निष्पक्ष हो और पड़ताल करने वाले को सरकारी हस्तक्षेप के डर के बिना अपने निष्कर्ष पूरी तरह और खुलकर व्यक्त करने की पूरी स्वतन्त्रता हो। मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि आगे के पृष्ठों में मैंने जो विचार प्रकट किये हैं, उनके लिए भारत सरकार किसी भी तरह जिम्मेदार नहीं है। मेरे कहने का यह तात्पर्य भी नहीं है कि सरकार मुझसे सहमत है, क्योंकि उसने इसके प्रकाशन की व्यवस्था की है। किसी भी रूप में यह "अधिकृत विवरण' नहीं है।

जो समय मुझे मिला था, उसमें इस संग्राम का विस्तृत इतिहास लिख पाना मेरे लिए सम्भव नहीं था। मैं समझता हूं कि अधिकांश पाठक मुख्य घटनाओं से परिचित हैं और यहां केवल उनकी समीक्षा दी गयी है।

मौलाना अबुल कलाम आज़ाद ने मुझे जो सुविधाएं दीं, उनके लिए मैं हृदय से उनका आभारी हूं। मुझे भारत के राष्ट्रीय आलेख संग्रहालय (नेशनल आर्काइव्ज़ आफ़ इण्डिया) और कलकत्ते के राष्ट्रीय पुस्तकालय में सब तरह के आलेखों और ग्रन्थों का अध्ययन करने की पूर्ण सुविधा प्राप्त थी। शिक्षा मंत्री ने इंग्लैंड में मेरी गवेषणाओं के लिए भी धन

की व्यवस्था की। मेरी सहायता के लिए उन्होंने तीन गवेषणा-सहायक नियुक्त किये। श्री बी० सी० जोशी ने मेरे आदेशानुसार राष्ट्रीय आलेख संग्रहालय में काम किया और उन्होंने परिशिष्टों में दिये गये बहुत से तत्कालीन आलेखों का पता लगाया। उनके इस परिश्रम के बिना मेरे लिए निश्चित समय में यह कार्य पूरा करना असम्भव होता। विषय-सूची भी उन्होंने तैयार की है। डा० कुमारी नीहारकण मजूमदार ने मेरे साथ कलकत्ते में काम किया। सन्दर्भों की जांच तथा टाइप कापी के संशोधन का कठिन कार्य उन्होंने किया। सरदार पिरथी-पाल सिंह कपूर ने पंजाब सरकार के आलेख कार्यालय में ग़दर सम्बन्धी आलेखों, विशेषकर मौलवी रजब अली के कागज-पत्रों की जांच की। "हिस्ट्री आफ़ फ्रीडम मूवमेन्ट इन इण्डिया' के सम्पादक-मण्डल का सदस्य होने के नाते मैं वह सब सामग्री भी देख सका, जो मण्डल ने एकत्रित की। राष्ट्रीय आलेख संग्रहालय के पुस्तकालय के श्री बी० बी० बागची ने मेरे कार्य में विशेष रुचि लेकर, दिल्ली के अन्य पुस्तकालयों में उपलब्ध अलभ्य प्रकाशनों की खोज की। कानपुर के श्री बालकराम ने, जिनके परदादा ग़दर के दिनों में मारे गये थे, अपने मोहल्ले के सम्बन्ध में ऐतिहासिक तथा अन्य जानकारी प्रदान की। राष्ट्रीय पुस्तकालय के श्री बी० एस० केशवन और उनके सहयोगियों ने मेरे साथ जो शिष्टता बरती और मुझे जो हार्दिक सहयोग दिया, उसके लिए मैं उनका अनुगृहीत हूं। इण्डिया आफ़िस लाइब्रेरी के श्री एफ़० सी० सटन और उनके कर्मचारियों ने न केवल मुझे ऐसी ही सहायता पहुंचाई, बल्कि कलकत्ते में मेरे पास इस काम के लिए एक अलभ्य पाण्डुलिपि भी भेजी। कासिम बाजार के ऐतिहासिक परिवार के महाराजकुमार सोमेन्द्रनाथ नन्दी ने अपने पारिवारिक पुस्तकालय से बहुत से अलभ्य प्रकाशन मुझे पढ़ने के लिए दिये। प्रोफेसर सी० एच० फ़िलिप्स ने अपने पुस्तकालय से अखबार की कतरनों और टिप्पणियों के तीन बड़े बंडल पढ़ने की अनुमति देकर मुझे बहुत अनुगृहीत किया। मेरे पुराने मित्र एम० एम० दत्तोपन्त पोद्दार ने थट्टे परिवार के सम्बन्ध में मेरे लिए महत्वपूर्ण जानकारी और बलुसारे के वक्तव्य की एक प्रति उपलब्ध की। पंजाब सरकार के आलेख कार्यालय के श्री बी० एस० सूरी ने कुछ ऐसे कागज-पत्र ढूंढने में अपना अमूल्य समय लगाया, जिन पर अब तक किसी का ध्यान नहीं गया था। लेफ्टिनेंट कर्नल पंडित कुंजीलाल दुबे ने न केवल बेनी माधो का एक लोकप्रिय गीत मेरे पास भेजा, बल्कि विश्वविद्यालय के पुस्तकालय से एक दर्जन अलभ्य प्रकाशन भी अनिश्चित समय के लिए मुझे दिये। ठाकुर बटुक सिंह ने मेरे लिए उन अत्याचारों का एक विवरण तैयार किया, जो उनके गांव और आसपास के इलाके में किये गये थे। "दि इलस्ट्रेटेड लन्दन न्यूज़" के सम्पादक ने कृपा करके मुझे बेगम हज़रत महल का चित्र छापने की अनुमति दी, इसके लिए मैं उन्हें धन्यवाद देता हूं।

प्रोफेसर एन० के० सिन्हा ने टाइप कापी पढ़ी और मुझे कई महत्वपूर्ण सुझाव दिये। डा० पी० सी० गुप्त ने ऐसे समय पुस्तक की छपाई की देखभाल की, जब मैं काफी समय से अस्वस्थ रहने के कारण इस कार्य के लिए बिल्कुल असमर्थ था।

६, एकडालिया प्लेस,
कलकत्ता-१६.
२५ अप्रैल, १६५७

सुरेन्द्रनाथ सेन

विषय-सूची

			पृष्ठ
भूमिका	अबुल कलाम आज़ाद	...	
आमुख		...	
अध्याय			
१	विद्रोह के कारण	...	१
२	प्रारम्भ	...	४१
३	दिल्ली	...	६८
	परिशिष्ट	...	११२
४	कानपुर	...	१२५
	परिशिष्ट	...	१६५
५	अवध	...	१७४
६	बिहार	...	२५१
७	झांसी	...	२७१
	परिशिष्ट	...	३०६
८	राजपूताना और मध्यवर्ती भारत	...	३१६
९	पंजाब	...	३३८
१०	आखिरी दौर	...	३५७
	परिशिष्ट १	...	३९५
	परिशिष्ट २	...	३९८
	परिशिष्ट ३	...	४०५
११	उपसंहार	...	४११

चित्र

सामने का पृष्ठ

दिल्ली में ग़दर-अदालत की स्थापना ७६

नाना साहब १४०

(यह चित्र शेफ़र्ड रचित "ए पर्सनल नरेटिव आफ़ दि आउटब्रेक एण्ड मैसेकर एट कानपुर" पुस्तक से लिया गया है। जिस रूप में शेफ़र्ड ने नाना साहब को देखा था, यह उसकी प्रामाणिक प्रतिकृति मालूम होती है। यह शेरर द्वारा प्रस्तुत वर्णन के भी अनुरूप है।) ...

तात्या टोपे (लेफ्टिनेंट बो के तत्सामयिक चित्र से) ... १४१

बेगम हज़रत महल २१४

मोहम्मद हसन का पत्र ३७६

नाना साहब का पत्र ३८२

रानी लक्ष्मी बाई की मोहर ४१४

रानी लक्ष्मी बाई के तथाकथित हिन्दी पत्र की मोहर ... ४१४

मानचित्र

सामने का पृष्ठ

१. पश्चिमोत्तर और मध्यवर्ती भारत का मानचित्र १

अध्याय १

विद्रोह के कारण

१८५७ के विद्रोह का कारण क्या था? 'निस्सन्देह चर्बी लगा कारतूस'—कुछ थोड़े-से ही लोगों को छोड़, शेष का यही उत्तर होगा। यदि उक्त चर्बी पर धर्म परिवर्तन के एक परोक्ष साधन के रूप में शक न किया जाता, तो केवल उस गन्दी चर्बी के कारण ही इतनी उग्र ज्वाला नहीं भड़क सकती थी। असन्तुष्ट सिपाहियों ने शिकायत की कि हमने अपने विदेशी प्रभुओं की सेवा में बिना किसी हील-हुज्जत के अपना लहू बहाया है। हमने उनके लिए राज्य पर राज्य जीते जिसके परिणामस्वरूप देश की चारों दिशाओं में उनकी पताका फहराने लगी। किन्तु हमें उसका पुरस्कार क्या मिला? हमारी जनता को लूटा गया, हमारे राजाओं को अपमानित किया गया और इस सबसे बढ़कर, हमारे धर्म का असीम अपमान किया गया। "हिन्दुस्तान की सेनाओं ने लन्दन के बादशाह और कम्पनी बहादुर की ओर से वफादारी के साथ लड़ाइयां लड़ीं और उनके लिए कलकत्ते से पेशावर तक के प्रदेश जीते। उन सेवाओं के लिए सम्राट ने और अंग्रेज शासकों ने हमें निम्नलिखित पुरस्कार दिए: प्रथम, उन्होंने हिन्दुस्तान में मालगुजारी के रूप में २०० रु० की जगह ३०० वसूल किए और जहां ४०० रु० वसूल किये जाने थे वहां ५०० रु० की मांग की गई, और इस पर भी वे अपनी मांगें बढ़ाने की फिक्र में हैं। इस से जनता तबाह और बरबाद हो जाएगी। दूसरे, उन्होंने चौकीदारी कर दुगुना, चौगुना और दसगुना कर दिया है और इस प्रकार जनता को तबाह करना चाहा है। तीसरे, प्रतिष्ठित और पढ़े-लिखे लोगों का व्यवसाय समाप्त हो चुका है और करोड़ों लोग जीवन की आवश्यकताओं से वंचित हैं। नौकरी की तलाश में जब कोई व्यक्ति, एक जिले से दूसरे जिले में जाने का निश्चय करता है, तो मार्ग में राहदारी के रूप में प्रति व्यक्ति ६ पाई तथा प्रति गाड़ी ४ से ८ आने तक देना पड़ता है। जो पैसा दे सकते हैं, उन्हें ही आम सड़कों पर यात्रा की अनुमति मिलती है। अत्याचारियों के दमन का वर्णन हम कहां तक करें? धीरे-धीरे स्थिति यहां तक पहुंच गई है कि सरकार ने सबका धर्म भ्रष्ट करने का निश्चय कर लिया है।"[1] इस प्रकार की एक घोषणा, दिल्ली के हिन्दुओं और मुसलमानों की ओर से हिन्दुस्तान की जनता के नाम जारी की गई थी। केवल सिपाहियों ने ही कम्पनी की सरकार की निन्दा की थी, ऐसी बात नहीं थी; दिल्ली के शाहंशाह, लखनऊ के वली और पेशवा के उत्तराधिकारी, सभी उनके साथ थे। अन्त में कारतूस ने तो बस आग भड़का दी।

१. फ़ारेन सीक्रेट कन्सल्टेशन्स, सं० १४, ३० अप्रैल, १८५८

तथापि भारतीयों की भावनाओं को ठेस पहुंचाने के लिए अंग्रेज ने जानबूझ कर कोई काम नहीं किया। उसने भारत पर तलवार से विजय प्राप्त की थी, किन्तु वह उस पर केवल तलवार से ही शासन नहीं करना चाहता था। वह ईमानदारी से यह विश्वास करता था कि वह एक श्रेष्ठ जाति और संस्कृति का प्रतिनिधित्व करता है, और वह पूर्व के 'पिछड़े हुए' लोगों को पाश्चात्य सभ्यता की उपलब्धियों में भागीदार बनाना चाहता था। यह भूलकर कि विदेशी सरकार के उद्देश्यों को गलत समझे जाने की हमेशा सम्भावना रहती है, वह अपना शासन एक नैतिक स्वीकृति के साथ चलाना पसन्द करता था। अपनी स्थितिगत कठिनाइयां भूलकर, उसने ऐसे सुधार आरम्भ किए, जो उसकी दृष्टि में अमान्य नहीं थे। सुधार के उत्साह में उसने जनता की अत्यधिक उत्तेजित भावनाओं पर ध्यान नहीं दिया और आवश्यक तथा अनावश्यक के बीच वह कभी भी भेद नहीं कर सका।

सिपाही की धार्मिक भावनाओं पर प्रथम आघात १८०६ में किया गया जब कि एक सरल-हृदय नागरिक अफसर सर जार्ज बार्लो गवर्नर-जनरल था। उन दिनों तीन प्रेसिडेंसियों में से प्रत्येक की अपनी-अपनी स्वतन्त्र सैनिक व्यवस्था थी तथा मद्रास के अधिकारियों ने अनुभव किया कि उनके सैनिक न केवल अपने काम में बल्कि देखने में भी चुस्त होने चाहिएं। उनकी दृष्टि में सिपाही के माथे का जाति-चिन्ह भद्दा और अजीब-सा था, और वे समझते थे कि भारतीय सैनिक, जो शानदार दाढ़ी रखने में गौरव अनुभव करता था, उससे उसका सैनिक व्यक्तित्व दब जाता है। इसलिए यह आज्ञा दी गई कि मूंछें, एक खास अनुपात में काट-छांट कर रखी जाएं। यही नहीं, उसकी पुरानी पगड़ी की जगह ऐसी पगड़ी दी जाने वाली थी जिसमें चमड़े के झब्बे थे। आज ये सुधार—यदि इन्हें सुधारों की संज्ञा दी जा सकती है—भले ही आवश्यक न प्रतीत होते हों, किन्तु वे हानिकारक नहीं लगेंगे, किन्तु डेढ़ सौ वर्ष पूर्व हिन्दुओं और मुसलमानों का दृष्टिकोण कुछ और ही था। वे अंग्रेजी तौर-तरीकों से परिचित नहीं थे और अंग्रेजों की जो कुछ बातें उन्होंने देखी थीं उन्हें वे पसन्द नहीं करते थे। सिपाही के माथे का चिह्न उसके धर्म की सूचना देता था और उसे हटाया नहीं जा सकता था। एक मुसलमान अपनी दाढ़ी, जिसका सम्बन्ध साधारणतया उसके धर्म से था, मुड़ाना पसन्द नहीं करता था। किन्तु सबसे अप्रिय परिवर्तन था, नई पगड़ी में चमड़े के झब्बे का होना। यह चमड़ा किसका था? कुछ हिन्दू किसी भी प्रकार का चमड़ा नहीं छूते, तथा सभी हिन्दुओं को गाय के चमड़े से आपत्ति थी। कोई भी मुसलमान जानबूझ कर सूअर के चमड़े की बनी कोई चीज नहीं पहन सकता था और इस सम्बन्ध में बहुतों को यह सन्देह था कि पगड़ी के झब्बे इन्हीं आपत्तिजनक चीजों से बनाए गए हैं। अतएव झब्बे के साथ जरा-सा स्पर्श भी सिपाही को भ्रष्ट कर सकता था तथा उसके नाते-रिश्तेदारों की—जो उसके लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण थे—दृष्टि में उसे नीचा गिरा सकता था। अंग्रेज अधिकारियों को इन बातों में सावधान रहना चाहिए था, यह उनकी समझ में ही नहीं आया। सिपाही ने इन अनावश्यक परिवर्तनों में अंग्रेज द्वारा चतुराई के साथ उसे ईसाई बनाने के प्रयास की गन्ध पाई। वह भाड़े का सैनिक था तथा कम्पनी की सेना में इसलिए भरती हुआ था कि वहां उसे ईमानदारी की और सम्मानित जीविका मिलती थी। किन्तु वह किसी

भी शर्त पर अपने पुरखों का धर्म त्यागने और विधर्मी बनने को तैयार नहीं था। उसका स्वामी उससे इससे अधिक स्वामिभक्ति की मांग नहीं कर सकता था तथा वह बिना किसी संकल्प-विकल्प के किसी भी अन्य स्वामी के अधीन काम करने को तैयार था। उसके देश की परम्परा की मांग केवल यह थी कि वह नमकहराम न हो। किन्तु अपने प्रति अपनी इस ईमानदारी को वह अपने धर्म से अधिक महत्व नहीं दे सका। अपने अज्ञान में अंग्रेज उसके स्नान-ध्यान और पूजापाठ को निरर्थक समझ कर भले ही उसकी उपेक्षा कर दें, किन्तु उसके लिए वे मोक्ष के एकमात्र साधन थे। यदि वह अपमे धर्म पर दृढ़ रहा तो उसे अपने सभी संगी-साथियों से मान मिलेगा चाहे वे किसी भी धर्म के हों। एक कट्टर मुसलमान एक कट्टर हिन्दू का सम्मान करेगा, किन्तु दोनों ही, पूर्वजों की परम्परा त्यागने वाले को सन्देह की दृष्टि से देखेंगे। यदि झब्बे से उसका धर्म भ्रष्ट होता हो और उसके फलस्वरूप परोक्ष रूप में उसे ईसाई धर्म स्वीकार करना पड़ता हो, तो संसार की कोई भी शक्ति उसे झब्बा पहनने पर बाध्य नहीं कर सकती थी। इस प्रकार झब्बा वेल्लोर के ग़दर की भूमिका सिद्ध हुआ, वैसे ही जैसे कि कारतूस के भाग्य में पचास वर्ष बाद विद्रोह का अग्रदूत बनना लिखा था। सिपाही के विचारों से अपरिचित अंग्रेज को, अकस्मात् यह सब जानकर आश्चर्य हुआ। किन्तु उसने अपना सन्तुलन नहीं खोया। कर्नल गिलेस्पी, वेल्लोर छावनी के सेनाध्यक्ष थे। उन्होंने सफलतापूर्वक विद्रोह का दमन कर दिया। स्मरण रहे कि विद्रोही सिपाहियों पर उसके द्वारा आक्रमण में भारतीय सैनिकों ने उसका साथ दिया और यद्यपि विद्रोहियों से भयंकर बदला लिया गया, तो भी शान्ति तुरन्त स्थापित नहीं हुई तथा प्रेसिडेंसी में असन्तोष के लक्षण तीन अन्य छावनियों में भी देखे गए। अप्रिय नियमादि हटा दिए गए और गवर्नर ने एक घोषणा जारी की जिसमें इस बात का खण्डन किया गया कि सरकार का विचार भारतीय सैनिकों के धर्म में कोई हस्तक्षेप करने का है। वेल्लोर-ग़दर को एक राजनीतिक रंग दिया गया क्योंकि टीपू सुलतान के बेटे काफी नौकर-चाकरों के साथ किले में निवास कर रहे थे। किन्तु एक बात स्पष्ट थी कि ब्रिटिश अधिकारियों ने भारतीय सैनिकों की मनःस्थिति नहीं समझी तथा देशी सैनिकों को यह विश्वास न था कि उनके अफसरों का इरादा नेक है। यदि सरकार के उद्देश्यों के बारे में सन्देह के लिए उसे पर्याप्त कारण न मिलते तो सम्भवतः कोई भी राजनीतिक दांव-पेंच सिपाही की स्वामिभक्ति को न डिगा पाता।

अभी मुश्किल से अठारह वर्ष ही बीते होंगे कि सिपाही की स्वामिभक्ति की दुबारा परीक्षा की गई। जब असम को बर्मा ने अपने राज्य में शामिल कर लिया, तब से ही भारत की पूर्वी सीमा पर गड़बड़ियां चल रही थीं और अन्ततः १८२४ में युद्ध छिड़ गया। सिपाही को असम और अराकान से कूच करने और स्थल मार्ग द्वारा बर्मा की यात्रा करने में कोई आपत्ति नहीं थी। किन्तु प्राचीन प्रथाओं के अनुसार हिन्दू के लिए समुद्र-यात्रा का निषेध था और कानून भी इस बात का समर्थन करता था। भरती की शर्तों के अनुसार बंगाल के सिपाही को समुद्र से नहीं जाना था। मद्रास की सेना बिना किसी शिकायत, पोत द्वारा रंगून के लिए रवाना हो चुकी थी। किन्तु बंगाल सेना को चटगांव के लिए कूच करना था और वहां से बर्मा की भूमि-सीमाओं पर

एकत्र होना था। यातायात के आवश्यक साधन उपलब्ध करने के लिए सरकारी स्रोतों का पूरा उपयोग किया जा चुका था और अन्त में बैरकपुर में रुकी हुई तथा अभियान के लिए निर्देशित ४७वीं रेजीमेंट को कहा गया कि वह खुद ही गाड़ियों का प्रबन्ध करे। स्पष्ट ही जहां सरकार असफल हो चुकी थी, वहां सिपाही सफलता की आशा नहीं कर सकता था और यह आदेश निश्चय ही अनुचित था।[२] इस अवसर पर एक अफवाह यह फैली कि रेजीमेंट के एक बार चटगांव में पहुंच जाने पर उसे जहाज पर चढ़ना ही पड़ेगा, चाहे वह इसे पसन्द करे या नहीं, और इसी बात से सिपाही छावनी छोड़ते हुए हिचकिचा रहे थे। उन्हें यह ज्ञात नहीं था कि अफसर ने ही यातायात-प्रबन्ध करने का भार अपने ऊपर ले लिया है।[३] रामू की दुर्घटना के समाचार ने उनके दृष्टिकोण को प्रभावित किया या नहीं, यह अभी भी एक अनुमान का विषय है। किन्तु यह एक प्रमाणित तथ्य है कि सिपाही क्षुब्ध थे और उन्होंने कूच करने से इन्कार कर दिया। सिपाही धर्मभ्रष्टता और उसकी यातनाओं से आतंकित था। उसका तर्क यह था कि वह समझौते की शर्तों से अधिक कुछ भी करने को बाध्य नहीं है। प्रधान सेनापति सर एडवर्ड पैजट बड़े उग्र स्वभाव का व्यक्ति था। वह सामाजिक प्रथाओं और धार्मिक अन्धविश्वास सम्बन्धी कोई निरर्थक बात सहने को तैयार नहीं था। वह अनुचित भय को भी महत्व देने को तैयार नहीं था। आदेश, आदेश था और उसका पालन होना ही चाहिए और यदि सिपाही आदेश पालन करने से इन्कार करता है, तो वह अनुशासन-भंग का अपराधी है। सेना में अनुशासनहीनता को कभी भी सहन नहीं किया जा सकता और युद्ध के समय तो उसका दृढ़तापूर्वक दमन किया जाना चाहिए। प्रधान सेनापति यूरोपीय सेनाओं के साथ स्वयं बैरकपुर गया, रेजीमेंट से परेड कराई, उनकी गलती के लिए उन्हें चेतावनी दी और कहा कि या तो वे कूच करें या अपने हथियार रख दें। तथापि सिपाहियों ने अनुशासन से अधिक धर्म को महत्व दिया। उनके विचार में जो आज्ञा उनकी नौकरी की शर्तों के विपरीत थी, उसको न मानकर उन्होंने कोई अपराध नहीं किया। साथ ही साथ उन्होंने किसी सशस्त्र प्रतिरोध की योजना भी नहीं बनाई।[४] किन्तु उनकी अवज्ञा को क्षमा नहीं किया जा सकता था। पैजट के आदेश पर इन अभागे सिपाहियों पर गोलियां चलाई गईं। उन्होंने अपनी बन्दूकें भी नहीं भरी थीं कि वे आतंकित, अचरज में डूबे, अव्यवस्थित ढंग से भाग खड़े हुए। किन्तु बात वहीं समाप्त नहीं हुई। उनके

२. सिपाही को अपने यातायात का साधन स्वयं ढूंढना आवश्यक था "जब कि यह ज्ञात था कि दूर-दूर तक किसी भी कीमत पर कोई भी जानवर उपलब्ध नहीं हो सकता था।" दि म्यूटिनी इन दि बंगाल आर्मी : लेखक, एक अवकाशप्राप्त अफसर, पृ० १२। के, ए हिस्ट्री आफ़ दि सिपाय वार इन इंडिया, जिल्द १, पृ० २६७ भी देखिए

३. के, उद्धृत ग्रन्थ, जिल्द १, पृ० २६७-२६८

४. "अभागी रेजीमेंट को एक पंक्ति में खड़ा किया गया था। उनके सामने कुछ गज दूर, पंक्तियों में दो यूरोपीय रेजीमेंट थे तथा बन्दूकें छिपी हुई थीं, क्योंकि यदि वे उन्हें देख लेते तो संभवतः वे समर्पण कर देते। बन्दूकों द्वारा उनके टुकड़े-टुकड़े कर दिए गए। उनकी बन्दूकें खली पाई गईं।" दि म्यूटिनी इन दि बंगाल आर्मी, पृ० १२

नेताओं को सूली पर लटका दिया गया, ४७वीं रेजीमेंट भंग कर दी गई और उसका नाम सेना-सूची से हटा दिया गया। इस प्रकार कठोरतापूर्वक अनुशासन लागू किया गया। इसके तुरन्त बाद कोई उत्पात नहीं हुआ। किन्तु बैरकपुर ने सिपाही की धार्मिक भावनाओं के प्रति ब्रिटिश उदासीनता का एक और उदाहरण प्रस्तुत किया। कानूनी रूप से यदि देखा जाय तो सिपाही केवल अपने अधिकारों पर अड़े थे और इससे अधिक उन्होंने कुछ नहीं किया था। अधिकारियों का रुख निश्चय ही तर्कसंगत था, किन्तु वे यह भूल गए कि मानवीय व्यवहारों में तर्क से ही सदा काम नहीं चलता।

पांच वर्ष बाद, जब सती प्रथा का अन्त हुआ तो हिन्दू जाति के रूढ़िवादी लोगों को अपनी धार्मिक प्रथाओं का अंग्रेजों द्वारा विरोध किए जाने का एक और मौका देखने को मिला। कोई भी अब इसे अस्वीकार नहीं करेगा कि उक्त सुधार बहुत पहले ही हो जाना चाहिए था और यह प्रथा अमानवीय थी। धार्मिक विषयों में पूर्ण तटस्थता रखने को उत्सुक, ईस्ट इंडिया कम्पनी की सरकार ने पहले उन सब कार्यों से अपने आप को न केवल अलग रखा, जिनसे उसकी हिन्दू और मुसलमान प्रजा के विरोधी बन जाने की सम्भावना थी, बल्कि अपने अधिकार-क्षेत्र के अन्दर ईसाई धर्मप्रचारकों के कार्यों के प्रति उसने अपनी अरुचि भी प्रकट की। किन्तु कोई भी सभ्य शासन मानव-बलि नहीं सह सकता और कम्पनी के डायरेक्टर इस जघन्य प्रथा को मिटाने को उत्सुक थे। तथापि लार्ड एमहर्स्ट इस जिम्मेदारी का वहन नहीं करना चाहते थे क्योंकि उन्हें यह आशंका थी कि यह सुधार आवश्यक होते हुए भी लोगों को अनिवार्यतः अत्यधिक अरुचिकर लगेगा। किन्तु लार्ड विलियम बेंटिंक को ही इस बात का अक्षय श्रेय है कि उन्होंने साहसपूर्वक इस प्रथा का उन्मूलन किया तथा इसे एक ऐसा अपराध घोषित किया जिसकी सजा मौत थी। उन्हें उन सुशिक्षित हिन्दुओं का समर्थन मिला जिनका नेतृत्व राजा राममोहन राय और द्वारकानाथ ठाकुर कर रहे थे, किन्तु उनकी संख्या बहुत थोड़ी थी, जबकि अधिकांश अन्धविश्वासी लोगों का अभी भी यह मत था कि सभी प्राचीन प्रथाएं शास्त्र-सम्मत हैं। बाद में विद्रोह के नेताओं ने उक्त स्तुत्य सुधार का बेजा लाभ उठाया। अपनी एक घोषणा में खान बहादुर खान ने कहा कि "अपने मृत पतियों की चिताओं पर पत्नियों की आत्मबलि देना एक प्राचीन धार्मिक प्रथा थी, अंग्रेजों ने उसे समाप्त कर दिया और उसका निषेध करते हुए स्वयं अपने नियम बनाए।"[५]

सती प्रथा के उन्मूलन ने न केवल सामान्य हिन्दू जनता को उत्तेजित किया वरन् मुसलमानों के मन में भी उसने असन्तोष उत्पन्न किया। उन्होंने सोचा कि यदि ईसाई सरकार हिन्दू रीति-रिवाजों में निश्शंक रूप से हस्तक्षेप कर सकती है तो बेचारे मुसलमानों को वह कब तक छोड़े रहेगी? दस वर्ष बीतते-बीतते हिन्दू-मुसलमान, दोनों को समान रूप से चिन्ता में डालने वाली एक घटना और घटी। रैट्रे की सिख पलटन के सूबेदार सरदार बहादुर हिदायत अली का सैनिक जीवन शानदार था। उनकी स्वामिभक्ति सन्देह से परे थी। उनके पिता और बाबा, दोनों सूबेदार थे और इस प्रकार वे कम्पनी की नौकरी में अपने वंश की

५. फ़ारेन सीक्रेट कन्सल्टेशन्स, सं० २२-२३, ३० अप्रैल, १८५८

तीसरी पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करते थे। अपने पिता की भांति, उनका भी जन्म सेना में ही हुआ था तथा अपना कहने योग्य देश का कोई भाग न होने के कारण, वे अपने आप को पूर्णतया सेना का ही कहते थे। उन्होंने सरकार को "बंगाल सेना के पिछले विद्रोह तथा बंगाल प्रेसिडेंसी में विद्रोह के सम्बन्ध में कुछ शब्द"[६] शीर्षक एक संक्षिप्त स्मृति पत्र दिया जिसमें उन्होंने पहले अफगान युद्ध के विरुद्ध होने वाले विद्रोह के कारण बताए। सिपाही काबुल-अभियान से मुक्ति का न्यायोचित दावा नहीं कर सकते थे हालांकि उनका गन्तव्य स्थान भारत से बाहर था, किन्तु उन्होंने सोचा कि उस सुदूर भूमि में जाने से वे जाति के नियम भंग करेंगे और फलस्वरूप उनकी जाति चली जाएगी। हिदायत अली ने बताया कि काबुल में हिन्दू सिपाही अपना दैनिक स्नान-ध्यान नहीं कर सके और भारत की सामान्य प्रथा के विपरीत, उन्हें मुसलमानों से अपना भोजन खरीदना पड़ा। उनमें से अनेक बन्दी बना लिए गए और जबरन उनका धर्म-परिवर्तन किया गया। घर लौटने के बाद पता चला कि वे जाति-बहिष्कृत हो चुके हैं। न केवल अज्ञानी ग्रामीणों ने, बल्कि उनके साथी सिपाहियों ने भी उनका हुक्का-पानी बन्द कर दिया। मुसलमान सैनिक भी खुश नहीं था हालांकि जात-पांत में उसका विश्वास नहीं था, और न उसे जाति-बहिष्कार का भय था। वह अपने सहधर्मी से लड़ने में हिचकिचाता था, और हिदायत अली ने लिखा है कि "मुसलमान आपस में इस बात की डींग हांका करते थे कि उन्होंने कभी भी लक्ष्य पर गोली नहीं चलाई और इस तरह अंग्रेजों की आंखों में धूल झोंकी।"

एक हिन्दू सूबेदार सीताराम ने भी इसकी पुष्टि की है। उसका चाचा जमादार था तथा पुत्र सिपाही। जब कि सीताराम नमकहलाल रहा, ग़दर के दौरान में उसके पुत्र ने विद्रोह कर दिया और अपने अपराध के लिए उसने चरम दण्ड भोगा। दुर्भाग्यवश, पिता को ही गोली दागने वाली टुकड़ी के संचालन का आदेश दिया गया, किन्तु एक उदार अफसर ने उसे इस अमानवीय कर्तव्य से छूट दे दी। सीताराम ने अफगानिस्तान में सैनिक सेवा की और अपने हिन्दू भाइयों के भय और यातनाओं का उसने जो वर्णन किया है, उस पर आसानी से विश्वास किया जा सकता है। वह लिखता है, "सिन्धु नदी के पार जाने के विचार ने सिपाहियों को अत्यधिक भयभीत कर दिया। कितन ही लोगों ने कहा कि सरकार की सेना हार जाएगी। औरों ने कहा कि अंग्रेज काबुल पर अधिकार करेंगे क्योंकि सिंहासनच्युत शाह के पक्ष में एक सशक्त दल है। सिपाही सिन्धु पार जाने से डरते थे क्योंकि वह भारत के बाहर थी। इसका हमारे धर्म में निषेध है, इससे जाति चली जाती है। इसके फलस्वरूप अनेक सिपाहियों ने अपनी छुट्टी करा ली और अनेक सेना छोड़कर भाग गए।"[७] उन्हें मरुस्थलों में से होकर कूच करना पड़ा तथा कन्धार के मार्ग में एक

---

६. बंगाल सरकार द्वारा १८५८ में प्रकाशित। अंग्रेज़ी अनुवाद कर्नल रैट्रे द्वारा किया गया है। गब्बिन्स के "दि म्यूटिनीज़ इन अवध" के तृतीय संस्करण के परिशिष्ट १२ में यह पुनर्मुद्रित हुआ है

७. लेफ्टिनेंट कर्नल नोर्गेट द्वारा अनूदित "फ्राम सिपाय टु सूबेदार : बीइंग दि लाइफ़ एण्ड एडवेंचर्स आफ़ ए नेटिव आफ़िसर आफ़ दि बंगाल आर्मी", तृतीय संस्करण,

'म्लेच्छ देश' में से गुजरना पड़ा जो मानो 'नरक के किनारे स्थित था'। "जब कोई हिन्दू मर जाता, तो दाह-संस्कार के लिए वहां लकड़ी तक नहीं मिलती थी। वह पवित्र काशी या पावन गंगा से बहुत दूर था। वह बहुत दुःखी था क्योंकि वह भूखे सियारों का भक्ष्य बन, विभिन्न जगहों में घसीटा जाता था।"[८] काबुल की हार के बाद वह अभागा सिपाही शत्रुओं के हाथ में पड़ गया और गुलाम के रूप में बेच दिया गया। ब्रिटिश निष्क्रमण के बहुत बाद, वह एक व्यापारी की सहायता से मुक्त हो सका जिसे उसे पांच सौ रुपए देने पड़े जो कि उस समय के मूल्य के अनुसार काफी बड़ी रकम थी। फीरोजपुर में वह कमिश्नर से मिलने गया जिसने उसे उसके मुक्तिधन का आधा भाग अग्रिम रूप में दिया, शेष भाग उसे छावनी के एक पुराने परिचित ने दिया। इसके बाद सेना में उसके साथियों द्वारा उसके प्रति किए गए क्रूर व्यवहार की दुःखमय कहानी शुरू होती है। "मैं एक रेजीमेंट के सैनिकों के पास गया, किन्तु जब मैंने सिपाहियों को बताया कि मैं कौन हूं, तो उन सबने घोषणा की कि मैं अशुद्ध और भ्रष्ट हूं; कुछेक ने तो मुझ पर मुसलमान हो जाने तक का आरोप लगाया। अतएव पुनः अपनी जाति में लिए जाने तक, मैं अपने ही लोगों से दोस्ती या मुहब्बत की आशा नहीं कर सकता था। इस बात से मुझे भयंकर कष्ट पहुंचा और मैंने करीब-करीब इच्छा की कि इससे अच्छा तो यह था कि मैं काबुल में ही रहता जहां मेरे साथ, कम से कम ऐसा क्रूर व्यवहार तो नहीं होता था।"[९] उसने कहा कि शुद्धि होने तक "ब्राह्मण मेरे साथ एक जाति-बहिष्कृत का सा बरताव करते थे तथा मैं केवल मुसलमानों और ईसाई बाजे वालों और गवैयों के साथ मिल-जुल सकता था, जो मुझ से बात करने वाले एकमात्र लोग थे। अफसर यह जानते थे और मेरे प्रति अत्यन्त दयालु थे। किन्तु चूंकि मेरे पास पैसा नहीं था, मैं तत्काल अपनी जाति में वापिस नहीं जा सकता था।"[१०] ऐसा ही व्यवहार उसके गांव में भी उसकी प्रतीक्षा कर रहा था। "मेरे गुलाम बनाए जाने की खबर मेरे गांव पहुंच चुकी थी और मुझे अपने पैतृक घर में रहने नहीं दिया गया। मेरा भाई मेरा शत्रु बन चुका था, क्योंकि उसने बहुत पहले ही मेरी मृत्यु की कल्पना कर ली थी और समस्त सम्पत्ति का अधिकारी होने की प्रतीक्षा कर रहा था। मेरे पिता ने मुझे जाति में, जिसे मैंने सिद्ध किया कि मुझसे बलात् छीनी गई थी, वापिस आने के लिए खर्च दिया।"[११] पिता ने सीताराम को सेना त्यागने पर राजी कर लेने की भरसक कोशिश की, किन्तु उसे अभी भी अपनी पत्नी और पुत्र की खोज करनी थी, जिन्हें घर बैठे ढूंढ लेने की आशा उसे नहीं थी।

लेफ्टिनेंट कर्नल डी० सी० फिल्लोट द्वारा सम्पादित, पृ० ६०

हिदायत अली सीताराम की पुष्टि करते हैं, "हिन्दुस्तान के हिन्दुओं में से कोई भी अफगानिस्तान गए हुए अपने साथियों के साथ भोजन नहीं करता, न कोई उन्हें अपने बर्तन छूने देता है। वे उन्हें जाति-बहिष्कृत मानते थे और उनके साथ वैसा ही बरताव करते थे"

८. वही, पृ० ६६

९. वही, पृ० ८९

१०. वही, पृ० ९०

११. वही, पृ० ९०-९१

अफगान युद्ध ने सिपाही को यह सिखाया कि सैनिक का पेशा हमेशा ही गौरवमय नहीं होता और एक विदेशी अभियान से उसे ऐसी हानि हो सकती है जिसकी कोई भी पूर्ति नहीं हो सकती। बर्मी युद्ध को छोड़ कर उसे कभी भी विदेश नहीं जाना पड़ा था और उस युद्ध में उसकी विजय हुई थी। एक अपरिचित देश में वह गुलाम बन जाए और अपने देश में वह जाति से निकाला जाए, और इसके बदले उसे महज़ अपने अफसरों की सहानुभूति मिले, इससे उसे कोई संतोष नही मिल सकता था। इसी समय भारतीय सेना ने तीसरी बार यह देखा कि ब्रिटिश जनरल अविजेय नहीं हैं तथा एशियाई अफसरों के नेतृत्व में एक विशुद्ध एशियाई सेना उन्हें बुरी तरह पछाड़ सकती है। इस तथ्य ने भरतपुर और नेपाल युद्ध की याद फिर से जगा दी जिनमें कम्पनी की सेना का बहुत बुरा हाल हुआ था। अन्य विदेशी अभियान की सम्भावनाओं पर सन्तोषपूर्वक विचार कर सकना सिपाही के लिए कदाचित् सम्भव नहीं था। सम्भवतः कोई हिन्दू राज्य इस प्रकार के सामाजिक तथा धार्मिक बंधनों का थोड़ा-बहुत सुधार कर सकता है, जैसे कि सचमुच मराठा-युग में, जबरन मुसलमान बनाए गए बन्दी, राजा के आदेश पर समाज में अपनी मूल स्थिति में वापिस ले लिए गए थे। किन्तु एक ईसाई सरकार इस दिशा में असमर्थ थी। यदि विदेशी शासक पीड़ितों की ओर से कुछ हस्तक्षेप करते, तो उनकी अपनी स्थिति बिगड़ जाती।

१८३९ में अपने धर्म को छोड़, शेष धर्मों के प्रति सरकारी रुख में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन दृष्टिगोचर हुआ। भारत में राज्य, समस्त जातियों के तीर्थ-स्थानों का परम्परागत संरक्षक था और धार्मिक विवादों में, सभी धर्म के लोग न्याय पाने के लिए समकालीन शासक के द्वार खटखटाते थे चाहे उसका अपना धर्म कुछ भी हो। हिन्दू समाज से सम्बन्धित किसी विवादग्रस्त विषय पर औरंगज़ेब से निर्णय की अपेक्षा की जाती थी तथा ब्राह्मण पेशवा ने रोमन कैथोलिक पादरी के अधिकारों पर अपना निर्णय दिया था। इस युगमान्य प्रथा के अनुसार ईस्ट इंडिया कम्पनी के अफसरों ने हिन्दुओं के मन्दिरों का प्रबन्ध-भार स्वयं ले लिया था, यहां तक कि पुरी में जगन्नाथ जी का प्रसिद्ध मन्दिर सरकारी निरीक्षण के अन्तर्गत रखा गया था। विलायत में ईसाइयों के बीच इस अपवित्र संसर्ग के कारण हलचल मच गई तथा सार्वजनिक कोष से मूर्तिपूजक संस्थाओं की सहायता करने के विरुद्ध वहां क्षोभ प्रकट किया गया। वस्तुतः मन्दिर, सरकार के आर्थिक लाभ का एक स्रोत थे और तीर्थयात्रियों से प्राप्त आय के थोड़े-से अंश का ही उपयोग उनकी देख-रेख करने में होता था। किन्तु यह सांसारिक लाभ-हानि का नहीं, सिद्धान्त का प्रश्न था और कम्पनी की सरकार को ब्रिटेन में जनमत के बढ़ते हुए दबाव के आगे झुकना पड़ा तथा हिन्दुओं और मुसलमानों के धर्मालयों की व्यवस्था उनके वास्तविक संरक्षकों को सौंपनी पड़ी। यह पूर्ण धार्मिक तटस्थता की नीति के सर्वथा अनुकूल था और यदि भारतीयों ने इसी समय मिशनरी कार्यों में कान खड़े कर देने वाली वृद्धि न देखी होती, तो उन्हें इससे सन्तोष ही होता। मिशनरियों का कार्य हर जगह चल रहा था—स्कूलों में, अस्पतालों में, कारागृहों में तथा बाजारों में।

मिशन वालों के कार्य से सबसे अधिक उत्तेजना बाजारों में पैदा हुई। अपने सिद्धान्तों को प्रचारित करने के उनके अधिकारों को चुनौती नहीं दी गई थी, किन्तु वे अपन श्रोताओं

को ईसा का सन्देश समझाकर ही सन्तुष्ट न थे, उन्होंने मूर्तिपूजक हिन्दू और एकेश्वरवादी मुसलमान, जो ईसा को पैगम्बरों में से एक मानता था, के बीच बिना कोई भेद किए उनके पूर्वजों के रीति रिवाजों तथा प्रथाओं का उपहास किया। उत्तेजित जनता ने ईसाई मिशनरियों को ईसाई सरकार का ही एक अंग माना क्योंकि कभी-कभी मिशनरियों के साथ में पुलिस भी होती थी। सर सैयद अहमद का कथन है कि 'यह सामान्य धारणा है कि सरकार ने मिशनरियों की नियुक्ति की तथा उनको अपने खर्च पर बनाए रखा।" आगे वे कहते हैं कि जब कि हिन्दू और मुसलमान अपने-अपने धर्मों के सम्बन्ध में अपने निजी निवास-स्थानों, मन्दिरों या मस्जिदों में उपदेश देते थे, मिशन वाले अत्यन्त क्षोभजनक शब्दों में परधर्मनिन्दा करने सार्वजनिक जगहों पर जाते थे। सिपाही इससे अपरिचित नहीं रह सकता था कि सेना के पादरियों को राज्य से वेतन मिलता है तथा उस समय प्रचलित 'पादरी लाट' इस शब्द में सन्निहित अर्थ अफसरी व्यवस्था में स्वीकृत पादरी का महत्वपूर्ण स्थान सूचित करता था।

मिशन वाले अत्यन्त सुयोग्य शिक्षक थे किन्तु एक शिक्षक के रूप में उनकी योग्यता ही रूढ़िवादी भारतीय के लिए गम्भीर चिन्ता का कारण बनी हुई थी, क्योंकि मिशनरियों ने अपना कार्यक्षेत्र विद्यार्थी के मस्तिष्क के परिष्कार तक ही सीमित नहीं रखा किन्तु छात्र की आत्मा पर भी अपना अधिकार जमाने का प्रयत्न किया जो उनके लिए अधिक महत्वपूर्ण था। उनकी राय में मोक्ष का केवल एक ही मार्ग था, क्योंकि ईसाइयत सत्य के एकाधिपत्य का दावा करती थी, और उसके विचार से धर्म-परिवर्तन पाश्चात्य शिक्षा का अनिवार्य परिणाम था। सुशिक्षित हिन्दुओं की सहिष्णुता की नीति के अनुसार यह तो माना जा सकता था कि अन्ततः सभी धर्म ईश्वर की ओर ले जाने वाले हैं, किन्तु मुसलमान, जिसका यह दृढ़ विश्वास था कि एक मात्र उसका धर्म ही सत्य है, तर्कतः ऐसी रिआयत नहीं कर सकता था। और अपने पूर्वजों के पुरातन दर्शनशास्त्र से अपरिचित हिन्दुओं का बहुमत ईमानदारी के साथ यह विश्वास करता था कि परम्परागत भजन-पूजन म गहरे लगाव से ही वह रौरव नरक से बच सकता है। (जहां मुसलमान अपने आप को अपने उत्तराधिकारी के अधार्मिक कार्य के लिए नैतिक रूप से उत्तरदायी नहीं मानता था, वहां हिन्दू को यह भय रहता था कि जब तक उसका पुत्र, उसकी मृत्यु के पश्चात् विधिवत् श्राद्धकर्म नहीं करेगा, उसकी आत्मा कभी भी उऋण नहीं होगी।) इस प्रकार मिशनरियों और भारत की गैर-ईसाई जनता के बीच कोई समझौता नहीं हो सका। भारतीयों ने अनुभव किया कि उनका धार्मिक शत्रु उनसे अधिक प्रभावशाली स्थिति में है क्योंकि उसे राज्य का कभी परोक्ष और कभी प्रत्यक्ष समर्थन प्राप्त था। कुछ असैनिक और सैनिक अफसर, ईसाइयत के उत्साह से प्रेरित थे।[१२] वे ईमानदारी

---

१२. उन्हें अपने सरकारी कार्यों के प्रति कुछ गम्भीर आपत्ति भी थी। एक काजी की नियुक्ति, अन्य कार्यों के साथ, विवाह कराने तथा इस्लामी कानून में उल्लिखित धार्मिक कर्तव्य और समारोह सम्पन्न करने के लिए होती थी। स्थान रिक्त होने पर, जिले का न्यायाधीश एक सुयोग्य व्यक्ति की सिफारिश करता था। बरेली के न्यायाधीश राबर्टसन की अपने इस विशेष दायित्व के सम्बन्ध में विशेष कर्तव्य-निष्ठा थी और उसने इस बारे में सरकार को

से यह कहते थे कि यदि उन्होंने भूले-भटके लोगों को, जिनकी समुन्नति करना उनका कर्तव्य था, अपनी सबसे महत्वपूर्ण देन न दी होती तो वे अपने कर्तव्य से च्युत हुए होते। अन्य लोग, शायद राजनीतिक उपयोगिता से प्रभावित थे क्योंकि ईसाइयत से शासक और शासित के बीच सम्बन्ध जोड़ने की अपेक्षा की जाती थी, जिसका कि तब तक अभाव था। परिणामतः न केवल मिशनरी संस्थाओं में, अपितु कुछ सरकारी स्कूलों में भी बाइबिल की पढ़ाई आरम्भ की गई। हेनरी कार टकर, जो स्वयं एक धर्म-शिक्षक था, इस कार्य का हिमायती था तथा उसने कानपुर निःशुल्क पाठशाला तथा "बनारस में जयनारायण के स्कूल के उदाहरण प्रस्तुत किए जो मुख्यतः सरकारी धन पर आश्रित हैं और फिर भी पूरी तरह से ईसाई धर्म के अनुसार पादरियों द्वारा चलाए जाते हैं।"[१३] सर सैयद अहमद ने बाइबिल के अध्यापन पर उतनी आपत्ति नहीं की जितनी उसके पढ़ाए जाने के ढंग पर। उन्होंने शिकायत की कि कुछ मिशन स्कूलों में इस प्रकार के प्रश्न पूछे जाते हैं जैसे "तुम्हारा ईश्वर कौन है? कौन है तुम्हारा उद्धारक?" और अपेक्षित उत्तर से ईसाई सिद्धान्तों के प्रति छात्र की आस्था की पूर्वकल्पना की जाती थी। उन्होंने आगे बताया कि अनेक शपथबद्ध अफसरों और सैनिक अधिकारियों की अपने मातहतों से धर्म चर्चा करने की आदत थी।

तथापि, मिशनरियों की कार्यवाहियां शिक्षण संस्थाओं तक ही सीमित नहीं थीं। जब आर० टी० टकर जिला न्यायाधीश थे, तब फतेहपुर में बंगाली पादरी रेवरेंड गोपीनाथ कार्य करते थे। वे कहते हैं, "जेल में कैदियों को नित्य ईसाई धर्म की शिक्षा दी जाती थी और सामान्य ज्ञान एक ईसाई शिक्षक द्वारा दिया जाता था तथा प्रति रविवार को प्रातः मैं उन्हें ईसा का संदेश सुनाता था। यह विशेष सुविधा हमारे पुण्यात्मा न्यायाधीश द्वारा दी गई थी। जज, मजिस्ट्रेट तथा अन्य सज्जनों ने मिशन में गहरी दिलचस्पी ली तथा अपनी प्रार्थनाओं, सद्मंत्रणाओं और धन से हमारी सहायता की। जब भारतीय ईसाइयों की संख्या बढ़ने लगी तब माननीय श्री कोल्विन के सुझाव पर, उनमें से छः छोटे छोटे किसान हो गए।"[१४] इस प्रकार फतेहपुर के मजिस्ट्रेट और जज ने बंदियों के धर्म-परिवर्तन की अनुमति

भी सूचित कर दिया था। "ए लेटर फ्राम ए लेमैन इन इण्डिया आन दि पालिसी आफ़ दि ईस्ट इण्डिया कम्पनी इन मैटर्स आफ़ रिलीजन", पृ० ४-७। जब बरेली में ग़दर हुआ तो राबर्टसन की हत्या कर दी गई

१३. टकर, ए लेटर टु एन आफिशियल कन्सर्न्ड इन दि एज्युकेशन आफ़ इण्डिया, पृ० ४। बनारस स्कूल की स्थापना एक बंगाली हिन्दू जयनारायण घोषाल द्वारा की गई थी। मेजर मर्सर का कहना है कि इवेंजेलिस्ट पार्टी, शिक्षण संस्थाओं के जरिए "समूचे भारत को एक साथ अविलम्ब ईसाई बनाना चाहती थी।" "देशी लोगों के पास अब यह मानने के लिए पर्याप्त कारण हैं, जब कि सरकारी स्कूल धर्माधिकारियों द्वारा दबाए जाते हैं या वहां अंग्रेज़ी नहीं पढ़ाई जाती। यह सब मिशनरी स्कूल भरने के लिए किया जाता है, ताकि पादरी को नई ताजी मछलियां फंसाने का अवसर मिले।" ए लेटर टु दि अर्ल आफ़ एलेनबरो, पृ० ५

१४. शेरिंग, दि इंडियन चर्च ड्यूरिंग दि ग्रेट रिबेलियन, पृ० १८४-८५

दे दी और उत्तर-पश्चिमी प्रांत के लेफ्टिनेंट गवर्नर ने नए भारतीय ईसाइयों के कल्याण में स्वयं दिलचस्पी ली। स्वभावतः साधारण जनता के मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि सरकार का उद्देश्य अपनी प्रजा को ईसाई बनाना है।

इस संदेह की और भी पुष्टि एक नए नियम से हुई, जिसके अनुसार जेलों में एक सार्वजनिक पाकशाला आरम्भ की गई (१८४५)। भारतीय जेलों में कुछ कैदियों से अन्यों के लिए भोजन पकाने का कार्य कराना आज भारत में सभी जगह प्रचलित है। पुराने जमाने में कैदी भी जाति-नियमों का कठोर रूप से पालन करते थे। उनमें से प्रत्येक को अपना भोजन पकाने की इजाजत थी। इस प्रथा की स्पष्ट हानियां थीं और इस नए नियम के अनुसार यह कहा गया कि किसी विशेष जेलखाने के समस्त हिन्दू कैदियों का भोजन अब से एक ब्राह्मण रसोइया पकाए। इससे स्वभावतः उच्च वर्ण के हिन्दुओं की भावनाओं को ठेस पहुंची क्योंकि ब्राह्मणों में भी अनेक उपवर्ग थे और बिना जाति खोए वे एक दूसरे के हाथ का भोजन नहीं कर सकते थ।[१५] नई प्रथा की गलत व्याख्या धर्मपरिवर्तन के एक चालाकीपूर्ण साधन के रूप में की गई और इसका भय केवल असैनिक जनता तक ही सीमित नहीं रहा। दूर-दूर तक यह अफवाह फैली कि सेना में भी सार्वजनिक रसोई की प्रथा आरम्भ की जाएगी। १८४५-४६ का पटना-षड्यंत्र इसका परिणाम था। फिर भी, नया नियम कुछ जेलखानों में आरम्भ कर दिया गया। इससे जनमत को अवश्य ही चोट पहुंची होगी क्योंकि खान बहादुर खान ने अंग्रेजों पर दोषारोपण किया कि वे "बंदियों को अपनी सत्ता के बल से अपनी रोटी खाने को विवश करते हैं" और इस प्रकार उनका धर्म परिवर्तन करते हैं।

गोपीनाथ नंदी हमें आगे बताते हैं कि जब समस्त पटवारियों या ग्राम लेखापालों को नागरी लिपि में हिन्दी सिखाने की आवश्यकता पड़ी तो उन्हें मुसलमान डिप्टी कलक्टर हिकमतुल्ला खां की आपत्ति के बावजूद मिशनरी स्कूलों में भेजा गया। उनकी शिक्षा भाषा या लिपि के ज्ञान तक सीमित न थी। जैसा कि गोपीनाथ आगे बताते है, "मुझे यह कहने में प्रसन्नता है कि तीन सौ से अधिक वयस्क व्यक्तियों ने न केवल बाइबिल पढ़ी और प्रार्थना में उपस्थित हुए बल्कि उनमें से प्रत्येक को घर ले जाने के लिए 'न्यू टैस्टमेंट' की एक प्रति दी गई।"[१६] जबकि 'मिशनरी कर्नल और पादरी लैफ्टिनेंट' अपनी कमान के अन्तर्गत सिपाहियों को ईसाइयत की शिक्षा दे रहे थे, जबकि मजिस्ट्रेट और जज भारतीय पादरियों को (जो अपने देशवासियों की दृष्टि में धर्मद्रोही थे) प्रतिदिन जेल में जाने तथा कैदियों को प्रभु-

---

१५. हिदायत अली कहते हैं—"जब कोई हिन्दू जेल से मुक्त होता है, तो उसके परिवार वाले उससे सब संबंध तोड़ लेते हैं तथा उसे जाति-बहिष्कृत के रूप में देखा जाता है।" हिदायत अली हमें आगे सूचित करते हैं कि जेल के कानून मुसलमानों को भी पसन्द नहीं थे। "जब किसी को कारावास-दण्ड मिलता है, तो जेल में पहुंचते ही उसकी दाढ़ी मूंछ अविलम्ब मूंड़ दी जाती है, यह हमारा घोर अपमान है।" गब्बिन्स, उद्धृत ग्रन्थ, परिशिष्ट १२, पृ० ५५६। एक उत्तर भारतीय कहता है, "बनारस के दंगों के बावजूद, जेल में सार्वजनिक पाकशाला की प्रथा लागू की गई।"

१६. शेरिंग, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १८६

गाथा सुनाने की अनुमति दे रहे थे, जबकि वयस्क पटवारी, ईसाइयों की पवित्र पुस्तक के साथ घर लौट रहे थे, तब जनसाधारण द्वारा सरकार पर अनुचित उद्देश्यों का आरोप लगाना क्या स्वाभाविक नहीं था ? अधिक जानकार भारतीय भी शासक और शासन के बीच कोई भेद नहीं कर सकते थे। सर सैयद अहमद के अनुसार, स्कूलों के डिप्टी इन्स्पेक्टर देशी पादरियों के रूप में विख्यात थे।

इसी पृष्ठभूमि को ध्यान में रखकर हमें १८५० के अधिनियम २१ पर विचार करना चाहिए, जिससे धर्म परिवर्तन करने वालों को अपनी पैतृक सम्पत्ति प्राप्त करने का अधिकार मिला। सिद्धान्ततः इस कानून के विरोद्ध में कोई आपत्ति नहीं थी, क्योंकि किसी भी व्यक्ति को, जब तक वह देश के कानून के विपरीत कोई कार्य नहीं करता, अपने धर्म में आस्था रखने के लिए दंड नहीं दिया जाना चाहिए। तथापि हिन्दू और मुसलमान, दोनों ने इसे ईसाई बन जाने वाले व्यक्ति के प्रति एक रिआयत माना। हिन्दू मत में धर्म-परिवर्तन नहीं होता और उसे नए अधिनियम से कोई लाभ नहीं हुआ। मुसलमान धर्म ग्रहण करने वालों को भी इसका लाभ नहीं मिला क्योंकि उसका धर्म काफिर की सम्पत्ति प्राप्त करने का निषेध करता है। अतएव यह कानून दोनों जातियों के प्रति एक आघात के रूप में माना गया। हिन्दू के लिए यह अधिनियम विशेष हानिकारक था क्योंकि इसके ज़रिए धर्म परिवर्तन करने वालों को बिना किसी अन्तर्निहित बंधन के एक अधिकार दिया गया था। इसके ज़रिए उसे स्वर्गीय पुरखों के प्रति पिंडदान का अपना दायित्व पूरा किए बिना, पैतृक-भूमि प्राप्त करने का अधिकार मिल गया था। अतएव हिन्दू ने महसूस किया कि यह कानून उसे दोहरी हानि पहुंचाता है—एक तो इस जीवन में वह पुत्र वंचित होता है; दूसरे मृत्यु के उपरान्त उसका श्राद्ध-कर्म नहीं हो सकता। मुसलमानों की दृष्टि में, इससे धर्म-परिवर्तन को बल मिलता था क्योंकि उनकी जाति मिशन वालों के खतरे से बची न थी। गोपीनाथ ने जिन २४ व्यक्तियों का धर्म परिवर्तन किया उनमें से दस जन्मतः मुसलमान थे।

इस वातावरण में धमार्थ संस्थाएं और जनोपयोगी कार्य भी संदेह की दृष्टि से देखे जाने लगे। सड़कों और मार्गों के निर्माण में एकाध मंदिर का ढह जाना स्वाभाविक था, किन्तु यातायात सुधार का सदुद्देश्य भुला दिया गया और अनजान देहातियों ने सार्वजनिक सड़कों को अपने पवित्र मंदिर ढहाने का षड्यंत्र समझा। इसी तरह अस्पतालों का भी जनमत पर विपरीत प्रभाव पड़ा। जैसा कि हमें हिदायत अली से ज्ञात होता है, इन अस्पालों में पर्दा-प्रथा का उल्लंघन होता था और रोगियों के आवास के सम्बन्ध में कोई जाति-भेद नहीं किया जाता था।[१७]

---

१७. "१८४६ या १८५० में सहारनपुर के अधिकारियों ने समस्त जातियों और धर्मों के रोगियों के लिए एक बड़े अस्पताल का निर्माण कराया। मुख्य अधिकारियों (मैं जानबूझ कर नामोल्लेख नहीं कर रहा हूं, हालांकि मैं ऐसा कर सकता हूँ) ने एक घोषणा जारी की कि समस्त रोगियों को, चाहे वे महिलाएं हों या पुरुष, उच्च वर्ण हों या निम्न वर्ण अथवा 'पर्दानशीन' (जो खुले आम बाहर नहीं निकलतीं) या अन्य, इस अस्पताल में इलाज के लिए आना चाहिए, और देशी डाक्टरों द्वारा रोगी व्यक्तियों के उपचार का निषेध कर दिया गया······जनता ने अपने अज्ञान में यह सोचा कि अंग्रेज़ों का उद्देश्य सबकी

अकाल के समय असहाय शिशुओं को अनाथालय में ले जाया जाता था और वहां ईसाइयों के रूप में उनका पालन होता था।

१८५२ में बर्मा के विरुद्ध, दूसरी बार युद्ध की घोषणा की गई और सिपाहियों की समुद्र पार जाकर सैनिक सेवा करने की पुनः आवश्यकता पड़ी। तथापि, लार्ड डलहौजी ने बंगाल के सिपाहियों को उनकी इच्छा के विरुद्ध समुद्र पार करने को बाध्य नहीं किया बल्कि उन्हें अपनी सेवाएं स्वेच्छया अर्पित करने को आमंत्रित किया। पैजट द्वारा सबक सिखाए जाने के बावजूद, ३८वीं देशी पैदल सेना ने जाने से इन्कार कर दिया। लार्ड डलहौजी ने कोई कड़ा उपाय नहीं अपनाया क्योंकि वह रेजीमेंट पर कानून तोड़ने का आरोप नहीं लगा सकते थे और कोई जोरदार आदमी ही न्याय के लिए, अपने आप को कमजोर समझे जाने का खतरा उठा सकता था। किन्तु अफगान युद्ध की याद अभी भी ताजी थी और सिपाहियों ने यह शक किया कि सरकार ने उन्हें धर्मभ्रष्ट करने का विचार अभी भी नहीं त्यागा है।

१८५५ की एक चेतावनी से सरकार को सतर्क हो जाना चाहिए था। हैदराबाद के निकट बोलारम में कुछ मुसलमान घुड़सवारों द्वारा कर्नल कालिन मैकेंजी की हत्या का प्रयास किया गया क्योंकि वे समझते थे कि उसी ने मुहर्रम के जुलूस का निषेध किया है। एक गलतफहमी के कारण ब्रिगेडियर मैकेंजी ने २० सितम्बर को एक छावनी-आदेश जारी किया था कि "शनिवार, २२ सितम्बर की रात्रि से रविवार, २३ सितम्बर की आधी रात तक किसी भी जुलूस, या बाजे-गाजे आदि की किसी भी कारण अनुमति नहीं दी जाएगी। बाद में जब यह मालूम हुआ कि रविवार, २३ तारीख को एक पर्व-दिवस है और उस दिन जुलूस का निकलना अनिवार्य है तो २१ तारीख को इस घोषणा में संशोधन करते हुए एक पूरक आदेश जारी किया गया।" गवर्नर-जनरल-इन-कौंसिल ने कहा कि आदेश "असाधारण रूप से कठोर थे"। "प्रथम आदेश न केवल असाधारण था अपितु इस रूप में आपत्तिजनक भी था कि उससे मुहर्रम और ईसाई धार्मिक दिन (रविवार) में टक्कर हुई और इस प्रकार इस निषेध में एक धार्मिक तत्व का समावेश हुआ।"[१८] आदेश दूसरे ही दिन हटा लिया गया किन्तु उसका दुष्प्रभाव पहले ही पड़ चुका था। नए आदेश का पर्याप्त प्रचार नहीं हुआ था और मुख्य सड़कों पर जुलूसों को रोका गया था। क्रुद्ध अश्वारोही सैनिकों ने रविवार को न केवल जुलूस निकाला, जिसकी अनुमति संशोधित आदेश ने दी थी, बल्कि वे ब्रिगेडियर के बंगले के पास से गुजरे जो एक निषिद्ध मार्ग था। उस समय वह कुछ अफसरों और महिलाओं के साथ अपने लॉन में बैठा हुआ था और चूंकि इस प्रकार के जुलूसों में कोलाहलपूर्ण संगीत और जोर-शोर के मरसिए होते हैं, इस कारण कोलाहल से क्षुब्ध हो कर्नल मैकेंजी

प्रतिष्ठा और सम्मान हरने का है।" हिदायत अली, गब्बिन्स, उद्धृत ग्रन्थ, परिशिष्ट १२, पृ० ५५५-५५६

१८. फ़ोर्ट विलियम से २३ जनवरी, १८५६ को प्रसारित सामान्य आदेश, "नरेटिव आफ़ दि म्यूटिनी एट बोलारम" में उद्धृत, पृ० ४७-४८। दि थाट्स आफ़ ए नेटिव आफ़ नार्दर्न इंडिया ऑन दि रिबेलियन, पृ० १७

ने स्वयं जुलूस का सामना किया और उन्हें वहां से चले जाने का आदेश दिया। कुछ जुलूस वालों ने कड़ाई के साथ उत्तर दिया कि सड़क हमारी है, और कर्नल ने आवेश में उनके दो अलम छीन लिये। क्रुद्ध जन वहां से चले गए किन्तु थोड़ी ही देर बाद, न केवल मैकेंज़ी पर ही किन्तु संध्या समय भ्रमण करती हुई कुछ महिलाओं और पुरुषों पर भी घातक आक्रमण किया गया। घुड़सवारों ने कर्नल कारपेंटर को बाद में बताया कि "वे राज्य के सेवक हैं तथा सरकार की सेवा में अपने प्राण दे देंगे, किन्तु धर्म उन्हें प्राणों से भी अधिक प्रिय है और चूंकि उसका अपमान किया गया है, वे तब तक अपने कमरबंद नहीं खोलेंगे (हथियार नहीं डालेंगे) जब तक कि वे ब्रिगेडियर और ब्रिगेड-मेजर को किसी अदालत में नहीं ले जा पाते।"[१९] बाद में एक जांच-अदालत बैठाई गई जिसने ब्रिगेडियर के आचरण की जांच नहीं की, किन्तु लार्ड डलहौज़ी का मत था कि ब्रिगेडियर ने बुद्धिमानी का कार्य नहीं किया है। तीसरे रिसाले के कमीशनप्राप्त सब देशी अफसर, दो अफसरों को छोड़, नौकरी से बर्खास्त कर दिए गए तथा ब्रिगेडियर के रक्षक दल के दो हिन्दू अफसरों को भी विद्रोहियों के प्रतिरोध में असफल होने के कारण इसी प्रकार का दंड दिया गया।

इस घटना से यह स्पष्ट हो जाता है कि कभी-कभी बगैर सोचे-समझे सिपाहियों के धर्म को प्रभावित करने वाले आदेश जारी किए जाते थे। २० तारीख को ब्रिगेड-मेजर इस बात से अपरिचित था कि २३ तारीख को त्यौहार का सबसे महत्वपूर्ण दिन था तथा ब्रिगेडियर ने यह नहीं सोचा कि जुलूस वालों के अलम छीनना, उनके धार्मिक विश्वासों का बहुत बड़ा अपमान करना था। इसमें कोई सार नहीं कि मुहर्रम मूलतः शिया त्यौहार है, और सेना में शियाओं की बहुत थोड़ी संख्या थी क्योंकि भारत में सुन्नी और कहीं-कहीं तो हिन्दू भी बड़ी संख्या में इसमें भाग लेते हैं। ब्रिटिश अफसर अपने सिपाहियों से निकट संपर्क स्थापित करने में स्पष्ट ही असफल रहे, अन्यथा उन्हें ज्ञात हो जाता कि पिछले पचास वर्षों के निरन्तर शासकीय और वैधानिक उपायों से उत्पन्न संदेहों के कारण लोग कितने क्षुब्ध थे। उनका भय या संदेह दूर करने या जनमत को समझने-समझाने और शिक्षित करने के लिए स्पष्टतः कुछ नहीं किया गया था।

जिस वर्ष बोलारम की घटना घटी, उसी वर्ष सुलगती आग में अनजाने ताजा ईंधन डाला गया। जबकि जनता किसी भी जनोपयोगी कार्य पर, जिसमें अन्य चीजों के साथ-साथ रेल और तार भी शामिल थे, सामाजिक व्यवस्था नष्ट करने के एक अप्रत्यक्ष साधन होने का संदेह करती थी, दुर्भाग्यवश उसकी इस धारणा की पुष्टि १८५५ में श्री एडमंड द्वारा कलकत्ता से जारी की गई एक गश्ती चिट्ठी से हुई। रेलगाड़ियों में बैठने की व्यवस्था में कोई जाति-भेद नहीं किया गया था तथा उच्च वर्ण ब्राह्मण को अस्पृश्य निम्न वर्ण लोगों के निकट बैठना पड़ता था। यात्रा के दौरान या तो उसे उपवास करना पड़ता था या भोजन सम्बन्धी नियम तोड़ना पड़ता था तथा उससे सम्बन्धित कर्मकांड त्यागना पड़ता था और इस व्रतभंग के कारण उसे प्रायश्चित्त करना पड़ता था, जिसके फलस्वरूप कभी-कभी उसे आर्थिक हानि होती थी। ऐसा माना जाता था कि यह स्थिति अभिशप्त 'कलियुग' के

१९. नरेटिव आफ़ दि म्यूटिनी एट बोलारम, पृ० २५

जातिहीन समाज की भूमिका है, जिसकी अवतारणा पहले से ही की गई भविष्यवाणी के अनुसार 'म्लेच्छ' शासकों द्वारा होगी। श्री एडमंड ने अपने पत्र में घोषित किया कि चूंकि देश के विभिन्न भाग यातायात के तेज साधनों द्वारा एक-दूसरे के निकट लाए जा चुके हैं और पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से समाज का ढांचा क्रमशः सुधारा जा रहा है, इसलिए समूची जनता के लिए एक समान धर्म स्वीकार करने और मुक्ति प्राप्त करने का यह उपयुक्त समय है।[२०] ईसाई धर्मप्रचारकों के अविवेक की यह कदाचित् पराकाष्ठा थी और यह आम विश्वास था कि वह परिपत्र सरकार द्वारा जारी किया गया था, विशेष रूप से इस लिए कि राज्य के समस्त अफसरों के नाम यह प्रेषित किया गया था। लेफ्टिनेंट गवर्नर की एक आम घोषणा में कहा गया कि जनता के धार्मिक रीति-रिवाजों में हस्तक्षेप करने का सरकार का कोई इरादा नहीं। उसने स्पष्ट कर दिया कि सरकार श्री एडमंड के विचारों से सहमत नहीं है। किन्तु जनता के मन में सन्देह फिर भी बना रहा क्योंकि वह अपने अज्ञान में प्रत्येक अंग्रेज को सरकार का ही प्रतिनिधि मानती थी। किन्तु अगले ही वर्ष दो कानूनों ने रूढ़िवादियों के बीच फिर हलचल मचा दी।

एक घटनासंकुल कार्यावधि तक गवर्नर-जनरल रहने के उपरान्त लार्ड डलहौज़ी १८५६ में भारत से चला गया। उसके बाद लार्ड केनिंग आया। नए गवर्नर-जनरल के सम्बन्ध में कुछ अधिक ज्ञात न था। उसकी वे मानसिक और बौद्धिक क्षमताएं, जिन्होंने बाद में उसे भारत को अंग्रेज़ी शासन के अधीन रखने तथा भारतीय जनता की कृतज्ञता अर्जित करने में समर्थ बनाया, अभी तक प्रकट नहीं हुई थीं। उसके प्रथम दो सरकारी कार्यों ने उसे जनता में अप्रिय बनाया और इस आधारहीन एवं अनुचित अफवाह को बल दिया कि वह भारत के हिन्दुओं और मुसलमानों को ईसाई बनाने के विशेष उद्देश्य से भेजा गया है। कार्यमुक्त होने के पूर्व लार्ड डलहौज़ी ने हिन्दू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम का प्रारूप बनाया था किन्तु वह लार्ड केनिंग की स्वीकृति के बाद उसके शासनकाल के प्रथम वर्ष में लागू हुआ। यह संभव था कि उसे सती प्रथा के उन्मूलन का स्वाभाविक परिणाम मानकर उस पर ध्यान न दिया

२०. पत्र इस प्रकार आरम्भ होता है : "लगता है कि अब समय आ गया है जब कि इस विषय पर ईमानदारी के साथ विचार होना चाहिए कि समस्त जनता को एक ही धर्म मानना चाहिए या नहीं। रेलें, वाष्प-यान, बिजली के तार आदि संसार के समस्त राष्ट्रों को तेजी से एक-दूसरे के साथ मिला रहे हैं। ज्यों-ज्यों वे नजदीक आते जाते हैं, यह निष्कर्ष सुदृढ़ होता जाता है कि सबकी आवश्यकताएं, चिन्ताएं, आशाएं, भय, समान हैं और इसलिए सब की प्रकृति और मूल एक समान है। यह भी निश्चित है कि मृत्यु सभी जगह जीवन की इतिश्री है। . क्या यह कल्पना बुद्धिसंगत होगी कि प्रत्येक राष्ट्र, केवल अनुमान मात्र से अपने लिए एक अलग मार्ग ढूंढेगा? अथवा क्या एक ही ईश्वर ने, जिसने सबकी सृष्टि की है, अपने परिवार के विभिन्न अंगों के हेतु, वर्तमान और भावी सुख की उपलब्धि के लिए अलग-अलग उपायों की सृष्टि की है? अवश्य ही ऐसा नहीं हो सकता।" अहमद, दि काज़ेज आफ़ इण्डियन रिवोल्ट", अनुवादक, उनके दो यूरोपीय मित्र। परिशिष्ट १, पृ० ५५

जाता। बंगाल के महान विद्वान पंडित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने प्राचीन धर्मग्रन्थों के आधार पर इस सुधार का समर्थन किया था। अतः यह सोचना ठीक ही था कि इस अधिनियम से रूढ़िवादिता को चोट पहुंचने की सम्भावना नहीं थी क्योंकि वह केवल अनुज्ञा मात्र देता था और जिन्हें पुरानी रीतियां पसन्द थीं, उनके मार्ग में कोई रोड़ा नहीं अटकाता था। इससे केवल उन थोड़ी-सी विधवाओं को सहायता मिलनी थी जो फिर विवाह करके एक नया जीवन आरम्भ करना चाहती हों, किन्तु जो प्रचलित प्रथा के कारण ऐसा करने में असमर्थ थीं। स्मरण रहे कि भारत के अनेक भागों में ब्राह्मणेतर विधवाएं पुनर्विवाह कर सकती थीं और करती भी थीं तथा उन्हें जीवन भर वैधव्य का भोग नहीं भोगना पड़ता था। किन्तु सुधारकों का प्रभाव जनता पर अधिक नहीं था। लोग प्रचलित सामाजिक आचारों का तनिक-सा उल्लंघन भी स्पष्टतः नापसन्द करते थे। वस्तुतः थोड़ी-सी ही विधवाओं ने इस अनुज्ञात्मक कानून का लाभ उठाया था। किन्तु लोग भविष्य के अस्पष्ट भय से विचलित हो गए। ईसाई सरकार के इरादों पर पहले से ही सन्देह किया जाता था और रूढ़िवादी जनता ने आसानी से यह परिणाम निकाला कि इस अधिनियम का उद्देश्य उनके सामाजिक एवं धार्मिक आचारों में अनुचित हस्तक्षेप करना है। नए कानून ने जो उग्र भावनाएं जागृत कीं उन्हें विभिन्न व्यंग्यों में अभिव्यक्ति मिली और इस कानून का समर्थन करने वालों ने संस्कृत से जो उद्धरण दिए, उनका मखौल उड़ाया गया। किन्तु व्यंग्य और मखौल से लोगों की उत्तेजना समाप्त नहीं हुई। यह बात हंसी में नहीं टाली जा सकती थी। देहातों और सैनिक क्षेत्रों में 'धर्म खतरे में है', एक सामान्य नारा बन गया था।

उसी वर्ष जुलाई में एक आदेश निकाला गया जिससे उन योद्धा जातियों को गहरा आघात पहुंचा जिन्होंने इतने दिनों तक बंगाल सेना को रंगरूट दिए थे। दो अवसरों पर उच्च वर्ण के बंगाली सिपाही समुद्र पार जाने से इन्कार कर चुके थे। मद्रास सेना ने इस प्रकार की कोई बाधा नहीं पहुंचाई थी क्योंकि वहां भरती की शर्तों के अन्तर्गत समुद्र पार सेवा भी थी हालांकि इस सेना में ब्राह्मण सिपाहियों की कमी नहीं थी। बगाल सेना की ६ रेजीमेंटों की भरती इसी प्रकार की शर्तों पर हुई थी। उन्हें बर्मा में जाकर सैनिक सेवा करने में कोई आपत्ति नहीं थी और यह समझ में आने वाली बात न थी कि वे ही नियम समस्त भावी रंगरूटों के लिए लागू क्यों न किए जाएं। प्रचलित अधिकारों में हस्तक्षेप करना उद्देश्य नहीं था। लार्ड डलहौजी की सरकार ने बड़ी सावधानी के साथ नौकरी की शर्तों का सम्मान किया था तथा ३८वीं देशी पैदल सेना के ब्राह्मणों और राजपूतों को बर्मा के लिए जहाज पर चढ़ने से इन्कार करने पर उन्हें गोली से भूनने के लिए कोई पेंजट नहीं आया। बर्मा में तैनात रेजीमेंटों को कुमुक पहुंचाने में सरकार ने बहुत कठिनाई अनुभव की और केनिंग ने यह अनुभव किया कि इस कठिनाई का एकमात्र हल यह होगा कि नए रंगरूटों को इस सम्बन्ध में कोई विकल्प न दिया जाए। उसने यह नहीं सोचा कि संशोधित नियम से सिपाही की धार्मिक भावनाओं को चोट पहुंचेगी क्योंकि यह नए रंगरूट पर छोड़ दिया गया था कि वह उन शर्तों पर भरती हो या नहीं। किन्तु एक बार भरती हो जाने के बाद उसे समुद्र पार जाने या अफगानिस्तान को कूच करने में कोई आपत्ति नहीं करने दी जाएगी। किन्तु सिपाही ने सामान्य आदेश को वास्तविक खतरे के रूप में देखा। यद्यपि

इसका उस पर कोई प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ता था, किन्तु उसने सोचा कि उसकी सन्तान के लिए अप्रत्यक्ष रूप से सैनिक सेवा का मार्ग रुद्ध हो जाएगा और उसके पास अपना पैतृक व्यवसाय छोड़ देने या अपने पूर्वजों के धर्म से च्युत होने के सिवा कोई और मार्ग नहीं रह जाएगा। उसे लगा कि सरकार धर्म-परिवर्तन करने वालों को छोड़, किसी को भी सम्मानपूर्ण नौकरी न देने के लिए कटिबद्ध है तथा भविष्य में उसकी रोटी का मूल्य होगा धर्म-परिवर्तन। यदि वह बच भी गया तो उसके पुत्रों और पौत्रों को पाप की रोटी खानी पड़ेगी तथा उसका इहलोक और परलोक दोनों ही नष्ट हो जाएंगे। सेना में भरती के लिए उच्च वर्ण के युवकों के आवेदन-पत्र पहले से कम हो गए; सैनिक-सेवा के प्रति उनको कोई चाव नहीं रहा। अनुपयुक्त समय पर लागू और गलत ढंग से मूल्यांकित विधान ने इन पचास वर्षों में जनता को उद्भ्रान्त बना दिया था और उसे यह विश्वास दिला दिया था कि नास्तिक फिरंगी किसी भी प्रकार का दुर्व्यवहार करने की क्षमता रखता है।

२५ वर्ष पूर्व अवकाश-प्राप्त तथा बंगाल सेना से निकट परिचय का दावा करने वाले एक अफसर ने कहा कि सभी विद्रोह सरकार द्वारा किसी अन्याय या वायदे को तोड़ने के कारण हुए। "भारत में प्रायः सभी विद्रोह, चाहे वे बंगाल में हुए हों या कहीं अन्यत्र, हमारे द्वारा ही किसी न किसी प्रकार आरम्भ किए गए या न्यूनाधिक मात्रा में हमने ही उनकी पृष्ठभूमि तैयार की। साधारणतया शर्तें भंग की गईं, देशी सैनिकों की भावनाओं, उनके स्वास्थ्य या सुविधा का तिरस्कार किया गया, जब कि उसी समय यूरोपीय रेजीमेंट की अत्यधिक चिन्ता की गई। उनके धर्म या धार्मिक पूर्वाग्रहों को अपमानित करने की मूर्खता की गई, उनके वेतन या अधिकारों अथवा जिन्हें उन्होंने अपना अधिकार माना, उनमें हस्तक्षेप किया गया।"[२१] उपर्युक्त उदाहरण के रूप में उसने जावा के विद्रोह का उल्लेख किया। लोग इस शर्त पर समुद्र पार जाने को तैयार हुए कि एक निर्दिष्ट अवधि के बाद उन्हें वापस बुला लिया जाएगा। अधिकारी अपने वायदों से फिर गए और गड़बड़ियां उत्पन्न हुईं। वह अन्य उदाहरण भी दे सकता था (वेल्लोर विद्रोह), जहां धार्मिक पूर्वाग्रहों का तिरस्कार किया गया, और सिपाही की सुविधाओं की उपेक्षा की गई (बैरकपुर विद्रोह) और मातहत अधिकारियों द्वारा दिए गए वायदों की उपेक्षा की गई या उन्हें रद्द किया गया। जब अधिकृत आश्वासनों की उपेक्षा की गई तो सिपाही ने सोचा कि मेरे न्यायपूर्ण अधिकारों का अपहरण किया गया है, और चूंकि वह उच्चतम सरकार और उसके मातहत अफसरों में कोई भेद करने में असमर्थ था, इसलिए उसने दोनों के सद्भाव में विश्वास खो दिया। उसके मनोबल पर इसका सबसे हानिकारक प्रभाव पड़ा।

१८४३ और १८४४ के उपद्रव, जिनमें बंगाल और मद्रास दोनों की ही सेनाएं शामिल थीं, वास्तविक या सन्निहित वायदे भंग करने के कारण हुए थे, तथा उनसे सरकार की प्रतिष्ठा की बहुत अधिक हानि हुई थी। सिपाही को विदेशी नौकरी पसन्द नहीं थी तथा उसका दृष्टिकोण अत्यन्त परम्परावादी था। वह एक अपरिचित क्षेत्र की सम्भावित कठिनाइयों के लिए आर्थिक मुआवजे की आशा रखता था। उसके लिए भारत एक देश नहीं

---

२१. दि म्यूटिनी इन दि बंगाल आर्मी, पृ० ४

था और सिंध या पंजाब में युद्ध या नगर-रक्षण-कार्य को वह विदेश में नौकरी करने के बराबर मानता था। प्रथम अफगान युद्ध के दौरान जनरल पोलक ने सिन्धु नदी पार करने पर अपने सैनिकों को विशेष भत्ता दिया था। इसे दृष्टान्त के रूप में लिया गया तथा सिन्धु के पार सेवाओं की कठिनाइयों के लिए सिपाही इसी प्रकार की सुविधाओं की आशा करने लगा। किन्तु सिंध १८४३ में ब्रिटिश सत्ता के अधिकार में आ चुका था तथा ब्रिटेन के भारतीय साम्राज्य का एक अंग बन गया था। अतएव सिपाही किसी भी भारतीय प्रान्त में सेवा करने पर किसी विशेष मुआवजे का दावा कानूनी रूप से नहीं कर सकता था चाहे वह प्रान्त उसके सामान्य सेवा-केन्द्र से कितनी ही दूर हो। यह एक ऐसा कानूनी पेंच था, जिसे समझने में वह असमर्थ था। सिन्धु नदी भी वहीं मौजूद थी, सिन्ध का जीवन भी १८४२ की तरह ही कठोर था और यदि उसका दावा १८४२ में न्यायोचित था तो १८४४ में वह कैसे अनुचित हो सकता था? इस कारण जब तक सिन्धु-भत्ता नहीं दिया जाए, तब तक ३४वीं बंगाल रेजीमेंट ने सिन्ध की ओर प्रयाण करने से इन्कार कर दिया। सातवीं बंगाल घुड़सवार सेना ने भी ऐसा ही किया। किन्तु इस हठ के लिए उन्हें अविलम्ब दण्डित नहीं किया जा सका। यह अफवाह फैली कि भारतीय सिपाहियों से यूरोपीय सेनाओं की सहानुभूति थी, क्योंकि वे केवल अपने अधिकारों की मांग कर रहे थे। इसीलिए उन्हें नहीं छेड़ा गया। तब ६९वीं तथा चौथी रेजीमेंटों ने ३४वीं रेजीमेंट का अनुकरण किया कि जब तक विशेष भत्ते का आश्वासन नहीं दिया जाएगा, वे सिन्धु पार जाना स्वीकार नहीं करेंगे। ६४वीं रेजीमेंट ने भी वही मांग की तथा प्रधान सेनापति ने उसको स्वीकार करना जरूरी समझा। "सिन्ध में तैनात रेजीमेंटों को प्राप्त होने वाले पूर्ण या प्रयाण-कालीन भत्ते के अतिरिक्त, सेवा काल में होने वाली बीमारी के कारण मृत सैनिकों के उत्तराधिकारियों को नियमित पारिवारिक पेन्शन के लाभ के साथ, वेतन के सम्बन्ध में और भी अधिक लाभ" उनके सदाचरण की मान्यतास्वरूप स्वीकृत होने वाले थे। किन्तु उनके कमांडिंग अफसर मोसले ने उन्हें बताया कि वे पोलक के भत्ते की आशा कर सकते हैं। किन्तु रेजीमेंट कानूनी दृष्टि से प्रधान सेनापति की कृपा खो चुकी थी, क्योंकि औपचारिक रूप से रिआयतों की घोषणा होने से पहले ही वे मार्ग में विद्रोह कर चुके थे। तथापि मोसले ने इस विद्रोह का समाचार मुख्यालय को नहीं भेजा और पूर्व आश्वासन की पुष्टि करके रेजीमेंट को सिन्ध में जाने के लिए राजी कर लिया। जब वे शिकारपुर पहुंचे, तो यह जान कर कि उन्हें निश्चित भत्ता नहीं दिया जाएगा, प्रत्येक सिपाही ने अपना वेतन लेने से इन्कार कर दिया। उन्होंने शिकायत की कि उन्हें जानबूझ कर धोखा दिया गया है, और यह सारा घटना-क्रम निस्सन्देह अप्रिय था। किन्तु जार्ज हंटर ने इस स्थिति को बड़ी बहादुरी से संभाला। उसने असन्तुष्ट लोगों को इस बात पर राजी कर लिया कि वे अपना न्यायसंगत वेतन तथा सामान्य भत्ता स्वीकार करें। फिर वह उन्हें सक्खर की ओर ले गया, जहां यूरोपीय सेनाओं की उपस्थिति ने उनका क्रोध शान्त कर दिया तथा बिना किसी प्रकार की प्रतिष्ठा खोए, केवल गम्भीर अपराधियों को छोड़ कर शेष सबको क्षमा कर दिया गया। किन्तु हानि इतनी हो चुकी थी कि उसको सुधारा नहीं जा सकता था। सिपाही ने देखा कि वह अब अपने अफसरों पर भरोसा नहीं कर सकता। इसमें कोई

आश्चर्य नहीं कि जब १८५७ में संकट आया, तो कमांडिंग अफसरों के आश्वासन का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

मद्रास की सेना की हालत सम्भवतः इससे भी खराब थी। जब कि बंगाल के सिपाही का परिवार उसके अपने गांव में छूट गया था, मद्रास के सिपाही की पत्नी और बच्चे उसके साथ प्रयाण करते और रहते थे। अतएव दूर-दूर के केन्द्रों में उसका स्थानान्तरण कई दृष्टियों से उसके लिए कठिनाई उपस्थित करता था। १८४३ मे छठी मद्रास घुड़सवार सेना को काम्पटी से जबलपुर प्रयाण करने का आदेश दिया गया, जो मद्रास की सीमा से बाहर था। उन्हें यह आश्वासन दिया गया कि वहां उन्हें थोड़े ही दिन रुकना पड़ेगा और शीघ्र ही उन्हें अपनी प्रेसिडेंसी में लौटने की अनुमति दे दी जाएगी। सैनिकों को यह जानकर आश्चर्य हुआ कि उन्हें न केवल जबलपुर में ही स्थायी रूप से रहना पड़ेगा, जहां से उनका स्थानान्तरण ६०० मील दूर अरकोट में होगा, बल्कि इससे भी बढ़कर उन्हें घटे हुए भत्ते पर नौकरी करनी पड़ेगी। स्वभावतः उनका असन्तोष साफ-साफ शिकायतों के रूप में प्रकट हुआ और उनके अप्रिय कमांडर मेजर लिचफ़ील्ड पर अनुचित इरादों का आरोप लगाया गया। अन्ततः वे कार्य पर लौट आए और अपने कमांडर के प्रति उनके रोष के एक उग्र प्रदर्शन के अतिरिक्त कोई और गम्भीर घटना नहीं घटी। जबलपुर के उपद्रव ने अधिकारियों के वचन-भंग का एक अन्य उदाहरण प्रस्तुत किया।

दुर्भाग्यवश केवल घुड़सवार सेना ही असंतुष्ट नहीं थी। पैदल सेना में भी जायज़ असन्तोष के बीज वर्तमान थे। सिन्ध की किलेबन्दी होना जरूरी था और जब बंगाल सेना की अनेक रेजीमेंटों ने वहां विशेष भत्ते के बिना जाने से इन्कार किया, तो मद्रास सरकार ने उस प्रान्त में पैदल सेना की दो रेजीमेंटें भेजना स्वीकार किया। मद्रास के गवर्नर ने, जो उस प्रेसिडेंसी का प्रधान सेनापति भी था, चुनी हुई रेजीमेंटों को आश्वासन दिया कि उन्हें वही सुविधाएं दी जाएंगी, जो उन्हें बर्मा जाने पर मिलतीं। इसी आश्वासन के कारण मद्रासी सिपाहियों ने अपने परिवारों के लिए, जो पीछे छूट जाने वाले थे, आवश्यक प्रबन्ध किया, तथा स्वयं अपने खर्च के लिए थोड़ी-सी पूंजी लेकर बम्बई पहुंचे। घर से दूर उन्हें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि भारत सरकार मद्रास के राज्यपाल द्वारा दिए गए वायदों को पूरा करने के लिए तैयार नहीं है, क्योंकि वे बंगाल कानून के विपरीत थे। के ने लिखा है, "यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि उन्होंने इसे क्रूर विश्वासघात माना और इसके प्रति क्षोभ प्रकट किया।"[22] उन्होंने बड़े अव्यवस्थित ढंग से भोजन की मांग की और तब तक शान्ति नहीं हुई जब तक कुछ धन अग्रिम रूप में नहीं दिया गया, जिसे उन्होंने अनिच्छापूर्वक ही ग्रहण किया। बात यहां समाप्त हो गई, किन्तु इससे गवर्नर-जनरल की प्रतिष्ठा नहीं बढ़ी, क्योंकि उसने एक राज्यपाल के वायदे का आदर करने से इन्कार किया और इस प्रकार समूची सरकार की प्रतिष्ठा को धक्का पहुंचाया। सिपाही में इतनी समझ न थी कि वह दोषी की ठीक-ठीक पहचान कर सकता। उसने केवल यह देखा कि जिस सरकार की वह सेवा करता है, उसके वायदे विश्वसनीय नहीं हैं। लार्ड एलनबरो ने

---

२२. के, ए हिस्ट्री आफ़ दि सिपाय वार, जिल्द १, पृ० २६५

भी अपनी करतूतों से १८५७ के विद्रोह में योगदान दिया।

यही बात एक बार फिर १८४६ में हुई, जब लार्ड डलहौज़ी का शासन था। रावलपिंडी में कुछ रेजीमेंटों ने अतिरिक्त भत्ते की मांग की, जिसके बिना उन्होंने अपना वेतन लेना अस्वीकार किया। प्रधान सेनापति सर चार्ल्स नेपियर धमकी के आगे झुकने को तैयार नहीं था और यदि ग़दर हुआ तो उसे दबाने के लिए उसने पर्याप्त प्रबन्ध कर रखा था। केवल सुरक्षा-उपायों से सन्तुष्ट न होकर वह एक निरीक्षण-दौरे पर निकला और उसने व्यापक असन्तोष के पर्याप्त प्रमाण पाए। दिसम्बर में ६६वीं रेजीमेंट ने गोविन्दगढ़ में ग़दर कर दिया, किन्तु देशी घुड़सवार सेना ने इस उपद्रव को दबा दिया। नेपियर ने अनुभव किया कि सिपाहियों की शिकायत उचित थी और उन्हें यह आदेश देना अनुचित था कि वे नव-अधिकृत प्रान्त में सैनिक कार्य पर रहें और वहां की असुविधाओं के लिए उन्हें कोई मुआवजा भी न मिले। उसने गवर्नर-जनरल की स्वीकृति के अभाव में एक पुराने कानून के अनुसार एक उच्चतर दर पर महंगाई भत्ता देने का आदेश दिया। डलहौज़ी ने नेपियर के कार्य की पुष्टि नहीं की और अपने सीमित अधिकारों का अतिक्रमण करने के लिए उसकी निन्दा की। नेपियर को इस अपमान से दुःख हुआ और उसने त्यागपत्र दे दिया। नेपियर के कार्य के औचित्य की जांच करना यहां अनावश्यक है। प्रधान सेनापति ने ईमानदारी के साथ यह अनुभव किया कि बड़े पैमाने पर गदर होने वाला है और इसलिए गवर्नर-जनरल की स्वीकृति की आशा करते हुए एक संकटकालीन परिस्थिति में उसने अपने कानूनी अधिकारों को लांघ कर कार्य किया। सिपाहियों पर इस घटना की प्रतिक्रिया की कल्पना करना कठिन नहीं है। वह उस आर्थिक सहायता की मांग कर रहा था, जो उसे पंजाब पर ब्रिटिश अधिकार के पूर्व मिलती थी। उसके कुछ साथियों ने अपनी मांगें लड़कर प्राप्त करने की कोशिश की। यह विद्रोह किसी यूरोपीय रेजीमेंट द्वारा नहीं, बल्कि वफादार प्रथम देशी घुड़सवार सेना द्वारा दबा दिया गया। प्रधान सेनापति को इस बात पर विश्वास था कि वफादार सिपाहियों के प्रति अन्याय किया गया है और उसने कुछ सहायता देनी स्वीकार की, किन्तु जैसे ही संकट समाप्त हुआ, ये रिआयतें खत्म कर दी गईं। सिपाही यह नहीं समझा कि प्रधान सेनापति ने अपने अधिकारों का अतिक्रमण किया था और गवर्नर-जनरल एक अनधिकृत कार्य की पुष्टि करने को बाध्य नहीं था। उसने अनुभव किया कि उसके उचित अधिकारों का अपहरण हुआ है, सरकार ने विवश होकर बल प्रदर्शन के सम्मुख घुटने टेक दिए थे और जब ग़दर का भय समाप्त हो गया तब उसने अपना निर्णय बदल दिया।

धार्मिक भय के अलावा भी सिपाही को अन्य अनेक शिकायतें थीं। सरकार और उसके बीच एकमात्र सम्बन्ध-सूत्र उसका वेतन और पेंशन था और उसकी वेतन तथा तरक्की की सम्भावनाएं आकर्षक नहीं थीं। पैदल सेना में वेतन सात रुपये मासिक तक था, घुड़सवार सेना में एक सवार को प्रतिमास २७ रुपये मिलते थे, किन्तु उसे अपना घोड़ा खुद रखना पड़ता था। यह उसके गोरे साथियों के वेतन की तुलना में बहुत कम था। होम्स ने लिखा है, "चाहे वह हैदर की सी सैनिक प्रतिभा के लक्षण क्यों न प्रकट करे, उसे ज्ञात था कि उसे एक छोटे अंग्रेज अफ़सर का वेतन भी कभी नहीं मिल सकता।" एक अवकाश-प्राप्त

अफसर ने लिखा कि "भारत की समूची सेना में ३,१५,५२० आदमी काम करते हैं तथा उन पर ९८,०२,२३५ पौंड खर्च होता है। इसमें से ५६,६८,११० पौंड ५१,३१६ यूरोपीय अफसरों तथा सैनिकों पर खर्च होता है।"[२३] यही नहीं, "यूरोपीय टुकड़ियां सेना के साधारण से साधारण दैनिक कार्यों में भी कोई हाथ नहीं बंटातीं......यूरोपीय सैनिक बड़े आराम से रहते तथा खाते-पीते हैं और ये सुविधाएं अन्य सैनिकों को जरा भी नहीं मिलतीं।"[२४] इस विषमता का सिपाही के मनोबल पर विपरीत ही प्रभाव पड़ा।

यह निष्कर्ष निकाला गया है कि वेतन कम होने के बावजूद सिपाहियों की आर्थिक स्थिति अच्छी थी, क्योंकि उनकी आवश्यकताएं अधिक नहीं थीं तथा उनका जीवन-स्तर ऊंचा नहीं था। किन्तु पहले कुछ महीनों का वेतन उन्हें अपने अफसरों को रिश्वत देने में खर्च करना पड़ता था। सीताराम का कहना है कि उसकी कम्पनी का यूरोपीय सार्जेंट तथा कवायद कराने वाला हवलदार मुझ से अप्रसन्न थे, क्योंकि मैंने उन्हें सामान्य शुल्क नहीं दिया था। "यह शुल्क १६ रुपये था, जिसमें से ५ या ६ रुपये उस कम्पनी का यूरोपीय सार्जेंट लेता था, जिसमें रंगरूट की नियुक्ति होती थी।"[२५] वह आगे कहता है कि "सात रुपये मासिक पर न तो पंजाबी या सिख सैनिक जीवित रह सकता था और न मुसलमान।" किन्तु यह कथन विद्रोह के बाद के काल पर लागू होता था जब वस्तुओं की कीमतें बढ़ गई थीं। विद्रोह के पहले के दिनों में भी सिपाही की हालत अच्छी नहीं थी। १८५७ में बरेली में एक घुड़सवार रेजीमेंट से सम्बन्धित एक बंगाली क्लर्क से हमें मालूम होता है कि सिपाहियों को अपनी वर्दी के लिए पैसे देने पड़ते थे तथा उन्हें रेजीमेंट-बाजार के बनिये से अपना भोजन उधार खरीदना पड़ता था। जिस दिन वेतन मिलता था, उसका हिसाब-किताब होता था तथा अपने भोजन आदि का पैसा काटकर, शेष रकम उसे दे दी जाती थी। कुछ सिपाहियों को तो महीने के अन्त में मुश्किल से एक या डेढ़ रुपया मिलता था और कुछ अन्य सिपाहियों की मासिक बचत दो-चार आने से अधिक नहीं होती थी।[२६] उसका दैनिक भोजन दाल-रोटी होता था तथा कुछ हद तक ही उधार मिल सकने के कारण वह किसी प्रकार की बढ़िया चीज नहीं खा सकता था, केवल कभी-कभी तरी का भोजन प्राप्त कर लेता था। उसका जीवन सचमुच संघर्षमय था, क्योंकि जब तक उसकी पदोन्नति न हो जाए, उसे ९ रुपये से अधिक वेतन नहीं मिल सकता था और पदोन्नति योग्यता के आधार से न होकर इस आधार पर होती थी कि कौन कितने दिनों से नौकरी कर रहा है। सवार की हालत सिपाही से अच्छी नहीं थी, क्योंकि उसे २१ रुपये से ३० रुपये तक वेतन मिलता था और इसमें से भी बहुत-सी रकम काट ली जाती थी।

वेतन-मान की प्रतिक्रिया सिपाही के मन पर भी हुई। उसने देखा कि उससे अधिक वेतन पाने वाली यूरोपीय टुकड़ियां सेना का एक बहुत छोटा-सा भाग हैं और उसने अनुभव

---

२३. दि म्यूटिनी इन दि बंगाल आर्मी, पृ० २५

२४. वही, पृ० ६

२५. फ्राम सिपाय टु सूबेदार, पृ० १४

२६. बंदोपाध्याय, विद्रोही बंगाली, पृ० ६५-६७

किया कि यदि उसने भी समुद्र पार देशों में सैनिक सेवा कर ली तो सैनिक व्यय काफी कम हो जाएगा। अतएव उसने बड़ी आसानी के साथ इस अफवाह पर विश्वास कर लिया कि अंग्रेज उसे धर्मभ्रष्ट करना चाह रहे हैं। ९ मई, १८५७ के एक पत्र में सर हेनरी लारेंस ने लार्ड केनिंग को लिखा, "पिछली रात्रि को अवध-तोपखाने के एक जमादार के साथ मैंने बातचीत की......और मुझे उसके इस दुराग्रहपूर्ण विश्वास पर आश्चर्य हुआ कि पिछले दस वर्षों से सरकार समस्त भारतीयों का जबरन या धोखा देकर धर्म परिवर्तन करने के कार्य में लगी हुई है।......जब मैंने उसे यूरोप में अपनी सत्ता की बात बताई .. उसने उत्तर दिया कि उसे मालूम है कि हमारे पास बहुत पैसा और आदमी हैं, किन्तु यूरोपीय महंगे पड़ते हैं; इसलिए हम विश्व-विजय के लिए हिन्दुओं को समुद्र पार ले जाना चाहते हैं। ....'तुम चाहते हो कि हम वह चीज खाएं जो तुम्हें पसन्द है, ताकि हम अधिक ताकतवर हों और कहीं भी चले जाएं।' उसने हमें किसी बात का श्रेय नहीं दिया। उसने अक्सर यह दुहराया कि 'मैं तुमसे वही कह रहा हूं जो सब कहते हैं'।" लारेंस ने आगे कहा कि जमादार एक सच्चरित्र व्यक्ति था।[२७]

सेना में अंग्रेजों —जो अल्पसंख्या में थे—और हिन्दुस्तानियों के—जिनकी संख्या बहुत अधिक थी—बीच भाईचारे की कोई भावना नहीं थी और कम्पनी के आरम्भिक दिनों में एक-दूसरे पर जैसा भरोसा था, वह धीरे-धीरे समाप्त हो चुका था। सीताराम ने लिखा है, "अंग्रेज सैनिकों के साथ मेरी हमेशा ही अच्छी दोस्ती थी, और पहले वे सिपाही के साथ बड़ी दयालुता का व्यवहार करते थे। हम भी तो हमेशा उनका काम करते थे। हम गर्मी में उनकी रक्षा करते थे, हम उनके शराब के पीपों पर पहरा देते थे, हमने उन्हें स्वयं अपना भोजन दिया। अब ये सैनिक बदल चुके हैं—वे पहले जैसे सदाशय नहीं रहे, वे गालियों को छोड़ हमारी भाषा का कोई शब्द नहीं बोल सकते, १७वीं पैदल सेना के अंग्रेज हमें 'भाई' कहते थे, १६वीं लैंसर-सेना के अंग्रेज हमारे चूल्हे के पास से कभी नहीं गुजरते थे और न कभी हमारे भोजन पर थूकते थे, और हम वर्षों साथ रहे।"[२८] यह बहुत सम्भव है कि सीताराम की तरह हर सिपाही की दोस्ती अंग्रेज सिपाहियों से न हुई हो, किन्तु जब कोई अंग्रेज सैनिक उद्धत व्यवहार करता था, तब उसकी अशिष्टता का कारण उसका जातीय अहंकार माना जाता था और सीताराम ने शिकायत की कि पहले भी यदि अपराध किसी यूरोपीय सार्जेंट का हो तो एडजुटेंट भी सिपाही के साथ न्याय नहीं करता था। "इस समय (१८१२) सिपाहियों की प्रत्येक कम्पनी के साथ एक यूरोपीय सार्जेंट होता था: इनमें से कुछ हमारी भाषा अच्छी तरह जानते थे और साधारणतया हम पर बड़े कृपालु रहते थे, किन्तु उनमें से कई हमारी भाषा में नहीं बोल पाते थे या अपने सिपाहियों को नहीं समझा पाते थे कि वे क्या कहना चाहते हैं। इस प्रकार के सार्जेंट गालियों का आश्रय लेते थे तथा सिपाहियों को मारने-पीटने की उनकी आदत थी। एडजुटेंट से कई बार शिकायतें की गईं,

---

२७. एडवर्ड्स एंड मेरिवेल: 'लाइफ़ आफ़ सर हेनरी लारेंस', जिल्द २, पृ० ३२२-२३

२८. फ्राम सिपाय टु सूबेदार, पृ० १७

किन्तु उसन सदा सार्जेंट का ही पक्ष लिया और इस दिशा में कुछ भी सुधार न हो सका।"[२९]

कमीशनप्राप्त अफसर भी बहुत अच्छा बरताव नहीं करते थे। उत्तर-पश्चिमी प्रान्त के निवासी एक अज्ञात अंग्रेज़ ने लिखा है, "अफसरों और सिपाहियों में दोस्ती नहीं हो सकी और दोनों ही अपरिचितों की तरह रहते थे।" "सिपाही को हीन समझा जाता है। उसे गालियां दी जाती हैं। उसके साथ दुर्व्यवहार होता है। उसे 'काला आदमी' कहा जाता है। उसे 'सूअर' कहकर पुकारा जाता है जो किसी भी प्रतिष्ठित भारतीय, विशेष रूप से मुसलमान के लिए सबसे बड़ी गाली है और जिससे वह तिलमिला जाता है। वृद्ध अफसरों का रवैया इतना बुरा नहीं, क्योंकि उमर के साथ-साथ वे विनम्र हो जाते हैं। किन्तु नौजवान अफसर इसे एक बढ़िया मजाक मानते हैं तथा वे यह समझते हैं कि सिपाही के साथ एक हीन पशु जैसा व्यवहार करके अपनी जाति की श्रेष्ठता सिद्ध की जा सकती है।"[३०] एक अन्य लेखक ने लिखा है, "शिकायत का बहुत बड़ा कारण तो यह है कि सिपाहियों के अफसर उन्हें बड़ी गन्दी गालियां देते हैं। मैंने परेड के मैदान में देखा है कि अपनी टुकड़ी का संचालन करता हुआ एक कमांडिंग अफसर गन्दी गालियों का प्रयोग कर रहा था। उच्च वर्ण के ब्राह्मण और मुसलमान, जो हमारी रेजीमेंट में भी हैं, एक यूरोपीय की गाली से क्षब्ध हो जाते हैं।" ऐसे साक्ष्य पर, जिसका लेखक गुमनाम है, सम्भवतः पूरा विश्वास नहीं किया जा सकता। किन्तु इस सम्बन्ध में बंगाल सेना के लेफ्टिनेंट कर्नल विलियम हंटर का नाम लिया जा सकता है, जिसने भारतीय अफसरों को स्थायी रूप से निचला दर्जा दिए जाने के कारण उत्पन्न असन्तोष का उल्लेख किया है। यह असन्तोष इस लिए और भी बढ़ा कि गैर कमीशनप्राप्त यूरोपीय अफसर, भारतीय सैनिकों के साथ दुर्व्यवहार करते थे। हंटर का कहना है कि वर्तमान प्रणाली के कारण "भारतीय सैनिकों को कभी सामने आने का मौका नहीं मिलता है, तथा उन्हें अफसरों के इशारों पर नाचना पड़ता है; फिर चाहे रेजीमेंट के वे अफसर कितने ही कम उम्र के और अनुभवहीन क्यों न हों। इससे भी बढ़कर जो एक अजीब बात लगती है, वह यह है कि इन भारतीयों को अक्सर गैर-कमीशनप्राप्त यूरोपीय अफसरों की गालियां भी सहनी पड़ती हैं।"[३१] इससे अनिवार्यतः ईर्ष्या उत्पन्न हुई और यदि जनरल जान जेकब ने यह अनुभव किया कि अफसरों और भारतीय सैन्य टुकड़ियों को एक दूसरे में विश्वास नहीं, तो कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए।

---

२९. फ्राम सिपाय टु सूबेदार, पृ० १४

३०. उत्तर-पश्चिमी प्रांत के एक निवासी द्वारा लिखित दि रिबेलियन इन इंडिया, पृ० ३४। केप्टेन मेडले ने आगे लिखा है—"स्कूल से निकले नए-नए अंग्रेज़ अफसर भारतीयों के साथ अक्सर दुर्व्यवहार करते तथा अनावश्यक रूप से उनके लिए अप्रिय भाषा का प्रयोग करते थे; इन बातों से कभी इन्कार नहीं किया गया।" मेडले लिखित ए ईयर्स केम्पेनिंग इन इंडिया फ्राम मार्च १८५७ टु मार्च १८५८, पृ० १६७

३१. सजेशन्स रिलेटिव टु दि रि-आर्गनाइज़ेशन, डिसिप्लिन एंड फ़्यूचर मैनेजमेंट आफ़ दि बंगाल आर्मी, पृ० २

एक विदेशी सरकार केवल बर्बर शक्ति के आधार पर शासन नहीं कर सकती, उसके लिए शासितों की सद्भावना भी चाहिए। यदि सिपाही की दृष्टि में उसका अफसर गिर जाए तो सेना का अनुशासन भंग होना स्वाभाविक है। आरम्भ में अफसर अपने सैनिकों के बड़े शुभेच्छु थे तथा उनके कल्याण में बड़ी दिलचस्पी लेते थे। सिपाही भी आवश्यकता पड़ने पर उनसे मिलता और सलाह लेता था। सीताराम ने लिखा है, "जब मैं एक सिपाही था, मेरी कम्पनी का कप्तान अपने कुछ सैनिकों को दिन भर अपने घर रखता था तथा उनसे बातें करता था।" "उन दिनों साहब रेजीमेंट के लिए नाच-मुजरा कराते तथा समस्त खेलों में उपस्थित रहते थे। जब वे शिकार खेलने बाहर जाते तो सिपाहियों को भी अपने साथ ले जाते।" सिपाही ने यदि अपने अफसरों में सनक देखी, तो उनके सद्गुणों की प्रशंसा भी की, किन्तु सीताराम और हिदायत अली ने अपने जीवन काल में "साहब लोगों" में महान परिवर्तन होते देखा। हिदायत अली ने लिखा है, "जब कोई सिपाही अफसरों से मिलने या कुछ कहने उनके बंगले पर जाता था वे अत्यन्त अप्रसन्न हो जाते थे।" सीताराम के अनुसार, यह पादरियों के प्रभाव के कारण हुआ था "जिन्होंने अफसरों को सिपाहियों से दूर करने की दिशा में बहुत कुछ किया है और अभी भी कर रहे हैं।"[३२] हिदायत अली इस अनुपयुक्त परिवर्तन का कोई कारण स्पष्ट नहीं बता सके हैं, किन्तु वे यह मानते हैं कि यह भी विद्रोह का एक कारण था।

किन्तु अफसर और उसके सिपाहियों के बीच अत्यधिक घनिष्ठता के कारण हमेशा ही अनुशासन में वृद्धि नहीं होती। एक अविवेकी अफसर अपने सिपाहियों की उपस्थिति में अपनी शिकायतों का वर्णन करके, उनकी दृष्टि में सरकार को आसानी से गिरा सकता है। लार्ड विलियम बेंटिक ने मितव्ययिता के जो उपाय अपनाए थे, उनके कारण यूरोपीय अफसर अत्यन्त असन्तुष्ट थे तथा वे खुले आम विद्रोह की बातें करते थे और यह बात भारतीय तथा यूरोपीय सैनिकों से छिपी न थी। सीताराम ने जो वर्णन किया है वह सिपाहियों की प्रतिक्रिया पर पर्याप्त प्रकाश डालता है : "तदुपरांत भारत में एक नया लाट साहब आया, जो सभी अफसरों में अप्रिय हो गया। वह उनका वेतन घटाना चाहता था, और साहबों ने करीब-करीब विद्रोह कर दिया। उन्होंने अपने घरों पर कई सभाएं कीं और वे अत्यन्त परेशान थे; उनमें से अनेक ने घोषणा की कि वे अब अधिक दिन तक सरकारी नौकरी नहीं करेंगे। यह लाट साहब कम्पनी बहादुर द्वारा पैसा बचाने के लिए भेजा गया था क्योंकि उनका कहना था कि युद्धों के भारी व्यय के कारण वे बहुत दरिद्र हो गए हैं। किन्तु इस दलील पर विश्वास करना कठिन था। कम्पनी सरकार को पैसे की कमी कब रही? मैंने सुना था कि एक रेजीमेंट के अफसर दूसरे रेजीमेंट के अफसरों से यह पूछते थे कि यदि वे लाट साहब को उनका अपना हक देने को बाध्य करने के लिए कलकत्ते कूच करें तो क्या उनके सैनिक उनका साथ देंगे? मुझ से भी कहा गया था कि जब तक भारतीय सेना के अफसरों का उद्देश्य केवल भत्ते की उपलब्धि है, यूरोपीय सिपाही उनका विरोध नहीं करेंगे। इस समय हर साहब क्रुद्ध था तथा सरकार के खिलाफ बहुत कुछ कहता था, किन्तु

---

३२. फ्राम सिपाय टु सूबेदार, पृ० १६

इसमें अधिक दोष नए लाट साहब का था, जिसके सम्बन्ध में उनका कहना था कि वह बिना आदेश अन्याय कर रहा है तथा वह ऐसा केवल कम्पनी की खुशामद करने के लिए कर रहा है।"[33] १८४३, १८४४ और १८४६ में भी सिपाहियों के मन में यही भावना उठी थी, जब अपने अधिकारों के लिए उन्होंने नारा लगाया था तथा अतिरिक्त भत्ते की की उपलब्धि के लिए उन्होंने अपने स्वामियों के विरुद्ध शक्ति का उपयोग करने का विचार किया था। यदि गोरे अफसरों द्वारा विद्रोह नैतिक रूप से सही था और यदि उन्होंने वेतन सम्बन्धी लड़ाई में अपने सिपाहियों का समर्थन पाने की कोशिश करके कोई गलती नहीं की, तो भारतीय सिपाही का यह कहना अनुचित नहीं था कि उसने तो धर्म की रक्षा सरीखे अधिक अच्छे उद्देश्य से प्रेरित होकर ही विद्रोह किया।

कभी-कभी बंगाल सेना के अनुभव-हीन अफसरों की अदूरदर्शिता के कारण सैनिक नियमों तथा अनुशासन का स्पष्ट उल्लंघन होता था। जान जेकब ने अफसरों में परम्परागत आंग्ल-सेक्सन ईमानदारी तथा उच्च नैतिकता का एक शोकजनक अभाव पाया। एक छोटा अफसर अनेक नौकर-चाकर रखता था। "उसे धूप में बाहर नहीं निकलना चाहिए, उसे घोड़े के बदले पालकी पर यात्रा करनी चाहिए, उसे पंखा झला जाना चाहिए, और न जाने क्या-क्या उसके लिए किया जाना चाहिए। उसके पास एक खानसामा, एक खिदमतगार, एक सरदार बैरा और छोटे बैरे तथा और बहुत-से नौकर होने चाहिएं। एक उसके धूम्रपान के लिए, एक छाता संभालने के लिए, एक मद्यपान के लिए, एक उसकी कुर्सी साफ करने के लिए आदि-आदि, जबकि ये सारे काम केवल एक ही नौकर कर सकता था।"[34] यहां तक कि "भारत में एक सामान्य यूरोपीय भी न तो अपना पानी खींच सकता था, न भोजन पका सकता था, और न हाल के समय तक, अपने जूते साफ कर सकता था, न अपनी दाढ़ी बना सकता था।"[35] एक अफसर यह आशा करता था कि जब वह अर्द्ध जागृतावस्था में हो, उसी समय सुबह ही हज्जाम आकर उसकी दाढ़ी बना जाया करे। इस प्रकार के विलास, आराम और सुविधाओं की जिंदगी अत्यधिक व्यय के बिना सम्भव नहीं थी। यदि सेना के भोजनालयों में प्रचलित जुए आदि से कोई अफसर बच भी सका, तो अपने निश्चित वेतन मात्र से इतने खर्च पूरे करना उसके लिए सम्भव नहीं था। अतएव वह हमेशा ऋण के बोझ से लदा रहता था तथा ऋणदाता का चुनाव भी वह ठीक से नहीं कर पाता था। बरेली का वह उपर्युक्त बंगाली क्लर्क न केवल सिपाहियों और सवारों को, बल्कि यूरोपीय अफसरों को भी ब्याज की ऊंची दर पर कर्ज दिया करता था। भारत में कर्जदार को सामान्यतया घृणा की दृष्टि से देखा जाता है और यदि यह भी मान लें कि कर्जदार अफसर अपने सिपाहियों की दृष्टि में नहीं गिरता, तो भी उसे अपने ऋण-दाता के साथ कुछ मुलायमी का व्यवहार तो करना ही पड़ता था। क्लर्क सैनिक कोष से उधार नहीं देता था, किन्तु यदि सीताराम की बात पर विश्वास किया जाए तो यह प्रथा-सी

---

३३. फ्राम सिपाय टु सूबेदार, पृ० ५१-५२

३४. ए फ़्यू रिमार्क्स आन दि बंगाल आर्मी, पृ० ७

३५. जोन्स, रिकलैक्शन्स आफ़ ए विण्टर कैम्पेन इन इण्डिया, पृ० १२२

पड़ गई थी कि वेतन बांटने वाला हवलदार हमेशा वेतन-कोष से ऋण देता था और उसके अफसर उसे इस नियम-भंग से छूट देते थे क्योंकि जब उन्हें जरूरत पड़ती थी, तो वे उससे कर्ज लेते थे। "वेतन बांटने वाले हवलदार साहबों को कर्ज दिया करते थे और चूंकि अफसरों को अपना वेतन उन्हीं के हाथों मिलता था, हवलदारों को यह भय नहीं रहता था कि उनका पैसा वापस नहीं मिलेगा, जब तक कि साहब की मृत्यु ही न हो जाए क्योंकि उस स्थिति में उधार दिए गए धन का दावा नहीं किया जा सकता था। हालांकि इस प्रकार ऋण देने की प्रथा का निषेध था, किन्तु मैंने कभी इस कार्य के लिए किसी को सजा पाते नहीं देखा। अफसरों की तनख्वाह हालांकि काफी अधिक होती थी, किन्तु उनकी आवश्यकताएं उससे पूरी नहीं होती थीं और मेरी रेजीमेंट में केवल दो अफसर कर्जदार नहीं थे। अनेक पर ऋण का भारी बोझ था। वे अपना अधिकांश वेतन दावतें देने में खर्च करते थे, कुछ जुआ खेलते थे, कुछ को घुड़दौड़ का बड़ा शौक था और वे उसमें भारी रकमें हारते थे। वे सभी साहब जो विवाहित थे, हमेशा कर्ज में डूबे रहते थे।"[३६] वेतन बांटने वाले हवलदार के रूप में सीताराम ने अपने पास जमा सिपाहियों के बचे हुए धन को किसी काम में लगाकर लगभग पांच सौ रुपये कमाए थे। उसकी कम्पनी का कप्तान एक दुर्घटना में अपना सब कुछ खो चुका था और उसके पास उस समय कुछ भी नहीं था। सीताराम को इस बात पर राजी किया गया कि वह उसे पांच सौ रुपये कर्ज दे। किन्तु चूंकि वह अपनी बचत की राशि का कुछ भाग किसी कार्य में लगा चुका था, इसलिए उसके पास यही उपाय था कि वह अपने पास बचे हुए सिपाहियों के रुपये का गबन कर ले। चूंकि कप्तान कर्ज नहीं चुका सका, सीताराम मौका पड़ने पर सिपाहियों का धन उन्हें नहीं दे सका। फलस्वरूप कर्नल के पास उसकी रिपोर्ट की गई तथा उसका कोर्ट मार्शल हुआ। वह अपने दुर्भाग्य के लिए कप्तान को दोषी नहीं ठहराता किन्तु जिन देशी अफसरों ने उसे अपराधी ठहराया, उनके सम्बन्ध में उसने बड़ी महत्वपूर्ण बातें कहीं हैं: "मैं अपनी ही रेजीमेंट के अनेक भारतीय अफसरों द्वारा अपराधी ठहराया गया। किन्तु उनमें से किसी ने भी यह नहीं सोचा कि मैंने जो कुछ किया है, वह गलत किया है और यदि उनमें से कोई भी मेरी स्थिति में होता, तो वह भी वही करता जो मैंने किया। तथापि, उन्होंने सोचा कि चूंकि कर्नल यह चाहता था कि मुझे दण्ड मिले, उन्होंने मुझे दोषी ठहराया। यूरोपीय अफसर भी भली-भांति यह जानते थे, किन्तु सेना की यह प्रथा थी।"[३७] यह प्रथा अनुशासन के लिए सहायक नहीं थी।

प्रारम्भिक दिनों में यूरोपीय अफसर का हरम उसके और उसके सिपाहियों के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने में सहायक सिद्ध हुआ होगा, किन्तु बाद में वह भ्रष्टाचार का अड्डा बन गया। "हमारे अधिकांश अफसर अपने साथ हिन्दुस्तानी औरतें रखते थे और रेजीमेंट पर इन औरतों का बड़ा प्रभाव था। वे सिपाहियों पर झूठा रोब गांठती थीं ताकि अपनी ओर से साहबों को खुश करने के लिए सिपाही उन्हें रिश्वत दें। कभी-

---

३६. फ्राम सिपाय टु सूबेदार, पृ० ५३

३७. वही, पृ० ५४

कभी स्वयं सिपाही अपनी रिश्तेदार महिलाएं साहबों के लिए लाते थे, किन्तु ये निम्न वर्ग के या मुसलमान सैनिक ही होते थे।"[३८]

ऐसा कहा गया है कि बेंत लगाने की सजा समाप्त कर देने से अनुशासन शिथिल हो गया था। सैनिक अनुशासन का आधार शारीरिक दण्ड न होकर, अफसरों में कोई ऐसा श्रेष्ठतर तत्व, कोई ऐसी अवर्णनीय चीज होती है जो सैनिकों को प्रभावित करती है। अनुशासन केवल शारीरिक दण्ड या उसमें सन्निहित सामाजिक प्रताड़ना से स्थापित नहीं हो सकता। अनुभवी भारतीय अफसरों का कहना था कि बंगाल की सेना में अनुशासनहीनता इसलिए थी कि सैनिकों के साथ कठोर व्यवहार नहीं होता था और हिदायत अली के मतानुसार अधिक कठोर दण्ड दिया जाना चाहिए था। किन्तु अनुशासन की प्रेरणा मूर्त उदाहरण से मिलती है, केवल उपदेश देने से नहीं। जहां अफसर और सिपाही विभिन्न धर्मों, जातियों और देशों के होते हैं तथा विभिन्न भाषाएं बोलते हैं, वहां कठोर दण्ड से नहीं, किन्तु नैतिक गुणों के कारण वैयक्तिक सम्मान मिलता है तथा उससे अनुशासन स्थापित होता है। बंगाल-सेना के सिपाही अपने छोटे अफसरों के दुर्व्यवहार से क्षुब्ध थे तथा अपने असन्तुष्ट कमांडरों की उन बातों के सुनने के अभ्यस्त हो गए थे जिनसे विद्रोह की प्रेरणा मिलती थी, तथा वे वचन-भंग के उदाहरण दोहराते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि अच्छे अफसर का अपने सैनिकों पर जो एक नैतिक प्रभाव रहता है, वह समाप्त हो गया। जब कोई विदेशी सत्ता किसी देश पर उसी देश की भाड़े की सेना से बलपूर्वक शासन करती है, तो यह सम्भावना रहती ही है कि देर-सवेर विद्रोह होगा ही। विद्रोह जल्दी नहीं हुआ क्योंकि सिपाही अपने स्वामियों की ओर से युद्ध में लगा रहा। असल में सिपाही के इतने दिनों तक सरकार के प्रति वफादार रहने का कारण यह था कि कुछ अच्छे जनरलों के सद्व्यवहार से उसे अपने सैनिक पेशे पर गर्व अनुभव करने की प्रेरणा मिलती रही। बाद में दुर्व्यवहार, अनैतिकता और विश्वास-भंग के कारण उसकी वफादारी नष्ट हो गई।

जिस समय सेना को सर्वश्रेष्ठ अफसरों की आवश्यकता थी, उस समय वे उसमें उपलब्ध नहीं थे। राजनीतिक और नागरिक नियुक्तियों के क्षेत्र में तरक्की की सम्भावनाएं अधिक थीं और अधिक प्रतिभावान नौजवान सेना के बाहर नौकरी ढूंढते थे। यद्यपि इस प्रकार व्यक्तिगत रूप से रेजीमेंटों को क्षति पहुंची, किन्तु समूची सेना में प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्तियों की कमी नहीं थी, क्योंकि अनेक छोटे अफसरों ने १८५७-५८ के दौरान अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन किया और उनमें से कुछ तो बाद में तरक्की करते-करते फ़ील्ड मार्शल के पद

---

३८. फ्राम सिपाय टु सूबेदार, पृ० १५। इस विषय पर हिदायत अली की अलग राय थी। उसका कहना है: "पहले, अफसर हिन्दुस्तानी औरतें रखते थे तथा उनकी महफिल में भारतीय अफसर और सिपाही हमेशा रहते तथा वे उन्हें खुश करने के अधिकाधिक प्रयत्न करते थे। इन औरतों का रेजीमेंट पर बड़ा प्रभाव रहता था। यह सब सिपाहियों की भावनाओं के अनुकूल था। इस प्रकार के कार्य करके अफसरों ने सरकार की बड़ी सेवा की, क्योंकि वे अपने सिपाहियों के चरित्र तथा छावनी में होने वाले कार्य-कलापों से भली-भांति परिचित हो गए।" गब्बिन्स, परिशिष्ट १२, पृ० ५६३

तक पहुंचे। नए नियमों के अनुसार भी रेजीमेंट नए-नए अफसरों के अधीन की गई, जिनसे वे अपरिचित थे और अपने सिपाहियों पर उनका इतना प्रभाव न था कि संकट के समय उनका निर्णय परिवर्तित करा सकें। यदि ब्रेसियर जैसा अफसर सिखों को इलाहाबाद में नियंत्रण में रख सकता था, तो यह कहा जा सकता है कि उसी प्रकार की योग्यता और सामर्थ्य वाले अफसर अन्य जगहों पर भी विद्रोह को रोक सकते थे। सर्वोत्तम नागरिक अधिकारियों का पंजाब के नव-अधिकृत प्रान्त में स्थानान्तरण किया जा चुका था और इन अफसरों के बाद जो सर्वश्रेष्ठ अफसर थे, वे ही उत्तर-पश्चिमी प्रान्तों और अवध के लिए उपलब्ध थे।

सामान्य परिस्थितियों के अतिरिक्त भारतीय अफसर किसी विशेष कार्य के लिए उपयोगी नहीं थे। उनमें से अनेक वफादार रहे किन्तु वे सब सेवा-काल के आधार पर तरक्की के नियम के कारण काफी बड़ी उम्र के थे और उनमें उतनी शारीरिक शक्ति नहीं रही थी जिसकी उनसे अपेक्षा की जाती थी। सेना में ४८ वर्ष तक काम कर चुकने के पश्चात् सीताराम को ६५ वर्ष की आयु में सूबेदार का पद मिला था। "मैं बूढ़ा हो चुका था, मेरी उम्र ६५ साल की थी और भारतीय सेना में मिल सकने वाला उच्चतम ओहदा मुझे मिल गया था। इस पद की स्थिति को छोड़कर, अन्य बातों में मैं तीस वर्ष पूर्व इससे अधिक अच्छा था। अपनी कम्पनी का मूर्धन्य होकर अब मैं क्या कर सकता था ? मैं दौड़-भाग कैसे सकता था या बन्दूक आदि कैसे चला सकता था ? किन्तु मुझसे आशा की जाती थी कि मैं पहले की तरह ही सक्रिय रहूं। ४८ साल की सेवा का कोई पुरस्कार नहीं मिला।"[३९] सीताराम ने अपनी शारीरिक कमजोरी की चर्चा की है किन्तु इस बात पर कोई प्रकाश नहीं डाला है कि मानसिक रूप से उसमें कितनी स्फूर्ति या ताजगी थी। कम से कम वह तो कुछ पढ़ा-लिखा होने का दावा कर सकता था; किन्तु अनेक सूबेदार न तो पढ़ सकते थे, न लिख सकते थे और कई बार ऐसा देखा गया कि एक देशी अफसर को स्वयं उसका कमांडर मानसिक दृष्टि से अयोग्य घोषित कर देता था जबकि मेडिकल बोर्ड की दृष्टि में वह ऐसा नहीं होता था। बचत करने की एक गलत नीति अपनाए जाने के कारण, सिपाहियों और उनके भारतीय अफसरों को उनकी उपयोगिता के लम्बे वर्ष समाप्त हो चुकने के बाद भी अवकाश-ग्रहण नहीं करने दिया जाता था। अतएव स्थिति ऐसी हो गई थी कि यूरोपीय अफसर अपने सिपाहियों के सम्पर्क में आने से हिचकिचाते थे तथा भारतीय अफसर या तो शारीरिक दृष्टि से जर्जर हो चुके थे या मानसिक दृष्टि से विक्षिप्त। परिणामतः अनेक रेजीमेंटों में अनुशासन बहुत शिथिल हो गया। यह स्थिति आगे चलकर इस कारण और भी पेचीदा हो गई कि 'काले आदमी' को अपने अफसरों को खुश रखने की आदत पड़ गई थी। वह किसी प्रश्न का ठीक वैसा ही उत्तर देता जिससे उसका अफसर खुश होता। इसलिए कमांडिंग अफसर अपने सिपाहियों की वास्तविक भावनाओं से बिल्कुल अपरिचित थे क्योंकि सूबेदार या जमादार अपनी सही भावनाएं प्रकट नहीं करते थे बल्कि ऐसे उत्तर देते थे जिनसे अफसर खुश हों।

सिपाही के मन में तो यह अन्तर्द्वन्द्व अवश्य चल रहा था कि वह सरकार से तटस्थ

३९. फ्राम सिपाय टु सूबेदार पृ० १२१

रहे या उसका विरोध करे, किन्तु सामान्य रूप से जनता को सरकार पसंद नहीं थी। प्रेसिडेंसी में केवल कुछ पढ़े-लिखे लोगों ने ही सरकार के सामाजिक कानूनों तथा पाश्चात्य शिक्षा का स्वागत किया; किन्तु उत्तर भारत के भारतीय कलकत्ता के बाबुओं का इस कारण मखौल उड़ाते थे कि वे उन्हें अंग्रेज़ियत के रंग में रंगे हुए समझते थे और यह मानते थे कि वे "केवल अटर्नी होने या मिल्टन, शेक्सपियर पढ़ाने वाले शिक्षक होने के ही योग्य हैं।"[४०] ये थोड़े-से लोग भी सरकार के समर्थन में एकमत नहीं थे। बंगाल के एक शिक्षित हिन्दू ने इस बात की शिकायत की कि अंग्रेज़ों ने "सौ वर्षों तक सक्रिय रूप से दमनपूर्ण शासन किया और उसमें कहीं भी कोई उदारता के लक्षण नहीं दीखे।" उसने आगे लिखा है कि "पारस्परिक सम्पर्क के इस एक सौ वर्ष से भी अधिक समय में हिन्दू और अंग्रेज एक-दूसरे के मित्र न बन सके और न वे एक सरकार के अधीन शान्तिपूर्वक रह सके।"[४१] चूंकि अंग्रेज शासक सामाजिक दृष्टि से भारतीयों के सम्पर्क में नहीं थे, अतः उनके मन में भारतीयों के प्रति घृणा का भाव था, तथा यह भी विद्रोह के समय फैले असन्तोष का एक बहुत बड़ा कारण बना। शेनन के लेफ्टिनेंट वर्ने का कहना है: "मुझे लगा कि अंग्रेज प्रवासियों के मन में भारतीयों के प्रति अनेक पूर्वाग्रह हैं और वे इन्हें अपने व्यवहार में प्रदर्शित करते हैं।" "मैं समझता हूं कि विद्रोह का एक कारण यह भी हो सकता है कि हर अंग्रेज के मन में भारतीयों के प्रति घृणा का गहरा भाव था। जब कोई अंग्रेज किसी भारतीय के साथ कोई भलमनसाहत का बरताव करता है, तो उसके साथ ही उसके चेहरे पर भारतीय के प्रति घृणा का भाव झलक उठता है। मैंने पादरियों तथा अन्य व्यक्तियों को, जो हिन्दुओं का भला करना चाहते हैं, उनके बारे में ऐसे शब्दों का प्रयोग करते सुना है जिनसे मुझे यह विश्वास हो गया है कि यह बात ठीक है। हमें विजातीय समझने वाले लोगों के लिए यह बात निःसंदेह बड़ी पीड़ाजनक होती होगी।"[४२]

हमें यह भूलना नहीं चाहिए कि एक दूर देश में विशाल जनता पर राज्य करने वाले मुट्ठी भर विदेशियों को या तो पूरी तरह संगठित होना चाहिए तथा उन्हें अपने आपको एक श्रेष्ठ जाति के रूप में सिद्ध करना चाहिए अन्यथा उन्हें शासित देश की जनता में पूरी तरह घुलमिल जाना चाहिए क्योंकि यदि वे जनता से बिलकुल अलग-थलग रहें, तो वे शासित प्रजा की सद्भावना प्राप्त नहीं कर सकते। ऐसी स्थिति में कोई बीच का रास्ता ढूंढ निकालना अत्यन्त कठिन है और जब शासक और शासित दो विभिन्न जातियों के हों, तो जातीय

---

४०. दि थाट्स आफ़ ए नेटिव आफ़ नार्दर्न इंडिया आन दि रिबेलियन, पृ० २९

४१. काज़ेज़ आफ़ दि इंडियन रिवोल्ट; लेखक एक बंगाली हिन्दू। मेल्कम लेविन द्वारा संपादित, पृ० १८ तथा २१

४२. वर्ने, दि शेनन्स ब्रिगेड इन इंडिया, पृ० ४१-४२। एक सैनिक अफसर ने लिखा है कि अधिकांश जनता अंग्रेज़ों के सम्पर्क में नहीं आती थी और जो लोग आते भी थे, उनका भी अंग्रेज़ों से, मजिस्ट्रेट या टैक्स उगाहने वाले के रूप में मिलना होता था। अधिकांश लोगों का अंग्रेज़ों के साथ कोई सम्पर्क नहीं रहा तथा उन्हें उनके सम्बन्ध में बुरी बातें ही सुनने को मिलती थीं। प्रिचर्ड, म्यूटिनीज़ इन राजपूताना, पृ० २७८

श्रेष्ठता की भावना से उत्पन्न जातीय अहंकार को दूर कर सकना अक्सर असम्भव ही होता है। भारतीय यह अनुभव करते थे कि अंग्रेजों द्वारा उनका अपमान ही किया जाता है। कम्पनी के एक वफादार अफसर सर सैयद अहमद खां का कहना है कि भारत में अंग्रेजी शासन के आरम्भिक वर्षों में सरकार अत्यधिक लोकप्रिय थी, तथा उसके प्रति जनता की बड़ी सद्भावना थी। उन्होंने लिखा कि "सरकार के प्रति यह सद्भावना अब समाप्त हो चुकी है और भारतीय अक्सर यह कहते हैं कि उनके प्रति घृणापूर्ण व्यवहार किया जाता है। साधारण से साधारण अफसर एक भारतीय को अपने से उतना ही छोटा मानता है, जितना वह स्वयं को एक ड्यूक से छोटा मानता है।" "क्या सरकार को यह भली-भांति मालूम नहीं कि बड़े से बड़ा भारतीय अफसर अंग्रेज अफसरों के सामने भयभीत और कांपता हुआ आता है ?[४३] सर सैयद की शिकायत पर टिप्पणी करते हुए सर रिचर्ड टेम्पल इस बात से अपनी असहमति प्रकट करते हैं कि उच्च भारतीय अफसर अंग्रेज अफसरों से बात करने में डरते थे। किन्तु वे यह स्वीकार करते हैं कि "हम व्यक्तिगत रूप से पहले जितने लोकप्रिय थे, अब उतने नहीं रहे" और "हमारे अफसरों और जनता के बीच एक दीवार-सी खड़ी होती जा रही है।"[४४] किशोरी चन्द मित्र एक वफादार नागरिक तथा कलकत्ते के शिक्षित समुदाय का प्रवक्ता था। उसका भी यह मत था कि यूरोपीय अफसरों के उद्धत व्यवहार तथा अपने मातहत भारतीय अफसरों से अलग-थलग रहने के कारण "दोनों वर्गों के बीच एक खाई खुद गई और दोनों एक-दूसरे के निकट नहीं आ सके।"[४५] अंग्रेज अफसरों और भारतीय लोगों के बीच दोस्ती के भी कुछ उदाहरण मिलते हैं। उदाहरणार्थ, पटना के टेलर का एक मित्र शाह कबीरुद्दीन था, जिसका उसने रेखाचित्र बनाया था। लाकवुड ने अपने एक बंगाली क्लर्क, त्रैलोक्यनाथ लाहिड़ी से अपनी दोस्ती की चर्चा की है। किन्तु जब कभी भारतीयों के साथ उद्धत व्यवहार होता या उनका अपमान किया जाता, तो यह बात दूर-दूर तक फैल जाती और इसके लिए गिने-चुने व्यक्तियों को ही नहीं, बल्कि समूची अंग्रेज जाति को जिम्मेदार ठहराया जाता। कुछ भी हो, अंग्रेजों ने भारतीयों का बहिष्कार करने में कुछ उठा न रखा और बनारस जाते हुए रसेल ने यह अनुभव किया कि कोई भी भारतीय अंग्रेज को अपने मित्र के रूप में नहीं देखता। वह विस्मित होकर लिखता है—"ओह ! आंखों की वह भाषा ! कौन उस पर सन्देह कर सकता है ? कौन उसकी गलत व्याख्या कर सकता है ? भारतीयों की आंखों के इस भाव से ही मैंने यह जान लिया कि कभी-कभी लोग हमारी जाति से डरते तक भी नहीं और सब लोग हमें हिकारत की नजर से देखते हैं।"[४६]

---

४३. अहमद, दि काज़ेज़ आफ़ दि इंडियन रिवोल्ट, पृ० ४१-४३

४४. अहमद, दि काज़ेज़ आफ़ दि इंडियन रिवोल्ट, डब्ल्यू. एन. लीस द्वारा अनूदित, पृ० ६७

४५. दि म्यूटिनीज़, दि गवर्नमेंट एंड दि पीपल, लेखक एक हिन्दू, पृ० ३९

४६. रसेल, माई डायरी इन इंडिया, जिल्द १, पृ० १४६। प्रिचर्ड, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० २७७। "भारत की जनता हम से जरा भी प्यार नहीं करती। यदि वह प्यार करती तो आश्चर्य ही होता ! आखिर हमने उनके साथ क्या भलाई की है ! कुछ भी नहीं।"

भारतीयों में इस बात से जरा भी असन्तोष नहीं था कि भारतीयों को नौकरियों में ऊंचे पद कभी नहीं दिए जाते।[४७] कोई भारतीय शासन-विभाग में डिप्टी कलक्टर और न्याय-विभाग में सदरे अमीन, ये दो बड़े से बड़े पद ही प्राप्त करने की आशा कर सकता था। तथापि भारतीयों में प्रतिभा की कमी नहीं थी। कुछ ही समय पूर्व उनके पुरखों ने प्रान्तों पर शासन किया था और सेनाओं का संचालन किया था। सब से बुरी बात यह थी कि भारतीयों के लिए बेकारी या छोटी-मोटी नौकरियां, इन दो में से एक को चुनने के अतिरिक्त कोई और मार्ग नहीं था। भारत के धनी-मानी लोगों की एक अन्य शिकायत यह थी कि कानून की दृष्टि में सब व्यक्ति बराबर थे। अंग्रेज़ी कानून अमीर और गरीब, बड़े और छोटे, राजा और रंक में कोई अन्तर नहीं मानता था। लखनऊ के वली, बिरजिस कादर ने अपनी एक घोषणा में इस बात पर विशेष जोर दिया। उन्होंने कहा: "समस्त हिन्दुओं और मुसलमानों को यह बात मालूम है कि हर व्यक्ति को चार बातें प्रिय होती हैं—धर्म, सम्मान, जीवन और सम्पत्ति। ये चारों बातें देशी सरकार के अधीन सुरक्षित हैं।" उन्होंने आगे यह स्पष्ट किया कि उच्च कुल और उच्च जाति के हिन्दुओं और मुसलमानों का पुराने शासन में कैसा सम्मान होता था तथा "किस प्रकार अंग्रेज़ों ने उपर्युक्त चारों चीजों की अवहेलना की है।" "अंग्रेज़ बड़े से बड़े और छोटे से छोटे आदमी के सम्मान एवं प्रतिष्ठा को बराबर मानते हैं। यही नहीं, वे बड़े आदमियों के साथ अपेक्षाकृत घृणा और असम्मानपूर्ण व्यवहार करते हैं।" यह आरोप निराधार न था और इससे अंग्रेज़ों की बदनामी नहीं, बल्कि उनका यश ही बढ़ता है कि उनका उद्देश्य जाति, धर्म या पद का ध्यान किए बिना समस्त भारतीयों के साथ बराबरी का न्याय करना था। तथापि यह सिद्धान्त अधिकांश भारतीयों के बीच लोकप्रिय नहीं हुआ तथा कुछ अंग्रेज़ भी इससे प्रसन्न नहीं थे। रसेल ने एक अंग्रेज़ का उल्लेख किया है जो अपने ऋणदाता की खुशामद करना चाहता था, क्योंकि उक्त ऋणदाता ने न्यायालय से उसके विरुद्ध आदेश-लेख प्राप्त कर लिया था। उसने लिखा है: "समूचा देश रसातल को जा रहा है। यह आशा कैसे की जा सकती है कि इन बाजारू बनियों और समन जारी कराने वालों से अपमानित होने के लिए कोई सभ्य आदमी यहां आएगा?" लखनऊ की घोषणा में भी इसी प्रकार की भावनाएं व्यक्त की गई हैं। इसमें यह शिकायत की गई कि अंग्रेज़ एक चमार के इशारे पर एक नवाब या राजा का उपस्थित होना अनिवार्य कर देते थे, तथा इस प्रकार उसका अपमान किया जाता था। कानून किसी व्यक्ति की इज्जत नहीं करता था, इसलिए अब तक कानून के अन्तर्गत न आने वाले राजाओं और नवाबों को तो वह नापसन्द था ही, साथ ही जिन किसानों के अधिकारों की सुरक्षा के लिए वह बनाया गया था, उन्हें भी वह अप्रिय था। इसका कारण यह नहीं था कि कानून बुरा था, बल्कि यह कि अदालतें

४७. विद्रोह के सम्भव कारणों में से "जिनमें से कुछ...सभी सैनिक तानाशाहियों में, चाहे वह कितनी ही अच्छी क्यों न हों, सन्निहित होते हैं...एक कारण यह है कि सरकारी नौकरी में भारतीयों को कभी कोई उच्च पद नहीं दिया जाता।" दि म्यूटिनीज़, दि गवर्नमेण्ट एण्ड दि पीपल, पृ० ३६। सर सैयद अहमद द्वारा लिखित दि काज़ेज़ आफ़ दि इण्डियन रिवोल्ट, पृ० ३५ भी देखिए

भ्रष्ट थीं। प्रिचर्ड ने "हमारी अदालतों के भ्रष्टाचार और पैसे लेकर"[४८] अन्याय करने की चर्चा की है। प्रिचर्ड के अतिरिक्त अनेक लोगों ने भी ऐसी शिकायत की है। इसके अतिरिक्त अंग्रेजी कानून इतना उलझा हुआ था कि एक अनपढ़ किसान उसे समझने में असमर्थ था। वह अपने मुकदमे की पैरवी के लिए वकील नियुक्त नहीं कर सकता था। पुरानी प्रथा के अनुसार न्यायालय सबके लिए खुला रहता था और गरीब से गरीब किसान भी वहां बगैर किसी बाधा के अपना मामला पेश कर सकता था। सीताराम एक डिप्टी कमिश्नर के दफ्तर के अन्दर चला गया क्योंकि उसने सुना था कि डिप्टी कमिश्नर के न्याय का दरवाजा सबके लिए खुला है। उसने दफ्तर के चपरासियों की रोकथाम पर ध्यान नहीं दिया और फलस्वरूप उसे दस रुपये जुर्माना देना पड़ा। अतएव, सीताराम यह समझने में असमर्थ था कि न्यायालय का आश्रय लेकर उसने कानून का भंग कैसे किया है?[४९] पुलिस और छोटे-छोटे अफसर अत्यधिक भ्रष्ट थे और चूंकि वे अपराधियों से पैसे खाते थे, इस कारण भी अदालतों की प्रतिष्ठा गिरी। ग्रामीण जनता अपने अज्ञान में यह सोचती थी कि सर्वोच्च अधिकारी भी, अपने मातहतों द्वारा ली गई रिश्वत में हाथ बंटाता है। सीताराम लिखता है, "जब बड़े साहब को यह पता चलता है कि किसी अर्जीदार ने रिश्वत दी, तो वह बहुत नाराज होता है। वह उससे पूछता है कि उसने ऐसा क्यों किया? बड़े साहब को शायद यह नहीं मालूम होता कि उस व्यक्ति का यह दृढ़ विश्वास होता है कि रिश्वत का कुछ भाग स्वयं साहब को भी मिला है।"[५०] अतएव, न्यायालय पैसे वालों और चालाक लोगों के हाथ में अन्यायपूर्ण दमन का साधन बन गए क्योंकि पैसे देकर झूठी गवाही दिलाई जा सकती थी तथा झूठा दावा कायम करने के लिए नकली कागज-पत्र प्रस्तुत किए जा सकते थे। आगरा की सदर अदालत के एक जज रेक्स का कहना है: "उत्तर-पश्चिमी प्रान्तों के लोगों को यदि हमारा दीवानी कानून नापसन्द था, तो उसके पीछे पर्याप्त कारण थे।"[५१]

किन्तु विक्रय सम्बन्धी कानून सबसे अधिक अप्रिय था। पुरानी प्रथा के अनुसार

---

४८. प्रिचर्ड, उद्धृत ग्रन्थ पृ० २७८—"हमारे न्यायालयों और छोटे न्याय-अधिकारियों के भ्रष्टाचार और रिश्वतखोरी की बात पिछले कुछ वर्षों से प्रकट होने लगी है, इस बारे में भारतीय हमारा किस बात के लिए धन्यवाद दें?" सीताराम का कहना है कि छोटे-छोटे न्याय-अधिकारियों के भ्रष्टाचार के कारण ही सन्थाल का विद्रोह हुआ था। "सन्थाल के कुछ लोगों ने मुझे बताया था कि उनके विद्रोह करने का मुख्य कारण यह था कि देशी अमलों को रिश्वत न दे सकने के कारण दीवानी अदालतों में उनके साथ न्याय नहीं होता था और उनकी सारी शिकायतें धनी-महाजनों एवं साहूकारों के विरुद्ध होती थीं जो इन सीधे-सादे आदमियों को अपने फन्दे में फंसा लेते थे और जिन्होंने इन सब लोगों को बरबाद कर दिया।" फ्राम सिपाय टु सूबेदार, पृ० १११

४९. फ्राम सिपाय टु सूबेदार, पृ० १२७-१२८

५०. वही, पृ० १२७

५१. रेक्स : नोट्स आन दि रिवोल्ट इन दि नार्थ-वेस्टर्न प्राविन्सेज़ आफ़ इण्डिया, पृ० ७

भूमि व्यवहारतः अपरिहार्य थी। यदि कोई मालिक पूरा लगान नहीं चुका पाता था, तो उसे गिरफ्तार किया जा सकता था, तथा उसे तब तक बन्दी रखा जाता था जब तक कि उसके सगे-सम्बन्धी उसका लगान अदा न कर दें। इसके अतिरिक्त लगान नकद नहीं किन्तु माल के रूप में चुकाया जाता था और उसकी वसूली, तैयार फसल का बंटवारा करके होती थी। निस्सन्देह यह तरीका अपरिष्कृत और कष्टदायक था। कम्पनी की सरकार ने इसके बदले एक अधिक आसान और उपयोगी तरीका यह अपनाया कि जो व्यक्ति लगान न दे सके, उसकी जमीन बेच दी जाए। सिद्धान्ततः यह तरीका निर्दोष था, क्योंकि इसमें यह भी सम्भव था कि यदि कोई मालिक यह देखता कि उसे अपनी जमीन से लाभ नहीं हो रहा है तो वह अपने हित के लिए उस जमीन से अपना पिण्ड छुड़ा सकता था, किन्तु वास्तविकता यह थी कि हर व्यक्ति को 'अपनी भूमि से निरपेक्ष प्यार था'. चाहे उससे उसे कितना ही कम लाभ क्यों न हो तथा उसके हित भी वैसे ही थे जैसे कि उसके अन्य ग्राम-वासी कृषकों के, और जो अक्सर उसके बन्धु-बांधव ही होते थे। भूमि हाथ से निकल जाने से न केवल उसे आर्थिक हानि ही होती थी, बलिक उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा को भी ठेस पहुंचती थी। यदि उचित लगान लिया जाता तो विक्रय-कानून के अन्तर्गत इतनी जमीनें न बिकतीं। सरकार ने लगान तय करने के उचित कानून बनाए थे और यदि उनका भली-भांति पालन होता तो कोई कठिनाई उत्पन्न न होती। किन्तु मथुरा के कलक्टर थार्नहिल का कहना है, "यह पता चला कि इन निर्देशों का अत्यन्त अस्पष्ट ढंग से पालन करने के कारण तरक्की रुक गई। राजस्व तय करने का कार्य उन नवयुवक अफसरों को सौंपा गया जिनका सारा भविष्य उनके सामने था। इसलिए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि राजस्व की ऐसी राशि निश्चित की गई जिसे बहुत देर तक चुका सकना जमींदारों के लिए सम्भव न था। फसल अच्छी होती तो जमींदारों को थोड़ा-सा लाभ होता था, फसल खराब हो जाती तो वे बरबाद हो जाते थे।[५२] बदायूं के मजिस्ट्रेट और कलक्टर विलियम एडवर्ड्स ने भी इसी मत की पुष्टि की है। विद्रोह के समय उसके एक दोस्त जमींदार हरदेव बख्श और उसके रिश्तेदारों ने उसे शरण दी थी और उनमें से एक ने बताया था कि सरकार की मांग पूरी करना उनके लिए कितना कठिन होता है। "बूढ़े कसूरी ने मुझे बताया कि केवल याचिकाओं के लिए ही वह एक हजार रुपये दे चुका है, जिसमें से एक पाई भी क्रिश्चियन (सीतापुर के कमिश्नर) तक नहीं पहुंच सकी है और उसके छः हजार से अधिक रुपये रिश्वत में खर्च हो चुके हैं, और यह सब होते हुए भी पुश्त दर पुश्त तथा उसके अपने द्वारा जोते गांव उसके हाथ से निकल गए और जो गांव उसके पास बचे भी रह गए, उनका इतना अधिक लगान तय किया गया कि पिछले साल लगभग चुकाने के लिए उसे अपने घर के जवाहरात तथा अपनी एक प्रिय घोड़ी बेचनी पड़ी; और इस वर्ष, यदि सौभाग्यवश बलवा न होता, तो वह निस्सन्देह लगान न दे पाता और उसकी जमीन बिक जाती।"[५३] क्रिश्चियन

५२. थार्नहिल, दि पर्सनल एडवेंचर्स एण्ड एक्सपीरियन्सेज़ आफ़ ए मैजिस्ट्रेट ड्यूरिंग दि राइज़, प्रोगेस एण्ड सुप्रेशन आफ़ दि इंडियन म्यूटिनी, पृ० ३३

५३. एडवर्ड्स : पर्सनल एडवेंचर्स ड्यूरिंग दि इंडियन रिबेलियन इन रुहेलखण्ड,

एक लोकप्रिय कमिश्नर था। वह अधिक लगान तय करने की बुराइयों से भली-भांति परिचित था, किन्तु उसके सीतापुर क्षेत्र में भी मालिकों की स्थिति इतनी खराब हो गई थी कि अपने पुरखों की अवशिष्ट सम्पत्ति बचाने के लिए उन्हें अपने जवाहरात तक बेचने पड़े। जब विद्रोह हुआ तो उनमें से अनेक ने सन्तोष और आराम की सांस ली। बड़े मालिकों तथा ताल्लुकेदारों को उनके अधिकांश अधिकारों से वंचित कर दिया गया। वे अब तक जो राजस्व पाते थे, उसके बदले में उन्हें जीवन भर के लिए वार्षिक रकम बांध दी गई।[५४] दोनों ही वर्गों की इससे अत्यधिक हानि हुई। जमींदारों की सम्पत्ति बनियों द्वारा खरीद ली गई और, थार्नहिल के शब्दों में, ताल्लुकेदार इस अपहरण द्वारा "राजाओं और सामन्तों की स्थिति से घट कर जीवन भर के लिए पेंशनयाफ्ता हो गए।" इसलिए विप्लव के समय जब सरकार निष्क्रिय हो गई तो देहाती क्षेत्रों में शान्ति और व्यवस्था रखने वाला कोई न रहा। इस नई प्रथा से केवल बनियों को लाभ हुआ और वे सभी की घृणा के पात्र थे।

सहारनपुर के मजिस्ट्रेट राबर्टसन ने लिखा है, "किसान हमारे शासन से इसलिए घृणा करते हैं कि दुनिया में सबसे ज्यादा बेईमान साहूकार वर्ग को मासूम और लापरवाह किसानों का खून चूसने की सुविधाएं दी गई हैं।" "मैंने यह अनुभव किया कि हम से सबसे अधिक घृणा छोटे-छोटे जमींदार करते थे जिनकी सम्पत्ति का अपहरण बनियों ने हमारी अदालतों के जरिए किया था।"[५५]

किन्तु अपने पुरखों का धन्धा गंवा देने वाले केवल जमींदार और ताल्लुकेदार ही नहीं थे। नए विक्रय-कानून के कारण किसानों को भी वैसी ही कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। वे हमेशा कर्ज में डूबे रहते थे और बनिया, जो कि गांव का साहूकार था, अपने धन्धे में ईमानदारी नहीं बरतता था। उसने ब्याज लेने का नियम बना रखा था तथा वह धोखा-धड़ी करने से कभी चूकता नहीं था। पहले इन अपढ़ कर्जदारों की रक्षा उन के सामन्त मालिक करते थे; किन्तु नए कानून के अनुसार ऋण न चुकाने पर जमीन बेच दी जाती थी और जमीन हाथ से निकल जाने पर किसान व्यवसाय विहीन हो जाता था। वंचित किसान और वंचित जमींदार के संयुक्त होने का कारण केवल यही न था कि दोनों एक जैसी मुसीबत में फंसे थे, बल्कि उनमें एक-दूसरे के लिए परस्पर सुरक्षा तथा वफादारी

फतेहगढ़, एण्ड अवध, पृ० १६७

५४. इस प्रकार की जब्तियां केवल उत्तर-पश्चिमी प्रान्त में ही नहीं की गईं। सर ह्यू-रोज़ के साथ मध्यप्रदेश में कार्य करने वाले डा० लो ने लिखा है, "जब्ती पर जब्ती की गई जिससे लोगों की चिरकाल से दबी हुई भावनाएं इतनी अधिक उत्तेजित हो गईं कि उनका दमन करना कठिन था।" एक वृद्ध ग्रामीण ने डा० लो को बताया, "साहब, जंगल, पेड़, नदियां, कुएं, सारे गांव और सारे तीर्थ-नगर सरकार के हैं, उसने सब कुछ ले लिया है—सब चीज़—बहुत ठीक, हम कर ही क्या सकते हैं?" सेंट्रल इण्डिया ड्यूरिंग दि रिबेलियन आफ़ १८५७ एण्ड १८५८, पृ० ३२६-३२७

५५. राबर्टसन, डिस्ट्रिक्ट ड्यूटीज़ ड्यूरिंग दि रिवोल्ट इन दि नार्थ-वेस्ट प्राविन्सेज़ आफ़ इण्डिया इन १८५७, पृ० १३५, १३७

की सामन्ती भावना भी थी। जमींदार अपने गांव में रहता था और यद्यपि किसान के साथ वह अक्सर बुरा बरताव करता था किन्तु मुसीबत के समय सहायता के लिए किसान अपने मालिक पर ही निर्भर रहता था। बनिया एक बाहरी आदमी था। वह किसान की जमीन और स्वामित्व के अधिकार इसलिए खरीद लेता था कि उससे उसे संभवतः आर्थिक लाभ हो। अतएव बनियों और किसानों के बीच किसी भी प्रकार के स्नेह या वफादारी का सम्बन्ध साधारणतया सम्भव नहीं था और किसान अभी भी अपने सामन्ती मालिक के पक्षपाती थे।[५६]

यहां तक कि पासी को भी, जो गांव का परम्परागत रूप से चौकीदार था, सरकार के विरुद्ध शिकायत थी, क्योंकि किसानों और जमींदारों की तरह उसका भी पुश्तैनी व्यवसाय उससे छीन लिया गया था। बिरजिस कादर ने एक घोषणा की थी कि "पासियों को यह मालूम हो जाना चाहिए कि हर गांव और शहर की रखवाली करना उनका पुश्तैनी पेशा है, किन्तु अंग्रेज उनकी जगह बरकन्दाजों की नियुक्ति करते हैं और इस प्रकार पासियों को उनकी जीविका से वंचित किया जाता है।"[५७] इस प्रकार गांवों का आर्थिक ढांचा अव्यवस्थित कर दिया गया और अंग्रेजों के सुधार के उत्साह ने एक सामाजिक क्रांति आरम्भ की जिसके कारण जीवन के हर क्षेत्र में व्यापक असंतोष और परेशानियां फैलीं। समय के व्यवधान और शिक्षा के कारण संभवतः क्षतिग्रस्त लोग अपनी क्षति भूल जाते, किन्तु उनकी दृष्टि में नई व्यवस्था में एक भी गुण नहीं था। जब उपद्रव आरम्भ हुए, सीतापुर के कमिश्नर जी० जे० क्रिश्चियन ने रेक्स को लिखा: "ग्राम्य प्रथा की, जो सब लोगों को उनकी गरीबी में बराबरकर देती है, अब उपद्रवग्रस्त जिलों में परीक्षा हो रही है तथा वहां एक भी ऐसा प्रभावशाली आदमी नहीं है, जिस पर सरकार भरोसा कर सके। उनकी सेना भी वैसी ही है, उसमें कोई भी व्यक्ति भद्र नहीं है, सैनिक ओहदे को छोड़ उसमें कोई अन्तर नहीं है।"[५८]

नए कानून और कानूनी प्रणाली के कारण न केवल एक ऐसा गरीब वर्ग अस्तित्व

---

५६. एडवर्ड्स ने इस बात का उल्लेख किया है कि जब सरकार की ही सेना ने उसकी सत्ता को चुनौती दी तो किस प्रकार बनिये की बेईमानी और लोगों में उसकी अप्रियता सरकार के विरुद्ध पड़ी। "उच्च एवं प्रभावशाली घरानों की बहुत-सी जायदादें चालाकी या मक्कारी से आंशिक रूप में अथवा पूर्णतः हड़प ली गई हैं और उन्हें नए आदमियों ने खरीद लिया है जो मुख्यतः व्यापारी हैं या सरकारी अफसर हैं और जो चरित्रहीन हैं और जिनका अपनी रिआया पर कोई प्रभाव नहीं है।" एडवर्ड्स के कथनानुसार रिआया, जिस पर पुराने मालिकों का पुश्तैनी प्रभाव था, इन लोगों को अप-प्रवेष्टा समझती थी। अपनी खोई हुई जायदादें पुनः प्राप्त करने के लिए किसान अपने पुराने सामन्ती प्रभुओं का साथ देने के लिए तैयार थे। पर्सनल एडवेंचर्स ड्यूरिंग दि इण्डियन रिबेलियन इन रुहेलखण्ड, फतेहगढ़ एण्ड अवध, पृ० १२-१३

५७. खान बहादुर खां के कागजात में उपलब्ध एक छपी हुई घोषणा, फ़ारेन सीक्रेट कन्सल्टेशन्स, सं० ६६, २५ जून, १८५८

५८. रेक्स, नोट्स आन दि रिवोल्ट इन दि नार्थ-वेस्टर्न प्राविन्सेज़ आफ इण्डिया, पृ० २२

में आया जिसने यह अनुभव किया कि वह सामान्य अराजकता और अव्यवस्था के जरिए अपने अधिकार (ऐसा वह सोचता था) फिर प्राप्त कर सकता है बल्कि इसके फलस्वरूप जो गरीबी बढ़ी उसकी भी व्याख्या इस रूप में की गई कि वह भी ईसाई धर्मप्रचारकों की धर्म परिवर्तन कराने की निश्चित नीति का ही एक अंग थी। सर सैयद अहमद का कथन है कि १८३७ के अकाल में भूखे अनाथों को अन्न तथा आश्रय दिया गया और बाद में उन्हें ईसाई बना लिया गया और इससे लोगों को यह संदेह हुआ कि सरकार पहले सारी जनता को गरीब बना देना चाहती है जिससे बाद में उनका धर्म परिवर्तन किया जा सके। उन्होंने लिखा है, "अन्त में हिन्दुस्तानियों की यह सोचने की आदत हो गई थी कि सारे कानून इसलिए बनाए गए हैं कि जिससे उन्हें भ्रष्ट और बरबाद किया जा सके तथा उनका और उनकी जाति का धर्म परिवर्तन कराया जा सके।"[५९]

यही भावना आज़मगढ़ के विद्रोहियों के नाम से जारी की गई एक घोषणा में व्यक्त की गई जिसमें यह कहा गया था कि समस्त भारतीय, काफ़िर अंग्रेज़ों के विरुद्ध विद्रोह करें जिनका एकमात्र उद्देश्य उन्हें बरबाद करना है। जमींदारों से कहा गया था कि "यह भली-भांति मालूम है कि अंग्रेज़ भूमि का अत्यधिक लगान तय करते हैं और तुम्हारी तबाही का कारण यही बात है। इसके अतिरिक्त जब एक नीच मजदूर या नौकर या नौकरानी द्वारा तुम्हारे विरुद्ध मुकदमा दायर किया जाता है, तो तुम बिना किसी जांच के अंग्रेज़ों की अदालत में बुलाए जाते हो और इस प्रकार तुम्हारा अपमान होता है और तुम्हें नीचा दिखाया जाता है और जब तुम्हें उनकी अदालत में मुकदमा दायर करना होता है, तो तुम से टिकट वाला कागज (स्टाम्प पेपर) लिखाकर, खरचा कराया जाता है, और तुम्हें अदालत का शुल्क देना पड़ता है, जो तुम्हें तबाह कर देता है। इसके अतिरिक्त सड़कों और स्कूलों के लिए भी तुम्हें पैसा देना पड़ता है।" व्यापारियों को यह स्मरण दिलाया गया, "तुम्हें भी यह अच्छी तरह मालूम है कि काफ़िर अंग्रेज़ों ने तुमसे नील, अफीम, कपड़ा आदि जैसे मुनाफे के व्यापार छीनकर उन पर एकाधिपत्य जमा लिया है और तुम्हारे लिए कम लाभदायक व्यापार छोड़ दिए हैं, और जब तुम उनकी अदालत का आश्रय लेने को बाध्य होते हो तो तुम्हें स्टाम्प पेपर और अदालत का शुल्क देना पड़ता है। इसके अतिरिक्त वे जनता से भी डाक के टिकट और स्कूल-फंड के रूप में पैसा वसूल करते हैं और जमींदारों की तरह तुम्हें भी अदालत में बुलाकर अपमानित किया जाता है और नीच तथा छोटे लोगों की गवाही पर तुम्हें सजा दी जाती है या तुम पर जुर्माना किया जाता है।" अफसरों से भी यह कहा गया कि उन्हें भी यह बात भली-भांति मालूम है कि "नागरिक और सैनिक विभागों में सारे कम वेतन के और कम प्रतिष्ठित पद भारतीयों को दिए जाते हैं और अधिक वेतन वाले तथा ऊंचे पद यूरोपियों को मिलते हैं। उदाहरण के लिए, सेना में कोई भारतीय अधिक से अधिक सूबेदार ही हो सकता है, जिसका मासिक वेतन ६० या ७० रुपये है और नागरिक विभाग में वह हद से हद एक सदर अमीन हो सकता है जिसका वेतन ५०० रुपये है तथा जागीरें, इनाम, माफ़ी आदि भी नहीं दिए जाते हैं।" कारीगरों को भी यह ज्ञात था कि "यूरोपीय

५९. अहमद, दि काज़ेज़ आफ़ दि इंडियन रिवोल्ट, पृ० १४

हर प्रकार की सामग्री यूरोप से मंगाते हैं और तुम्हारे पास अब सीमित व्यापार ही रह गया है।" और अन्त में "हिन्दू और मुसलमान, दोनों धर्मों के विद्वानों (मौलवियों और पंडितों)" से कहा गया कि उन्हें यह नहीं भूलना चाहिए कि अंग्रेज़ तुम्हारे धर्म के विरुद्ध हैं", "तुम्हें हमारे साथ मिल जाना चाहिए तथा ईश्वर का आशीर्वाद प्राप्त करना चाहिए अन्यथा तुम 'पापी' माने जाओगे।"[६०]

केवल राजाओं को छोड़ दिया गया था किन्तु उन्हें भी बरबादी और सत्यानाश की धमकी दी गई थी। १८४९ में पंजाब को ब्रिटिश राज्य में शामिल कर लिया गया हालांकि वहां का बालक-राजा ईस्ट इंडिया कम्पनी के संरक्षण में था तथा वह मुलतान विद्रोह—जिसकी अंतिम परिणति द्वितीय सिख युद्ध में हुई—के लिए व्यक्तिगत रूप से जिम्मेदार न था। सतारा, झांसी और तंजोर की छोटी-छोटी रियासतें इसलिए अधिकार में कर ली गईं कि उनके राजवंशों में कोई असली उत्तराधिकारी न था। पेशवा के प्रदेशों को मिला लेने के बाद सतारा की अमलदारी स्थापित की गई थी जिससे कि मराठों की महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए उचित अवसर मिल सके। इस छोटी-सी रियासत में प्राचीन समृद्ध घरानों के लोग अभी भी सरकार के नागरिक एवं सैनिक विभागों में उच्च पद प्राप्त करने की आशा कर सकते थे। झांसी के शासकों की शाही स्थिति कम्पनी की कृपा के कारण ही बनी हुई थी और कई बार एक सन्तानहीन भाई के बाद दूसरे भाई को उसका उत्तराधिकारी बनाया गया था। कई वर्षों से तंजोर भी अधीनता स्वीकार करने वाला मित्र राज्य था। यहां का राजकीय घराना मराठा था। केवल इन्हीं मराठा रियासतों को समाप्त किया गया हो, ऐसी बात नहीं थी। नागपुर का अन्तिम शासक भी निस्सन्तान मर गया था और ऐसी स्थिति में डाक्ट्रिन आफ़ लैप्स के अनुसार उसकी रियासत भी कम्पनी के राज्य में मिला ली गई। न केवल इस सिद्धान्त से, बल्कि जिस प्रकार यह सिद्धान्त इस मामले में लागू किया गया, उससे जनता की भावनाओं को बड़ी ठेस पहुंची। राजकीय घराने की स्त्रियों के विरोध के बावजूद "भोंसलों के हाथी-घोड़े और अन्य सामान नीलामी के लिए भेज दिया गया। सीताबर्डी में जानवरों का क्रय-विक्रय करने वालों के लिए वह दिन बहुत बढ़िया रहा होगा जबकि शाही हाथी, घोड़े और बैल कौड़ियों के दाम बेच दिए गए और शाही घराने में वह दिन निस्संदेह बड़ा शोकजनक रहा होगा जबकि समझदार एवं संयत ८० वर्ष की आदरणीया बंका बाई अपने इस अपमान से इतनी अधिक आहत हुई कि उसने यह धमकी दी कि यदि राजमहल से फर्नीचर हटाया गया तो वह राजमहल में आग लगा देगी। किन्तु फर्नीचर तो वहां से उठा ही लिया गया और भोंसला परिवार के अधिकांश जेवरात कलकत्ते के बाजार में भेज दिए गए। मैंने यह कहते सुना है कि राज्य को हथिया लेने की अपेक्षा, इन चीजों के हथिया लेने और उनकी बिक्री से न केवल बरार में किन्तु आस-पास के प्रान्तों में भी बहुत ही बुरा असर पड़ा।"[६१]

सम्बलपुर की एक छोटी-सी अमलदारी थी जो कभी नागपुर का आधिपत्य

---

६०. फ़ारेन पोलिटिकल कन्सलटेशन्स, सं० १६७, ८ अक्तूबर, १८५८

६१. के, ए हिस्टरी आफ़ दि सिपाय वार, प्रथम खण्ड, पृ० ८३-८४

मानती थी। उसे पहले ही ब्रिटिश अधिकार में ले लिया गया था। मुर्शिदाबाद के नवाबों की तरह, कर्नाटक के नवाब भी बहुत पहले से ही अपनी रियासतों के शासक नहीं रहे थे। किन्तु १८५४ में तो उनकी उपाधि भी समाप्त कर दी गई और एक साल बाद तंजोर के हिन्दू राजा की भी यही हालत हुई। इस प्रकार रियासतें हथियाने के सिद्धान्त के औचित्य पर विचार करना निरर्थक है। करौली की राजपूत रियासत पर यह सिद्धान्त लागू नहीं किया गया और विभिन्न रियासतों के बीच भेद किया गया: एक वे रियासतें जिनका निर्माण अंग्रेज़ों ने नहीं किया था, दूसरी वे जिनका निर्माण अंग्रेज़ों ने किया था, जैसे सतारा और झांसी। जब भी कोई उपयुक्त अवसर उपस्थित होता, डलहौज़ी रियासतों को अंग्रेज़ी शासन में सम्मिलित करने को उत्सुक रहता और इस समस्या के बारे में उसकी भावना उसके अन्य अधिक अनुदार सहयोगियों से भिन्न थी। उसका उद्देश्य बुरा था, यह सिद्ध कर सकना कठिन है और रियासतें शामिल करने की उसकी नीति से निस्संदेह भारत की राजनीतिक एकता को बल मिला, जिससे आगे चल कर भारतीय राष्ट्रीयता की नींव पड़ी, हालांकि डलहौज़ी का उद्देश्य भारतीय राष्ट्रीयता का विकास करना नहीं था। किन्तु डलहौज़ी के उदार साम्राज्य-प्रसार की प्रतिक्रिया बहुत बुरी हुई। झांसी की रानी यह मानने को तैयार नहीं थी कि उसकी रियासत अन्तिम रूप से साम्राज्य में शामिल कर ली गई और अब वह उससे अलग नहीं हो सकती। वह उच्चतम सरकार को इस सम्बन्ध में बार-बार लिखती रही। रंगो बापूजी सतारा के मामले की पैरवी करने लन्दन गए। सम्बलपुर परिवार के प्रतिनिधि कम पैसे वाले तथा कम विनयी थे। उन्होंने सशस्त्र विद्रोह कर दिया। किन्तु कर्नाटक और तंजोर के साथ जो अन्याय हुआ, उससे भारतीयों को सबसे अधिक धक्का लगा तथा घोर आश्चर्य हुआ। नागपुर के घराने ने अंग्रेज़ी सत्ता की स्पष्ट रूप से अवहेलना की थी और कई बार अंग्रेज़ों को युद्ध के लिए चुनौती दी थी। किन्तु तंजोर और कर्नाटक के राजा हमेशा वफादार रहे और उन्होंने अंग्रेज़ों की बात हमेशा मानी। तथापि उनका भी अंत वैसा ही हुआ जैसा अन्य रियासतों का, और भारतीयों को यह देखकर चिन्ता हुई कि दोस्त और दुश्मन, दोनों का एक जैसा हाल हुआ। १८५६ में अवध पर अधिकार कर लेने के बाद, अंग्रेज़ों की भलमनसाहत में बचा-खुचा विश्वास भी पूरी तरह से जाता रहा।

यह सिद्ध करना कदाचित् असम्भव या कठिन नहीं है कि इन रियासतों को अंग्रेज़ी साम्राज्य में शामिल कर के अंग्रेज़ों ने एक उचित कार्य ही किया, किन्तु इसकी जिम्मेदारी डलहौज़ी पर ही नहीं, बलिक नियन्त्रण बोर्ड (बोर्ड आफ़ कन्ट्रोल) और कोर्ट के डायरेक्टरों पर भी थी क्योंकि असहमत अल्पसंख्यकों की युक्तियों पर पर्याप्त विचार-विमर्श करने के पश्चात् जब उनके बहुमत ने इस अप्रिय कार्य की स्वीकृति दी थी, तभी यह कार्य किया गया था। अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि प्रतिरोध न करने वाले मित्र के प्रदेशों को अंग्रेज़ी राज्य में शामिल करने की नीति अपनाते समय शासितों की भलाई के सिद्धान्त पर पूरी तरह से विचार नहीं किया गया था। असल में यदि राजा ने निर्विरोध समर्पण न किया होता, तो प्रदेश अधिकृत करने वाले अधिकारियों की स्थिति काफी सुदृढ़ हो गई होती। किन्तु यदि वह एक ओर शक्ति का विरोध शक्ति से करने को तैयार नहीं

था, तो दूसरी ओर स्वेच्छया अपने अधिकारों का समर्पण करने को भी वह तैयार नहीं था। अपनी कमज़ोरी के कारण उसने अपना राज्य खो दिया किन्तु प्रजा की सहानुभूति उसे मिली। मुहम्मद हसन ने उसके लिए लड़ने का वायदा किया और धारूपुर का हनुमन्त-सिंह अभी भी उसे अपना कानूनी स्वामी मानता था हालांकि जब अंग्रेज़ शरणार्थियों ने उनकी शरण मांगी, तो दोनों ने उदारतापूर्वक उनका आतिथ्य-सत्कार किया। यहां तक कि कम्पनी की सरकार के सबसे वफादार नौकर भी इतने स्पष्ट अन्यायपूर्ण कार्य का समर्थन नहीं कर सकते थे।

सीताराम का यह मत था कि राज्य हड़पने की इस नीति के कारण, ताल्लुकेदार और मुखिया सरकार से रुष्ट हैं। उनका कहना था, "सरकार ने नीचता की है और नवाब पर अत्याचार किया है।"[६२] हिदायत अली अधिक स्पष्टवादी था। उसने लिखा है, "जिस समय राज्य को अंग्रेज़ी राज में शामिल किया गया, उस समय सारे हिन्दुस्तान में यह चर्चा थी कि अंग्रेज़ सरकार ने अवध के शासक से यह वायदा किया था (मैं समझता हूं कि इस प्रकार का कोई समझौता था) कि अवध का राज्य कभी भी अंग्रेज़ों द्वारा नहीं मिलाया जाएगा, क्योंकि पीछे कभी अवध के राजाओं ने अंग्रेज़ी सरकार की बड़ी सहायता की थी।" "इसी प्रकार हिन्दुस्तानी यह कहते थे कि 'अवध का शासक उनका मालिक है। और उसने अपने राज्य में भला किया हो या बुरा, उसने कम से कम अंग्रेज़ों के साथ तो किसी तरह का विश्वासघात नहीं किया।' यदि अंग्रेज़ी सरकार अपने प्रति सदा वफादार रहने वाले राजा को सिंहासनच्युत करती है, तो फिर कौन-सा स्वतन्त्र नवाब या राजा सुरक्षित है?"[६३] यहां तक कि अंग्रेज़ नर-नारी भी इस कारण अपने आप को दोषी अनुभव करते थे तथा जब लखनऊ में उन्हें घेर लिया गया, तो उन्होंने इसी अनुचित कार्य को अपने इस दुर्भाग्य का कारण माना। श्रीमती हैरिस लिखती है, "...आज रात के भोजन के समय...बता रहे थे कि अवध को अंग्रेज़ी राज्य में शामिल करके कितना बड़ा अन्याय किया गया है तथा उनके विचार में हम अब जो यातना भोग रहे हैं, वह हमारे राष्ट्र के लिए उचित दंड है क्योंकि हमने भारत पर हथियाने की भावना से शासन किया है। अवध का अपहरण हमारे अपने लाभ एवं उत्कर्ष के लिए किए गए स्वार्थपूर्ण कार्यों की पराकाष्ठा है।"[६४]

ऐसा माना जाता है कि बंगाल की सेना में उच्च वर्ण के ब्राह्मणों और राजपूतों की भरती के कारण विद्रोह हुआ, किन्तु जैसा कि कर्नल हंटर ने कहा है, यह विद्रोह जाति के कारण नहीं हुआ। संथाल जातिहीन होते हैं, भीलों में भी जातिभेद नहीं होता, किन्तु कुछ क्षेत्रों में वे भी विद्रोही सिपाहियों के साथ मिल गए। निम्न वर्ण के सफरमैना सैनिकों ने भी मेरठ में सशस्त्र विद्रोह कर दिया। धार्मिक युद्ध में उच्च वर्ण के ब्राह्मण की तरह निम्न वर्ण के पासी भी सम्मिलित थे। अंग्रेज़ों ने ऐसे अनेक कानूनी और प्रशासकीय उपाय बरते जिनका उद्देश्य तो अच्छा था किन्तु उनका परिणाम क्या होगा, यह नहीं सोचा गया। परिणामतः

६२. फ्राम सिपाय टु सूबेदार, पृ० ११२
६३. गब्बिन्स, दि म्यूटिनीज़ इन अवध, परिशिष्ट १२, पृ० ५५७-५५८
६४. हैरिस, ए लेडीज़ डायरी आफ़ दि सीज आफ़ लखनऊ, पृ० ६०

अविश्वास एवं सन्देह का वातावरण पैदा हो गया जिससे सरकार के इरादों पर सिपाही का विश्वास नहीं रहा और बाद में जितने भी गवर्नर-जनरल आए, उन्होंने अनजाने में ऐसे कार्य किए जिनसे जनता का विश्वास सरकार से उठता चला गया। साधारणतया, लार्ड डलहौजी को ही विद्रोह का जिम्मेदार माना जाता है, किन्तु उसका एक भी कार्य ऐसा नहीं था जिससे विद्रोह हो सकता हो। लार्ड विलियम बेंटिक, लार्ड एमहर्स्ट, लार्ड आक्लैंड तथा लार्ड एलनबरों में से प्रत्येक ने कोई न कोई ऐसा कार्य किया जिससे भारत के रूढ़िवादियों को चोट पहुंची या जनता के अत्यन्त प्रिय प्राचीन अधिकारों में हस्तक्षेप किया गया। विदेशी सरकार का आधार जन-भक्ति नहीं, उसका सैन्य बल था। सिपाही ने अनुभव किया कि उसी की शक्ति पर अंग्रेजी सरकार यहां टिकी हुई है और वह जब चाहे तब इसे उलट सकता है। वह अब तक अंग्रेजों के प्रति वफादार रहा था, किन्तु जब उसने यह अनुभव किया कि अंग्रेजों का उद्देश्य तो उसके पुरखों का धर्म ही छीन लेना है, तब तो उसकी वफादारी की जड़ें ही हिल गईं। अशिक्षित भारतीयों और सरकार के बीच की खाई शिक्षित भारतीय पाट सकते थे, किन्तु सरकार उन पर विश्वास नहीं करती थी। उनकी संख्या बहुत थोड़ी थी और ग्रामीण जनता से उनका बहुत कम सम्पर्क था। इसके अतिरिक्त, रूढ़िवादी लोग उनके रहन-सहन के ढंग के कारण उनसे उतने ही नाराज थे, जितने ईसाई शासकों से। यदि कुछ शिक्षित भारतीय उच्च पदों पर नियुक्त भी होते, तो भी इसमें सन्देह है कि वे विद्रोह को रोक पाते। विद्रोह की आग तो बहुत दिनों से सुलग रही थी, चर्बी लगे कारतूस ने तो उसे केवल भड़काया।

अध्याय २

प्रारम्भ

किसी भी सेना का नवीनतम शस्त्रों से लैस होना आवश्यक है। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक ब्राउन बेस, सिपाहियों की प्रिय बंदूक थी। १८५२ में आर्डनेंस के मास्टर जनरल वाइकाउन्ट हार्डिंग के आदेश पर इनफील्ड राइफल में नए प्रयोग किए गए और नई राइफल में नवीनतम सुधार किए गए। १८५३ में क्रीमिया युद्ध में उसका प्रयोग किया गया और वह काफी उपयोगी सिद्ध हुई। १८५६ में भारत में उसका प्रयोग आरम्भ किया गया। राइफल के साथ-साथ इंग्लैण्ड से ग्रीज लगे कारतूस भी आए और भारत की सेनाओं के लिए इन कारतूसों का निर्माण, कलकत्ता, दमदम और मेरठ में भी होने लगा। कुछ चुने हुए सैनिक उन्नत किस्म के शस्त्रों का प्रयोग सीखने के लिए दमदम, अम्बाला और स्यालकोट के प्रशिक्षण केन्द्रों में भेजे गए। यहां तक तो कोई विशेष घटना नहीं घटी। मगर एक दिन दमदम में निम्न वर्ण के एक सैनिक ने एक उच्च वर्ण ब्राह्मण को बताया कि उक्त ग्रीज में एक अत्यन्त आपत्तिजनक पशु की चर्बी मिली हुई है। यह खबर आग की तरह फैल गई और सिपाहियों में आतंक छा गया। कलकत्ते की धर्मसभा में यह खबर पहुंची और सबको चेतावनी दे दी गई। अंग्रेज अफसरों को भी यह बात बहुत जल्द मालूम हो गई।

२२ जनवरी, १८५७ को लेफ्टिनेंट राइट ने इस अफवाह की खबर मेजर बोन्टीन को दी, जो दमदम की मस्केटरी (चांदमारी) डिपो का संचालन कर रहे थे। दूसरे दिन मेजर बोन्टीन ने अपने बड़े अफसर को लिखा, "मैंने कल शाम डिपो के सारे भारतीय सैनिकों की परेड कराई और उनसे कहा कि यदि उन्हें कोई शिकायत हो तो उसे बताएं। भारतीय सेना के लगभग दो-तिहाई लोग सामने आए जिनमें कमीशनप्राप्त सभी भारतीय अफसर भी थे। बड़े ही विनम्र किन्तु स्पष्ट शब्दों में उन्होंने कहा कि नई राइफल के लिए जिस ढंग से कारतूस तैयार किए जाते हैं, वह उन्हें पसन्द नहीं है। कारतूसों पर ग्रीज लगाने के लिए जिस मिश्रण का उपयोग किया जाता है, वह उनकी धार्मिक भावना के प्रतिकूल है और उन्होंने यह सुझाया कि इसके बदले मोम और तेल का ऐसे अनुपात में प्रयोग किया जाए कि उक्त मिश्रण का उद्देश्य पूरा हो जाए।"[1] यह स्पष्ट है कि इससे सिपाही भयभीत हो गए किन्तु उन्होंने कोई हिंसक उपाय नहीं बरता। उन्होंने बड़ी शालीनता

१. पार्लियामेंटरी पेपर्स, जिल्द ३०, १८५७, पृष्ठ ३, लेटर टु कोर्ट, फरवरी ७, १८५७ का सहपत्र ६

के साथ बोन्टीन को यह बताया कि वे ग्रीज़ का प्रयोग क्यों नहीं कर सकते, तथा उसके बदले उन्होंने एक अन्य तरीका भी सुझाया। उस समय प्रचलित अफवाहों के अलावा ऐसा सन्देह करने के सिपाहियों के पास पर्याप्त कारण थे कि कारतूस में कुछ न कुछ खराबी अवश्य है, क्योंकि उसमें से ग्रीज़ की गंध आती थी। कर्नल कीथ यंग के नाम एक पत्र में स्वयं प्रधान सेनापति ने लिखा, "यह देखने के बाद कि कारतूसों पर कितना अधिक ग्रीज़ (जो वस्तुतः चर्बी है) लगाया जाता है, मैं सिपाहियों की आपत्ति पर विस्मित नहीं हुआ।"[२] यह पत्र २३ मार्च का था, किन्तु इसके पूर्व ही यह मालूम कर लिया गया था कि सिपाहियों का सन्देह निराधार नहीं है। फोर्ट विलियम के इन्स्पेक्टर जनरल आफ़ आर्डनेन्स कोई ऐसा आश्वासन नहीं दे सके जिससे यह सिद्ध हो जाता कि प्रयुक्त चर्बी आपत्तिजनक पशुओं की नहीं थी। २९ जनवरी को उन्होंने लिखा, "जैसे ही मैंने सुना कि ग्रीज़ के उपयोग पर दमदम डिपो के भारतीय सैनिकों को आपत्ति है, मैंने शस्त्रशाला में पूछताछ की कि मिश्रण कैसे तैयार किया जाता है और तब मुझे पता चला कि वह उन्हीं चीजों से बनाया जाता है जिनसे बनाने का आदेश कोर्ट के डायरेक्टरों ने दिया है, अर्थात् चर्बी और मोम से। इस प्रकार की कोई सावधानी नहीं बरती गई कि उसमें किसी आपत्तिजनक चर्बी का प्रयोग न किया जाए।"[३] यह दलील दी जाती है कि इस वक्तव्य से यह सिद्ध नहीं होता कि सचमुच गाय की चर्बी का प्रयोग किया गया, तथा मेरठ के ब्राह्मण छोकरों ने बिना किसी आपत्ति के ग्रीज़ का उपयोग किया था। किन्तु इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि ब्राह्मण लड़कों को यह मालूम था कि वे ग्रीज़ बनाने के लिए किस चीज़ का उपयोग कर रहे हैं। चर्बी और ग्रीज़ एक बंगाली ब्राह्मण ठेकेदार द्वारा सप्लाई किए गए थे। किन्तु उससे भी यह शक नहीं मिटता कि उसके नौकरों ने ही बाजार में उपलब्ध सबसे सस्ती सामग्री दे दी हो। यहां तक कि उस समय अंग्रेज़ों का भी विश्वास था कि उस बंगाली ठेकेदार ने आपत्तिजनक चर्बी दी होगी क्योंकि उसे ऐसा न करने का कोई विशेष निर्देश नहीं दिया गया था। २३ फरवरी को 'दि टाइम्स' के संवाददाता ने लिखा, "नई इनफील्ड राइफल के कारतूसों में एक सिरे पर ग्रीज़ लगाया जाता है ताकि उसकी नली में वे आसानी से अन्दर जा सकें। सरकार ने इस कार्य के लिए भेड़-बकरे की चर्बी इस्तेमाल करने का आदेश दिया था। कुछ ठेकेदारों ने, पैसे बचाने के लिए, उसके स्थान पर सूअर और बैल की चर्बी दी।"[४] शालिग्राम सिंह के मुकदमे में अभिसाक्ष्य देते हुए आर्डनेंस के इंस्पेक्टर जनरल ने केवल यह कहा था कि उसी चर्बी का प्रयोग किया गया जो ठेकेदार ने दी थी।[५] कुछ सिपाहियों ने

२. कीथ यंग, दिल्ली, १८५७, पृ० २

३. पार्लियामेंटरी पेपर्स, जिल्द ३०, १८५७, पृ० ७, लेटर टु कोर्ट, फरवरी ७, १८५७ का सहपत्र १५

४. इसका कोई प्रमाण नहीं कि सरकार ने भेड़-बकरे की चर्बी का आदेश दिया था

५. लेफ्टिनेंट क्यूरी ने भी यह अभिसाक्ष्य दिया कि "इस बात की कोई जांच नहीं की गई कि किस पशु की चर्बी इस्तेमाल की गई है।"

२४ मार्च को कीथ यंग ने कर्नल एच० बी० हैंडरसन को लिखा—"मेरा विश्वास

कलकत्ते के फोर्ट मेजर को सलाह दी कि यदि कारतूसों के निर्माण की जांच के लिए एक उच्च वर्ण हिन्दू और एक मुसलमान की नियुक्ति की जाए, तो उन्हें शिकायत नहीं रहेगी। मेजर को इसमें कोई आपत्ति नहीं थी क्योंकि इससे सशंक सिपाहियों का सन्देह दूर हो सकता था, और वह फौरन तैयार हो गया; किन्तु शस्त्रशाला के अधिकारी इससे सहमत नहीं थे और उन्होंने इस प्रकार की व्यवस्था पर आपत्ति की तथा वह आदेश रद्द कर दिया गया।[6] स्वभावतः सिपाहियों को यह शक हुआ कि उनके अफसर उनसे कोई रहस्य छिपा रहे हैं और इसीलिए फोर्ट मेजर तक की मान्य एक उचित सलाह स्वीकार करने से वे हिचकिचा रहे हैं।

वस्तुतः ग्रीज लगा कारतूस कोई नई चीज नहीं थी। १८५३ में प्रथम बार उसे बाहर से मंगाया गया था। उसे उपयोग के लिए नहीं, बल्कि यह देखने के लिए मंगाया गया था कि जलवायु का इस कारतूस पर क्या प्रभाव पड़ता है। उस समय कर्नल टकर ने सैनिक बोर्ड को चेतावनी दी थी कि यदि भारतीयों को यह कारतूस दिया गया तो उसके बुरे परिणाम निकल सकते हैं और उसने यह सुझाया था कि उक्त कारतूस केवल यूरोपीय सैनिकों को ही दिया जाए। किन्तु उसकी चेतावनी पर ध्यान नहीं दिया गया और भारतीय सिपाहियों को भी वह कारतूस दे दिया गया। यद्यपि यह ज्ञात नहीं है कि उस समय सिपाहियों को कारतूस के बारे में संदेह हुआ था या नहीं, तथापि कम से कम उस समय कोई उपद्रव नहीं हुआ। यदि सिपाहियों को मुख से कारतूस काटने के लिए बाध्य किया गया तो इस कारण उन्हें जिन सामाजिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा, उनके बारे में सिपाहियों ने १८५७ में वैधानिक ढंग से अपनी चिन्ता प्रकट की थी। सरकार को इस बात का फैसला करना था कि क्या सिपाहियों के भय के पीछे कोई सचाई है और यदि है तो क्या आपत्तिजनक कारतूस को उपयोग में लाने से रोक दिया जाए या इसके बदले सिपाहियों को अपना ग्रीज तैयार करने की अनुमति दे दी जाए, क्योंकि इसमें कोई सन्देह नहीं कि दमदम डिपो को गोला-बारूद दिया गया था। एबट ने लिखा है, "शस्त्रशाला में सर्वप्रथम तैयार किए गए अस्त्र-शस्त्र हर मेजेस्टी की ६०वीं राइफल टुकड़ी के लिए थे, जो कि ऐसा माना जाता था प्रेसिडेंसी में विदेश-सेवा के लिए आने वाली थी। यह संभव है कि इसमें से कुछ दमदम डिपो को दे दिए गए हों।"[7] दरअसल दोष आर्डनेंस विभाग का था क्योंकि उसने आपत्तिजनक चर्बी के

है कि इस खबर में कोई सच्चाई थी। मेरे विचार में प्रयुक्त चीज को छोटी भेड़ का मांस कहना उचित होगा।" कीथ यंग, उद्धृत ग्रन्थ में, पृ० ३

६. केवेने, रेमिनिसेन्सेज़ आफ़ एन इंडियन आफ़िशियल, पृ० २०३। यह भी स्मरणीय है कि ७ फरवरी, १८५७ के एक ज्ञापन में यह बताया गया था कि "यदि कारतूस को गर्म जलवायु में कुछ समय तक रखना है, तो उसे बनाते समय उसमें ग्रीज़ लगाने से कोई खास फायदा नहीं, क्योंकि सारा ग्रीज़ बहुत जल्दी कारतूस के कागज में लग जाता है।" पार्लियामेंटरी पेपर्स, जिल्द ३०, १८५७, पृ० ३

७. पार्लियामेंटरी पेपर्स, जिल्द ३०, १८५७, पृ० ७। लेटर टु कोर्ट फरवरी ७, १८५७ का सहपत्र सं० १५। कभी-कभी इस बात से इंकार किया गया है कि ग्रीज़ लगा कारतूस सिपाहियों

उपयोग के बारे में कोई सावधानी नहीं बरती। कर्नल टकर ने तीन वर्ष पूर्व जो चेतावनी दी थी, वह भुला दी गई।[८]

इस सम्बन्ध में सरकार ने बहुत जल्दी निर्णय कर लिया। जनरल हियर सेने, जो कि बैरकपुर में कमाण्डर था, सुझाया कि सिपाहियों को कारतूस पर अपनी इच्छानुसार ग्रीज लगाने की अनुमति दी जानी चाहिए और २८ जनवरी तक सरकार ने इस सुझाव को स्वीकृति दे दी थी। किन्तु लेफ्टिनेंट राइट की रिपोर्ट देने और कलकत्ते से सरकार का उत्तर प्राप्त करने के बीच के छः दिनों में सिपाही अधिकाधिक क्षुब्ध होते गए और खुले आम यह कहा गया कि सिपाही को भ्रष्ट करने तथा उसे ईसाई बनाने के लिए उसे अपवित्र कारतूस जान-बूझ कर दिया गया है। इसी बीच एडजुटेंट-जनरल को आदेश दिया गया कि वह इस बात का ध्यान रखे कि ग्रीज लगा कोई कारतूस मेरठ से जारी न किया जाए तथा वह अम्बाला और स्यालकोट के सिपाहियों को सूचित कर दे कि वे अपनी पसंद का ग्रीज लगा सकते हैं। यह भी फैसला किया गया कि प्रधान सेनापति एक सामान्य घोषणा द्वारा सेना को आश्वासन दे कि सिपाहियों को ग्रीज लगा कारतूस नहीं दिया जाएगा किन्तु एडजुटेंट-जनरल के विरोध के कारण ये निर्देश बदल दिए गए। एडजुटेंट-जनरल ने बताया कि मिनी राइफलों से लैस सिपाही कुछ समय से भेड़ की अनापत्तिजनक चर्बी लगी ग्रीज इस्तेमाल कर रहे हैं तथा उक्त घोषणा से वे यह समझेंगे कि अनजाने में उन्होंने कोई जाति विरोधी कार्य कर

को दिया गया था, किन्तु जिम्मेदार अंग्रेज़ अफसरों का भी विश्वास था कि वह दिया गया था। लेफ्टिनेंट करी ने अपनी गवाही में कहा, "यहां की शस्त्रशाला से कभी कोई कारतूस नहीं दिए गए; **किन्तु कुछ कारतूस दिल्ली और उत्तर भारत की डिपो में तथा दूर देश के प्रशिक्षण डिपो में भेजे गए हैं।**"(काले अक्षरों वाला वाक्य लेखक का है) २ मई को कीथ यंग ने कर्नल हेंडरसन को लिखा "इसमें कोई शक नहीं कि पहले इनफील्ड राइफल के कारतूस बाहर भेजे गए जिनमें बड़ी दुर्गंधित ग्रीज़ की बदबू आती थी।" कीथ यंग, उद्धृत ग्रन्थ में, पृ० ६-१०

शिमला से ४ मई को कर्नल चेस्टर ने भारत सरकार के सचिव के नाम जो पत्र लिखा, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सिपाहियों को नया कारतूस प्रेक्टिस डिपो में दिया गया था। उसने लिखा है, "प्रधान सेनापति का यह खयाल है कि राइट आनरेबल गवर्नर-जनरल-इन-काउन्सिल को यह जानकर संतोष होगा कि तीनों डिपुओं में प्रयोग आरंभ हो गया है और समस्त श्रेणियों के सिपाहियों ने बिना किसी हिचक के प्रसन्नता के साथ नए कारतूस का उपयोग किया है।" पार्लियामेंटरी पेपर्स, जिल्द ३०, १८५७, पृ० ३७० सं० १६ का सहपत्र सं० २२८

८. "यह देखकर आश्चर्य होता है कि कलकत्ते के अफसरों ने, जिन पर वे कारतूस जारी करने की जिम्मेदारी थी, यह नहीं सोचा कि हर प्रकार के पशुओं की चर्बी से बना वह पदार्थ, जो एक गंदा सम्मिश्रण था, समस्त भारतीय सैनिकों को चाहे वे हिन्दू हों या मुसलमान उत्तेजित कर देगा।" क्रेशे द्वारा उद्धृत टकर का पत्र, दि इमीडिएट काज़ आफ़ दि इंडियन म्यूटिनी, सरकारी पत्र-व्यवहार में जैसा उद्धृत किया गया है, पृ० ६। २० अगस्त, १८५७ के फ्रेंड आफ़ इंडिया का पृ० ८०१ भी देखिए

डाला है और सरकार ने जान-बूझ कर उनसे आपत्तिजनक चीजों का उपयोग कराया है।[९] अतएव इस दिशा में कुछ नहीं किया गया और सिपाही का संदेह बढ़ने दिया गया। यह एक बहुत बड़ी गलती थी क्योंकि मेरठ के सिपाहियों को यह कभी नहीं मालूम हुआ कि उन्हें उक्त दूषित कारतूस का उपयोग नहीं करना पड़ेगा।

इतने दिनों के बाद आज यह कह सकना कठिन हैं कि यदि कोई अन्य मार्ग अपनाया जाता तो उससे सिपाही संतुष्ट हो जाता। उसे विश्वसनीय स्रोतों से मालूम हुआ था कि ग्रीज में वह आपत्तिजनक चर्बी डाली जाती है जिसे छूना भी उसके धर्म में हराम है। यदि हिन्दुओं के लिए गो-मांस निषिद्ध था तो मुसलमानों के लिए सूअर का मांस, और अधिकारी इस बात का खंडन नहीं कर सके कि ग्रीज में उक्त चर्बियों का दूषित सम्मिश्रण नहीं है। ऐसी स्थिति में सबसे अच्छा और सीधा रास्ता तो यह था कि यह स्पष्टतः स्वीकार कर लिया जाता कि अनजाने में एक गलती हो गई है; किन्तु इससे यह संभव था कि लोगों का भय और बढ़ जाता और कम होने के बजाय तनाव अधिक हो जाता। एक अन्य उपाय यह था कि कुछ समय के लिए चांदमारी बन्द कर दी जाती। किन्तु अफसरों को भय था कि इससे कहीं ऐसा न हो कि सैनिकों में अनुशासनहीनता को बढ़ावा मिले और सैनिक अनुशासन भंग हो जाए। वस्तुतः मार्च में ही जनरल हियरसे को सूचित कर दिया गया कि "दमदम में चांदमारी के अभ्यास में कारतूस भरना बन्द कर दिया जाए। मेजर बोन्टीन......निर्देश के पूर्व भाग पर अमल जारी रखें जब तक कि उन्हें कारतूस भरने के बारे में प्रधान सेनापति से कोई आदेश न मिले।"[१०] किन्तु देर काफी हो चुकी थी। मार्टिन ने शिकायत की कि पहले जो रिआयत दी गई थी वह "देर से दी गई थी और अपर्याप्त थी।" "विवाद के कारण को एकदम और पूरी तरह से न हटाकर सरकार ने यह निश्चय किया कि डिपो में सिपाही जो सम्मिश्रण प्रयुक्त करना चाहें, उसकी उन्हें अनुमति दे दी जाए। किन्तु अन्य परिस्थितियों में विशेषतः युद्ध क्षेत्र में सेवा के लिए कैसे कारतूस दिए जाएं, यह प्रश्न आगे के लिए उठा रखा जाए।"[११]

मार्टिन की आपत्ति के विरोध में यह कहा जा सकता है कि ड्रिल में ऐसा परिवर्तन करके कि जिससे कारतूस दांत से न काटना पड़े, अत्यन्त सतर्क सिपाहियों को भी संतोष हो जाना चाहिए था, किन्तु इससे सिपाही की शंका का पूरी तरह से निवारण हो सकना कठिन था, क्योंकि गऊ या सूअर का मांस छूना ही उसकी दृष्टि में पाप था। उसे यह भी डर था कि यदि छूने की उसे आदत पड़ गई तो आगे चलकर अपने निश्चय के बावजूद भी वह कारतूस के लिए अपनी अंगुलियों की जगह दांत का उपयोग करने लगेगा। ड्रिल में यह परिवर्तन मार्च से पूर्व नहीं किया गया और अनेक केन्द्रों के सिपाहियों को यह बात बिलकुल

---

९. तथापि 'के' का यह कहना है कि मिनी राइफलों के कारतूसों के निर्माण में किसी भी पशु की चर्बी का उपयोग नहीं किया गया। ग्रीज़ केवल अलसी के तेल और मोम से बनाया जाता था। के, "ए हिस्ट्री आफ़ दि सिपाय वार", जिल्द १, पृ० ६५६

१०. पार्लियामेंटरी पेपर्स, जिल्द ३०, १८५७, पृ० ३८-३९

११. मार्टिन, दि इंडियन एम्पायर, जिल्द २, पृ० १२७

नहीं मालूम हुई। अतएव निरन्तर उत्तेजना बढ़ती गई और सिपाहियों को अब कारतूस के असाधारण चमकदार कागज पर भी संदेह होने लगा। उक्त कागज में ग्रीज़ नहीं लगा था किन्तु एक जांच-अदालत के सामने एक के बाद एक अनेक सिपाहियों ने उसमें ग्रीज़ होने का संदेह व्यक्त किया और अन्त में, एक बहुत बेहूदी किन्तु अशांत कर देने वाली अफवाह फैली कि आटे में हड्डियों का चूरा मिलाया गया है और कुओं के पानी को दूषित किया गया है ताकि कोई भी अपवित्र होने से बच न पाए।[१२]

सैनिक अफसर इस अनुशासन के ह्रास के दृश्य को चुपचाप बैठकर नहीं देख रहे थे। प्रेसिडेंसी डिवीज़न का कमाण्डर, जनरल हियरसे एक साहसी और चतुर व्यक्ति था। अपनी जवानी में उसने पंजाब की विद्रोही सेनाओं को बड़ी सफलता के साथ संभाला था। वह अपने सिपाहियों की भाषा बोलता था और उनकी आशंका को उचित मानकर सहानुभूति की दृष्टि से देखता था। उसने सिपाहियों को बताया कि अंग्रेज़ प्रोटेस्टेंट ईसाई हैं और वे तब तक किसी को ईसाई नहीं बना सकते जब तक कि वह स्वयं उनके सिद्धान्तों से परिचित नहीं हो जाता और स्वेच्छा से ईसाई बनना स्वीकार नहीं कर लेता। किन्तु यदि जनरल हियरसे के तर्क से सिपाही आश्वस्त नहीं हुए तो इसमें सिपाहियों का दोष नहीं था क्योंकि बैरकपुर छावनी में ही उस समय एक अफसर कर्नल व्हेलर नियुक्त था जो इस बात से सहमत नहीं था, और सैनिकों को यह मालूम भी था। उसने खुले आम यह स्वीकार किया कि वह समस्त भारतीयों में जिनमें सिपाही भी शामिल थे, पिछले २० वर्षों से धर्मप्रचार कर रहा है। उसने सरकार को लिखा, "जहां तक इस प्रश्न का सम्बन्ध है कि मैंने सिपाहियों तथा अन्य भारतीयों को ईसाई बनाने की कोशिश की हैं या नहीं, मेरा विनम्र उत्तर है कि यह तो मेरा लक्ष्य रहा है और मैं इसे ऐसे हर ईसाई का ध्येय मानता हूं जो प्रभु के शब्द दूसरों तक पहुंचाता है, अर्थात् यह कि प्रभु उसे अपने पड़ोसी को प्रभु के प्रति आस्थावान बनाने का या दूसरे शब्दों में उसे शाश्वत विनाश से बचाने का माध्यम बनाएगा।" "धर्म सम्बन्धी बातों में मैं अनुभव करता हूं कि मेरे दो दायित्व हैं, 'एक तो सरकार को सरकार की चीजें सौंपना, दूसरे प्रभु को प्रभु की चीजें सौंपना।"[१३]

सेना में कर्नल व्हेलर ही एक ऐसा अफसर नहीं था जो प्रभु की चीजें प्रभु को सौंपने तथा अज्ञानी को विनाश से बचाने के लिए तैयार था। जनरल हियरसे के आदर्शों तथा धर्मप्रचारक अफसरों के व्यवहार से परिचित सिपाहियों ने ऐसे अफसरों के व्यवहार को ही अधिक महत्व दिया और जनरल हियरसे के आदर्शों को केवल थोथे शब्द माना। इसी तरह, बाद में जब जनरल हियरसे ने सिपाहियों को आमंत्रित किया कि वे श्रीरामपुर जाएं और वहां अपनी आंखों से देखें कि कारतूस का कागज कैसे बनाया जाता है, तब भी इसका कोई खास प्रभाव नहीं पड़ा; क्योंकि ऐसा प्रतीत नहीं होता कि सिपाहियों को इस कार्य के लिए सचमुच श्रीरामपुर ले जाया गया और यह भी सम्भव है कि सिपाहियों को यह मालूम हो चुका हो कि ग्रीज़ लगे कारतूस का कागज भारत में नहीं, इंग्लैंड में बनता

---

१२. के, ए हिस्ट्री आफ़ दि सिपाय वार, जिल्द १, पृ० ६३९-६४४

१३. वही, पृ० ४८०-८१

है।[१४] सच यह है कि व्हेलर की नियुक्ति हाल ही में ३४वीं देशी पैदल सेना में हुई थी किन्तु असन्तोष बढ़ाने में व्हेलर ने जो योगदान दिया, उसकी केवल कल्पना ही की जा सकती है।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि ग्रीज और कागज के विषय में एक बार अफवाह फैलने के पश्चात् वह किसी एक विशिष्ट क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रह सकती थी। और लोग भी अत्यधिक संदिग्ध हो गए। बैरकपुर और उसके आसपास के इलाकों में आग लगा देने की कई घटनाएं हुईं और इसके लिए असन्तुष्ट सिपाहियों को दोषी ठहराया गया। इसी प्रकार की घटनाएं वहां से १०० मील दूर रानीगंज में हुईं और हालांकि अपराधियों का पता नहीं चला, फिर भी ये बातें मात्र दुर्घटना नहीं मानी गईं। किन्तु इनसे भी अधिक गम्भीर घटनाएं मुर्शिदाबाद के निकट बरहामपुर में घटीं, जो नाममात्र के नवाब की राजधानी थी। ३४वीं देशी पैदल सेना की दो टुकड़ियां विशेष कार्य पर बैरकपुर से बरहामपुर भेजी गई थीं, जहां कर्नल मिचल की कमान में १९वीं देशी पैदल सेना तैनात थी। मिचल में हियरसे जैसा प्रत्युत्पन्नमतित्व नहीं था और ग्रीज लगे कारतूस की खबर उसके सैनिकों तक पहले ही पहुंच चुकी थी तथा एक ब्राह्मण हवलदार इस बारे में पहले ही पूछताछ कर चुका था। तथापि ३४वीं रेजीमेंट के सैनिकों के वहां पहुंचने तक कोई घटना नहीं घटी, जिन्होंने उनके शक की पुष्टि की या नहीं की, यह संदिग्ध है। १९वीं रेजीमेंट के सैनिकों ने कारतूस-पेटी पहिनने से इंकार कर दिया क्योंकि "कारतूस तैयार करने की विधि के सम्बन्ध में उन्हें सन्देह था"। स्पष्ट ही वह हिंसा नहीं करना चाहते थे क्योंकि कारतूस-पेटी और कारतूस के बिना उनके हथियारों का कोई उपयोग नहीं था और उनकी आपत्ति उचित शंकाओं पर आधारित थी। कीथ यंग ने लिखा है, "यदि मिचल अपने सैनिकों का विश्वास पा सकता या उसने आरम्भ से ही होशियारी से कार्य किया होता तो कोई उत्पात न होता"[१५]। किन्तु इसने उसकी अपेक्षा कटु भाषा का प्रयोग किया तथा घोर दण्ड देने की धमकी दी। वह सैनिकों के निवास-स्थान पर गया, उसने समस्त भारतीय अफसरों को बुलाया तथा स्पष्ट शब्दों में उन्हें बताया कि जिस कारतूस को बने एक से भी अधिक वर्ष हो गया यदि उसका उपयोग करने से इन्कार किया गया तो अगले दिन प्रातः सिपाहियों को कठोरतम दण्ड दिया जाएगा। चौथी कम्पनी के सूबेदार शेख करीम बख्श ने बताया कि उसके सामने कर्नल ने कहा था कि "यदि सिपाहियों ने उन कारतूसों को स्वीकार न किया तो उन्हें चीन या बर्मा भेज दिया जाएगा, जहां वे सब मर जाएंगे।"[१६] दुर्भाग्य-

---

१४. लेफ्टिनेंट करी की गवाही देखिए। पार्लियामेंटरी पेपर्स, जिल्द ३०, १८५७, पृ० २२२। उन्होंने लिखा है, "कारतूस, इंग्लैण्ड से भेजे गए एक विशेष प्रकार के कागज से तैयार किया जाता है।" और फिर "नए कारतूसों का एक अन्य दोष यह है कि इसमें लगाया जाने वाला कागज भारत में तैयार नहीं किया जा सकता।" पार्लियामेंटरी पेपर्स, जिल्द ३०, १८५७, पृ० ६ लेटर टु कोर्ट, ७ फरवरी, १८५७ का सहपत्र सं० १४

१५. कीथ यंग, उद्धृत ग्रन्थ में पृ० २

१६. अन्य गवाहों ने भी उस बात की पुष्टि की। सूबेदार मेजर मुराद बख्श ने

वश, कारतूस हानिकारक ही दिखते थे। वे दो भिन्न प्रकार के कागजों से बने थे।' कुछ दिन पहले ही कलकत्ते से नया सामान आया था और सिपाहियों को संदेह हुआ कि नये कारतूस पुराने कारतूसों में मिला दिये गये हैं और कर्नल उनसे उक्त आपत्तिजनक कारतूस का उपयोग कराने पर कटिबद्ध है। उसके उत्तेजक भाषण ने उनके संदेह की पुष्टि कर दी और प्रातः कवायद से पूर्व ही उपद्रव आरम्भ हो गये। सिपाहियों ने शस्त्रशाला को तोड़ कर, अपने हथियारों पर बलपूर्वक कब्जा कर लिया और अपनी बंदूकें भर लीं। मिचल कायर नहीं था और उसने शक्ति का मुकाबला शक्ति से करने का निर्णय किया किन्तु उस समय तत्काल उसके पास यूरोपीय सेनाएं नहीं थीं। फिर भी वह डरा नहीं। वह भारतीय घुड़सवार और तोपखाना साथ लेकर पैदल सेना की ओर गया। भारतीय अफसरों ने कहा कि सिपाहियों में अनुशासनहीनता होने का कारण यह नहीं है कि वे वफादार नहीं हैं बल्कि यह है कि वे भयभीत हैं, और उन्होंने अपने कर्नल को सलाह दी कि वह घुड़सवार और तोपखाना वापिस भेज दे, क्योंकि उनकी उपस्थिति से सैनिक भड़क उठेंगे। यदि मिचल ने यह सलाह न मानी होती तो स्थिति और भी गम्भीर हो जाती, किन्तु उसने भारतीय अफसरों की सलाह पर ध्यान दिया और प्रातः कवायद का आदेश देकर, सोने चला गया। सुबह तक सिपाहियों का मानसिक संतुलन ठीक हो चुका था और बिना किसी प्रकार का अनुशासन भंग किए कवायद ठीक ढंग से सम्पन्न हुई।

१९वीं रेजीमेंट ने जिस अप्रत्याशित ढंग से विद्रोह किया था, उसी ढंग से वह शान्त हो गई और तबसे उसका आचरण सेना की श्रेष्ठ परम्पराओं के अनुरूप रहा। यदि १९वीं रेजीमेंट के सैनिक विद्रोह करते रहते तो उन्हें अत्यन्त उचित दण्ड मिलता किन्तु उनके पूर्व आचरण की उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। उन्होंने सचमुच ही हथियारों पर बलपूर्वक कब्जा कर लिया था और कुछ समय के लिए अपने कमाण्डर के कानूनी अधिकारों की अवहेलना भी की थी। अतएव उन्होंने विद्रोह का अपराध किया था, जो सेना में अनु शासन स्थापित करने की दृष्टि से क्षम्य नहीं था। गवर्नर जनरल उनका शक दूर करने के लिए कोई रिआयत करने को तैयार नहीं था तथा उस रेजीमेंट को एक उदाहरण के रूप में भी प्रस्तुत किया जाना था।[१७] समस्त सिपाहियों ने एक जैसा अपराध

कहा, "इस पर कर्नल अत्यधिक नाराज हुआ और बोला कि यदि सिपाही अपने कारतूसों का उपयोग नहीं करेंगे तो मैं उन्हें रंगून या चीन ले जाऊंगा जहां उन्हें बड़ी मुसीबत उठानी पड़ेगी और वे सब मर जाएंगे।" लेफ्टिनैंट जे० एफ० मेकएंड्रू से जब यह प्रश्न किया गया तो उन्होंने भी गवाही दी कि मैंने भी कुछ ऐसा ही सुना है। पार्लियामेंटरी पेपर्स, जिल्द ३०, १८५७, पृ० ५०, २७१, २७८, २९०

१७. फारेस्ट, ए हिस्ट्री आफ़ दि इंडियन म्यूटिनी, जिल्द १, पृ० २२-२३। गवर्नर-जनरल ने लिखा, "इतना स्पष्ट और कानून तोड़ने वाला विद्रोह धर्म या जाति की भावना से प्रेरित होकर या मजबूरी में अथवा दूसरे लोगों के बहकाने-सिखाने या धोखा देने के कारण किया गया, यह मानकर भी उसे क्षमा नहीं किया जा सकता।" फ़ारेस्ट, इण्डियन म्यूटिनी

नहीं किया था। नेताओं और उनके अनुगामियों के बीच कोई न कोई अन्तर किया जाना चाहिए था। इसलिए यह सुझाव दिया गया कि यदि रेजीमेंट खेद प्रकट करे तो उसे चीन या ईरान में सेवा के लिए भेज दिया जाए। जज एडवोकेट जनरल कीथ यंग की यह राय थी कि यदि सैनिकों की बदली समुद्र पार हो जाए तो तात्कालिक जरूरत पूरी हो जाएगी।[१८] इस सलाह पर गम्भीरतापूर्वक विचार नहीं किया गया क्योंकि यह अनुभव किया गया कि सेना की वर्तमान स्थिति देखते हुए, अधिकारियों द्वारा कोई उदारता नहीं बरती जानी चाहिए। अतएव, गवर्नर-जनरल-इन-कौंसिल ने फैसला दिया कि सारी रेजीमेंट को भंग करने के अतिरिक्त किसी और दण्ड का प्रभाव नहीं पड़ सकता, किन्तु उक्त निर्णय अविलम्ब लागू नहीं किया जा सकता था। भारतीय घुड़सवार और तोपखाने में अनुशासनहीनता का कोई लक्षण प्रकट नहीं हुआ था, किन्तु यदि १९वीं रेजीमेंट प्रतिरोध करती तो क्या वे अपने ही साथियों पर गोली चलाएंगे? सरकार ने अनुभव किया कि यूरोपीय सेनाओं की उपस्थिति में ही सजा दी जा सकती है और यूरोपीय सेनाओं को खाड़ी पार से बुलाया जाना था। हर मैजेस्टी की ८४वीं रेजीमेंट उस समय रंगून में थी और उसे बंगाल लाने के लिए एक जहाज भेजा गया। यह आदेश किसी से छिपा नहीं था और इसके फलस्वरूप सिपाही काफी भयभीत हुए। सर एडवर्ड पैगट की याद अभी भी ताजी थी और लोगों के मन में यह आशंका उत्पन्न हुई कि ८४वीं रेजीमेंट की सहायता से समूची ब्रिगेड से हथियार रखवा लिए जाएंगे और उसको ईसाई बनाया जाएगा। अतएव जनरल हियरसे को एक बार फिर अपने सैनिकों को समझाना पड़ा। उसने उन्हें आश्वासन दिया कि उनका धर्मपरिवर्तन करने का सरकार का कोई इरादा नहीं है और अपराधियों को छोड़ किसी और को डरने की कोई जरूरत नहीं है। ८४वीं रेजीमेंट के आने के पश्चात् १९वीं नेटिव इन्फैन्ट्री उसके द्वारा भंग कर दी जाएगी और विद्रोहियों को सेना से निकाल दिया जाएगा। ८४वीं रेजीमेंट शीघ्र ही आ गई और उसे चिनसुरा में रखा गया। इसी समय मिचल को १९वीं रेजीमेंट के बैरकपुर ले जाने का आदेश दिया गया। ऐसा कहा जाता है कि मार्ग में इस रेजीमेंट के सैनिक न केवल शान्त ही रहे बल्कि संगठित विद्रोह में भी भाग लेने से उन्होंने इन्कार किया।[१९] किन्तु अपने साथियों की दृष्टि में वे नायक और शहीद हो चुके थे। घृणित कारतूस का प्रयोग करने से इन्कार करके उन्होंने कोई अपराध नहीं किया था। उनका एकमात्र

(राजकीय कागजात), जिल्द १, पृ० ६३

१८. "यदि सैनिक खेद प्रकट करें तो मैं उन्हें ईरान जाने की अनुमति देने के लिए तैयार हूं।" कीथ यंग, उद्धृत ग्रन्थ में पृष्ठ २। सरकार को की गई अपनी अपील में १९वीं रेजीमेंट ने कहा—"जब तक हम जीवित हैं, हम वफादारी के साथ समस्त आदेशों का पालन करेंगे। लड़ाई के मैदान में हमें जहां कहीं भी जाने का आदेश मिलेगा, हम जाएंगे।"

१९. ऐसा कहा जाता है कि ३४ वीं नेटिव इन्फैन्ट्री के कुछ संदेशवाहकों ने उनसे बारासात में भेंट की और उन्होंने उनसे यूरोपीय अफसरों पर संयुक्त रूप से आक्रमण करने को कहा। होम्स लिखित "ए हिस्ट्री आफ दि इंडियन म्यूटिनी", पृष्ठ ८७

अपराध यह था कि अपने धर्म में उनकी निष्ठा बनी रही और इस कारण एक नास्तिक सरकार उन्हें सबसे कठोर सैनिक दंड देने जा रही थी।

बरहमपुर में २६ फरवरी को विद्रोह हो चुका था; २६ मार्च को बरहमपुर में एक और भी गम्भीर घटना घटी जिससे पता चलता है कि भय और आशंका के कारण सिपाही किस सीमा तक हताश हो चुके थे। मंगल पांडे ३४ वीं इन्फैन्ट्री का एक नौजवान सिपाही था। उसका अब तक का आचरण बहुत अच्छा था किन्तु कुछ दिनों से वह हाल की घटी घटनाओं पर गंभीरतापूर्वक विचार कर रहा था। कुछ ही दिनों पूर्व, दूसरी नेटिव इन्फैन्ट्री ग्रिनेडियर्स के दो सिपाहियों को राजद्रोह के षड्यंत्र का अपराधी करार दिया गया था और उन्हें १४ वर्ष के कठोर परिश्रम का दंड दिया गया था। जमादार सालिगरामसिंह का अपने साथियों के सामने ग्रीज़ लगे कारतूस को बुरा बताने के लिए कोर्ट मार्शल किया गया था और उसे बर्खास्त कर दिया गया था। धर्म के लिए १६वीं नेटिव इन्फैन्ट्री ने अपना सब कुछ न्यौछावर कर दिया था। स्पष्ट है कि सिपाहियों के बीच इन बातों का काफी प्रचार हुआ और यह मान लेना गलत न होगा कि मंगल पांडे इन सारी घटनाओं से काफी प्रभावित हुआ था। रविवार, २६ मार्च को दोपहर के बाद ३४वीं नेटिव इन्फैन्ट्री के एडजुटेंट लेफ्टि-नेंट बफ़ को पता चला कि उसकी रेजीमेंट का एक सैनिक पागल हो गया और उसने सार्जेंट मेजर पर गोली चला दी। वह तुरन्त घटनास्थल पर गया मगर जब तक वह इस सम्बन्ध में कुछ कर सकता, वह जिस घोड़े पर सवार था उस पर गोली चला दी गई। बफ़ और सार्जेंट मेजर दोनों ने अपने आक्रमणकारी पर हमला किया किन्तु वह अकेला एक सिपाही इन दोनों के बस का न था और यदि एक मुसलमान सिपाही शेख पल्टू ने बीच में हस्तक्षेप न किया होता, तो वे दोनों मारे जाते। क्वार्टर गार्ड की ड्यूटी पर उस समय जो सैनिक थे वे घटनास्थल से दूर नहीं थे किन्तु वे उदासीन दर्शकों की तरह यह तमाशा देखते रहे थे जबकि कुछेक सिपाहियों ने तो घायल अफसरों पर प्रहार तक किया। बफ़ के विरोध का उन पर कुछ असर न हुआ और बफ़ इस झगड़े से अलग हो गया। इस बीच इस उत्पात की खबर जनरल हियरसे तक पहुंच गई और यह समझा गया कि समूची ब्रिगेड ने विद्रोह कर दिया है। वह अपने दो बेटों के साथ परेड के मैदान में गया और जनरल के उग्र व्यवहार से आतंकित रक्षकों ने उसका अनुसरण किया। मंगल पांडे को यह विश्वास हो गया था कि उसका अन्तिम काल निकट है, उसने अपने धर्म-भाइयों से सहायता मांगी किन्तु किसी ने उसकी सहायता नहीं की। उसने अपने सीने पर गोली चला कर आत्महत्या करने का प्रयत्न किया। किन्तु उसका घाव प्राणघातक सिद्ध नहीं हुआ। वह अस्पताल भेज दिया गया और यथासमय उसका कोर्ट मार्शल किया गया तथा उसे फांसी दे दी गई। अपनी ज़िद पर अड़ी रहने वाली रक्षक टुकड़ी के जमादार ईश्वरी पांडे को भी प्राणदंड दिया गया किन्तु कुछ कारणों से उसका प्राणदंड स्थगित करना पड़ा। मृत्यु के पूर्व फांसी के तख़्ते पर उसने अपना पश्चात्ताप व्यक्त किया और अपने साथियों को चेतावनी दी कि वे उसकी मृत्यु से सबक लें।

३४वीं रेजीमेंट का हाल का आचरण बुरा नहीं था। अपने कमांडर व्हेलर के अधीन इस रेजीमेंट के सैनिकों ने उत्तम सैनिक आचरण की शिक्षा पाई थी और इसके एक

सूबेदार ने द्वितीय ग्रेनेडियर के दो सैनिकों, जो उसे राजद्रोह के लिए उकसाने आए थे, गिरफ्तार कराया था। जांच-अदालत को कभी भी इस बात का प्रमाण नहीं मिला कि बरहमपुर के उपद्रवों के साथ ३४वीं रेजीमेंट का कोई भी सम्बन्ध था। यह दुर्योग ही था कि उसके पहुंचने के तुरन्त बाद ही उपद्रव आरम्भ हो गया। किन्तु मंगल पांडे के प्राण-घातक आक्रमण तथा ईश्वरी पांडे और उसके साथियों की उदासीनता से, अधिकारियों को यह विश्वास हो गया कि समूची रेजीमेंट इस विद्रोह में शामिल थी। इस बात पर विचार व्यर्थ है कि क्या उस समय मंगल पांडे भांग के नशे में था। स्पष्ट ही इसके पहले कोई षड्यंत्र नहीं रचा गया था और मंगल पांडे ने अन्य सिपाहियों के साथ इस बारे में कोई चर्चा नहीं की थी। उसके साथियों ने यदि उसका साथ नहीं दिया तो इसका कारण यह था कि उनके अंग्रेज अफसर उन्हें इतने अप्रिय थे कि लेफ्टिनेंट बफ़ पर प्राणघातक आक्रमण के समय उन्होंने इस दृश्य का उदासीन दर्शक बनना पसंद किया और यदि उनमें से एक ने इसमें हस्तक्षेप भी किया तो वह भी आक्रमणकारी की ओर से। ग्रीज़ लगे कारतूस के कारण सिपाहियों के मन में अंग्रेज अफसरों के प्रति भयंकर घृणा थी और उन्हें उनके सैनिक कर्तव्य की याद दिला कर शांत नहीं रखा जा सकता था।

१९ वीं इन्फैन्ट्री के हथियार छीन लिए गए और उसे भंग कर दिया गया और इस बीच कोई अप्रत्याशित घटना नहीं घटी। यदि सरकार अपने निश्चय में दृढ़ थी तो उसे अपने कमांडिंग अफसर की भयंकर भूल का भी पता था। यह सिद्ध करने के लिए कि सिपाहियों ने अपने हितैषी स्वामियों के उद्देश्यों को गलत समझा है, सरकार की ओर से कुछ उदारता दिखाई गई। जिस सिपाही का हथियार रखने का अधिकार छीन लिया गया था उसे भी अपनी वर्दी पहनने का अधिकार दिया गया। उसे वेतन और पेंशन से तो वंचित कर दिया गया किन्तु उसे सरकार ने घर जाने का खर्च दिया। यदि सिपाही की इच्छा होती तो वह घर लौटते समय राह में किसी भी मठ-मंदिर में जा सकता था और किसी भी तीर्थ की यात्रा कर सकता था। सरकार का कोई भी इरादा उसके धर्म के विरुद्ध न था और वह हमेशा की तरह उसे अपने धार्मिक आचारों में पूरी स्वाधीनता देने के लिए तैयार थी।[२०] यह कहा गया है कि १९वीं रेजीमेंट को भंग कर देने का परिणाम यह हुआ कि उत्तर भारत के दूर-दूर बिखरे गांवों में जघन्य कारतूसों की दुःखद कहानी सुनाने तथा ग्रामीण जनता में राजद्रोह के बीज बोने के लिए सैकड़ों सैनिक फैल गये। किसी गलती के बाद अक्ल से काम लेना आसान होता है। सिपाहियों को चीन या फारस भेजा जा सकता था किंतु यह भी तर्क किया जा सकता है कि विदेश-सेवा की संभावनाओं के फलस्वरूप दो बार उपद्रव हो चुके थे और सामान्य सेवा भरती अधिनियम के कारण लोग ईसाई सरकार के संदिग्ध उद्देश्यों के प्रति सशंक हो गए थे। जनरल सर आर्फर कैवेने ने अनुभव किया कि अनेक सिपाहियों का यह विश्वास था कि "भारतीय रेजीमेंटों के अधिकांश सिपाही निःशस्त्र किए जाने और परिणामतः अपमानित होने की अपेक्षा समुद्र पार सेवा करना पसंद करेंगे।" सर

---

२०. फ़ारेस्ट, ए हिस्ट्री आफ़ दि इंडियन म्यूटिनी, जिल्द १, पृ० २४। पार्लियामेंटरी पेपर्स, जिल्द ३०, १८५७, पृ० ५७-५८ भी देखिए

आर्फर ने आगे कहा है, "मैंने सलाह दी कि इनकी सेनाओं का उपयोग चीन में किया जाय जहां सैनिकों की आवश्यकता थी। अंततः मेरा यह सुझाव मान लिया गया और इसके सुपरिणाम निकले।"[२१] इसे चरम सत्य तो नहीं माना जा सकता किंतु इस सत्य की उपेक्षा भी नहीं की जा सकती कि किसी उपाय की सफलता उस समय की धारणा पर निर्भर करती है। जिस बात को आगे चलकर सफलता मिली वह यदि कुछ समय पूर्व हुई होती, तो उसे इंचमात्र भी सफलता न मिलती। जब तक लोगों को सरकार के इरादों पर संदेह था और जनता को ईसाई बनाए जाने का भय था उस समय तक विद्यमान कठिनाइयों का स्थायी हल ढूंढ़ सकना असम्भव था। और सरकार की हर छोटी से छोटी गलती ने लोगों को विद्रोह के लिए उत्तेजित किया।

यह बात शीघ्र ही स्पष्ट हो गई कि सरकार तो केवल हथियार छीन सकती है किन्तु यदि जनता किसी बात से विक्षुब्ध हो तो वह उससे भी अधिक अपमानजनक दंड दे सकती है। मार्च १८५७ में प्रधान सेनापति शिमला जाते हुए अम्बाला से गुजरे। स्पष्ट ही कलकत्ते के निकट जनता के असंतोष को सरकार ने अधिक महत्व नहीं दिया और प्रधान सेनापति ने गवर्नर जनरल के साथ ठहरना आवश्यक नहीं समझा। अम्बाला तीन प्रशिक्षण डिपो में से एक था, और यहां विभिन्न रेजीमेंटों के कुछ सैनिकों को नई राइफल का प्रयोग सिखाने के लिए भेजा गया था। इन सैनिकों में एक हवलदार कासीराम तिवारी और ३६वीं भारतीय इन्फैन्ट्री का एक नायक जिउलाल दुबे भी था। ३६वीं भारतीय इन्फैन्ट्री के कुछ सैनिक भी प्रधान सेनापति की अंगरक्षक टुकड़ी में थे और स्वभावतः दो गैर-कमीशनप्राप्त अफसर सूबेदार के पास गये। क्योंकि कारतूस छूकर वे ईसाई हो चुके थे इसलिए सूबेदार ने उन्हें धर्म-भ्रष्ट मान कर उसके अनुरूप व्यवहार किया। उन्हें इस बात से अत्यन्त आश्चर्य और दुःख हुआ। आंखों में आंसू लिए वे अपने शिक्षक लेफ्टिनेंट मार्टिन्यू के पास पहुंचे और उसे बताया कि जब उनकी अपनी रेजीमेंट के एक सूबेदार ने उन्हें ईसाई मान उनका परित्याग कर दिया है तो जब वे गांव लौटेंगे तो वहां उनके साथ कैसा व्यवहार होगा। लेफ्टिनेंट मार्टिन्यू ने इस घटना का वृत्तान्त प्रधान सेनापति को सुनाया और जनरल एन्सन ने चांदमारी डिपो का मुआयना किया तथा वहां एकत्र सैनिकों को आश्वासन दिया कि कारतूस के सम्बन्ध में जो अफवाह फैली है, वह बिलकुल मिथ्या है। उसने लेफ्टिनेंट मार्टिन्यू को आदेश दिया कि वह उसके भाषण की प्रतिक्रिया से सूचित करे और २३ मार्च को मार्टिन्यू ने सेना के असिस्टेंट एडजुटेंट जनरल को लिखा, "इस डिपो के भारतीय अफसरों की ओर से उनके तीन प्रतिनिधियों ने मुझे सूचित किया है कि वे इस बात से गौरव अनुभव कर रहे हैं कि हिज़ एक्सीलेंसी स्वयं उनके पास गए और उन्होंने राइफल की कारतूस के सम्बन्ध में उनकी और उनके अन्य साथी सैनिकों की शंका का निवारण किया। वे बड़ी विनम्रता के साथ यह निवेदन करना चाहते हैं कि हिज़ एक्सीलेंसी ने अपने भाषण में इस बात का उल्लेख किया है कि सैनिक इस देश की सरकार के इरादों पर संदेह करते हैं। किन्तु वस्तुतः वे ऐसा संदेह नहीं करते। वे यह जानते हैं कि यह अफवाह मिथ्या है,

२१. कैवेने, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० २२५-२६

किन्तु वे यह भी जानते हैं कि यदि हिंदुस्तान में एक आदमी इस पर विश्वास नहीं करता तो दस हजार आदमी ऐसे भी हैं जो इस पर विश्वास करते हैं और इस बात पर न केवल रेजीमेंट में बल्कि उनके गांवों और घरों में भी विश्वास किया जाता है। आदेश मिलने पर वे सब गोली चलाने को तैयार हैं किन्तु वे हिज़ एक्सीलेंसी के सामने विचारार्थ यह निवेदन करना चाहते हैं कि यदि उनकी आज्ञा के अनुसार उन्होंने इन कारतूसों का प्रयोग किया तो समाज में उन्हें क्या-क्या कष्ट उठाने पड़ेंगे। वे न केवल अपनी सेना में बल्कि घर और परिवार में भी जाति से बाहर निकाल दिए जाते हैं। यदि उन्होंने स्वामि-भक्ति का परिचय दिया और सेनाधिकारियों की आज्ञा का पालन किया तो उन्हें संसार में सबसे कठोर दंड भोगना पड़ेगा; बुद्धिमान और विश्वसनीय सैनिक के रूप में उनका चुना जाना ही उनके लिए सबसे भयंकर अभिशाप बन जाता है। वे अपने सैनिक अफसरों की आज्ञा का पालन करेंगे और अपनी आज्ञा-पालन करने की इस प्रवृत्ति के कारण वे सामाजिक दृष्टि से कहीं के न रहेंगे।"[२२]

लेफ्टिनेंट मार्टिन्यू ने यह भी कहा कि सिपाहियों का भय निराधार या अतिरंजित नहीं था। प्रशिक्षण पाने वाले सैनिकों ने अपनी कठिनाइयां स्पष्ट ढंग से किन्तु बड़ी विनम्रता के साथ समझाई थीं और लेफ्टिनेंट मार्टिन्यू ने सिफारिश की थी कि सूबेदार के विरुद्ध जो शिकायतें की गई हैं उनकी अविलम्ब जांच की जाए। किन्तु कोई जांच नहीं हुई। १६ अप्रैल को सिपाहियों को पता चला कि सूबेदार दृगपाल सिंह का आचरण 'अनुचित एवं सैनिक को शोभा न देने वाला" घोषित किया गया। किन्तु शिकायत करने वाले दो व्यक्तियों को इतनी आसानी के साथ नहीं छोड़ा गया। उन्होंने अभियुक्त के असैनिक आचरण का प्रचार कर डिपो में उत्तेजना फैलाई थी और अन्य रेजीमेंटों के सिपाहियों के मन में यह भय उत्पन्न किया था कि जब वे अपनी सेना में लौटेंगे तो उनके साथ भी ऐसा ही व्यवहार किया जाएगा। इसी निंदनीय कार्य के लिए उन्हें खुले आम निन्दित किया गया और हवलदार को गुप्त रूप से सूचित किया गया कि उसकी पदोन्नति इसलिए रोक दी गई है कि उसने "अपने कार्य द्वारा रेजीमेंट पर धब्बा लगाया।" केव ब्राउन ने लिखा है, "इतना ही नहीं, यह भी निश्चय किया गया कि सिपाहियों को विवश किया जाए कि वे अपने पूर्वाग्रह और भय के विपरीत उन कारतूसों का प्रयोग करें।"[२३] और दूसरे ही दिन उन्हें उन कारतूसों का प्रयोग करना पड़ा। काश! उन्होंने अपने प्रतिनिधियों के जरिए स्वयं यह स्वीकार न किया होता कि कारतूसों के बारे में उन्हें कोई आपत्ति नहीं है और काश! उन्होंने यह घोषित न किया होता कि वे उनका प्रयोग करने के लिए तैयार नहीं हैं? उन्होंने हिज़ एक्सीलेंसी के पास विचार किए जाने के लिए जो अपील की थी उसके आधार पर हिज़ एक्सीलेंसी ने उनकी वफादारी को तो ध्यान में रखा किंतु उनके भय की उपेक्षा कर दी। इसके बाद यदि सिपाही इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि उसे अपने स्वामियों और धर्म में से किसी एक को चुनना है तो उसे दोष नहीं दिया जा सकता।

---

२२. केव-ब्राउन, "दि पंजाब एंड देहली इन १८५७", जिल्द १, पृ० ४५

२३. वही, पृ० ४८

प्रधान सेनापति का आदेश और भी अधिक आपत्तिजनक था क्योंकि सरकार पहले ही ड्रिल में इस तरह परिवर्तन करने का निश्चय कर चुकी थी कि कारतूसों को दांत से काटना न पड़े। मेरठ के लेफ्टिनेंट कर्नल हाग फरवरी के अंतिम सप्ताह में बता चुके थे कि यदि कारतूसों के छोर को चुटकी से दबाने का तरीका अपना लिया जाए तो उन्हें दांत से काटने की कोई जरूरत नहीं रहेगी और उसके सुझाव का समर्थन अन्य अनुभवी अफसरों ने भी किया था। गवर्नर-जनरल इस मामले में प्रधान सेनापति को लिख चुके थे और प्रधान सेनापति का उत्तर आ जाने तक यह आदेश जारी किया जा चुका था कि दमदम में चांदमारी के अभ्यास में कारतूस न भरे जाएं।[२४] ५ मार्च को सरकार यह आदेश जारी कर चुकी थी कि कारतूस दांत से काटने की प्रथा बन्द कर दी जाए किंतु यह जान कर आश्चर्य होता है कि सिपाहियों को यह आदेश नहीं बताया गया। मई के आरंभ में लखनऊ में उपद्रव के लक्षण नजर आए। यह नहीं कहा जा सकता कि अम्बाला की खबर तब तक अवध पहुंच गई थी या नहीं। किन्तु अफसरों के विरोध के बावजूद सिपाही कारतूस को अब भी संदेह की दृष्टि से देखते थे और उन्होंने दृढ़ता के साथ उसे मुख से काटने से इन्कार कर दिया। यह नहीं बताया गया है कि सिपाहियों को कारतूस दांत से काटने के लिए बाध्य क्यों किया जाता था जबकि दो महीने पूर्व ही इस प्रथा को बन्द किया जा चुका था।[२५]

२४. पार्लियामेन्टरी पेपर्स, जिल्द, ३०, १८५७, पृ० ३४-३६

२५. होम्स ने लिखा है, "उस महीने की पहली तारीख को अवध की ७ वीं इर्रेगुलर इन्फैन्ट्री के रंगरूटों ने अपनी कारतूसें स्वीकार करने से इन्कार कर दिया।" होम्स उद्धृत ग्रन्थ में, पृ० ६५। यह एक अपूर्ण वक्तव्य है, जिसे महत्व नहीं दिया जा सकता। यह जानकर आश्चर्य होगा कि अवध की ७वीं इर्रेगुलर इन्फैन्ट्री को कारतूस काटने के लिए कहा गया। १० मई को गवर्नर जनरल के ब्योरे के अध्ययन से इस विषय में कोई शंका नहीं रह जाती। गवर्नर-जनरल ने लिखा है, "ऐसा प्रतीत होता है कि सैनिक कवायद के सम्बन्ध में संशोधित आदेश, जिसके अनुसार कारतूस काटने की आवश्यकता नहीं रह जाती, लखनऊ में तब तक लागू नहीं हुए थे जब वह घटना घटी। इसके सम्बन्ध में स्पष्टीकरण मांगा जाना चाहिए।" पार्लियामेंटरी कागज़ात पढ़ने से ऐसा पता नहीं चलता कि कोई स्पष्टीकरण दिया गया था। ग्रांट के ब्योरे में अधिक कठोर शब्द प्रयुक्त किये गये हैं, "यह कहने की कोई जरूरत नहीं कि उस मामले की शुरूआत में कमांडेंट तथा अफसरों की ओर से होने वाली घोर अव्यवस्थाओं का कहां तक हाथ था। जबकि कारतूस का दांत से काटा जाना, अधिकृत कवायद में जानबूझ कर बन्द कर दिया गया था तब उसकी केवल राइफल-अभ्यास के लिए एक मसला बन जाना एक घोर अव्यवस्था का सूचक है।" भारत सरकार के सचिव ने १३ मई, १८५७ को अवध के चीफ कमिश्नर को लिखा, "पता चला है कि राइफल चलाने के सम्बन्ध में भारत सरकार के आदेश द्वारा हाल में मुद्रित एक पुस्तक, १४ तारीख के निकट अवध लोकल इन्फैन्ट्री को भेजी गई है। इस पुस्तक में यह सूचना दी गई है "कि कारतूस को फाड़कर खोला जाना चाहिए और कारतूस को दांत से काटने की पुरानी प्रथा का उसमें कोई उल्लेख नहीं है। सपरिषद् गवर्नर जनरल यह जानना चाहते हैं कि लखनऊ में सेना

यह और भी अजीब बात है कि अवध के सिपाहियों की, जो कम्पनी की सेवा में अभी हाल में ही आए थे, स्वामिभक्ति को इतना अधिक कसा गया और सो भी सर हेनरी लारेंस जैसे चीफ़ कमिश्नर के अधीन, जो एक विचारशील शासक थे और भारत तथा भारतीयों से भली-भांति परिचित थे। लेकिन यह ध्यान देने योग्य बात है कि ७ वीं अवध इर्रेगुलर इन्फैन्ट्री ने कारतूस स्वीकार करने या उनका प्रयोग करने से आनाकानी नहीं की, सिर्फ उन्हें दांतों से काटने से इन्कार किया। ३ मई को सर हेनरी को खबर मिली कि ७ वीं अवध इर्रेगुलर इन्फैन्ट्री ने हिंसा और हत्या की धमकी दी है। उन्होंने यह चुनौती स्वीकार कर ली। भरी हुई बन्दूकों के सामने पड़ते ही अधिकांश 'विद्रोही' भाग खड़े हुए लेकिन १२० ने अपने हथियार रख दिए और सरकार ने उन्हें समुचित दण्ड देने के सम्बन्ध में कार्रवाई शुरू की।

४ मई को बैरकपुर में मंगल पाण्डे की रेजीमेंट, ३४ वीं नेटिव इन्फैन्ट्री को भंग कर दिया गया। सिपाहियों को अपनी वर्दी रखने की अनुमति नहीं दी गई लेकिन, जैसा कि होम्स ने लिखा है, "उन्हें किलमरनाक टोपियां जिनका दाम उन्होंने स्वयं चुकाया था, रखने दिया गया, इन टोपियों को कम्पनी के साथ अपना अन्तिम सम्बन्ध-सूत्र समझते हुए सिपाहियों ने उन्हें घृणा से पांवों तले रोंदा और अपने दण्ड को गुलामी से छूटने की प्रसन्नतापूर्ण स्थिति मानते हुए वे हमारे दुश्मनों की संख्या बढ़ाने के लिए चल निकले।"[२६] उन्हें काफी विलम्ब के बाद दण्डित किया गया और रेजीमेंट को भंग करने की आज्ञा प्रत्येक सैनिक शिविर में पढ़ कर सुनाई गई। यह नहीं विचार किया गया कि जिन सिपाहियों को इस प्रकार निकाला गया है, उनके भाई-बन्द उनको हीन दृष्टि से देखने के बजाय शूरवीर समझेंगे, क्योंकि उन्होंने धर्म की खातिर सांसारिक उन्नति को तिलांजलि दे दी है। स्मरण रहे कि ३४ वीं रेजीमेंट के कामांडर एक मिशनरी, कर्नल एस० जी० व्हेलर थे।

जनवरी १८५७ में जाति-नाश के नए अस्त्र की दबी-दबी चर्चा शुरू हो गई। सरकार ने यदि शान्तिपूर्ण उपायों से ही लोगों को समझाने-बुझाने का काम किया होता तो परिणाम क्या होता, इस पर विचार करना व्यर्थ है। एक विदेशी सरकार यह सहन नहीं कर सकती कि उसकी सत्ता को धक्का पहुंचे क्योंकि उससे उसकी प्रतिष्ठा गिरती है जिससे उसकी ताकत की जड़ ही कमजोर हो सकती है। अनेक अफसर ईमानदारी से यह विश्वास करते थे कि सिपाहियों की भावना की कतई परवा नहीं करनी चाहिए और कोई भी रिआयत देने का अर्थ होगा अपनी कमजोरी दिखाना। जब कि हियरसे आसानी से विश्वास न करने वाले सैनिकों को समझाने-बुझाने का प्रयत्न कर रहा था इक्के-दुक्के सिपाहियों और देशी अफसरों पर फ़ौजी मुकदमे चल रहे थे और कारतूस के बारे में चर्चा मात्र करने पर उन्हें दण्डित किया जा रहा था। संदेह दूर होने के बजाय, १९ वीं नेटिव

को वह पुस्तक कब मिली।" पार्लियामेंटरी पेपर्स, जिल्द ३०, १८५७, पृ०–२१०, २१२, २१६। क्रैशे के कथनानुसार "इसके उत्तर में एक भी शब्द इस पुस्तक में नहीं मिलता"। क्रैशे : उद्धृत ग्रन्थ, पृ० २०

२६. होम्स, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ६४

इन्फेन्ट्री को पूर्णतः भंग कर देने का असर यह हुआ कि लोगों के मन में धर्मपरिवर्तन विषयक धारणा और भी जड़ पकड़ गई, क्योंकि यह नहीं माना जा सकता कि सिपाहियों को यह जानकारी नहीं थी कि जिस चर्बी से कारतूस की ग्रीज़ बनी थी उसकी शुद्धता की गारंटी नहीं दी जा सकती। भारतीय सेना की स्वाभाविक आशंकाओं की ओर ऐसे संदेहों को, जिनका अवश्य ही कुछ न कुछ आधार था, दूर करने के लिए सरकार ने जो कुछ भी किया वह विलम्ब से किया और उसके इन प्रयत्नों का असर यथास्थान पहुंचते-पहुंचते काफी घट गया। अम्बाला-काण्ड में प्रधान सेनापति ने बहुत अधिक जल्दबाज़ी से काम लिया और न केवल अविवेक का, बल्कि न्यायहीनता का भी परिचय दिया। सिपाहियों के मन में यह बात जम गई थी कि वे अपने सर्वोच्च अधिकारियों से सहानुभूति की आशा नहीं कर सकते यद्यपि मार्टिन्यू, हाट और बोन्टीन जैसे इक्के-दुक्के अधिकारियों का रुख स्पष्टतः उदार था। यदि सिपाहियों ने सोचा कि सरकार उन पर कारतूस थोपना चाहती है तो इसके लिए उन्हें दोषी नहीं ठहराया जा सकता। यह बात और भी दुर्भाग्यपूर्ण थी कि अविचारी अफसरों को प्रायः मनमानी करने दिया जाता था और मई के आरम्भ में सर हेनरी लारेंस को विवश होकर, अपने कुछ अनावश्यक रूप से उत्साही मातहतों की बात माननी पड़ी। इससे पिछले महीने में भी अनुशासन के बेहद पक्षपाती एक अधिकारी ने जो कुछ कदम उठाए उसके फलस्वरूप १० मई, रविवार को मेरठ में पूरे जोर से भयंकर विस्फोट हुआ।

कर्नल कारमाइकेल स्मिथ मेरठ में तीसरे देशी रिसाले का कमांडर था। वह अहंकारी और हटी स्वभाव का था और सिपाहियों में विशेष लोकप्रिय न था। बाद में जो कुछ घटनाएं घटीं उनको देखते हुए उसके द्वारा प्रदर्शित साहस की प्रशंसा करना कठिन है। बाद में उसने यह दावा किया कि उसने ३१ मई के लिए निश्चित देश भर में एक साथ होने वाले विद्रोह की योजना असफल करके साम्राज्य की रक्षा की। पर यदि उसे किसी ऐसे षड्यंत्र का पता भी था तो भी उसने उस रहस्य को न तो अपने साथी अफसरों को बताया न जनरल कमांडिंग को। २३ अप्रैल को उसने आदेश दिया कि अगली सुबह सारी रेजीमेंट की नहीं, बल्कि विभिन्न सैन्य दलों में से चुने हुए ९० सिपाहियों की परेड होगी। उसका ध्येय प्रशंसनीय था। कर्नल स्मिथ अपने अधीन सिपाहियों को दिखाना चाहता था कि "बिना दांत से काटे, नई कारतूसों को कैसे बन्दूक में भरा जा सकता है।"[२७] सेनाओं को नये शस्त्रास्त्र नहीं दिए गए थे। अतः धर्मनाश का कोई औचित्यपूर्ण भय न था। इसके अतिरिक्त बहुत समय से यही माना जाता था कि ग्रीज़ लगा कारतूस हिन्दुओं को ही धर्म परिवर्तन का साधन प्रतीत होता है और मुसलमान इस प्रकार की मूर्खतापूर्ण बात नहीं सोचते। भंग की गई १९ वीं सेना में अधिकांश हिन्दू थे जबकि स्मिथ के अधिकांश सवार मुस्लिम थे। अतः प्रदर्शन न तो अनुचित था, न असामयिक। पर अविश्वासी सवार यह शंका करते थे कि जब उनके पास अभी पुराने ही शस्त्रास्त्र हैं तो यह नया तरीका क्यों सिखाया जा रहा है क्योंकि नये कारतूस के बारे में उनकी छावनी में हाल ही में काफी चिंतापूर्ण बहस चल चुकी थी। बृजमोहन नामक एक आदमी पर नये कारतूस का प्रयोग करने का आरोप

---

२७. फ़ारेस्ट, हिस्ट्री आफ़ दि इंडियन म्यूटिनी, जिल्द १, पृ० ३१

लगाया गया था। उसका चरित्र अच्छा नहीं था। वह एक नीच जाति के सूअर चराने वाले आदमी का पुत्र था और उसे इन्फैन्ट्री से चोरी के जुर्म में बर्खास्त किया जा चुका था। बाद को वह एक और नाम से रिसाले में भरती हो गया और किसी प्रकार कर्नल कारमाइकेल स्मिथ का विश्वासपात्र बन कर अधिकांश समय उसी के बंगले में बिताने लगा। कर्नल के विश्वासपात्र उस नीच जात के सैनिक ने न केवल अपने अपराध को खुल्लमखुल्ला स्वीकार किया बल्कि व्यंग्यपूर्वक यह भी कहा कि जल्द ही सेना के अदने से अदने सिपाही को भी इन्हीं कारतूसों का प्रयोग करना पड़ेगा। इस पर सवारों ने गंभीर प्रतिज्ञा ली कि वे तब तक उस गंदे कारतूस को न छुएंगे जब तक शेष सेना उन्हें छूने से इन्कार करेगी।

कर्नल इन परिस्थितियों से अनजान न था, क्योंकि उससे अनुरोध किया गया था कि वह परेड स्थगित कर दे।[२८] वह अपने निश्चय पर दृढ़ रहा क्योंकि उसने सुना था कि पूरी सेना विद्रोह करने जा रही है। मेरठ में विद्रोह के भड़कने की सबसे कम सम्भावना थी क्योंकि यह उन थोड़ी-सी छावनियों में से एक था जहां सभी तरह की यूरोपियन सैन्य टुकड़ियां काफी संख्या में मौजूद थीं। अतः कर्नल ने सोचा कि धमकी से घबराकर परेड स्थगित कर देना कायरता होगी। विद्रोह की संभावना के विषय में उसने जनरल कमांडिंग को अन्धेरे में रखा। केवल ६० सिपाही अगले दिन सवेरे परेड मैदान में आए और कर्नल ने उन्हें समझाया कि उनके विश्वासों को ध्यान में रखते हुए नये नियम किस प्रकार बनाए गए हैं। उसका समझाना-बुझाना व्यर्थ गया क्योंकि ५ सिपाहियों के अलावा और सभी ने नये कारतूस लेने से इंकार कर दिया। परेड खत्म कर दी गई। एक जांच-अदालत बिठाई गई जिसने पता लगाया कि सवारों के इस आचरण का कारण जनमत का भय ही था। प्रधान सेनापति ने अपराधियों पर देशी फौजी अदालत द्वारा मामला चलाने का आदेश दिया।[२९] ब्रिटिश कानून के अन्तर्गत न्याय का सर्वोच्च आदर्श यह माना जाता है कि अपराधी के भाई-बंद ही उसका न्याय करें। लेकिन भारतीय सिपाही देशी फौजी अदालत को अन्याय का एक सुप्त उपकरण ही मानते थे। यह अदालत वही निर्णय देती थी जो स्वामियों को प्रिय हो। वह अपने मन की वास्तविक बात कभी प्रकट नहीं करती थी। जनरल सर ह्यू

२८. कैप्टन क्रेगी ने एडजुटेंट को लिखा था, "स्मिथ के पास तुरन्त जाओ और उसे कहो कि मेरी सेना के सभी सैनिकों ने अनुरोध किया है कि कल सुबह की प्रदर्शन परेड न की जाय क्योंकि सम्पूर्ण देशी सेना में कारतूस को लेकर उत्तेजना फैली हुई है और यदि उन्होंने कोई कारतूस दागे तो रेजीमेंट 'बदनाम' हो जायेगी। मुझे मालूम हुआ है कि छै की छै सेनाओं में इसी प्रकार की रिपोर्ट तैयार की जा रही है। यह बहुत ही गंभीर मामला है और इस पर ध्यान न दिया गया तो आध घंटे में सारी रेजिमेंट विद्रोह कर सकती है। कृपया एक क्षण भी नष्ट न करके स्मिथ के पास अविलम्ब जाएं।" फ़ारेस्ट: ए हिस्ट्री आफ़ दि इंडियन म्यूटिनी, जिल्द १, पृ० ३२। कर्नल स्मिथ का कहना है कि क्रेगी को इसके लिए प्रधान सेनापति से बहुत झाड़ पड़ी थी।

२९. फ़ारेस्ट, हिस्ट्री आफ़ दि इण्डियन म्यूटिनी, जिल्द १ पृ० ३३

गफ़ ने, जो उस समय मेरठ में था, लिखा है कि उक्त अदालत में "सहायतार्थ एक ब्रिटिश अफसर भी था जिसे 'सुपरिनटेंडिंग अफसर' का नाम दिया गया था। उसकी सलाह और कानूनी जानकारी का प्रभाव संभवतः अदालत के अन्य सदस्यों पर काफी पड़ा।"[३०] कैदियों ने अपने को निरपराध बताया लेकिन उनसे कोई खास जिरह नहीं की गई यद्यपि उन्होंने एक स्वर से उत्तेजित होकर लेफ़्टिनेंट मेलविल क्लार्क को ग़लत बताया।[३१] अदालत का निर्णय सर्वसम्मति से नहीं हुआ क्योंकि १५ सदस्यों में से एक व्यक्ति ने ही विमति प्रकट करने का साहस दिखाया और यद्यपि कैदियों को अपराधी करार दिया गया तथा १० वर्ष के कठोर कारावास का दण्ड दिया गया, तथापि यह सिफ़ारिश भी की गई कि उनकी दीर्घ-कालीन सेवा के अच्छे आचरण और अफ़वाहों के कारण उत्पन्न भय को ध्यान में रखा जाय। डिविज़नल कमांडर, जेनरल हेविट आराम-पसंद स्वभाव का था लेकिन उसने कोई भी ऐसी बात नहीं पाई कि वह उन सिपाहियों के अपराध को क्षमा कर देता और उसने केवल ११ सिपाहियों की सजा उनकी उम्र का विचार करके कम कर दी।[३२]

होम्स लिखता है, "६ मई को सवेरे आकाश में आंधी, तूफ़ान के सूचक काले बादल घिर रहे थे, सूर्य का कहीं पता न था। ऐसे में अपराधियों को अपमानित होते देखने के लिए पूरी ब्रिगेड को बुलाया गया। वर्दियां उतार कर इन बेचारों को लुहारों के सुपुर्द कर दिया गया जिन्होंने उन्हें हथकड़ियों-बेड़ियों में जकड़ दिया।"[३३] लुहारों ने अपना काम बहुत धीरे-धीरे खत्म किया और प्रायः एक घंटे तक फौज ने चुपचाप अपने साथियों को अपमानित होते देखा। कानूनी दृष्टि से वे अपराधी भले ही सिद्ध हुए हों, पर उन्होंने ऐसा

३०. गफ़, ओल्ड मेमोरीज़, पृ० १२-१३

३१. गफ़, ओल्ड मेमोरीज़, पृ० १४। गफ़ का यह कहना कि जिरह हुई ही नहीं पूर्णतः सही नहीं है। एक अपराधी नायक कुदरत अली ने कर्नल कारमाइकल स्मिथ से कुछ सवाल किए थे।

३२. गफ़ ने जब यह लिखा कि "बूढ़े सिपाहियों को कालेपानी की या जन्म कैद की सज़ा दी गई, शेष को पन्द्रह, बीस और दस वर्ष की कैद की, पर किसी को भी दस वर्ष से कम कैद की सज़ा नहीं मिली" तो स्पष्टतः उसकी स्मरण शक्ति उसका साथ नहीं दे रही थी। गफ़, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १६। यह स्पष्ट है कि जनरल हेविट सिपाहियों की आशंका के सम्बन्ध में विचार करके कोई रिआयत देने को तैयार नहीं था। उसने लिखा है, "उनमें से कुछ ने यह इच्छा प्रकट करने की धृष्टता की कि जब तक देशी सेनाओं में कारतूस को लेकर फैलने वाला आन्दोलन खत्म नहीं हो जाता, तब तक के लिए चांदमारी की परेड ही स्थगित रखी जाय।—अब भी वे अनुशासन-हीनता के ऐसे भयंकर काण्ड को यह कह कर और औचित्यपूर्ण बतलाते हैं कि कारतूस के बारे में उन्हें सन्देह था। न ग़लती मानी गई, न पश्चात्ताप किया गया, और न क्षमा-प्रार्थना की गई।—मैं निम्नलिखित व्यक्तियों की जिन्हें सेना में भरती हुए ५ वर्ष से अधिक समय नहीं हुआ, आधी सज़ा माफ़ करता हूँ।" ईस्ट इन्डीज़ के विद्रोह सम्बन्धी अन्य कागज़ात (संख्या ८ ए) पृ० ४-५

३३. होम्स, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ६७

कुछ भी न किया था जिससे उन्हें बुरा या दुश्चरित्र कहा जा सके। वे "प्रायः चुनिन्दा सिपाही थे और सैन्य दल के काफी प्रतिष्ठित लोगों में से थे।"[34] जनरल गफ़ ने लिखा है, "हमारे सिपाहियों में काफी कानाफूसी चल रही थी और यदि ब्रिटिश सैनिक उपस्थित न होते तो कहा नहीं जा सकता कि क्या न घटित हो जाता।"[35] लेकिन परेड चुपचाप खत्म हो गई। कुछ सिपाहियों के चेहरे पर उदासी छा गई पर कोई गड़बड़ी न हुई। गफ़ ने लिखा है, "जब सिपाहियों ने महसूस किया कि वे क्या कुछ खोने जा रहे हैं, तो उनका हौसला पस्त हो गया। बूढ़े सैनिकों ने, जो अपने अंग्रेज स्वामियों के साथ भयंकर युद्धों में लड़कर कितने ही तमग़े जीत चुके थे, दहाड़ मार कर रोना शुरू किया, अपने भाग्य को दोषी ठहराया और अपने अफसरों से प्रार्थना की कि वे उन्हें भविष्य के कष्टों से बचायें। नौजवान सैनिकों ने भी यही सब किया। मैंने शायद ही कभी जीवन में इतना करुण दृश्य देखा होगा। मैं चार वर्ष पहले ही सेना में प्रविष्ट हुआ था। अतः उस काण्ड का मुझ पर गहरा असर पड़ा। मैंने अपने आपको इतना दुर्बल तो पाया ही कि मैं उनके दुःख से दुःखी हुआ। यह स्पष्ट था कि कम से कम वे सब यह नहीं जानते थे कि आगे क्या-कुछ घटित होने जा रहा है—और न ही हम लोग जानते थे।"[36]

गर्मी का लम्बा दिन बीतता गया लेकिन अशान्ति के कोई भी चिह्न न दिखाई दिए। रात में कोई नया अग्नि-काण्ड नहीं हुआ। सवेरे सिपाही पूर्ववत् शान्त रहे। उनमें से कुछ वकीलों के पास सलाह लेने गए कि अपील दायर की जा सकती है या नहीं।[37] गफ़ की टुकड़ी के एक देशी अफसर ने ९ तारीख की शाम को उससे कहा कि अगले दिन विद्रोह शुरू होगा, लेकिन कर्नल कारमाइकल स्मिथ ने इस सूचना की उपेक्षा की और "इस प्रकार की बेकार की गप" पर विश्वास करने के लिए नौजवान सैनिक की भर्त्सना की। ब्रिगेडियर विलसन ने भी इसी प्रकार अविश्वास किया। शाम को सिपाही रोज की ही तरह अपनी प्रिय जगह बाज़ार में मटरगश्ती करते रहे।

हथकड़ी-बेड़ी में जकड़े कैदियों को सुरक्षित रूप में नागरिक जेल पहुंचा दिया गया और आने वाले तूफ़ान का कोई भी संकेत किसी को नहीं मिला। लेकिन अफ़वाहें गर्म

३४. गफ़, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १९

३५. वही, पृ० १८

३६. वही, पृ० २०–२१

३७. रिसालदार जे० हाज़ ने बताया है कि ३रे रिसाले के कुछ लोगों ने उससे १० मई को कहा कि "वे अगली सुबह कर्नल को एक अर्जी देने वाले हैं और अनुरोध करने वाले हैं कि वह उसे जनरल कमांडिंग तक पहुँचा दे। इस अर्जी में ८५ कैदियों को रिहा कर देने की प्रार्थना की जाएगी और यह भी लिखा जायगा कि वे किसी भी प्रकार की आज्ञा का पालन करने को तैयार रहेंगे।" डिपोज़ीशन्स, सं० २०, पृ० १४। मेजर विलियम्स का कहना है कि वज़ीर अली खां के एक अलिखित ब्यान के अनुसार "ऐसा प्रतीत होता है कि सैन्यदल ने पहले अपने साथियों के लिए न्याय की शरण लेना तय किया था।" मेजर विलियम्स का मेमोरैण्डम, पृ० ५-६

थीं। एक नौकरानी ने एक कश्मीरी लड़की से या उसकी मां से सुना कि सिपाही सशस्त्र विद्रोह की बात सोच रहे हैं, और सिपाहियों ने सुना कि २,००० जोड़ी बेड़ियों तैयार हो चुकी हैं और सभी भारतीय सैनिकों के हथियार रखवा लिए जाएंगे। लेकिन शहर के लोगों ने इन अफ़वाहों पर कोई ध्यान न दिया। दुकानें पूर्ववत् खुलीं और काम-धंधे पहले की ही तरह चलते रहे। और सड़कों और चौरस्तों पर भीड़-भाड़ की चहल-पहल यथावत् बनी रही।

लेकिन शाम को ५ बजे के बाद तूफ़ान आ ही गया। सिपाही-लाइन की ओर दौड़ते हुए एक बवर्ची लड़के ने यह खबर फैलाई कि रेजीमेंट के हथियारों पर कब्जा करने के लिए तोपचियों और बन्दूकधारी सेनिकों के दस्ते आ रहे हैं। सहसा आने वाली इस स्थिति से सिपाही घबरा गए। उन्होंने अभी न वर्दियां पहनी थीं और न हथियार लिए थे, वे अपनी बैरकों में भागे। उन्हें सूझ ही न रहा था कि आख़िर वे क्या करें। जैसा कि ऐसे मौकों पर होता है, आत्म-रक्षा की प्रवृत्ति ने ज़ोर मारा। ३री रिसालदार सेना के सवार पुराने जेलखाने की ओर गए और उन्होंने अपने साथियों को मुक्त कर दिया। इनमें कुछ तो वर्दी में थे, कुछ बिना वर्दी के। २०वीं नेटिव इन्फेन्ट्री परेड के मैदान में आ जमी और फिर शास्त्रागार में घुस गई। ११वीं नेटिव इन्फेन्ट्री भी घबरा रही थी, लेकिन उतनी अस्त-व्यस्त नहीं हुई। दुकानदारों ने तुरंत अपनी-अपनी दुकानें बन्द कर दीं और खिड़कियों की सिटकिनियां मज़बूती से बन्द कर दीं। बाज़ार के गुण्डों ने उपद्रव में प्रसन्नतापूर्वक भाग लिया। प्रायः ४ घंटे गुज़र चुकने के बाद आस-पास के गांवों के उपद्रवी गूजरों को इन बातों का पता चला और वे शहर में आ घुसे। बहादुर कर्नल कारमाइकेल स्मिथ इस समय कहीं दिखाई न दिया। अपने मातहतों को अपनी रेजिमेंट की देखरेख का भार सौंपकर वह पहले तो कमिश्नर के पास गया, फिर ब्रिगेडयर के पास, और अन्त में जनरल कमांडिंग के पास, जहां तोपखाने से सुरक्षित छावनी में उसने वह रात बिताई। अफसरों में बहादुरी की कमी न थी। तोपखाने की कमान मेजर टोम्ब्स ने संभाली हुई थी, जिसने बाद में दिल्ली की दीवारों के सामने बड़ी वीरता दिखाई। नौजवान सैनिक गफ़ ने अपनी वीरता के पुरस्कार स्वरूप बाद को विक्टोरिया क्रास जीता और अजेय हाडसन के साथ अनेक युद्धों में भाग लिया। जोन्स ने भी बाद को दिल्ली पर हमला बोलने वाली टुकड़ियों में से एक की कमान संभाली। ब्रिगेडियर आर्चडेल विल्सन दृढ़ संकल्प वाला सैनिक तो न था पर उसने दिल्ली के घेरे को सफल रूप से समाप्त किया। किन्तु जनरल कमांडिंग हेविट इस अवसर की गंभीरता के योग्य सिद्ध न हुआ। इस ७० वर्षीय वृद्ध जनरल ने इस मौके पर बहुत ही कमज़ोरी दिखाई। उसकी अपनी कठिनाइयां थीं। उसके सभी घुड़सवारों को सवारी नहीं आती थी और जिन्हें आती भी थी उनके पास घोड़े न थे। बन्दूकचियों को गोला-बारूद देर से मिला, और किसी को पता न था कि दुश्मन है कहां, क्योंकि सिपाहियों की कोई पूर्व-निश्चित योजना तो थी ही नहीं और प्रत्येक जत्था मनमाने ढंग पर अलग-अलग दिशा में गया था। परिस्थिति काबू से बाहर न थी और यदि कुछ विचार और स्फूर्ति से काम किया जाता तो सब कुछ ठीक हो सकता था। लेकिन हेविट की आलोचना करते हुए हमें यह न भूल जाना चाहिए कि उसे सहसा ही इस परिस्थित का सामना करना

पड़ा, और यह देखते हुए उसे अयोग्य कहना उसके प्रति उदारता न होगी कि जनरल पेनी जिसने उसे अपदस्थ किया, शिमला में नसीरी रेजिमेंट द्वारा विद्रोह के चिह्न प्रकट करने पर कई उच्च अफसरों के साथ कोंथल को भाग गया था और उस काले रविवार को कलकत्ते के लोगों ने भी कोई अच्छा आचरण नहीं किया था।

जहां बवर्ची लड़के की चीख-पुकार से आंतक फैल गया, वहीं और भी अनेक ऐसे कारण थे जिन्होंने आतंक फैलाने में मदद दी। राइफ़ल्स के सिपाही चर्च परेड के लिए तैयार हो रहे थे और उनकी गति-विधि ने पहले की अफ़वाहों को कुछ-कुछ सचाई का जामा पहना दिया। जब तीसरी रिसालदार सेना के गरम विचारों के सिपाही वकीलों से सलाह कर रहे थे, तब यह असंभव नहीं कि तेज मिज़ाज वाले सिपाही शस्त्र-बल से बन्दियों को छुड़ाने की बात सोच रहे हों और जब गड़बड़ी शुरू हुई तो वे स्वभावतः जेलखानों की ओर दौड़ गए। यह साफ मालूम नहीं कि उन्होंने अपने साथियों को छुड़ाकर ही सन्तोष किया या अन्य कैदियों को भी रिहा किया।[३८] ड्यूटी पर तैनात रक्षकों ने उनका सामना नहीं किया और उन्होंने जेलर या उसके परिवार को तंग नहीं किया। लेकिन इसके आगे की घटनाओं का सही वर्णन प्राप्त नहीं है। केवल यही मालूम है कि अग्निकाण्ड, लूट-पाट, और हत्या का सिलसिला जारी रहा और आयु या लिंग का कोई विचार नहीं किया गया। भय ने सिपाहियों का दिमाग़ फेर दिया था, लेकिन उन्होंने जघन्यतम कृत्य नहीं किए। वस्तुतः जो ड्यूटी पर थे वे छावनी में अपनी जगह ही डटे रहे। तीसरी रिसालदार सेना का एक सैनिक घुड़सवार बाज़ार गया और मैककार्टनी, मैकएलराय, काल्डवेल तथा मैक-केड आदि तोपचियों से भाग खड़े होने का अनुरोध किया।[३९] ११ वीं नेटिव इन्फैन्ट्री के हवलदार मेजर ने कर्नल फिनिस की हत्या और रेजीमेंटों के विद्रोह की खबर एक यूरोपियन डाक्टरी अफसर को दी। रिसाले का एक स्वामिभक्त गैर-कमीशन प्राप्त अफसर गफ़ के बंगले पर गया और उसे उपद्रव की खबर दी। उस भयावह शाम की घटनाओं का उल्लेख कई अंग्रेज अफसरों और महिलाओं ने किया है, लेकिन उनका वर्णन अधूरा है, जो स्वाभाविक ही था। दूसरे दिन भेजी गई मेजर जनरल हेविट की रिपोर्ट में भी विस्तृत विवरण का अभाव है और हमें पता नहीं चलता कि किस क्रम से, एक के बाद एक हिंसात्मक काण्ड हुए। यह स्पष्ट है कि कोई भी रेजिमेंट ऐसी नहीं थी जिसमें स्वामिभक्त सिपाही न रहे हों। तीसरी रिसालदार सेना में भी, जो छावनी की सबसे अधिक असंतुष्ट सेना थी, प्रायः एक सौ सवार स्वामिभक्त बने रहे। सबसे कम असर ११वीं नेटिव इन्फैन्ट्री पर पड़ा जिसके अधिकांश सिपाही विद्रोह की ज्वाला भड़कने पर चुपचाप बिखर गए और इनमें से १२० बाद को फिर मेरठ लौट आए। उत्तेजित २०वीं नेटिव इन्फैन्ट्री में भी कुछ नरम विचारों के लोग थे लेकिन जो बहुमत के साथ मिल गए, उनके विचार बहुमत से पूर्णतया सहमत न थे।

३८. देखिए जेम्स ड्रूरिट की गवाही, डिपोज़ीशन्स, सं २१, पृ० १४-१५। वह कहता है कि नई जेल पर रात के २ बजे के बाद ग्रामीणों का हमला हुआ और ८३९ कैदी छुड़ा लिए गए।

३९. डिपोज़ीशन्स, संख्या ४०-४३, पृ २७ २९

कम से कम उदाहरण ऐसा है जब कि एक गैर-कमीशनप्राप्त अफसर ने, जिसने अन्त तक अपने ब्रिटिश प्रभुओं का साथ दिया, रेजीमेंट के प्रति अपनी भक्ति को अपनी व्यक्तिगत धारणाओं से अधिक महत्व दिया। उसने अपने दो साथियों के साथ लेफ्टिनेंट गफ़ को तोपखाने तक सुरक्षित रूप में पहुंचाया। उस वीर अफसर गफ़ का कहना है, "उन्होंने मुझे रक्षापूर्वक पहुंचा कर अंतिम सलाम किया और फिर वे वापस चले गए, यद्यपि मैंने उनसे हार्दिक अनुरोध किया कि वे मेरे साथ रहें किन्तु देशी अफसर ने कहा कि उसके रेजीमेंट के साथियों के प्रति उसका प्राथमिक कर्तव्य है और जीवन तथा मरण दोनों में वे सब साथ ही रहेंगे।[४०]

ऐसा प्रतीत होता है कि जब तीसरी घुड़सवार सेना के सवार पुरानी जेल की तरफ़ गए तो २०वीं नेटिव इन्फैन्ट्री परेड मैदान को गई। उसकी पड़ोसी ११वीं नेटिव इन्फैन्ट्री ने भी यही किया। उनका कमांडर कर्नल फिनिस तुरंत घटनास्थल पर पहुंचा और व्यवस्था स्थापित करने के उसके प्रयत्न को पहले कुछ सफलता मिली। २०वीं नेटिव इन्फैन्ट्री ने भी युक्तियुक्त बात सुनने का रुख दिखाया। लेकिन तभी तीसरी घुड़सवार सेना का एक सैनिक भागता हुआ आया और उसने दुबारा आतंकपूर्ण खबर दी कि यूरोपियन सैनिक आ रहे हैं। बस, तभी से अव्यवस्था और अराजकता फैल गई। एक नये रंगरूट ने कर्नल फिनिस को निशाना बना कर बन्दूक का घोड़ा दबा दिया और कर्नल वहीं ढेर हो गया।[४१] अपने कमांडिंग अफसर की हत्या ने ११वीं नेटिव इन्फैन्ट्री के डांवांडोल मन में स्थिरता ला दी। वस्तुतः २०वीं सेना ने उन पर भी गोली चलाई थी। लेकिन अब जबकि कर्नल फिनिस का खात्मा किया जा चुका था, ११वीं सेना ने सोचा कि इसके लिए उसे भी जिम्मेदार ठहराया जाएगा। अतः उसकी सुरक्षा इसी बात में है कि वह विद्रोही २०वीं सेना से मिल जाय। उसके कुछ अफसर अब भी उसके साथ थे। उसने उनसे कहा कि वे अपनी सुरक्षा का प्रबन्ध कर ले। न तो ११वीं सेना ने और न तीसरी सेना ने ही अपनी अफसरों को कोई क्षति पहुंचाई। लेफ्टिनेंट गफ़ ने लिखा है, "वास्तव में मै कह सकता हूं कि हमारे सिपाहियों ने एक भी अफसर की जान नहीं ली।"[४२] और डिप्टी कलक्टर वजीर अली खां ने लिखा है कि यद्यपि सारी रात लूट-पाट होती रही, सिपाहियों ने एक भी चीज़ को हाथ नहीं लगाया। 'उन्होंने केवल बंगलों को जलाया और यूरोपियनों को मारा। कम से कम शहर और सदर में यही अफ़वाह थी।"[४३] ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है कि जब

४० गफ़, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ३८। गफ़ आगे कहता है, "मैं अपने उस मित्र देसी अफसर के विषय में फिर कुछ नहीं मालूम कर सका। मैं निस्संदेह उसका नाम जानता हूँ और यद्यपि मैं उसके घर का पता भी लगा सका, जो अवध ज़िले में था, पर उसका कतई पता न चल सका और मैं इसी निष्कर्ष पर पहुंचा कि वह दिल्ली में विद्रोहियों के शिविर में मरा होगा।"

४१. यह कहा जाता है कि उस नए रंगरूट को, जिसने कर्नल फिनिस को मारा था, बाद में सिपाहियों ने मौत के घाट उतार दिया।

४२. गफ़, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ३६

४३. डिपोज़ीशन्स, सं० ३ पृ० २

सिपाहियों ने लुटेरों को खदेड़ा और अरक्षित लोगों की रक्षा की।

सबसे अधिक उत्पात मचाने वाले लोग शहर की गन्दी बस्तियों से और जेलखानों से रिहाई पाने वालों में से थे। उनके साथ शहर की पुलिस भी मिल गई। स्थानापन्न कोतवाल धन्नासिंह गूजर था और उसके मातहत सिपाही अधिकांशतः उसी के अपराधी मनोवृत्ति वाले कबीले के लोग थे। इस संकट में उसके लिए उन पर नियंत्रण रखना कठिन हो गया और अपने कर्तव्य को भूलकर वे लूट-पाट की लालसा के वशीभूत हो गए। बेगुनाह राहगीरों को निर्दयतापूर्वक लूटा गया और उनकी हत्या की गई। यूरोपियन और भारतवासी, दोनों उनके हाथों पड़कर लूटे या मारे गए। बाबू बीरबल का मकान जला दिया गया और कैलाश चन्द्र घोष की शराब की दुकान पर हमला किया गया। लेकिन उस रात की सबसे जघन्य हत्या कैप्टन क्रेगी के बंगले के निकट हुई। श्रीमती चैम्बर्स अपने घर में अकेली थीं। उनके पति ड्यूटी पर बाहर गए हुए थे। वे उस छावनी में नई-नई आई थीं। वे गर्भवती थीं और शीघ्र ही माता बनन वाली थीं। उनकी अवस्था नितान्त असहाय थी। क्रेगी के घर पर स्वामिभक्त सवारों का पहरा था। श्रीमती क्रेगी अपने पड़ोसी को भूली न थीं, लेकिन गड़बड़ी के बीच, उनके नौकरों ने उनके आदेशों का पालन न किया। वह युवा महिला कसाईखाने के जानवर की तरह काट दी गई। बाद को उनके हत्यारे को, जो कसाई ही था, पकड़ लिया गया और उसे फांसी दी गई। श्रीमती चैम्बर्स की पाशविक हत्या से जितना क्षोभ यूरोपियनों में फैला, उतना किसी और घटना से नहीं। और बदला लेने वाली सेना ने सर्वत्र सिपाहियों को ही उस हत्या का दोषी ठहराया।

छावनी में यह विद्रोह एक आकस्मिक रूप में शुरू हुआ। लैफ्टिनेंट गफ़ ड्यूटी पर जाने के लिए शान्तिपूर्वक वर्दी पहन रहे थे। दोनों पादरी चर्च जा चुके थे। ग्रेटहेड दम्पति वहां जाने की तैयारी में थे। लैफ्टिनेंट मैकेंज़ी अपने बंगले में शान्तिपूर्वक अध्ययन कर रहे थे। मिस मैकेंज़ी और श्रीमती क्रेगी शाम की प्रार्थना में भाग लेने के लिए जा रही थीं। और तभी सिपाही लाइनों से 'हल्ला' उठ खड़ा हुआ। गफ़ अपने घोड़े पर सवार हुआ और २०वीं नेटिव इन्फैन्ट्री के परेड मैदान की ओर भागा। सैनिकों की बैरकों की ओर वह नहीं गया। वह लिखता है, "जब मैं सेना के पास पहुंचा, तो जो मैंने देखा उसकी याद सदा बनी रहेगी।" "झोंपड़ियों से ज्वाला निकल रही थी, सिपाही हथियार और गोला-बारूद छीनने के बाद बेतहाशा नाचते और उछल-कूद मचाते हुए फिर रहे थे, और चीखते हुए एक-दूसरे को पुकार रहे थे या हवा में गूंज फैला रहे थे, चारों ओर जैसे भूत-प्रेतादि का उन्मत्त झुंड उतर आया था, सभी अपने अफसरों के, और विशेषतः यूरोपियनों के, खून के प्यासे थे!"[४४] अन्ततः वह अपनी सेना के पास पहुंचा लेकिन वहां भी सब कुछ अत्यंत अव्यवस्थित दशा में था। उसकी हत्या की कोशिश तो नहीं की गई पर उसके आदेश या अनुरोध की भी परवा नहीं की गई। उसे बहुत देर हो चुकी थी, और उसे यूरोपियन बैरकों की ओर लौट जाना पड़ा। रास्ते में उसने ग्रेटहेड दम्पति को सावधान करने की कोशिश की लेकिन वे पहले ही छिप गए थे और उनके स्वामिभक्त नौकरों ने उससे चले जाने को कहा।

४४. गफ़, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० २७-२८

मैकेंज़ी भी हथियारों से लैस होकर साहसपूर्वक बैरकों की ओर गया। उसने सड़क को घुड़सवार सेना के सिपाहियों से भरी हुई पाया और दैववश उसकी मुलाकात कैप्टेन क्रेगी से हो गई। सैनिक दौड़ गए, लेकिन जाने से पहले उन्होंने उस पर कुछ छींटे कसे। यह मानते हुए कि उनको परेड मैदान में ही जाना चाहिए, वे दोनों अफसर वहां पहुंचे। "रेजिमेंट का प्रायः प्रत्येक ब्रिटिश अफसर परेड मैदान में पहुंचा और उसने सभी प्रकार से, अनुरोध से भी और डरा-धमकाकर भी, व्यवस्था कायम करने की कोशिश की। लेकिन फल कुछ न निकला। सिपाहियों के पक्ष में यह अवश्य कहा जायगा कि उन्होंने हम पर हमला नहीं किया लेकिन हमें चेतावनी दी कि हम भाग खड़े हों और नारे लगाए कि कम्पनी सरकार का राज हमेशा के लिए खत्म हो गया।"[४५] क्रेगी ने देखा कि कुछ सैनिक गड़बड़ी में शामिल होने से हिचकिचा रहे हैं। उसने साहसपूर्वक उन सिपाहियों को उन्हीं की भाषा में समझाया-बुझाया। अन्ततः लगभग ४० सिपाहियों का एक जत्था उसके इर्द-गिर्द इकट्ठा हो गया और उन्हें लेकर वह जेल की ओर चला। लेकिन उन्हें बहुत देर हो चुकी थी। कैदियों के झुंड के झुंड निकल भागे थे और जेल-रक्षक भी विद्रोहियों से मिल गए थे। अब तक पूरी छावनी आग की भेंट चढ़ चुकी थी। जबकि क्रेगी और क्लार्क उन स्वामिभक्त सिपाहियों को परेड मैदान की ओर ले जा रहे थे, मैकेंज़ी कुछ सिपाहियों के साथ यह देखने के लिए गया कि उसकी बहन और क्रेगी की बीवी का क्या हाल है। साईस के साहस और प्रत्युत्पन्नमतित्व के कारण वे अपने बंगले तक तो पहुंच गई थीं लेकिन बंगले के चारों ओर आग लगाई जा रही थी और मार-काट मची हुई थी। मैकेंज़ी ने तुरंत अपने सिपाहियों से उनके सम्मान के नाम पर अपील की। "मैंने एक अन्तिम तिनके का सहारा लेने का निश्चय किया। मैं ···महिलाओं को बंगले के फाटक पर ले आया और सिपाहियों को अपने निकट बुलाकर उनसे कहा कि इनकी जीवन-रक्षा तुम्हारे हाथों में है—पागलों की तरह सिपाहियों ने घोड़ों से उतर कर महिलाओं को साष्टांग प्रणाम किया, उनके पांव पकड़ लिए और उन्हें अपने माथे से लगाया और आंसुओं तथा हिचकियों के साथ प्रतिज्ञा की कि वे अपनी जान पर खेल कर उनकी रक्षा करेंगे।[४६]

सिपाही मेरठ में अधिक दिन नहीं रुके। यदि वे रुकते तो मूर्खता ही होती। उनका सामना करने के लिए भली-भांति शस्त्र-सज्जित १५०० यूरोपियन वहां मौजूद थे। और उनकी अपनी ही रण-शक्ति अनिश्चित थी क्योंकि वे भली-भांति जानते थे कि उनके अनेक साथियों का चित्त अभी भी डांवांडोल है। लेकिन उन्हें यह पता न था कि उन्हें कहां जाना है। कुछ ने कहा कि उन्हें मिलकर रुहेलखण्ड जाना चाहिए। अन्य लोगों ने शाही शहर दिल्ली के पक्ष में राय दी, जो केवल ४० मील दूर था। छोटी-छोटी टुकड़ियों में बंट कर वे सुरक्षा की खोज में निकल पड़े। उनकी बैरकें जलकर राख हो चुकी थीं और उनके बाल-बच्चे पीछे छूट गए थे। उनके लिए खाने-पीने तक की कोई व्यवस्था न थी। कुछ हापुड़ की ओर गए, कुछ बागपत की ओर। कुछ अन्य कुछ दिनों बाद गुड़गांवां के निकट जा

४५. मैकेंज़ी, म्यूटिनी मेमायर्स, पृ० १२-१३

४६. वहीं, पृ० १८

पहुंचे। अधिकांश लोग दिल्ली की ओर बढ़े। दिल्ली के एक व्यापारी बाबू हरशरण दास उस रात मेरठ जा रहे थे। रात के १२ और १ बजे के बीच हिंडन नदी पार करने के बाद ही उन्हें आठ सवारों का एक जत्था मिला। चार मील और आगे २५ सिपाहियों का दल मिला। भोर के समय वे मुरादनगर पहुंचे और उन्होंने आम सड़क छोड़ दी क्योंकि वह अरक्षित समझी गई। मूरी गांव में उन्हें जेल-रक्षकों का एक दल मिला। उन्होंने दुःखपूर्ण शब्दों में बताया कि किस प्रकार सदर बाजार के बदमाशों के साथ मिलकर सवारों ने जेल के फाटक तोड़ दिए। दण्ड के भय से उन्होंने मेरठ त्याग दिया है और वे विद्रोहियों से मिल गए हैं। साईस रामलाल को रात के १ बजे के लगभग आठ सवार मिले जब कि वह गाजी-उद्दीन नगर के पुल से होकर मेरठ सड़क पर पहुंचा। मुरादनगर से पांच मील पर उसे ३० विद्रोहियों का एक बड़ा जत्था मिला। मेरठ के पास उसे और भी जत्थे मिले जिनमें से कुछ के पास हथियार थे, कुछ के पास नहीं थे। कई ग्रामीणों ने देखा कि सिपाही जल्दी में थे और राह चलते अपने हथियार फेंकते जा रहे थे।[४७]

सवेरा होते ही भीड़ छंट गई। श्रीमती ग्रेटहेड लिखती हैं, "दिन की रोशनी में साफ़-साफ़ दिखाई दिया कि तहस नहस की लीला कितनी पूर्ण थी। सब तरफ विध्वंस के चिह्न दिखाई दे रहे थे। हमारा वह घर जो कभी दमकता रहता था, अब राख का ढेर था।" छावनी में कइयों का अन्त हो चुका था। रेवरेण्ड टी० सी० स्मिथ ने लिखा है, "मि० रोटन ने और मैंने ३० साथियों को दफ़नाया है। और भी कितने ही लोग बचे हुए हैं जिनके शव अभी नहीं लाए जा सके हैं।" उन्होंने ११वीं नेटिव इन्फेन्ट्री को अग्निकाण्ड और हत्या के दोष से मुक्त बताया है और कहा है कि "उन्होंने सेना की महिलाओं और बच्चों की रक्षा की।"[४८]

यदि १० तारीख की रात भयावह घटनाओं की रात थी, तो उसी रात साहस एवं दयालुता के भी अनेक कार्य हुए। कमिश्नर के जमादार गुलाब खां की कहानी सर्व प्रसिद्ध है। यदि उसकी स्वामिभक्ति आड़े न आती तो ग्रेटहेड दम्पति जलती छतों के तले भस्म हो जाते। बख्तावर चौकीदार ने अपनी जान पर खेल कर अपनी स्वामिनी श्रीमती मैकडोनैल्ड को बचाना चाहा लेकिन दुर्भाग्यवश वह सफल न हो सका। मां की हत्या के बाद वह बच्चों को दाई नसीबन की सहायता से सुरक्षित स्थान पर ले जाने में सफल हुआ। नसीबन अंत तक बच्चों के साथ रही। श्रीमती कोर्टनी की जान तीसरी घुड़सवार सेना के कुछ सवारों ने बचाई। असग़र अली के बंगले पर हमला हुआ लेकिन उसने अपने ईसाई किराएदारों के साथ विश्वासघात करने से इन्कार किया यद्यपि उसे मार देने तक की धमकी दी गई। स्थानीय भारतीयों ने यदि दयालुता न दिखाई होती तो हताहतों की संख्या कहीं अधिक होती।[४९]

४७. डिपोज़ीशन्स सं. २३-२७, पृ० १५-१७

४८. एनल्स आफ़ दि इंडियन रिबेलियन, पृ० १०५-१०७

४९. विलियम को स्मारक पत्र पृ० ४, गवाह सं. ३७ से ३९, ५२ से ५४, ६७ से, ७१, ७३ की गवाहियां भी देखिए

मेरठ का विस्फोट आकस्मिक और अल्पकालिक था, मानों वह गर्मी के मौसम का अंधड़ हो। वह बिना किसी चेतावनी दिए आया, जब तक रहा उसने बड़ा विनाश किया; और तब जितनी शीघ्रता से आया था उतनी ही शीघ्रता से समाप्त हो गया। निस्संदेह कर्नल स्मिथ की परेड तात्कालिक उत्तेजना का कारण बनी। जनरल हेविट ने अपने को, संकटापन्न अवस्था में पाकर कर्नल से पूछा था, "ओह! आपने परेड क्यों करवाई? मेरे डिवीजन में शान्ति रही। और यदि आप एकाध महीना और प्रतीक्षा कर लेते तो सभी कुछ शान्त हो जाता।"[५०] यदि प्रत्येक जिम्मेदार व्यक्ति सजग और विचारशील रहता तो सिवा इसके कि सिपाहियों में गहरे अविश्वास और अप्रियता की भावना व्याप्त रहती, और कोई दुर्घटना न घटती। लेकिन शासक-वर्ग में से किसी एक व्यक्ति का भी अविवेक बारूद के ढेर में चिनगारी का काम कर सकता था।

उपद्रव के शुरू होने के कुछ ही समय बाद अधिकारियों ने कुछ कार्यवाहियां कीं और सिपाहियों के विरुद्ध कुछ प्रदर्शन किए गए। राइफल सेना की एक टुकड़ी को कलक्टर की कचहरी में खजाने के रक्षार्थ नियुक्त किया गया। विलसन तोपखाने और शेष राइफल्स सेना के साथ परेड मैदान की ओर बढ़ा। लेकिन विद्रोही वहां नहीं थे। कैवेलरी लाइन्स के पास कुछ सिपाही घूम-फिर रहे थे। लेकिन जैसे ही गोलियां दागी गई, वे भाग खड़े हुए। विलसन ने सोचा कि सिपाही शायद यूरोपियन क्वार्टरों पर हमला करेंगे, अतः वह अपने अधीन लोगों को उधर ही ले गया। रास्ते में उससे कार्बोनियर्स आ मिले जो रास्ता भूल गए थे। उस रात और कुछ भी नहीं किया गया। किसी का पीछा भी नहीं किया गया। यदि किसी जूनियर अफसर ने प्रस्ताव रखा कि वह सैनिक टुकड़ी लेकर दिल्ली की सड़क पर जाय, तो उसकी बात यूंही उड़ा दी गई। अगले कुछ दिन तक मेरठ ब्रिगेड चुपचाप अपनी बैरकों में पड़ी रही और अपने आलस्य एवं निष्क्रियता को दूर न कर सकी। यह प्रायः निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यदि विद्रोहियों का पीछा किया जाता और उन पर हमला होता तो दिल्ली की रक्षा हो जाती। और यद्यपि आम असन्तोष फैला रहता, जिससे जहां तहां कुछ गड़बड़ी होती, तथापि स्थानीय विद्रोहों को पूरी तरह से दबाया जा सकता था और सरकार को उस व्यापक विद्रोह का सामना न करना पड़ता जो शीघ्र ही देश भर में फैला।

मेरठ की सेना के आलस्य और निष्क्रियता को यही कहकर समझाया जा सकता है कि कभी-कभी शूरवीरों के हृदय भी आतंक से दहल जाते हैं। रोटन ने, जो उस समय वहां उपस्थित था, लिखा है, "सच तो यह है कि हमारे सैनिक अधिकारियों के छक्के छूट चुके थे। किसी को भी मालूम न था कि क्या करना सर्वोत्तम होगा। अतः कुछ भी न किया जा सका"[५१] इससे पहले वीर अंग्रेज ने भारत में अपने को इतना असहाय और अरक्षित कभी न पाया था। शत्रुतापूर्ण जन-समूह से घिरे हुए मुट्ठी भर ब्रिटेन-वासियों ने हर भारतीय के

५०. के, ए हिस्ट्री आफ़ दि सिपाय वार, जिल्द २, पृ० ४५

५१. रोटन, दि चेप्लेन्स नरेटिव आफ़ दि सीज आफ़ दिल्ली, पृ० ७

चेहरे पर विश्वासघात अंकित देखा और हर दिशा में छल-कपट का आभास पाया। "ऐसा प्रतीत होता था कि एक दिन हम सबको देशी नौकर जहर दे देंगे। दूसरे दिन ऐसा लगता था कि किसी मुस्लिम त्यौहार के उपलक्ष्य में हम सब को काट डाला जाएगा। वस्तुतः तरह-तरह की दुर्भाग्यपूर्ण भविष्यवाणियां प्रचलित थीं।'[५२] अतः "महिलाओं, बच्चों और निःशस्त्र नागरिकों को 'दमदमा' में शरण दी गई जिसका उल्लेख प्रायः दीवालों से घिरे बाड़े के रूप में हुआ है। जनरल, उनके कर्मचारी वर्ग तथा अन्य अफसरों ने बैरकों में शरण ली जिन पर रक्षा-सैनिक तैनात कर दिए गए। भीतर-बाहर की चौकियां खत्म कर दी गईं और छावनी में बड़े बजार के 'बदमाशों' और आस-पास के गांवों के गूजरों के प्रवेश के विरुद्ध हर संभव सावधानी बरती गई।'[५३]

५२. रोटन, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० २२

५३. मैकेंज़ी, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ३६.

अध्याय ३

दिल्ली

दिल्ली में बादशाह था, उसका कोई साम्राज्य नहीं था पर उसके पूर्वजों के साम्राज्य की यादगार अब भी ताजा थी। बादशाह का शासन-क्षेत्र महल और किले से बाहर तो था ही नहीं पर किले में भी जो थोड़ा बहुत शासन था, अंग्रेजों के नियंत्रण के कारण वह भी सीमित था। परम्परा के अनुसार तो सम्राट को अब भी बहुत अधिक सम्मान प्राप्त था और जनता की श्रद्धा के कारण उसके पद की बड़ी भारी शान थी, किन्तु उसकी स्थिति वस्तुतः ऐसी न थी। बादशाह का जीवन-यापन पेन्शन से होता था। किन्तु उसके दरबारी इस पेन्शन को बादशाह के प्रति सम्मान का सूचक मानते थे। वास्तविक स्थिति तो यह थी कि उसकी बादशाहत अंग्रेजों की कृपा पर कायम थी। परन्तु जन-साधारण के लिए तो वही भारत का सम्राट था, बाबर तथा अकबर का वास्तविक उत्तराधिकारी और देश के वास्तविक शासकों का कानूनी रूप से स्वामी भी वही था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सरकार ने इस उत्तराधिकार और प्रभुसत्ता के भ्रम को बड़ी सावधानी के साथ बनाए रखा। कुछ दिन पहले तक भी कम्पनी की सरकार बादशाह के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने के लिए उन्हीं रस्म-रिवाजों का पालन करती रही जिसके कि उसके पूर्वज अपने साम्राज्य के समय में आदी थे। जब गवर्नर-जनरल दिल्ली के शाही नगर से होकर गुजरते तो उनके प्रतिनिधि नंगे पैर दरबार में शाही तख्त के सामने हाजिर होते और बड़े अदब से बादशाह के स्वास्थ्य के बारे में पूछते और 'शाहे आलम' को नजर पेश करते।[1] बादशाह भी परम्परागत ढंग से उन्हें एक सम्मानसूचक परिधान पहनाता, दरबार की ओर से पहले की

१. नज़र सामान्यतः ईद, बकर-ईद, नौरोज़ और बादशाह के जन्म दिन, साल में इन चार अवसरों पर पेश की जाती थी। जो रस्म-रिवाज बरते जाते थे उनके बारे में एडवर्ट लिखित "रेमिनिसेन्सेज़ आफ़ ए बंगाल सिविलियन" को देखें, जिसे के ने उद्धृत किया है। ए हिस्ट्री आफ़ दि सीपाय वार, दूसरी जिल्द, ६६१-६६२ पृष्ठ पर लिखा है, "बादशाह के सामने हमें नंगे पैर हाजिर होना पड़ता था। किसी छोटे आदमी के किसी बड़े आदमी के पास जाने पर उसके प्रति श्रद्धा प्रकट करने की भारत में युगों से यही प्रथा रही है। ऐसी स्थिति में हम यह करते थे कि जूते पर ही कश्मीरी मखमल के मौज़े पहन लेते थे। हम सम्राट के सामने झुक कर सलाम करते और तख्त के पास जाकर सोने की मुहरों की थैली भेंट कर सम्राट की कुशल पूछते।"

तरह एक विज्ञप्ति जारी की जाती जिसमें लोगों को बताया जाता था कि सम्राट ने क्या किया और क्या कहा। कुछ देशी रियासतों में अभी भी बादशाह के नाम पर सिक्के जारी किए जाते थे।[२] गौरवशाली अतीत का जीता-जागता प्रतीक यह बादशाह जो अब भी लोगों की आशाओं का केन्द्र-बिन्दु था विदेशी प्रभुओं के लिए खतरा बना हुआ था, क्योंकि वह कानूनी अधिकार का प्रतिनिधि था और एकमात्र उसी के आधार पर कम्पनी सरकार के विरुद्ध सशस्त्र प्रतिरोध का समर्थन किया जा सकता था।

कम्पनी की सरकार इस खतरे की ओर से उदासीन नहीं थी। उसने बड़ी सावधानी से भारत के सभी प्रमुख राजवंशों को समाप्त कर दिया था। और उनके कानूनी उत्तराधिकारियों को गद्दी से हटा कर दूर-दूर के स्थानों पर रख दिया था। पेशवा को, जिसका समूचा मराठा साम्राज्य भक्त था, उत्तर-भारत के दूरवर्ती एक गांव में रख दिया गया था। टीपू के उत्तराधिकारियों को वेल्लोर से कलकत्ता ले आया गया था। रणजीत सिंह के लड़के को एक ब्रिटिश द्वीप में रख दिया गया था, जहां किसी तरह की गड़बड़ हो ही नहीं सकती थी। किन्तु नाममात्र के बादशाह को अपने पूर्वजों की राजधानी में शाहजहां के महल में ही रहने दिया गया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने एक बार तो अपना काम निकालने के लिए इस प्रचलित धारणा से लाभ उठाया था कि दिल्ली का बादशाह ही भारत का सार्वभौम सम्राट है। लेकिन बंगाल और कर्नाटक में अपनी शक्ति सुदृढ़ हो जाने और मराठा तथा सिख शक्तियों का पतन होने के कारण दिल्ली की राजतन्त्रीय संस्था की कोई राजनीतिक उपयोगिता नहीं रही थी। इसके अतिरिक्त यह तो एक वैधानिक असंगति थी कि कानूनी शासक तो कोई और था तथा देश की वास्तविक सरकार किन्हीं दूसरे लोगों के हाथ में थी। इसलिए शाही खिताब को समाप्त करना और शाही परिवार को दिल्ली के किले से हटाना नितान्त आवश्यक हो गया था।

बहादुरशाह को १८३७ में शाही खिताब मिला। उनके पिता की तरह उन्हें भी बादशाह और ग़ाज़ी की उपाधि मिली क्योंकि जनता बहुत दिनों से साम्राज्यहीन सम्राट और युद्ध का अनुभव न रखने वाले योद्धा को देखने की आदी हो चुकी थी। अब वृद्धावस्था के कारण बहादुरशाह इस स्थिति में न था कि वह किसी ऐसे ध्येय के लिए खड़ा हो सके जिसके कोई और समर्थक न थे। साधारण समय में भी बहादुरशाह से इससे अधिक और आशा नहीं की जा सकती थी कि वह अपने दरबार की शान-शौकत बनाए रखे। बहादुरशाह में अपने युद्ध निष्णात पूर्वजों जैसा साहस और क्षमता न थी पर उसे उनकी साहित्यिक अभिरुचि विरासत में मिली थी। अपने फालतू समय में वह नज्में लिखा करता था।[३]

---

२. साम्राज्य की विधिवत् समाप्ति पर भी वह प्रथा जारी रही। "होल्कर शाही के सिक्कों पर तुकोजी राव द्वितीय (१८४४-१८६६) के शासन काल तक भी शाह आलम द्वितीय का नाम लिखा होता था। इसी प्रकार ग्वालियर के रुपये पर १८८६ तक अकबर द्वितीय का उल्लेख मिलता था।" सेन और मिश्र : "संस्कृत डाक्युमेण्ट्स", पृ० ६३

३. उसने नज़्मों के चार दीवान लिखे और विद्रोह के भयंकर दिनों में भी उसे नज़्में लिखने में आनन्द आता था।

बहादुरशाह एक विलासी दरबार के षड्यंत्रों से भरे एवं चरित्र को दूषित करने वाले वातावरण में पैदा हुआ था और इसलिए वह अपने समय के अंधविश्वासों तथा अपना मतलब गांठने वाले लोगों के प्रभाव से अछूता न रह सका।[४] हसन अस्करी उसका आध्यात्मिक गुरु था। किन्तु वह बड़ा शैतान था। प्रत्येक मुग़ल शहज़ादा अपने परिवार के बीते गौरव के सपने देखा करता; लेकिन बहादुरशाह एक ऐसा व्यक्ति था, जिसने अंग्रेज़ों के लिए कभी कोई मुसीबत खड़ी नहीं की। अपने पिता की तरह बहादुरशाह ने कम्पनी से अपने भत्ते में वृद्धि की मांग की, लेकिन कम्पनी उसकी पेन्शन में तभी वृद्धि करने को तैयार थी जब वह अपना खिताब छोड़ दे और महल भी छोड़ कर चला जाए। केवल एक और काम में उसकी गहरी दिलचस्पी थी। वह चाहता था कि उसका उत्तराधिकारी उसके बुढ़ापे की एकमात्र औलाद जवांबख़्त बने जो नाबालिग था और जो उसकी सर्वाधिक प्यारी बेगम ज़ीनत महल से पैदा हुआ था। लेकिन कठिनाई यह थी कि जवांबख़्त से उम्र में बड़े कई और शहज़ादे थे जो खिताब के अधिकारी थे। फिर भी जब कभी मौका मिलता बहादुरशाह बराबर कम्पनी की सरकार से अपनी इसी मांग पर जोर देता। इधर कम्पनी सरकार ऐसे अवसर की ताक में थी कि वह किसी तरह बहादुरशाह को पुराने शाही खिताब छोड़ने और किला छोड़ कर कुतुब के पास किसी स्थान पर रहने के लिए राजी कर ले जो पुराने शाही जमाने की अपनी याद न दिला सके।

बहादुरशाह ऐसा त्याग करने के लिए तैयार न था, जिससे उसके खानदान के नाम पर धब्बा लगे। ब्रिटिश सरकार ऐसी हास्यास्पद स्थिति को ज्यादा दिन नहीं रहने देना चाहती थी, जिसमें उसे बादशाह का दरबारी बन कर रहना पड़ रहा था, लेकिन वह इस सवाल पर बल प्रयोग नहीं करना चाहती थी। मुग़ल सिंहासन की सत्ता यद्यपि समाप्त हो चुकी थी, फिर भी लाखों, करोड़ों लोगों के हृदय में उसके लिए श्रद्धा थी, और एक ऐसी ऐतिहासिक असंगति को दूर करना, जिससे कोई विशेष असुविधा न हुई हो परन्तु जिससे जनता की कोमल भावनाओं को ठेस पहुंचती हो, दूरदर्शिता का परिचायक नहीं प्रतीत होता था। लेकिन अधीनता के बाह्य रूपों को एक-एक करके खत्म किया जा रहा था। लार्ड एलेनबरो ने अपनी ओर से और रेज़ीडेंट की ओर से भी नजर भेजना बन्द करवा दिया, यद्यपि यह व्यवस्था अवश्य कर दी गई कि उन्हें नजर के बराबर रकम मिल जाया करे। विशेषाधिकार छिन जाने पर उसकी क्षतिपूर्ति रुपए से नहीं हो सकती और बहादुरशाह तथा उसके परिवार को यह बहुत बुरी तरह अखरा, लेकिन वह अपनी व्यथा खुल कर व्यक्त नहीं कर सकता था। इस बीच लार्ड डलहौज़ी ने इंग्लैण्ड के अधिकारियों पर इस बात के बारे में जोर दिया कि शाही खिताब को समाप्त करना तथा शाही परिवार को किसी अन्य

---

४. सर सैयद अहमद ने लिखा है कि "भूतपूर्व बादशाह का यह निश्चित विचार था कि वह अपने आपको मक्खी या पिस्सू बना सकता है।" दि काज़ेज़ आफ़ दि इण्डियन रिवोल्ट, पृ० ४। जीवन लाल ने लिखा है कि बादशाह ने अपने एक अफसर को एक ताबीज़ दिया था जिससे उसे विजय प्राप्त हो सके। मेटकाफ़ : टू नेटिव नरेटिव्स आफ़ दि

स्थान पर ले जाना नितान्त आवश्यक है, परन्तु इस विषय पर संचालक मण्डल, नियंत्रण बोर्ड से असहमत था। जब गवर्नर-जनरल को आवश्यक अधिकार मिला तो उन्हें होब हाउस से सहमत होना पड़ा और इस कार्य के लिए बलप्रयोग का विचार छोड़ देना पड़ा।[५] अब यह तय हुआ कि बहादुरशाह की मृत्यु की प्रतीक्षा की जाए क्योंकि वृद्ध और दुर्बल होने के कारण बहादुरशाह के अधिक दिन जीवित रहने की सम्भावना न थी। १८४६ में जब बहादुरशाह के प्रथम उत्तराधिकारी की मृत्यु हो गई, तो दिल्ली दरबार के रेज़ीडेंट ने बहादुरशाह के द्वितीय उत्तराधिकारी फ़कीरुद्दीन से एक निश्चित समझौता-सा कर लिया कि उसके पिता की मृत्यु के बाद उसे शाही परिवार का प्रधान मान लिया जायगा, उसे शहज़ादे या युवराज का खिताब दे दिया जाएगा, लेकिन उसे किला, जहां से शहर, यमुना नदी और शस्त्रागार पर निगरानी रहती थी, खाली करना होगा। यह समझौता बहुत दिनों तक गुप्त नहीं रह सका; और अधिकांश शहज़ादों ने इसका विरोध किया। १८५६ में शहज़ादा फ़कीरुद्दीन भी मर गया। उसे विष देकर मारने का संदेह होना अस्वाभाविक नहीं था। बादशाह ने ज़ीनत महल के कहने से जवांबख़्त का दावा फिर पेश करने की कोशिश की लेकिन सफलता की आशा करना दुराशा मात्र थी। दिल्ली दरबार के अब गिने-चुने दिन रह गए थे। बहादुरशाह की मृत्यु के बाद शाहजहां और आलमगीर की अयोग्य सन्तानों का अपने पूर्वजों के किले से निकाल दिया जाना निश्चित था; इस बीच कोई चमत्कार ही हो जाए तो बात दूसरी थी।

११ मई, १८५७ को सवेरे पता चला कि मेरठ के विद्रोही सिपाही यमुना पर नावों का पुल बना कर दिल्ली की ओर आ रहे हैं। मेरठ के विद्रोह का दिल्ली में बिल्कुल पता न था। गर्मियों में स्थानीय कालेज सवेरे के समय ही लगता था। प्रोफेसर रामचन्द्र सवेरे कालेज गए। उन्हें क्या पता था कि आज का दिन उनके लिए क्या लेकर आया है।[६] प्रसिद्ध अन्वेषक मुंशी मोहनलाल बड़े आराम से अपने एक अंग्रेज़ मित्र से बातचीत कर रहे थे। एक दिन पहले ही कलकत्ते से कागज़ात आए थे।[७] झज्जर के नवाब का एजेंट काशी प्रसाद हमेशा की तरह सवेरे की घुड़सवारी पर निकला। कोई ऐसी असाधारण बात न दिखाई दी कि उन्हें आसन्न विपत्तियों का कोई आभास मिलता।[८] मुंशी जीवन लाल महल में कैप्टन डगलस के पास अपनी डायरी लेकर गए, वहां से घर आकर अदालत जाने के लिए पालकी तैयार करने का हुक्म दिया।[९] पहाड़गंज के थानेदार मैनुद्दीन हसन एक फौज-

५. ली वार्नर, दि लाइफ़ आफ़ दि मारक्विस आफ़ डलहौज़ी, जिल्द २, पृ० १३४-१३८

६. एनल्स आफ़ दि इण्डियन रिबेलियन, पृ० २१०—एक रात पहले ही रामचन्द्र को बताया गया था कि सिपाहियों के असंतोष का कारण दूर कर दिया गया है

७. वही, पृ० २०७–२०६

८. कोल्डस्ट्रीम और म्योर, भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रांत की सरकार के खुफ़िया विभाग के कागज़ात, जिल्द २, पृ० ३५

९. मेटकाफ़, टू नेटिव नरेटिव्स आफ़ दि म्यूटिनी इन देहली, पृ० ७५

दारी के मुकदमे के सिलसिले में कलक्टर की अदालत में उपस्थित थे।[10] कमिश्नर साइमन फ्रेजर ने अभी अपना बिस्तर ही न छोड़ा था। अचानक ही यह भयप्रद खबर फैल गई कि मेरठ के घुड़सवार शहर के दरवाजे तक आ पहुंचे हैं। उन्होंने चुंगी के मुंशी को मार कर चुंगी घर में आग लगा दी। कलक्टर हचिन्सन तुरन्त ही अदालत से उठ कर कमिश्नर के बंगले पर पहुंचे। ग्रीष्म ऋतु के उस प्रभात का सूर्य जो शान्तिमय वातावरण में उदित हुआ, दिल्ली की सड़कों पर विकराल हत्याकांड और हिंसा के ताण्डव का साक्षी बन गया।

इस घटना से बादशाह भी कमिश्नर की तरह चकित रह गए। महल की खिड़की के नीचे लोगों के कोलाहल से वृद्ध बादशाह को विद्रोही सिपाहियों के दिल्ली पहुंचने का पता चला। पुराने ज़माने में जब मुगल शासन अपने चरमोत्कर्ष पर था, बादशाह महल के एक झरोखे में खड़े होकर अपनी प्रजा को दर्शन दिया करते थे। बहादुरशाह में इतना साहस न था कि वह उपद्रवियों की ऐसी भीड़ के सामने आते; इसलिए उन्होंने अपनी जगह कैप्टेन डगलस को भेजा। डगलस ने लोगों से कहा, आप चले जाएं क्योंकि इससे बादशाह को परेशानी हो रही है। तब ये विद्रोही कलकत्ता गेट की तरफ चले गए। उन्हें यह दरवाज़ा बन्द मिला। इस बीच कमिश्नर साइमन फ्रेजर और कलक्टर हचिन्सन वहां पहुंच गए। कैप्टेन डगलस भी बाद में वहां आ गए। अगर सभी दरवाजों पर सुरक्षा का पूरा इन्तज़ाम हो जाता तो विद्रोहियों के लिए शहर में घुसना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य हो जाता। शहर के लोगों में विद्रोहियों के प्रति सहानुभूति रखने की कमी न थी। जब यह अफवाह फैल गई कि धर्म-रक्षा के लिए ये सिपाही मेरठ के यूरोपियनों को मार कर दिल्ली आ गए हैं, तो कौतूहलवश सड़कों पर लोगों की भीड़ जमा हो गई और शीघ्र ही चारों ओर अराजकता फैल गई। उनमें से बहुतों का यह खयाल था कि अंग्रेजों ने अनधिकृत रूप से सत्ता को जबर्दस्ती हथिया लिया है। फिर हाल ही में एक एलान निकला था जिसमें नागरिकों से कहा गया था कि वे उनसे छूटकारा पाएं। यह कहा जा रहा था कि उक्त घोषणा ईरान के शाह की ओर से आई है। इसके बाद विद्रोही सिपाही जब राजघाट दरवाजे की तरफ बढ़े तो उन्होंने दरवाजा खुला पाया और उन्मत्त घुड़सवारों के अन्दर आते ही यहां के हुल्लड़बाज भी उनमें जा मिले। यह नहीं कहा जा सकता कि जिस व्यक्ति ने फाटक खोला उसने राजनीतिक उद्देश्य से ऐसा किया या लूटमार के लोभ से।

शहर में सबसे पहले एक भारतीय ईसाई डा० चमनलाल विद्रोहियों के हाथों मारे गए। उस समय वे अपने दवाखाने के सामने खड़े हुए थे। इसके बाद विद्रोही सिपाही किले की तरफ बढ़े। किले के पहरेदारों ने उन्हें नहीं रोका और विद्रोहियों से मिल गए। फ्रेजर डगलस और हचिन्सन इस बीच किले में लौट आए थे जहां उन्हें मौत के घाट उतार दिया गया। पादरी श्री जेनिंग्स, उनकी पुत्री कुमारी जेनिंग्स और उसकी एक सहेली कुमारी क्लिफ़ोर्ड की भी हत्या कर दी गई। विद्रोही बादशाह के पास पहुंचे और उनसे सेना का संचालन करने का अनुरोध किया। बादशाह ने बहुत कहा कि खजाने में पैसा नहीं है, मैं स्वयं समर्थ नहीं हूं पर विद्रोहियों ने एक न सुनी। ये सिपाही अपने बादशाह की सेवा के

१०. वही, पृ० ४१

लिए ही आए थे, उन्हें अपने धर्म की रक्षा करनी थी, इसलिए वेतन और तरक्की आदि जैसे प्रश्नों का उनके लिए कोई महत्व नहीं था।[11] पर बादशाह अभी भी टालमटोल करते रहे। उन्होंने अपने चिकित्सक एवं मित्र हकीम अहसानुल्ला की राय से एक ऊंट सवार लेफ्टिनेन्ट गवर्नर को मेरठ के विद्रोह की और विद्रोहियों के दिल्ली पहुंचने की खबर कराने के लिए आगरा रवाना कर दिया। आशा यह थी कि अंग्रेज सिपाहियों को मेरठ से यहां आने में अधिक समय नहीं लगेगा। पर घंटों बीत गए कहीं से कोई कुमुक नहीं आई और प्रति क्षण हालत खराब होती चली गई। बादशाह की जानकारी में पहली बार सशस्त्र भीड़ ने उनके महल की पवित्रता भंग की और जिस महल में राज्य भर के उच्च कुलों के लोग, यहां तक कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी के एजेंट भी घोड़े से उतर कर बड़े अदब के साथ प्रवेश करते थे वहां घुड़सवार उत्पात मचा रहे थे। मार-काट बढ़ती जा रही थी, यह देखकर बादशाह हताश हो गए। लेकिन अन्ततः शाम होते-होते उन्हें अपने भाग्य पर भरोसा करना पड़ा। इस अवसर पर शहजादों ने क्या किया यह कभी ज्ञात नहीं हो सकेगा। उनमें उत्साह का आधिक्य और दूरदर्शिता का अभाव था। उनके सामने अपने घराने के पुराने गौरव को पुनः प्रतिष्ठित करने का अवसर था, वरना, वे जानते थे कि पूर्वजों का यह किला और शाही खिताब दोनों उन के हाथ से निकल ही जाएंगे। उन्हें अपना रास्ता चुनने में कोई कठिनाई न हुई और बाद की घटनाओं से पता चलता है कि मिर्जा मुगल, मिर्जा खिज़िर, सुल्तान और मिर्जा अबू बकर ने संयोग से प्राप्त इस अवसर से पूरा-पूरा लाभ उठाया। अर्धरात्रि के समय २१ तोपें दागकर घोषणा की गई कि बाबर के उत्तराधिकारियों ने शासन की बागडोर अपने हाथ में ले ली है।

मेरठ के विपरीत, दिल्ली में यूरोपियन सिपाही नहीं थे। दिल्ली के कुछ सिपाही-अफसरों ने मेरठ की सैन्य अदालत में भाग लिया था और ग्रीज लगे कारतूस से उन्हें भी उतना ही क्षोभ था जितना कि उन बेचारे सिपाहियों को जिन्हें उन्होंने अभियुक्त ठहराया था। उसी दिन प्रातः उन्हें ईश्वरी पांडे के कोर्ट मार्शल की कारवाई पढ़ कर सुनाई गई थी। दिल्ली के सिपाहियों की दृष्टि में दोषी करार दिया गया यह जमादार कैसा था? क्या वह दुष्ट और राजद्रोही था जिसे वस्तुतः मृत्युदण्ड मिलना चाहिए था, या वह धर्म के लिए शहीद हुआ और अंग्रेजों की धूर्तता का शिकार हुआ। ११ मई की सुबह इस फैसले का इस तरह सुनाया जाना बड़ा ही दुर्भाग्यपूर्ण था। यह भी कम दुर्भाग्यपूर्ण नहीं था कि उस दिन शहर में वही देशी पैदल सेना तैनात थी जो कुछ ही दिन पहले बर्मा जाने से इन्कार कर चुकी थी, लेकिन घटनाओं का संयोग कुछ ऐसा था कि उन पर किसी का वश

---

११. "बादशाह ने विद्रोहियों से कहा कि मैं तो सिर्फ एक पेन्शनर हूँ। आपको न तो वेतन दे सकता हूं, न आपकी कोई और मदद कर सकता हूं।" विद्रोहियों ने कहा—"आप चिन्ता न करें, हम वेतन नहीं चाहते।" "कहा जाता है कि बादशाह ने साफ-साफ कह दिया कि वे उन लोगों से कोई सरोकार नहीं रखना चाहते।" काशी प्रसाद इन केल्डस्ट्रीम एण्ड म्योर, उद्धृत ग्रन्थ में, पृ० ३६ और ३९। जीवनलाल को भी मेटकाफ़ के उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ८३ में पढ़िए। पृ० ८३

नहीं था और कभी-कभी सहसा होने वाली घटनाएं ही इतिहास की गति तेज कर देती हैं।

छावनी शहर से कुछ मील दूर राजपुर गांव में थी, जहां इस समय यूनिवर्सिटी है। ब्रिगेडियर ग्रेव्ज़ को कुछ देर बाद ही विद्रोह का पता लगा। लेकिन सिपाही इस ओर से उदासीन-से थे। ५४वीं देशी पैदल सेना कर्नल रिप्ले के साथ कश्मीरी गेट तक गई, लेकिन कमांडर के कत्ल हो जाने और अफसरों के गोली से उड़ा दिए जाने पर भी इन सिपाहियों ने लड़ने से इन्कार कर दिया। इससे दिल्ली शहर के भाग्य का निर्णय हो गया। ७४वीं रेजीमेण्ट के मेजर ऐबट स्थिति पर काबू न पा सके। मुख्य रक्षक दल तीसरे पहर तक डटा रहा। लेकिन शाम को ३८वीं देशी पैदल सेना के सिपाहियों ने उनके अफसरों पर गोली चला दी और आखिर में इन अफसरों को, जिस तरह से भी हो सका, स्त्रियों को लेकर भागना पड़ा।

शहर में भारतीय या यूरोपीय, एक भी ईसाई न बचा। दरियागंज में, जहां अधिकांश आबादी यूरोपियों और आंग्ल-भारतीयों की थी, एक-एक ईसाई को खोज कर तलवार के घाट उतार दिया गया। बैंक लूट लिया गया और उसके मैनेजर को परिवार सहित कत्ल कर दिया गया। एक स्थानीय समाचार पत्र के कार्यालय पर धावा बोल दिया गया और प्रत्येक कम्पोज़ीटर को भी कत्ल कर दिया गया। बहुत-से पुरुष और स्त्रियां दो दिन तक किशनगढ़ के राजा के निवास स्थान में छिपे रहे। बाद में किशनगढ़ के राजा ने अपने सब से बड़े लड़के को इन लोगों को निकाल लाने के लिए भेजा, पर या तो वह देर से पहुंचा या उसकी अनुनय-विनय की ओर ध्यान नहीं दिया, तात्पर्य यह कि इन सब को मार दिया गया। कोई पचास कैदी महल में ले जाए गए, जहां कुछ दिनों बाद उन्हें फांसी दे दी गई। लेकिन कुछ ऐसे लोग भी थे जो बड़े नाटकीय ढंग से बच निकले। जोएंट मजिस्ट्रेट, सर थियोफिलस मेटकाफ़ का बच निकलना सब से अधिक आश्चर्यजनक था। भागे हुए बहुत-से लोगों ने फ़्लैगस्टाफ़ टॉवर में जाकर शरण ली, और जब उन्होंने देखा कि यहां भी जान बचाना मुश्किल है तो वे रात के अंधेरे में अलग-अलग दिशाओं में निकल पड़े। कुछ लोग सकुशल मेरठ पहुंच गए, कुछ करनाल पहुंचे और कुछ अम्बाला। दिन में ये लोग सड़कों के आस-पास जंगलों में छिप जाते और रात को सुनसान सड़कों और टेढ़े-मेढ़े रास्तों से होते हुए अपने गन्तव्य स्थानों को पहुंचे। गांवों में कुछ कृपालु लोग उनकी दयनीय दशा पर तरस खाकर उन्हें शरण दे देते और खाना आदि खिला देते। कुछ ऐसे लोग भी थे जो उनके पास बचे-खुचे सामान को छीनकर उन्हें भगा देते। गूजर, रांगड़ और मेवाती और कुछ अन्य जातियां ऐसी थीं जो लूट के माल पर मज़े उड़ाती थीं, उनके इस समय पौ-बारह हो गए।

विनाश की इस बेला में भी एक शानदार वीरतापूर्ण कार्य किया गया। शहर खाली हो गया था। छावनी खाली की जानी थी, लेकिन शस्त्रागार विद्रोहियों के हाथों सरलता से नहीं सौंपा गया। नौ अंग्रेज़ सिपाहियों का एक दस्ता शस्त्रागार की रक्षा कर रहा था। इसके लिए उन्होंने भारतीय कर्मचारियों पर विश्वास नहीं किया। बड़े सवेरे ही सर थियो-फिलस मेटकाफ़ पुल उड़ा देने के लिए दो तोपें निकालने शस्त्रागार में आए। लेकिन पुल तो पार किया जा चुका था और तोपें खींचने के लिए बैल वगैरह न होने के कारण तोपें वहां नहीं पहुंचाई जा सकीं। लेफ्टिनेंट विलोबी शस्त्रागार की रक्षा के लिए जो भी प्रबन्ध कर सकते थे

उन्होंने किया, लेकिन ऐन मौके पर उन्होंने उसे उड़ा देने का फैसला किया। छावनी से कोई कुमुक आने की आशा नहीं थी और बाहर भीड़ उग्र रूप धारण करती जा रही थी। आखिर बादशाह के नाम पर शस्त्रागार को सौंप देने की मांग की जाने लगी और हमला करके शस्त्रागार छीन लेने के लिए सीढ़ियां लाई गईं। एक पूर्व योजना के अनुसार ट्रेन पर गोली चलाई गई और ज़ोर के धमाके की आवाज़ से यह मालूम हुआ कि शस्त्रागार उड़ा दिया गया है। शस्त्रागार की रक्षा करने वाले नौ शूरवीरों में से तीन तो जहां थे वहीं मर गए। विलोबी और पांच अन्य व्यक्ति अपनी जान बचा कर निकल भागे। फारेस्ट, रेनर, शा, बकले और स्टुअर्ट जीवित बचे रहे जिनको बाद में विक्टोरिया क्रास मिला। उनके नेता विलोबी उस समय तो बच गए पर बाद में मेरठ जाते हुए रास्ते में गांव वालों की एक भीड़ ने उन्हें मार डाला।

लाला ठाकुरदास जेलर ने भी कैदियों को शाम के पांच बजे तक रोके रखा। लेकिन जब पहरेदार अनुशासन भंग करने लगे तो उन्हें अपनी जगह छोड़नी पड़ी।[१२] तारघर के दो एंग्लो-इण्डियन नवयुवकों ने अम्बाला, लाहौर, रावलपिण्डी, और पेशावर को यह खबर भेजी "कि मेरठ से सिपाही आ गए हैं और वे सब कुछ जला रहे हैं, श्री टाड मारे गए हैं और सुना जाता है कि अन्य बहुत-से यूरोपियन भी। हमें शरण खोजनी चाहिए।" इस प्रकार दिल्ली के भविष्य के बारे में यह खबर पंजाब पहुंची।

अगले कुछ सप्ताहों के लिए सिपाहियों को अकेला छोड़ दिया गया। मेरठ से कोई विरोध प्रदर्शन नहीं हुआ और दूसरी जगहों पर क्या हुआ, इसका भी उन्हें पता न चला। किन्तु बादशाह दयनीय स्थिति में था। कहां तो वे इस बात के आदी थे कि दूसरे लोग उनके लिए हर चीज़ का इन्तजाम करें और कहां अब उन्हें सिपाहियों के लिए खाने और रसद की व्यवस्था करनी थी। उनके विश्वासपात्र सलाहकार हकीम अहसानुल्ला को प्रशासन का कोई अनुभव न था और बादशाह की तरह वह भी निहायत शान्तिप्रिय व्यक्ति था। न तो उन्हें सिपाहियों पर विश्वास था और न सिपाहियों का उन पर। हकीम साहब का यह दृढ़ विश्वास था कि आज नहीं तो कल अंग्रेज़ वापस आ ही जाएंगे और बिगड़ने वाली बात में अगुआ बनने से कोई फायदा नहीं। १२ तारीख को बादशाह ने दरबार किया, जिसमें शहर के कुछ गणमान्य मुसलमान बुलाए गए। आमंत्रित व्यक्तियों में झज्जर के नवाब के एक चाचा भी थे। उन सबसे एक शासन-परिषद बनाने को कहा गया। शहर में कानून और व्यवस्था स्थापित करनी थी और सिपाहियों के खाने-पीने और रहने का भी प्रबन्ध करना था और नए सिपाही भी भर्ती करने थे। राजधानी में अव्यवस्था का साम्राज्य था और यूरोपियनों तथा ईसाइयों को ढूंढ़ निकालने के बहाने गुंडे धनी-मानी लोगों को तंग कर रहे थे। दुकानें बन्द थीं और कारोबार ठप्प था। खजाना खाली था और सेना रखने के लिए धन चाहिए था। यह एक इतना भारी काम था कि बहादुर व्यक्ति की भी हिम्मत टूट जाती। नए शासक-मण्डल में एक भी साहसी और प्रतिभाशाली व्यक्ति न था। अतः

१२. मेटकाफ़ लिखित "टू नेटिव नरेटिव्स आफ़ दि म्यूटिनी इन देहली" नामक पुस्तक में जीवन लाल का अंश, पृष्ठ ८४

बादशाह के अनुरोध पर भी यदि किसी के कान पर जूं न रेंगी हो तो इसमें आश्चर्य क्या। जिन लोगों को शासन का सूत्र संभालने बुलाया गया था, उनमें से एक ने साफ-साफ शब्दों में परिषद में काम करने से इन्कार कर दिया।[13] फिर भी एक गवर्नर नियुक्त किया गया। मिर्ज़ा मुग़ल को प्रधान सेनापति बना दिया गया और दूसरे शहज़ादों को बड़े-बड़े सैनिक पदों पर नियुक्त कर दिया गया। लेकिन बादशाह की तरह शहज़ादे भी अयोग्य थे, इसलिए ऐसे सैनिकों को काबू में लाना, जिन्होंने अनुशासनहीनता का मजा चख लिया था, उनके वश की बात न थी। बादशाह हाथी पर बैठ कर बाज़ारों से निकले और उन्होंने व्यापारियों और दुकानदारों से अनुरोध किया कि वे लोग अपना सामान्य काम-काज फिर शुरू करें। लेकिन इन व्यापारियों के दिलों से डर दूर करना आसान न था। सिपाहियों ने किले के बगीचों में डेरा डाल दिया और शांति-प्रिय लोगों के लिए वे खतरा बन गए। मुंशी जीवनलाल लिखते हैं, "अनिच्छुक बादशाह जैसे-जैसे आगे बढ़ रहा था घर-घर से फरियाद और चीख-पुकार आ रही थी। कभी मारे गए यूरोपियनों के नौकर अर्जी पेश करते थे, कभी वे दुकानदार जिनकी दुकानें लूट ली गई थीं, सभी मुसीबत से छुटकारा पाने और मदद के लिए बादशाह की तरफ आंखें लगाए हुए थे। बादशाह से लूट-मार खत्म करने की अपील की जा रही थी।"[14] बादशाह ने अपनी ओर से यत्न भी बहुत किया पर उसे अधिक सफलता न मिली। बादशाह ने सिपाहियों को समझाया, उन पर रोष भी प्रकट किया, यहां तक कि गद्दी छोड़ देने की धमकी भी दी, लेकिन कोई नतीजा नहीं निकला। एक कमजोर आदमी सफल बादशाह नहीं हो सकता और मुग़लों का यह अंतिम उत्तराधिकारी क्रांतिकारियों का नेतृत्व करने के लिए पैदा नहीं हुआ था।

नए प्रशासकों के सामने जो कठिनाइयां थीं वे कम नहीं हुईं। सेना के सूझ-बूझ वाले लोग बादशाह और प्रधान सेनापति से सहयोग करने को तैयार थे। वे अंग्रेजी तौर-तरीकों के तो विरुद्ध थे, लेकिन पश्चिमी विचारधारा और कार्यविधि के प्रभाव से अपने को मुक्त नहीं कर सके। "सैनिक तथा असैनिक संस्थाओं में अव्यवस्था और कुप्रबन्ध को हटाने के लिए" एक 'कोर्ट' या "सैनिक और असैनिक प्रबन्ध समिति" नियुक्त की गई। इस समिति में दस सदस्य थे, जिनमें से छः सेना द्वारा चुने गए थे, पैदल, घुड़सवार और तोपखाना, सेना के इन तीनों अंगों के दो-दो प्रतिनिधि थे। उनका विशेष कर्तव्य सैनिक मामलों को देखना था। बाकी चार सदस्यों पर नागरिक प्रशासन का उत्तरदायित्व था। यह स्पष्ट नहीं है कि असैनिक सदस्यों का चुनाव किसने और किस प्रकार किया। लेकिन सैनिक प्रतिनिधियों का चुनाव करने में उम्मीदवारों की वरिष्ठता और दक्षता आदि का विचार किया जाता था और निर्णय बहुमत से होता था। समिति अपने अध्यक्ष का चुनाव करती थी जिसे एक अतिरिक्त वोट का अधिकार प्राप्त था। समिति प्रधान सेनापति के अधीन थी और उसकी स्वीकृति के बिना समिति का कोई निर्णय लागू नहीं हो सकता था। प्रधान

१३. मेटकाफ़ लिखित "टू नेटिव नरेटिव्स आफ़ दि म्यूटिनी इन देहली" नामक पुस्तक में जीवन लाल का अंश, पृष्ठ ८५

१४. मेटकाफ़, उद्धृत ग्रन्थ, पृष्ठ ८६

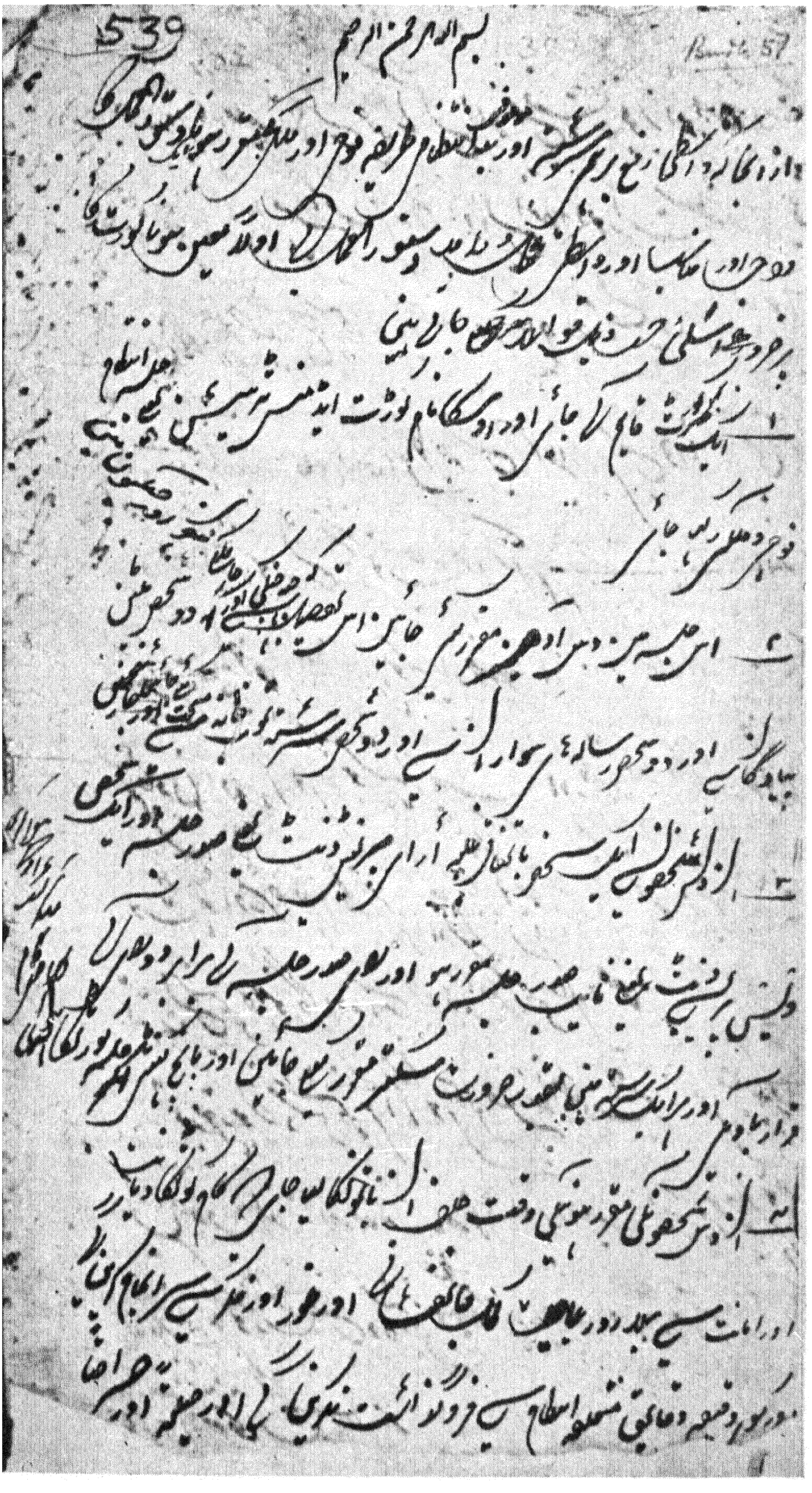
539

بسم اللہ الرحمن الرحیم

दिल्ली में ग़दर-अदालत की स्थापना

اعتماد و یار علیحدہ کسی طرح کا کوئی لحاظ رعیت [illegible] نہ ہو اور اسلام کی دوست

میں ہوویں اور کوئی علیحدہ [illegible] مسائل اور سرکار [illegible] انتظام امور سلطنت میں اور

دین [illegible] سے استحکام ریاست اور رفاہ اور آسایش رعیت ہو

[illegible] انتخاب اسامی ہوئیگا اس طریقہ سے [illegible] اس [illegible] شخص میں [illegible] گان

اور [illegible] ہو اور [illegible] خانہ [illegible]

[illegible] ہو اور ہوشیار [illegible] اور واقف کار اور لایق [illegible]

[illegible] اور اگر کوئی شخص ہوشیار [illegible] اور [illegible] اور [illegible] اور لایق [illegible]

[illegible] ہو اور [illegible] محمد [illegible] ہو [illegible] شخص [illegible]

[illegible] اس شخص کا [illegible] ہوگا اور اس طرح [illegible] شخص [illegible] کا [illegible] اور

[illegible] ہو [illegible] شخص [illegible] اگر کوئی شخص [illegible] اسلام [illegible]

[illegible] و دیانت اور امانت [illegible] اور بر [illegible] ہو [illegible]

[illegible] وہ شخص [illegible] ہوگا اور [illegible]

پانچویں انتخاب [illegible] ہو

54

جو اور صاحب اصطلاحی کے اوپر لکھا اول ہو وہی لکھ دیں [illegible]

[illegible] حضور [illegible] خطبہ اول میں ہو [illegible] ورقے منظور [illegible]

[illegible] صاحب عالی بہار [illegible] ہو گی [illegible] اور [illegible]

صاحب عالی بہار [illegible] اور [illegible] انتظام [illegible] اور [illegible]

اور بعد منظوری صاحب عالی [illegible] البتہ [illegible] ہو گا اور [illegible]

ہو صاحب عالی بہار بعد تجویز [illegible] وہ [illegible]

بیگناہ حضور [illegible] سمجھا [illegible] اور [illegible] ہو گا

[illegible] صاحب عالی بہار اور [illegible]

[illegible] اور [illegible] ہو گا [illegible]

بعد [illegible] لائق [illegible]

[illegible] اسی صاحب [illegible]

منظور ہو گا [illegible]

[illegible] بہت [illegible]

[illegible] دوسری [illegible] تحقیق [illegible]

[illegible]

۱۰) چونکه [illegible] گورنش سنه [illegible] آکلاشلمش [illegible]
[illegible] کورلمش [illegible]
[illegible] الله [illegible] اولوب [illegible]
[illegible]
[illegible] گورنش سنه ۱۲ [illegible]
[illegible]
[illegible] تمام [illegible] دولت [illegible]
[illegible]
[illegible] ایله [illegible] گورنش [illegible] اولان [illegible]
[illegible] مظفر [illegible] ایله [illegible] عسکر [illegible] پاشا [illegible]
[illegible] جانبی [illegible]

۱۱) [illegible] ایله [illegible] جانبی [illegible]
[illegible] اولمسی [illegible] معظم اولوب [illegible] جانبی [illegible] اولدیغی [illegible]
[illegible] جانبه [illegible] قرار [illegible] اولدیغی [illegible]

54

۱۱

[illegible]

[illegible]

اور [illegible] موافق [illegible] اور [illegible]

[illegible] اور [illegible]

۱۲ [illegible] اور [illegible]

دیا جائے

सेनापति को यह अधिकार भी प्राप्त था कि अगर वह समिति के किसी निर्णय को उचित न समझे तो पुनर्विचार के लिए समिति को वापस भेज सकता है, किन्तु यदि समिति फिर भी अपने निर्णय पर अड़ी रहे तो मामला बादशाह को सौंपा जाता और उसका निर्णय अंतिम होता था। बादशाह और प्रधान सेनापति अगर चाहें तो समिति की बैठक में भाग ले सकते थे।[१५] सैद्धान्तिक तौर पर यह समिति एक लोकतंत्री संस्था थी। चूंकि इसमें सभी शाखाओं के प्रतिनिधि थे और सैनिकों का बहुमत था, इसे सेना पर पूर्ण नियंत्रण पा लेना चाहिए था और उसे सैनिकों के मनमाने व्यवहार पर अंकुश रखने में सफलता मिलनी चाहिए थी, पर व्यावहारिक दृष्टि से इसे कुछ भी सफलता नहीं मिली। समिति की नियुक्ति कब हुई यह ठीक-ठीक पता नहीं, क्योंकि इसके संविधान पर कोई तारीख ही नहीं है। दिल्ली का पतन होने तक यह प्रशासन-समिति काम करती रही, पर न तो सेना पर और न असैनिक अधिकारियों पर, यहां तक कि अल्पकालीन सरकार पर भी इसके अधिकारों का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। फलतः अराजकता और अव्यवस्था उसी प्रकार बनी रही।

जैसे-जैसे मई का महीना बीतता गया बादशाह के सामने नई-नई मुसीबतें आती रहीं। २८ मई की एक रिपोर्ट से पता चलता है कि तीन दिन से सिपाहियों ने लूट-मार मचा रखी थी। उन्हें सन्देह था कि बेगम ज़ीनत महल अंग्रेज़ों से मिली हुई है।[१६] बादशाह ने आस-पास के जमींदारों से सेना को रसद देने के लिए कहा, लेकिन प्रशासन मण्डल के पास पर्याप्त धन नहीं था। फिर शहर के बैंकों के मालिकों को किले में बुलाया गया और उनसे खजाने में कुछ देने के लिए कहा गया। जीवनलाल ने लिखा है कि "बादशाह के बहुत दबाव डालने पर हाल ही में नियुक्त किए गए अफसरों और शहर के बैंकों के मालिकों ने सैनिकों को वेतन देने के लिए एक लाख रुपया इकट्ठा किया।"[१७] ऐसे संकट के समय एक लाख रुपया अधिक दिन तक नहीं चला और कुछ दिन बाद सिपाहियों ने हैदराबाद के रईस को लूट लिया। इसके साथ ही यह हुक्म निकाला गया कि शहर के ऐसे धनिकों को, जिन पर अंग्रेज़ों का मित्र होने का सन्देह है, पकड़ लिया जाए, और उनसे रुपया वसूला जाए। मई के अन्तिम सप्ताह में रोहतक से १ लाख ७५ हजार रुपए आ जाने के कारण स्थिति में कुछ सुधार हुआ। लेकिन अब भी सन्देह और अविश्वास का वातावरण बना हुआ था। इस्लामगढ़ में जो तोपें लगी हुई थीं, उनको भी नुकसान पहुंचाया गया। यह अफवाह फैल गई कि इस कार्यवाही में बादशाह के विश्वासपात्र वजीर हकीम अहसानुल्ला का हाथ है और उनका झुकाव भी कुछ अंग्रेज़ों की तरफ है।[१८] दिल्ली और मेरठ के विद्रोही सिपाहियों में कटुता उत्पन्न हो गई। इससे स्थिति और भी बिगड़ गई।[१९] मेरठ के विद्रोही सिपाहियों का कहना

१५. ग़दर के कागज़ात, भारतीय पुरालेख विभाग, बंडल ५७, सं० ५३६ से ४१ तक

१६. हकीम अहसानुल्ला खां पर भी यह संदेह किया गया था। मेटकाफ़ उद्धृत ग्रन्थ में, पृष्ठ ६२, ६३, १०३, १०४, १०७

१७. वही, पृ० ६६

१८. वही, पृ० १०३

१९. वही, पृ० १०५

था कि दिल्ली के विद्रोही खजाना लूट कर रईस बन गए, और हमने पैसे के अभाव में हर तरह की मुसीबतें उठाईं।

अंग्रेज़ी सरकार ने पहले से कोई तैयारी नहीं कर रखी थी, इसलिए विद्रोहियों को काफी समय मिल गया। १२ मई से लेकर, यानी दिल्ली पर कब्जा होने के एक दिन बाद से ८ जून यानी बादली-की-सराय की लड़ाई और पहाड़ी पर कब्जा होने तक विद्रोहियों को अपने आपको संगठित करने और अवश्यम्भावी आक्रमण की तैयारी करने का काफी समय मिला पर उन्होंने इस अवसर को यूं ही हाथ से जाने दिया। जून में विद्रोही सिपाही सेना में फूट पड़ गई। व्यापारी वर्ग भी सेना के विरुद्ध हो गया। बादशाह अपनी प्रजा को शहज़ादों की ज्यादतियों से बचाने का असफल प्रयत्न करते रहे।

जब ग़दर शुरू हुआ, उस समय प्रधान सेनापति जनरल एन्सन कुछ अस्वस्थ थे। अन्य अस्वस्थ गोरों की तरह वे भी मनोरंजन और विश्राम के लिए पहाड़ों की सैर पर गए हुए थे। अंग्रेज़ी सेनाएं डगशाही, कसौली और सपाटू की ग्रीष्मकालीन छावनियों में तैनात थीं। पंजाब के कमिश्नर जान लारेन्स रावलपिंडी में थे जहां से उन्हें कोहमरी जाना था। जब उन्हें उस विद्रोह का पता चला तो उन्होंने अपनी आगे की यात्रा स्थगित कर दी और लाहौर तथा पेशावर में अपने साथियों से सम्पर्क स्थापित किया। एन्सन ने डगशाही में तैनात अंग्रेज़ी फौजों को कूच के लिए तैयार रहने का हुक्म दिया। एक गोरखा रेजीमेंट को देहरादून से मेरठ पहुंचने का हुक्म दिया गया। अम्बाला के सिपाहियों का कुछ ठीक-ठिकाना न था कि वे कब क्या कर बैठें। इसलिए एन्सन स्वयं १६ तारीख को वहां पहुंच गए। अभी सब कुछ हाथ से नहीं गया था और समय गंवाए बिना अगर दिल्ली पर फिर अधिकार हो जाता तो समूचे भारत को हाथ से जाने से बचाया जा सकता था। लारेन्स ने एन्सन को पत्र पर पत्र लिखे कि जल्दी करो। लेकिन एन्सन के सामने अपनी कुछ कठिनाइयां थीं। सात मील की परिधि के दिल्ली शहर की रक्षा उस समय अच्छे से अच्छे अंग्रेज अफसरों के सिखलाए हुए सिपाही कर रहे थे। और इस शहर में घुसने के लिए जनरल एन्सन को मोटरगाड़ियां, गोला-बारूद, खेमें और रसद और तोपखाने का पूरा-पूरा इन्तजाम करना था। दिल्ली की दीवारें सिर्फ हल्ला बोल कर नहीं तोड़ी जा सकती थीं। बहादुर से बहादुर सिपाही भी असावधानी से कार्य करने की हिम्मत नहीं कर सकता था क्योंकि इस समय पूरा भारत का साम्राज्य दांव पर लगा हुआ था। जहां शीघ्र कार्यवाही से असन्तुष्ट लोगों में डर बिठाना था और अस्थिर लोगों को अपने पक्ष में करना था, वहां पराजय से ब्रिटिश हितों और उद्देश्य की इतनी भारी क्षति हो सकती थी कि जिसका अनुमान भी नहीं लगाया जा सकता था। दूर-दूर के स्थानों में अफसरों को यह तो खयाल पहले ही हो चला था कि देश के बाकी भागों में उनके अन्य साथियों का बिल्कुल सफाया कर दिया गया है।[२०] ऐसी हालत में जनरल एन्सन का सब काम धीरे-धीरे और सोच-समझ कर करना स्वाभाविक ही था। उसने या उसके अफसरों ने कोई कोर-कसर उठा न रखी किन्तु एक सैनिक के रूप में उन्हें क्या कुछ करना था यह वे भली-भांति जानते थे। एक ऐसे जल्दबाज असै-

२०. ग्रिफ़िथ्स, ए नरेटिव आफ़ दि सीज आफ़ देहली, पृ० ७

निक अधिकारी की राय मान कर वे कोई कार्य करने वाले नहीं थे जो सैनिक कठिनाइयों का ठीक तरह अनुमान नहीं लगा पाया और जिसे एक अन्य हार के राजनीतिक परिणामों का अन्दाजा न था।

अब कुछ इस बात का भी आभास होने लगा था कि भारत में अंग्रेज़ों का मनोबल उस समय बहुत ऊंचा नहीं था। गोरखों की नासिरी रेजीमेण्ट शिमले के पास जतोग में तैनात थी। पहाड़ों पर तैनात अन्य सैनिक दस्तों की तरह इस रेजीमेण्ट को भी फौरन अम्बाला जाने का हुक्म दिया गया। लेकिन इन लोगों की तनख्वाहें बाकी थीं और इनके चले जाने के बाद इनके परिवारों की हिफ़ाजत का कोई प्रबन्ध नहीं किया गया था, इसलिए इन सैनिकों को जब तक इस बात का भरोसा न हो जाए कि इनके चले जाने पर इनके परिवार की हिफ़ाजत की जाएगी और वे भूखों नहीं मरेंगे, तब तक ये अम्बाला जाने को तैयार नहीं थे। उत्तेजना और अनुशासनहीनता फैली हुई थी जो भय के प्रभाव में विद्रोह प्रतीत होने लगा था। पहाड़ी स्थान में रहने वाले अंग्रेज़ों ने जब यह सुना कि गोरखा रेजीमेण्ट शिमले के लिए रवाना हो गई है तो अव्यवस्था और गड़बड़ी शुरू हो गई। डिप्टी कमिश्नर लार्ड विलियम हे घबराए नहीं। उन्होंने अरक्षित स्त्रियों और बच्चों से बैंक के अहाते में एकत्र होने को कहा जहां वे सुरक्षित रह सकते थे। लेकिन बहुत-से लोग घबरा गए और उन्होंने जल्दी से जल्दी शहर छोड़ कर कहीं दूर भाग जाने की कोशिश की। दुर्भाग्य की बात यह रही कि कुछ सैनिक अफसरों ने भी सूझ-बूझ से काम न लिया। उन्होंने क्योंथल के राजा के शिमला निवास को भी अपने लिए सुरक्षित नहीं समझा और देहात में उनके महल में जाकर शरण ली। जिन लोगों ने राजा संसार सेन की राजधानी में जाकर शरण ली उनमें मेजर जनरल पेनी, लेफ्टिनेंट कर्नल कीथ यंग, ग्रेटहेड, थामस क्विन और कोलेयर, चार कैप्टेन और तीन लेफ्टिनेंट भी थे।[२१] लेकिन गोरखों को मना लिया गया और भागे हुए सब लोग लौट आए। ग्रेटहेड ने बाद में दिल्ली के घेरे में बड़ा नाम पाया, और नासिरी रेजीमेंट का सहारनपुर में बड़ा नाम हुआ जहां बाद में उसे भेजा गया।[२२] कम से कम उनके मामले में विश्वास का बदला विश्वास से मिला।

पूर्व की ओर बढ़ने से पहले जनरल एन्सन ने हैविट से सम्पर्क स्थापित करना और मेरठ के साथ संचार-साधनों की व्यवस्था पुनः स्थापित कर लेना आवश्यक समझा। उनकी योजना यह थी कि मेरठ के अंग्रेज़ सैनिक उन्हें बागपत में ही मिल जाएं और फिर ये दोनों मिल कर दिल्ली की ओर बढ़ें। घुड़सवार सिख सैनिकों का एक दस्ता लेकर लेफ्टिनेन्ट हाडसन प्रधान सेनापति के संदेश के साथ मेरठ रवाना हुए। उन्हें पता भी न चला कि उधर कैप्टन सैनफ़ोर्ड तीसरी घुड़सवार सेना के बीस जवानों को लेकर अम्बाला रवाना हो चुके थे। इन दोनों अफसरों की मुठभेड़ रास्ते में कहीं किसी से नहीं हुई। महाराजा पटियाला जींद के राजा और करनाल के नवाब ने वफादार रहने का निश्चय किया, और अपनी-अपनी रियासतों के सभी साधन अंग्रेज़ों को सौंप दिए। जिस

२१. कीथ यंग, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ३२३
२२. राबर्टसन, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ८०-८३

समय अंग्रेज़ी सेना मुस्लिम राजधानी के सामने लड़ रही थी, उस समय इन रियासतों को अम्बाला से दिल्ली तक की सड़क की रक्षा करने का काम सौंपा गया जिससे कि युद्ध-संचालन के मुख्य केन्द्र से सम्पर्क बना रहे। लेकिन जनरल एन्सन दिल्ली नहीं पहुंच सका। अंग्रेज़ी सेनाएं कड़ी गर्मी में उत्तर भारत के मैदानों में चलने की आदी नहीं थीं। इसलिए उन्हें दिन का अधिकांश समय आराम करने में ही व्यतीत करना पड़ता था और रात को चलना पड़ता था। शिविर में सफाई की व्यवस्था संतोषजनक नहीं थी और हैजे और लू लगने से लोगों की मृत्यु हो जाना एक साधारण-सी बात हो चली थी। २७ मई को जनरल एन्सन की हैजे से मृत्यु हो गई और उनकी जगह जनरल सर हेनरी बरनार्ड ने मैदानी सेना की कमान संभाली।

बरनार्ड ने क्रीमिया के युद्ध में यश पाया था, पर भारत में वे नए थे। पूर्व निश्चित योजना के अनुसार ब्रिगेडियर विलसन की कमान में मेरठ के सैनिकों का दस्ता बागपत में उनसे जा मिला। नियत स्थान पर पहुंचने से पहले गाज़ीउद्दीन नगर और हिण्डन नदी पर अंग्रेज़ी सेनाओं और विद्रोहियों की दो बार लड़ाई हुई। ८ जून को दिल्ली से ५ मील दूर बादली की सराय में विद्रोही सेना से उनकी मुठभेड़ हुई। इस लड़ाई में विद्रोही हार गए और उनकी २६ तोपें अंग्रेज़ों के हाथ लगीं। विद्रोही सेनाओं की संख्या भी अधिक थी और उनको अनुकूल धरातल भी मिला था। लेकिन सेना का बहुत अच्छा नेतृत्व न होने के कारण उन्हें मुंह की खानी पड़ी। अंग्रेज़ी सेना के भी चार अफसर मारे गए और कई घायल हुए। अंग्रेज़ी सेना के एडजुटेंट जनरल कर्नल चैस्टर भी इसी लड़ाई में मारे गए। उसी दिन विजयी सेना ने आगे बढ़कर निचले इलाके की उस पहाड़ी पर अधिकार कर लिया जिसे दिल्ली का बाहरी प्राचीर कहा है। सिपाही विद्रोहियों में साहस की कमी न थी, लेकिन उनका कुशल सैनिक नेतृत्व करने वाला कोई न था अन्यथा बिना कड़ा मुकाबला किए हुए यह पहाड़ी इस तरह अंग्रेज़ों के कब्जे में न आ सकती थी। ११ मई को अंग्रेज़ अफसरों को दिल्ली से निकाल दिया गया और अब एक महीने से भी कम समय में यानी ८ जून को वे फिर इस छावनी में पहुंच गये।

यह पहाड़ी शहर के उत्तर में थी और यहां से शहर के तीन प्रमुख दरवाजों पर नियंत्रण रखा जा सकता था। जनरल बरनार्ड के पास इतनी सेना न थी कि वह और आगे बढ़ने का प्रयत्न करते। १८५७ में न तो दिल्ली शहर पर और न पहाड़ी पर स्थित विद्रोहियों के शिविर पर घेरा डाला जा सका। मथुरा रोड बराबर खुली रही और अवध तथा रुहेलखण्ड, झांसी और कानपुर, और नसीराबाद तथा नीमच से विद्रोही सिपाही बिना किसी कठिनाई के दिल्ली के विद्रोही सिपाहियों को बराबर कुमुक पहुंचाते रहे। उधर अंग्रेज़ी सेनाओं का अपने युद्ध-संचालन केन्द्र अम्बाला से बराबर सम्पर्क बना रहा और उस रास्ते पर कब्जा करने का कोई प्रयत्न न किया गया, और न रसद के आने में कोई रुकावट डालने की कोशिश की गई। बरनार्ड ने पहला काम तो यह किया कि पहाड़ी पर सैनिक महत्व के स्थानों पर अधिकार कर लिया। ठीक दाहिनी ओर जहां इस पहाड़ी का ढलान सब्जी मंडी की ओर चला गया है, पत्थर की एक इमारत थी जिसे बाड़ा हिन्दूराव कहा जाता था। इस इमारत के मालिक कगाल के घटगे वंश के वंशज

और दौलतराव सिंधिया के निकट संबंधी थे। उनका देहान्त हो चुका था और उस समय यह इमारत खाली पड़ी थी। इस जगह पर सिरमूर गोरखों के साथ मेजर रीड को नियुक्त किया गया। कभी अच्छे दिनों में इस इमारत में बड़ी-बड़ो दावतें और समारोह हुए थे क्योंकि इसका मालिक घोर आशावादी था, इसलिए उसे पैसे की कभी कोई कमी नहीं रही। उसने यह कभी न सोचा होगा कि इसी इमारत की दीवारों पर कभी गोलियां बरसेंगी और इसी इमारत में उसके अंग्रेज़ मित्रों और विद्रोही सिपाहियों में लड़ाई होगी। बाईं ओर दो मंजिली गोल इमारत फ़्लैगस्टाफ़ टावर था जहां से दूर-दूर तक देखा जा सकता था। इसलिए वहां भी एक सैनिक टुकड़ी तैनात हो गई। इस टावर से थोड़ी ही दूर पर एक पुरानी पठान मस्जिद थी और बाड़ा हिन्दूराव के पास एक वेधशाला थी। इन दोनों इमारतों में सैनिक चौकियां बिठा दी गईं। इस फ़्लैगस्टाफ़ टावर से परे नदी के किनारे सर थियोफ़िलस मेटकाफ़ का ग्राम्य गृह था। इसके अहाते में से विद्रोही सिपाही अंग्रेज़ों के बाएं पार्श्व को परेशान कर सकते थे। फिर लुडलो कैसल भी एक ऐसी इमारत थी जिसे अंग्रेज़ी सेना के मोर्चे के विरुद्ध बड़ी आसानी से प्रयोग किया जा सकता था। लेकिन विद्रोही सिपाहियों के आक्रमण का लक्ष्य बाड़ा हिन्दूराव था।

बरनार्ड को तुरन्त ही यह निर्णय करना था कि वह शत्रु को तैयारी का मौका दिए बिना अचानक ही दिल्ली पर हमला करे या न करे। रात घनी अंधेरी थी और यही आशा की जा रही थी कि तीन बार हार जाने के बाद विद्रोही सिपाही इतने पस्त-हिम्मत हो गए होंगे कि वे मुकाबला नहीं कर पाएंगे। बादशाह सहित मुग़लों की राजधानी दिल्ली पर तुरन्त ही पुनः अधिकार हो जाने से अंग्रेज़ों को जो राजनीतिक लाभ मिल सकते थे उनका विचार ही उस समय प्रमुख था। सर जान लारेन्स बार-बार जनरल बरनार्ड से यही अनुरोध कर रहे थे कि इस साहसिक कदम की सबसे अधिक आवश्यकता है। राबर्ट क्लाइव और उनसे पहले के अंग्रेज़ वीरों की बहादुरी की मिसाल बड़े आत्म-विश्वास के साथ सामने रखी जा रही थी। कलकत्ते के अंग्रेज़ों की भी यही धारणा थी कि दिल्ली के दरवाजों को बस खटखटाने की देर है, अंग्रेज़ी सेनाएं प्रवेश कर दिल्ली पर तुरन्त ही अधिकार कर लेंगी। और दिल्ली पर कब्जा होते ही दूसरी जगहों का विद्रोह आसानी से दबाया जा सकेगा। पहाड़ी पर अंग्रेज़ी सेना के छोटे अफसरों की भी यही धारणा थी। एक इंजीनियर विलबर-फोर्स ग्रेटहेड ने एक योजना भी बनाई जिसे जनरल बरनार्ड ने कुछ झिझक के साथ स्वीकार किया। जनरल बरनार्ड को भारत का कोई अनुभव नहीं था। वे बड़ी ही दुविधा में पड़े हुए थे, क्योंकि वे यह समझ रहे थे कि उस समय राजनीतिक दृष्टि से जो बातें जरूरी थीं, सैनिक दृष्टि से वे एक-दम अनावश्यक थीं, लेकिन ऐसे संकटकाल में राजनीतिक आवश्यकताओं को ही शायद प्राथमिकता देनी पड़े। ग्रेटहेड की योजना यह थी की रात के अंधेरे में शहर के दो दरवाजों को उड़ा दिया जाए और अचानक हमला करके शहर पर अधिकार कर लिया जाए। योजना की सफलता उसे गुप्त रखने में ही थी। लेकिन जब दो दस्ते तैयार हो गए तो उस समय के फ़ील्ड अफसर ब्रिगेडियर ग्रेव्ज़ ने केवल मौखिक आदेश पर फौजों को आगे बढ़ाने से इन्कार कर दिया। वे घोड़े पर सवार हो जनरल के तम्बू में पहुंचे और जब बरनार्ड ने उनसे इस

योजना की सफलता के बारे में जानना चाहा तो उन्होंने साफ-साफ अपनी राय दी कि इस तरह शहर पर अधिकार कर लेना और बात है पर सवाल तो यह है इसके बाद शहर पर कब्जा बना भी रह सकेगा या नहीं। समूचे शिविर में दिल्ली के बारे में ग्रेव्ज़ को जितनी जानकारी थी उतनी किसी और को नहीं थी। इसलिए उनकी राय अनसुनी नहीं की जा सकती थी। चाहे जो भी हो, देर हो जाने से इस योजना के सफल होने का अवसर हाथ से निकल गया था और अब अचानक हमला भी संभव नहीं था क्योंकि दिन निकलना शुरू हो गया था। इसलिए इस योजना को बिल्कुल ही छोड़ देना पड़ा। योजना को छोड़ देने से उस समय बड़ा असंतोष फैल गया और आलोचना भी कम नहीं हुई। लेकिन बाद में सभी ने यह माना कि बरनार्ड ने ठीक ही किया था, क्योंकि ऐसे मौके पर असफलता का मतलब पूर्ण विनाश होता। रोटन का विचार था कि इतनी कम सेना और इतना कम साज-सामान लेकर दिल्ली पर जल्दी हमला कर देना बहुत बड़ी मूर्खता होती। "उन्होंने कहा कि मैं समझता हूं कि अगर दिल्ली में एशियाई की बजाय यूरोपीय शत्र होता तो कोई भी जनरल इस तरह आक्रमण करने की हिम्मत नहीं कर सकता था।" उनका कहना है कि "जिस शत्रु से हमारा पाला पड़ा था यदि वह विचारपूर्ण निर्णय-शक्ति से काम लेता और उसमें थोड़ी भी सूझ-बूझ होती, और वह हमारे सैनिक कैम्प के आगे और पीछे पूरी शक्ति से लगातार हमला करता, थोड़ी-थोड़ी देर के अन्तर से नहीं, जैसी कि उसकी आदत थी, तो अंग्रेज सैनिक चाहे वे कितने ही बहादुर थे, थकान और मौसम से कोई समुचित रक्षा न होने के कारण निश्चय ही हार जाते।"[२३] कर्नल कीथ यंग ने भी इसी तरह की आशंका प्रकट की थी। उनका कहना था कि जनरल इतनी कम सेना लेकर दिल्ली पर हमला नहीं करना चाहते थे, पर उन्हें अपनी धारणा के विरुद्ध यह निर्णय करना पड़ा। "अगर यह हमला किसी अनहोनी घटना के कारण विफल हो जाता तो हम अपनी सेना को तो अपने हाथ से गंवा ही देते पर साथ ही हिन्दुस्तान से भी सदा के लिए हाथ धोना पड़ता।"[२४] यहां तक कि विलबरफ़ोर्स के बड़े भाई हार्वे ग्रेटहेड को भी यह बात समझानी पड़ी कि १२ तारीख को हम जो कुछ करना चाहते थे उसका समय तो अब हाथ से निकल गया। सभी सैनिक अब इस बात पर एकमत थे कि कुमुक पहुंचने का इन्तजार किया जाए।[२५]

यदि अंग्रेज़ अफसर पहाड़ी पर अधिकार होने के तीन दिन बाद दिल्ली पर हमला करने की योजना बना रहे थे तो विद्रोही सिपाही भी हाथ पर हाथ धरे नहीं बैठे थे। उनमें साहस और शक्ति की कमी नहीं थी यह ठीक है, लेकिन उनमें कोई कुशल सेनाध्यक्ष नहीं था। ९ जून को यानी बादली की सराय की लड़ाई के दूसरे ही दिन विद्रोही सिपाहियों ने बाड़ा हिन्दूराव पर हमला कर दिया। अंग्रेज़ों के सौभाग्य से प्रसिद्ध 'डेलीज़ गाइड्स' की कुमुक पेशावर के पास मरदान से पांच सौ अस्सी मील का सफर तय करके उसी दिन

---

२३. रोटन, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ६२-६३

२४. कीथ यंग, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ६१

२५. ग्रेटहेड, लेटर्स ड्यूरिंग दि सीज आफ़ देहली, पृ० ५०

सवेरे दिल्ली पहुंच गई और इसकी सहायता से तीसरे पहर ही विद्रोही सेनाओं को पीछे हटा दिया गया। अगले दिन विद्रोही सेनाओं से अंग्रेजी सेना के पिछले हिस्से को खतरा हो गया। इसके जवाब में अंग्रेजों ने मेटकाफ़ हाऊस पर अधिकार कर लिया और वहां भी एक सैनिक दस्ता तैनात कर दिया। इस प्रकार अंग्रेजी सेनाओं ने अपने सैनिक क्षेत्र के बाएं पक्ष का विस्तार धुर नदी के किनारे तक कर लिया। इसके बाद अंग्रेजी सेनाओं और विद्रोही सेनाओं में रोज ही तोपों की भयंकर लड़ाई होने लगी। इस लड़ाई में विद्रोहियों के लिए सुविधा यह थी कि वे अपेक्षाकृत अच्छे निशाने-बाज और जम कर लड़ने वाले थे। १५ तारीख को विद्रोही सिपाहियों ने मेटकाफ़ हाऊस पर अधिकार करने के लिए अचानक हमला किया जो विफल रहा। दो दिन बाद उन्होंने फिर जान की बाजी लगा कर लड़ाई लड़ी। विद्रोही सिपाहियों ने ईदगाह पर तोपें लगाने की कोशिश की जहां से बाड़ा हिन्दूराव पर गोलाबारी की जा सकती थी। बरनार्ड फौरन ही यह समझ गए कि अगर विद्रोही सिपाही इसमें सफल हो गए तो अंग्रेज़ी सेना की स्थिति डांवांडोल हो जाएगी; इसलिए हर जोखिम उठा कर उन्होंने इसे रोकने का निर्णय किया। इसे भी अंग्रेजों का सौभाग्य समझिए कि विद्रोहियों का पथ-प्रदर्शन करने वाला कोई योग्य व्यक्ति नहीं था। उन्हें थोड़ी बहुत जो सहूलतें मिली भी थीं तो उन्हें यह न सूझ पाता था कि उनका आगे के लिए कैसे लाभ उठाया जाए।

१९ तारीख को अंग्रेजी सेना के शिविर के पिछले भाग को जबर्दस्त खतरा हो गया। एक बार तो यही लगने लगा कि मजार पर लगा हुआ तोपखाना बस हाथ से अब गया तब गया। ब्रिगेडियर होपग्रांट जख्मी हो गए और एक परोपकारी मुस्लिम सवार की शूरता के कारण उनकी जान बच पाई। दिन छिपने तक हार-जीत का निर्णय नहीं हो पाया था, और विद्रोही सिपाहियों को यह आभास नहीं मिल पाया कि अगर वे जमे रहे तो उनके शत्रुओं की स्थिति क्या होगी। पंजाब से अंग्रेजी सेनाओं का सम्पर्क बिल्कुल टूट जाता और वह पहाड़ी पर घिर जाते। दूसरे दिन सवेरे जब अंग्रेज़ी सेनाएं फिर लड़ाई के लिए आईं तो उन्होंने देखा विद्रोही सिपाही रातों-रात वहां से खिसक चुके थे। पहाड़ी पर बहुत से ईश्वरभक्त अंग्रेजों की तो यही धारणा थी कि ईश्वर ने ही उनका साथ दिया जो उनके शत्रु भाग खड़े हुए। तीन दिन की चुप्पी के बाद विद्रोही सिपाही फिर मैदान में आ गए। यह पलासी के युद्ध की शताब्दी थी[२६] और बड़े ही विश्वास के साथ यह भविष्यवाणी की गई थी कि क्लाइव की विजय के ठीक सौ वर्ष बाद अब कम्पनी का शासन समाप्त होने को है। विद्रोही सिपाही जान की बाजी लगा कर लड़े। उनका विश्वास था कि भाग्य भी उनका साथ दे रहा है। मेजर रीड ने, जिनकी चौकी (बाड़ा हिन्दू राव) बहुत खतरे में थी, लिखा है, "विद्रोही जितनी बहादुरी से लड़े शायद ही कोई उतनी बहादुरी से लड़ सकता था। उन्होंने हमारी राइफलों, दस्तों और हमारे सैनिकों पर अनेक बार

---

२६. प्रत्येक अंग्रेज़ लेखक का विश्वास है कि २३ तारीख को जो आक्रमण किया गया उसका कारण यह भविष्यवाणी ही थी, परन्तु बड़ी अजीब बात है कि सिपाही अंग्रेज़ी पंचांग को ही मानते थे।

धावा बोला और एक बार तो मुझे भी यही लगने लगा कि हम अवश्य हार जाएंगे। विद्रोही शहर से भी भारी तोपें और बन्दूकें लाए थे। उनसे उन्होंने भयंकर गोला-बारी की और मैंने जो मोर्चा संभाल रखा था उसे उन्होंने तहस-नहस कर डाला।"[२७] लेकिन विद्रोही सेनाओं की संख्या अधिक होते हुए भी अंत में विजय विज्ञान की ही हुई और रण-कौशल के आगे बाहुबल टिक न सका। ग्रेटहेड का विश्वास था कि विद्रोहियों के बहुत-से आदमी मारे गए।[२८] पहाड़ी पर स्थित अंग्रेज़ी सेना के शिविर में पहले शत्रु की भारी क्षति होने के समाचार मिले थे लेकिन रोटन का कहना था कि शत्रु की क्षति को प्रायः बहुत बढ़ा-चढ़ा कर बताया जाता था। मेरा पक्का विश्वास है कि यदि हानि-लाभ की दृष्टि से देखा जाय तो स्थिति शत्रु के अनुकूल थी, और हमारे प्रतिकूल।" [२९] वास्तविकता यह थी कि अस्पताल नौ दिनों में घायलों से खचाखच भर गए थे और घायलों को मेरठ पहुंचाने का प्रबन्ध किया गया। अंग्रेज़ सिपाहियों को हिन्दुस्तानियों से तो लड़ना ही पड़ा, साथ ही प्रतिकूल जलवायु का भी सामना करना पड़ा। तलवार और गोलियों से उतने ही लोग मरे जितने हैजे, पेचिश और लू से।

२४ तारीख को नैविल चैम्बरलेन शिविर में आए। पहले उन्हें पंजाब के चलते-फिरते दस्ते का कमांडर नियुक्त किया गया था। कर्नल चेस्टर की मृत्यु के बाद उन्हें एडजुटेंट जनरल का पद संभालने के बिए दिल्ली भेज दिया गया था। उनके आने से शिविर में स्फूर्ति और उत्साह की लहर दौड़ गई और अचानक आक्रमण कर दिल्ली पर अधिकार करने की आशा फिर जाग उठी। विलबरफ़ोर्स ग्रेटहेड अब भी अपनी योजना में व्यस्त थे और उनके भाई हार्वे ने उसी दिन अपनी पत्नी के नाम पत्र में लिखा, "नैविल चैम्बरलेन शिविर में आ गए हैं, हम सब और जनरल भी उनके आ जाने से बहुत खुश हैं। बिलबी के साहसिक विचारों को अब और समर्थन प्राप्त होगा। जनरल बरनार्ड इन विचारों को अच्छा तो समझते हैं पर उनका और समर्थन चाहते हैं।"[३०] चैम्बरलेन के साथ लेफ्टिनेंट अलेग्ज़ेण्डर टेलर नामक एक युवक इंजीनियर आया था जिसे कर्नल बेयर्ड स्मिथ के सहयोग से सितम्बर में दिल्ली पर अंतिम आक्रमण करने की योजना बनानी थी। बेयर्ड स्मिथ को भी रुड़की से बुलाया गया था। युद्धस्थल पर मौजूद रहने की इच्छा से वे २९ जून को दिल्ली के लिए रवाना हो गए। पंजाब से बराबर कुमुक पहुंच रही थी और अब हमला करने वाले सैनिकों की संख्या लगभग छः हजार छः सौ तक पहुंच गई थी। ऐसा लगता था कि समय अनुकूल है और योजनाएं भी तैयार थीं। शिविर में साहसी व्यक्तियों की कोई कमी न थी। हाडसन को खुफ़िया विभाग का काम सौंप दिया गया था, और एक आंख का सैयद रजब अली जासूसी करने के साथ-साथ दुश्मनों के बीच फूट के बीज भी बो रहा था। बरनार्ड को पता चला कि ३ जुलाई को ही, जिस दिन उन्होंने

---

२७. फ़ारेस्ट, ए हिस्ट्री आफ़ दि इण्डियन म्यूटिनी, जिल्द १, पृ० ९४

२८. ४०० मरे और ३०० आदमी जख्मी हुए। ग्रेटहेड, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ६६

२९. रोटन, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ७५

३०. ग्रेटहेड, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ७०

आक्रमण की तैयारी की थी, विद्रोही भी अंग्रेज़ी सेना पर आम हमला करने वाले हैं। इस योजना की सफलता पूर्णतः नहीं तो मुख्यतः इस बात पर निर्भर थी कि शत्रु को बेखबर धर दबोचने का अवसर मिल जाए। विद्रोही सब स्वयं आक्रमण के लिए तैयार थे, तो अचानक हमला करके दिल्ली ले लेने की योजना में सफल होने की आशा बहुत कम थी और बरनार्ड इस मामले में कोई जोखिम उठाने को तैयार नहीं थे।

उधर दिल्ली में विद्रोही सेनाओं को भी कुमुक पहुंच चुकी थी। पहली और दूसरी जुलाई को बरेली से सेनाएं आ गई थीं। २ जुलाई को इन सेनाओं के कमांडर बख़्त ख़ां ने बादशाह से भेंट कर उन्हें अपनी सेवाएं अर्पित कर दीं। वह तोपखाने का एक सूबेदार था और उसे चालीस वर्ष की सेवा का अनुभव था। वह प्रथम अफ़गान युद्ध में भाग ले चुका था। १८५७ में उसकी उम्र ढल चुकी थी और अब उसे घुड़सवारी में भी कठिनाई होती थी। जीवनलाल ने लिखा है कि बख़्त ख़ां एक ऊंचे खानदान का व्यक्ति था और "दिल्ली के बादशाह के वंश का ही था।" लेकिन एक दूसरे स्थान पर जीवनलाल ने लिखा है कि "वह लखनऊ में सुल्तानतुर का रहने वाला था और अवध के नवाबी खानदान से उसकी रिश्तेदारी थी।"[३१] कैप्टन वाडी नामक उसके एक पहले कमांडिंग अफसर ने उसके बारे में कुछ और ही सुन रक्खा था। उनका कहना है कि बख़्त ख़ां बहुत लम्बा-तड़ंगा आदमी था। "पांच फुट दस इंच लम्बाई और ४४ इंच की चौड़ी छाती वाला वह आदमी जन्म से हिन्दू था पर बाद में जागीर आदि के लालच में आ कर मुसलमान हो गया था। मोटा पेट और गोल जांघों की वजह से वह अच्छा घुड़सवार न था लेकिन बड़ा चुस्त और चालाक था।"[३२] अन्य अफसरों का कहना है कि "बख़्त ख़ां भारी भरकम, मोटा, चापलूस और बहुत समझदार आदमी था। योरोपीय समाज में बैठने-उठने का उसे बहुत शौक था।"[३३] बख़्त ख़ां ने बादशाह से गुप्त रूप में भेंट की और मिर्ज़ा मुग़ल को हटा कर उसे विद्रोही सिपाहियों का कमांडर बना दिया गया। उसी दिन उस शहज़ादे को एडजुटेंट जनरल नियुक्त किया गया। एक नए आदमी का सर्वोच्च कमांडर नियुक्त किया जाना शहज़ादे को जरूर बुरा लगा होगा। बख़्त ख़ां के बारे में जो कुछ भी जानकारी है उससे यही लगता है कि वह शेखीबाज आदमी था और कमांडिंग अफसर होने की उसमें कोई योग्यता नहीं थी। उसने अपनी सेनाओं को छः महीने का वेतन पेशगी दे दिया और बादशाह को आश्वासन दिया कि उन्हें अब रुपए की चिन्ता न करनी पड़ेगी। वास्तव में बात यह थी कि वह बरेली से अपने साथ काफी खजाना लाया था

---

३१. मेटकाफ़, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १३४, १४६

३२. कूपर, दि क्राइसिस इन दि पंजाब, पृ० २०१

३३. बुशियर उसे व्यक्तिगत रूप से जानता था। उसका कहना है, "नाना की तरह बख़्त ख़ां हमेशा ही अंग्रेज़ी समाज में बैठने-उठने का शौकीन था। जिन दिनों वह फारसी पढ़ा करता था, वह पढ़ने और मुझसे बातें करने के लिए दिन में दो बार मेरे घर आया करता था। वह बहुत कुशाग्रबुद्धि था। लेकिन उस जैसा भयानक पाखण्डी जीव दुनिया में कभी पैदा नहीं हुआ।" एट मन्थ्स केम्पेन अगेंस्ट दि बंगाल सिपाय आर्मी, पृ० ४४

इसलिए कुछ समय के लिए बादशाह रुपया जुटाने की चिन्ता से मुक्त हो गए ।

पर बादशाह के सामने अन्य कठिनाइयां थीं । वह स्वभाव से ही शांतिप्रिय थे । सैनिकों की मनमानी का भी वे समर्थन नहीं कर सकते थे । परन्तु सेना के ऊपर उनका कोई नियंत्रण नहीं था । यही वजह थी कि उन्होंने बख़्त ख़ां से शहर में कानून व व्यवस्था स्थापित करने के लिए आवश्यक उपाय करने को कहा था । २३ जून की हार से शहर में घबराहट फैल जाना स्वाभाविक था और व्यापारियों ने एहतियात के तौर पर दुकानें बन्द कर रखी थीं । पर दुकानें बन्द नहीं रहने दी जा सकती थीं क्योंकि सिपाहियों के लिए रसद खरीदी जानी थी, जिसके न मिलने पर अराजकता फैल जाने का डर था । इसीलिए बादशाह का हुक्म था कि अगर जरूरत पड़े तो बल प्रयोग करके भी दुकानें खुलवाई जाएं क्योंकि बादशाह को आशा थी कि एक बार दुकानें खुल जाने पर सिपाही अपने आप ही कोई जोर-जबर्दस्ती किए बिना पैसे देकर चीजें खरीदेंगे । लेकिन सिपाही अनुशासन में रहने वाले नहीं थे । १४ तारीख को जमना दास नामक एक व्यक्ति की दुकान लूट ली गई क्योंकि उसने ऊंचे भाव पर आटा बेचा था ।[३४] २० तारीख को सिपाहियों ने बिल्ली मुहल्ले में गड़बड़ की और वहां कई मकानों को लूट लिया ।[३५] पहाड़गंज इलाके में भी गड़बड़ हुई और वहां से दो आदमी बादशाह के पास यह शिकायत लेकर आए कि सिपाहियों ने बिना कीमत दिए दुकानों पर से सामान उठा लिया और गरीब लोगों के घरों में घुस कर बिस्तरे, लकड़ियां और बर्तन आदि उठा लिए ।[३६] बहादुरशाह में और चाहे जो भी कमी रही हो, पर अपनी जनता के प्रति अपने कर्तव्य को निभाने की उन्होंने हमेशा ईमानदारी से कोशिश की और दुर्बल तथा अशक्त होते हुए भी वे अपनी जिम्मेदारियों से कभी पीछे नहीं रहे । लोगों की आए दिन की शिकायतों से चिन्तित होकर बादशाह ने २७ जून को विद्रोही सेना के तत्कालीन प्रधान सेनापति मिर्ज़ा मुग़ल और कर्नल के पद पर नियुक्त मिर्ज़ा खैर सुल्तान को कड़े शब्दों में एक पत्र लिखा, "जिस दिन से सेना यहां आई है उस दिन से एक भी दिन ऐसा नहीं बीता जब कि शहर के लोगों पर सिपाहियों के अत्याचारों की शिकायतें न की गई हों"[३७] किन्तु बादशाह ने जिन शहज़ादों को शहर में कानून व व्यवस्था स्थापित करने का काम सौंप रखा था वे दूसरों की सम्पत्ति हरने का लोभ संवरण नहीं कर सकते थे । जुगलकिशोर और शिवप्रसाद नामक दो व्यापारियों की बिना तिथि की एक अर्जी से पता चलता है कि सरकारी कारिन्दे और शहज़ादे लोगों को परेशान करते थे और शाही सिपाहियों ने उनके घरों को लूटा और उन्हें गिरफ्तार करने की धमकी दी ।[३८] सूबेदार बख़्त ख़ां के प्रधान सेनापति बनने के

३४. मेटकाफ़, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १२१

३५. वही, पृ० १२४

३६. चांद ख़ां और गुलाब ख़ां की संयुक्त अर्जी, प्रोसीडिंग्स आफ़ बहादुरशाहज़ ायल, पृ० ८

३७. वही, पृ० ६

३८. वही, पृ० १०-११

दो दिन बाद ही, यानी ४ जुलाई को अहसान-उल-हक नामक एक व्यक्ति ने बादशाह के पोते मिर्ज़ा अबू बकर के बारे में लूटमार और कानून विरुद्ध काम करने की शिकायत की।[३९] मिर्ज़ा मुग़ल की लूटी हुई सम्पत्ति वापिस करने का हुक्म दिया गया। दूसरे ही दिन बहादुरशाह प्रथम की पुत्र-वधू इमानी बेगम ने इसी शहज़ादे के बारे में एक बहुत ही संगीन शिकायत की। बेगम का कहना था कि "पिछली रात अबू बकर कुछ सवारों को साथ लेकर उसे पकड़ने के लिए उसके घर पहुंचे। वे नशे में थे और राइफल और पिस्तौल से उन्होंने कई गोलियां चलाईं और मुहल्ले के कई लोगों को मारा-पीटा। पुलिस आ गई लेकिन अबू बकर ने कोतवाल पर तलवार से हमला किया और उसे पकड़वा लिया तथा उसे हिरासत में ले लिया। कोतवाल की बेइज्जती की गई और अंत में उसका घर लूट लिया गया।" बादशाह इस शिकायत से बहुत नाराज हुए। उन्होंने शहज़ादे का सैनिक पद छीन लिया और उसकी गिरफ्तारी का हुक्म दिया।[४०] लेकिन शहज़ादे के लिए सजा से बच जाना बहुत मुश्किल नहीं था। बादशाह ने शहज़ादों की बड़ी लानत मलामत की। मुहल्ले के मुखियों को सूचित कर दिया गया कि अगर कोई भी शहज़ादा कानून के विरुद्ध काम करता पाया जाए तो उसके साथ वही सलूक किया जाए जो आम लोगों के साथ किया जाता है। लेकिन मालूम होता है कि बादशाह की नाराजगी का इन स्वेच्छाचारी युवक शहज़ादों पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा।

शहर के लोग तो विद्रोही सिपाहियों और उनके कमांडर शहज़ादों की ज्यादतियों से तंग थे और उधर गांवों में भी हालत अच्छी नहीं थी। २६ जून, १८५७ की सैयद अब्दुल्ला की एक अर्जी में लिखा है "१२६५ फसली साल की रबी की सारी फसल नष्ट कर दी गई है और इसके अलावा खेती के औजार, हल और कुएं की गरारियां आदि भी सिपाही लूट कर ले गए हैं।"[४१] देहातों में गूजर लोग खूब बढ़-चढ़ कर लूट मार कर रहे थे।

लड़ाई के दिनों में आम जनता शांति के दिनों जैसी सुरक्षा की आशा नहीं कर सकती। लेकिन आम लोगों पर एक तरफ तो उनके ही देशवासी अत्याचार कर रहे थे जो एक विदेशी सरकार का तख्ता उलटना चाहते थे और दूसरी ओर सरकार के पिट्ठू उन्हें तंग कर रहे थे जिनमें उन्हीं के सगे-सम्बन्धी भी होते थे। विद्रोही सिपाहियों के नेताओं के पक्ष में इतना तो कहा ही जा सकता है कि उन्हें शहर में अंग्रेज़ों के जासूसों से सावधान रहने के लिए एहतियात बरतनी पड़ती थी और शहर में ऐसे लोगों की कमी न थी

---

३९. वही, पृ० १२

४०. मेटकाफ़, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १३८-१३९। काशी प्रसाद ने उसकी पुष्टि की है। "बादशाह शहज़ादों को कड़े अनुशासन में रखता है। अबू बकर किसी स्त्री के पीछे एक मकान में गया, उसने पास के एक काज़ी के लड़के अब्दुलहक के घर को लूट लिया। बादशाह को जब यह पता लगा तो उसने कोतवाल को हुक्म दिया कि जिस किसी भी शहज़ादे ने लूट-मार की है उसे गिरफ्तार करके सजा दी जाए। अबू बकर को उसकी कमान से हटा दिया गया।" कोल्डस्ट्रीम एण्ड म्योर, उद्धृत ग्रन्थ, जिल्द २, पृ० ३९

४१. बहादुर शाह पर चलाए गए मुकदमे की कार्यवाही, पृ० १०

और स्थिति यह थी कि किसी पर भी जासूस होने का संदेह किया जा सकता था। बादशाह के विश्वास-पात्र अहसानुल्ला पर अंग्रेज़ों के साथ मिले रहने का संदेह किया गया जो अकारण नहीं था। एक आदमी महल के एक कमरे में सुरंग खोदता हुआ पकड़ा गया था। कभी-कभी तो विशिष्ट और धनी-मानी लोगों को अकारण ही संदेह का शिकार होना पड़ता था। पटियाला के महाराजा स्पष्ट रूप से अंग्रेज़ों के मित्र थे और उनके सैनिक अंग्रेज़ों के संचार-साधनों की रक्षा कर रहे थे। पटियाला के राज-परिवार के एक युवराज अजीतसिंह काफी समय से दिल्ली में रह रहे थे। उन्होंने अपनी रियासत का बंटवारा करने की मांग की थी। वे अपने पूर्वजों की सम्पत्ति का आधा हिस्सा लेने में सफल नहीं हो सके थे इसलिए पेन्शन लेकर अपनी इच्छा से ही रियासत छोड़ कर पटियाला से बाहर रहने लगे थे।[४२] १० जून को सिपाहियों के एक दस्ते ने उनके मकान पर धावा बोल दिया और उन्हें बन्दी बना कर बादशाह के सामने पेश किया। बादशाह ने हकीम अहसानुल्ला खां के यह विश्वास दिलाने पर कि उनकी अपने भाई महाराजा पटियाला से अनबन है उन्हें छोड़ दिया।[४३] कुली खां नामक एक तोपची ने बादशाह की खिदमत करके विशेष रूप से नाम कमाया था। लेकिन २३ जून को दिन भर की लड़ाई के बाद शहर लौटते हुए तीन सिपाही उसके तोपखाने के गोले से घायल हो गए थे। बस उस पर एकदम अंग्रेज़ों से सांठ-गांठ रखने का अभियोग लगाया गया और उसे गिरफ्तार कर लिया गया।[४४] अंग्रेज़ों पर अगर पूर्ण विजय मिल जाती तो स्थिति सुधर गई होती लेकिन भय और अविश्वास के कारण, हर जगह छल-कपट दिखाई देता था और अरक्षा की भावना बराबर बनी ही रही।

हालांकि अंग्रेज़ी सेना के शिविर में सिपाहियों का हौसला काफी बढ़ा हुआ था और अफसर ऐसे घूमते-फिरते थे जैसे उन्हें कोई परवाह ही न हो, लेकिन वहां का वातावरण भी चिन्ता और सन्देह से मुक्त नहीं था। भारी तोपों के लिए गोला-बारूद काफी नहीं था। शत्रु ने २४ पौंड के जो गोले फेंके थे, लेकिन जिनका विस्फोट नहीं हुआ था, उन्हें ही एकत्र कर शत्रु पर दोबारा फेंका जाना था। पहले तीन सप्ताहों के बारे में रोटन का कहना यह है कि सरकारी सेनाओं की संख्या का घटते जाना और विद्रोही सेना को कुमुक पहुंचते रहना कोई कम चिन्ता की बात न थी। जब कभी यह समाचार मिलता कि सर ह्यू व्हीलर शक्तिशाली सेना[४५] लेकर पश्चिम की ओर बढ़ रहे हैं तो सैनिकों का उत्साह दुगना हो जाता लेकिन दूसरे ही क्षण यह अफवाह सुनकर उत्साह कम हो जाता कि कालविन को हटा कर व्हीलर को पश्चिमोत्तर प्रान्त का लेफ्टिनेंन्ट गवर्नर बना दिया गया है।[४६] वे भारतीय सिपाहियों की वफादारी में पूर्ण विश्वास नहीं कर सकते थे जो अपनी

---

४२. अजीतसिंह के दावों के लिए सेन और मिश्र के उद्धृत ग्रन्थ में पृ० २४-२८ देखिए

४३. मेटकाफ़, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ११६

४४. मेटकाफ़, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १२६

४५. रोटन, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १११

४६. कीथ यंग, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ६०

जान जोखिम में डाल कर उनकी सेवा कर रहे थे। शत्रु-दल में फूट पड़ने के समाचारों से उन्हें कोई राहत न मिलती क्योंकि उनके अपने ही शिविर में विश्वासघात हुआ था और तीन पुरबियों को फांसी लगानी पड़ी थी और बाकी समूची कम्पनी को बर्खास्त करना पड़ा था। इस पूरे महीने में बाहर दूर-दूर की जगहों से विद्रोह के समाचार मिलते रहे। सबसे बड़ी बात तो यह थी कि उन्हें अपने जनरल के नेतृत्व में वह विश्वास न था जो भीषण संकट के समय में भी सेना में आशा और साहस बनाए रखता है। इस जनरल के बारे में कीथ यंग की कोई अच्छी राय नहीं थी और अन्य लोग भी उनसे सहमत थे। एक जगह कीथ यंग ने लिखा है, "सच तो यह है कि जनरल बरनार्ड बहुत अच्छे और दयालु व्यक्ति हैं, लेकिन बहादुर वृद्ध जनरल अपने वर्तमान पद पर कार्य करने योग्य नहीं रहे, उन्हें तो रोम में पोप बनाया जाना चाहिए। रहे जनरल रीड, सो वे भी उनसे कोई बेहतर नहीं है, लेकिन हां, उनमें यह बात जरूर है कि वे हस्तक्षेप नहीं करते।"[४७] बरनार्ड कोई तेज-तर्रार आदमी न थे, उनमें न तो निकलसन जैसी दिलेरी थी और न हाडसन जैसा दुस्साहस, फिर उनसे ऐसे कार्य की अपेक्षा की जा रही थी जो अधिकांश लोगों की राय में असंभव था। हाडसन का विचार था कि "चाहे जितनी भी बाधाएं हों, एशियाई लोग अंग्रेजों के सामने ठहर नहीं सकते।" पर यह तो एक कहने की बात थी और कोई जिम्मेदार सैनिक अधिकारी इस तरह की उक्तियों को मान कर नहीं चल सकता। अंग्रेजों के एशियावासियों से हार जाने के बहुत-से उदाहरण थे। बरनार्ड दांव लगाने या जोखिम उठाने को तैयार नहीं थे, क्योंकि थोड़ा-बहुत नहीं, पूरा साम्राज्य दांव पर लगा हुआ था। वे बड़े कर्तव्य-निष्ठ थे और अपना कर्तव्य निभाने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ते थे। ढलती उम्र और भारत की जलवायु के आदी न होने पर भी वे सारा दिन शिविर का चक्कर लगाते थे और रात को सोते भी नहीं थे। परिणाम यह हुआ कि बहुत अधिक शारीरिक और मानसिक थकान के कारण वे हैजे का आक्रमण न झेल सके और ५ जुलाई को उनकी मृत्यु हो गई। बीमारी के समय प्रलाप में भी वे सत्य को मजबूत करने की बात करते रहे। हार्वे ग्रेटहेड ने लिखा है कि "बरनार्ड एक आदर्श और बहुत अच्छे अफसर थे। यदि वे यूरोप की भूमि पर यूरोपीय युद्ध में होते तो सरकार की ज्यादा अच्छी सेवा कर सकते थे, लेकिन उन्हें अचानक ही बड़े कठिन मोर्चे पर भारत में भेज दिया गया। फिर उन्हें युद्ध-संचालन के लिए सेना की एक ऐसी कमान संभालने को कहा गया जो जनरल एन्सन ने संगठित की थी और उन्हें एक ऐसा कार्य करने के लिए बाध्य किया गया जिसे वे अपने सीमित साधनों को देखते हुए स्वयं भी अपने हाथ में न लेते।"[४८] दिल्ली पर आक्रमण के लिए सबसे ज्यादा अनुरोध हार्वे ग्रेटहेड का ही था। इसलिए मरणासन्न व्यक्ति के प्रति उनके उद्‌गार हृदय के सच्चे उद्‌गार माने जा सकते हैं। दिल्ली दरबार में यह खबर पहुंचाई गई कि अंग्रेजी सेना के प्रधान सेनापति ने आत्म-हत्या कर ली।

सर हेनरी बरनार्ड की जगह जनरल रीड को दिल्ली सेना का कमांडर बनाया

४७. वही, पृ० ८०

४८. ग्रेटहेड, उद्‌धृत ग्रन्थ, पृ० ६४

गया। वे अशक्त थे और "तमाम दिन बिस्तर पर पड़े रहने के सिवाय और किसी काम के योग्य नहीं थे।"[४९] कमान संभालना उनके लिए अत्यधिक भार था। हालांकि निकट भविष्य में ही दिल्ली पर आक्रमण करके उस पर कब्जा करने का कोई सवाल नहीं था, अंग्रेज़ी सेनाओं के लिए खाद्यान्न की कोई कमी नहीं हुई लेकिन "अन्य आराम की चीजों की कमी हो गई।" ८ जुलाई को अंग्रेज़ी सूअर का मांस पांच रुपये प्रति पौंड और मोमबत्ती जो ऐसी कोई ऐश-आराम की चीज भी नहीं कही जा सकती तीन रुपये प्रति पौंड के हिसाब से मिली। बाकी अन्य सब चीजें काफी सस्ती थीं। जनरल रीड जैसे अशक्त और दुर्बल व्यक्ति को जिस प्रकार की सुविधाओं की जरूरत थी शिविर में उन्हें मुहैया नहीं की जा सकीं। अतः यदि उन्होंने १६ तारीख को ही अपनी कमान छोड़ दी तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। लेकिन बीच का यह समय बिना किसी घटना के घटे बीत गया हो ऐसी भी बात नहीं थी। ९ तारीख को विद्रोही घुड़सवारों का एक दस्ता एक तोपखाने की चौकी को पार करता हुआ और कारबाइनर्स को हरा कर देशी तोपखाने तक पहुंच गया। वहां पहुंच कर विद्रोहियों ने तोपखाने के सिपाहियों से अपनी तोपें लेकर दिल्ली चलने को कहा। तोपखाने के सिपाही तो नहीं डिगे पर नवीं अनियमित सेना पर विद्रोहियों से मिल जाने का संदेह किया गया। सब्जी मंडी की तरफ भी लड़ाई हुई। दोनों ही तरफ काफी आदमी हताहत हुए। अंग्रेज़ी सेना के दो आदमी लापता थे, २३ मरे और घायल हुए और विद्रोहियों के लगभग पन्द्रह सौ आदमी हताहत हुए। लेफ्टिनेन्ट हिल्स और मेजर टोम्ब्स को इसी लड़ाई में विक्टोरिया क्रास मिला था। ब्रिगेडियर चैम्बरलेन नवीं अनियमित सेना के बड़े पक्षपाती थे। वे इस बात से सहमत नहीं थे कि यह सेना विद्रोहियों से मिल गई है। इस सेना को निःशस्त्र किया गया, लेकिन इसे पंजाब में १७वीं रेजीमेण्ट के साथ भेज दिया गया।

नवीं अनियमित सेना के बच जाने पर भी अंग्रेज़ी सिपाही अपना गुस्सा शिविर के भोले-भाले आदमियों पर उतारने से न चूके। इन बेचारों ने अपने मालिकों की बड़ी सेवा की थी और प्रायः केवल इसीलिए उन्होंने अपनी जान जोखिम में डाली थी कि उनके मालिक कहीं भूखे न रह जाएं। ये लोग गोला-बारूद की कमी पूरी करने के लिए इधर-उधर से गोले इकट्ठे करके स्टाक में जमा करते, और इसके लिए प्रति गोला उन्हें कुछ पैसे ही मिलते थे। इनके बिना अंग्रेज़ी सेना का एक दिन भी काम चलना मुश्किल था। लेकिन ९ तारीख के आक्रमण से गोरे सिपाही आपे से बाहर हो गए। के ने कहा है, "शत्रु को सामने न पाकर कुछ गोरे सिपाहियों ने इस अवसर पर क्रोध में आकर कैम्प के निरपराध लोगों, नौकरों तथा अन्य व्यक्तियों को कत्ल कर दिया। ये बेचारे पहले से ही डरे और सहमे हुए एक ईसाई गिरजे के पास एकत्र थे, वहीं इनका काम तमाम कर दिया गया। हमारे गोरे सिपाहियों का मन पूर्व की मटमैली वर्दी पहने हुए सभी के प्रति इस कदर क्रोध और घृणा से भर गया था कि उन्हें इन लोगों की वफादारी निष्ठा, सेवा और इनके अच्छे काम का एक क्षण के लिए भी ख्याल न

४९. कीथ यंग, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १३६

आया।"[५०] जो लोग इस सबके लिए अपराधी थे उनके विरुद्ध कोई अनुशासनात्मक कार्रवाई नहीं की गई और न की ही जा सकती थी। रोटन का कहना है कि "इस घटना से कोई खास सनसनी नहीं फैली क्योंकि यही लगता था कि मृतकों में बहुत-से व्यक्ति यूरोपीय सिपाहियों के हाथों ही मारे गए थे। मुझे याद है अधिकारियों को यह बात बहुत बुरी लगी थी और उनका ऐसा अनुभव करना ठीक भी था क्योंकि इस तरह बिना पर्याप्त कारण के किसी की जान नहीं ली जानी चाहिए। लेकिन शिविर में यकायक शत्रु के प्रकट होने से अव्यवस्था फैली और हमारे आदमी यह भूल गए कि वे शत्रु को नहीं वरन् अपने ही लोगों को मार रहे हैं, यही सब बात इस घटना के पक्ष में कही जा सकती है। चाहे जो हो, युद्ध में जैसी घटनाएं हुआ करती हैं यह भी वैसी ही एक घटना थी। इस पर केवल खेद ही प्रकट किया जा सकता था लेकिन उसे रोका नहीं जा सकता था।"[५१]

१४ तारीख को एक और जबर्दस्त मुठभेड़ हुई। विद्रोहियों ने शहर की दीवारों पर भारी तोपखाना लगा कर बाड़ा हिन्दूराव और सब्जी मंडी की चौकी पर पूरे जोर के साथ हमला किया और दिन भर लड़ाई होती रही। शाम को ब्रिगेडियर चैम्बरलेन एक दस्ता लेकर विद्रोहियों को पीछे हटाने के लिए आगे बढ़े और उनके कंधे में गोली लगी जिससे दिल्ली के पतन तक वे फिर लड़ने योग्य न हो सके। इस घटना का शायद जनरल रीड के अपने पद से अवकाश ग्रहण करने के निर्णय में कुछ प्रभाव पड़ा हो क्योंकि एडजुटेंट जनरल चैम्बरलेन उनके दाहिने हाथ थे।

थोड़े ही समय में एक के बाद एक तीन प्रधान सेनापतियों का मारा जाना बड़ी ही दुर्भाग्यपूर्ण बात थी और भारतीय सेना के लिए यह धक्का बर्दाश्त कर पाना मुश्किल ही था। लेकिन अंग्रेज़ों ने इस क्षति को केवल बर्दाश्त ही नहीं किया बल्कि अपने अनुशासनहीन विपक्षियों के आगे मुस्तैदी से डटे रहे। नए प्रधान सेनापति आर्च-डेल विल्सन शिविर के सबसे वरिष्ठ अफसर न थे। १० तारीख की उस महत्वपूर्ण शाम को भी मेरठ में उन्होंने कोई असाधारण योग्यता का परिचय नहीं दिया था। लेकिन वे एक मुस्तैद व्यक्ति थे और गाजीउद्दीन नगर और हिण्डन की लड़ाई में विजय पाकर उन्होंने अपनी धाक जमा ली थी। नए पद का कार्यभार संभालते ही उन्होंने शिविर के दैनिक कार्यों को ओर ध्यान देना शुरू कर दिया। कीथ यंग ने २२ जुलाई को लिखा है, "अब ब्रिगेडियर विल्सन के कमान संभालते ही शिविर का सारा कार्य पहले की अपेक्षा अधिक सुचारु रूप से चल रहा है। वे शिष्ट, शांत और मुस्तैद 'वृद्ध आदमी' हैं, शिविर का सब काम-काज स्वयं देखते हैं और स्पष्ट आदेश देते हैं, सब कोई पहले की अपेक्षा अधिक संतोष अनुभव करते हैं क्योंकि पिछले कमांडर में किसी को विश्वास ही नहीं था। ब्रिगेडियर विल्सन जरूरत से कुछ अधिक सावधान हैं पर इसे उनका गुण ही समझना चाहिए।"[५२] उनमें साहस का अभाव जरूर है लेकिन इस समय इस बात का कोई महत्व नहीं है क्योंकि विद्रोहियों पर आक्रमण

---

५०. ए हिस्ट्री आफ़ दि सिपाय वार, जिल्द २, पृ० ५८१

५१. रोटन, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १३४

५२. कीथ यंग, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १४५

करने की जल्दी ही कोई संभावना नहीं है। हारवे ग्रेटहेड ने दिल्ली पर अविलम्ब आक्रमण न हो सकने की बात पर तो सब्र कर ही लिया था, साथ ही उन्होंने अब यह भी सोच लिया कि पहले की सारी योजनाओं को छोड़ देना ही बुद्धिमानी का काम रहा। २६ जुलाई को उन्होंने लिखा, "अब घटनाचक्र बदल रहा है, हमारी रक्षा की चट्टान पर अब शत्रु की लहरों का वेग कम हो रहा है। हमारी इस सेना ने जो भी कार्य किया है यदि हमारी कठिनाइयों के संदर्भ में उस पर विचार किया जाएगा तो इतिहास में उसका स्थान उज्ज्वल रहेगा। सेना का यह कार्य और भी शानदार हो सकता था, परन्तु यदि पराजय हो जाती तो उसके परिणाम बहुत भयंकर होते। अब यह स्पष्ट है कि विलम्ब हमारे साम्राज्य के लिए घातक नहीं होगा और मेरा विचार है कि जिन तारीखों में अन्य स्थानों पर उपद्रव और कत्ले-आम हुए, उनसे यह प्रकट होता है कि वे दिल्ली पहुंच कर हमारे दिल्ली पर कब्जा न करने के कारण नहीं हुए।"[५३] यह सच है कि पूर्व से सहायता आने की अधिक आशा न रह गई थी और कानपुर से व्हीलर के सम्बन्ध में दुःखद समाचार प्राप्त हो चुका था।[५४] लेकिन यह भी विश्वास था कि दिल्ली शहर की चहारदीवारी के अंदर भी स्थिति संतोषजनक न थी। ऐसी खबर थी कि सिपाही तनख्वाह के लिए हल्ला मचा रहे हैं, बहुत-से शहर छोड़ कर जा रहे हैं। तंग आए हुए बैंकों के मालिक और नागरिक बड़ी उत्सुकता से अंग्रेज़ों के फिर आ जाने की प्रतीक्षा कर रहे हैं, सिपाहियों के नेताओं और बादशाह के सलाहकारों में फूट पड़ गई है, विद्रोहियों की रेजीमेण्टों में आपस में ही मतभेद है, गोला बारूद की कमी है और सबसे बड़ी बात तो यह है कि ईद की कुरबानी के प्रश्न पर हिन्दुओं और मुसलमानों में झगड़ा होने वाला है।

ये सभी खबरें पक्की नहीं थीं। यद्यपि बनियों पर यह सन्देह था कि वे छर्रे की बन्दूकों में काम आने वाली कारतूस की टोपियां अंग्रेज़ी सेना के कैम्प से खरीद कर शहर में बेच रहे हैं। लेकिन शहर में कारतूसों और गोलियों की कमी नहीं थी, हां बारूद की कमी अवश्य थी। १८ जुलाई को बारूद-खाने के दारोगा रजब अली ने खबर दी कि बारूद कम है और २४ जुलाई को प्रधान सेनापति मुहम्मद बख़्त ख़ां ने भी बादशाह को यही समाचार दिया। शहर में गन्धक सीमित मात्रा में उपलब्ध था और विद्रोही सिपाही जो बारूद बनाते थे वह अंग्रेज़ों की बारूद जैसी अच्छी नहीं थी। जुलाई के शुरू में बादशाह ने प्रधान सेनापति को बैंकों के मालिकों और व्यापारियों से रुपया इकट्ठा करने को कहा था क्योंकि खजाने में पैसा नहीं था। विचार यह था कि ऐसे संकट के समय कर्ज लेकर और चन्दा एकत्र कर रुपया जमा किया जाए और बादशाह ने वृन्दावन नामक एक व्यक्ति को इकरारनामा लिख कर दिया था।[५५] रेवाड़ी के राव तुलाराम को अपने इलाके में

५३. ग्रेटहेड, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १५३-५४

५४. कानपुर के पतन का समाचार लगभग १८ जुलाई को दिल्ली पहुंचा किन्तु लखनऊ की सहायता के बाद यह आशा थी कि हेवलाक दिल्ली को कुमुक पहुंचाएगा।

५५. बहादुरशाह के मुकदमे के कागज़ात, पृ० ४२-४३। १५ जुलाई के एक पत्र में मिर्ज़ा मुग़ल से कहा गया था कि १ प्रतिशत के ब्याज पर लोगों से जबर्दस्ती कर्ज लिया

मालगुजारी एकत्र करने का हुक्म दिया गया और अन्य इलाकों में भी तहसीलदारों को यही आदेश दिए गए। ऐसा नहीं लगता कि जुलाई के महीने में बादशाह किसी जबर्दस्त आर्थिक संकट में थे क्योंकि वे चन्दा नहीं मांग रहे थे लेकिन कर्ज के लिए ही अधिक जोर दे रहे थे। रामजीमल नामक एक बैंक के मालिक से बादशाह ने कहा था, "मैं आप से रुपया कर्ज के तौर पर चाहता हूं, किसी कर के रूप में नहीं। देखिए, मेरे एक मित्र ज्योतिप्रसाद ने (आगरे का एक ठेकेदार) अंग्रेजों को तीस हजार रुपया कर्ज दिया है। बताइए, फिर आप किस आधार पर मुझे कर्ज देने में आपत्ति कर सकते हैं।"[५६]

हालांकि लोगों से चन्दा देने का आग्रह नहीं किया जा रहा था लेकिन सिपाही नगरवासियों को बराबर परेशान कर रहे थे। जब भी उन्हें किसी पर अंग्रेजों का मित्र होने का सन्देह होता वे कानून अपने हाथ में ले लेते और इसलिए उन्हें बड़ा सावधान रहना पड़ता था। ७ जुलाई को कर्नल बीचर, कीथ यंग के पास बल्लभगढ़ के राजा नाहरसिंह का एक पत्र लाए।[५७] राजा सामान और आदमियों से अब तक बादशाह की मदद कर रहा था लेकिन अब उसने अंग्रेजों को अपनी अडिग मैत्री का भरोसा दिलाया था और उनके शिविर को देखने आने की इच्छा प्रकट की थी। उसी महीने के आखिरी दिन इसी अफसर ने 'झज्जर के नवाब' के एक पत्र का उल्लेख किया जिसमें उसने अपने आप आ कर सलाम करने की इच्छा प्रकट की थी।[५८] जनरल बख़्त खां ने बादशाह से कहा कि कुछ बदजबां लोग मेरे बारे में यह उड़ा रहे हैं कि मैं शत्रु से मिल गया हूं।[५९] राव तुलाराम दोहरी चाल चल रहा था। वह बादशाह को नजर भी पेश करता था, जबान से उनका वफादार भी बनता था लेकिन अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए अपने पड़ोसियों से लड़ता था। उसके बारे में कहा जाता है कि उसने एक सरदार को लिखा था, "अगर आप यह सोचते हों कि अंग्रेज हिन्दुस्तान से जा रहे हैं तो आप शायद नशे में हैं, अंग्रेजों का यहां वापिस आना निश्चित है और वे लौट कर आपको बरबाद कर देंगे।"[६०] प्रकट में तो ये सरदार बादशाह के हित को ही अपना हित मानते थे लेकिन गुप्त रूप से वे अंग्रेजों से समझौते की बातचीत कर रहे थे, वैसे अभी अंग्रेजों को विद्रोहियों के विरुद्ध कोई महत्वपूर्ण सफलता प्राप्त नहीं हुई थी। इन चालाक सरदारों की इस दुरंगी चाल का किसी को पता तक न था लेकिन नवाब के एक एजेंट अलोपप्रसाद पर यह आरोप लगाया गया कि उसने अंग्रेजी जासूसों को शरण दे रखी है। सिपाहियों के एक बड़े भारी दस्ते ने उसके घर पर छापा मारा और उस पर "यूरोपियनों को घर में छिपाने" का आरोप लगाया। उन्होंने

जाए। २८ जुलाई के एक दूसरे पत्र में उससे बिना ब्याज के कर्ज लेने को कहा गया। भारत के पुरातत्व संग्रहालय में ग़दर के कागज़ात, बंडल सं० १५३, सं० ६

५६. मैटकाफ़, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १७४

५७. कीथ यंग, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ११२

५८. वही, पृ० १६४

५९. मैटकाफ़, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १६१

६०. मैटकाफ़, उद्धृत ग्रन्थ, १७४

उसके घर की तलाशी ली और लगभग पचास हजार रुपए की सम्पत्ति लूट कर ले गए। जनरल बख़्त ख़ां इस जुल्म को रोकना चाहते थे लेकिन उन्होंने जो सैनिक भेजे उन्होंने इसमें हस्तक्षेप करने से इन्कार कर दिया। बाद में यह मामला बादशाह के पास लाया गया, उन्होंने मिर्ज़ा मुग़ल को इसकी तहकीकात करने का हुक्म दिया।[६१]

मुसलमानों का त्यौहार ईद आने वाला था और हाडसन को यह पक्की उम्मीद थी कि जामा मस्जिद में गाय की कुरबानी की रस्म पर हिन्दुओं और कट्टर मुसलमानों में जरूर झगड़ा होगा। उसके जासूसों ने हिन्दुओं और मुसलमानों में फूट होने की खबर भी दी थी। यह बताया गया था कि "कुछ कट्टर मुसलमानों ने यह पक्का ऐलान कर दिया है कि हम ईद के दिन जामा मस्जिद में परम्परानुसार गाय की कुरबानी जरूर देंगे। यह आशा की जाती है कि वे अपने इस धार्मिक निर्णय पर अड़े रहेंगे और तब हिन्दुओं-मुसलमानों में जरूर झगड़ा होगा।"[६२] दिल्ली में बहुत-से मुसलमानों ने अपने आपको जिहादी कहा था और बाहर से भी ऐसे ही कुछ लोगों के आ जाने से उनकी संख्या बढ़ गई थी और जुलाई में बहुत-से जिहादी टोंक से यहां आए थे। ये जिहादी कोई प्रशिक्षित सिपाही तो थे नहीं पर निर्भयतापूर्वक मारने-मरने के लिए हर वक्त तैयार रहते थे पर युद्ध-क्षेत्र के लिए वे बहुत उपयोगी नहीं थे क्योंकि उनकी दृष्टि में सिर पर तलवार चलाना ही युद्ध था। उनमें एक स्त्री ऐसी जरूर थी जिसने घुड़सवारों की लड़ाई में अपने दो दुश्मनों को मार दिया था और बाद में वह घायल हो गई और उसे बन्दी बना लिया गया।[६३] चाहे जो भी हो ये जिहादी बादशाह और उनके मंत्रियों के लिए एक परेशानी का कारण बन गए थे। बादशाह उनकी सेवाओं को अस्वीकार भी नहीं कर सकते थे और काफिरों के विरुद्ध जिहाद छेड़ने की उनकी मांग को प्रोत्साहित भी नहीं किया जा सकता था। लखनऊ में वली के नाम से एक ऐलान निकाला गया जिसमें जिहाद की बड़ी प्रशंसा की गई थी।[६४] लेकिन दिल्ली में विद्रोही सेना में हिन्दुओं की संख्या काफी थी और जिम्मेदार मुसलमान किसी हालत में भी उन्हें अपने से अलग नहीं करना चाहते थे। इन्हीं कारणों से बरेली के ख़ान बहादुर ख़ां

६१. मैटकाफ़, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १६६-१६८

६२. कीथ यंग, उद्धृत ग्रन्थ, १५८

६३. कीथ यंग, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १४३। "क्या मैंने तुम्हें यह बताया है कि उस दिन एक स्त्री को बन्दी बनाया गया था। यह स्त्री एक घुड़सवार दस्ते का नेतृत्व कर रही थी और उसने अपने हाथ से हमारे दो आदमियों को मार दिया था।" ग्रेटहेड ने भी इस आश्चर्यजनक स्त्री का ज़िक्र किया है। उन्होंने कहा है, "कल एक जोन आफ आर्क को बन्दी बनाया गया है। कहा जाता है उसने हमारे एक आदमी को गोली से मार दिया और बहुत जी तोड़ कर लड़ी। वह जिहादन है—धार्मिक कट्टरपन्थी। वह हरा साफा बांधे हुए थी और यह माना जाता है कि संभवतः उसमें ईश्वरीय शक्ति काम कर रही थी।" ग्रेटहेड, उद्धृत ग्रन्थ, १३०

६४. फ़ारेन पोलिटिकल कन्सल्टेशन्स, संख्या १७५२-५३, ३१ दिसम्बर, १८५८। ये कागज़ात बरेली में मिले थे।

ने भी कहा कि यदि हिन्दू अंग्रेजों के साथ युद्ध में मुसलमानों के साथ सहयोग करें तो गाय की कुरबानी देना बन्द करा दिया जायगा।[६५] हर आदमी को हैरानी थी कि अब एकता के लिए बादशाह किस हद तक प्रयत्न करेंगे। यह स्पष्ट था कि इस प्रश्न पर कोई ऐसा निर्णय नहीं हो सकता था जो सब को पसन्द हो। हकीम एहसानुल्ला ईद के मौके के इस रिवाज को बन्द करने की बात कहने में आनाकानी कर रहे थे और संभवतः मौलवियों की राय ही मानते। लेकिन बादशाह ने बड़े साहस से काम लेकर सेना के जनरल और अफसरों को सूचित किया कि "ईद के मौके पर शहर में गाय की कुरबानी नहीं होगी और अगर कोई मुसलमान ऐसा करेगा तो उसे तोप से उड़ा दिया जाएगा, और जो मुसलमान गाय की कुरबानी में किसी तरह की सहायता देगा उसका भी यही हाल होगा।"[६६] बादशाह ने स्वयं ईदगाह में एक भेड़ की कुरबानी देकर अपनी प्रजा के सामने एक उदाहरण पेश किया। इसलिए पहली अगस्त को यानी ईद के दिन दिल्ली में परस्पर विनाशकारी झगड़ा नहीं हुआ। सवेरे मुसलमानों ने जगह-जगह नमाज़ पढ़ी और शाम को बादशाह ने रस्म के अनुसार दरबार किया जिसमें लोगों से तोहफे स्वीकार किए और लोगों को सम्मानसूचक परिधान या उपाधियां बख़्शीं। अगले ही दिन कीथ यंग ने अपनी पत्नी को पत्र लिखा: "कल ईद के मौके पर हिन्दुओं-मुसलमानों में झगड़ा होने की हमारी आशा पूरी नहीं हुई, कम से कम अब तक शहर से जो खबर आई है उससे तो ऐसा पता नहीं चलता। बादशाह ने शहर में गाय, यहां तक कि बकरी की भी[६७] कुरबानी की निषेधाज्ञा जारी कर दी है और यदि इसका पालन किया गया तो हिन्दू सन्तुष्ट हो जाएंगे। हिन्दूओं-मुसलमानों ने आपस में न लड़कर संयुक्त रूप से हमें नष्ट करने और इस पृथ्वी से हमारा समूलोन्मूलन करने के लिए हम पर आक्रमण किया।"[६८] उस सारे तीसरे पहर, रात को और अगले दिन दुपहर तक बराबर लड़ाई जारी रही। सिपाही बार-बार अंग्रेज़ी सेना के मोर्चों पर हमला करते लेकिन तोपों की लगातार बौछार में न जाने कितने मर जाते और बचे-खुचे लोग पीछे लौटते और दल बांधकर गोलियों की बौछार की परवाह न करके फिर आगे बढ़ कर हमला करते। उनकी हिम्मत का नतीजा और अधिक अच्छा होना चाहिए था लेकिन पहाड़ी पर खाइयां खोद कर मोर्चा संभाले हुए अनुशासित अंग्रेज़ी सिपाहियों के आगे विज्ञानरहित यह साहस कुछ काम न आया। दो महीने से विद्रोही सिपाही शत्रु को इस स्थान से उखाड़ने की कोशिश कर रहे थे लेकिन वे अधिकतर दाएं पार्श्व की तरफ हमला करते जिससे बांए पार्श्व और पिछले भाग के लिए कभी-कभी ही खतरा उत्पन्न होता था। सारे शिविर को दाएं, बाएं, मध्य और पिछले हिस्से पर एक साथ हमला कर

---

९५. फ़ारेन सीक्रेट कन्सल्टेशन्स, ३० अप्रैल, १८५८, संख्या २२-२३। अगर हिन्दू अंग्रेज़ों का वध करने में साथ देंगे तो मुसलमान उसी दिन से गाय की क़ुरबानी देना बन्द कर देंगे

६६. मैटकाफ़, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १७०

६७. यह सही नहीं है

६८. कीथ यंग, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १७१

चारों तरफ से घेर लेने का कभी कोई प्रयत्न नहीं किया गया। बाहर से विद्रोहियों की कुछ नई रेजीमेण्टें दिल्ली पहुंची थीं इसलिए उनकी शक्ति जताने के लिए नई रेजीमेण्टों को साथ लेकर फिर हमला किया गया लेकिन इसके लिए सोच-विचार कर बनाई गई कोई पूर्व निश्चित योजना न थी और न कोई ऐसा कुशल व्यक्ति ही था जो इस आक्रमण का संचालन कर सकता। विद्रोही सेनाओं की अधिक संख्या उनकी शक्ति के लिए हानिकारक अधिक थी, सहायक कम, क्योंकि प्रशिक्षित सिपाहियों के साथ सशस्त्र भीड़ होने से, जो अनुशासन और सैन्य विज्ञानों के मूल तत्वों से अनभिज्ञ थी, सफलता मिलनी तो दूर रही, उनमें अव्यवस्था फैलने की ही अधिक संभावना थी। बार-बार असफल होने से, उनका उत्साह ठंडा पड़ गया और उन्होंने अपनी असफलता का कारण यह समझा कि ऊपर के बड़े-बड़े अफसरों ने विश्वासघात किया है। ७ अगस्त को जब बारूदखाने में विस्फोट हुआ तो विद्रोही सिपाहियों का सन्देह हकीम अहसानुल्ला खां पर हुआ।

शुरू से ही हकीम साहब को इस ग़दर से कोई सहानुभूति न थी और यह नहीं हो सकता था कि उनके ये विचार सिपाहियों से छिपे रहे हों। तोपखाने में विस्फोट कैसे हुआ यह किसी को पता नहीं था। हो सकता है यह एक दुर्घटना मात्र हो, और यह भी संभव था कि जान-बूझ कर सब किया गया हो क्योंकि यह तो सब जानते ही थे कि अंग्रेज़ों के कुछ जासूस लगे हुए हैं। हकीम साहब बारुदखाने से बाहर निकले ही थे कि विस्फोट हो गया। उन पर अंग्रेज़ों के साथ लिखा-पढ़ी करने का संदेह था। कीथ यंग के कथनानुसार यह संदेह निराधार नहीं था।[६९] जब हकीम साहब के घर पर छापा मारा गया और तलाशी ली गई तो उनके घर से एक ऐसा पत्र मिला जिससे उनपर शक किया जा सकता था। कूपर का कहना है कि रजब अली ने यह पत्र उनके घर में जान-बूझ कर रखवाया था।[७०] कीथ यंग की सूचना के अनुसार हकीम साहब को गिरफ्तार कर लिया गया। यह कोई आश्चर्य की बात भी नहीं थी। जीवनलाल को बताया गया था कि हकीम साहब को बादशाह ने महल के एक तहखाने में छिपा लिया था लेकिन बाद में बादशाह को हकीम साहब को सिपाहियों के हवाले करना पड़ा। हकीम साहब के परिवार की स्त्रियां सही-सलामत बच कर निकल गईं और वे और अधिक बेइज्जती से बच गईं।[७१] बादशाह के विश्वासपात्र मंत्री के इस विश्वासघात से सेना का हौसला गिर गया और दरबार में भी नैराश्य की भावना फैल गई। विद्रोहियों को यह पता था कि इस मामले में बादशाह ने हकीम साहब के साथ मिल कर जून के शुरू में ही अंग्रेज़ों से समझौते की बातचीत की

---

६९. कीथ यंग, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १८६। २५ मई, १८५७ के एक पत्र में सर जान लारेन्स ने हार्वे ग्रेटहेड को सलाह दी कि वह महबूब अली ख़ां, अमीनुद्दीन ख़ां, ज़ियाउद्दीन ख़ां, इलाहीबख़्श, रामजी दास गुड़वाला, और मथुरादास शालिग्राम को पत्र लिखे। उसका विश्वास है कि वे वफ़ादार साबित होंगे और ग्रेटहेड से पत्र-व्यवहार करेंगे। के मैनुस्क्रिप्ट्स, होम मिसलेनियस, संख्या ७२६, पृ० ५६१

७०. कूपर, क्राइसिस इन दि पंजाब, पृ० २०६

७१. मैटकाफ़, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १८६

थी।[७२] अपनी सेना के साथ विश्वासघात करने में बादशाह अकेले नहीं थे।

जीवनलाल को लाल किले और अंग्रेज़ी सेना के शिविर के बीच गुप्त पत्र-व्यवहार का पता लगना शायद सम्भव न था लेकिन सिपाहियों ने किसी न किसी विचित्र भेद की गन्ध पा ली थी। उनका सन्देह भी ठीक ही दिशा में था। उन्होंने खुले रूप से बेगम ज़ीनत महल पर विश्वासघात का आरोप लगाया। ग़दर के कारण उसकी सभी योजनाओं पर पानी फिर गया था। वह अपने पुत्र जवां बख़्त को उत्तराधिकार दिलाने का प्रयत्न कर रही थी। अस्वाभाविक या स्वाभाविक रूप से एक के बाद दूसरे शहज़ादे की मृत्यु हो चुकी थी। शेष जीवित शहज़ादों में से मिर्ज़ा कोबाश को छोड़ कर सभी अपना जन्म-जात अधिकार छोड़ने पर सहमत हो गए थे। अब केवल अंग्रेज़ अधिकारियों को यह समझाना रह गया था कि जवां बख़्त ही उत्तराधिकारी बनने के योग्य है और प्रजा भी उसे ही उत्तराधिकारी बनाया जाना पसन्द करेगी। ग़दर के कारण वरिष्ठ शहज़ादे प्रकाश में आ गए थे और यदि अंग्रेज़ हार जाते तो सेना जवां बख़्त को नहीं बल्कि मिर्ज़ा मुग़ल को बादशाह का उत्तराधिकारी बनाती। मिर्ज़ा इलाही बख़्श अंग्रेज़ों के पक्ष में काम कर रहा था और हो सकता है कि अहसानुल्ला ने उसके प्रयत्नों का समर्थन किया हो। मौलवी रजब अली[७३] ने भी उसके प्रयत्नों में सक्रिय सहयोग अवश्य दिया होगा। योजना बहुत सीधी-सी थी। अगर अंग्रेज़ अधिकारी बादशाह को उसकी पुरानी पेन्शन और विशेषाधिकार देकर उसे पहले जैसा दर्जा देने को सहमत हों तो वह और उसके साथी कोई न कोई षड्यन्त्र रच कर नावों का पुल नष्ट कर देंगे और घुड़सवार सेना को अपने में मिला कर उसकी सहायता से पैदल सेना पर विजय पा लेंगे और इस प्रकार अंग्रेज़ों को शहर में प्रविष्ट करा देंगे। अंग्रेज़ों की सैन्य स्थिति इस बीच पहले से अधिक सुदृढ़ हो गई थी और इस तरह समझौते की बातचीत चलाना ही कमजोरी का लक्षण था। अंग्रेज़ों को अपनी विजय का पक्का विश्वास था। अतः उन्होंने इन सुझावों पर ध्यान ही नहीं दिया।

यह तो मालूम नहीं कि समझौते की बातचीत दुबारा कब शुरू हुई। ६ अगस्त के एक पत्र में ग्रेटहेड ने सर विलियम म्योर को सूचित किया कि मेटकाफ़ को डाक से बादशाह का एक पत्र मिला है जिसमें उन्होंने उसकी कुशल-क्षेम पूछी है। निश्चय ही कुछ टोह लगाने के लिए ऐसा किया गया होगा लेकिन इस तरफ बिलकुल ध्यान नहीं दिया गया।[७४]

---

७२. देखिए, के मैनुसक्रिप्ट्स, कामनवेल्थ आफिस लाइब्रेरी, होम मिसलेनियस संख्या ७२६, पृ० ३४५-४६ और पृ० १६१, ४३७ और ४४२। ग्रेटहेड ने १६ जून को बादशाह द्वारा बातचीत चलाने का जिक्र किया है। लेकिन इस बातचीत का कोई नतीजा नहीं निकला क्योंकि अंग्रेज़ों का यह विचार था कि जब तक महल (किले) के दो दरवाजे विद्रोहियों के कब्जे में हैं बादशाह उनकी अधिक मदद नहीं कर सकता।

७३. रजब अली अगस्त के प्रथम सप्ताह तक दिल्ली शहर में था। जब विस्फोट के बाद गुप्तचरों के जोर से पता लगाने का कार्य शुरू हुआ तो वह इस स्थान को असुरक्षित समझ कर यहां से चला गया।

७४. कोल्डस्ट्रीम और म्योर, उद्धृत ग्रन्थ, जिल्द २, पृ० ११७

२० अगस्त तक बादशाह के समझौते की बातचीत चलाने की अफवाह गवर्नर-जनरल तक पहुंची और एडमंडस्टन ने कालविन को तार द्वारा यह सन्देश भेजा—"सरकार को कई बार इन अफवाहों का पता चला है कि दिल्ली के बादशाह ने वहां की सेनाओं के आफिसर कमांडिंग से समझौते की बातचीत चलाई है, और यह बातचीत सम्भवतः इस आधार पर चलाने का प्रयत्न किया जा रहा है कि बादशाह को वही स्थान दिया जाए जो उन्हें दिल्ली और मेरठ के विद्रोह से पहले प्राप्त था। गवर्नर-जनरल यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि अगर बादशाह को विद्रोह से पहले जैसा स्थान देने के आधार पर कोई रिआयत दी गई तो सरकार (जैसी कि उसे इस समय सलाह दी गई है) कभी भी इस पर अपनी स्वीकृति नहीं देगी।"[७५] २७ अगस्त को म्योर ने हैवलाक को लिखा कि "श्री ग्रेटहेड को शहज़ादों की ओर से दो-तीन सन्देश मिले हैं, जिनमें उन्होंने अपनी सेवाएं अर्पित की हैं और पूरी वफादारी का व्रत लिया है। इन सन्देशों का कोई जबाब नहीं दिया गया।"[७६] ग्रेटहेड ने अपने १६ अगस्त[७७] के एक पत्र में शहज़ादों के इन सन्देशों की चर्चा की है। हालांकि इस पत्र में विस्तार से यह नहीं बताया गया कि ये सन्देश कब प्राप्त हुए थे। ग्रेटहेड ने जब शहज़ादों की इन सेवाओं को स्वीकार न किया तो उन्होंने ब्रिगेडियर विलसन से बात चलाई। म्योर ने बाद में हैवलाक को बताया—"कुछ शहज़ादों ने अपनी सेवाएं अर्पित करने का जो प्रस्ताव किया था, ग्रेटहेड द्वारा अस्वीकृत हो जाने पर अब वह कुछ संशोधित रूप में फिर जनरल को भेजा गया है। अब इसमें स्पष्ट रूप से कहा गया है कि अगर शाही परिवार को कुछ रिआयतें दे दी जाएं तो पुल तोड़ दिया जायगा और घुड़सवार सेना को अपने में मिलाकर पैदल सेना पर विजय पा ली जाएगी। जनरल विलसन ने स्पष्ट रूप से यह कह दिया है कि शाही महल से कोई पत्र-व्यवहार नहीं किया जाएगा।"[७८] सम्भव है विश्वस्त दूतों की मार्फत ही बातचीत चलाई गई हो और यथा-सम्भव यही प्रयत्न किया गया हो कि लिखा-पढ़ी में कोई बात न आए। "बेगम ज़ीनत महल बादशाह की सर्वाधिक प्रिय बेगम तो थी ही साथ ही उनका राजनीतिक प्रभाव भी था। २१ अगस्त को उन्होंने अपने एक गुप्तचर की मार्फत अंग्रेज़ों के पास यह सन्देश भेजा कि बादशाह पर अपना प्रभाव डाल कर मैं कोई न कोई समझौता करा सकती हूं। मैंने (ग्रेटहेड ने) बेगम ज़ीनत महल को यह सन्देश भिजवा दिया कि हम आपका भला ही चाहते हैं, स्त्रियों और बच्चों से हमारा कोई झगड़ा नहीं है। लेकिन महल के किसी भी

७५. कोल्डस्ट्रीम और म्योर, उद्धृत ग्रन्थ, जिल्द १, पृ० १४५

७६. वही, जिल्द २, पृ० १४५

७७. ग्रेटहेड, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० २०५-६। "मुझे शहज़ादों से पत्र मिल रहे हैं जिनमें कहा गया है कि वे सदा ही हमारे रहे हैं। अब वे यह जानना चाहते हैं कि हमारे लिए क्या करें। वे खुद ही देखें कि उन्हें क्या करना है। मैं उन्हें नहीं बता सकता।"

७८. कोल्डस्ट्रीम और म्योर, उद्धृत ग्रन्थ, जिल्द १, पृ० १४८। यद्यपि म्योर का पत्र १० सितम्बर का है लेकिन समझौते की बातचीत शायद अगस्त के मध्य से पूर्व चलाई गई थी।

आदमी से हम कोई बातचीत नहीं कर सकते।"[79] ज़ीनत महल के प्रस्तावों को यद्यपि बड़ी विनम्रता से अस्वीकार किया जाता रहा, पर अंग्रेज़ों के एजेंट अब भी बेगम ज़ीनत महल को अपने साथ मिलाने की आस लगाए बैठे थे क्योंकि उनका विश्वास था कि किले की रक्षा करने वाली सेनाओं पर अब भी ज़ीनत महल का प्रभाव है। फारसी में लिखी हुई एक छोटी-सी पर्ची हाडसन ने कीथ यंग को दी थी जिसका एक महत्वपूर्ण वाक्य इस प्रकार था—"इलाही बख़्श और ज़ीनत महल के नाम एक छोटा-सा पर्चा लिख देने मात्र से ही दुर्ग-रक्षकों से मनचाही सहायता मिल सकती है।" इस कागज पर तारीख २४ और २५ अगस्त दी हुई है।[80] बेगम ज़ीनत महल पर सन्देह अवश्य था लेकिन यदि उसकी जालसाज़ी का पूरा पता चल जाता तो सिपाही उसे अकेला न छोड़ते, उस पर निगरानी रखते। इतना तो स्पष्ट था कि विद्रोही सिपाहियों के प्रति बादशाह के हृदय में बहुत अच्छी भावना न थी। सिपाही अंग्रेज़ों को पहाड़ी पर से मार भगाने में असफल रहे और बादशाह पर इसका अच्छा प्रभाव न पड़ा, इसलिए बादशाह ने स्पष्ट रूप से कह दिया था कि इन सिपाहियों ने पांच शताब्दियों से चली आ रही सल्तनत को बरबाद कर दिया। जब बादशाह के कृपापात्र हकीम अहसानुल्ला को गिरफ्तार कर लिया गया तो उन्होंने आत्महत्या की धमकी दी। अपनी प्रजा को सिपाहियों के अत्याचारों से बचाने में असफल होने पर उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा था कि मैं तख्त छोड़ दूंगा। वे प्रायः सब कुछ छोड़ कर कुतुब पर जा रहने और मानसिक शान्ति की खोज में देश छोड़ कर मक्का चले जाने की बात करने लगे थे। शहज़ादों की उपेक्षा और सिपाहियों के अपमान से दुःखी बादशाह अपने काव्य-चिन्तन में ही शान्ति अनुभव किया करते थे क्योंकि वे शस्त्र चलाने के आदी न थे और उनमें नेतृत्व करने की भी क्षमता न थी। निराशा की एक घड़ी में उन्होंने एक बार कहा था—"मैं अपने जीवन के बाकी दिन कफन लपेट कर किसी बाग के एकान्त कोने में काट दूंगा।"

लेकिन बादशाह को अभी पता न था कि उनके भाग्य में क्या बदा है। बेगम और शहज़ादे अब भी सुखद कल्पना कर रहे थे कि अतीत का वैभव और सुरक्षा शायद अब भी प्राप्त हो जाए।

समझौते की बातचीत इतनी गुप्त थी कि केवल कुछ ऊपर के लोगों को ही उसका पता था। लेकिन पुनः विश्वास लौट आने के कुछ और लक्षण भी थे जिससे सर्व-साधारण को अवश्य हर्ष हुआ होगा। व्यापारी लोग पहाड़ी को अब व्यापार का एक उत्तम केन्द्र मानने लगे थे और वे ऐसी चीजें लेकर वहां पहुंचने लगे जिनकी सैनिकों को बहुत समय से आवश्यकता थी। कीथ यंग ने ८ अगस्त को अपनी पत्नी के नाम एक पत्र में लिखा, "क्या मैं तुम्हें पहले लिख चुका हूं कि पीक और ऐलेन ने अपने कुछ आदमियों को बहुत-सा सामान

---

७९. ग्रेटहेड, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० २१७

८०. कीथ यंग, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ३३५। जीवनलाल ने ८ अगस्त को (मैटकाफ़ की उद्धृत पुस्तक, पृ० १९०) लिखा कि बेगम ने बादशाह को सूचित किया कि उस पर भी सन्देह किया जा रहा है। उसके महल पर पहरे के लिए दो सौ सिपाही भेजे गए।

लेकर यहां भेजा है ? शिविर में दो पारसी व्यापारी भी है : जहांगीर और कावस जी, जिनके पास बहुत-सी चीजें हैं, विशेषकर बीयर, ब्रांडी और सोडा वाटर। पहले तो वे बीयर की एक दर्जन बोतलें २४ रुपए में बेचना चाहते थे, लेकिन फिर अपनी सबसे अच्छी अंग्रेज़ी बीयर की बोतल पन्द्रह रुपए में बेचने के लिए तैयार हो गए। हमारे हैडक्वार्टर के मैस ने इसी भाव पर कोई एक सौ दर्जन बोतलें उनसे खरीद ली हैं।" इसमें सन्देह नहीं कि अधिक मुनाफे का लोभ ही उन्हें यहां तक खींच लाया है, लेकिन इनके यहां तक पहुंच जाने से स्पष्ट हो गया है कि सड़कें निरापद हो गई हैं और आसपास का इलाका विद्रोहियों के उपद्रव से मुक्त हो गया है।

विश्वासघात के षड्यन्त्र से अनभिज्ञ विद्रोहियों की सेना अब भी युद्ध करने के लिए कटिबद्ध थी। अगस्त का महीना आ गया पर पहाड़ी पर तैनात अंग्रेज़ी सेना को विश्राम का अवसर नहीं मिला। हां, नई-नई आशाओं का संचार अवश्य हुआ। ७ तारीख को जान निकल्सन शिविर में आए और उनके पीछे-पीछे उनका सैनिक दस्ता भी आया। आध्यात्मिक दृष्टि से निकल्सन वीर युग के आदमी थे जिनमें अदम्य उत्साह के साथ-साथ पाशविक क्रूरता भी थी। केवल एक तलवार लेकर वे बड़ी निर्भयता से जंगली चीते का मुकाबला कर सकते थे। उनमें अदम्य साहस था और थकान तो वे जानते ही नहीं थे। सख्त गर्मियों में घोड़े पर सवार होकर वे बड़ी से बड़ी कठिनाई का सामना कर सकते थे। विद्रोहियों के लिए उनके मन में जरा भी दया का भाव न था। अगर उनका वश चलता तो ऐसा "बिल पेश करते जिसमें यह व्यवस्था होती कि दिल्ली में स्त्रियों और बच्चों को कत्ल करने वाले लोगों को जिन्दा जलाया जा सके या उन्हें सूली पर चढ़ाया जा सके।" ऐसे जुल्म करने वालों को बस फांसी देने के लिए वे 'पागल' रहते थे। निकल्सन ने लिखा, "मेरी इच्छा है कि मैं संसार के किसी ऐसे भाग में रहूं जहां आवश्यकता पड़ने पर मैं अपने हाथ में कानून को ले सकूं।"[८१] भारत में अपने समकालीन अनेक अंग्रेज़ों की तरह निकल्सन भी पक्के ईसाई थे लेकिन प्रेरणा वे ओल्ड टेस्टामेण्ट से लेते थे और उन्होंने एक ऐसे ईश्वर में अपनी आस्था प्रतिष्ठित की थी जिसमें मानव मात्र के प्रति दया भाव की अपेक्षा प्रतिहिंसा का भाव अधिक था। सरहदी कबाइलियों में उनके आतंक और उनके लिए उनकी प्रशंसा के भाव ने उन्हें देवता बना दिया था, क्योंकि इन पिछड़े हुए लोगों की ऐसे देवता में आस्था न थी जो प्रेम का भाजन हो, उनका पूज्य तो ऐसा देवता हो सकता है जो उन पर आतंक जमा सके, और जो आतंक जमा देता है वह स्वभावतः असीम श्रद्धा का पात्र बन जाता है। निर्दयतापूर्वक लोगों पर कोड़े बरसाने से उनमें उनके फकीरों की भक्ति बढ़ी क्योंकि उन्होंने यह देखा कि यह एक ऐसा खुदा है जो अपने अनुयायियों का पालन-पोषण करने के साथ-साथ उन्हें सजा भी दे सकता है। भारत और भारत के लोग निकल्सन को पसन्द न थे। उम्र का तकाजा और पत्नी का प्रभाव

---

८१. के, ए हिस्ट्री आफ़ दि सिपाय वार, जिल्द २, पृ० ४०१

शायद उनके मिजाज को कुछ नर्म बना देता लेकिन उन्होंने विवाह नहीं किया था और ३५ वर्ष की ही अवस्था में कई वरिष्ठ अफसरों को अवसर न देकर उन्हें ही चैम्बरलैन की जगह "मूवेबल कालम" की कमान संभालने को कहा गया। यद्यपि सेना में वे अभी कैप्टन ही थे लेकिन उन्हें ब्रिगेडियर जनरल का ओहदा प्रदान किया गया। फिल्लौर में सेनाओं को निहत्था करके और स्यालकोट में विद्रोहियों को दबा कर उन्होंने अपनी इस नियुक्ति का औचित्य भी सिद्ध कर दिया। जनरल विल्सन से परामर्श करने वे अपने सैनिक दस्ते से पहले ही अम्बाले से दिल्ली पहुंच गए थे। १४ तारीख को दो हजार चार सौ पैदल सिपाहियों, ६ तोपों और कुछ घुड़सवारों के इस दस्ते ने निकलसन के नेतृत्व में शिविर में प्रवेश किया और वहां उनके सहयोगी सैनिकों ने बड़े हर्ष से उनका स्वागत किया।

निकलसन के दिल्ली पहुंचते ही अचानक आक्रमण करके दिल्ली पर कब्जा करने के प्रश्न को फिर प्राथमिकता मिल गई। निकलसन तत्काल कार्रवाई करने के पक्ष में थे। उन्हें बस घेरा डालने के लिए आवश्यक साज-सामान और तोपखाने के पहुंच जाने की प्रतीक्षा थी, और इसके अतिरिक्त अपनी मोर्चाबन्दी और शत्रु के ठिकानों की टोह लगाने जैसे कुछ प्रारम्भिक कार्य भी पूरे किए जाने थे जिनके बिना काम ही नहीं चल सकता था। लेकिन विल्सन अभी कुछ निश्चय नहीं कर पाया था। "वह भली-भांति जानता होगा कि असफलता केवल उसी की सेना के लिए नहीं समूचे भारत के लिए विनाशकारी सिद्ध होगी। पंजाब, जो अभी तक शान्त था, अब डांवांडोल अवस्था में था। वहां गांव-गांव में लोगों को भड़काने वाले जोशीले इश्तहार आदि लगाए गए थे। बम्बई की सेना भी अनिश्चित अवस्था में थी। ऐसा लगता था कि हिन्दुस्तान अब हमारे हाथों से निकला जा रहा है।"[८२] जनरल विल्सन का व्यक्तित्व वीरता के सांचे में नहीं ढला था। अतः वह किसी तरह का जुआ नहीं खेलना चाहता था और आक्रमण से पहले सफलता के बारे में वह पूर्ण रूप से आश्वस्त होना चाहता था। शहर से प्राप्त खबरों के अनुसार विद्रोहियों की सेना पूरी चालीस हजार थी। आक्रमण के दिन विल्सन को शिविर अरक्षित छोड़कर जाना पड़ता और जब अधिकांश अंग्रेज़ी सेनाएं दूसरी जगह लड़ाई में व्यस्त होतीं तो उस दशा में यदि विद्रोही सिपाही शिविर के पीछे से हमला करते तो शिविर बड़ी आसानी से सिपाहियों के हाथ में चला जाता। अगर भाग्य भी उसका साथ देता और शहर पर अधिकार भी हो जाता तो अन्य कठिनाइयां इतनी थीं कि उनके होते हुए शहर को कब्जे में नहीं रखा जा सकता था। उसकी छोटी-सी सेना जिसकी संख्या नौ हजार से अधिक न थी एक अजनबी शहर की सड़कों पर लड़ाई में कैसे ठहर पाती जबकि स्थानीय जनता भी उसके विरुद्ध हो। इन्हीं सब विचारों से वे चिन्तित रहते थे और बाद की घटनाओं से यह सिद्ध हो गया कि वे आशंकाएं बिल्कुल निराधार नहीं थीं।

जिस दिन (१४ अगस्त को) निकलसन का दस्ता दिल्ली पहुंचा कुछ विद्रोही सिपाहियों का घुड़सवार दस्ता बाहर की ओर मार्च करता हुआ दिखाई दिया। आखिरकार विद्रोही सिपाही अपना युद्ध-क्षेत्र बढ़ाने की आवश्यकता के प्रति सजग हो उठे। आरम्भ के

---

८२. बुशियर, एट मन्थ्स कैम्पेन अगेन्स्ट दि बंगाल सीपाय आर्मी, पृ० ३८-३९

दिनों में जब जनरल बरनार्ड के पास यातायात-मार्गों की रक्षा के लिए सैनिकों की कमी थी, विद्रोही बड़ी आसानी से शत्रु को पंजाब से रसद पहुंचाने का रास्ता काट सकते थे। वास्तव में हुआ यह कि जींद की सेनाएं दिल्ली की सेना के एक दस्ते से बागपत के नावों के पुल की रक्षा नहीं कर सकीं और पटियाला की सेनाएं भी इस लड़ाई में कुछ अधिक कारगर सिद्ध न हुईं। लेकिन अब स्थिति बदल गई थी, हाडसन को गार्ड कैवेलरी और दो सौ नए भर्ती किए गए घुड़सवार देकर रसद के आने-जाने के मार्गों की देख-भाल का काम सौंप दिया गया। हाडसन घुड़सवार दस्तों का एक कुशल नेता था—पंजाब के हट्टे-कट्टे घुड़सवार उसे अपना आदर्श मानते थे लेकिन निकल्सन की तरह वह भी पुराने जमाने का आदमी था। अगर वह मध्य-युग में पैदा होता तो वह पेशेवर लड़ाकू होता और किसी दल का मुखिया होता, लेकिन उन्नीसवीं सदी में उसका दुर्बल अन्तःकरण और प्रतिष्ठा का परिवर्तनशील मानदण्ड उसके युद्ध-कौशल के प्रशंसकों के लिए एक पहेली बना हुआ था। अपने देश की सेवा के साथ-साथ वह अपना स्वार्थ भी सिद्ध करता था और जहां उसे एक पाई मिलने की भी गुंजाइश होती वह उसे प्राप्त करने में भले-बुरे का विचार न करता। उसकी वीरता और अथक परिश्रम के कारण बहुत-से अच्छे लोग उसके मित्र हो गए थे किन्तु उसकी निर्मम क्रूरता के कारण कुछ ऐसे लोग उससे दूर भी रहे जो शायद उसके हितचिन्तक थे।

हाडसन के अनियमित घुड़सवार अभी तक अनुशासनहीन थे लेकिन गाइड्स द्वारा यह कमी पूरी कर दी गई। "इसमें सिख, पंजाबी, मुसलमान, अफरीदी और कई जातियों के सरहदी कबाइली थे, हिन्दुस्तानी भी थे, और इन लोगों में से बाद वाले अन्त तक वफादार रहे, यहां तक कि वे अपने देशवासियों से भी लड़े। ये सब चुने हुए लोग थे जिन्हें युद्ध का बहुत तजुर्बा था, क्योंकि वे युवावस्था से ही सीमावर्ती इलाकों की लड़ाइयों में रहे थे और उनके बारे में यह कहा जा सकता है कि उनमें से हर एक अनुभवी योद्धा था।"[८३] पहला आक्रमण एक ऐसे गांव पर किया गया जिसकी चारों तरफ से किलेबन्दी की हुई थी। इस गांव में अनियमित घुड़सवार दस्ते के काफी सैनिक रहते थे, जो ग़दर से पहले छुट्टी पर गए हुए थे। जब वे लौट कर नहीं आए तो यह समझ लिया गया कि वे अब राजभक्त नहीं रहे। पहली अनियमित घुड़सवार सेना का एक अफसर हाडसन और उसके साथ के लोगों के स्वागत के लिए आगे बढ़ा ही था कि उसे तुरन्त गिरफ्तार कर लिया गया। इस खबर से दूसरे सवार डर गए और उन्होंने एक छोटे-से मकान में घुस कर चारों तरफ से दरवाजे बन्द कर लिए। इस मकान में आग लगा दी गई और धुएं के मारे जब वे बाहर निकले तो एक-एक को कत्ल कर दिया गया। इसके बाद हाडसन रोहतक गया। वहां पर पुराना किला था जिसकी रक्षा के लिए "काफी सशस्त्र आदमी तैनात थे।" हाडसन नगर में घुस गया। वहां के लोगों ने उसके साथ मैत्रीपूर्ण व्यवहार किया और उसे रसद इत्यादि पहुंचाई। हाडसन ने यह सोचा कि नगर में ही शत्रु पर आक्रमण करना बुद्धिमानी की बात न होगी विशेषकर ऐसी अवस्था में जब कि शत्रु को घुड़सवार सेना की काफी कुमुक पहुंच रही है।

---

८३. गफ़, ओल्ड मेमोरीज़, पृ० ८३

इसलिए हाडसन ने उन सबको बाहर मैदान में ले आने की एक चाल चली। उसने प्रकट में यह दिखाया कि वह पीछे हट रहा है। इस प्रलोभन में जब रोहतक के लोग काफी बाहर की तरफ आ गए तो उसने घूम कर हमला कर दिया। नतीजा यह हुआ कि हाडसन की जीत हुई और शत्रु का सफाया हो गया। इन दो विजयों का श्रेय प्राप्त कर हाडसन चार दिन बाद दिल्ली लौटा और "जिस ढंग से उसने शत्रु की टोह लगाने का काम किया, उसके लिए शिविर में उसकी चारों ओर बड़ी सराहना हुई।"

अंग्रेजों को जल्दी ही पता चल गया कि यदि उनके शहर में मित्र हैं तो उनके अपने ही बीच में शत्रु भी हैं। १६ अगस्त को "एक षड्यन्त्र का पता चला . . . हिन्दूराव के पास लगी हुई दो तोपों में बारूद को खराब करने के लिए छोटे-छोटे कंकर भर दिए गए थे।"[८४] किसी व्यक्तिविशेष को इसका दोषी नहीं ठहराया जा सका। लेकिन तोपों पर तैनात खलासी "बारूद में कुछ ऐसी गड़बड़ कर रहे थे ताकि इन तोपों से काफी दूर तक गोला छोड़ना असम्भव हो जाए।"[८५] इनमें से दो पर उसी वक्त मुकदमा चला कर वहीं के वहीं फांसी दे दी गई। ब्रिगेडियर विल्सन को हिन्दुस्तानी तोपचियों पर हमेशा शक रहता था क्योंकि उनमें अधिकांश पुरबिए थे, लेकिन परिस्थितियां कुछ ऐसी थीं कि विश्वास न होते हुए भी भारतीय सैनिकों के बिना काम नहीं चल सकता था। कीथ यंग का कहना है कि गोरखों और पंजाबियों ने तो सन्देह का अब तक कोई अवसर नहीं दिया था लेकिन शहर के अन्दर और शहर से बाहर सिख थे जिन पर सन्देह किया जा सकता था।

विद्रोही सिपाही भावी विनाश की ओर से सचेत हो गए थे। वे अंग्रेजी सेना में काम कर चुके थे, इसलिए जब उन्होंने यह सुना कि गोला-बारूद, हथियार तथा दिल्ली को घेर लेने के लिए अन्य सामान लेकर एक गाड़ी रवाना हो चुकी है तो उन्हें उसके विनाशकारी परिणामों का अनुमान लगाने में देर न लगी। अगर इस सामान को बीच में रोक लिया जाए तो शहर को और कुछ दिनों के लिए बचाया जा सकता था। यह सोच कर विद्रोही सिपाही २४ अगस्त को १८ तोपें साथ लेकर रवाना हो गए, लेकिन उनकी गतिविधि छिपी न रह सकी। दर असल अंग्रेजों के गुप्तचर इतने निपुण थे कि शहर में जहां कोई भी महत्वपूर्ण निर्णय हुआ, अंग्रेजों से वह छिपा नहीं रह सकता था। निकल्सन ने अगले ही दिन दो हजार पैदल और घुड़सवार सेना और घोड़ों से खींची जाने वाली सोलह तोपें लेकर उनका पीछा किया। बारिश का दिन था, सड़क खराब थी और रेत तथा दलदल से होकर तोपों का खींचना आसान न था। लेकिन निकल्सन दिन छिपने से पहले-पहले इन सिपाहियों से मुठभेड़ करने का निश्चय कर चुके थे। निकल्सन को नजफगढ़ नहर के उस पार सिपाही दिखाई दिए, उन्होंने तुरन्त ही शत्रु के मोर्चे पर हमला करने का निश्चय किया। अंग्रेजी सेनाएं गोलों की बौछार में आगे बढ़ती गईं। और अन्त में तोपखाना बस तीस गज के

---

८४. कीथ यंग, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० २०६

८५. वही, पृ० २१२। रोटन को भी पढ़िए, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १९३-१९४। "तोपों के कुछ लश्कर विद्रोहियों से सहानुभूति रखते थे जिसका नतीजा यह हुआ कि बारूद भरने में कुछ ऐसा परिवर्तन किया गया जिससे फेंके हुए गोलों से कोई हानि न हो सके।

फासले पर रह गया। फिर बन्दूकों की लड़ाई में सिपाही मैदान छोड़कर भाग गए, लेकिन अभी लड़ाई खत्म नहीं हुई थी। पीछे की तरफ एक गांव में भी विद्रोही सिपाही तैनात थे और उन्हें इसी स्थिति में नहीं रहने दिया जा सकता था। लड़ाई फिर शुरू हुई। सिपाही रात के अंधेरे में गांव छोड़ कर भाग गए। निकल्सन का काम पूरा हुआ और वे पहाड़ी पर शिविर में लौट आए। यह आश्चर्य की बात थी कि दिल्ली वालों ने सामग्री की गाड़ी को बीच में रोकने का फिर कोई प्रयत्न नहीं किया और भारी शस्त्र तथा गोला-बारूद के ३० पुलिन्दे ३ सितम्बर को गन्तव्य स्थान पर पहुंच गये। यह नहीं कहा जा सकता कि जनरल बख़्त खां और नीमच के विद्रोहियों के कमाण्डर मुहम्मद गौस ख़ां की आत्मघातक प्रतिद्वन्द्विता किस हद तक इस निष्क्रियता का कारण थी, लेकिन बख़्त ख़ां ने स्पष्ट रूप से यह शिकायत की कि उसके आदेशों का पालन नहीं हुआ।[८६] इसके बाद वे प्रधान सेनापति भी नहीं रहे।

अगस्त मास में बादशाह की आर्थिक कठिनाइयां और बढ़ गईं। ऋण लेने का कोई बहाना नहीं रहा, पहले की तरह सूद का प्रलोभन भी नहीं दिया जा सकता था, ऋणदाता को इकरारनामा भी लिख कर नहीं दिया जाता था। शहर में एक टकसाल खोली गई पर उससे भी स्थिति में कोई विशेष सुधार न हुआ।[८७] इसलिए हिन्दुओं और मुसलमानों से चन्दा मांगा गया।[८८] बड़े-बड़े बैंकों के मालिकों और छोटे-छोटे व्यापारियों को बुलाया गया और उनसे युद्ध-कोष में रुपया देने को कहा गया। केवल बहुत गरीब लोगों को ही इस विशेष कर से मुक्ति मिली। बैंकों के मालिकों ने यह देख लिया था कि अब इस सरकार का पतन होने ही वाला है अतः उनमें से कुछ तो बादशाह के बुलाने पर आए ही नहीं और कुछ अपने घरों में दरवाजे बन्द करके बैठ रहे।[८९] कुछ इतने साहसी निकले कि उन्होंने रुपया देने से बिल्कुल इन्कार कर दिया।[९०] जो अधिक चालाक थे उन्होंने रिश्वत देने का मार्ग अपनाया और जो उस समय सत्ताधारी थे वे थोड़े दाम पर ही बादशाह के हित का बलिदान करने को तैयार थे। पटौदी के मुहम्मद अकबर अली ख़ां ने बादशाह से शिकायत की कि लखनऊ की फौज के रिसालदार शमशेर अली खां ने उससे काफी रुपया वसूल किया है और उसकी सम्पत्ति लूट ली। अपराधी को डांटा-फटकारा गया और उससे लूट

---

८६. मैटकाफ, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १७६

८७. भारत के पुरातत्व संग्रहालय में ग़दर के कागज़ात, बंडल ४३ सं० ४५

८८. भारत के पुरातत्व संग्रहालय में ग़दर के कागज़ात, बंडल १५३, सं० ११

८९. सैयद नज़र अली का पत्र प्रधान सेनापति के नाम, भारत के पुरातत्व संग्रहालय में ग़दर के कागज़ात, बंडल ६१, संख्या ३८२ और ३६६

९०. मैटकाफ़, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १६२। उदाहरणार्थ, मिर्ज़ा अमीनुद्दीन ख़ां ने कहा था कि उसके पास पैसा नहीं है, अगर उसके साथ जबर्दस्ती की गई तो उसका जवाब भी वह उसी तरह देगा। यह जरूर है कि जो लोग एक से अधिक बार कर्ज दे चुके थे उनसे फिर कर्ज नहीं लिया गया। रामजीदास नामक एक व्यक्ति दो बार ऋण दे चुका था अतः हुक्म दिया गया कि अगस्त में उससे फिर ऋण न लिया जाए।

का माल वापिस करने को कहा गया, लेकिन बादशाह ने जिसका माल लूटा गया था उसी से तीन लाख रुपये की मांग की।[९१] जनता के लिए दुर्भाग्य की बात यह थी कि ऋण और चन्दा लेने का अधिकार किसी एक ही अधिकारी को नहीं था। सिपाही, शहज़ादे, प्रधान सेनापति जनरल बख़्त ख़ां और ग़दर की अदालत सभी अलग-अलग रुपया इकट्ठा कर रहे थे और एक ही व्यक्ति से कई-कई बार रुपया ले लिया जाता था। जिन लोगों पर अंग्रेज़ों से सहानुभूति रखने का सन्देह होता था उनसे ज्यादा रुपये की मांग की जाती थी। जीवनलाल से अब तक कुछ नहीं कहा गया था लेकिन अगस्त में उससे भी २५,००० रुपये मांगे गए। मिर्ज़ा इलाही बख़्श ने जीवनलाल की तरफदारी की तो उसे कुछ मोहलत मिल गई लेकिन बाद में उसके मकान पर छापा मार कर उसे गिरफ्तार कर लिया गया और उसके मकान से दो हज़ार रुपये के मूल्य के गहने लूट लिए गए। इन गहनों का पता भी लग गया लेकिन मिर्ज़ा मुग़ल ने उन्हें हजम कर लिया। इलाही बख़्श ने दूसरी बार हस्तक्षेप किया। उसके दबाव डालने से बस इतना ही हुआ कि बेचारा जीवनलाल रिहा कर दिया गया।[९२] मुफ्ती सदरुद्दीन पर भी सन्देह था, विद्रोहियों ने उससे दो लाख रुपये मांगे।[९३] मालूम होता है कि रुपये का मूल्य गिर गया था और चालू रुपये पर काफी बट्टा लगने लगा था। कोतवाल को यह आदेश निकालने के लिए कहा गया था कि एक रुपये पर एक आने से अधिक बट्टा लेने वाले को दण्ड दिया जाएगा।[९४] यह लोगों की आम धारणा थी कि सलीमगढ़ के किले में खजाना गड़ा हुआ है, अतः विद्रोहियों ने वहां खोदना शुरू कर दिया।[९५] ३१ अगस्त को यह घोषणा हुई कि केवल ग़दर की अदालत को ही सैन्य कोष के लिए रुपया एकत्र करने का अधिकार है।[९६]

उधर बारूद और रसद का अभाव हो चला था। विद्रोहियों को बाजार में गन्धक नहीं मिल रहा था। इसलिए जब देवीदास नामक एक व्यक्ति के घर की तलाशी ली गई तो वहां काफी गन्धक मिला जिस पर अधिकार कर लिया गया। बहुत-से लोगों को इस सन्देह में पकड़ लिया गया कि वे अंग्रेज़ी सेना के शिविर में रसद पहुंचा रहे थे। चांदनी चौक पुलिस थाने के आफिसर इन्चार्ज सैयद नज़र अली के पत्रों से पता चलता है कि इस इलाके में कसाई भी नहीं मिलते, बोरे उपलब्ध नहीं थे, कोई तम्बू बनाने वाला नहीं मिलता था और हलवाई मिठाई उधार नहीं दे रहे थे क्योंकि उनका पिछला पैसा वसूल नहीं हुआ था।[९७]

---

९१. ग़दर के कागज़ात, भारतीय पुरातत्व संग्रहालय, बंडल १६६, सं० १-४

९२. मैटकाफ़, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १८७-१९०

९३. भारत के पुरातत्व संग्रहालय में ग़दर के कागज़ात, बंडल १६ सं० १८

९४. भारत के पुरातत्व संग्रहालय में ग़दर के कागज़ात, बंडल १११ (डी), संख्या ७१

९५. भारत के पुरातत्व संग्रहालय में ग़दर के कागज़ात, बंडल २०, संख्या २

९६. भारत के पुरातत्व संग्रहालय में ग़दर के कागज़ात, बंडल १११ (डी) संख्या ९०

९७. भारत के पुरातत्व संग्रहालय में ग़दर के कागज़ात, बंडल ६१, संख्या २८०, और २८१

कई बार कुली और कहार भेजे गए, लेकिन न तो कोई मोची मिला और न ऊंट और गाड़ियां ही मिलीं। चांदनी चौक में चारों ओर धूल और कूड़ा-करकट ही नजर आता था क्योंकि मेहतर भी काम नहीं कर रहे थे।[९८] अफसर सिपाहियों को केवल लकड़ी ही दे सके लेकिन न तो पीतल के बर्तन दिए जा सके और न हुक्का ही, जिसकी हर सिपाही को जरूरत थी।[९९] नजर अली ने शिकायत की थी कि गाड़ियों के लिए उसने जो भैंसे इधर-उधर से जुटाए थे, उन्हें भी पैदल सेना के सिपाहियों ने खोल दिया।[१००] स्पष्ट है कि कारीगरों और मजदूरों की बहुत कमी थी, जिनकी सेना को बहुत जरूरत थी। सिपाही असैनिक अधिकारियों को कुछ नहीं समझते थे। वे दुकानों में घुस जाते और पंसारियों और छोटे-छोटे दुकानदारों को तंग करते[१०१] और दुकानें लूट लेते थे। प्रधान सेनापति ने व्यवस्था स्थापित करने के काफी प्रयत्न किए लेकिन कोई विशेष सफलता न मिली, यहां तक नौबत पहुंच गई कि अगस्त मास में एक सवार ने एक स्त्री का अपहरण कर लिया।[१०२] यहां तक कि फौजों के घसियारे भी खड़ी फसलों को नुकसान पहुंचाते थे। अंग्रेज़ों की सूचना के अनुसार चाहे वह सही हो या गलत, सिपाहियों का बड़े-बड़े दल बना कर सेना छोड़ कर जाना शुरू हो गया था और दोनों ओर की सेना का यही हाल था।

गोला-बारूद तथा अन्य सैनिक सामान की गाड़ी सही-सलामत पहुंच जाने पर अंग्रेज़ इंजीनियरों ने बड़ी लगन के साथ अपनी अन्तिम तैयारी शुरू कर दी। एक खाई खोदी गई और अंग्रेज़ी रक्षापंक्ति के धुर दाहिनी ओर तोपें लगाने के लिए मोर्चा बांधा गया। यह लाहौरी और काबुली दरवाजे की ओर से सिपाहियों के अचानक आक्रमण को रोकने का इन्तजाम था, और इससे विद्रोही सिपाहियों का ध्यान भी बंट गया। जून के शुरू दिनों से लेकर, जब कि पहाड़ी पर अंग्रेज़ों की थोड़ी-सी सेना थी, अगस्त के अन्त तक जब कि अंग्रेज़ी सेना दिल्ली पर आक्रमण की अन्तिम रूप से तैयारी कर रही थी, बाड़ा हिन्दूराव में स्थित अंग्रेज़ी सेना का दाहिना भाग ही ऐसा था जिसे विद्रोहियों से सबसे अधिक घमासान लड़ाई लड़नी पड़ी थी। अगर विद्रोही यहां विजयी हो जाते तो बाकी सेना का बड़ी आसानी से सफाया किया जा सकता था। अतः विद्रोही सेना का यही खयाल था कि शहर पर दक्षिण की ओर से ही हमला होगा, इसलिए खाई में घुस कर तोपों को बेकार कर देने वाले सैनिकों के लिए भारी इनाम रखा गया। विद्रोहियों को अदालत की ओर से ऐलान हुआ कि जो सिपाही इस प्रयत्न में मारे जाएंगे उनके परिवारों को इसका उचित मुआवजा मिलेगा। लेकिन अंग्रेज़ों ने बाईं ओर से अर्थात् लुडलो कैसल और कुदसिया बाग की ओर से कश्मीरी गेट, मोरी गेट आदि पर आक्रमण करने का निश्चय किया। सैनिक कुशलता का नितान्त अभाव होने के कारण

९८. भारत के पुरातत्व संग्रहालय में ग़दर के कागज़ात, बंडल ६१, संख्या ३७२
९९. भारत के पुरातत्व संग्रहालय में ग़दर के कागज़ात, बंडल ६१, संख्या ४२६
१००. भारत के पुरातत्व संग्रहालय में ग़दर के कागज़ात, बंडल ६१, संख्या ४४१
१०१. भारत के पुरातत्व संग्रहालय में ग़दर के कागज़ात, बंडल १२४, संख्या ३०६
१०२. ग़दर के कागज़ात, भारत का पुरातत्व संग्रहालय, बंडल ६०, संख्या ६०५

सिपाहियों ने इस तरफ किसी पहरे अथवा निगरानी का प्रबन्ध नहीं किया था। टेलर अकेले ही लुडलो कैसल में प्रवेश कर जरूरी देखभाल कर लेने के बाद सही-सलामत वापिस आ गए। जब लुडलो कैसल पर अंग्रेजी सेना का कब्जा हुआ तो वहां के रक्षक सजग न थे। सिपाहियों ने इतनी एहतियात भी न बरती कि दीवार के बाहर उन पुराने खण्डहरों को गिरा दें जो बाद में जाकर शत्रु के लिए ही लाभदायक सिद्ध हो सकते थे। तोपें लगाने के लिए तीन और मोर्चे जल्दी-जल्दी बना लिए गए, एक लुडलो कैसल के सामने, दूसरा पुराने चुंगीघर पर और तीसरा कुदसिया बाग में।

यह सब काम बिना कुछ लोगों के प्राणों का बलिदान हुए सम्पन्न नहीं हो सकता था, लेकिन इसमें सशस्त्र सिपाही नहीं वरन् निहत्थे भारतीय मजदूरों के प्राण गए। पहाड़ी पर सितम्बर १८५७ में लड़ने वाले सिपाहियों में आधी से अधिक संख्या भारतीयों की ही थी, और सशस्त्र सैनिकों से भी अधिक कैम्प में जो अन्य लोग थे वे भी हिन्दुस्तानी ही थे। ये लोग बड़ी से बड़ी मुसीबत झेलने में किसी से कम न थे और मृत्यु का सामना करने और प्रहारों को झेलने के लिए हर समय तैयार रहते थे। अकेले १० सितम्बर को ही जब पहला तोपखाना (संख्या ३) लग कर तैयार हुआ, तो इनमें से ३६ आदमी मरे और घायल हुए। "ये लोग लड़ने वाले नहीं पर निहत्थे देशी पथ-प्रदर्शक थे। हिन्दुस्तानियों में दुःख झेलने की असीम शक्ति होती है जो इनमें भी इस हद तक थी कि जब आदमी पर आदमी मरते जा रहे थे, वे एक क्षण रुक कर अपने इस मृत साथी के लिए दो आंसू बहा लेते, और उसे बाकी शवों के पास डाल कर फिर पहले की तरह काम में लग जाते।"[१०३] अंग्रेज सैनिक तो एक साम्राज्य की रक्षा के लिए लड़ रहे थे, जिसकी नींव उनके पूर्वज डाल गए थे। पर इन अभागों ने तो दो जून खाने के लिए ही अपनी जान बेच दी। वे इन्हीं के तो भाई-बहिन थे, जो कुछ पैसों के लिए बिना छूटे हुए कारतूस इकट्ठे करते थे जिससे यह देखने वालों को मजा आता और चैपलन रोटन का हृदय घृणा से भर जाता। उसका कहना था, इस साधारण घटना से ही यह पता चल जाता है कि गरीबी या अर्थ-लोलुपता आदमी से क्या नहीं करा लेती।"[१०४] यह अर्थ-लोलुपता नहीं अतिशय दरिद्रता ही थी जिसने इन आदमियों को जीवन के प्रति इतना उदासीन बना दिया था।

खाई और तीन तोपें लगाने के मोर्चे चार रातों में बन कर तैयार हो गए थे। चौथा तैयार होने ही वाला था। इंजीनियरों ने उनके और अधिक जल्दी तैयार हो जाने की आशा पैदा कर दी थी। लेकिन उन्हें अपने जल्दबाज साथियों से प्रशंसा का एक शब्द भी सुनने को न मिला। १६ तारीख को जब तीसरा मोर्चा अभी बन कर तैयार भी नहीं हुआ था, कीथ यंग ने लिखा—"इंजीनियरों को इस बात के लिए दोषी ठहराया जा सकता है कि उन्होंने तोपें लगाने के इन सब मोर्चों को तैयार कर देने की अवधि के बारे में जनरल को गुमराह किया। वे हर काम एक रात में ही पूरा करने की बात करते जिस पर केवल

---

१०३. मैडले, ए ईयर्स कैम्पेन इन इण्डिया, पृ० ८२-८३

१०४. रोटन, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ६६, मैडले ने इन लोगों की वीरता की प्रशंसा की है। मैडले, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ६२-६३

उन्हीं को छोड़ और किसी को विश्वास न होता। यही सोचा जाता कि एक रात नहीं तो दो या तीन रात में तो वह काम पूरा हो ही जाएगा लेकिन चौथी रात भी गुजर गई और काम पूरा न हुआ। इसमें सन्देह नहीं, ये लोग बहुत अच्छे हैं पर वे यह दिखाना चाहते हैं कि वे असम्भव को सम्भव कर सकते हैं।"[१०५] उनमें से अधिकतर युवा हैं और अपनी युवावस्था के जोश में उन कठिनाइयों का विचार ही नहीं करते जिनका एक प्रौढ़ आदमी विचार करने से कभी नहीं चूकता। चाहे जो भी हो उन्होंने भरसक प्रयत्न किया, और इतिहास ने दिल्ली पर विजय प्राप्त करने का पूरा श्रेय उन्हें दिया है।

११ तारीख को सवेरे अंग्रेज़ी तोपखाने ने दिल्ली की दीवारों पर गोलाबारी शुरू कर दी और १३ तारीख तक दीवारों में दो दरारें पड़ गईं। रात को लेफ्टिनेंट मैंडले ने इनका निरीक्षण किया और रिपोर्ट दी कि इनमें से शहर में जाया जा सकता है। अगले दिन सवेरे पूरी शक्ति से दिल्ली पर आक्रमण करने का निश्चय किया गया। अब इन्तजार के दिन चले गए थे और जिस आक्रमण की बहुत दिनों से आशा थी उसका समय आ गया था। उस समय जान निकल्सन जैसे व्यक्ति की ही जरूरत थी। शिविर में यह सभी जानते थे कि विल्सन की राय में इस समय दिल्ली पर आक्रमण करना बुद्धिमत्ता न थी। इसीलिए रिचर्ड बेयर्ड के निरन्तर आग्रह को उन्होंने अनिच्छा से ही स्वीकार किया था। उन्हें पूर्व से ही थोड़ी सहायता आने की आशा थी क्योंकि पश्चिम से कोई कुमुक नहीं आ सकती थी। निकल्सन को सफलता की पूर्ण आशा थी। उसके मन में कोई सन्देह न था और कोई भी भय उसके आत्म-विश्वास को नहीं डिगा सकता था। इसलिए इस आक्रमण का वही नेता था। आक्रमणकारी सेनाओं को चार दस्तों में बांट दिया गया था। पहले दस्ते की कमान निकल्सन ने स्वयं संभाल रखी थी। इस दस्ते को कश्मीर रक्षा-बुर्ज के पास से दीवार तोड़ कर शहर में प्रवेश करना था। दूसरा दस्ता ब्रिगेडियर जोन्स की कमान में था, उसे जल वाले रक्षा-बुर्ज के पास से दूसरी दरार पर अधिकार करना था। तीसरे दस्ते को कर्नल कैम्पबेल की कमान में कश्मीरी गेट को उड़ा कर शहर में प्रवेश करना था। चौथे दस्ते को पहाड़पुर (पहाड़गंज नहीं) और किशनगंज की बाहरी बस्तियों का सफाया करके लाहौरी गेट की ओर से शहर में प्रवेश करना था। इस दस्ते के कमाण्डर, बाड़ा हिन्दूराव के नायक मेजर रीड थे और जिन्होंने इतनी देर तक सिपाहियों के आक्रमणों का सामना किया था और उन्हें कई बार पीछे हटाया था। सुरक्षित दस्ता ब्रिगेडियर लांगफ़ील्ड की कमान में रखा गया था। सभी दस्ते पौ फटने से पहले ही तैयार थे लेकिन आक्रमण स्थगित कर देना पड़ा। मैंडले के सैनिक पर्यवेक्षण का सन्तरियों को पता चल गया था और जहां-जहां से दीवार ज्यादा टूटी हुई थी, उसे रात में भर दिया गया था। यह अंग्रेज़ों का सौभाग्य समझिए कि ईंट और गारे से नहीं बल्कि रेत के बोरों से ये टूटी हुई दरारें भरी गई थीं। अंग्रेज़ी तोपखाने ने फिर गोलाबारी की और जल्दी ही दरारें खुल गईं।

बेयर्ड स्मिथ दिल्ली शहर को भली-भांति जानते थे। उन्होंने जो योजना तैयार

---

१०५. कीथ यंग, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० २७५

की थी उसमें एक-एक बात आ गई थी। प्रत्येक कमांडिंग आफिसर को इस योजना की एक-एक प्रति दे दी गई थी। लेकिन युद्ध में अप्रत्याशित घटनाएं भी हुआ करती हैं। जनरल रीड का दस्ता निर्धारित लक्ष्य को तो प्राप्त कर ही नहीं सका पर उसे पीछे भी हटना पड़ा। उसके दस्ते में गोरखे थे और उनके साथ आर० सी० लारेन्स के नेतृत्व में जम्मू के सैनिक भी थे। आक्रमण के शुरू में ही जनरल रीड घायल हो गए और उन्हें पीछे की ओर ले जाना पड़ा। सिपाहियों को इसी जगह जबर्दस्त आक्रमण की आशा थी और वे जान की बाजी लगा कर लड़े। बाद में भी जम्मू सेना का सफाया हो गया और औरों का भी वही हाल हुआ। सारे दस्ते को सब्जी मण्डी की तरफ पीछे हटना पड़ा और लाहौरी गेट के एक तोपखाने की गोलाबारी से होपग्रांट के घुड़सवारों का सफाया हो गया। अगर विद्रोही सिपाहियों में कोई योग्य जनरल होता तो वह इस सफलता से पूरा-पूरा लाभ उठाने से न चूकता। अगर उस वक्त अंग्रेज़ी सेना के शिविर पर पीछे की ओर से हमला किया जाता तो दिल्ली शहर बच ही जाता, साथ ही आक्रमणकारी सेनाएं दो तरफ से घिर जातीं। लेकिन उस दिन दिल्ली सेना में कोई ऐसा व्यक्ति न था जो यह जानता हो कि कब और कहां आक्रमण किया जाए। चौथे दस्ते पर विजय दिल्ली के पतन को न रोक सकी।

निकल्सन का पहला दस्ता टूटी हुई दीवार में से होकर आगे बढ़ा और उसने मोरी दुर्ग पर अधिकार कर लिया। यह दस्ता आगे ही बढ़ता गया और उसने काबुली दरवाजे को भी ले लिया। काबुली दरवाजे की ओर से ये दस्ते बर्न बैस्टियन की तरफ बढ़े, लेकिन अब आगे बढ़ना असम्भव था। सिपाही जी तोड़ मुकाबला किए बिना एक इंच जमीन से भी हटने को तैयार नहीं थे। आक्रमणकारी सेनाओं को सिपाहियों की गोलाबारी से भारी नुकसान उठाना पड़ा। सैनिक अफसरों ने स्वयं अपना उदाहरण प्रस्तुत कर अपने सैनिकों को बहुत उत्साहित किया, लेकिन मनुष्य के साहस की भी एक सीमा होती है। बार-बार जितना वे आगे बढ़ते सिपाहियों की निरन्तर गोलाबारी के कारण बार-बार उन्हें उतना ही पीछे हटना पड़ता। मेजर जैकब घायल होकर मृत्यु को प्राप्त हुए। इसके तुरन्त बाद ही निकल्सन वहां पहुंचे। उन्होंने अपने साथियों से उनका अनुसरण करने के लिए कहा और फिर वे ज्यों ही आगे बढ़े विपक्षी की गोली से आहत हो धराशायी हो गए। अंग्रेज़ी सेना के इतने अधिक सैनिक हताहत हुए कि उन्हें काबुली दरवाजे तक पीछे हटना पड़ा।

जोन्स की कमान में जो दूसरा दस्ता था, वह भी दीवार के टूटे हुए मार्ग में से गुजर कर दीवार के ऊपर चढ़ गया, लेकिन वह भी उतना ही आगे बढ़ सका जितना कि निकल्सन के सैनिक बढ़े थे। हां, तीसरे दस्ते को जो काम सौंपा गया था वह उसने कर दिखाया और अंग्रेज़ों की भारतीय सेना के इतिहास में एक नया शानदार परिच्छेद जोड़ दिया। जब यह दस्ता कश्मीरी गेट पहुंचा तो उसने देखा कि जो कच्चा पुल बनाया गया था वह जगह-जगह से टूट चुका है, लेकिन अंग्रेज़ी सैनिक गोलियों की बौछार से टूटे हुए पुल के शहतीरों पर से होकर आगे बढ़े और दरवाजों पर बारूद रख दी। गोलों की वर्षा-सी हो रही थी, आदमी पर आदमी मर रहे थे और घायल हो रहे थे, पर अन्त में

आक्रमण सफल हुआ। जबर्दस्त धड़ाके के साथ दरवाजे उड़ गए और विजय का बिगुल बजा। इस महान विजय के नायक थे लेफ्टिनेंट सालकेल्ड और होम, कारपोरल बरगैस, सार्जेंट स्मिथ और कारमाइकेल हवलदार माधो और त्रिलोकसिंह, और सिपाही रामनाथ। तीसरा दस्ता फिर से संगठित किया गया जो शहर के अंदर जामा मस्जिद तक घुस गया। लेकिन मस्जिद पर से गोलाबारी के कारण इस दस्ते को पीछे हटना पड़ा। दिन छिपने तक अंग्रेज़ों ने शहर के परकोटे के कुछ हिस्से पर कब्जा कर लिया और इस तरह शहर में पैर जमा लिए। उस रात सैनिक अफसर, स्किनर के मकान पर सोए। कालेज की इमारत और गिरजों पर भी अंग्रेज़ों का अधिकार हो गया। लेकिन इस आक्रमण में जो क्षति हुई वह वास्तव में दिल दहलाने वाली थी: "ग्यारह सौ चार सैनिक और ६६ अफसर हताहत हुए, यानी नौ के पीछे दो आदमी के औसत से सिपाही मारे गए या घायल हुए।" "इंजीनियरों के साथ जो सात अफसर थे उनमें से एक मारा गया और इन सब लोगों में से आठ बुरी तरह घायल हुए।"

विलसन का चिन्तित होना स्वाभाविक था। सलीमगढ़ का दुर्ग और महल तथा शस्त्रागार पर अभी भी सिपाहियों का कब्जा था। जगह-जगह ऐसे छेददार मकान थे जहां छिप कर विद्रोही सिपाही अब भी बाजारों और गलियों की रक्षा कर सकते थे। विलसन ने सोचा कि इतने कम सैनिकों को लेकर लड़ाई जारी रखना क्या बुद्धिमत्ता होगी ? क्या सुरक्षा के लिए फिर पहाड़ी पर लौट जाना चाहिए और वहां कुमुक आने तक इन्तजार करना चाहिए ? पर बेयर्ड स्मिथ ने इस निराशा भरे परामर्श का विरोध किया और मृत्यु शय्या पर पड़े निकल्सन ने भी। अंग्रेज़ों का यह सौभाग्य था कि दूरदर्शिता पर साहस की ही विजय हुई, लेकिन अगले दिन की घटनाओं ने सिद्ध कर दिया कि निकल्सन की आशंकाएं निर्मूल नहीं थीं।

चार्ल्स जान ग्रिफ़िथ्स ने, जिसने दिल्ली में विलसन की सेना में काम किया था, १५ सितम्बर का वृत्तान्त इस प्रकार लिखा है: "अंग्रेज़ सिपाही के लिए मद्यपान सदा से एक अभिशाप रहा है। शांति के दिनों में तो वह इसका लोभ सवरण कर ही नहीं सकता, पर युद्ध के जोश में तो उसकी मद्यपान की लालसा दसगुनी बढ़ जाती है। फिर दिल्ली में तो उन्हें मानों मद्य का भण्डार हाथ लग गया था। मद्यपान का आरम्भ किसने किया, कहां हुआ, यह तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु १५ तारीख की प्रातःकाल सैनिक गोदाम में घुस गए और वहां से खूब और हर तरह की शराब ले आए और पीकर उन्मत्त हुए। घटना का उल्लेख भी दुःखजनक है, क्योंकि शत्रु अगर चाहता तो हमारे सैनिकों की नशे की ऐसी स्थिति से फायदा उठा सकता था, जिसके परिणाम बहुत भयंकर होते। सैनिकों को इस तरह अंधाधुन्ध शराब पीने से रोकने के सारे प्रयत्न विफल रहे। आखिर जनरल ने शराब और शराब के सारे बर्तन आदि नष्ट कर देने का हुक्म दिया। तब सैनिकों में कर्तव्य की भावना जाग्रत हुई और वे लज्जित हुए। यह तोड़-फोड़ का सारा काम मुख्यतः सिखों और पंजाबियों ने किया। फेंकी हुई शराब शहर की नालियों से होकर बही।"[१०६] लेकिन

१०६. ग्रिफ़िथ्स, ए नेरेटिव आफ़ दी सीज आफ़ देहली, पृ० १७४-१७५

शत्रु के शिविर की इस निष्क्रियता की ओर विद्रोही सिपाहियों का ध्यान ही नहीं गया। शाम को उन्होंने कालेज के अहाते पर गोली चलाई और सलीमगढ़ के आस-पास के मकानों पर गोले फेंकने शुरू किए।

१६ तारीख को शस्त्रागार पर अधिकार कर लिया गया। १७ से लेकर १६ तारीख तक सलीमगढ़ पर बमबारी होती रही और अंग्रेजों की सेना और आगे बढ़ी। २० तारीख को महल और उससे मिले हुए सलीमगढ़ के दुर्ग में अंग्रेजों ने प्रवेश पा लिया। इन गढ़ों की रक्षा के लिए वहां कोई नहीं था और जो थे भी उन्हें मृत्यु से अधिक अपनी प्रतिष्ठा प्यारी थी। शहर खाली हो चुका था लेकिन वे अपने प्राणों की परवाह किए बिना अपनी जगह डटे रहे। के ने लिखा है—"सुना गया है कि हर दरवाजे पर एक सन्तरी कंधे पर संगीन रखे मृत्यु की तनिक भी परवाह किए बिना निश्चल भाव से खड़ा था।"[१०७] महल में जो कोई भी मिला उसे जीवित न छोड़ा गया और उनमें से किसी ने शरण की याचना भी नहीं की। कौन जानता है इन अज्ञातनाम वीरों की दाहक्रिया भी ठीक से हुई या नहीं।

जनरल विलसन अपना मुख्यालय उसी रात महल में ले आए। "अंग्रेजों ने दिल्ली जीतने की खुशी में लाल किले के स्वर्ग—दीवाने खास—में दावत का आयोजन किया। इस दीवाने खास की जगमगाती हुई संगमरमर की दीवारों की अरबी पच्चीकारी पाशविक कला का जयघोष कर रही थी, यद्यपि इसके सम्मुख १६वीं सदी की ब्रिटिश कला के सर्वोत्तम नमूने किन्नर कला के मुकाबिले में नर-भक्षियों की कला के समान ठहरते हैं।"[१०८]

इस प्रकार दिल्ली पर अंग्रेजों का अधिकार हुआ, लेकिन कितने आदमियों की बलि देकर? ३० मई से २० सितम्बर तक की अवधि में केवल अंग्रेजी सेना के ही ३,८३७ सैनिक और अफसर मारे गये, घायल हुए या लापता हुए। अलग-अलग रेजीमेण्टों की क्षति भी दिल दहलाने वाली थी। सिरमौर गुरखा सैनिकों की संख्या, जो बाड़ा हिन्दूराव पर तैनात थे और जिन्होंने ब्रिटिश सेना के दाहिने पक्ष की रक्षा की, शुरू में ४५० थी। बाद में वहां और ६० आदमी भेजे गए। इन ४५० सैनिकों में से लगभग ६० प्रतिशत मारे गए या घायल हो गए। दिल्ली की रक्षा के लिए कितने सिपाहियों ने जान गंवाई, इसकी सही संख्या कभी मालूम न हो सकेगी। दिल्ली में विद्रोही सिपाहियों की संख्या कितनी थी, यह अभी तक ठीक-ठीक निर्धारित नहीं किया जा सका है। विलसन का अनुमान था कि आक्रमण से पहले विद्रोही सिपाहियों की संख्या ४०,००० थी। हाडसन के अनुमान के अनुसार यह संख्या ७० हजार थी। यदि हम पहली संख्या को ही सही मान लें तो यह नहीं मालूम कि इनमें कितने नए रंगरूट थे और कितने ग़ाज़ी या जिहादी थे। दिल्ली की रक्षा करने वालों की और युद्ध में उनके पक्ष के हताहतों की संख्या काफी बढ़ा-चढ़ा कर बताई गई, लेकिन इससे आकस्मिक कठिनाइयों, और बाधाओं

---

१०७. के, ए हिस्ट्री आफ़ दि सिपाय वार, जिल्द ३, पृ० ६३३

१०८. के, वही, जिल्द ३, पृ० ६३३-६३४

के होते हुए भी आक्रमणकारी अंग्रेज़ी और भारतीय सेनाओं ने जो सफलता प्राप्त की उसका महत्व कम नहीं होता। अंग्रेज़ जी जान से लड़े, चाहे अपने मृत साथियों का बदला लेने के लिए लड़े हों या जीवितों की रक्षा के लिए, और वेतन पाने वाले भारतीय सैनिक भी अपने विदेशी प्रभुओं के लिए जिस लगन और उत्साह से लड़े उसका उदाहरण मिलना कठिन है। ग्रिफ़िथ्स ने स्वीकार किया है कि "हिन्दुस्तानी सैनिक दृढ़ निश्चय और बहादुरी से लड़े; सिख, पंजाबी और गोरखे अपने अंग्रेज़ सैनिकों के साथ-साथ मोर्चे पर आगे रहे और उस दिन की सफलता प्राप्त करने में उनका अधिकाधिक सक्रिय योग रहा।" [१०९]

जब तक बादशाह और शहज़ादे गिरफ्तार नहीं हो जाते, एक प्रकार से यह विजय अधूरी थी। बख्त खां ने बादशाह को परामर्श दिया कि वे सेना के साथ अवध चले जाएं और वहां लड़ाई जारी रखें। लेकिन इलाही बख़्श की राय थी कि बादशाह कुछ शर्तों के साथ आत्मसमर्पण कर दें। बेगम का भी यही विनम्र आग्रह था। वह अपने पुत्र और पिता को बचाना चाहती थी, और उसे उम्मीद थी कि कुछ हीरे-जवाहरात और रुपया भी उसके पास रह जाएगा। एक को छोड़ किसी भी शहज़ादे में लेशमात्र को भी वह अदम्य साहस और शक्ति न थी जिसके बल पर बाबर ने अपने पूर्वजों का राज्य गंवा कर भी एक नए साम्राज्य की नींव डाली थी, और उस समय शहज़ादा फीरोज़ शाह दिल्ली में नहीं था। मिर्ज़ा मुग़ल, मिर्ज़ा खिज़र सुल्तान और मिर्ज़ा अबू बकर अपने साम्राज्य को पुनः प्राप्त करने की आशातीत कल्पना में लीन थे। जिस अल्पावधि में उनके पास सत्ता रही वे अपना घर संवारने में लगे रहे, अब उन्हें केवल अपनी जान बचाने की चिन्ता थी। बादशाह पहले तो कुतुब चले गए, बाद में मिर्ज़ा इलाही बख़्श अनुनय-विनय करके उन्हें हुमायूं के मकबरे में ले आए। अंग्रेज़ों के गुप्तचर मौलवी रजब अली ने हाडसन को बता दिया कि ये सब लोग कहां छिपे हुए हैं। हाडसन इलाही बख़्श की मार्फत प्राणदान की शर्त पर बादशाह के आत्मसमर्पण की बातचीत चलाने की अनुमति प्राप्त करने के लिए विलसन के पास गए। यह राजनीतिक कार्य था, जिसका उत्तरदायित्व सामान्यतः शिविर के असैनिक अधिकारी हार्वे ग्रेटहेड के ऊपर था। लेकिन २० तारीख को ग्रेटहेड की हैजे से मृत्यु हो गई और उनकी जगह सांडर्स की नियुक्ति हुई। हाडसन ने सांडर्स को मौखिक रूप से बताया कि उसने बादशाह के आत्मसमर्पण की बातचीत चलाने और उसे प्राणदान का वचन देने के लिए जनरल से अधिकार प्राप्त कर लिया है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि हाडसन ने प्राणदान दिए जाने वालों में जवां बख्त खां और बादशाह के श्वसुर अहमद कुली खां के नामों को भी सम्मिलित कर अपने अधिकार का अतिक्रमण किया। उनके इस कार्य की जिम्मेदार अंग्रेज़ अधिकारियों ने कड़ी आलोचना भी की, क्योंकि उनका विश्वास था कि महल के हत्याकाण्ड की जिम्मेदारी बादशाह पर ही है। सेसिल बीडन ने १३ अक्तूबर को म्योर को लिखा—"यदि दिल्ली के बादशाह को कुछ शर्तों पर मुक्त कर दिया जाता तो बड़ी दुर्भाग्यपूर्ण घटना होती। उस पर तो मुकदमा चलाकर उसी वक्त दण्ड दिया जाना

१०९. ग्रिफ़िथ्स, ए नरेटिव आफ़ दि सीज आफ देहली, पृ० १७३

चाहिए था। जो सलूक उसके बेटों और पोतों के साथ किया गया वही उसी के साथ किया जाना उचित है। मुझे इसमें जरा भी सन्देह नहीं है कि यह आदमी विद्रोह का असली नेता था और इसे सजा मिलनी ही चाहिए। मेरा यह भी विश्वास है कि यदि अब उसे मुक्त कर जाए तो यह समझा जाएगा कि हमने डर कर ऐसा किया है। महल की दीवार पर ही उसे फांसी पर लटका देने का सारे देश पर बहुत अच्छा असर पड़ता।"[११०] बादशाह के मुकदमे में जो तथ्य सामने आए उन पर यदि गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाए तो निस्संदेह यह प्रमाणित हो जाएगा कि बादशाह परिस्थिति का गुलाम था। शारीरिक और मानसिक दृष्टि से वह इस योग्य न था कि घटनाचक्र को एकदम बदल देता। यह सच है कि पुरखों के जमाने से चली आ रही "नज़र" की प्रथा बन्द होने पर उसने क्षोभ प्रकट किया था। यह भी सम्भव है कि कहीं से अंग्रेजों की हार का समाचार मिलने पर बादशाह को कुछ आन्तरिक सन्तोष मिलता हो, लेकिन बादशाह ने विद्रोह को नहीं उकसाया। महल में बन्दियों की हत्या के लिए बादशाह को किसी भी तरह उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। इसे बादशाह का दुर्भाग्य ही समझना चाहिए कि उसे वह कत्ले-आम निष्क्रिय दर्शक की भांति चुपचाप देखना पड़ा, उसे रोक सकने की शक्ति उसमें थी ही नहीं। और न इस बात का कोई सबूत मिलता है कि इस कृत्य में मिर्ज़ा मुग़ल का हाथ था। बादशाह पर यह आरोप लगाया गया कि उन्होंने अपनी छत पर खड़े होकर लोगों को फांसी पर लटकते हुए देखा, पर इससे यह कहां प्रमाणित होता है कि उनका भी इसमें कुछ हाथ था?

२१ सितम्बर को बादशाह ने हाडसन के समक्ष आत्मसमर्पण कर दिया और उन्हें दिल्ली ले आया गया। अगले दिन हाडसन घोड़े पर सवार हो हुमायूं के मकबरे पहुंचा और शहज़ादों से आत्मसमर्पण करने के लिए कहा। प्राणदान का आश्वासन पाने का उनका प्रयास व्यर्थ रहा। मिर्ज़ा मुग़ल, मिर्ज़ा खिज़र सुल्तान, और अबू बकर को एक बैलगाड़ी में बिठाया गया। हाडसन का कहना है कि चारों तरफ कुछ सशस्त्र लोगों की भीड़ जमा हो गई लेकिन उनसे हथियार रखवाने में मुझे कोई कठिनाई नहीं हुई। इसके बाद वे दिल्ली की तरफ चले और भीड़ भी पीछे-पीछे चली। जब ये लोग दिल्ली गेट के पास पहुंचे तो हाडसन ने अपने बन्दियों से कपड़े उतारने को कहा और अपने हाथ से उन्हें गोली मार दी। इस नृशंस हत्या के समर्थन में उसका कहना था कि भीड़ बढ़ती जा रही थी और उसे डर था कि उत्तेजना में आकर भीड़ कहीं शहज़ादों को छुड़ा न ले, इसलिए अपनी और अपने आदमियों की रक्षा के लिए उसे यह अरुचिकर कार्य करना पड़ा। हाडसन के इस कृत्य का बहुतों ने समर्थन किया और जब सेसिल बीडन जैसे सम्भ्रान्त असैनिक व्यक्ति को हाडसन के इस कार्य का अनुमोदन करने में कोई हिचक न हुई तो सर्वसाधारण ने भी, जो बदला लेने के लिए आकुल थे, इसे कोई अनुचित कृत्य न समझा हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। लेकिन यहां यह भी याद रखना होगा कि हाडसन को हुमायूं के मकबरे से लेकर शहर की दीवार तक खुले रास्ते में कोई खतरा अनुभव न हुआ, लेकिन जैसे ही वह शहर

---

११०. कोल्डस्ट्रीम और म्योर, उद्धृत ग्रन्थ, जिल्द २, पृ० ३६१

के गेट के पास पहुंचा तो उसे लगा कि वह खतरे में है। उससे एक दिन पहले ही जब हाडसन बादशाह और बेगम को कैद करके शहर में लाया था तब उसे भीड़ की हिंसा पर उतारू होने की आशंका न हुई थी। जो भी हो, इन शहज़ादों के भाग्य का फैसला तो उसी क्षण हो गया था, जब उन्होंने आत्मसमर्पण किया था। अब तो प्रश्न केवल इतना ही था कि या तो उन्हें फांसी दे दी जाए या गोली से उड़ा दिया जाए। इसके तुरन्त ही बादशाही परिवार के २१ शहज़ादों को फांसी दे दी गई।[१११] और बल्लभगढ़ के राजा और झज्जर के नवाब का भी यही अन्त हुआ। इन दोनों ने भी बादशाह के प्रति वफादारी दिखाई थी और ग़दर से उनका सम्बन्ध था। लेकिन वे अंग्रेज़ों से भी लिखा-पढ़ी करते थे। बल्लभगढ़ के राजा ने ग़दर के प्रारम्भिक दिनों में अंग्रेज़ों को शरण दी थी। अगर एक वर्ष बाद मुकदमा चलाया जाता तो शायद बल्लभगढ़ के राजा की जान बच जाती, क्योंकि बाद में जाकर अंग्रेज़ों ने यह अनुभव किया कि इस प्रकार की प्रतिहिंसा की विनाशकारी नीति पर हमेशा नहीं चला जा सकता। दिल्ली के पतन के बाद अगर महल से उसके द्वारा भेजे गए पत्र प्राप्त न होते तो उसकी दुरंगी चाल का भण्डाफोड़ न होता।

बादशाह अगर अपनी जान बचाने के लिए समझौता करने का प्रयत्न न करते तो अच्छा होता। उनके प्रति एक जघन्य अपराधी के समान बरताव किया गया। यह सच है कि उन्हें सींखचों के अन्दर नहीं रखा गया, लेकिन जहां भी रखा गया, बुरी तरह रखा गया। दिल्ली से होकर जाने वाला प्रत्येक अंग्रेज, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, बादशाह पर घृणापूर्ण दृष्टि डालने के लिए उनके पास एक बार जरूर जाता। ये लोग अशिष्टतापूर्वक उस जगह चले जाते जहां बादशाह को रखा गया था। ग्रिफ़िथ्स आत्मसमर्पण के दूसरे ही दिन, यानी २२ तारीख को बादशाह से मिलने गए। इस भेंट का विवरण उन्होंने इस प्रकार किया है—"मुग़ल वंश के अन्तिम उत्तराधिकारी बहादुरशाह चारपाई पर, जिस पर एक गद्दा बिछा था, पालथी मारे बैठे थे। एक सफेद लम्बी दाढ़ी और अप्रभावशाली व्यक्तित्व, साधारण कद और अवस्था ७० वर्ष के ऊपर। वे श्वेत परिधान पहने हुए थे और सफेद ही तुर्राशाही टोपी। पीछे दो सेवक मयूर-पंख का पंखा झल रहे थे। यह उस व्यक्ति की प्रभुसत्ता का कितना दयनीय प्रदर्शन था, जो अपने सभी कानूनी अधिकारों से वंचित होकर अब अपने शत्रु के हाथों कैद था। उनके मुंह से एक शब्द भी नहीं निकला। अपनी परिस्थितियों के प्रति अन्यमनस्क भाव से बादशाह दिन-

---

१११. ई हेयर, मेमो० आफ़ दी सीज आफ़ देहली के मैनुस्क्रिप्ट्स, कामनवैल्थ आफिस लाइब्रेरी, होम मिसलेनियस संख्या ७२६, पृ० १३७७-१४५७। हेयर ने एक दिन देखा कि बीस से अधिक आदमी एक पंक्ति में बैठे हुए हैं और उसे बताया गया ये शहज़ादे हैं। मेटकाफ़ ने उन पर मुकदमा चलाया और बायड की अदालत में उन पर मुकदमा चला। जो गवाहियां पेश की गईं, उनके बारे में बायड को सन्देह हुआ और उसने सुझाव दिया कि उन पर विद्रोहियों के साथ मिलने के अभियोग में और मुकदमा चलाया जाए, और चूंकि वे सब शाही परिवार के हैं इसलिए उनके अपराधी होने में कोई सन्देह हो ही नहीं सकता था; इसलिए उन्हें उसी दिन "मृत्यु दण्ड सुनाया गया और फांसी दे दी गई तथा लाशें उठवा दी गईं।"

रात भूमि पर नजर गड़ाए चुपचाप बैठे रहते। तीन फुट के फासले पर एक दूसरी चारपाई पर रक्षक अधिकारी बैठा रहता था। दोनों ओर संगीनें लिए दो यूरोपीय सन्तरी तैनात थे। आदेश यह था कि अगर बादशाह को निकाल कर ले जाने का कोई प्रयत्न किया जाए तो अफसर अपने हाथ से बादशाह को गोली मार दे।"[११२] रेक्स ने १८ दिसम्बर को बादशाह को देखा, अगले ही दिन उसने लिखा—"कल हम सब, जिनमें स्त्रियां भी थीं, श्री साण्डर्स और उसकी पत्नी के साथ बादशाह को देखने गए। वे ६० वर्ष के वयोवृद्ध हैं। वे जिस छोटे-से मकान में रखे गए थे, उसमें पहले कभी उनका कोई सेवक रहता था। इधर-उधर तकियों के सहारे बादशाह पलंग पर बैठे हुए थे। मैं उनके पास कुर्सी पर बैठ गया। वे अपने ही सपनों में तल्लीन थे, और अपने कुछ शेर गुनगुना रहे थे। मैं कुछ देर बैठा रहा और फिर उनसे बिना कुछ बात किए चला आया।"[११३] बेगम भी अपमान भरे व्यवहार से बची न थीं, बहुत-सी स्त्रियां उत्सुकतावश उन्हें भी आ कर घूरती थीं और कभी-कभी उनके प्रति अशिष्ट शब्द कहती थीं। श्रीमती कूपलैण्ड भी, जिनके पति ग्वालियर में मारे गए थे, अभागे बादशाह को देखने आईं, लेकिन उन्हें उनमें तेजस्विता का कोई भी चिन्ह नहीं दिखाई पड़ा। अपने विवरण में उन्होंने लिखा है—"सीढ़ियों पर सीढ़ियां चढ़ कर हम एक चबूतरे पर पहुंचे जहां एक कमरे के आगे कुछ पहरेदार गश्त लगा रहे थे। उसके बाद हम एक मैले-कुचैले मकान में घुसे जो 'बादशाहों के भी बादशाह'—मुग़लों के वंशज के रहने का स्थान था . . . परदा हटा कर जब हमने नीचे की ओर सफेद दीवारों वाले एक गन्दे-से कमरे में प्रवेश किया तो देखते हैं कि एक दुबला-पतला मझोले कद का वृद्ध आदमी मैले-कुचैले सफेद सूती कपड़े पहने, जाड़े से बचने के लिए शाल और रजाइयां ओढ़े लेटा हुआ है। हमारे अन्दर आते ही उसने अपना हुक्का एक ओर रख दिया, और वह बादशाह जो कभी किसी के सामने बैठ जाना भी अपमानजनक समझता था, बड़े दीन भाव से हमें सलाम करने लगा। उसने कहा—आपसे मिल कर बड़ी खुशी हुई।"[११४] रसेल काफी बाद में बादशाह से मिला, उसका कहना है कि मेरे विचार में बादशाह का ईस्ट इण्डिया कम्पनी के प्रति कृतज्ञ होने का कोई कारण न था, लेकिन रसेल बादशाह का भी समर्थन नहीं करता क्योंकि उसकी दृष्टि में वह एक निर्दय आदमी था जिसने "अपने महल में निर्मम हत्याएं कराईं।" "रसेल ने बन्दी बादशाह का और उसकी परिस्थितियों का जो विवरण दिया है, वह बहुत ही खराब है। उसने लिखा है, "हम जिस खुले अहाते में खड़े हुए थे, वहां से एक तंग और अंधेरा रास्ता अन्दर की ओर एक और भी अधिक अंधेरे कमरे में जाता था जहां एक बूढ़ा आदमी मलमल की मैली, साधारण पोशाक में सिकुड़ा हुआ बैठा था, उसके पतले पैर नंगे थे और सिर पर कैम्ब्रिक की दुपल्ली टोपी पहने हुए था।"[११५] जहां तक लोगों के आ कर मिलने का सम्बन्ध था, बादशाह की सुविधा का

---

११२. ग्रिफ़िथ्स, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० २०१-२०२

११३. उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ८१

११४. कूपलैण्ड, ए लेडीज़ एस्केप फ्राम ग्वालियर, पृ० २७५

११५. रसेल, उद्धृत ग्रन्थ, जिल्द २, पृ० ५८। एडमन्सटन के नाम २ दिसम्बर

कतई ध्यान नहीं रखा जाता था। बादशाह उस समय बीमार थे, पीतल का एक बर्तन उनके सामने रखा हुआ था और वे बुरी तरह वमन कर रहे थे। शहज़ादा जवां बख़्त भी अस्वस्थ था। जब भी कोई आता तो उसके सम्मान में शहज़ादे को अपने पलंग से उठ कर खड़ा होना पड़ता था और जब तक कमिश्नर उसे बैठने की अनुमति न दे देता, वह बैठ नहीं सकता था। मुकदमे के दौरान जजों और अभियोक्ताओं ने बादशाह के प्रति सामान्य शिष्टता भी नहीं बरती। बादशाह अब भी अपने काव्य-चिन्तन में खोए रहना चाहते थे। कागज-कलम के अभाव में वे जली लकड़ी से अपनी कोठरी की दीवार पर शायरी लिखा करते। एक बार यह सुझाव दिया गया कि बादशाह को अन्दमान द्वीपसमूह में भेज दिया जाए। कभी यह कहा जाता कि बादशाह को अफ्रीका में रखना अधिक ठीक रहेगा। सेसिल बीडन ने चीनी समुद्रतट पर हांगकांग का सुझाव दिया था। अन्त में बादशाह को रंगून निर्वासित किया गया और कुछ वर्ष बाद वहीं बर्मा में उनकी जीवनलीला समाप्त हुई। अपने दुर्भाग्य के लिए बादशाह किसे दोष देता! यदि वह सेना के साथ मोर्चे की ओर कूच करता और रणक्षेत्र में वीरगति को प्राप्त होता तो अपने देशवासियों के आदर का अधिकारी होता और शायद शत्रु की प्रशंसा का पात्र भी बनता। लेकिन पहले तो सत्ता के लालच में उसने सिपाहियों के आगे घुटने टेक दिए और फिर अपनी जान बचाने के लिए रजब अली और इलाही बख़्श के सामने घुटने टेके। अपने पूर्वजों की भूमि से दूर विदेशी भूमि पर उसका अन्त हुआ, मानो वह भाग्य के हाथ का खिलौना रहा हो। न उसे अन्तिम सम्मान प्राप्त हुआ और न उसका गुणगान हुआ। पर ऐसा भी नहीं कि उसकी याद में किसी ने दो आंसू भी न बहाए हों।

दिल्ली और दिल्ली के लोगों पर मुसीबत का पहाड़ टूट पड़ा। वास्तव में दिल्ली पर आक्रमण से पहले ही अंग्रेज़ों ने प्राइज़ एजेंट नियुक्त कर दिए थे। जनरल विल्सन ने यह ऐलान कर दिया था कि स्त्रियों और बच्चों को हाथ भी न लगाया जाए लेकिन विजय के उल्लास में सिपाही करुणा अथवा दया-भाव से प्रेरित नहीं होते। सिखों को तो जानबूझ कर इस भविष्यवाणी की याद दिलाई गई थी कि दिल्ली गुरु के अनुयायियों द्वारा लूटी जाएगी। लूटमार की और पुरबियों के विरुद्ध प्रतिहिंसा की भावना से प्रेरित होकर ही वह अंग्रेज़ी सेना में भरती हुए थे। अंग्रेज़ सैनिकों ने अपने बच्चों के कत्ल की, अपनी स्त्रियों के अपमान की और अपने साथियों के जीवित जलाए जाने की कहानियां सुन रखी थीं। वे प्रतिहिंसा के लिए भूखे थे, यहां तक कि ईसाई पादरी भी इस प्रतिशोध की भावना को बुरा नहीं समझ रहे थे। जिस नगर पर कब्जा हो जाता है उसमें सिपाहियों की लूटपाट एक कानूनी अधिकार मान लिया जाता है। किसी ने एक क्षण के लिए भी यह नहीं सोचा कि जब तक बादशाह और उसके सिपाहियों को पूर्णतः शत्रु सेना का दर्जा नहीं दे दिया

सन् १८५७ को लिखे गए साण्डर्स के एक पत्र से ऐसा प्रतीत होता है कि जवां बख़्त ने अपनी मां के जवाहरात का भेद बता कर उसके साथ विश्वासघात किया। ये जवाहरात दो लाख रु० से भी अधिक मूल्य के थे और बेगम ने इन्हें क्षमादान के मूल्य के रूप में देने का वायदा किया था।

जाता, तब तक सर्वसाधारण की सम्पत्ति कानूनी तौर पर विजेताओं की लूटमार की चीज नहीं हो सकती और यदि बादशाह और उसकी सेना को एक बार शत्रु का दर्जा दे दिया जाता तो बादशाह को राजद्रोह का अभियोगी नहीं ठहराया जा सकता था। लेकिन विजेता सत्ता के नशे में तर्क नहीं सुनता। गनीमत यह हुई कि दिल्ली की कार्थेज जैसी दशा नहीं हुई। एक अंग्रेज़ अफसर ने तो यह सुझाव रख ही दिया था कि दिल्ली को धूल में मिला दिया जाए। मस्जिदों को गिरजों में परिवर्तित कर दिया जाए जो अंग्रेज़ी सेना के पराक्रम का स्मारक बन कर यहां खड़े रहेंगे।

२१ सितम्बर को ग्रिफ़िथ्स ने देखा कि दिल्ली के "बाजार और सड़कें सुनसान पड़ी हैं, ऐसा लगता था मानों कोई भारी दैवी विपत्ति आई है और सारा शहर श्मशान के समान हो गया है। यह अनुभव ही नहीं होता कि हम एक शहर से होकर गुजर रहे हैं जहां अभी कुछ दिन पहले हजारों आदमी रह रहे थे।"[११६] "शहर के जिन भागों से होकर हम गुजरे वहां बेहद लूटपाट हो चुकी थी।"[११७] "सिपाहियों और नगर-निवासियों की लाशें चारों तरफ बिखरी पड़ी थीं जिनसे कई दिन तक हवा विषैली रही और असहनीय दुर्गन्ध फैली रही।"[११८] उजड़े हुए शहर में हैजा फैल गया और अस्पताल बीमारों से भरे हुए थे, लेकिन लूट-मार व्यवस्थित ढंग से बराबर होती रही। गड़ा हुआ खजाना निकालने के लिए निर्जन घरों के फर्श और दीवारें खोदी जा रही थीं और लूट-मार में प्राप्त सम्पत्ति जो कानूनी तौर पर सामान्य कोष में जमा होनी चाहिए थी, उसे अफसर लोग स्वयं हड़प कर जाने में जरा भी नहीं झिझके। सोमनाथ के मन्दिर की कहानी की याद अब भी ताजी थी। हिन्दू मन्दिरों की मूर्तियों को अशिष्टतापूर्वक हटा दिया गया और गड़े हुए जवाहरातों के लिए मूर्तियों की पीठिकाओं को तोड़ा गया।[११९] ३१ अक्तूबर को म्योर ने शेरर को एक मेधावी असिस्टेंट सर्जन की रिपोर्ट का निम्नलिखित उद्धरण भेजा: "दिल्ली अब भी उसी शान से खड़ी है। दिल्ली के एक छोर से दूसरे छोर तक कहीं भी गोलाबारी और गोली चलने का कोई चिन्ह दिखाई नहीं देता, लेकिन मकान निर्जन, लुटे हुए और बरबाद दिखाई दे रहे हैं। अभागे नगर-निवासी भूखों मरने के लिए विवश कर दिए गए हैं। इससे यही सोचने के लिए बाधित होना पड़ता है कि उनके साथ बड़ी निर्दयता का बरताव हो रहा है। आप मुझे इस भावना का दोषी ठहराते थे कि मैं प्रत्येक सिपाही को बिना किसी दया-भाव के मृत्यु का पात्र ही समझता हूं, लेकिन मेरे विचार में यह सरकार बेचारे बनियों और कायस्थों के साथ बड़ी सख्ती बरत रही है। लूट-मार इतनी अधिक हो रही है कि उस पर सहसा विश्वास

---

११६. ग्रिफ़िथ्स उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १६६

११७. वही, पृ० १६८

११८. वही, पृ० २००-२०१

११९. वही, पृ० २४५। श्रीराम जी मन्दिर के ट्रस्टियों ने गवर्नर-जनरल से शिकायत की कि प्राइज एजेंट मन्दिर में घुस गए और दस हजार के मूल्य की सम्पत्ति खोद कर ले गए। इस अर्जी पर तारीख है ५-२-१८५६, सैनिक परामर्श, फरवरी १८५६, संख्या २५४-२५५

नहीं होता। मेरा विचार है कि दिल्ली पर घेरा डालने वालों में जितने भी अफसर हैं, वे अपने पद से तुरन्त ही अवकाश ग्रहण करने की स्थिति में हैं।"[१२०] यह कोरा अनुमान ही नहीं था, ग्रिफ़िथ्स ने भी एक अफसर का उदाहरण दिया है जिसके पास दो लाख रुपये से भी अधिक मूल्य का लूट का सामान मिला। "उस समय ऐसे और कितने ही मामलों का पता चला जिनमें अफसरों ने इससे कुछ ही कम मूल्य की सम्पत्ति हजम की थी। ऐसे तो नाम अनगिनत हैं जिनके पास सौ पौंड से ऊपर के मूल्य की लूट की सम्पत्ति थी।"[१२१] ग्रिफ़िथ्स ने आगे लिखा है—"हमारे इंग्लैण्ड पहुंचने पर स्पष्ट रूप से प्रमाणित हुआ कि मेरी रेजीमेण्ट के बहुत-से अनियमित सैनिक लूट का काफी कीमती माल प्राप्त करने में सफल रहे हैं। बहुत-से गैर-कमीशन प्राप्त अफसर रिश्वत देकर सेना से मुक्त हो गए और दिल्ली से लूटा हुआ माल बेचने के समुचित अवसर मिलने के इन्तजार में तीन साल तक उन्होंने उसे अपने पास रखे रखा। जिस नगर में हम थे, वहां जौहरियों की दुकानों की खिड़कियों में ये गहने और जेवर बिक्री के लिए सजा कर रखे गए, जिन्हें देख कर कोई भी यह कह सकता था कि ये पौर्वात्य कारीगरी के नमूने हैं। पूछने पर मालूम हुआ कि ये सब गहने सैनिकों से खरीदे गए हैं।"[१२२]

प्राइज़ एजेंटों का कहना था कि विजेता होने के नाते सारा नगर ही सेना की सम्पत्ति हो गया। लेकिन साण्डर्स ने इस अजीबो-गरीब सिद्धान्त का कड़ा विरोध किया और उन्हें सर जान लारेंस का जोरदार समर्थन प्राप्त था। फिर इस सिद्धान्त को आगे कार्यान्वित नहीं किया गया। नवम्बर मास तक लूट-मार चलती रही। प्राइज़ एजेंट लोगों से कुछ रुपया लेकर उनकी सम्पत्ति और पूंजी को लूट से बचाने का आश्वासन दे देते थे। इस बीच शहर भर में सम्पत्ति की यह लूट-मार इतनी अधिक हो चुकी थी कि लोगों के पास जो थोड़ा-बहुत बचा भी था, उसकी रक्षा के लिए वे रुपया खर्च नहीं करना चाहते थे।[१२३]

सम्पत्ति के महत्व और उसकी रक्षा का कुछ भी मूल्य न रह गया था, साथ ही मानव जीवन के प्रति भी कोई आस्था अथवा सम्मान शेष नहीं रह गया था। प्रसिद्ध उर्दू शायर ग़ालिब उस समय दिल्ली में ही थे। बहुत दुःखी होकर उन्होंने लिखा, "मेरे सामने खून का विशाल समुद्र है, खुदा जाने अभी मुझे और क्या देखना है।" उनके इतने मित्र मर चुके थे कि उनके हृदय में सहसा प्रश्न उठता था कि उनकी मृत्यु पर शोक करने वाला भी कोई बचेगा या नहीं? एक स्थान पर वे लिखते हैं, "हजारों दोस्त चले गए, किस-किस को मैं याद करूं और किससे शिकवा करूं। मेरी मौत पर आंसू बहाने वाला

---

१२०. कोल्डस्ट्रीम और म्योर, उद्धृत ग्रन्थ, जिल्द १, पृ० २३६

१२१. ग्रिफ़िथ्स, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० २३४-२३५

१२२. वही, पृ० २३३

१२३. सेना के अफसरों और सैनिकों ने जो सम्पत्ति हजम कर ली थी, उसके अलावा दिल्ली में सम्पत्ति को लूट से बचाने के आश्वासन के रूप में कुल ३५, ४७, ६१७ रुपये ६ आने ८ पाई लिया गया। मिलिटरी प्रोसीडिंग्स संख्या १२७०६। फरवरी १८६१

शायद ही कोई बचा होगा।" यदि इस वर्णन को हम काव्यमय अतिशयोक्ति भी मानें तो अन्य विवरणों से भी यही ज्ञात होता है कि मनुष्य जीवन का कोई मूल्य ही नहीं रह गया था और सर्वसाधारण की भी वही गति हुई जो शस्त्र उठाने वाले विद्रोहियों की हुई थी।[१२४] जहीर देहलवी ने 'दास्ताने ग़द्र' में लिखा है—"अपराधियों के साथ कभी-कभी निर्दोष व्यक्ति भी मारे जाते हैं, यही ग़दर के बाद हुआ। जो भी रास्ते में मिलता अंग्रेज़ सिपाही उसे ही गोली मार देते। जो लोग शहर में बचे थे, उनमें से कुछ ऐसे थे जिनकी टक्कर के आदमी न कभी पैदा हुए और न होंगे। कूचा चेलां के कुछ लोगों के साथ, जिनकी संख्या चौदह सौ बताई जाती है, एक बड़े अच्छे लेखक मियां मुहम्मद अमीन पंजाकुश को, और मौलवी इमाम बख़्श सभाई और उनके दो पुत्रों को गिरफ्तार कर लिया गया, उन्हें राजघाट गेट पर ले जाया गया, जहां उन्हें गोली मार दी गई और उनकी लाशें जमना में फेंक दी गईं। स्त्रियां अपने बच्चों को लेकर घरों से बाहर निकल आईं और उन्होंने कुओं में कूद कर जान दे दी। कूचा चेलां के सारे कुएं लाशों से पट गए थे। इससे आगे मुझ से लिखा नहीं जाता।" ग़ालिब ने अपनी 'दस्तंबू' नामक पुस्तक में लिखा है कि "खुदा ही जानता है कितने लोगों को फांसी पर लटका दिया गया। विजयी सेना ने नगर में मुख्य मार्ग से प्रवेश किया, जो भी रास्ते में मिला, उन्होंने उसे मार डाला। गोरों ने शहर में घुसते ही असहाय और निर्दोष लोगों को मारना शुरू कर दिया। दो-तीन मुहल्लों में गोरे सिपाहियों ने लोगों को कत्ल भी किया और लूट मार भी की।"[१२५] ग्रिफ़िथ्स ने लोगों को अंधाधुंध गोली मारने के बारे में उदाहरण दिए हैं। इससे जहीर देहलवी और ग़ालिब का विवरण और भी स्पष्ट हो जाता है। उनकी रेजीमेण्ट के एक अफसर ने शहर से भागे हुए कुछ लोगों को गिरफ्तार कर लिया और गवर्नर के पास भेजा, जो उनके जीवन और मृत्यु का निर्णायक था। गवर्नर पर दयालु होने का सन्देह तो पहले से ही था, उसने उन्हें छोड़ दिया। दूसरी बार तीन आदमियों को पकड़ा गया, लेकिन इस बार उन्हें उच्च अधिकारियों के पास भेजना व्यर्थ समझा गया। जो अफसर ऐसे लोगों को ऊपर भेजा करता था, इस बार उसने ही "सिपाहियों का एक दस्ता बुलाया और इन तीनों को अजमेरी गेट के बाहर एक खाई में खड़ा करके गोली मार दी और गढ़ा खोद कर वहीं उनके शव गाड़ दिए गए।"[१२६] उस समय दिल्ली में तैनात अफसर जिस भावना से काम

१२४. श्रीमती कूपलैण्ड ने लिखा है, "प्रोवोस्ट मार्शल, जो लोगों को फांसी देता था, दिल्ली पर घेरा डालने के बाद से ४०० से लेकर ५०० तक अभागे लोगों को फांसी दे चुका है और अब वह अपने पद से इस्तीफा देने की बात सोच रहा है।" कूपलैण्ड, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० २६८

१२५. कृष्णलाल, "दि सैक आफ़ देहली, १८५७-५८, ऐज़ विटनेस्ड बाई ग़ालिब" बंगाल पास्ट एण्ड प्रेज़ेंट में, जिल्द ७४, भाग २, क्रम संख्या १३६, पृष्ठ १०६-७ साण्डर्स ने भी यह माना है कि शहर पर अधिकार हो जाने के बाद दस दिन तक सिपाही बिल्कुल काबू से बाहर और अनुशासनहीन हो गए थे।" इसके फलस्वरूप बहुत-से निर्दोष व्यक्ति मरे होंगे। कोल्डस्ट्रीम और म्योर, उद्धृत ग्रन्थ, जिल्द २, पृ २८८

१२६. ग्रिफ़िथ्स, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० २१३

कर रहे थे, उसका निम्न घटना से बढ़कर कोई और अच्छा उदाहरण नहीं हो सकता। जनरल विलसन का हुक्म था कि कोई विद्रोही बच कर न जाने पाए। इसलिए यदि अंग्रेज अधिकारी दोषी और निर्दोषी में भेद न कर पाएं, तो निर्दोषी को भी मार दिया जाना चाहिए ताकि कोई दोषी बच कर न निकल सके।

कहीं किसी के साथ रिआयत न हो जाए इस डर से सब सैनिक अफसर धर्म तथा राजनीति का विचार किए बिना सभी भारतीयों के प्रति एक-सा व्यवहार कर रहे थे। प्रोफेसर रामचन्द्र एक ईसाई था। ११ मई को अपनी जान बचाने के लिए उसे अपना घर छोड़ना पड़ा था। बड़े-बड़े अफसरों से उसकी जान पहचान थी। ग़दर के दिनों में विद्रोही सिपाहियों ने फरनीचर, तस्वीरों आदि के साथ-साथ जो पाण्डुलिपियां नष्ट कर दी थीं, उनकी खोज और सुरक्षा के लिए म्योर ने (जो बाद में सर विलियम म्योर के नाम से प्रसिद्ध हुए) प्रोफेसर रामचन्द्र को विशेष रूप से नियुक्त किया था। दिल्ली का पतन होने के बाद उसे प्राइज एजेंट के कार्यालय में रखा गया था। उसके यह बताने के बावजूद कि वह ईसाई है और सरकारी कर्मचारी है, उसे परेशान और अपमानित किया गया। ऐसा किसी साधारण अशिक्षित सिपाही ने किया हो सो भी नहीं, एक अफसर ने ऐसा किया।[१२७] सरकार का वही एक ऐसा मित्र नहीं था जिसके साथ किसी भेदभाव के दुर्व्यवहार किया गया हो, बल्कि ऐसे परिवारों की सम्पत्ति भी लूटी गई और उनके घरों को लूट लिया गया जिनकी वफादारी पर कोई सन्देह नहीं था।[१२८] सशस्त्र विद्रोहियों की तरह उन्हें भी शहर में उनके घर-बार से बाहर निकाल दिया गया और निर्दोष होते हुए भी उन्हें अपराधियों जैसी यातनाएं और कष्ट भोगने पड़े।

सौभाग्य की बात थी कि नागरिक अधिकारी सैनिक सहयोगियों से सहमत न थे और साण्डर्स इस अन्यायपूर्ण नीति से भली-भांति परिचित था जिसके अनुसार शत्रु और मित्र में कोई भेद नहीं माना जाता था। वह नगर-वासियों के हितों का पक्का समर्थक था और बहुत-से उच्च असैनिक अधिकारी भी उसके समर्थक थे जिनमें सर जान लारेंस प्रमुख थे। १८ नवम्बर को म्योर ने बीडन को लिखा, "स्पष्ट है कि सैनिक अफसरों की नीति के कारण ऐसे निर्दोष व्यक्ति भी मुसीबत में हैं, जिन्हें दिल्ली में विद्रोहियों के हाथों भी मुसीबतें

---

१२७. इसके लिए परिशिष्ट में दिल्ली के सैनिक गवर्नर कर्नल एच० पी० बर्न के नाम रामचन्द्र का एक पत्र देखिए। फ़ारेन डिपार्टमेंट, सीक्रेट कन्सल्टेशन्स, २६ जनवरी, १८५८, संख्या ५२४ (परिशिष्ट)

१२८. दिल्ली कमिश्नर के दफ्तर के नायब मुहाफिज पं० केदारनाथ ने ५ अक्तूबर, १८५७ को शिकायत की कि "जब ग़दर हुआ तो विद्रोहियों ने मुझसे रुपया मांगा, लेकिन मैंने नहीं दिया, पर जब अंग्रेज़ी सेनाओं ने शहर पर अधिकार किया तो मेरी पचास हजार से सत्तर हजार रुपये तक के मूल्य की सम्पत्ति लूट ली गई और मेरा एक बच्चा जंगल में ठंड से मर गया।" फ़ारेन पोलिटिकल कन्सल्टेशन्स संख्या ३३२५, ३१ दिसम्बर १८५८। दिल्ली पर कब्जा होने के तीन दिन बाद सर सैयद अहमद के एक चाचा और रिश्ते के एक भाई को सिखों ने कत्ल कर दिया।

उठानी पड़ीं। लेकिन अब तक जो हुआ सो हुआ, मेरा विचार है कि अब हमें दिन पर दिन न्याय-संगत और उदार नीति अपनानी चाहिए। प्रमाण-पत्र आदि के लिए जो अर्जियां आई हैं, उनसे पता चलता है कि जो सरकार के वफादार रहे और जिन्होंने आगरा के संकट के दिनों में भी हमारा साथ दिया, वे भी मुसीबत में हैं और उनके परिवार अब भी दिल्ली से बाहर खण्डहरों और गांवों में खुले मैदानों में जीवन की अन्य सुविधाओं के बिना दिन काट रहे हैं। नगर में वापस आने के लिए अपने आपको निर्दोष सिद्ध करने का जो नियम है, वह इसके लिए बड़ी कठिनाई पैदा कर रहा है।"[१२९] सैनिक अधिकारी आदमियों की कमी की वजह से शहर की सुरक्षा का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेने में असमर्थता प्रकट कर रहे थे। दरवाजे पर पहरे का प्रबन्ध कर सकने के कारण दो को छोड़ कर शहर के बाकी सभी दरवाजों को बन्द कर दिया गया था। कश्मीरी दरवाजा आने वालों के लिए और लाहौरी दरवाजा जाने वालों के लिए खुला था, लेकिन कहा यह जा रहा था कि बनियों और कायस्थों को वापस आने देने में कोई हर्ज नहीं है क्योंकि उनसे किसी तरह की हानि की कोई आशंका नहीं थी। सैनिक अधिकारी जोर दे रहे थे कि पिछले शासन के सभी समर्थकों पर जुर्माना किया जाना चाहिए। सामान्य रूप से यह धारणा थी कि हिन्दू अंग्रेज़ों की तरफ ज्यादा झुके हुए थे और मुसलमान अंग्रेज़ों के विरुद्ध थे। इसलिए हिन्दुओं पर जुर्माना न किया जाए। हिन्दुओं में व्यापारी वर्ग के कुछ लोगों को तो शहर में लौट आने की इजाजत भी दे दी गई थी, लेकिन अब भी जो लोग शहर से बाहर थे उन्हें जाड़े में खुले में रहने की वजह से बहुत कष्ट भोगने पड़ रहे थे। अन्त में यह अनुभव किया गया कि सामान्य रूप से कोई जातिविशेष अंग्रेज़ों के विरुद्ध हो, ऐसी बात नहीं थी। अपवाद दोनों में ही हो सकते थे। अगर सभी मुसलमानों को दण्ड दिया जाता तो कुछ वफादार लोगों को भी नुकसान उठाना पड़ता और यदि सभी हिन्दुओं को हर प्रकार के दण्ड से मुक्त कर दिया जाता तो बहुत-से हिन्दू विद्रोही भी बच निकलते। इसलिए यह तय किया गया कि जो भी नागरिक लौटना चाहें, वे जुर्माना अवश्य दें लेकिन यह जुर्माना जाति के आधार पर अलग-अलग निश्चित होना चाहिए। मुसलमानों को अपनी असल सम्पत्ति का पच्चीस प्रतिशत देना पड़ता था और हिन्दुओं को इससे पन्द्रह प्रतिशत कम।[१३०] दिल्ली लौटने वालों के पास दीवारों और खाली मकानों के अलावा रह ही क्या गया था? इसके बाद दिल्ली को पंजाब के साथ मिला दिया गया। ग़दर से पीड़ित अभागे लोगों को अपने पुरखों के घर ले आने और उजड़ी हुई दिल्ली को फिर से बसाने का श्रेय सर जान लारेंस और नागरिक अधिकारियों को है।

---

१२९. कोल्डस्ट्रीम और म्योर, उद्धृत ग्रन्थ, जिल्द १, पृ० २७१

१३०. आर० टैम्पल, पंजाब के चीफ़ कमिश्नर जी० एफ़० एडमन्स्टन के सचिव, भारत सरकार के विदेश-सचिव, २१ अप्रैल, १८५८, फ़ारेन पोलिटिकल कन्सल्टेशन्स संख्या २३-३२, १८ मार्च १८५९

परिशिष्ट

फ़ारेन सीक्रेट कन्सल्टेशन्स (विदेशी गुप्त परामर्श), सं० ५२४, २६ जनवरी, १८५८

कर्नल एच० पी० बर्न,
सैनिक गवर्नर, दिल्ली

मान्यवर,

आपके सूचनार्थ सविनय निवेदन है कि मैं चांदनी चौक बाजार में रहता हूं और सरकारी तथा निजी काम से मुझे प्रायः कई बार शहर की सड़कों से होकर गुजरना पड़ता है और किले में जाना होता है। इस सिलसिले में मेरे सामने जो कठिनाइयां आती रही हैं और मुझे जिन खतरों का सामना करना पड़ा है, उनसे बचने के लिए आपसे प्रार्थना करने के सिवाय मेरे पास कोई और चारा नहीं है, क्योंकि मैं और इस देश के निवासी आपकी ही छत्रछाया में रहते हैं।

एक महीने से भी अधिक समय हुआ, मुझे कुछ कागजातों का फारसी से अंग्रेजी में अनुवाद करने के लिए गिरजाघर के पास श्री मर्फी के घर जाने का आदेश मिला। जब मैं शस्त्रागार से गिरजाघर की ओर जाने वाली सड़क से गुजर रहा था तो मैंने देखा कि गवर्नमेण्ट कालेज के पीछे हामिद अली खां की मस्जिद में खड़े हुए कुछ अंग्रेज अफसर आने-जाने वाले भारतीयों पर गुलेल से ढेले मार रहे थे। मैंने उन्हें बहुतेरा समझाया कि मैं ईसाई हूं, और सरकारी नौकर हूं, पर उन्होंने एक न सुनी बल्कि इस पर वे और भी ज्यादा भड़क उठे और मुझे गाली देने लगे तथा वे और भी ज्यादा जोर से ढेले मारने लगे। उसके बाद मैंने उस सड़क से जाना छोड़ दिया। लेकिन १३ या कुछ और अधिक दिन बाद मुझे उसी मस्जिद के पास एक गली में कुछ किताबों की तलाश में जाना था जिसके लिए मुझे प्राइज़ एजेंट डा० जेम्स ने नियुक्त किया था। उस दिन की तरह मुझ पर फिर हमला किया गया हालांकि मेरे साथ प्राइज़ एजेंट के दो चपरासी थे, और मैंने चिल्ला कर इन अंग्रेज अफसरों को बताया कि मेरे पास प्राइज़ एजेंट का प्रमाण-पत्र है। इसके बाद मुझे इस बात से और भी अधिक खेद हुआ कि केवल सुनसान सड़कों पर ही नहीं, अपने घर में भी मैं सुरक्षित नहीं हूं। कोई बारह दिन हुए, रात को नौ बजे मैं अपने दो मित्रों के साथ बातचीत कर रहा था। बातचीत भी हमारी इस प्रश्न पर हो रही थी कि देश में विद्रोह से पहले जैसी शान्ति कैसे स्थापित हो सकती है। इस बातचीत का सूत्र हमें अंग्रेज़ी अखबारों में छपे इंग्लैण्ड के

लार्ड एलनबरो के विचारों से प्राप्त हुआ था। हम इस तरह बातचीत कर ही रहे थे कि अचानक मेरे मकान के दरवाजों और दीवारों पर कई बार पत्थर और कंकड़ आ कर लगे। एक पत्थर तो बड़े जोर से मेरे बिस्तर पर आ कर पड़ा और जब यह निश्चय हो गया कि ठीक सामने के मकान में रहने वाले अंग्रेज़ अफसर और उसके साथियों ने यह सब किया है तो हमने मकान के सारे दरवाजे बन्द कर दिए और बातचीत समाप्त कर दी। सोचा, हमारे जोर से बातचीत करने से शायद उनके आराम में खलल पड़ा हो। दिन में फिर इन अंग्रेज़ अफसर महोदय और उनके मित्रों ने ऐसा ही किया। एक दिन रात को जब मैं और मेरे मित्र सो रहे थे और सब दरवाजे बन्द थे तो लगभग ११ बजे दरवाजों पर कंकड़ पड़ने की आवाज आई। मेरी आंख खुल गई, कुछ क्षण तक यह शोर रहा, फिर बन्द हो गया। पिछले इतवार की शाम को पांच बजे भी मकान पर, मुझ पर और मेरे मित्रों पर इसी तरह हमला हुआ। दरवाजे बन्द करने का बस इतना ही फायदा हुआ कि चोट नहीं लगी। मंगलवार की शाम को भी ऐसा ही हुआ।

पिछले सोमवार की शाम की बात है, कुछ अंधेरा या झुटपुटा-सा था, मैं मेजर एच० लुई के पास से होकर लौट रहा था जो अभी हाल ही में आए थे और एडवर्ड कैम्पबेल के मकान में ठहरे हुए थे। जब मैं दीवाने आम के चौक में से गुजर रहा था तो एक अंग्रेज़ घुड़सवार अफसर ने मेरे सर पर बड़े जोर से डंडा मारा। इस अफसर के साथ एक और घुड़सवार था। डंडा मारने के बाद वह मेरी तरफ मुड़ा और मुझसे सलाम करने के लिए कहा। एक सलाम की बात तो दूर रही मैंने कई सलाम किए और मैंने जोर से यह भी कहा कि मैं ईसाई हूं और प्राइज़ एजेंसी में नौकर हूं। इसके बाद वह अंग्रेज़ अफसर मुझे गाली देता हुआ और 'काला आदमी' कहता हुआ दीवाने खास की तरफ मुड़ गया।

चोट लगने पर मैं भौंचक्का-सा रह गया। जिस जगह मेरे सर पर डंडा पड़ा था वहां एक क्षण रुक कर मैंने यह देखना चाहा कि यह अफसर कौन था? मुझे खड़े देख कर वह अफसर घोड़े को दौड़ाता हुआ फिर वापस आया और घोड़े से उतर कर उसने मेरी बांह और पीठ पर छड़ी से मारा और मुझे विवश होकर वहां से चला जाना पड़ा। जहां तक अंग्रेज़ अधिकारियों को सलाम करने का सम्बन्ध है, मैं चाहे किसी को जानूं या न जानूं, हमेशा सलाम करता हूं। हां, यदि मुझे आभास हो जाए कि मेरे सलाम की ओर उनका ध्यान न जाएगा तो और बात है, और प्रायः होता यही है कि सलाम का जवाब नहीं मिलता।

आठ मई (वास्तव में जून?) और छावनी में अंग्रेजों के शिविर गड़ने से पहले और १२ मई को उसमें मेरी नियुक्ति होने से पहले मैं गांवों में रहता था, जहां निर्दय और अपमानपूर्ण व्यवहार का और यहां तक कि जान चली जाने का खतरा अधिक था। पर उस समय मैंने यह सोचकर सब्र कर लिया था कि बहुत-से बड़े और बुद्धिमान अंग्रेज़ सैनिक और असैनिक अफसर तथा धर्म-प्रचारक अपनी पत्नियों सहित दिल्ली में विद्रोहियों और बदमाशों के हाथ कत्ल हो गए—मेरी तो बिसात ही क्या है। मैं यह भी सोचता था कि अगर विद्रोहियों ने मुझे मार भी दिया तो वे यही सोच कर मारेंगे कि इसने अपने पूर्वजों का धर्म छोड़

कर ईसाई धर्म अपना लिया। ऐसी स्थिति में मैं उन मसीहों, शहीदों और देवदूतों की तरह मरूंगा, जिन्होंने धर्म पर अपने प्राणों की आहुति दे दी थी। सब तरह के खतरों और कड़ी परीक्षा की घड़ियों में मुझे यही सन्तोष था, पर जब एक भारतीय ईसाई को ईसाई अधिकारियों से ही खतरा हो और वह भी सिर्फ इसलिए कि वह इंग्लैण्ड में पैदा नहीं हुआ और उसकी चमड़ी गोरी नहीं है तो फिर क्या आत्मसन्तोष हो सकता है। मिथ्या धर्म के मानने वाले दिल्ली के विद्रोहियों में भी ऐसी बात नहीं थी। वे किसी हिन्दू या मुसलमान के साथ भाई जैसा बरताव करते थे, उन्हें तो बस ईसाइयों और उनके मित्रों से नफरत थी। मेरी यह अपील केवल भारतीय ईसाइयों की रक्षा के लिए ही नहीं है, क्योंकि दिल्ली में ईसाई तो बहुत थोड़े-से हैं, वरन् हिन्दुओं और कुछ मुसलमानों के लिए भी है जो शहर में रहते है और जिन्हें अंग्रेज सिपाहियों विशेषकर अंग्रेज अफसरों से खतरा बना रहता है

दिल्ली
२७ नवम्बर १८५७,

आप का······················आदि
हस्ताक्षर : रामचन्द्र
प्राइज एजेंसी में नियुक्त

पुनश्च—

कल शाम मेरा एक परिचित हिन्दू दरियागंज के धुनिए से रुई भरवा कर दो नए लिहाफ लेकर आ रहा था। एक घुड़सवार अंग्रेज़ अफसर दो साईसों के साथ उसे रास्ते में मिला। इस अंग्रेज अफसर ने उससे एक लिहाफ जबर्दस्ती छीन कर अपने साईसों को दे दिया और घोड़े को सरपट दौड़ाता हुआ आगे चला गया। मेरा यह परिचित इस अफसर के पीछे चिल्लाता हुआ भागा। इस पर एक साईस ने उसे आगाह किया कि अगर वह साहब के पीछे इस तरह शोर मचाता हुआ भागेगा तो वह लौट कर उसे मार लगाएगा। इस पर उसने चुपचाप घर आने में ही खैर समझी। ये दोनों लिहाफ मेरे थे और मेरे इस मित्र ने उन्हें भरवा कर लाने का काम अपने ऊपर लिया था। मुझे इस अफसर का धन्यवाद ही करना चाहिए कि वह एक ही लिहाफ लेकर सन्तुष्ट हो गया, दोनों ही नहीं ले गया।

अध्याय ४

कानपुर

दिल्ली का अपना शाही घराना था। कानपुर महाराष्ट्र के एक राज परिवार से नेतृत्व की आशा लगाए हुए था। नवम्बर १८१७, में पेशवा बाजीराव द्वितीय ने भारत में अंग्रेजी राज्य को चुनौती दी। मई तक उसकी स्थिति इतनी खराब हो गई कि कुछ शर्तों पर उसे सुलह करनी पड़ी। उसे उसके साम्राज्य से दूर ले जाकर बसाने की आवश्यकता पड़ी। उसे बनारस पसन्द था लेकिन वहां पहले से ही बहुत-से निर्वासित राजा थे और एक शक्तिशाली हिन्दू साम्राज्य के राजा को हिन्दुओं के तीर्थ-स्थान पर रहना उचित नहीं समझा गया, क्योंकि वहां उसे अपनी पुरानी प्रजा के बहुत-से लोगों से निर्बाध रूप से सम्पर्क बनाए रखने का अवसर मिलता। अंग्रेज़ सरकार ने मुंघेर और गोरखपुर का सुझाव दिया, लेकिन मुंघेर बहुत गर्म था जहां रहने में पेशवा को आपत्ति थी और गोरखपुर में कोई प्रसिद्ध मंदिर न था। उसे जमना के किनारे की कोई जगह पसन्द थी, जैसे मथुरा, और यदि अंग्रेजों को आपत्ति न हो तो उसके आस-पास के किसी और शहर में भी पेशवा रहने को तैयार था। पेशवा अपने खानदानी शत्रुओं के बीच दिल्ली में भी रहने को तैयार था, लेकिन सरकार ने उसके लिए कानपुर से कुछ मील दूर बिठूर नामक स्थान ठीक समझा और अंत में वह वहां बस गया। उसे एक जागीर दे दी गई जहां के निवासियों को १८३२ के नियमन १ द्वारा देश की सामान्य दीवानी और फौजदारी अदालतों के अधिकार-क्षेत्र से मुक्त कर दिया गया। आठ लाख रुपया वार्षिक पेन्शन "उसके और उसके परिवार के जीवन-निर्वाह के लिए" बांध दी गई। पेशवा ने भी धीरे-धीरे अपने आपको निर्वासन के इस नीरस जीवन का आदी बना लिया। उसके आश्रितों की संख्या अब भी बहुत अधिक थी और वे सब उसे अब भी राजा जैसा ही सम्मान देते थे। पेशवा को सबसे अधिक बुरा यह लगा कि सरकार ने पन्त प्रधान की उसकी पुरानी पदवी को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया और सरकारी पत्र-व्यवहार में उसे 'महाराजा' लिखकर सम्बोधित किया जाने लगा। बाजीराव पेशवा ने बचाकर जो धन एकत्र कर रखा था वह इतना था कि वह उदारता से सरकार को कर्ज दे सकता था, लेकिन यह उसे बहुत बुरा लगा कि सरकार ने उसके घसियारों पर टैक्स लगा दिया जो उसकी हैसियत के राजा के लिए अदा करना अपमान-जनक था। छोटे-मोटे करों पर एक अपदस्थ शासक का इस तरह आपत्ति करना अंग्रेजों की समझ में न आया, लेकिन भारतीय हृदय पर भौतिक कठिनाइयों की अपेक्षा भावना को ठेस पहुंचाने वाले कार्य से अधिक चोट पहुंचती थी। बाजीराव अंग्रेजों के लिए बराबर चिन्ता का कारण बना रहा। कभी तो उसके बारे में यह अफवाह फैलती कि वह नेपाल के राजा

के साथ मिलकर कोई षड़यंत्र कर रहा है और कभी यह कहा जाता कि वर्मा और तिब्बत के साथ मिलकर कोई जाल रचा जा रहा है। बाजीराव पेशवा एक ऐसे परिवार में जन्मा था जिसके लोग अधिक दिन नहीं जिए और जब उसने समर्पण किया था, उस समय उसका स्वास्थ्य ठीक नहीं था और भारत सरकार की धारणा यह थी कि उस पर अधिक दिन तक रुपया नहीं खर्च करना पड़ेगा। लेकिन बिठूर में उसने जो मस्ती का जीवन बिताया, उससे उसकी आयु के वर्ष ७० से भी अधिक बढ़ते गए और वह जनवरी १८५१ तक जीवित रहा।

अपनी किसी सन्तान के उत्तराधिकारी न बन सकने के कारण उसने तीन पुत्र गोद लिए—धोंडू पन्त उर्फ नाना, सदाशिव पन्त उर्फ दादा, और गंगाधर राव उर्फ बाला। बाजीराव की मृत्यु के समय नानासाहब और बाला साहब जीवित थे, दादा साहब पहले ही स्वर्ग सिधार गया था। उसने अपने पीछे पाण्डुरंग राव नामक पुत्र छोड़ा जो राव साहब के नाम से अधिक प्रसिद्ध हुआ। बाजीराव, योग बाई और कुसुम बाई नामक दो नाबालिग लड़कियां भी छोड़ गया था। उसका एक पड़नाती, जो उसके भाई चिमन जी अप्पा की पुत्री द्वारका बाई का पुत्र था, स्वर्गीय बाजीराव के मान्यताप्राप्त आश्रितों में से एक था। बाजीराव ने १८३९ में एक वसीयतनामा किया था, जिसमें वह अपनी पदवी और जागीर अपने ज्येष्ठ दत्तक पुत्र नाना साहब के नाम कर गया था।[1]

नानासाहब के बचपन और उनकी शिक्षा-दीक्षा के बारे में हमें कुछ पता नहीं चलता। जितने भी लोग उन्हें जानते थे, उनमें से किसी ने भी उनमें कोई असाधारण प्रतिभा अथवा विशेष गुण होने की चर्चा नहीं की है। जान लैंग को कुछ दिनों तक उनके अतिथि होने का अवसर मिला था। उसने नानासाहब को बहुत ही साधारण प्रतिभा वाला व्यक्ति बताया है। उसने लिखा है, "मुझे लगा कि यह आदमी बहुत योग्य नहीं है, पर मूर्ख भी नहीं है। वह स्वार्थी है, पर इसमें आश्चर्य की क्या बात है, प्रत्येक हिन्दुस्तानी ऐसा ही है। मुझे लगा कि वह धर्म के मामले में भी बहुत कट्टर नहीं है।"[2] हेनरी मैटकाफ़ ने लिखा है कि मैंने उन्हें गिरजे में जाते देखा। उसका कहना है, "जब हम कानपुर से लखनऊ रवाना हुए थे तो मैंने नानासाहब को अपनी रेजीमेण्ट के साथ इतवार के दिन गिरजे जाते देखा। यद्यपि इस बात पर विश्वास करना कठिन है, लेकिन यह वास्तविकता है। मैंने उन्हें भूरे रंग के दो बढ़िया घोड़ों की फिटन में जाते देखा था।"[3] यदि लैंग या उसे खबर देने वाले नानासाहब के खानसामे का विश्वास किया जाए तो यह मानना पड़ेगा कि इस ब्राह्मण राजा को अपने यूरोपीय अतिथियों के भोजन में किसी भी प्रकार का मांस परोसे जाने में आपत्ति नहीं थी। "महाराजा प्रायः यूरोपीय अतिथियों का आदर-सत्कार किया करते थे। यद्यपि वह स्वयं कट्टर हिन्दू थे लेकिन उन्हें इस बारे में कोई पूर्वाग्रह नहीं था, अगर मुझे दूसरे मांस की अपेक्षा गाय का मांस पसन्द था तो मैं उसे मंगा सकता था।" मौब्रे थामसन

---

१. गुप्त, दि लास्ट पेशवा एण्ड दि इंगलिश कमिश्नर्स, पृ० १०५ १०७।

२. लैंग, वांडरिंग्स इन इण्डिया एण्ड अदर स्केचेज़ आफ़ लाइफ़ इन हिन्दुस्तान, पृ० ११६

३. टकर, दि क्रानिकल आफ़ प्राइवेट हेनरी मैटकाफ़, पृ० १६

ने नानासाहब के बारे में लिखा है कि वह "मंझले कद का, बहुत मोटा और गेहुंए रंग का एवं उभरे हुए नक्श का आदमी था और अन्य सब मरहठों की तरह वह अपनी दाढ़ी-मूंछ और घुटा हुआ सिर रखता था। वह अंग्रेज़ी का एक शब्द भी नहीं बोल सकता था।"[४] शेरर ने "धोंडू पन्त के बहुत-से परिचितों, विशेषकर उनके डाक्टर जे० एन० त्रेसीद्दर से यह सुना था कि धोंडू पन्त बहुत नीरस आदमी था। तीस या चालीस के बीच की आयु का, मझौले कद का, चौड़े-चपटे नक्श का और निरंतर मोटा होता जाने वाला यह आदमी अगर तिकोनी मराठा पगड़ी न पहनता होता तो वह बाजार के एक मामूली दुकानदार जैसा लगता। वह पगड़ी भी अच्छी तरह नहीं बांधता था। वह अंग्रेज़ी नहीं बोलता था। सोचने की मुद्रा में भी वह ऐसा नहीं लगता था कि किसी काव्य-चिन्तन में निमग्न हो।"[५] टाड नामक एक अंग्रेज़ उन्हें अखबार और पत्रिकाएं पढ़ कर सुनाया करता था। सामान्य दिनों में एक अपदस्थ राज परिवार के नाममात्र के राजा से लोग अधिक आशा भी नहीं रखते थे, इसलिए यह संभव है कि नानासाहब का जीवन शांति के साथ एकान्त में ही व्यतीत हो गया हो।

यह नहीं कहा जा सकता कि बाजीराव ने अपने परिवार के लिए काफी रुपया बचा लिया होगा। सरकारी अनुमान के अनुसार उन्होंने जो सम्पत्ति छोड़ी, वह नकद और जायदाद दोनों मिलाकर, तीस लाख रुपये से अधिक की नहीं थी।[६] नाना को इसी रकम से अपने पिता का सारा ठाठ-बाट कायम रखना था और अपने अनेक आश्रितों का निर्वाह करना था। मोरलैण्ड का, जो नाना को अच्छी तरह जानता था, विश्वास था कि उसकी अपनी आय में नानासाहब का काम नहीं चल सकता था, "हालांकि वह सीधा-सादा आदमी था और उसकी खर्चीली आदतें भी नहीं थीं।"[७] "लेकिन सरकार बाजीराव के जीवन काल में ही यह बात स्पष्ट कर चुकी थी कि उसके उत्तराधिकारी उसकी पेन्शन में से कुछ भी पाने के हकदार नहीं होंगे। इसी नीति के अनुसार सन् १८३२ में चिमन जी अप्पा की मृत्यु के बाद सरकार ने उनकी पेन्शन, उनकी विधवा और उनकी पुत्री को देने से इन्कार कर दिया था।"[८] नानासाहब को यदि अंग्रेज़ों की उदारता और न्याय में अटूट विश्वास होता तो बात और थी, वैसे ऐसी स्थिति में बाजीराव की मृत्यु के बाद उसकी पेन्शन का बन्द हो जाना उसके लिए कोई आश्चर्य की बात न थी। बहुत-से अंग्रेज़ों का यही कहना था कि कानूनी दायित्व के बारे में स्थिति चाहे जो भी रही हो, न्याय की भी यही मांग थी कि पेन्शन का कुछ भाग बाजीराव के परिवार को मिलते रहना चाहिए था। नाना-

४. थामसन, दि स्टोरी आफ़ कानपुर, पृ० ४६

५. माड और शेरर, मेमोरीज़ आफ़ दि म्यूटिनी, जिल्द १, पृ० २१५

६. गुप्त, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ६३

७. गुप्त, वही, पृ० ६६

८. सरदेसाई का यह कथन सही नहीं है कि चिमनजी १८३० में मरे। मराठी रियासत, उत्तर विभाग, जिल्द ३, पृ० ५६५। गवर्नर जनरल के एजेंट ने अपने २ जून, १८३२ के पत्र में सही तारीख बताई है। फ़ारेन पोलिटिकल कन्सल्टेशन्स, सं० ४८, १८ जून, १८३२

साहब और उसके समर्थकों का कहना था कि यह पेन्शन बाजीराव को "उनके अपने और उनके परिवार के निर्वाह के लिए दी गई थी" और अब पेन्शन पाने का उनके परिवार का कानूनी अधिकार था, और बाजीराव ने अपने जीवनकाल में क्या कुछ बचाया, इस बात का पेन्शन से कोई सम्बन्ध नहीं था।

दुर्भाग्यवश परिवार में ही फूट पड़ गई। दोनों नाबालिग लड़कियों की ओर से उनके बाबा बलवन्तराव अठावले ने पेन्शन के लिए दावा पेश किया। उन्होंने इस दावे में यह दलील दी कि असली पुत्र न होने की स्थिति में हिन्दू कानून के अनुसार पुत्रियों को पुत्र जैसा ही अधिकार प्राप्त है, इसलिए इन पुत्रियों का हक मार कर दत्तक पुत्र को पेन्शन नहीं दी जा सकती।[९] सरकार इस विचार से सहमत नहीं हो सकी और प्रार्थी को बताया गया कि धोंडू पन्त ही पेशवा परिवार का कानूनी और वास्तविक मुखिया था। पेशवा की विधवाओं ने इस कुचक्र में क्या योग दिया, यह तो पता नहीं लेकिन ऐसा सहज ही विश्वास किया जा सकता है कि उनकी अपनी योजना थी और इस योजना में संभवतः चिमन जी अप्पा के पौत्र युवक चिमन जी थट्टे का भी हाथ था। स्वर्गीय पेशवा के आश्रितों और सेवकों में भी कुचक्री लोगों की कमी न थी जो इस पारिवारिक कलह से लाभ उठाना चाहते थे, और उन्हें पास के औद्योगिक शहर में उनका साथ देने वाले काफी लोभी व्यक्ति भी मिल गए।

सन् १८३२ के जिस नियमन के अधीन बाजीराव और उनकी जागीर बिठूर में रहने वाले लोगों को सामान्य अदालतों के अधिकार-क्षेत्र से मुक्त किया गया था वह भी पेशवा के मरते ही समाप्त कर दिया गया। फरवरी १८५२ में एक अधिनियम पास करके इस नियमन को रद्द कर दिया गया। इससे नानासाहब और उनके भाई का दर्जा सामान्य व्यक्तियों जैसा तो कर ही दिया गया, साथ ही उनका अब अदालत में भी हाजिर होना संभव कर दिया गया। इस अपमानजनक स्थिति को भी उन्होंने संभवतः धीरे-धीरे सहन कर लिया होता, लेकिन उन्हें यह देख कर अत्यन्त खेद हुआ कि बाजीराव की मृत्यु के बाद उनके परिवार के पास कहीं भी एक इंच भूमि भी नहीं रह गई थी।[१०] जब कोई पेशवा मरता था तो उसके ब्राह्मणों को श्राद्ध में उसके वंशज पांच महादान करते थे—हाथी, घोड़े, सोना, जवाहरात, और भूमि। बाजीराव का श्राद्ध भी उसके पूर्वजों की भांति उसी ठाट से किया गया लेकिन महादान के लिए उसके उत्तराधिकारी के पास भूमि नहीं रह गई थी। सरदार रघुनाथ राव विंचूरकर उस समय बिठूर में ही था। जब उसने यह देखा कि ब्राह्मणों को भूमि नहीं दी जा सकी है तो उसे बहुत दुःख हुआ। उसने नानासाहब को विनम्रतापूर्वक सुझाव दिया कि जब सब महादान किए गए हैं तो भूमि का महादान ही क्यों छोड़ा जाए। उसने कहा कि उसकी जागीर और इनाम में मिले उसके ५२ गांव वास्तव में पेशवा के ही हैं और नानासाहब उनमें से जितने

९. सेन और मिश्र, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० २९-३३ (इन्ट्रोडक्शन) और डोक्यूमेण्ट सं० २३

१०. बिठूर की भूमि में केवल नाना के जीवनपर्यन्त ही उनका हित रखा गया था।

गांव चाहें, ब्राह्मणों को दे दें। अपने परिवार के प्रति इस असाधारण भक्ति का प्रदर्शन देख कर नाना द्रवित हो उठे और उनकी आंखों से आंसू बह निकले।[11] अंग्रेज अफसरों में कोई भी इतना दूरदर्शी नहीं था जो इस प्रकार की सहायता का प्रस्ताव करता और अभागे युवराज को सदा के लिए सरकार का कृतज्ञ बना लेता।

यह बात प्रायः भुला दी जाती है कि कभी कभी मामूली-सी रियायतें भी भावुक प्रकृति के लोगों को सान्त्वना देने में बड़ी सहायक होती हैं। नाना को अपने स्वर्गीय पिता की मुहर का प्रयोग करने की अनुमति दी जा सकती थी। सर्वसाधारण की दृष्टि में वह पेशवा के जायज़ उत्तराधिकारी थे और अंग्रेज़ भी उन्हें महाराजा कह कर सम्बोधित करने की शिष्टता बरतते थे। अगर उनके पत्रों पर पेशवा की मुहर रहती तो इससे उनका राजनीतिक दर्जा कुछ अधिक न बढ़ जाता। लेकिन बिठूर के कमिश्नर मोरलैण्ड ने विरोध किया और नाना को नई मुहर बनवानी पड़ी, जिसमें उन्होंने अपने आपको पेशवा बहादुर लिखा। नई मुहर और भी अधिक उत्तेजित करने वाली थी और इसके प्रयोग की मनाही कर दी गई, अब निराश होकर नानासाहब को श्रीमान् नाना धोंडू पन्त बहादुर की ही पदवी पर संतोष करना पड़ा।[12] पेन्शन बन्द हो जाने से नाना निराश तो पहले ही हो गए थे, अब अपना पद गिर जाने से उनमें कटुता का भाग भी उत्पन्न हो गया।

उन दिनों रियासतों के राजा-महाराजा भारत सरकार के विरुद्ध ब्रिटिश सरकार से और सपरिषद् गवर्नर-जनरल के विरुद्ध कोर्ट आफ़ डायरेक्टर्स से अपील करने के आदी थे। अन्य पदच्युत राजाओं की तरह नाना ने भी यही सोचा कि अगर उनका मामला इंग्लैण्ड के शासकों के सामने अच्छी तरह रखा जाए तो शायद उनके साथ कुछ न्याय हो सके। उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त के लेफ्टिनेन्ट गवर्नर और सपरिषद् गवर्नर-जनरल के नाम बार-बार स्मरण पत्र भेजने का जब कोई परिणाम न निकला तो उन्होंने कोर्ट आफ़ डायरेक्टर्स को अर्जी भेजी। जब इस कोर्ट ने भी भारत सरकार के निर्णय में संशोधन करने से इन्कार कर दिया तो उन्होंने अपना एक प्रतिनिधि इंग्लैण्ड भेजा। बार-बार की दुत्कार ने उनका दिल अभी ख़ट्टा नहीं किया था, चाहे उनका प्रयत्न व्यर्थ भले ही हो, पर फिर भी वे आशा के सहारे जीवित रहना ही पसन्द करते थे। उनका प्रतिनिधि अज़ीमुल्ला ख़ां बड़ा अद्भुत आदमी था। उसके लिए यह कोई अपमान की बात न थी कि वह एक छोटे खानदान का आदमी था। एक समय वह खिदमतगारी करके अपना जीवन-निर्वाह करता था। उसने खुद पढ़-लिख कर अपनी दशा सुधारी। उसने अंग्रेज़ी और फ्रेंच भाषा पढ़नी, लिखनी और बोलनी सीखी और एक स्कूल में अध्यापक हो गया। जिस आदमी ने बहुत-सी कठिनाइयों में अपना जीवन शुरू किया हो उसके लिए यह कोई मामूली सफलता न थी।[13] अज़ीमुल्ला ख़ां की सूरत-शक्ल भी अच्छी थी और

---

११. इतिहास संग्रह, ऐतिहासिक स्फुट लेख, भाग ३, पृ० २६

१२. फ़ारेन पोलिटिकल कन्सल्टेशन्स, ३० दिसम्बर, १८५८। मौब्रे थामसन और ट्रेविलियन का 'सीरीक ढोंड्र पुन्थ' शायद श्री धोंडू पन्त का ही अपभ्रंश है।

१३. वास्तव में अज़ीमुल्ला के प्रारम्भिक जीवन के बारे में कुछ अधिक मालूम नहीं

उसका व्यक्तित्व आकर्षक था, इस पर उसने बातचीत और बरताव के अच्छे तरीके भी सीख लिए थे, इसलिए इंग्लैण्ड पहुंचते ही उसे वहां के सभ्य समाज में पहुंच होने में कोई विशेष असुविधा न हुई। यह कोई कम श्रेय की बात नहीं है कि ब्रिटिश सभ्य समाज की प्रौढ़ स्त्रियों का उसे स्नेह प्राप्त हुआ और उसका रंग कुछ सांवला होते हुए भी नवयुवतियों ने उसे प्रेम और प्रशंसा का पात्र बनाया।[१४] लेकिन अज़ीमुल्ला जल्दी ही यह समझ गया कि उसके कथन का घुटे हुए ब्रिटिश राजनीतिज्ञों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ रहा है और ईस्ट इण्डिया कम्पनी के डायरेक्टरों की अपेक्षा महारानी के सलाहकारों पर भी उसके मालिक की बातों का अधिक अच्छा असर नहीं हो रहा। अज़ीमुल्ला खां ने स्वदेश लौटने का फैसला किया पर सामान्य लोगों की तरह वह सीधे भारत के लिए रवाना नहीं हुआ। उसने माल्टा में अंग्रेज और फ्रांसीसी संयुक्त सेनाओं पर रूसी सिपाहियों की विजय की

है। मौब्रे थामसन का कहना है, "अज़ीमुल्ला एक एंग्लो-इण्डियन परिवार में खिदमतगार था। अवसर से लाभ उठाकर उसने अंग्रेज़ी और फ्रेंच भाषा का अच्छा-खासा ज्ञान प्राप्त कर लिया। वह इन दोनों भाषाओं को अच्छी तरह लिख सकता था और इनमें अच्छी तरह बातचीत कर सकता था। पहले वह विद्यार्थी बना और फिर कानपुर गवर्नमेण्ट स्कूल में अध्यापक हो गया और इसके बाद वह नाना का वकील बना।" थामसन, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ५४। शेफ़र्ड ने इस बारे में कुछ और ही कहा है, "अज़ीमुल्ला खां दान के टुकड़ों पर पला था। १८३७-३८ के अकाल में उसे अपनी मां के साथ ले आया गया था। उस समय वे भूखे मर रहे थे। उसकी मां एक कट्टर मुसलमान होने की वजह से अपने लड़के को, जो उस वक्त बच्चा ही था, ईसाई बनाए जाने के विरुद्ध थी। उसकी शिक्षा-दीक्षा कानपुर फ्री स्कूल में श्री पैटन नामक अध्यापक की देख-रेख में हुई और सहायता के तौर पर उसे तीन रुपया मासिक मिलता था। उसकी मां आया का काम करके अपना जीवन निर्वाह करती थी। दस साल की पढ़ाई-लिखाई के बाद अज़ीमुल्ला उसी स्कूल में अध्यापक हो गया। दो साल बाद वह ब्रिगेडियर स्काट का मुंशी हो गया। जब ब्रिगेडियर स्काट जाने लगे तो उन्होंने अज़ीमुल्ला खां को अपने उत्तराधिकारी का मुंशी बना दिया। ब्रिगेडियर ऐशबर्नहम के साथ अज़ीमुल्ला ने ठीक बरताव न कर उसे नाराज कर दिया और फिर वह रिश्वत तथा भ्रष्टाचार के आरोप में निकाला गया, फिर वह नाना के पास आ गया।" शेफ़र्ड परसनल नेरेटिव आफ़ दि आउटब्रेक एण्ड मैसेकर एट कानपुर, पृ० १४,

१४. इंग्लैण्ड में अज़ीमुल्ला की प्रेम कहानियों से भारत के अंग्रेज़ अफसरों में बड़ा क्षोभ फैल गया। लार्ड राबर्ट्स ने ३१ दिसम्बर, १८५७ को अपनी बहन के नाम एक पत्र में लिखा, "उस दिन बिठूर में नाना साहब के महल की तलाशी लेते समय हमें उस दुष्ट अज़ीमुल्ला खां के नाम इंग्लैण्ड की महिलाओं के पत्रों का एक गट्ठर मिला। एक पत्र ऐसी स्त्री का था जिसके नीचे "तुम्हारी स्नेहमयी माता" लिखा हुआ था। एक पत्र ब्राइटन से मिला यह एक लड़की का था जिसमें प्रेम की बातें लिखी हुई थीं। इस पत्र का कुछ भाग फ्रेंच में लिखा था। ऐसी बकवास मैंने कहीं भी नहीं पढ़ी। मालूम होता है यह दुष्ट फ्रेंच भी

खबर सुनी और तुरन्त ही उसने कुस्तुनतुनिया के लिए टिकट खरीद लिया। कुस्तुनतुनिया में अज़ीमुल्ला ख़ां की भेंट प्रसिद्ध पत्रकार विलियम हावर्ड रसेल से हुई। रसेल ने इस जिज्ञासु मुसलमान का एक शब्द-चित्र इस प्रकार खींचा है: "कुछ दिन के लिए मैं कुस्तुनतुनिया गया था। वहां मैं मिसीरी के होटल में ठहरा हुआ था—इस होटल में मैं प्रायः दुबले-पतले, काले रंग के एक खूबसूरत नवयुवक को देखता था। यह युवक पूर्वी वेशभूषा में रहता था जो मेरे लिए नई थी। उंगलियों में अंगूठियां आदि पहने हुए यह युवक बड़ी सजधज के साथ निकलता था। वह फ्रेंच और अंग्रेज़ी बोलता था। जहां तक मैं समझता हूँ, यह भारत की किसी रियासत का राजा था जो लंदन में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के विरुद्ध एक असफल दावा पेश करने के बाद लौट रहा था।" अज़ीमुल्ला ने क्रीमिया होकर आने की कोशिश की क्योंकि वह "महान रुस्तमों—वीर रूसियों को देखना चाहता था जिन्होंने अंग्रेज़ी और फ्रांसीसी, दोनों सेनाओं को एक साथ हराया था।" काफी दूर के फासले से उसने रूसी तोपखाने को काम करते देखा भी था। धार्मिक विधि-निषेधों को महत्व न देते हुए रसेल से उसने एक बार कहा, "मैं इस तरह की मूर्खतापूर्ण बातों में विश्वास नहीं करता। मेरा कोई मज़हब नहीं है।" बाद में रसेल ने कहा था, "क्या यह जिज्ञासा उत्पन्न करने वाली बात नहीं है कि क्रीमिया में जो कुछ हो रहा है, अज़ीमुल्ला ख़ां उसे स्वयं जा कर देखना चाहता था। यूरोपीयों में तो प्रायः इस प्रकार की जिज्ञासा होती है, लेकिन एक असैनिक जाति के एशियावासी में इस तरह की जिज्ञासा होना वास्तव में आश्चर्य का विषय है। अंग्रेज़ी सेना को उसने बड़े ही हतोत्साह की स्थिति में देखा और जैसा कि मैंने सुना है फ्रांसीसी सेना की अपेक्षा अंग्रेज़ी सेना के साहस और शक्ति के बारे में उसने कुछ विपरीत धारणा ही बनाई थी।"[१५]

इधर नानासाहब एक समृद्ध राजा की भांति सामान्य जीवन व्यतीत कर रहे थे। वे स्वयं अपनी इच्छा से कानपुर के अंग्रेज अफसरों का आतिथ्य-सत्कार करते और खूब उदारता से उन्हें खिलाते-पिलाते। कभी-कभी वे शहर से होकर निकलते लेकिन उनके यूरोपीय मित्र उसी तरह उनके आतिथ्य-सत्कार का बदला न चुका पाते थे क्योंकि, नानासाहब अंग्रेज़ों के साथ खाते-पीते न थे। लेकिन मौब्रे थामसन का कहना है कि अंग्रेज़ों के साथ उनके न खाने-पीने के पीछे धार्मिक भावना इतनी अधिक नहीं थी जितनी कि चोट खाए हुए अभिमान की भावना। "नानासाहब कानपुर छावनी के अफसरों का प्रायः बड़े राजसी ठाठ-बाट से स्वागत सत्कार किया करते थे, यद्यपि उसके बदले में वे अंग्रेज़ों का आतिथ्य-सत्कार स्वीकार नहीं करते थे क्योंकि उनके सम्मान में सलामी देने की प्रथा का

समझता होगा। अंग्रेज़ महिलाएं वासना के नशे में कितनी अंधी हो जाती हैं? कोई कुमारी ....अज़ीमुल्ला से शादी करने वाली थी और मुझे इसमें जरा भी सन्देह नहीं कि अब भी वह ऐसा करना पसन्द करेगी, हालांकि कानपुर के हत्याकांड में मुखिया व्यक्ति यही अज़ीमुल्ला ख़ां ही था।" राबर्ट्स, लेटर्स रिटन ड्यूरिंग दि इंडियन म्यूटिनी, पृ० १२०

१५ रसेल, उद्धृत ग्रन्थ, जिल्द १, पृ० १६५-१६७। उत्तर भारत के एक मुसलमान को असैनिक जाति का एशियाई कहना सही नहीं है।

पालन नहीं होता था।"[१६] चाहे जो भी वास्तविक कारण रहे हों, नानासाहब स्थानीय अधिकारियों का विश्वास प्राप्त करने में सफल रहे और जब संकट आया तो सब स्थानीय अधिकारी सहयोग एवं सहायता के लिए निस्संकोच उन्हीं के पास गए।

बाजीराव तो बनारस, प्रयाग और गया की यात्रा करके अपने नियंत्रित एवं निर्वासित जीवन की नीरसता को दूर कर लेते थे। यद्यपि उनकी गतिविधियों पर निगरानी रखी जाती थी, किन्तु वातावरण में परिवर्तन आने से कुछ न कुछ मन अवश्य बहल जाता है। नाना के पास दिल बहलाने के लिए उनके अपने अहाते में "तेज से तेज घोड़े, अच्छे से अच्छे कुत्ते, अनोखे अद्भुत प्रकार के हिरण और मृग तथा भारत के सभी भागों के जानवर थे।"[१७] लेकिन यह सब होते हुए भी उन्हें कुछ सक्रिय मनोरंजन की आवश्यकता अनुभव होती थी। सन् १८५६ के अंत में वे सैर के लिए लखनऊ गए। कैवेने उन्हें वहां मिले और रसेल ने लिखा है कि नानासाहब यात्रा के बहाने ग्रांड ट्रंक रोड पर सभी सैनिक केन्द्र देखने गए, यहां तक कि वे शिमला जाने का भी विचार कर रहे थे।[१८] नानासाहब के दल में अज़ीमुल्ला खां भी था। एक हिन्दू यात्री के साथ एक मुसलमान का होना बड़ी अजीब बात थी। रसेल ने एंग्लो-इण्डियन अधिकारियों के विवेक और बुद्धिमत्ता की आलोचना की है, जिनकी अनुमति के बिना नाना अपने महल से एक मील दूर भी नहीं जा सकते थे और भारत में आने वाला नया आदमी भी यह जानता था कि कालपी और लखनऊ हिन्दुओं के तीर्थस्थान नहीं हैं। सरकारी कागजातों से नानासाहब की यात्रा के कार्यक्रम पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता, लेकिन जनवरी १८५७ में जब मार्टिन्यू अज़ीमुल्ला से अम्बाले मिले तो उनके साथ नानासाहब नहीं थे। हो सकता है नानासाहब की यात्रा लखनऊ तक ही रही हो। यह तो स्पष्ट है कि सरकार की दृष्टि में जो लोग अवांछनीय थे, नानासाहब सम्भवतः उनसे न मिल सके हों। यह कहा जाता है कि उनकी गतिविधियों से सर हेनरी लारेंस को सन्देह हो गया और नानासाहब अचानक ही लखनऊ से चल पड़े।[१९] लखनऊ में नानासाहब जितने दिन रहे, सैनिक अधिकारियों से खूब मिलते-

---

१६. थामसन, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ४८। हार्वे ग्रेटहेड और उनकी पत्नी एक बार नाना के मेहमान हुए। उन्होंने श्रीमती ग्रेटहेड को लिखा "मैं समझता हूं कि हम सिर्फ एक बार बिठूर पिकनिक के दौरान इस दुष्ट के मकान पर ठहरे थे।" ग्रेटहेड, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १३८

१७. शेरर का कहना है कि हेनरी विलोक बिठूर से नाना के दो पालतू पशु लाया था–एक लंगूर और एक गिलहरी, जो छोटे-मोटे खरगोश जितनी बड़ी थी (शायद मालाबार की तरफ की होगी)। "माड और शेरर, उद्धृत ग्रन्थ जिल्द १, पृ० २२३। लेफ्टिनेन्ट ग्रूम के एक आदमी ने बिठूर में अंग्रेज़ी कुत्तों (बुलडाग) का एक जोड़ा देखा था। "यदि इन कुत्तों को बनाए रखा जाए तो कलकत्ते में इनके पांच सौ रुपये मिल सकते हैं।" ग्रूम, विद हैवलाक फ्राम इलाहाबाद टु लखनऊ, पृ० ४१-४२

१८. रसेल, उद्धृत ग्रन्थ, जिल्द १, पृ० १६८

१९. गब्बिन्स, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ३२

जुलते रहे। हेनरी मेटकाफ़ ने लिखा है कि नाना लखनऊ में रेजीमेण्टों की घुड़दौड़ में शरीक होते थे। "घुड़दौड़ और खेलकूद तीन दिन तक जारी रहे और इन तीनों दिन शैतान नानासाहब घुड़दौड़ में रहा और हमारे अफसरों के साथ काफ़ी इत्यादि पीता रहा और इस सारे समय में ग़दर की योजना भी बनाता रहा।"[२०] यदि वास्तव में ही वे यह सब करते रहे और लखनऊ और कानपुर के अंग्रेज़ अफसर उनके इरादों को न भांप सके तो निस्संदेह वे "आंखों में धूल झोंकने" की कला में बहुत कुशल रहे होंगे।

इस बीच चिमनजी अप्पा की ओर से नानासाहब पर एक मुकदमा भी दायर हुआ जो खारिज हो गया।[२१]

कानपुर एक महत्वपूर्ण सैनिक छावनी थी। यह शहर और जिला, जिसका यह सदर मुकाम था, वे पहले अवध के राजा का था। इसके राजस्व से छावनी में एक सहायक सेना रखी जाती थी और यह जिला सन् १८०१ में अंग्रेजों को मिल गया था।[२२] कानपुर गंगा के किनारे बसा हुआ है, जिसमें छोटी-छोटी नावें तो बारहों महीने चलती हैं और बरसात में भारी जहाज भी चल सकते हैं। इस नगर का व्यावसायिक महत्व था। यह चमड़े के व्यापार की बड़ी भारी मंडी था। यहां से इलाहाबाद सौ मील और लखनऊ केवल चालीस मील होने के कारण यह शहर ऐसी जगह पड़ता है कि जिसकी एक ओर ग्रांड ट्रंक रोड और दूसरी ओर अवध जाने वाली बड़ी सड़क है। सैनिक महत्त्व की जगह होने के कारण कानपुर में पर्याप्त सेना रखी गई थी। मई १८५७ में कानपुर में पहली, ५३वीं और ५६वीं, इन तीन हिन्दुस्तानी रेजीमेण्टों, दूसरी घुड़सवार सेना, और कुछ हिन्दुस्तानी तोपचियों के अतिरिक्त, ६१ यूरोपीय तोपची तथा और छः तोपें रख दी गई थीं। उनकी कुल संख्या ३ हजार भी न थी। कमांडिंग अफसर थे जनरल ह्यू व्हीलर, के०सी०बी०। उन्होंने पचास वर्ष से भी अधिक समय तक प्रशंसनीय ढंग से सैनिक सेवा की थी। एक बहुत छोटे अफसर के रूप में उन्होंने लार्ड लेक के अधीन कार्य किया था और सन् १८०४ में दिल्ली पर अधिकार होने के समय वे वहां मौजूद थे। बाद में उन्होंने अफगानिस्तान और पंजाब में बहुत नाम कमाया। और यद्यपि उनकी आयु ढल रही थी फिर भी एक सैनिक के रूप में वे इतने विख्यात हो गए थे कि दिल्ली में पहाड़ी पर स्थित थोड़ी-सी अंग्रेज़ी सेना को यह आशा थी कि अगर सहायता के लिए और कोई नहीं आया तो जनरल व्हीलर तो अवश्य ही पहुंच जाएंगे। सर हेनरी लारेंस की सम्मति में ऐसे समय व्हीलर की ही जरूरत थी जो "उस संकट काल में शक्ति के स्तम्भ थे।"

मेरठ और दिल्ली के विद्रोह का समाचार १४ मई को कानपुर पहुंच गया। जनरल व्हीलर को अगर इससे कुछ चिन्ता भी हुई हो तो उन्होंने उसे प्रकट नहीं होने दिया। १८ मई को गवर्नर-जनरल के नाम उनका सन्देश था—कानपुर में सब ठीक है। उत्तर-पश्चिमी प्रान्त की अपेक्षा कानपुर में यूरोपीय और ईसाइयों की आबादी बहुत

---

२०. टकर, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० २१

२१. नानक चन्द, पृ० १

२२. एचिसन, ट्रीटीज़, इन्गेजमेंट्स एण्ड सनद्स, जिल्द २, पृ० १२२-१२३

अधिक थी। शाही सेना की ३२ वीं रेजीमेण्ट के अनेक अफसर उस समय लखनऊ में तैनात थे और उनके परिवार कानपुर में ही रहते थे। और यदि सिपाही विद्रोही हो जाते तो उनके सामने व्हीलर इन परिवारों को कहीं सुरक्षित स्थान पर पहुंचाने का प्रबन्ध भी नहीं कर सकते थे। अभी किसी तरह के असन्तोष का कोई लक्षण प्रकट नहीं हुआ था। सिपाहियों के साथ पचास वर्ष से भी अधिक समय तक काम करते रहने के कारण व्हीलर यह अच्छी तरह जानते थे कि अगर इस समय उन्होंने जरा भी विवेक खोया तो जल्दी ही आग भड़क सकती है। इसके विपरीत यदि उन्होंने दृढ़ता और आत्म-विश्वास से काम ले कर यह सिद्ध किया कि कहीं कोई भी असाधारण बात नहीं है तो एक भी गोली चलाए बिना संकट टल सकता था। १६ तारीख को व्हीलर को भारत सरकार का एक तार मिला: "एक यूरोपीय सेना को वहां रखने का प्रबन्ध फौरन किया जाए और यह प्रकट कर दिया जाए कि तुम ऐसा कर रहे हो।"[२३] यूरोपीय सेना यदि समय पर पहुंच जाए तो व्हीलर को कोई भय नहीं था, पर इस खबर को फैलाने का मतलब यह होता कि सिपाहियों को चेताया जा रहा है कि उनकी कर्तव्य परायणता भी अब सन्देह से परे नहीं रही। २१ मई को २ री घुड़सवार सेना में हलचल मच गई। यह अफवाह फैल गई कि "उनसे उनके अस्त्र और घोड़े लेकर यूरोपीयों को दे दिए जाएंगे।"[२४] वस्तुतः यह अफवाह निराधार थी, लेकिन घुड़सवार सैनिकों ने अपने पैदल सहयोगियों से यह पूछना शुरू कर दिया कि अगर उनसे उनके घोड़े और अस्त्र छीने गए तो क्या वे उनकी मदद करेंगे ?

२२ मई को अवध अनियमित घुड़सवार सेना के २४० सवार और ५५ यूरोपीय लखनऊ से आ गए। यद्यपि कानपुर में सर्वत्र शांति थी तथापि सिपाही इससे कुछ अशांत हो गए हों तो इसमें उनका क्या दोष था ? यूरोपीय और यूरेशियनों को स्पष्ट रूप से कुछ खतरे की आशंका हो रही थी। "ऐसा लगता था कि छावनी का हर व्यक्ति किसी न किसी भयंकर काण्ड के होने की आशंका कर रहा था, पर यह कोई नहीं कह सकता था कि क्या होने वाला है। हिन्दुस्तानी सेनाएं उस समय भी सदा की भांति शांत थीं, लेकिन सभी के दिमाग पर एक प्रकार की अनिश्चितता और भय की भावना छाई हुई थी।" "कुछ यूरोपीय व्यापारियों और अन्य लोगों ने तो यह सोच कर नावें भाड़े पर ले ली थीं कि जैसे ही कोई खतरा दिखाई देगा वे इलाहाबाद के लिए रवाना हो जाएंगे। कुछ लोगों ने मकान और सम्पत्ति नौकरों के भरोसे छोड़ डाक से चले जाने का इन्तजाम कर लिया था। हर आदमी ने अपनी सामर्थ्यानुसार चौकीदारों की संख्या भी बढ़ा ली थी।"[२५] जब एक बार आतंक पैदा हो जाता है तो वह फैलने लगता है। ऊपर से शांति रखने पर भी अन्दर ही अन्दर सिपाही अशांत हो उठा और २१ तारीख को किसी सिपाही ने वस्तुतः अपने

---

२३. फारेस्ट, ए हिस्ट्री आफ़ दि इण्डियन म्यूटिनी, जिल्द १, पृ० ४००

२४. वही, जिल्द १, पृष्ठ ४०१-४०२

२५. शेफर्ड, ए पर्सनल नरेटिव आफ़ दि आउटब्रेक एण्ड मैसेकर एट कानपुर' पृ० २

सहयोगियों को सावधान किया—"सावधान रहो, साहब लोग कुछ शरारत करने वाले हैं, और पहली कम्पनी की छठी बटालियन के तोपखाने की तोपें तैयार कर ली गई हैं और तोपची, घुड़सवार सेना की लाइन पर गोलाबारी करने को तैयार हैं।।"[२६] अपराधी को गिरफ्तार कर लिया गया, उस पर मुकदमा चलाया गया, उसे अपराधी करार दिया गया और मौत की सजा भी सुना दी गई, लेकिन सिपाहियों के उत्तेजित हो उठने के डर से उसे फांसी नहीं दी गई। इस मौके पर लखनऊ की सेना से उन्हें कोई विशेष आश्वासन नहीं मिला और सिपाहियों को डराने-धमकाने के लिए इन सैनिकों की संख्या भी काफी नहीं थी।

दुर्भाग्यवश इसी समय बाजार में खराब आटा आया जो सस्ते दामों पर बेचा जा रहा था। यह पुराना और गला-सड़ा आटा था, जिसके पकाने पर उसमें से बदबू आती थी। संदेह यह हुआ कि इस आटे में सूअर और गाय की हड्डियों का चूरा मिला हुआ है। सिपाहियों का इससे उत्तेजित हो उठना स्वाभाविक ही था। जांच-पड़ताल से यह सन्देह निराधार निकला, लेकिन आटे में मिलावट के बारे में सिपाही सन्तुष्ट न हुए और सहज ही विश्वास करने वाले लोग इस सन्देह से अब भी परेशान थे, क्योंकि उन्हें यह विश्वास नहीं हुआ कि आटे में मिलावट के लिए केवल व्यापारी लोग ही दोषी हैं।[२७]

२१ तारीख को कुछ न कुछ गड़बड़ होने की आशंका की जा रही थी और व्हीलर बुरी से बुरी स्थिति का सामना करने के लिए तैयार था। लेकिन हुआ कुछ नहीं और यह शुभ समाचार गवर्नर-जनरल को भेजा गया। लखनऊ से कुमुक पहुंचने की सूचना कलकत्ते भी भेज दी गई थी। एक उत्साहवर्द्धक समाचार यह था कि बिठूर के महाराजा ने अस्त्र-शस्त्रों से लैस लगभग तीन सौ जवान और दो तोपें अंग्रेजों की सहायता के लिए भेजीं। जनरल ने लिखा, "एक बार कलकत्ते से यूरोपीय यहां पहुंच जाएं तो मैं सब तरह का खतरा दूर हो जाने की आशा कर सकता हूं। इस समय तो सब ठीक है पर कहा नहीं जा सकता कि कब क्या हो जाए।" कलकत्ते से जब यूरोपीय पहुंचे तो काफी देर हो चुकी थी और अनुमान के विपरीत मराठों ने उत्तर के हिन्दुओं और मुसलमानों से मेल कर लिया था।

यहां एक उचित प्रश्न उठता है : क्या नाना ने अपनी सेवाएं स्वयं अर्पित की थीं, या कानपुर के असैनिक अधिकारियों ने उनकी सहायता मांगी थी ? जब मेरठ के विद्रोह का समाचार हिलर्सडन के पास पहुंचा तो नाना ने निश्चय ही अंग्रेज महिलाओं के आतिथ्य और सुरक्षा के लिए अपनी सेवाएं अर्पित कीं और उन्होंने यह सुझाव भी दिया कि हिलर्सडन की पत्नी तथा अन्य महिलाओं को बिठूर भेज दिया जाए। लेकिन क्या उन्होंने सशस्त्र सहायता देने का प्रस्ताव भी अपनी इच्छा से ही रखा था ? शेफ़र्ड ने इस बात की पुष्टि की है और कहा है कि उन्होंने अपनी इच्छा से ही सैनिक सहायता दी थी। शेफ़र्ड ने आगे कहा है कि शहर के कई अफसरों से

---

२६. वही, पृ० ५

२७. वही, पृ० २

नाना की मैत्री और घनिष्ठता थी। "मालूम पड़ता है उन्होंने मैजिस्ट्रेट और कलक्टर श्री हिलर्सडन के मन में अपने प्रति ऐसा विश्वास जमा दिया था कि विद्रोह शुरू होने से पहले उन्होंने अपना परिवार तथा कुछ और परिवार नाना की सुरक्षा में छोड़ने का निश्चय कर लिया, लेकिन महिलाएं इसके लिए तैयार नहीं हुई और उन्होंने सुरक्षित स्थान में शरण ली। नाना में हिलर्सडन के इतने अधिक विश्वास के कारण ही उन्हें नवाबगंज के खजाने के संरक्षण का दायित्व भी सौंप दिया गया था और यह अनुमति दे दी गई थी कि वे अपने नियंत्रण में ५०० घुड़सवारों और पैदलों की एक टुकड़ी रख सकते हैं। जब विद्रोही दूर चले गए तो उसी टुकड़ी की सहायता से वे शस्त्रागार को अपने अधिकार में ले सके।"[२८] यह भी बताया गया है कि "बिठूर निवासी नानासाहब ने अपनी सेवाएं अर्पित कीं और अपने को सरकार का बहुत वफादार सेवक बताते हुए उन्होंने सिपाहियों के साथ खजाने की रक्षा करने का प्रस्ताव रखा। उनका वह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया गया, इसी से सिद्ध होता है कि अंग्रेजों का उनमें बहुत विश्वास था। नानासाहब खजाने के पास के ही एक बंगले में चले गए और अपने अधीन ५०० सशस्त्र सैनिकों और दो छोटी तोपों की सहायता से उन्होंने उस स्थान की सुरक्षा-व्यवस्था की।"[२९] हिलर्सडन ही ऐसा व्यक्ति था जिसके बयान से निष्कर्ष पर पहुंचना सम्भव होता, लेकिन सुरक्षित स्थान में मारे गए लोगों में वह भी एक था। वहां बचे हुए चार व्यक्तियों में एक मौब्रे थामसन भी थे। उन्होंने स्पष्ट रूप से यह कहा कि मैजिस्ट्रेट ने ही नाना को खजाने की रक्षा का भार लेने के लिए कहा था। "खजाने में एक लाख पौंड से भी अधिक राशि थी और रेजिडेंट मैजिस्ट्रेट श्री हिलर्सडन को उसकी रक्षा की बड़ी चिन्ता थी। इसलिए उन्होंने सर ह्यू व्हीलर से सलाह लेने के बाद बिठूर से नानासाहब को सहायता के लिए बुलाया। अपने अंगरक्षकों के साथ नानासाहब तत्काल वहां पहुंचे और उन्होंने खजाने की रक्षा के लिए दो सौ घुड़सवार, चार सौ पैदल और दो तोपें भेजने का वचन दिया। सुरक्षित स्थान से खजाना पांच मील दूर था और खजाने को वहां लाना उचित नहीं समझा गया। इसलिए उसे ५३वीं देशी पैदल सेना की एक कम्पनी के साथ-साथ बिठूर की एक टुकड़ी की देख-रेख में रखा गया, और खुद नानासाहब छावनी की सिविल लाइन में रहते थे। इस व्यक्ति के साथ हमारे सम्बन्ध हमेशा इतने मैत्रीपूर्ण रहे कि उसकी वफादारी के बारे में हमारे किसी भी नेता के मन में कभी कोई शंका पैदा नहीं हुई, हम अपनी विकट स्थिति के कारण बहुत उद्विग्न थे और उसकी फौज आने से हमें काफी राहत मिली थी। बल्कि, यहां तक कहा गया था कि महिलाओं को बिठूर में उसके निवास-स्थान पर भेज दिया जाए जहां वे सुरक्षित रहेंगी।"[३०] यद्यपि हिलर्सडन और व्हीलर यह अच्छी तरह जानते थे कि अपने पिता की पेन्शन रुक जाने से मराठा राजा खुश नहीं है,

---

२८. शेफर्ड, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १५

२९. वही, पृ० ५-६

३०. थामसन, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ३२-३३। श्री हिलर्सडन के समान ही उनकी पत्नी का भी नाना में पूरा विश्वास था और मैजिस्ट्रेट को तो यह भी आशा थी कि वह

लेकिन फिर भी उस समय नाना में उनका पूरा विश्वास था और वे कई बार उनके यहां आतिथ्य-सत्कार का आनन्द ले चुके थे। यह उल्लेखनीय है कि यह सब मानते हैं कि नाना अपने साथ कितनी तोपें लाए थे, लेकिन उनके सशस्त्र सैनिकों के सम्बन्ध में लोग दो सौ से छः सौ तक का अनुमान लगाते हैं। यह कहना कठिन है कि इन दो में से किसे अधिक विश्वसनीय माना जाए, क्योंकि हमें उनके सूचना-सूत्रों का पता नहीं है। शेफ़र्ड, कमसरियट कार्यालय में एक यूरेशियन क्लर्क था। मौब्रे थामसन, सेना में कमीशनप्राप्त अफसर था और रेज़िडेन्ट मैजिस्ट्रेट तथा कानपुर डिवीजन के कमांडिंग अफसर तक उसकी ज़्यादा पहुंच थी।

सर ह्यू व्हीलर ने शहर और सिपाहियों की नई-नई गतिविधियों की सूचना देने के लिए कुछ गुप्तचर रख छोड़े थे। दुर्भाग्यवश वे जो खबरें लाते थे, उन्हें वे जनरल के अलावा अपने और मित्रों को भी बता देते थे। इसलिए उनकी वजह से भी काफी अस्तव्यस्तता हुई। कभी-कभी उनकी सूचनाएं गलत होती थीं। गुप्त रूप से उन्होंने यह बताया था कि २४ तारीख को विद्रोह होगा, लेकिन कुछ हुआ नहीं।[३१] घबराहट और डर सिर्फ सिपाहियों से ही नहीं था, यूरोपीय और यूरेशियन लोग लुटेरे गूजरों के बड़े-बड़े गिरोहों के आने की अफवाहों से भी कभी-कभी आतंकित हो जाते थे।[३२] लगातार इस तरह तनाव, अनिश्चितता और अनिर्णय की स्थिति रहने से अफसरों में घबराहट फैलने लगी, और कुछ तो यह अनुभव करने लगे कि इस तरह की अनिश्चित स्थिति से तो अच्छा यही है कि कोई भी कार्रवाई की जाए। एक अफसर ने पत्र में अपने घर लिखा, "मैं सिर्फ यह चाहता हूं कि मुझे अपनी रेजीमेन्ट के साथ या अपनी कम्पनी के साथ बाहर जाकर उनसे लड़ने की आज्ञा मिल जाए, ताकि हम अपने आदमियों की परीक्षा कर सकें और जान सकें कि वास्तव में वे हमारे साथ रहना चाहते हैं या नहीं, और इस प्रकार अनिश्चितता की

मराठा राजा के सैनिकों की सहायता से विद्रोह को दबा सकेंगे। श्रीमती हिलर्सडन ने एक पत्र में अपने एक मित्र को लिखा था कि "अगर देशी सेना ने यहां विद्रोह किया तो हम लोग या तो छावनी में चले जाएंगे या बिठूर नामक जगह पर जाएंगे, जहां पेशवा का उत्तराधिकारी रहता है। वह सी . . . (मैजिस्ट्रेट) का घनिष्ठ मित्र है और बहुत सम्पत्तिशाली तथा प्रभावशाली है, और उसने सी . . . को यह आश्वासन दिया है कि हम सब वहां पूरी तरह सुरक्षित रहेंगे।" यह पत्र १६ मई को लिखा गया था। १८ मई को उसने एक और पत्र में लिखा, "अगर यहां विद्रोह हुआ, तो प्रिय सी . . . ने मुझे और बच्चों को बिठूर भेजने का पूरा इंतजाम कर लिया है। वे खुद वहां जाएंगे और जिस राजा के यहां हम लोग जा रहे हैं उसकी सहायता से वे पन्द्रह सौ सैनिकों की एक फौज तैयार करके कानपुर आएंगे और विद्रोहियों को आश्चर्य-चकित कर देंगे। यह उनकी अपनी योजना है और बहुत गोपनीय है, क्योंकि इसका उद्देश्य यह है कि विद्रोहियों पर अचानक हमला बोल दिया जाए।" जी० डी०, दि हिस्ट्री आफ़ दि इंडियन रिवोल्ट, पृ० १२६

३१. फ़ारेस्ट, ए हिस्ट्री आफ़ दि इंडियन म्यूटिनी, जिल्द १, पृ० ४१०

३२. शेफ़र्ड, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ५

यह स्थिति समाप्त हो।"[33] ३१ मई को कर्नल ईवार्ट ने एक पत्र में लिखा, "मैं निराशा नहीं व्यक्त करना चाहता, लेकिन इस वास्तविकता को छिपाने का भी कोई लाभ नहीं है कि हम बहुत खतरे में हैं, और जैसा मैं कह चुका हूं, अगर सैनिकों ने विद्रोह किया तो मेरा जीवन निश्चय ही बलिदान होगा। परन्तु मैं समझता हूं कि वे हमारे सुरक्षित स्थान पर आक्रमण करने की हिम्मत नहीं करेंगे, जिसकी रक्षा यूरोपीय सैनिक कर रहे हैं।"[34] श्रीमती ईवार्ट ने अपनी स्त्रियोचित अंतःप्रेरणा से स्थिति को अच्छी तरह भांप लिया था। उन्होंने लिखा, "एक आकस्मिक चिनगारी ही पैदलों की रेजीमेंटों और घुड़सवारों की रेजीमेंट में विद्रोह की ज्वाला भड़का सकती है, और अपनी छः तोपों के साथ अगर हम अपने स्थान पर जमे भी रहें, तब भी हमारे अफसर अवश्य मारे जाएंगे, और मैं अपने से यह नहीं छिपाना चाहती कि सारी सेना में सबसे ज्यादा खतरा मेरे पति को है।"[35]

यह चिनगारी शराब के नशे में चूर एक अफसर की एक हरकत के कारण भड़क उठी। नशे में उस मूर्ख ने दूसरी घुड़सवार रेजीमेंट की एक छोटी-सी टुकड़ी पर गोली चला दी। फौजी अदालत में उस पर मुकदमा चला, लेकिन यह कह कर उसे छोड़ दिया गया कि जब उसने यह जुर्म किया था, उस समय वह अपने होश में नहीं था और इसलिए वह उसका जिम्मेदार नहीं है। यह एक अजीब ही तर्क था, क्योंकि शराब के नशे में होना कानून की दृष्टि में कोई न्यायोचित तर्क नहीं है। इस स्पष्ट अन्याय ने सिपाहियों की इस शंका को और भी पुष्ट कर दिया कि अफसर कोई भयंकर चालबाजी करना चाहते हैं। गुस्से में भरे हुए कुछ घुड़सवार शेफ़र्ड से मिले और बातचीत में उनके मन की बात उससे छिपी नहीं रही। एक ने यह शिकायत की कि नए कारतूस का उपयोग कराने में असफल होने पर अफसरों ने चालाकी से रुड़की से ऐसा आटा मंगाया है, जिसमें गाय और सूअर की हड्डियों का चूरा मिला हुआ है। दूसरे ने पूछा, अगर धोखे की कोई बात नहीं है तो अफसर सुरक्षित स्थान में क्यों घुसे हुए हैं? तीसरे ने कहा, मुझे उन पर कोई विश्वास नहीं है। उन्होंने शस्त्रागार और खजाने पर से देशी सैनिकों का पहरा हटाकर यूरोपियनों का पहरा क्यों लगाया? मेरठ के जिन घुड़सवारों ने 'नए कारतूस मुंह से खोलने से इन्कार कर दिया था', उनके साथ किए गए व्यवहार पर भी बातचीत हुई। "यूरोपीय सेना के कानपुर पहुंचते ही हम सब के साथ भी वैसा ही व्यवहार होगा। इसलिए हम तब तक रुकेंगे नहीं; हमारी बहुत दुर्दशा की गई है। अभी उस रात एक अफसर ने गश्त लगाती हुई हमारी एक छोटी-सी टुकड़ी पर गोली चला दी थी और अदालत ने उसे यह कह कर छोड़ दिया कि वह अफसर पागल था। अगर हम देशी लोगों ने किसी यूरोपीय पर गोली चलाई होती तो हमें फांसी पर लटका दिया जाता।"[36] सिपाहियों को इस बात पर काफी नाराजगी थी और वे यह समझते थे कि शासकों की जाति के न्यायाधीशों ने अभियुक्त

---

३३. फ़ारेस्ट, ए हिस्ट्री आफ़ दि इंडियन म्यूटिनी, जिल्द १, पृ० ४११

३४. थामसन, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ३३

३५. वही, पृ० ३६

३६. शेफ़र्ड, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ६-११

को इसलिए छोड़ दिया क्योंकि वह उन्हीं के वर्ग और जाति का था। लेकिन ३ तारीख की रात शांतिपूर्वक बीत गई।

वह सुरक्षित स्थान जिसने अप्रभावित सिपाहियों के मन में अविश्वास पैदा करके रोष बढ़ाया था, कोई सुदृढ़ स्थान नहीं था। इकमंजिली ईंट की सिर्फ दो बैरकें थीं और उनमें से भी एक बैरक की छत फूस से छाई हुई थी। उसके चारों तरफ खाई खुदी हुई थी, जो ज्यादा गहरी नहीं थी और सुरक्षा के लिए जो दीवार बनी थी, वह न मजबूत थी न ऊंची। अज़ीमुल्ला ने उसका मजाक उड़ाते हुए उसका नाम 'नाउम्मीदी का किला' रखा था। वह एक अस्थायी आश्रय के रूप में बनाया गया था, क्योंकि सर ह्यू व्हीलर को उसके गुप्तचरों ने बताया था कि अगर देशी सैनिक विद्रोह करेंगे तो वे एकदम दिल्ली जाएंगे और अंग्रेज़ों या कानपुर में रहने वाले ईसाइयों को तंग करने का उनका कोई इरादा नहीं है। हमला होने पर उस स्थान पर कोई बचाव नहीं हो सकता था और असैनिक लोगों ने तो शस्त्रागार को अधिक सुरक्षित स्थान समझा था। लेकिन सर ह्यू व्हीलर सिपाहियों के रहने के स्थान से ज्यादा दूर नहीं जाना चाहते थे, इसलिए उन्होंने अपने अधीन अफसरों को वहीं सोने का आदेश दिया था। वे अपना यह विश्वास दिखा कर सिपाहियों की शंका दूर करना चाहते थे और संकट उपस्थित होने पर यूरोपीयों को सुरक्षित निकाल ले जाने की व्यवस्था रखना चाहते थे। हर बार खतरे की खबर सुनकर अंग्रेज़ औरतें और बच्चे उन बैरकों में चले जाते और जब यह खतरा झूठा सिद्ध होता तो वे फिर वापस अपने घर लौट जाते। इन सब बातों से सिपाहियों ने अपने निष्कर्ष खुद निकाले और अपने अफसरों के तर्कों पर उन्हें तनिक भी विश्वास न हुआ। अगर स्पष्ट नीति अपनाई जाती तो कानपुर बचाया जा सकता था। अगर व्हीलर ने सैनिक और असैनिक सभी यूरोपीयों को लेकर शस्त्रागार पर कब्जा रखा होता और इस तरह विद्रोहियों को उसे तहस-नहस करने से रोका होता, तो पर्याप्त खाने-पीने का सामान उपलब्ध होने पर, वह सहायता पहुंचने तक मोर्चा साधे रख सकता था। अगर वह भारतीय सैनिकों में अपना पक्का विश्वास रखता और उनके मन में आक्रमण का कोई खतरा पैदा न होने देता तो हो सकता है कि ऐसे सैनिक उसकी ओर रहते जो बहुत उग्र नहीं थे। लेकिन, एक तरफ प्रत्यक्ष अविश्वास और दूसरी तरफ शांत वातावरण के दिखावे के अधूरे प्रयत्न की मिली-जुली नीति असफल सिद्ध हुई। खुलकर डराने-धमकाने का समय जा चुका था।

३० मई को सर ह्यू ने ३२वीं रेजीमेंट को लखनऊ वापस भेजने का निश्चय किया क्योंकि वहां लोग बहुत बेचैनी अनुभव कर रहे थे और इधर कानपुर में शांति थी। फिर भी उनके पास अपनी सेना के अलावा ८४वीं पैदल सेना के कुछ सैनिक और अफसर थे, जो थोड़े-थोड़े करके कलकत्ते से आए थे। लखनऊ में ३० मई को खुलकर ग़दर शुरू हुआ। ३ जून को दो अफसर और पचास सैनिक लखनऊ भेजे गए। इन आदमियों को भेज कर व्हीलर ने लार्ड कैनिंग को लिखा, "इससे मैं कमजोर हो गया हूं, लेकिन मुझे विश्वास है कि जब तक और यूरोपीय नहीं आएंगे, तब तक मैं अपना मोर्चा संभाले रहूंगा।" उसी शाम को उसे खबर मिली कि विद्रोह होने वाला है और असैनिक यूरोपीयों को सुरक्षित

स्थान में जाने का हुक्म दे दिया गया। अगले दिन ४ जून को उस स्थान में खाने-पीने का एक महीने का सामान डाल लिया गया और खजाने से एक लाख रुपया मंगा लिया गया। यह ग़दर शुरू होने की सूचना थी। सैनिकों ने अपनी उत्तेजना में शेफ़र्ड को बता दिया था कि वे यूरोपीय फौज आने तक इन्तजार नहीं करेंगे, और वास्तव में उन्होंने इन्तजार नहीं किया। ४ तारीख की रात को ग़दर शुरू हो गया और अनिश्चितता का समय समाप्त हुआ।

जैसी आशा थी, २री घुड़सवार सेना ने शुरुआत की। पहली पैदल सेना भी तत्काल उनके साथ मिल गई। ५३वीं और ५६वीं सेनाओं के सैनिक ५ तारीख की सुबह तक अपने खेमों में रहे, लेकिन फिर ५६वीं सेना उनसे जा मिली। मौब्रे थामसन ने लिखा है, "५३वीं सेना तब तक विद्रोहियों में नहीं मिली, जब तक कि गलती से जनरल ने उन पर गोली नहीं चलाई। इसका कारण मेरी समझ में नहीं आ रहा है। वे लोग शांतिपूर्वक अपने खेमों में खाना बनाने के काम में लगे थे, उनमें ग़दर के कोई लक्षण प्रकट नहीं हुए। उन्होंने विद्रोहियों से मिलने के सब आग्रह टाल दिए थे और बिलकुल अटल दिखाई पड़ रहे थे। जब सर ह्यू व्हीलर के आदेश से एशी की तोपों से उन पर गोले बरसने लगे और वास्तव में हमारे नौ पौंड के गोलों ने उन्हें हमारा विरोधी बना दिया। इस कार्रवाई की पूर्व सूचना सिर्फ यही थी कि उस रेजीमेंट के देशी अफसरों को हमारे सुरक्षित स्थान में बुलाया गया था। एक सौ पचास प्राइवेटों के साथ-साथ, जिनमें से अधिकांश ग्रेनेडियर कम्पनी के थे, उन सब ने हमारा साथ दिया। ५३वीं रेजीमेंट की जो टुकड़ी खजाने की रक्षा के लिए तैनात थी, वह चार घंटे तक विद्रोहियों का मुकाबला करती रही। हमें दूर से उनकी बंदूकों की आवाज सुनाई पड़ रही थी, लेकिन हमें उनकी मदद के लिए जाने की इजाजत नहीं थी।"[३७] इस रेजीमेंट के बाकी वफादार सैनिक आखीर तक अपने अफसरों का साथ देने को तैयार थे। सुरक्षित स्थान के पूर्व में करीब ६०० गज की दूरी पर उन्हें एक चौकी पर तैनात किया गया। वे लोग वह मोर्चा नौ दिन तक साधे रहे, क्योंकि उसके बाद उस इमारत में आग लग गई थी। खाने-पीने के सामान की कमी होने के कारण उन्हें सुरक्षित स्थान में नहीं आने दिया गया और हर एक को कुछ रुपए और वफादारी का एक प्रमाण-पत्र देकर टाल दिया गया। सर जार्ज फ़ारेस्ट ने शेफ़र्ड के इस कथन पर व्हीलर की कार्रवाई को उचित ठहराने की कोशिश की कि ५३वीं और ५६वीं रेजीमेंटों के देशी अफसरों ने जनरल को पहले ही यह सूचना दे दी थी कि उनके आदमी जाने के लिए कटिबद्ध हैं, और तब उन पर एक-दो गोलियां चलाई गई थीं।[३८] यह कोई

३७. थामसन, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ३६-४०। वेतन बांटने वाले हवलदार रामबक्श ने बताया कि जब ५वीं और लाइट कम्पनियों की एक टुकड़ी झंडे और खजाना लेकर भाग गई, तो बाकी रेजीमेंट यूरोपीयों के साथ मिलने की इच्छा से परेड के मैदान में आई। वहां उन पर तीन गोलियां चलाई गईं और वे भाग गए। गवाहियां, पृ० ३१-३२

३८. फ़ारेस्ट, ए हिस्ट्री आफ़ दि इंडियन म्यूटिनी, जिल्द १, पृ० ४१७-१८। शेफ़र्ड, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १६

नाना साहब

तात्या टोपे

अनुभव नहीं करता कि कानपुर के ग़दर और उसके बाद की घटनाओं के बारे में हमारी जानकारी कितनी कम है। ग़दर तथा जून और जुलाई के निर्मम हत्याकांड के बारे में कोई मतभेद नहीं है, लेकिन इन खेदजनक घटनाओं का ब्योरा ऐसे परस्पर विरोधी प्रमाण पर आधारित है जो सावधानी से जांच करने पर सही नहीं बैठता। मौब्रे थामसन को, जो एक जिम्मेदार सैनिक अफसर था, उस यूरेशियन क्लर्क की अपेक्षा तथ्य जानने के कहीं ज्यादा अवसर प्राप्त थे, जिसकी उस सुबह की घटना की जानकारी निश्चय ही किसी और से सुनी-सुनाई बात पर आधारित होगी।

विद्रोही पैदल और घुड़सवार सैनिक खजाने की तरफ गए और वहां उन्होंने खजाना खोल कर लूट लिया। जेलखाने पर भी हमला किया गया और बन्दियों को छोड़ दिया गया। तब वे दिल्ली की तरफ रवाना हुए और कल्याणपुर में रुके। व्हीलर की भविष्यवाणी सच होने ही वाली थी कि अचानक सिपाही कानपुर वापस आ गये और नाना ने जनरल को लिखा कि वह उसके सुरक्षित स्थान पर हमला करने वाला है। इस बीच क्या हुआ ? तात्या टोपे ने कहा है कि नाना पर दबाव डाल कर सिपाहियों का पक्ष लेने और उनका सेनापतित्व करने को बाध्य किया गया। शुरू में उसने दिल्ली जाने या कानपुर में अंग्रेज़ सैनिकों से युद्ध करने से इन्कार कर दिया था, लेकिन बाद में उसने सैनिकों की बात मान ली।[३९] सर जार्ज फ़ारेस्ट को इस बात पर आपत्ति है और उनका कहना है कि नाना के पास दो तोपें और अपने सशस्त्र सैनिक थे, इसलिए उससे जबर्दस्ती की जाने की बात निश्चय ही गलत है।[४०] ब्रिटिश सरकार ने बाजीराव को उत्सव के मौकों पर सलामियां दागने के लिए दो तोपें भेंट की थीं। लड़ाई के काम के लिए वे तोपें बिल्कुल बेकार थीं, उनसे अपनी रक्षा भी नहीं की जा सकती थी। इस बात में भी बहुत शक है कि नाना के अपने करीब तीन सौ सैनिक, तीन पैदल रेजीमेंटों और एक घुड़सवार रेजीमेंट का मुकाबला कर पाते। इसलिए, तात्या टोपे के कथन में कुछ सचाई हो सकती है। जिस तरह ग्वालियर और इंदौर की सेनाएं विद्रोहियों से मिल गई थीं, उसी तरह हो सकता है कि अन्त में नाना के आदमी भी सिपाहियों से मिल गए हों।

एक और कथन यह है कि "कुछ देशी अफसरों का एक प्रतिनिधिमण्डल नाना से मिलने गया," और उससे कहा कि अगर वह उनका साथ देगा तो साम्राज्य का अधिकारी होगा और अगर शत्रु का पक्ष लेगा तो उसे जान से हाथ धोना पड़ेगा।[४१] नाना या तो लालच में आ गया या धमकी से घबरा गया, शायद उस पर दोनों प्रभाव पड़े, और वह उनके चक्कर में आ गया। यह बात तात्या के कथन से काफी मेल खाती है और नाना के चरित्र के सम्बन्ध में हम थोड़ा-बहुत जो कुछ जानते हैं, उसके मुताबिक ही है। लेकिन हम यह नहीं कह सकते कि यह कथन प्रामाणिक है। हम निश्चित रूप से यह नहीं जानते कि वह विद्रोही रेजीमेंटों के साथ कल्याणपुर गया था और उन्हें मना कर फिर वापस ले

३९. मेलसन, हिस्ट्री आफ़ दि इंडियन म्यूटिनी, जिल्द ३, पृ० ५१५
४०. फ़ारेस्ट, ए हिस्ट्री आफ़ दि इंडियन म्यूटिनी, जिल्द २, पृ० ४२०
४१. शेफ़र्ड, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० २०

आया या उसके प्रतिनिधियों ने उनके पीछे जाकर और उन्हें बहुत धन का लालच देकर, कानपुर लौटने और वहां के मुट्ठी भर अंग्रेज़ों को समाप्त करने को राजी किया। नाना के शत्रु नानक चन्द का कहना है कि मराठा राजा बहुत पहले से सिपाही नेताओं से मिला हुआ था और विद्रोह शुरू होने से पहले वह कई बार गुप्त सभाओं में उनसे बातचीत कर चुका था। लेकिन शेरर का मत है कि "स्पष्ट ही, नाना पहले से देशी सिपाहियों से नहीं मिला हुआ था नहीं तो उसे उन्हें वापस लाने के लिए उनके पीछे जाने और बड़े-बड़े वायदे करने की आवश्यकता न पड़ती।"[४२] थार्नहिल ने उसी तर्क को दूसरे रूप में रखते हुए कहा, "अगर नाना और सैनिकों के बीच पहले से कोई बात तय होती तो दिल्ली की सड़क पर जाने की कोई जरूरत ही न होती।"[४३] कानपुर के ग़दर और उसके बाद की घटनाओं की कर्नल विलियम्स ने जांच की, लेकिन उसको इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिला कि नाना और सिपाही-नेताओं के बीच पहले से ही कोई सांठ-गांठ थी। "वह तारीख बताना मुश्किल है, जब पहली बार उसने सैनिकों से मेलजोल रखना शुरू किया, क्योंकि ऐसे किसी व्यक्ति का बयान मिलना असम्भव है, जो खुद अंग्रेज़ों की मुखालफत के इस काम में शामिल हो।" घटनाक्रम से यह पता चलता है कि सिपाही ऊंचे दर्जे के एक नेता की आवश्यकता अनुभव कर रहे थे। इसलिए उन्होंने नाना को लालच और डर दिखा कर अपनी ओर कर लिया और नाना शुरू में कुछ झिझकते हुए उनका नेता बन गया। १८५९ में लिखे गए एक पत्र में नाना ने कहा है कि जब उसे विद्रोहियों ने अपने साथ मिलने को बाध्य किया था, उस समय वह और उसका परिवार उनकी मुट्ठी में था। यह भी कहा जाता है कि नाना सिपाहियों को अपने नेतृत्व में दिल्ली ले जाने को तैयार था, लेकिन अज़ीमुल्ला ने बड़ी चतुराई से यह कहा कि दिल्ली में नाना का कार्य केवल गौण रहेगा, लेकिन कानपुर में सर्वेसर्वा वही होगा। इसलिए विद्रोही कानपुर लौट आये और उन्होंने शहर में अमीरों को लूटना शुरू कर दिया। फिर भी, इस बात का तात्पर्य समझना कठिन है कि नाना ने अंग्रेज़ों के सुरक्षित स्थान पर हमला करने की अपनी इच्छा की सूचना व्हीलर के पास लिख कर क्यों भेजी। क्या इसका कारण नए महत्वपूर्ण पद की वजह से उसके मन में पैदा हुआ गर्व था, या युद्ध-विषयक नैतिकता की भावना थी, जिसको ध्यान में रखकर हिन्दू वीरता की पुरानी प्रथा के अनुसार उसने शत्रु को चेतावनी दिए बिना अचानक हमला करना अनुचित समझा? अंग्रेज़ों के सुरक्षित स्थान पर दिन-प्रति दिन लगातार गोलाबारी की गई, लेकिन यद्यपि विद्रोहियों की संख्या निश्चित रूप से अधिक थी, फिर भी उन्होंने उस पर टूट पड़ने की कभी कोशिश नहीं की। आम तौर पर लोगों का विश्वास था कि उस इलाके में भारी संख्या में सुरंगें बिछी हुई थीं।

"नाउम्मीदी के किले" में जिन शरणार्थियों ने शरण ली थी, उनमें आधी तो स्त्रियां और आधे बच्चे थे। वहां हर समय पुरुष से यह आशा की जाती थी कि वह लड़ाई में हिस्सा लेगा, चाहे उसका कोई भी व्यवसाय रहा हो। घेरे में पड़े हुए उन लोगों को

४२. शेरर, रिपोर्ट आन कानपुर, तिथि १३ जनवरी, १८५६, पृ० ५

४३. एनल्स आफ दि इंडियन रिबेलियन, पृ० ५६८-६६

रात-दिन सजग रहना पड़ता था। सर ह्यू व्हीलर बहुत बूढ़ा था और लड़ाई का पूरा बोझ सहना उसके बस की बात नहीं थी। इसलिए प्रतिरक्षा की मुख्य जिम्मेदारी कप्तान मूर पर आ गई। कप्तान मूर भी काफी होशियार आदमी था। हथियारों और गोला-बारूद की कोई कमी नहीं थी और एक-एक आदमी को तीन से सात तक, आठ-आठ भी बन्दूकें[४४] दी गईं थीं। लेकिन रसद काफी नहीं थी और न उसका वितरण ही समुचित रूप से हुआ था। मौब्रे थामसन ने कहा है, "पहले कुछ दिनों तक बिना विचारे रसद बांटने से कभी-कभी तो बड़े अजीब दृश्य उपस्थित हो जाते थे। कहीं कोई प्राइवेट (असैनिक अंग्रेज) शैम्पेन की बोतल, हैरिंग मछली का डिब्बा और मुरब्बा लिए हुए मुख्य रक्षा-पंक्ति से एक तरफ जाता हुआ दिखाई पड़ता, तो कहीं दूसरी ओर कोई व्यक्ति सामने मछली, रम और मिठाइयां उड़ाता हुआ दीखता। उस समय चावल और आटा सिर्फ औरतों और बच्चों के लिए ही था। लेकिन खाने-पीने के ये मजे जल्दी ही खत्म हो गए, और सबको रोजाना के राशन के लिए दिन में एक दफा का थोड़ा-सा खाना मिलने लगा, जिसमें मुट्ठी भर मटर और मुट्ठी भर आटा होता था, जो कुल मिलाकर भी आधे पिंट से ज्यादा नहीं होता था।"[४५] इस रसद को बढ़ाने की हर सम्भव कोशिश की गई। जब कभी दुश्मन घुड़सवार पास आ जाते, तो उनके एक-आध घोड़े को भी मार दिया जाता। एक बार एक ब्राह्मणी सांड चरता हुआ उनके इलाके में आ गया और उसकी पवित्रता का ध्यान न रखते हुए उसका वध कर दिया गया।" उसे मारना आसान था, उसके शरीर को उठाकर अन्दर ले जाना मुश्किल था। लेकिन भूख ने लोगों की हिम्मत बढ़ा दी थी। थोड़ी ही देर में उसके मांस का शोरबा तैयार था, लेकिन फिर भी बाहरी चौकियों पर तैनात व्यक्ति इस स्वादिष्ट शोरबे से वंचित रह गए।[४६] एक बार दो गश्ती टुकड़ियों ने एक घोड़े से दो बार की खुराक का काम चलाया, यद्यपि कुछ औरतों को यह बात पसन्द न आई। कैप्टन हालिडे घोड़े के मांस का शोरबा ले जाता हुआ गोली का शिकार बना। एक बार एक बाजारू गन्दे कुत्ते को भी हर तरह का लालच देकर पास बुलाया गया और कुछ ही मिनटों के बाद उसका "अधभुना मांस" लेफ्टिनेंट मौब्रे थामसन को खाने को दिया गया, लेकिन उसने इन्कार कर दिया।[४७]

बैरकों की पतली दीवारें जून की भयंकर गर्मी से कोई रक्षा नहीं कर पाती थीं और बहुत-से आदमी तो लू से मर गये। "तोप की नली इतनी गरम हो जाती थी कि उसे छूना भी असम्भव हो जाता और एक-दो बार तो धूप की गर्मी से या नली गरम हो जाने से दोपहर में गोले अपने आप छूट गये। मरे हुए जानवरों की लाशों के बचे हुए हिस्से गर्मी में सड़ने लगे और उनकी दुर्गन्ध ने हवा को विषाक्त बना दिया, लेकिन भाग्यवश प्रकृति द्वारा भेजे गए रक्षक, गिद्ध और अन्य पक्षी, वहां घिरे हुए लोगों की सहायता के लिए आ गए।

४४. थामसन, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ६४
४५. वही, पृ० ७८
४६. वही, पृ० ८०-८१
४७. थामसन, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ८३-८४

पानी की कमी से लोगों को भयंकर कष्ट था। वहां केवल एक ही कुआं था, जिसकी कोई आड़ नहीं थी। जब भी कोई उससे पानी भरने की कोशिश करता तो निशानेबाज सिपाहियों की गोलियां बरसने लगतीं। रात के अन्धेरे में भी चर्खी की चरचराहट से विद्रोहियों को यह पता चल जाता कि कोई वहां पानी भरने की हिम्मत कर रहा है। एक बाल्टी पानी की कीमत आठ से दस शिलिंग तक थी। एक असैनिक अंग्रेज़ जान मैकिलप "कुएं का कप्तान" बन गया और उसने निरीह प्राणियों के लिए पानी भरने का जिम्मा लिया। अपने इस सेवा कार्य में कई बार बाल-बाल बचने के बाद एक दिन वह जख्मी हो ही गया, और कुछ ही समय बाद मर गया। मौब्रे थामसन ने कहा है, "स्त्रियां और बच्चे प्यास से अति व्याकुल थे और आदमी उन निरीह बच्चों की पानी की पुकार को सुन-सुन कर बेचैन हो गए थे; उन्हें, उनमें से अधिकांश को, भला क्या मालूम था कि पानी कितनी भारी कीमत चुका कर मिलता है। मैंने अपने साथी अफसरों के बच्चों को इस उम्मीद में पानी भरने के पुराने थैलों के टुकड़े चूसते हुए और कैनवास के टुकड़े तथा चमड़े की पट्टियां मुंह में डालते हुए देखा है कि शायद उन्हें अपने सूखे होठ तर करने के लिए कहीं नमी की एक बूंद ही मिल जाय।"[४८]

घेरा डालने के लगभग एक सप्ताह बाद उन घिरे हुए लोगों पर एक भयंकर विपत्ति आई। फूस के छप्पर वाली उस बैरक को शायद किसी गोले से आग लग गई, जिसमें बीमारों और जख्मियों को रखा गया था और पूरी कोशिशों के बावजूद भी दो तोपची लपटों की भेंट हो गए। उस बैरक में ही सारी चिकित्सा-सामग्री भी भस्म हो गई और जख्मियों की मरहम-पट्टी का भी कोई उपाय न रहा। "प्यास से सूखे गले वाले उन निरीह पीड़ितों को देख कर ही छाती फटी जाती थी, जिनकी प्यास को थोड़ा बहुत ही शान्त किया जा सकता था और उनकी चिकित्सा का कोई भी साधन नहीं रहा था।"[४९] ऊपर छत न रहने पर कुछ औरतों को खाई में शरण लेनी पड़ी और वहां खाली जमीन ही उनका बिस्तर थी।

मौत हर तरफ से लगातार छापा मार रही थी। मेजर लिंडसे एक गोली की छितरन से अन्धा हो गया और कुछ दिन बाद मर गया। एक-दो दिन बाद उसकी पत्नी भी चल बसी। हेबर्डन जब एक स्त्री को थोड़ा पानी दे रहा था तो जख्मी हो गया और एक सप्ताह तक भयंकर यन्त्रणा झेलने के बाद मर गया। लेफ्टिनेंट इकफोर्ड बरामदे में बैठे-बैठे मारा गया। श्रीमती व्हाइट दोनों हाथों में अपने दोनों जुड़वां बच्चे लिए हुए अपने पति के साथ एक दीवार की आड़ से गुजर रही थीं। एक गोली ने उनके पति को वहीं समाप्त कर दिया और श्रीमती व्हाइट के दोनों बाजू टूट गए। मैजिस्ट्रेट हिलर्सडन बरामदे में अपनी पत्नी की तरफ जाते हुए मारा गया। जनरल का पुत्र लेफ्टिनेंट व्हीलर, खाइयों में जख्मी हो गया था। वह अपने कमरे में अपने माता-पिता और बहनों के सामने ही सोफे पर बैठा था कि एक गोली लगी और उसका अन्त हो गया।[५०]

---

४८. थामसन, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ८७

४९. थामसन, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ९४

५०. थामसन, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ९९-११०

भारतीय नौकरों ने भी अपने यूरोपीय मालिकों की तरह ही कष्ट झेले। उस स्थान पर उनकी संख्या काफी थी। थामसन का कहना है कि लेफ्टिनेंट ब्रिजिज के तीन नौकर तो एक ही गोले के शिकार बने। लेफ्टिनेंट गोड के एक नौकर को एक बैरक से दूसरी में कुछ खाना ले जाते हुए सिर में गोली लगी। उनमें बहुत-से लड़ाई में मारे गए।'[५१]

मृतकों को ठीक तरह से दफनाया नहीं जा सकता था। लाशें रात के अंधेरे में एक कुएं में फेंक दी गईं। एक ही कफन था, जो पहले दिन की सुबह मरने वाले पहले व्यक्ति श्री मर्फी की लाश को दफनाने के काम आ गया था। वह लाश वहीं दफना दी गई थी। बाद में किसी भी लाश को ठीक से दफनाना सम्भव नहीं था।

जब मनुष्य मृत्यु बरसा रहा था, उस समय भी प्रकृति अपने रचनात्मक कार्य में व्यस्त थी। "इन भयंकर दिनों में बच्चे पैदा भी हुए और मरे भी, और तीन या चार माताओं को उस संकटकाल में प्रसव-कष्ट झेलना पड़ा, जब कि उस कष्ट को भुलाने के लिए कोई भी आशा या खुशी बाकी नहीं थी।"[५२] मां-बाप हमेशा अपने बच्चों के लिए चिन्तित रहते थे। भला बच्चे क्या समझते कि बाहर कितना खतरा है। उतनी-सी जगह में ऊब जाने के कारण, मां की आंख बचा कर वे बाहर निकल जाते और फिर भला गोलियां उम्र या स्त्री-पुरुष के भेद का थोड़े ही ध्यान रखती हैं!

वह भयंकर युद्ध था, जिसमें परम्परागत या मानवीय नियमों को तिलांजलि दे दी गई थी और कोई भी पक्ष बन्दी को जीवित नहीं छोड़ता था। घिरे हुए अंग्रेजों का पहला बन्दी किसी तरह बच कर भाग गया। मौब्रे थामसन ने कहा है, "यह उचित नहीं था कि हमारी दुर्दशा के समाचार विद्रोहियों के पास पहुंचें, इसलिए, उसके बाद इस बुराई को रोकने के उद्देश्य से, हमारे हाथ जो भी बन्दी पड़ा उसे सदर मुकाम से पूछे बिना ही समाप्त कर दिया गया।"[५३]

साधनों की कमी और घटती हुई संख्या के कारण इस स्थान के रक्षक अनिश्चित समय तक उसकी रक्षा की आशा नहीं कर सकते थे। कलकत्ते से पत्र-व्यवहार करने का कोई तरीका नहीं रह गया था और यद्यपि पूरब से यूरोपीय फौजों के आने की उम्मीद थी, ये लोग सिर्फ लखनऊ से ही तत्काल सहायता मांग सकते थे। इसलिए, पहले हफ्ते के घेरे के बाद जनरल व्हीलर ने लखनऊ से सहायता मांगी। "६ तारीख से नाना साहब ने देशी सैनिकों की मदद से हमें घेर रखा है। देशी सैनिक ४ तारीख की सुबह हमसे अलग हो गए थे। दुश्मन के पास २४ पौंड के गोले वाली दो तोपें तथा कई और तोपें हैं। हमारे पास ६ पौंड के गोले वाली सिर्फ दो तोपें हैं। सब ईसाई लोग एक अस्थायी खाई में हमारे साथ हैं। हमने बड़े प्रशंसनीय ढंग से अपनी रक्षा की है, लेकिन हमारी हानि भी बहुत हुई है। हमें मदद की जरूरत है।" उसने आगे कहा कि "अगर हमारे पास २०० आदमी भी होते तो हम इन दुष्टों को मजा चखा सकते थे और आपकी भी

---

५१. वही, पृ० १११
५२. थामसन, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १०४
५३. वही, पृ० ७५

मदद कर सकते थे।" लेकिन लखनऊ खुद मुसीबत में था, वह क्या मदद दे सकता था। यद्यपि वहां अभी घेरा नहीं पड़ा था, लेकिन शत्रु-सेनाएं दूर नहीं थीं। सर हेनरी लारेंस और उनके सलाहकार विवश थे और उन्होंने कानपुर-स्थित अपने देशवासियों को ईश्वराधीन छोड़ दिया। लारेंस ने उत्तर दिया, "हम अपने सुरक्षित स्थान में काफी मजबूत हैं, लेकिन नदी के रास्ते भेजने से हमारी बड़ी टुकड़ी का बलिदान ही होगा; आप को मदद नहीं पहुंच सकेगी। कृपा करके मुझे स्वार्थी मत समझना। अगर मुझे सफलता की आशा दिखाई दे, तो मैं भारी जोखिम भी उठाने को तैयार हूं।"[५४] इस प्रकार दो ही तरीके थे—गवर्नर-जनरल ने जिन यूरोपीय सैनिकों को भेजने का वचन दिया था, उनका शान्तिपूर्वक इन्तजार करना, या जब मदद की कोई उम्मीद न रहे तो दुश्मन से समझौता कर लेना।

लेकिन जनरल व्हीलर निराश नहीं हुआ। वहां यूरेशियन भी थे, जो स्थानीय भाषा जानते थे, और उनका रंग इतना काला था कि वे देशी लोगों में पहचाने नहीं जा सकते थे। उनमें से एक, ब्लेनमैन, एक-दो बार नाना के शिविर में जाकर बिना किसी दुर्घटना के वापस भी आ गया था। उसे इलाहाबाद जाने को कहा गया। लेकिन वह पकड़ा गया और उसका सामान लूट लिया गया। शायद उस पर किसी को शक नहीं हुआ, क्योंकि उसका और कुछ नुकसान नहीं हुआ।[५५] निचले इलाके के लोगों से सम्पर्क स्थापित करने में सफलता न मिली। अन्त में कमिसरियट के शेफ़र्ड ने शहर में जा कर यथासम्भव जानकारी एकत्रित करने का प्रस्ताव रखा। लेकिन उसका काम सिर्फ खबरें लाना ही नहीं था। उसे उन प्रभावशाली लोगों के जरिये विद्रोहियों में यथासम्भव फूट पैदा करनी थी, जो अंग्रेज़ों के पक्षपाती माने जाते थे। शेफ़र्ड ने बताया है कि जनरल ने उससे "शत्रु की इच्छाओं और कार्यों" की ठीक खबर लाने और यह पता लगाने को कहा कि इलाहाबाद या लखनऊ से किसी सहायता की सम्भावना है या नहीं। "तब उसने कुछ मुस्कराते हुए मुझे नन्ने नवाब (उर्फ मोहम्मद अली खां) के पास जाने को कहा। जनरल ने कहा, 'वह हमारा वफादार है और मैं उस पर भरोसा कर सकता हूं। उससे कहना कि वह विद्रोहियों में फूट डालने की कोशिश करे, और अगर वे हमें तंग करना बन्द कर देंगे या यहां से चले जाएंगे, तो मैं उसके लिए बहुत कुछ करूंगा।' उसने मुझ से यह भी कहा कि अगर मुझे नवाब न मिले तो मैं शहर के अन्य प्रभावशाली महाजनों और दूसरे लोगों के पास जाऊं और अगर वे हमें मदद देने में सफल हों तो मैं उन्हें इनामों का वचन दे दूं। मुझे इतना अधिकार दिया गया था कि मैं उस व्यक्ति को एक लाख रुपये तक इनाम या जीवन-भर पेन्शन का वचन दे सकता था, जो वांछित कार्य करने में सफल हो।"[५६] यह आश्चर्य की बात नहीं है कि ऐसे संकट में व्हीलर

---

५४. गब्बिन्स, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ५०७, परिशिष्ट २। फारेस्ट, ए हिस्ट्री आफ दि इंडियन म्यूटिनी, जिल्द १, पृ० ४४०

५५. थामसन, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १३०

५६. शेफर्ड, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ५९-६०

ने नन्ने नवाब पर भरोसा जमाया, जिसके हाथ में तोपखाने की कमान थी और जो अंग्रेज़ों के आश्रय-स्थान पर रात-दिन गोले बरसा रहा था। सिपाहियों ने कानपुर लौट कर उसके मकान पर हमला कर दिया था और नवाब को नीचा दिखाया था। बाद में उसने उनसे समझौता कर लिया और उसे तोपखाने की कमान सौंप दी गई, जिसके लिए वह ज़रा भी योग्य नहीं था। इस तरह के अनिच्छुक लोग ढिलमिल ही थे और वे पहला मौका मिलते ही विद्रोहियों को धोखा दे सकते थे। लेकिन शेफ़र्ड, ब्लेनमैन की तरह भाग्यशाली नहीं था। वहां से निकलने के थोड़ी देर बाद ही उसे पकड़ कर जेल में डाल दिया गया। वहां से वह तब तक न छूटा जब तक हैवलाक के सैनिक कानपुर नहीं पहुंचे।

इस दौरान में नाना ने औपचारिक रूप से शासन संभाल लिया था। दूसरी घुड़सवार रेजीमेंट के सूबेदार टिकासिंह को जनरल, और सूबेदार दलभंजन सिंह और गंगादीन को कर्नल और नाना की अपनी सेना के सेनापति ज्वालाप्रसाद को ब्रिगेडियर बना दिया गया। न्यायिक प्रशासन का कार्य नाना के भाई बाबा भट्ट को सौंपा गया। और चोर तथा अन्य अपराधी उसके सामने पेश किए गए और उन्हें सजा दी गई। लेकिन वे सजाएं ब्रिटिश भारत के कानून के मुताबिक नहीं थीं। हिन्दू अपराध कानून, जिनको मराठा न्यायिक अधिकारी शासन छीने जाने से पहले से जानते थे, फिर से लागू कर दिए गए। इसलिए, अपराधियों को अंग-भंग की सजाएं दी गईं। इसका सिद्धांत यह था कि शरीर के जिन अंगों से अपराध किया गया हो, उन्हें कलम कर दिया जाए। यह नहीं कहा जा सकता कि इन भयानक सजाओं का इच्छित प्रभाव होता था या नहीं। लेकिन, नाना सिर्फ हिन्दू राज्य का ही प्रधान नहीं था। ग़दर शुरू होने के साथ-साथ इस्लाम का हरा झण्डा भी लहराने लगा था, लेकिन दोनों धर्मों के लोगों में कोई झगड़ा नहीं था। वे सब चाहते थे कि पहले की सब बातें फिर से चलाई जाएं, प्राचीन संस्थाएं फिर से खोली जाएं और पहले के अच्छे दिन फिर वापस आ जाएं। हो सकता है अज़ीमुल्ला धर्म को इतना महत्व न देता हो, लेकिन ऐसे कट्टर मुसलमान भी थे जो नाना के दरबार में जाते थे और नए शासन के पक्ष में थे।

२४ जून को व्हीलर ने अपना अन्तिम सन्देश लखनऊ भेजा। वह पीड़ित हृदय से निकली हुई निराशा की अन्तिम पुकार थी। उसने लिखा, "केवल ब्रिटिश आत्मा जीवित है, लेकिन वह ज्यादा नहीं जी सकती।" "निश्चय ही हमें पिंजरे में चूहों की तरह नहीं मरना है।" सैनिकों को पहले ही आधा राशन मिल रहा था और इस हिसाब से भी रसद चार दिन से ज्यादा न चलती। गोला-बारूद भेजने के लिए भी कहा गया था, लेकिन समाप्तप्राय सामान की जगह और आने की कोई उम्मीद नहीं थी। अगर बारिश आ जाती, जो किसी भी दिन आ सकती थी, तो अंग्रेज़ों की हालत और भी खराब हो जाती। स्पष्ट है, अन्त निकट ही था।

अन्त में शत्रु ने कुछ छूट दी, और राहत का सन्देश लाने वाली पूर्वी भारत की एक औरत थी, जिसके बारे में लोगों के भिन्न-भिन्न मत हैं। मौब्रे थामसन ने लिखा है कि "घेरा पड़ने के इक्कीसवें दिन (स्पष्ट ही उसने ५ जून से दिनों की गिनती की थी) मेरी टुकड़ी ने गोला-बारी कुछ देर के लिए रोकी ही थी कि ऊपर से पहरा देने वाले

एक पहरेदार ने चिल्लाकर कहा, 'एक औरत आ रही है।' उसे गुप्तचर समझा जा रहा था और पहरे के एक आदमी की गोली उसका काम तमाम कर देती, लेकिन मैंने उसका हाथ रोक कर उस औरत की जान बचाई। उसकी गोदी में एक बच्चा था, लेकिन उसके तन पर ठीक से कपड़े भी नहीं थे, नंगे पैर थी—न जूते थे और न जुराबें। मैंने पहचान लिया कि वह श्रीमती ग्रीनवे है। वह कानपुर के एक ऐसे धनी परिवार की थी जो छावनियों में व्यापार करता था। मैंने रास्ते की रोक पर से उसे बेहोशी की सी हालत में अन्दर ले लिया।"[५७] श्रीमती ग्रीनवे के पास अंग्रेज़ी में हस्ताक्षर रहित एक पत्र था जो "महा महिमामयी महारानी विक्टोरिया के प्रजाजनों" को सम्बोधित था। थामसन वह पत्र कप्तान मूर के पास ले गया। पत्र संक्षिप्त था और उसमें कहा गया था—"जिन लोगों का लार्ड डलहौज़ी के कारनामों से कोई ताल्लुक नहीं है और जो हथियार डालने को तैयार हैं, वे लोग सुरक्षित रूप से इलाहाबाद जा सकते हैं।" व्हीलर को अब भी कलकत्ते से सहायता पहुंचने की आशा थी और वह नाना से समझौता करने को तैयार नहीं था। लेकिन मूर ने कहा कि औरतों और बच्चों की ओर पहले ध्यान देना जरूरी है। उन्होंने भयंकर कष्ट सहे थे, और चूंकि रसद भी लगभग समाप्तप्राय थी, इसलिए इज्जत के साथ आत्मसमर्पण के अलावा और कोई चारा नहीं था। अगले दिन अज़ीमुल्ला और ज्वालाप्रसाद बातचीत के लिए आए और यह तय पाया कि वह स्थान खाली कर दिया जाए। हर आदमी को अपने साथ अपने हथियार और साठ गोलियां ले जाने की इजाजत दी गई। यह भी कि घायलों औरतों और बच्चों को सवारी दी जाए और घाट पर खाने-पीने के सामान के साथ नावें तैयार रहें। अज़ीमुल्ला ये प्रस्ताव नाना के पास ले गया, लेकिन उसने इस बात पर जोर दिया कि रवानगी उसी रात को हो जानी चाहिए। लेकिन रक्षक सेना ने सुबह से पहले जाने में असमर्थता प्रकट की। अन्त में एक संदेशवाहक नाना की मौखिक स्वीकृति लाया। तब टाड उस कागज को ले कर नाना के घर गया और आत्मसमर्पण की उस सन्धि पर नाना के हस्ताक्षर करा कर आध घण्टे में लौट आया। नाना की सचाई के प्रमाण के रूप में ज्वालाप्रसाद दो व्यक्तियों को बन्धक रखने के लिए ब्रिटिश शिविर में लाया। सूर्य

---

५७. थामसन, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १४८-४६। फारेस्ट ने कालिका प्रसाद के आधार पर यह कहा है कि व्हीलर के पास वह पत्र ले जाने वाली श्रीमती जेकब थी। फ़ारेस्ट, ए हिस्ट्री आफ़ दि इण्डियन म्यूटिनी, जिल्द १, पृ० ४५१। स्पष्ट ही शेफर्ड उस महिला को नहीं जानता था। पहले वह कहता है कि प्रचलित खबरों के मुताबिक (ए पर्सनल नरेटिव, पृ० ७०) श्रीमती ग्रीनवे को एक पत्र लेकर भेजा गया था, लेकिन बाद में वह कहता है कि "श्रीमती हेनरी जेकब" उस शर्तनामे को जनरल व्हीलर के पास लाई थी (ए पर्सनल नरेटिव, पृ० ७१)। लेफ्टिनेंट थामसन ने उस महिला को उस स्थान में आने में मदद दी थी और उसका निश्चित मत है कि शान्ति का प्रस्ताव लाने वाली श्रीमती ग्रीनवे ही थी। कालिका प्रसाद और उसके समर्थकों के कथन की अपेक्षा मुझे यह कथन मानने में कोई संकोच नहीं है।

डूबने से पहले ही अंग्रेजों की तोपें नाना के पक्ष को सौंप दी गई और कप्तान टर्नर तथा लेफ्टिनेंट डेलाफास और गोड को नदी की तरफ यह देखने के लिए ले जाया गया कि वहां नावें तैयार हैं या नहीं। उन्होंने वहां करीब चालीस देशी नावें "लंगर डाले और जाने के लिए तैयार देखीं, जिनमें से कुछ पर छतें थीं और शेष पर छतें लगाई जा रही थीं।"[५८] रात को नींद के जोर में किसी सिपाही के हाथ से बन्दूक गिर गई और उसने हल्ला मचा दिया, लेकिन ज्वालाप्रसाद ने खुद जाकर शांति स्थापित कर दी।

२७ तारीख की सुबह सोलह हाथी और सत्तर से अस्सी के बीच पालकियां निष्क्रान्तों को नावों तक ले जाने के लिए आईं। लेकिन, सब लोग उन पर न जा सके और खुद कप्तान मूर को, जो इस कार्य का निरीक्षण कर रहा था, दूसरे फेरे में जाना पड़ा। "औरतों और बच्चों को हाथियों और बैलगाड़ियों पर बिठाया गया; जब आगे का दल चला गया, तो सब छोटे-बड़े सशक्त व्यक्ति पैदल गए।" पहले दल के रवाना हो जाने के बाद सिपाही उस स्थान पर आए। मौब्रे थामसन ने लिखा है "उन्होंने अपने उन भूतपूर्व अफसरों की बाबत पूछताछ की, जिनकी उन्हें याद आती रहती थी और उन्हें उनकी मृत्यु का समाचार पाकर बहुत दुःख हुआ।" "मैंने ५३वीं रेजीमेंट के एक सिपाही से पूछा 'क्या हम बिना छेड़छाड़ के इलाहाबाद पहुंच जाएंगे ?' उसने अपना विश्वास प्रकट किया कि हम से कोई छेड़छाड़ नहीं होगी; मैं समझता हूं कि प्रस्तावित मार-काट की योजना की जानकारी केवल आयोजकों तक ही सीमित थी। निरीह बूढ़ा सर ह्यू व्हीलर, उसकी पत्नी और पुत्री नावों तक पैदल गए। सबसे पीछे मेजर विबार्ट था, जो उस सुरक्षा-स्थल से निकलने वाला अन्तिम अफसर था। कुछ विद्रोही सिपाहियों ने, जो पहले उसकी रेजीमेंट में थे, उसका सामान पहुंचाने का आग्रह किया। उन्होंने सन्दूक एक बैलगाड़ी पर लाद दिए और अत्यन्त आदर सहित मेजर की पत्नी और परिवार को नावों तक पहुंचाया।"[५९] नौ बजे तक सब लोग नावों में बैठ गए थे। रास्ते में अगर कुछ हुआ भी होगा तो मौब्रे थामसन और डेलाफास को उसका पता नहीं था। नदी में पानी कम था, नावों तक जाने का कोई रास्ता नहीं था तथा पुरुषों, औरतों और बच्चों को पानी में से होकर जाना पड़ा।

उसके बाद जो कुछ हुआ, उसका वर्णन मौब्रे थामसन ने विस्तार से किया है। असली बात किसी को भी ज्ञात होने की सम्भावना नहीं थी, क्योंकि कोई भी व्यक्ति सब घटनाएं नहीं देख सकता था। उस दिन सुबह नदी के किनारे हजारों दर्शक जमा थे, जो अपने भूतपूर्व शासकों को जाते हुए देखने आए थे। लेकिन, बाद में हत्याकाण्ड में जो चार व्यक्ति बचे, उनमें मौब्रे थामसन और डेलाफास ही ऐसे दो सबसे विश्वस्त साक्षी थे,

---

५८. थामसन, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १५६। कानपुर से सम्बन्धित हर बात की तरह इस बात में भी लोगों की अलग-अलग राय है कि घिरे हुए लोगों के लिए तैयार की गई नावों की संख्या कितनी थी। शेफ़र्ड का कहना है कि सीमा-शुल्क घाट पर पड़ी चौबीस नावें पकड़ ली गईं और उन्हें यात्रा के लिए तैयार कर लिया गया। शेफ़र्ड, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ७२। डेलाफास ने यह नहीं बताया कि नावें कितनी थीं।

५९. थामसन, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १६३-६५

जो अपने दुःखद अनुभव बताने को जीवित बच गए थे। वे दोनों प्रशिक्षित प्रेक्षक थे। डेलाफास का विवरण बहुत संक्षिप्त है और मौब्रे थामसन का ज्यादा विस्तृत। दोनों को ही नाना और उनके सलाहकारों पर पूरा विश्वास नहीं था।

थामसन ने लिखा है, "ज्यों ही मेजर विबार्ट अपनी नाव में बैठा, आज्ञा मिली 'चलो', लेकिन किनारे से एक इशारा मिलते ही देशी नाविक, जो कुल मिलाकर आठ थे, और हर नाव पर एक-एक के हिसाब से नियुक्त थे, कूद पड़े और किनारे की तरफ भागे। हमने एकदम उन पर गोलियां चलाई।[६०] लेकिन उन में से अधिकांश निकल भागे, और अब वे कानपुर के आसपास अपना वही पुराना व्यवसाय करते हैं। इन लोगों ने भागने से पहले अधिकांश नावों की फूस की छतों पर जलता हुआ कोयला रख दिया था। नाविकों के जाते ही उन सैनिकों ने भी किनारे से हम पर गोलियां बरसानी शुरू कर दीं, जो मेजर विबार्ट को घाट तक लाए थे। नावों के जलने से जो अस्तव्यस्तता फैली उसके बावजूद हम यथासम्भव उन घुड़सवारों की गोलियों का जवाब देते रहे, जो कुल मिलाकर करीब पन्द्रह या सोलह थे। लेकिन, हम पर गोलियां चलाने के बाद ही वे एकदम चले गए।"[६१] तब भयंकर हत्याकाण्ड मचा। यात्री पानी में कूद कर नावों को ढकेलने की कोशिश कर रहे थे, लेकिन बहुत-सी नावें नहीं हिलीं। इधर-उधर छिपे हुए स्थानों से गोली चलनी शुरू हो गई और नावों की फूस की छतें जलती रहीं। नावों के पीछे छिपी हुई औरतें और बच्चे गोलियों की वर्षा से बचने के लिए "ठोड़ी तक पानी में खड़े हुए थे।" विबार्ट की नाव गहरे पानी में बह चली। उसकी फूस की छत भी जली नहीं थी। मौब्रे थामसन तैर कर उसकी नाव पर गया और उसे ऊपर चढ़ा लिया गया। एक और नाव घाट से बहाव में बह चली, लेकिन एक गोली ने उसे डुबो दिया। उसके बचे हुए यात्रियों को विबार्ट की नाव पर चढ़ा लिया गया। हाथों और लकड़ी के टुकड़े की मदद से यात्रियों ने नाव को खतरे से बाहर निकाल ले जाने की भरसक कोशिश की, लेकिन चारों तरफ से गोलियां चलती रहीं। लगभग दोपहर को वे लोग बड़ी तोपों की मार से बाहर निकल गये, लेकिन फिर भी सारा दिन पीछा करने वाले उन पर गोलियों की बौछार करते रहे। रात को उन पर जलते हुए तीर फेंके गए और उनकी नाव को आग लगाने के लिए एक नाव भी भेजी गई।

सुबह उन्हें थोड़ा-सा आराम मिला, लेकिन नदी में नहाते हुए कुछ गांव वालों से उन्हें पता लगा कि बाबू रामबख्श नामक एक शक्तिशाली जमींदार नजफगढ़ में उन्हें रोकने के लिए इन्तजार कर रहा है। करीब दो बजे वे लोग उस जगह पहुंचे, और बदकिस्मती से उनकी नाव रेत में धंस गई और किनारे के बन्दूकचियों को स्थिर निशाने पर गोली चलाने का मौका मिल गया। बाद में वे लोग एक तोप भी लाए, लेकिन खुशकिस्मती से बारिश हो जाने के कारण वह बेकार हो गई। शाम को सशस्त्र सैनिकों से भरी हुई एक नाव कानपुर से आई, लेकिन उनकी नाव भी रेतीले किनारे पर फंस गई। भगोड़ों ने उनके हमले का पहिले से अनुमान लगाकर पूरी तरह से उनके छक्के छुड़ा दिए। उनकी

६०. रेखांकित अंश मेरा है।

६१. वही, पृ० १६६-६७

नाव फिर फंस गई, यद्यपि जल्दी ही एक तेज आंधी ने उसे वहां से छुड़ा दिया। लेकिन उनकी कठिनाइयों का अभी अन्त नहीं हुआ था। सुबह उन्हें पता लगा कि उनकी नाव ऐसी धार में पड़ गई है, जिसमें नाव चलाना मुश्किल है। और उधर, पीछा करने वाले भी दूर नहीं थे। नदी के पानी के अलावा उन्हें लगातार दो दिन और दो रात से एक ग्रास खाना भी नहीं मिला था और निरन्तर परिश्रम के कारण वे बहुत थक गए थे, लेकिन वे अपने जीवन के लिए लड़ रहे थे और आत्मरक्षा की भावना ही उन्हें जीवित रखे हुए थी। विबार्ट ने थामसन और डेलाफास ने कहा कि वे बारह अन्य व्यक्तियों के साथ उतर कर आक्रमणकारियों पर हमला बोल दें। सिपाहियों और अनाड़ियों की वह मिली-जुली भीड़ उनका मुकाबला न कर सकी, लेकिन जब वे भीड़ में से रास्ता काट कर बाहर आए तो उन्होंने देखा कि नाव वहां नहीं है। पीछा करने वालों से बचने में असमर्थ उस दल ने बाद में एक मन्दिर की शरण ली। मन्दिर में खाने को कुछ नहीं था, लेकिन एक गढ़े में कुछ गन्दा पानी था, जिससे उन्होंने अपनी प्यास बुझाई। उन्हें यह आश्रय भी छोड़ना पड़ा और वे नदी की तरफ चल दिए। उस समय तक उनकी संख्या घटकर सात रह गई थी। दो व्यक्ति तैरते हुए गोली के शिकार बने और तीसरा जब रेतीले किनारे पर पहुंचा तो उसे सिर पर चोट लगी। अन्त में पीछा करने वालों ने पीछा करना छोड़ दिया। तीन घण्टे तैरने के बाद बचे हुए लोगों ने आराम करने का निश्चय किया। वे किनारे पर गले तक पानी में बैठे थे, कि अचानक उन्हें किनारे से किसी ने आत्मीयता भरी आवाज में पुकारा। शुरू में उन्हें अपनी खुशकिस्मती पर विश्वास नहीं होता था, लेकिन फिर उन्हें यह भरोसा हो गया कि आखिरकार अब वे सुरक्षित हैं। मौत के डर से उनमें जो शक्ति बनी हुई थी वह एकदम थकावट में बदल गई और वे अपने को बहुत शक्तिहीन अनुभव करने लगे। उन्हें उस उथले पानी से बाहर निकाला गया। थामसन के शरीर पर केवल एक कमीज थी, डेलाफास की कमर पर एक कपड़ा बंधा था, सल्लीवन और मर्फी के शरीर पर कुछ भी नहीं था। उनका स्वागत-कर्ता मुरार मऊ का दिग्विजयसिंह था। जो अवध का एक जमींदार था। २६ जून की शाम को वे उसके यहां पहुंचे।

डेलाफास का संक्षिप्त वर्णन कुछ हद तक मौब्रे थामसन के वर्णन से भिन्न है। "हम नदी में उतरे और नावों पर पहुंच गए; जरा भी छेड़छाड़ नहीं हुई, लेकिन ज्योंही नावों पर पहुंच कर हमने अपनी बन्दूकें रखीं और आसानी से नाव चलाने के लिए कोट उतारे, त्योंही घुड़सवारों ने वहां छिपी हुई दो तोपें चलाने का हुक्म दिया; उन्हें बाहर लाया गया और तत्काल ही उनसे गोले बरसने लगे। उधर, सिपाही सब तरफ से आकर गोलियों की बौछार करते रहे। लोग नावों से कूद पड़े, और नावों के लंगर खोलने की कोशिश करने की अपेक्षा जो भी पहली खुली हुई नाव उन्होंने देखी, उसी तरफ भागे। नदी के दूसरे किनारे पर सिर्फ तीन नावें सुरक्षित पहुंचीं, लेकिन बहुत-से घुड़सवारों और पैदलों की देखरेख में दो तोपें वहां भी मौजूद थीं। बहाव की तरफ एक मील तक जाते हुए हमारे छोटे-से दल के आधे व्यक्ति हताहत हो चुके थे, और हमारी दो नावें उलट गई थीं।"[६२]

---

६२. एनल्स आफ दि इण्डियन रिबेलियन, पृ० ६४८

थामसन और डेलाफास सम्भवतः अलग-अलग नावों पर थे। उनके वर्णनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि अगर रास्ते में कोई घटना घटी होगी, तो उसका उन्हें पता नहीं था। मौब्रे थामसन ने जोर देकर कहा है कि उनके नावों पर चढ़ने के समय तक सिपाही बहुत शिष्टता से पेश आ रहे थे। उसने कहा है कि जब तक मेजर विबार्ट, जो शिविर छोड़ने वाला अन्तिम व्यक्ति था, अपनी नाव पर नहीं चढ़ा, तब तक कुछ नहीं हुआ। यह समझा जा सकता है कि दल के पीछे कर्नल ईवार्ट के मारे जाने और पालकी से उतरते हुए जनरल व्हीलर का सिर काट लिए जाने की कहानी पुष्ट प्रमाणों पर आधारित नहीं है। अगर ईवार्ट पहले मारा गया होता तो घाट पर उसकी खोज होती। दूसरे, व्हीलर पालकी पर चढ़ा ही न था; वह तो अपनी पत्नी और पुत्री के साथ नदी तक पैदल आया था।[६३] यह स्पष्ट नहीं है कि पहली गोली मौब्रे थामसन की नाव के आदमियों ने चलाई या किनारों पर खड़े घुड़सवारों ने? क्योंकि उसका यह निश्चित कथन है कि जब नाविक उन्हें छोड़ कर भागे तो उन पर एकदम गोली चलाई गई, और उसी समय मेजर ईवार्ट के साथ आए घुड़सवारों ने गोलियां चलाना शुरू कर दिया। यह भी स्पष्ट है कि कुछ नाविक भागते हुए मारे गए थे, क्योंकि मौब्रे थामसन ने आगे कहा है कि उनमें से अधिकांश बच गए थे। अंग्रेज़ों को बहका कर नदी पर ला कर उन्हें मारने के षड्यन्त्र की कहानी की जांच इन्हीं तथ्यों के आधार पर करनी होगी।

यद्यपि यह कहानी बहुत संशयात्मक प्रमाण पर आधारित है, फिर भी यूं ही इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। यह मानना पड़ेगा कि नदी के किनारे पर तोपें रखी गई थीं और सैनिक तैनात किए गए थे। नावों के चौधरी गुरदयाल और लोचन ने कहा कि इशारा होने पर एक नाव पर गोली चलाई गई, और फिर वह आग पास-पास बंधी हुई नावों पर भी फैल गई। हो सकता है कि चौहान जमींदारों के वहां आने की पूर्व-निश्चित योजना न हो, क्योंकि अंग्रेज़ों के आत्मसमर्पण की खबर काफी तेजी से फैल गई थी और आस-पास के गांवों के लोग उन्हें जाते हुए देखने के लिए उस दिन सुबह ही वहां जमा हो गए थे। यह कहना आसान नहीं है कि इस षड्यन्त्र में नाना का हाथ था। विद्रोही सेना के प्रधान के नाते उसे इन कृत्यों की जिम्मेदारी से मुक्त नहीं किया जा सकता, और एक तरह से हत्याकाण्ड का दोषी उसी को ठहराना होगा। लेकिन जान लैंग उसे अनिश्चितता का लाभ देने को तैयार है। उसने लिखा है, "किसी प्रमाण के अभाव में, खासतौर से इस विषय पर सब पत्र पढ़ लेने के बाद जुलाई १८५७ में कानपुर में हुई नीचतापूर्ण धोखेबाजी और भयंकर हत्याकाण्ड का जिम्मेदार उस व्यक्ति को ठहराऊं, तो मुझे खेद होगा। नानासाहब अंग्रेज पुरुषों और महिलाओं को बहुत अच्छी तरह समझते थे और जो अंग्रेज मारे गए थे उनमें से अधिकांश को व्यक्तिगत रूप से (यदि घनिष्ठ रूप से नहीं) जानते थे। इसलिए यह समझना उचित ही होगा कि जब उन्होंने नावें तैयार करने का आदेश दिया तो हृदय से उनकी यही इच्छा थी कि ईसाई लोग कलकत्ते चले जाएं,

---

६३. व्हीलर के नौकर का विश्वास था कि उसका स्वामी खैरियत से एक नाव पर चढ़ गया था।

और इसके बाद जो कुछ हुआ वह उन लोगों का काम था जो नानासाहब और ब्रिटिश सरकार के बीच इतना अन्तर डाल देना चाहते थे कि भविष्य में शान्ति और समझौता हो ही न सके। नानासाहब इस बात को बहुत अच्छी तरह जानते थे कि आत्मसमर्पण करने वाले अंग्रेज़ों की जान बचाने का असर यह होगा कि अगर अंग्रेज़ फिर से भारत के विजेता के रूप में आएंगे तो उसकी अपनी जान बच सकेगी। यही कारण था कि उसने सर ह्यू व्हीलर को वह वचन दिया।"[६४] यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि उस दिन सुबह सिपाहियों की गोलियों से बचने वाली औरतों और बच्चों की रक्षा नाना ने की थी और उसी के आदेश से हत्याकाण्ड रोका गया था। साल बाद इस सम्बन्ध में लिखते हुए कर्नल माड ने भी यही अनुभव किया कि इस भयंकर अपराध में नाना का हाथ नहीं था। "आज उन्हें (कर्नल विलियम्स द्वारा एकत्रित प्रमाण) सावधानी-पूर्वक और निष्पक्ष रूप से पढ़ने से इस बात में शक होता है कि जैसा आम तौर पर विश्वास किया जाता है, हमारी औरतों और बच्चों की हत्या कराने में नानासाहब की सांठ-गांठ थीं। मेरा यह मत है कि उसे यह काम अपने उन खून के प्यासे अनुयायियों के दबाव से करना पड़ा जिनकी कार्रवाइयों को रोकने की उसकी हिम्मत नहीं थी। आजकल भी हमारे अपने देश में हम वैसे ही भयंकर कार्यों का उदाहरण दे सकते हैं। यह निश्चित है कि नाना ने एक से अधिक अवसरों पर उन निरीह प्राणियों से मैत्रीपूर्ण व्यवहार किया और वास्तव में दया भी दिखाई। घाट के हत्याकाण्ड की योजना किसी सूझ-बूझ वाले व्यक्ति ने घोर पाशविक भावना से बनाई थी, और निश्चय ही नाना में वह सूझ-बूझ नहीं थी।"[६५]

अब यह पता लगाने की कोशिश करना बेकार है कि उस षड्यन्त्र की योजना किसने बनाई थी। लेकिन हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि १८५७ में किसी भी पक्ष को मानवीयता का ध्यान न था। यह स्वीकार किया गया है कि कानपुर में जब ग़दर शुरू हुआ तो एक भी सिपाही ने अपने अफसर को नहीं मारा, लेकिन दूसरी ओर मौब्रे थामसन ने यह स्वीकार किया है कि घेरे के पहले कुछ दिनों के बाद से अंग्रेज़ों के हाथ में जो भी बन्दी आया, उसे मौत के घाट उतार दिया गया। कर्नल ईवार्ट और उसकी पत्नी को कर्नल के अपेक्षित अन्त का पहले से ही अनुमान था। क्यों ?.उस दिन सुबह पहली गोली किसने चलाई थी ? दूसरी घुड़सवार रेजीमेंट के बन्दूकचियों ने गोली चलानी कब शुरू की ?—थामसन की नाव से नाविकों पर गोली चलने से पहले या बाद में ? सब से बड़ी बात यह है कि क्या सिपाही, नील और उसके साथियों द्वारा किए गए पाशविक अत्याचारों से अपरिचित थे ? मौलवी लियाकत अली कानपुर आ चुका था और उसने इलाहाबाद में नील के कारनामों की सूचना अवश्य दे दी होगी। होम्स ने कहा है, "बूढ़ों को, जिन्होंने हमारा कोई नुकसान नहीं किया था, और निरीह अबलाओं को, जिनकी छाती से उनके दूध पीते बच्चे चिपटे हुए थे, हमारी प्रतिहिंसा झेलनी पड़ी।"[६६] नील द्वारा

---

६४. लैंग, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ४१२-१३

६५. माड और शेरर, उद्धृत ग्रन्थ, जिल्द १, पृ० १०८-६

६६. होम्स, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० २२०

मारे गए लोगों के रिश्तेदारों और मित्रों को इस बात से कोई सान्त्वना नहीं मिलती थी कि नील गांवों को आग लगाने और निहत्थों को गोली से उड़ाने में कोई खुशी अनुभव नहीं करता था। सती चौराघाट का हत्याकाण्ड नील के कारनामों के बाद हुआ था, पहले नहीं। अगर कानूनी रूप से नाना को उसके अनुयायियों के अपराधों के लिए जिम्मेदार ठहराया जाता है तो नैतिक रूप से अपराध का जिम्मेदार नील को करार देना होगा। अगर उसने अपनी सख्त कार्रवाइयों से गांव वालों को डरा कर भगा न दिया होता तो कोई कारण नहीं है कि वह व्हीलर के आत्मसमर्पण से पहले कानपुर न पहुंच जाता।

२७ जून के धोखे के लिए तात्या टोपे के साथ ज्वालाप्रसाद, अज़ीमुल्ला और बालाराव को भी अपराधी ठहराया गया है। लेकिन ऐसे लोग कम ही थे जिन्हें पुराने बदले चुकाने थे। कोतवाल हुलास सिंह उस दिन सुबह घाट पर नहीं गया क्योंकि प्रस्तावित हत्याकाण्ड के बारे में उसने दो दिन पहले सुन लिया था। हुलास सिंह ने बताया कि काज़ी वसीउद्दीन उस हत्याकाण्ड की योजना बना रहा था। "यूरोपीयों के लिए नावें तैयार करने से दो दिन पहले की शाम को काज़ी और घुड़सवार रेजीमेंट के दो सरदार, जिनके नाम मैं नहीं जानता, उनको मारने का विचार कर रहे थे। उस समय मैं मकान में आया और मैंने सुना कि यूरोपीयों को उनके सुरक्षित स्थान से बाहर निकाल कर मारना कानूनी और जायज काम है; यह मैंने सुना, लेकिन मुझे याद नहीं कि वहां कौन—कौन मौजूद था।"[६७] हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि इन गवाहों में से कुछ अपनी गर्दन बचाना चाहते थे और कुछ इनाम पाने की तिकड़म में थे। अगर सामान्य समय होता तो अदालत इसमें से अधिकांश गवाही रद्द कर देती, लेकिन ग़दर के दिनों में अत्यन्त सनसनीखेज़ वर्णनों को भी अकाट्य तथ्यों के रूप में स्वीकार किया गया। फ़ोरजेट का कहना है कि बम्बई के यूरोपीयों का न केवल यह विश्वास था, बल्कि उन्होंने लार्ड एलफ़िन्स्टन से शिकायत भी की कि जगन्नाथ शंकर सेठ जैसा प्रतिष्ठित व्यक्ति और भाऊ दाजी की ख्याति वाला विद्वान भी नाना से सम्पर्क बनाए हुए है और उसके षड्यन्त्र में शामिल है। उसे इस बात का विश्वास था कि अगर जमखण्डी का राजा बम्बई के प्रख्यात बैरिस्टर, श्री बार्टन को अपनी पैरवी के लिए न रखता तो निश्चय ही उसे फांसी की सजा हो जाती।[६८]

बहुत कम समय की सूचना पर ही नावें एकत्रित और ठीक-ठाक की गई थीं। वे नावें नाविकों की नहीं बल्कि महेश्वरी और अग्रवाल बनियों की थीं। उनके मालिकों को पूरा मुआवजा दिया गया था। २६ तारीख की शाम को जब निरीक्षण समिति उन्हें देखने गई तो उस समय भी बहुत-सी नावों में बांस के चबूतरे और फूस की छतें नहीं थीं। लेकिन इन कमियों को पूरा करने के लिए हजारों मजदूर रात भर लगे रहे। अगर शुरू से ही नाना ने धोखा देने का विचार किया होता तो नावों पर इतना रुपया और

---

६७. डिपोज़ीशन्स (गवाहियां), पृ० ५६

६८. फ़ोरजेट, आवर रियल डेंजर इन इण्डिया, पृ० ५८; निर्दोष चाल-चलन के संदिग्ध भारतीयों के विषय में पृ० १०० देखें।

मेहनत क्यों खर्च की जाती, क्योंकि एक बार सुरक्षित स्थान से निकलने पर अंग्रेज़ लोग जमीन पर दुश्मन की भीड़ में उतने ही असहाय होते जितने वे नदी पर थे। उनके पास अपने हथियार थे और यह आशा नहीं की जा सकती थी कि वे जम कर लड़े बिना अपनी औरतों और बच्चों को कत्ल होने देंगे।

जब व्हीलर और उसके साथी विद्रोहियों और भूख का मुकाबला कर रहे थे, तो उधर नील इलाहाबाद में ग़दर को दबाने में व्यस्त था। मेरठ और दिल्ली की खबरें कैनिंग के पास पहुंचते ही नील और उसके बन्दूकचियों को मद्रास से कलकत्ते बुला लिया गया। वह बड़ा सख्त और क्रूर व्यक्ति था और अधूरी या देर से की जाने वाली कार्रवाई में विश्वास नहीं रखता था। वह पुराने ढंग का कट्टर ईसाई था और उसका उपयुक्त स्थान क्रामवेल के पास ही होता। अपने आत्मविश्वास के कारण वह बहुत अच्छा नेता था, लेकिन क़िसी के अधीन काम नहीं कर सकता था। नील कलकत्ते पहुंचा। हावड़ा में उसने रेल कर्मचारियों के साथ, जो उसके सैनिकों के लिए गाड़ी रोकने के लिए तैयार नहीं थे, जो व्यवहार किया वह उसके स्वभाव का परिचायक है। उसने अपनी बात न मानने वाले स्टेशन-मास्टर, इंजीनियर और इंजन में कोयला झोंकने वाले पर पहरा बिठा दिया, और उसके सैनिक सुरक्षित रूप से गाड़ी पर चढ़ गए। जब गाड़ी दस मिनट देर से चली तो नील रेल-अधिकारियों से यह कहना न भूला कि उनका व्यवहार देशद्रोहियों और विद्रोहियों की तरह का था और यह उनकी खुशकिस्मती थी कि उनका उससे साबका नहीं पड़ा। नील का अंतिम उद्देश्य यह था कि कानपुर और लखनऊ को सहायक सेना भेजी जाए, लेकिन सबसे पहले उसका ध्यान बनारस की ओर था।

बनारस भारत सरकार के लिए काफी चिन्ता का कारण बना हुआ था। इसलिए नहीं कि वह हिन्दुओं का पवित्र तीर्थ था, बल्कि इसलिए कि धीरे-धीरे वह सभी धर्मावलम्बियों के राजबन्दियों का निवास-स्थान बन गया था। कई वर्षों से दिल्ली के शाही खानदान के कुछ वंशज उस शहर में रहने लगे थे और यह डर था कि वे लोग कहीं सरकार की राजनीतिक कठिनाइयों का अनुचित लाभ न उठाएं। इसके अतिरिक्त इस स्थान के सामरिक महत्व की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती थी, क्योंकि यह पटना और इलाहाबाद को जोड़ता था। लेकिन, बनारस मजबूत नहीं तो सुरक्षित हाथों में अवश्य था। जिले के मैजिस्ट्रेट के नाते न्यायाधीश गब्बिन्स ने काफी साहस, चतुराई और दृढ़ निश्चय का परिचय दिया था। कलक्टर लिंड आसानी से घबराने वाला व्यक्ति नहीं था। कमिश्नर टकर धार्मिक विचारों वाला व्यक्ति था। नील का यह विश्वास था कि ईश्वर खुद अपनी सहायता करने वालों की ही सहायता करता है। टकर का अपने धर्म में पक्का विश्वास था और वह भाग्य पर अधिक भरोसा रखता था। वह उठते हुए तूफान को समझता तो था, किन्तु उसकी तरफ ज्यादा ध्यान दिए बिना ही अपना कर्तव्य करता जा रहा था। वह घोड़े की चाबुक के अलावा और कोई हथियार लिए बिना ही शहर में चला जाता था। उसने गवर्नर-जनरल को लिखा, "मेरी चाल यह है कि लोगों के चित्त ठीक बने रहें।" जब तक नील "मार-काट और नाश करने" के लिए नहीं आ पहुंचा तब तक

वह अपनी चाल बड़ी सफलतापूर्वक चलता रहा। वहां के सैनिक कर्मचारी उतने स्थिर नहीं थे। ब्रिगेडियर पानसनबी ने पंद्रह साल पहले अफगानिस्तान में नाम पैदा किया था। हिम्मत में उसका कोई मुकाबला नहीं कर सकता था। लेकिन जब ग़दर की खबर बनारस पहुंची तो आल्फर्ड्स और वाटसन ने उसे समझाया कि इस समय अक्लमन्दी का काम यही होगा कि बनारस को छोड़कर चुनार के मजबूत किले में चले जाएं। लेकिन असैनिक अधिकारियों ने एक आवाज से इस निराशाजनक सलाह का विरोध किया। वे न केवल अपने स्थान पर डटे रहे, बल्कि निचली तरफ से जो यूरोपीय सैनिक वहां आए, उनको उन्होंने कानपुर भेज दिया। यद्यपि सैनिक सलाह इस तरह के आत्म-त्याग के विरुद्ध थी, फिर भी टकर सर हेनरी लारेंस के कहने की उपेक्षा नहीं कर सकता था।

नील ३ जून को बनारस पहुंचा। कानपुर में उस समय तक शान्ति थी। लेकिन लखनऊ में ग़दर शुरू हो चुका था। ४ तारीख को आजमगढ़ के उपद्रवों की खबर मिली। सिपाहियों ने खज़ाने पर कब्जा कर लिया था, अनियमित सैनिकों ने अपने अफसरों को पहरे में सुरक्षित स्थान पर पहुंचा दिया था, लेकिन वे अपने दूसरे साथी सैनिकों से लड़ने को तैयार नहीं थे। सैनिक अधिकारी घबड़ा गए और उनके मन में यह डर पैदा हो गया कि आजमगढ़ की घटना से कहीं बनारस में भी उपद्रव न पैदा हो जाए। गब्बिन्स के गुप्तचरों ने उनके इस डर की पुष्टि की। यह स्पष्ट नहीं है कि पानसनबी कब और कहां नील से मिला, लेकिन निस्सन्देह उसने अगले दिन सुबह ३७वीं देशी पैदल सेना के हथियार छीन लेने का निश्चय नील को बता दिया था, पर नील ने तत्काल कार्रवाई करने पर जोर दिया। कारण को परिणाम मान लेने के सिवाय और किसी तर्क से यह सिद्ध नहीं हो पाया है कि ३७वीं देशी पैदल सेना वास्तव में अप्रभावित रही। उसके कमाण्डर मेजर बैरट के पास उनकी वफादारी पर शक करने का कोई कारण नहीं था। सिख रेजीमेंट और अनियमित सेना के घुड़सवार विश्वसनीय समझे जाते थे। उनकी और यूरोपीयों की सहायता से सन्दिग्ध सिपाहियों के हथियार छीनने थे। शाम को पांच बजे परेड का आदेश दिया गया। ३७वीं देशी पैदल सेना को हुकम दिया गया कि बन्दूकें हथियारखाने में जमा कर दी जाएं। कोई विरोध नहीं हुआ; एक के बाद एक छः कम्पनियों ने अपने हथियार जमा कर दिए। तब कारतूस और ग्रेपशाट लिए हुए यूरोपीय सैनिक वहां आ पहुंचे। पंजाब रेजीमेंट ने समझा कि यूरोपीयों के आने का मतलब सिपाहियों की मौत है, और एकदम यह बात फैल गई कि यूरोपीय उन्हें मारने आए हैं। पानसनबी ने उन्हें सान्त्वना देने की कोशिश की। सिपाहियों ने शिकायत की कि उन्होंने कोई जुर्म नहीं किया है। पानसनबी के पास कोई जबाब न था और उसने उन्हें आदेशानुसार काम करने को कहा, क्योंकि "उनके बहुत-से भाइयों ने अपनी कसमें तोड़ कर अपने उन अफसरों को मार दिया था जिन्होंने उनका कुछ नहीं बिगाड़ा था।" सिपाहियों ने इस बात को अनुचित समझा और उनमें से कुछ ने इधर-उधर हथियार खोज कर अपनी रक्षा करने की कोशिश की तो इसका दोष उन पर नहीं लगाया जा सकता। यूरोपीयों ने तत्काल गोली चला दी। इधर सिख और अनियमित

सैनिक अंग्रेज़ों के वास्तविक उद्देश्य को न समझते हुए परेड के लिए उपस्थित हुए थे और जानबूझ कर गोली चलाने से उनके मन में शक हो गया और उन्होंने भी गोली चलानी शुरू कर दी। नील ने उस समय कमान संभाली जब वफादार सैनिकों को इस तरह ग़दर के लिए बाध्य किया जा रहा था। उस समय का वर्णन ठीक से नहीं मिलता और यह पता लगाना मुश्किल है कि सनस्ट्रोक से पीड़ित होने के कारण पानसनबी ने नील को स्वेच्छा से कमान सौंप दी थी या नील ने स्वयं अपने उबलते हुए उत्साह में यह अनुभव किया कि सिर्फ वही स्थिति पर काबू पा सकता है, और इस प्रकार उसने अपने उस वरिष्ठ अधिकारी से जिम्मेदारी अपने हाथ में ले ली। थोड़े-से सशस्त्र सैनिकों ने निहत्थे लोगों की भीड़ को तितर-बितर कर दिया तो यह कोई बड़ा कारनामा नहीं था। लेकिन टकर का यह निश्चित मत था कि सैनिकों से हथियार छीनने का काम बड़े गलत ढंग से हुआ था। गवर्नर-जनरल भी उसके इस कथन से सहमत था।[६९]

नील सिर्फ उस ग़दर को दबा कर सन्तुष्ट नहीं हुआ जो खुद उसकी नीति की वजह से हुआ था। विद्रोहियों और जिले के अप्रभावित लोगों को यह सबक सिखाना था कि अंग्रेज़ सैनिक अभी निकम्मे नहीं हुए हैं। के ने लिखा है, "हमारे सैनिक अफसर हर तरह के अपराधियों का ऐसे शिकार कर रहे थे और उन्हें ऐसी क्रूरता से फांसी दे रहे थे जैसे वे नीच कुत्ते या गीदड़ या घटिया किस्म के जानवर हों।" उस घटना के एक महीने बाद एक पादरी ने लिखा कि आंखों के सामने "फांसी के खम्भों की कतार थी, जिन पर उत्साही कर्नल एक के बाद एक विद्रोही को लटकाता जा रहा था।"[७०] "एक बार कुछ कम उम्र के लड़कों को भी अपराधी ठहरा कर मौत की सजा दे दी गई, जो शायद खेल-खेल में ही विद्रोहियों के झण्डे उठा लाए थे और हुल्लड़ मचा रहे थे।" "फांसी लगाने वाले स्वयंसेवकों के दल जिलों में चले गए और उस समय फांसी देने वाले नौसिखियों की कमी नहीं थी। एक सज्जन शेखी बघारते हुए यह बता रहे थे कि उन्होंने बड़े कलात्मक ढंग से कितने ही लोगों का खात्मा कर दिया, उन्होंने आम के पेड़ों से लटका कर और हाथियों के नीचे गिरा कर लोगों को मारा, और जैसे मनोरंजन के लिए जंगली न्याय के इन शिकारों को "आठ के अंक के रूप में बांध कर मारा गया।"[७१] देशी लोगों ने अकारण ही यह नहीं सोचा था कि यूरोपीय सैनिक "आदमी की शक्ल में राक्षस" हैं।

बनारस के ग़दर की व्यापक प्रतिक्रिया हुई। इलाहाबाद और फतेहपुर, फैजाबाद और जौनपुर के सिपाहियों को यह पता लग गया कि सशंकित अफसरों ने अपने निश्शंक सैनिकों से किस तरह का व्यवहार किया और उन्होंने यह अनुभव किया कि अंग्रेज़ों के विश्वास के सामने सबसे वफादार सिपाही भी सुरक्षित नहीं हैं। कानपुर में अंग्रेज़ों की तबाही और लखनऊ में उनके कष्टों का मुख्य कारण नील था। बनारस की खबर अगले दिन

६९. के, ए हिस्ट्री आफ दि सिपाय वार, जिल्द २, पृ० २१६-२६
७०. मार्टिन, उद्धृत ग्रन्थ, जिल्द २, पृ० २८६-८७
७१. के, ए हिस्ट्री आफ़ दि सिपाय वार, जिल्द २, पृ० २३६-३७

इलाहाबाद पहुंच गई। यूरोपीय औरतों और असैनिकों को एक दम किले में जाने का आदेश दिया गया, लेकिन बहुतों ने चेतावनी पर ध्यान न दिया। रात को विद्रोह हो जाने का डर था, लेकिन कुछ नहीं हुआ और कुछ लोग सुबह अपने बंगलों में लौट आए। कानपुर से यह हुक्म आया कि हर उपलब्ध यूरोपीय को किले में तैनात कर दिया जाए, लेकिन वहां ज्यादा थे ही नहीं। साठ पेन्शनयाफ्ता तोपची चुनार से आए थे, कुछ सार्जेंट थे, और अब इनके साथ लगभग अस्सी असैनिक स्वयंसेवक मिल गए थे। कैप्टन ब्रेसियर की कमान में रक्षक सेना में चार सौ सिख और छठी देशी पैदल रेजीमेंट के अस्सी आदमी थे। रेजीमेंट के बाकी सैनिक दो मील दूर अपने ठिकानों पर तैनात थे। उन्होंने दिल्ली के खिलाफ लड़ने के लिए अपनी सेवाएं अर्पित की थीं, और छः तारीख की शाम को एक परेड में उनके इस अनपेक्षित प्रस्ताव और वफादारी के लिए सपरिषद् गवर्नर-जनरल की ओर से उन्हें धन्यवाद दिया गया। लेकिन उसके कुछ ही घण्टे बाद उन्होंने विद्रोह कर दिया। यह कहा गया है कि छठी देशी पैदल रेजीमेंट शुरू से ही विद्रोह की इच्छा मन में संजोए हुए थी, और वह सिखों को भी अपने साथ लेने के लिए ही इतना इन्तजार करती रही। लेकिन बनारस के बहुत-से आदमी उनके ठिकाने पर पहुंच चुके थे और सिपाहियों को यह पता लग गया था कि पहले ३७वीं देशी पैदल रेजीमेंट के सैनिकों के हथियार छीने गए और फिर उन्हें मार दिया गया। अंग्रेज अफसरों ने पूरी बंगाल सेना को समाप्त करने की एक योजना बना ली थी। फ़िचेट नामक एक ढोलची ने बाद में बताया कि उसने सिपाहियों से सुना था कि यूरोपीय उनके हथियार छीनने के लिए आ रहे हैं। उसने उससे पहले और किसी षड्यन्त्र की बाबत नहीं सुना था। दूसरे स्थानों की तरह वहां भी सिपाहियों के विद्रोह करते ही शहर के लोग भी उनके साथ मिल गए और बन्दी मुक्त कर दिए गए। यूरोपीयों को खदेड़ा गया और मार दिया गया। बंगले लूट कर जला दिए गए और सब जगह अशांति का साम्राज्य छा गया। सिर्फ ईसाई ही नहीं, हिन्दू तीर्थ यात्री भी इन हुल्लड़बाजों से नहीं बचे।

किले के अन्दर सिख बड़े उद्विग्न थे, लेकिन ब्रेसियर ने उन्हें शान्त रखा। उसने एक माली के रूप में काम शुरू किया था और अपने व्यक्तिगत गुणों के कारण ही उसने सेना में कमीशन पाया था। उसने न केवल अपने आदमियों को अपने नियंत्रण में रखा, बल्कि उनकी मदद से किले में तैनात छठी देशी पैदल रेजीमेंट के सैनिकों के हथियार काबू करने में भी सफलता पाई। छठी रेजीमेंट ने डर से ही विद्रोह कर दिया था और लूट का माल बटोरने के बाद उसके सैनिक बाद की लड़ाई में हिस्सा लिए बिना अपने-अपने घरों को चले गए।

इस संकट काल में प्रशासन का कार्य अपने हाथ में लेने के लिए एक अज्ञात व्यक्ति सामने आया। मौलवी लियाकत अली चैल परगने के साधारण परिवार का व्यक्ति था। एक जगह कहा गया है कि जन्म से वह जुलाहा था और कर्म से अध्यापक। यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता था कि लोग उसकी इज्जत करते थे, क्योंकि उन्होंने उसे अपना नेता माना था। चूंकि उसने अपने जन्म या सम्पत्ति के कारण उन्नति नहीं की थी, इसलिए यह समझना उचित होगा कि वह अपने व्यक्तिगत चरित्र और दयालुता के कारण

ही आगे बढ़ा था। उसने एकदम धर्म और उस प्राचीन परम्परा का नारा बुलन्द किया, जिसका प्रतीक बादशाह था, क्योंकि उसने दिल्ली के बादशाह के नाम पर और उसके प्रतिनिधि के रूप में शासन चलाया। उसने शान्ति कायम करने और अपनी समझ के मुताबिक कानून का शासन स्थापित करने की कोशिश की। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि वह उसमें असफल रहा, क्योंकि सैन्य संचालन-कार्य को वह तनिक भी नहीं समझता था। उन दिनों विद्रोहियों को काबू में लाने का एक वही तरीका था। दूसरे, उसका व्यक्तित्व भी इतना महान नहीं था कि जनता एकदम उसकी आज्ञापालन के लिए तैयार हो जाती। उसे इस बात का श्रेय है कि उसने धर्म बदल लेने पर बहुत-से भारतीय ईसाइयों को मरने से बचाया। उन दिनों जब जरा-से शक पर ही आदमी को मौत के घाट उतार दिया जाता था, यह कोई मामूली बात न थी।[७२] लेकिन इलाहाबाद आने में नील को देर नहीं लगी। ९ जून को बनारस से चल कर ११ को वह इलाहाबाद पहुंच गया। सड़क सुनसान पड़ी थी और घोड़े उपलब्ध नहीं थे। लेकिन इससे उसके काम में कोई रुकावट नहीं पड़ी। उसने किसानों से अपनी गाड़ी खिंचवाई, लेकिन मौसिम की भयंकर गर्मी से वह बच न सका। जब वह किले में पहुंचा तो "बनारस से तेजी से चले आने के कारण थका हुआ था" और "एक बार में कुछ मिनटों के लिए ही खड़ा हो सकता था।"[७३] लेकिन स्थिति ऐसी थी कि विलम्ब करना उचित न था। किला बचा लिया गया था किन्तु शहर विद्रोहियों के हाथ में था। यूरोपीय और सिख दोनों खूब डट कर शराब पीते थे, और अगर तत्काल अनुशासन न कायम किया जाता तो किले की सुरक्षा भी खतरे में पड़ जाती। दारागंज और कीटगंज में गोली चलाई गई, और जल्दी ही शहर विद्रोहियों से खाली हो गया। १७ तारीख तक मौलवी को अपना सदर मुकाम छोड़ कर जाना पड़ा।

नील एकदम कानपुर नहीं गया। उसने पहले अपराधियों को दण्ड देना और ढिलमुल लोगों को आतंकित करना उचित समझा, और नदी तथा जमीन के रास्ते सजा देने के लिए दल भेजे गये। गांव जलाने और 'काले आदमियों' को फांसी देने के मामले में असैनिक लोग सैनिकों से भी ज्यादा उत्साही थे। बाद में सरकार को ज्ञात हुआ कि "सब तरह के अपराधियों के साथ-साथ उन लोगों को भी बिना सोचे-समझे फांसी पर लटका दिया गया, जिनके अपराध के बारे में बहुत शक था। इसके अलावा खुले आम गांव जलाए और लूटे गए, जिससे उम्र और स्त्री-पुरुष के भेद के बिना अपराधियों के साथ-साथ निरीह अनजान लोगों को भी सजा मिली और कहीं-कहीं वे मारे भी गए। इससे उन बड़े-बड़े सम्प्रदायों में बड़ी उत्तेजना फैली, जो अन्यथा सरकार के दुश्मन नहीं थे।"[७४] नील यह भूल गया कि भारत की सारी जनसंख्या का सफाया नहीं किया जा सकता था और स्थानीय लोगों के सहयोग के बिना वह सामान ढोने के लिए पशु और गाड़ियां एकत्र नहीं कर सकता

७२. थामसन की रिपोर्ट, पृष्ठ ६। विलाक की रिपोर्ट, पृ० १३

७३. फारेस्ट, ए हिस्ट्री आफ़ दि इंडियन म्यूटिनी, जिल्द १, पृ० ३६७

७४. पार्लियामेंटरी पेपर्स, १८५७-५८, जिल्द ४४, भाग १, पृ० ११-१२ लेटर टु कोर्ट, २४ दिसम्बर, १८५७

था। उसकी सख्तियों से किसान गांव छोड़ कर भाग गए थे और उनके साथ ही वे गरीब मजदूर भी गायब हो गए, जो सेना की दैनिक आवश्यकताएं पूरी करते थे।[७५] अगर वह २० तारीख को भी इलाहाबाद से चला जाता तो कानपुर को बचाया जा सकता था, क्योंकि व्हीलर सहायक सेना के आने की खबर जानने के लिए गुप्तचर भेजता रहता था। २३ तारीख को यद्यपि चार सौ यूरोपीय और तीन सौ सिख चलने को तैयार थे, लेकिन गाड़ियां तथा सामान मिलना मुश्किल था। पांच दिन बाद भी हालत में कोई सुधार नहीं हुआ, लेकिन यह आशा थी कि मेजर रेनाड ३० तारीख को उस दस्ते के साथ रवाना हो जाएगा। ३० जून को हैवलाक इलाहाबाद आया और उसने कमान संभाल ली। उसके थोड़ी देर बाद ही उसे लखनऊ से व्हीलर के आत्मसमर्पण की खबर मिली।

हेनरी हैवलाक को सेना में बयालीस साल हो चुके थे। उसकी तरक्की धीरे-धीरे होने में गलती उसकी नहीं थी। उसने अफगानिस्तान, पंजाब और ईरान में काम किया था और इधर कानपुर और लखनऊ में उसे मदद के लिए बुलाया गया था। वह सैन्य विज्ञान को अच्छी तरह समझता था और यह मशहूर था कि उसने नेपोलियन के हमलों का अच्छी तरह अध्ययन किया था। लखनऊ में वह अपने खाली समय में मैकाले की 'हिस्ट्री आफ़ इंग्लैण्ड' पढ़ता था। वह पक्का ईसाई था और श्रीराम के मिशनरियों से उसका घनिष्ठ सम्बंध था। वह बहुत सादा रहता था और यह अनुमान था कि कलकत्ता-समाज में अपने रंग-ढंग से वह अधिक प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त करेगा। श्रीमती कैनिंग ने लिखा है, "जनरल हैवलाक पुराने ढंग का आदमी है, लेकिन फिर भी हमें विश्वास है कि वह वहां अच्छी तरह खप जाएगा। निस्संदेह वह झगड़ालू और उबा देने वाला आदमी है, लेकिन वह इतना चुस्त दिखाई पड़ता है जैसे फौलाद का बना हो।" फौलाद का आदमी ही नील को नियंत्रण में रख सकता था। हैवलाक ने रेनाड को रुक जाने का आदेश दिया और कहा, "सेना के पीछे, आगे और अगल-बगल का अच्छी तरह ध्यान रखो। तब मैं तुम्हें एक और मजबूत सहायक दस्ता दूंगा, जो कल ४ तारीख को रवाना होगा। गांव तब तक न जलाओ जब तक कि वास्तव में उनमें विद्रोही न हों, और जहां तक सम्भव हो अपने यूरोपीय सैनिकों को यह काम करने से रोको।" नील को विश्वास नहीं होता था कि कानपुर में अंग्रेज़ हार चुके हैं। "मेरा विचार है कि जहां तक सम्भव हो हमें रुकना नहीं चाहिए और आगे बढ़ते जाना चाहिए"—यह उसने सैनिक प्रथा के खिलाफ, स्थानापन्न प्रधान सेनापति सर पेट्रिक ग्रांट को लिखा और इस प्रकार हैवलाक के आदेश की जगह ऊपर से आदेश मांगने की कोशिश की। रेनाड की खुशकिस्मती से हैवलाक ने वही किया जो कहा था और १२ जुलाई को नाना की सेना से मुठभेड़ होने से पहले ही वह उससे आ मिला। हैवलाक पिछली आधी रात के कुछ देर बाद अपने शिविर से चलकर सुबह

---

७५. के ने लिखा है, "हर जगह आतंकित देशी लोग मारकाट करने वाले अंग्रेज़ों से अलग रहते थे। यह तो ऐसा था जैसे जिन कुओं से हमें पानी लेना था उन्हें हमने सुखा डाला और जिन फसलों से भोजन लेना था उन्हें नष्ट कर डाला।" के, ए हिस्ट्री आफ़ दि सिपाय वार, जिल्द २, पृ० २७४

ही रेनाड के पास पहुंच गया। दोनों पक्ष हैरान हो गए। रेनाड को फतेहपुर में सिर्फ मुट्ठी भर सिपाहियों की उम्मीद थी और नाना के आदमियों को भी हैवलाक के आने की कोई खबर नहीं थी। अगर हैवलाक समय पर सहायता न पहुंचाता, तो रेनाड की छोटी-सी टुकड़ी बिलकुल खत्म हो जाती।

न्यायाधीश टकर के अलावा बाकी सब अंग्रेज अफसर ६ तारीख को फतेहपुर से रवाना हो गए थे। ६ तारीख तक वहां शान्ति थी। तब "देशी लोगों ने बाजार में बनारस के ग़दर की खबर सुनी : यह कहा गया कि जब पुरबिये और सिख परेड के मैदान में चुपचाप खड़े थे तो यूरोपियों ने उन पर गोली चला दी।"[७६] तीन दिन बाद स्थिति विकट हो गई। इस तरह ३२ दिन के बाद वह शहर फिर कब्जे में ले लिया गया। तब १५ जुलाई को औंग की लड़ाई हुई और उसी दिन पाण्डु नदी पार की गई। नदी बढ़ी हुई थी, लेकिन पुल ठीक था और यह डर था कि उसे किसी भी समय उड़ाया जा सकता है। यही कारण था कि हैवलाक ने उसे कब्जे में लेने की जल्दी की और अपने थके हुए सैनिकों को आराम न लेने दिया। यह बताना मुश्किल है कि पुल क्यों नहीं नष्ट किया गया था, लेकिन उसके रास्ते में काफी लड़ाई हुई। नदी पार कर ली गई लेकिन कानपुर की लड़ाई का अभी अन्त नहीं हुआ था। हैवलाक उन बन्दियों, औरतों और बच्चों को बचाने को उत्सुक था जिनके बारे में यह खबर थी कि वे नाना के पास कैद हैं। नाना अपने प्रधान कार्यालय को बिना लड़े छोड़ने को तैयार नहीं था, लेकिन उसकी आखिरी मुठभेड़ भी पहली मुठभेड़ों की तरह ही असफल रही और इलाहाबाद से चलने के दस दिन बाद, यानी १७ जुलाई को, हैवलाक अपनी विजेता सेना के आगे-आगे कानपुर में दाखिल हुआ। लेकिन अभागी अंग्रेज औरतों को बचाने की उसकी इच्छा पूरी न हो सकी।

घाट के हत्याकाण्ड के बाद जो लोग बचे, उन्हें बन्दी बना लिया गया था। आदमियों को गोली मार दी गई थी, लेकिन औरतों और बच्चों को सवाडा हाउस में रख दिया गया। वहां से उन्हें बीबीघर नामक इमारत में भेज दिया गया। जब विद्रोही नेताओं को यह विश्वास हो गया कि कानपुर पर और अधिक देर तक कब्जा नहीं रख सकते तो उन अभागे बन्दियों को मार कर एक कुएं में डाल दिया गया। जब हैवलाक के सैनिक कानपुर में दाखिल हुए तो उन औरतों और बच्चों की लाशें वहीं थीं और बीबीघर का फर्श उस समय भी खून से गीला था। इस पाशविक हत्याकांड के भयंकर विवरण का वर्णन साहित्यिक प्रतिभा वाले व्यक्तियों ने बड़ी खूबी से किया है, लेकिन वे विवरण बहुत कच्चे प्रमाण पर आधारित हैं। इस घटना के पचास वर्ष बाद लिखते हुए सर जार्ज फ़ारेस्ट ने ठीक ही कहा है, "यह सच है कि उत्तर-पश्चिमी प्रान्त के पुलिस कमिश्नर, कर्नल विलियम्स की आज्ञानुसार देशी लोगों और मिली-जुली जाति वाले ६३ गवाहों के बयान लिए गए, लेकिन ये बयान उन लोगों के हैं जिनके गले में फन्दा पड़ा हुआ था या पड़ने को ही था। उनके बयान में बहुत कमियां हैं, और बहुत सोच-समझ कर उन पर विचार करना चाहिए। मैंने अफसरों की रिपोर्टें, गैर-सरकारी लोगों की अर्जियां, गवाहों के बयान और गैर-सरकारी

७६. मेकनाटन की रिपोर्ट, पृ० ५

जांच के कागज बड़ी सावधानी से पढ़े हैं। उनसे ज्ञात होता है कि यद्यपि बहुत-से काले धब्बे मौजूद हैं, लेकिन सारी तस्वीर इतनी काली नहीं है जितनी बनाई गई है।"[७७] पृष्ठ के नीचे टिप्पणी में दी गई इस चेतावनी की ओर बहुत कम लोगों का ध्यान गया है, और फ़ारेस्ट ने जिस प्रमाण की निन्दा की है उसी के आधार पर फिर से रची गई कानपुर की कहानी बहुत प्रचलित हो गई है। सर जार्ज ट्रेविलियन ने जिस खूबी से और विश्वास दिलाने के ढंग से इन घटनाओं का वर्णन किया है, वह पाठक को इतना प्रभावित करता है कि पाठक उसके प्रमाणों को अधिक विस्तार से जांचने की आवश्यकता ही नहीं समझता। स्वयं ट्रेविलियन ने कभी भी अपने गवाहों की विश्वसनीयता की जांच करने की आवश्यकता नहीं समझी, और राइस होम्स ने भी इस मामले में उतनी सावधानी नहीं बरती। वे दोनों नानक चन्द की पत्रिका को विश्वसनीय आलेख मानते हैं, यद्यपि सर जान के ने उसकी एक बड़ी त्रुटि की ओर ध्यान आकृष्ट किया है।

बीबीघर के हत्याकाण्ड के लिए भी नाना को ही दोषी ठहराया जाता है। लेकिन जिस तरह का प्रमाण कर्नल विलियम्स के सामने पेश किया गया था, उस पर तो सबसे कुख्यात अपराधी को भी कोई अदालत दोषी नहीं ठहराएगी। फिर भी विश्वसनीय प्रमाण के अभाव का अर्थ यह नहीं है कि अपराध नहीं हुआ था। कानूनी और नैतिक दृष्टि से बन्दियों के जीवन की जिम्मेदारी नाना पर थी, और हत्याकाण्ड भी उसी के नाम पर किया गया था। जब तक पूरी तरह यह सिद्ध न हो जाए कि उसे इसका पता नहीं था, तब तक उसे इस षड्यन्त्र के अभियोग से मुक्त नहीं किया जा सकता और इस लज्जाजनक कार्य का कलंक उसके नाम पर रहेगा ही। नाना ने खुद कहा है कि उसने कभी कोई हत्या नहीं की। महामहिम सम्राज्ञी, संसद्, कोर्ट आफ़ डायरेक्टर्स, गवर्नर-जनरल, लेफ्टिनेंट-गवर्नर और सभी सैनिक तथा असैनिक अफसरों के नाम जो इश्तहारनामा उसने अप्रैल १८५६ में मेजर रिचर्डसन को दिया था, उसमें उसने इस बात पर जोर दिया था कि औरतों और बच्चों की हत्या में उसका कोई हाथ नहीं था। "कानपुर में सैनिकों ने मेरा आदेश नहीं माना और अंग्रेज़ औरतों तथा रैयत को मारना शुरू कर दिया। जो कुछ भी बचाना मेरे लिए सम्भव था, वह मैंने बचाया और जब वे अपने सुरक्षा-स्थल को छोड़ने के बाद नावों पर आए जिनमें मैंने उन्हें इलाहाबाद भेजा था तो आपके सिपाहियों ने उन पर हमला कर दिया। मैंने खुशामद-मिन्नत करके अपने सिपाहियों को रोका और दो सौ अंग्रेज़ औरतों और बच्चों की जान बचाई। मैंने सुना है कि जब मेरे सैनिक कानपुर से भागे तो आपके सिपाहियों और बदमाशों ने उन औरतों और बच्चों को मार डाला और मेरा भाई भी जख्मी हुआ। उसके बाद मैंने आपके द्वारा प्रकाशित इश्तहारनामे की बाबत सुना और लड़ने के लिए तैयार हो गया और अब तक आपके साथ लड़ता रहा हूं, तथा जब तक जीऊंगा तब तक लड़ूंगा।"[७८] तात्या टोपे का बयान भी उसी महीने ठीक दस दिन पहले लिया

७७. फ़ारेस्ट, ए हिस्ट्री आफ़ दि इंडियन म्यूटिनी, जिल्द १, पृ० ४७८-७९

७८. मूल उर्दू में था। एक ब्राह्मण ने इसे मेजर रिचर्डसन को दिया था। 'फ़ारेन पोलिटिकल कन्सल्टेशन्स, संख्या ६५, २७ मई, १८५६

गया था। तात्या टोपे का कहना है कि वास्तव में विद्रोहियों ने नाना को घेर कर बन्दी बना लिया था, लेकिन नाना ने कहा है कि उसके जो सैनिक विद्रोही हो गए थे, उनकी धमकियों और दबाव के सामने वह झुक गया था। तात्या ने सती चौरा घाट के हत्याकाण्ड के लिए सिपाहियों को जिम्मेदार ठहराया, लेकिन उसने बाद की हत्याओं का कोई जिक्र नहीं किया।

प्रश्न उठता है कि बीबीघर का हत्याकाण्ड कब हुआ था: नाना के बिठूर जाने से पहले या बाद में ? अब इतना समय निकल जाने के बाद इस बात को तय करना तब तक असम्भव है जब तक कोई नया प्रमाण प्रकाश में न आ जाए। फिर भी, ध्यान रखने की बात है कि बाजीराव की लड़की कुसुमबाई का यह विश्वास था कि उसका भाई इस मामले में निर्दोष था। जब अपने बुढ़ापे में वह पूना गई तो वी० के० राजवाड़े और पंडोबा पटवर्धन ने उससे भेंट की। उसने उन्हें बताया कि नाना ने विद्रोही सैनिकों को रोकने की भरसक कोशिश की थी और हत्याकाण्ड में उसका कोई हाथ नहीं था। ग़दर के समय कुसुमबाई की उम्र लगभग दस वर्ष थी और प्रश्न यह उठता है कि वह बच्ची अपने भाई के तूफानी दरबार की राजनीति को किस हद तक समझ सकती थी।[७९] हत्याकाण्ड में नाना के योग के सम्बन्ध में कोई निश्चित फैसला देना आसान नहीं है। शेरर का यह कहना लगभग सच है कि "उस पूरे काल में उसके व्यक्तिगत प्रभाव का कोई चिह्न नहीं मिलता। अजीमुल्ला के कुछ कारनामे हमें ज्ञात हैं, समय-समय पर ज्वालाप्रसाद, बाबा भट्ट, तात्या टोपे और अन्य लोग जो कुछ करते रहे उसका पता लगाना भी मुश्किल नहीं है, लेकिन नाना पृष्ठभूमि में ही बना रहता है।"[८०] जब वह यह कहता है कि उसके अपने सैनिकों और काश्तकारों ने उसे विद्रोहियों से मिलने के लिये बाध्य किया था, उसका परिवार विद्रोहियों की दया पर आश्रित था और उन स्थानीय लोगों के बीच वह एक अजनबी था, जिनसे उसकी कोई घनिष्ठता नहीं थी, तो हम उसके इस कथन को बिलकुल ही अविश्वसनीय कहकर नहीं टाल सकते। जब वह इस बात पर जोर देता है कि सती चौरा घाट के आयोजित हत्याकाण्ड में उसका हाथ नहीं था और औरतों तथा बच्चों की हत्या उसकी अनुपस्थिति में हुई तो हमें विश्वसनीय प्रमाण मांगने को बाध्य होना पड़ता है।

बीबीघर जाने वाले पहले कुछ व्यक्तियों में शेरर भी एक था। उसने कहा कि "सारी बात इतनी भयंकर थी कि वास्तविक खेदजनक परिस्थितियों को किसी भी तरह बढ़ाना ठीक न होगा। और मेरा यह निश्चित मत है कि विवरण बहुत बढ़ा-चढ़ा कर बताए गए थे।" "सारे रास्ते पर खून की मोटी परत चढ़ी थी। निश्चय ही इतना कहना पर्याप्त है; यह कथन कि 'टखनों तक गहरा गाढ़ा खून जमा था' "अति दुखदायक होने के साथ ही बिलकुल गलत भी है।" "कम से कम उस मकान में मार-काट के कोई चिह्न नहीं थे, और न दीवारों पर कहीं कुछ लिखा था।"[८१] हैवलाक की अनुमति से शेरर ने कुआं भरवा दिया था।

---

७९. भारत इतिहास संशोधक मण्डल, वार्षिक इतिवृत्त, शक १८३५, पृ० ४२५

८०. माड एंड शेरर, उद्धृत ग्रन्थ, जिल्द १, पृ० २२०

८१. वही, जिल्द १, पृ० २०७-८

नाना ने १८ जुलाई की रात को बिठूर खाली कर दिया था। उसन गंगा में डूब कर आत्महत्या का बहाना किया था, लेकिन कुछ समय बाद ही यह पता लग गया कि वह सुरक्षित रूप से नदी पार करके अवध चला गया है। १६ तारीख को मेजर स्टिफ़ेन्सन बिठूर पहुंचा और उसने पेशवा का महल तहस-नहस कर दिया। २० तारीख को नील आ गया और हैवलाक ने लखनऊ को सहायता पहुंचाने की तैयारी शुरू कर दी। २५ तारीख को हैवलाक ने गंगा पार की; उसके विजेता सैनिक पहले ही से अवध की तरफ के किनारे पर पहुंच गए थे।

कानपुर का नियन्त्रण नील के हाथ में था। यह उसका कर्त्तव्य था कि वह शहर में शान्ति स्थापित करे और विद्रोहियों को होश में लाए। हैवलाक ने नील को स्पष्ट रूप से यह चेतावनी दे दी थी कि जब तक वह खुद कानपुर में है तब तक नील का वहां कोई अधिकार नहीं है और उसे एक भी आदेश जारी नहीं करना है।[८२] २५ तारीख को वह अपनी मनमानी करने को स्वतंत्र हो गया। उसका विश्वास था "शुरू की कठोरता अन्त की दयालुता है", और उसने एक आदेश जारी किया जो "यद्यपि बुजुर्ग ब्राह्मणों की दृष्टि में अनुचित था," लेकिन वह समझता था कि वह "अवसर के उपयुक्त है"। नील ने यह आदेश दिया कि फांसी की सजा वाला हर व्यक्ति उस हत्याकाण्ड वाले मकान में ले जाया जाएगा और उसे खून के कुछ दाग साफ करने को बाध्य किया जाएगा। निरीह लोगों से वह खून चटवाया गया, जिसके बहाने में सम्भवतः उनका कोई हाथ नहीं था। शेरर का कहना है कि दो अवसरों के अलावा वह आदेश कभी लागू न हुआ। लेकिन नील ने स्वयं दो से अधिक अवसरों का जिक्र किया है। शेरर का कहना है कि नील को बढ़ा-चढ़ा कर प्रशंसा करने की आदत थी। "वह हमेशा यही सोचता था कि वह जहां भी हो, उससे किसी विशेष बात की अपेक्षा की जाती है। अतः उसके कुछ आदेशों, खास तौर से खून साफ कराने के सम्बन्ध में दिए गए आदेश का यही कारण है।"[८३]

मौत की सजा पाने वालों की संख्या कम नहीं थी। लेकिन जो मरे, वे असाधारण धैर्य और शान्ति से मरे, "मुसलमान, औद्धत्य एवं घृणा की भावना मन में ले कर, और हिन्दू, आश्चर्यजनक निर्मोह की भावना से।" कुछ हिन्दुओं ने तो मृत्यु को ऐसे समझा जैसे वे किसी यात्रा पर जा रहे हों।"[८४]

---

८२. फ़ारेस्ट, ए हिस्ट्री आफ़ दि इंडियन म्यूटिनी, जिल्द १, पृ० ४८२

८३. माड एण्ड शेरर, उद्धृत ग्रन्थ, जिल्द १, पृ० २२४

८४. वही, जिल्द १, पृ० २५१-५२

परिशिष्ट

नानक चन्द और उसकी पत्रिका

२७ जून को जो अंग्रेज़ सुरक्षा-स्थल से निकले थे, उनमें से केवल चार ही उस दिन के हत्याकाण्ड में बचे थे। बीबीघर के बन्दियों में से कोई भी १६ जुलाई के कत्ल की कहानी सुनाने के लिए नहीं बचा। फिर भी महामाननीय सर जार्ज ट्रेविलियन को कानपुर की भयंकर घटनाओं का विस्तृत विवरण एकत्र करने में कोई कठिनाई नहीं हुई। उनका वर्णन मुख्यतः निम्न बातों पर आधारित है :

१. "उत्तर-पश्चिमी प्रान्त के पुलिस कमिश्नर, कर्नल विलियम्स के आदेशानुसार लिए गए ६३ गवाहों के बयान, जिनमें देशी लोग और मिली-जुली जातियों के लोग भी थे।

२. एक स्थानीय वकील, नानक चन्द द्वारा लिखा गया कानपुर की घटनाओं का वर्णन।

३. कानपुर के सम्बन्ध में कैप्टन थामसन का वर्णन।

४. ग़दर के सम्बन्ध में सरकारी वर्णन, मुख्यतः विभिन्न जिलों में नियुक्त असैनिक अधिकारियों द्वारा तैयार किया गया था।"

कैप्टन थामसन का विवरण उसके व्यक्तिगत अनुभव पर आधारित है। कर्नल विलियम्स के वर्णन को मिलाकर सरकारी वर्णनों का महत्व इस बात पर निर्भर है कि वह किन प्रमाणों पर आधारित है। जो ६३ गवाह (जिनमें नानक चन्द भी था) कर्नल विलियम्स के सामने उपस्थित हुए थे, उनके बयान खास-खास बातों के बारे में भी परस्पर विरोधी थे, और राइस होम्स को नानक चन्द के बयान पर पक्का विश्वास था और उन्होंने उसकी तथाकथित पत्रिका को कानपुर की दैनिक घटनाओं का संकलन माना। तत्कालीन अंग्रेज़ अफसर इस पत्रिका को इतना विश्वसनीय नहीं मानते थे और न वे उसके लेखक पर ही विश्वास करते थे।

सर जार्ज ट्रेविलियन समझता था कि नानक चन्द एक वकील है। लेकिन कर्नल विलियम्स के सामने उसने अपने को एक महाजन या व्यापारी बताया। वह कानपुर की एक बस्ती, जनरल गंज में रहता था। १८४२ में वह मेसर्स बाथगेट पोर्टर्स एण्ड कम्पनी का कमीशन एजेण्ट था। इस कम्पनी को अनाज की सप्लाई का सरकारी ठेका मिला हुआ था।[1] ऐसा विश्वास है कि कभी वह कानपुर के एक अमीर

---

१. उसकी ३१ जुलाई, १८६३ की अर्जी का परिशिष्ट देखिए। सैनिक विभाग

व्यापारी लाला ईशरीप्रसाद के यहां नौकरी करता था। जब नानक चन्द ने बिठूर में नाना के खजाने का भेद बताने के लिए इनाम मांगा तो उसकी अर्जी कानपुर के कलक्टर जी० ई० लान्स के पास भेज दी गई। १५ मई, १८६२ को लान्स ने यह लिखाः "नानक चन्द एक मामूली सूचना देने वाला था और उसका जिससे भी वास्ता पड़ा, सब को उसने नाराज कर दिया। मुझे यह नहीं मालूम कि शेरर ने उसकी इनाम की मांग को किस खास कारण रद्द कर दिया (अगर वास्तव में उसने खजाने का भेद बताया था), लेकिन मैं इतना जानता हूं कि इधर उस अफसर ने उसे अपने अहाते में घुसने की भी इजाजत नहीं दी। कहा जाता है कि उसकी तथाकथित डायरी से उसे बहुत आमदनी हुई, क्योंकि वह इस बात पर निर्भर थी कि किसी व्यक्ति का नाम विद्रोहियों में या वफादारों में लिखने से उसे कितना रुपया मिलता है। अगर उसने वही सेवा की होती जिसका वह बहाना करता है तो मैं समझता हूं कि मुझसे पहले के अधिकारी ने उसे जरूर इनाम दिया होता। मुझे ज्ञात हुआ है कि यह बात मशहूर थी कि नाना ने अपने खजाने का कुछ हिस्सा कुएं में डालने का आदेश दिया था और जनरल हैवलाक के गंगा पार करने पर उसके अनुयायी बिठूर लौट कर सारी रात उस कुएं को खाली करने में लगे रहे।[२] शेरर भी लान्स के इस कथन से सहमत था और उसका कहना था कि खज़ाना छिपाने की जगह का सबको पता था और ऐसा नहीं था कि सिर्फ नानक चन्द को ही वह बात मालूम हो। शायद ये कागजात सर जार्ज ट्रेविलियन और डाक्टर टी० राइस होम्स के सामने मौजूद नहीं थे, लेकिन इस बात के काफी प्रमाण मौजूद हैं कि वह तथाकथित डायरी दिन प्रतिदिन की घटनाओं का संकलन नहीं हो सकती थी और निश्चय ही वह कभी बाद में संकलित की गई थी। यद्यपि नानक चन्द का कहना है कि उसने अपनी पत्रिका की एक प्रति ७ दिसम्बर, १८५७ को श्री शेरर और मेजर बरोंज़ (ब्रूस) को दी थी, लेकिन फिर भी यह उल्लेखनीय है कि शेरर ने जब ग़दर और बाद में कानपुर की घटनाओं का वर्णन लिखा तो उसने इस पत्रिका को कोई महत्व नहीं दिया। शेरर ने अपने 'वर्णन' में इसकी कोई चर्चा नहीं की और उसके निष्कर्ष भी कहीं-कहीं नानक चन्द के कथन के बिलकुल विपरीत हैं, जैसे ग़दर से पहले सिपाहियों के साथ मिल कर नाना का षड्यन्त्र। यद्यपि नानक चन्द यह कहता है कि वह अगस्त के अंतिम सप्ताह में शेरर से मिलने गया था, फिर भी यह स्पष्ट नहीं है कि उसने १८५७ के आखिरी महीने तक अपनी वह मूल्यवान डायरी कलक्टर और पुलिस सुपरिन्टेंडेंट को क्यों नहीं दिखाई।

ट्रेविलियन समझता था कि नानक चन्द एक वकील है, क्योंकि वह चिमनजी के मामले में दिलचस्पी ले रहा था, लेकिन यह हैरानी की बात है कि नानक चन्द अपने मुवक्किल के पूर्वजों के सम्बन्ध में भी पूरी तरह नहीं जानता था। वह उसका परिचय

इनाम, पुरस्कार सम्बन्धी परामर्श, जनवरी १८६४, संख्या ७८-८२। कार्रवाई बी० सं० ४४-६८

२. ध्यान रहे कि नानक चन्द ने यह शिकायत की थी कि लान्स से उसके सम्बन्ध अच्छे नहीं थे

बाजीराव के भाई चिमनजी अप्पा के पुत्र के रूप में देता है, यद्यपि महाराष्ट्र में कभी-कभी पोते का नाम दादा के नाम पर रख दिया जाता है, लेकिन पिता और पुत्र का नाम कभी एक नहीं होता। सरकारी विवरण के अनुसार बाजीराव का भाई चिमनजी ३० मई, १८३२ को मर गया था और उसके पीछे उसकी विधवा कावेरीबाई, जिसकी आयु लगभग ११ वर्ष की थी, और एक अविवाहिता पुत्री द्वारिकाबाई रह गई थी। बाद में द्वारिकाबाई के एक लड़का हुआ, जिसका नाम चिमनजी अप्पा था। सरकारी विवरण में बताया गया है कि जब बाजीराव द्वितीय की मृत्यु हुई तो उस समय यह युवक उसका आश्रित था। वयस्क होने पर उसे पचास हजार रुपये मिलने थे। हिन्दू कानून या और किसी कानून से वह बाजीराव की सम्पत्ति का कोई दावा नहीं कर सकता था, इसलिए नाना को उस जज की "हथेली गरम करने की" कोई आवश्यकता नहीं थी जिसने उसका मामला रद्द कर दिया।

यह आरोप भी बिलकुल निराधार है कि "महाराजा ने अपने पूर्वज की विधवाओं को उनकी इच्छा के विरुद्ध नजरबन्द रखा, और उसकी छोटी पुत्री का विवाह वह पारिवारिक नियमों और परम्पराओं के विरुद्ध करना चाहता था; उच्च ब्राह्मणों के विचार से यह एक अत्यन्त भयंकर कार्य था। उसने बड़ी बहन की शादी एक ऐसे व्यक्ति से की जिससे मिलने का कभी अवसर उसे नहीं दिया गया, और जब कुछ समय बाद उसकी मृत्यु हो गई तो पास-पड़ोस में यह कानाफूसी होती रही कि हर दृष्टि से यह काम अत्यन्त अनुचित था।" बाजीराव द्वितीय के कई विवाह हुए थे। उसकी मृत्यु के बाद केवल उसकी दो पत्नियां, साईबाई और मैनाबाई जीवित थीं। योगबाई और कुसुमबाई नाम की उसकी दो पुत्रियां भी थीं, जिनकी माता अपने पति के रहते मर गई थी। उनके नाना बलवन्तराव आठवले ने (जिसको एक स्थान पर नानक चन्द ने पेशवा का साला बताया था) उनका अभिभावक होने का दावा किया। भारत सरकार ने उसका वह दावा स्वीकार नहीं किया। योगबाई की शादी प्रसिद्ध पटवर्धन परिवार के एक व्यक्ति से कर दी गई और वह साल या डेढ़ साल में ही मर गई। सिर्फ नानक चन्द उसकी शादी अनुचित मानता था और शादी के एकदम बाद उसका अपने पिता के यहां से न जाना कोई असाधारण बात नहीं थी। कुसुमबाई जिसका नाम बयाबाई भी था, की शादी ग्वालियर के एक सरदार, बाबा साहेब आप्टे से हुई। वह शादी किसी भी तरह बेमेल नहीं थी। उसकी शादी यद्यपि नानक चन्द के डायरी लिखने से पहले हो गई थी फिर भी नानक चन्द को उसका पता न था। वह और उसकी दोनों सौतेली माताएं उसके भाई के साथ नेपाल चली गई थीं, और जब पूरी तरह शान्ति हो गई तो वह अपने पति के पास आ गई।

बाजीराव का पोता (भाई का पोता) दूसरा चिमनजी थट्टे परिवार का था। उसके पुत्र द्वारा यह कहा जाता है कि बाजीराव द्वितीय चौथे पुत्र को गोद लेना चाहता था और उसने इसके लिए चिमनजी को चुना था। उस समय की प्रथा के अनुसार गोद लेने वाले पिता के परिवार के लिए जो सीमाएं निर्धारित थीं उनको देखते हुए इस कथन पर विश्वास करना कठिन है। नाना, दादा और बाला के मामले में इस प्रथा को पूरी तरह निभाया गया था। चिमनजी के पुत्र लक्ष्मण थट्टे का कहना है कि लगभग १८८०

में साईबाई ने नेपाल में उसे गोद लिया था।[3] इससे यह सवाल हमेशा के लिए हल हो जाता है, क्योंकि एक ही पिता द्वारा या उसकी ओर से पिता और पुत्र दोनों को गोद नहीं लिया जा सकता था। जब चिमनजी की तरफ से मुकदमा चलाया गया था तब वह नाबालिग ही था। हो सकता है नानक चन्द की उस मुकदमे में दिलचस्पी हो। भारत में कुछ ऐसे लोग हैं जो दूसरे लोगों की कठिनाइयों का लाभ उठाते हैं और उसी पर उनकी रोजी चलती है। २८ जनवरी, १८५८ के पत्र में लाला ईशरीप्रसाद ने सेसिल बीडन को लिखा, "करीब दो साल पहले यानी हाल के ग़दर के बारे में शंका होने से भी काफी पहले अपने कुछ मित्रों के कहने पर मैं चिमन अप्पा को एक मुकदमे के लिए आर्थिक सहायता देने को राजी हो गया था। यह मुकदमा उसने सरकार के अधीन रखी हुई एक बड़ी रकम को प्राप्त करने के लिए चलाया था और अब उसका यह कहना था कि वह गलती से किसी महादेव पंत को दे दी गई थी।"[4] यह नहीं बताया गया है कि नानक चंद ने ईशरीप्रसाद से चिमनजी की सिफारिश की थी (यद्यपि उसने अस्वीकार किया), और हो सकता है उसने उस नाबालिग मुकदमेबाज से इस विचार से मैत्री कर ली हो कि जल्दी ही वह रुपये वाला हो जाएगा।

नानक चन्द ने अपनी पत्रिका लिखने में अपने उद्देश्य को नहीं छिपाया। वह अपनी वफ़ादारी सिद्ध करके इनाम पाना चाहता था। दुर्भाग्यवश १८६५ तक उसे कोई इनाम नहीं मिला, और जो मिला भी वह उस रकम से बहुत कम था जो, उसके कथनानुसार, उसने सरकार के फ़ायदे के लिए खर्च की थी।[5] यह ध्यान रखने की बात है कि उसकी अपनी पत्रिका तथा बाद में सरकारी इनाम के मांग में दी गई अर्जियों के बीच बहुत अन्तर है। अपनी पत्रिका के शुरू में उसने लिखा है कि उसने प्रधान सेनापति के लिए जानकारी एकत्र करने के लिए दस महीने उसके शिविर में गुजारे, लेकिन प्रधान सेनापति ने नानक चन्द का कोई जिक्र नहीं किया। बाद की अर्जियों में उसने स्वीकार किया है है कि उसने मेजर ब्रूस के साथ काम किया, और उसी अफसर की सिफारिश पर सरकार ने उसे पांच हजार रुपये के इनाम की मंजूरी दी, लेकिन यह इनाम सैनिक जानकारी देने के लिए नहीं बल्कि नाना के खजाने की सूचना देने के कारण दिया गया।

यह भी ध्यान रखने की बात है कि नानक चन्द आदतन डायरी लेखक नहीं था, लेकिन जब मेरठ और दिल्ली की खबरें कानपुर पहुंची तो उसने एकदम समझ लिया कि वहां भी विद्रोह होगा और उसने यह भी अनुभव किया कि इन दिनों की दिन प्रतिदिन की घटनाओं का वर्णन सरकार के लिए उपयोगी होगा। वह अपनी जान बचाने के लिए

---

३. मैं महामहोपाध्याय डी० वी० पोतदार का आभारी हूं, क्योंकि उन्होंने इस व्यक्ति के वक्तव्य की पांडुलिपि की एक प्रति मुझे दी।

४. गृह विभाग, पब्लिक कन्सल्टेन्शन्स, संख्या ६०, ५ मार्च, १८५८

५. ३१ जुलाई, १८६३ की अर्जी में उसने यह दावा किया है कि उसने सरकार के लिए जानकारी एकत्र करने पर ७,०२७ रु० ३ आने खर्च किए।

छिप गया, लेकिन उसने कहा है कि रोजाना शहर में, बिठूर में, नाना के शिविर में और अंग्रेज़ों के सुरक्षित स्थान में जो कुछ होता था वह उसे मालूम पड़ता रहा और वह रोज उनका वर्णन लिखता रहा। उसने यह नहीं बताया कि अंग्रेज़ों के सुरक्षित स्थान की खबरें उसे किस जरिये से मिलती थीं। ८ जून को वह मौत के डर से लाला ईशरीप्रसाद के मकान पर चला गया, जो उस समय खाली था। वहां वह एक दिन रहा और लाला के एजेंट ने उसे खाना खिलाया, लेकिन साथ ही हमें यह भी बताया गया है कि अपनी डायरी लिखने के बाद रात को वह उस घर से सिरसिया घाट चला गया जहां हीरा गंगापुत्र नाम के एक व्यक्ति ने रात बिताने के लिए उसे एक कमरा दिया।[६] इसके बाद शायद रात को अपनी डायरी लिखने के लिए वह वापस आया, लेकिन वहां रात बिताना सुरक्षित न समझ कर वह नदी के किनारे चला गया। निश्चय ही वह अपनी डायरी को अपनी जान से भी ज्यादा समझता था। १३ तारीख को वह जाजामऊ में अपनी डायरी में एक पैरा लिख चुका था कि नाना के आदमी उसे पकड़ने के लिए आ गए। वह जान लेकर भागा लेकिन रास्ते में कुछ किसानों ने उसे मारा-पीटा और उसका सामान छीन लिया। एक दयालु जमींदार ने उसे रात को रहने की जगह दी और उसके बाद वह नदी पार करने के लिए चल पड़ा। दूसरे किनारे पर पहुंच कर वह चार घण्टे तक बेहोश पड़ा रहा। सुबह के दस बजे वह होश में आया। वह स्थान उसके छिपने की जगह बद्रका से तीन मील दूर था। क्या उसकी डायरी खो गई थी? नहीं, लुट जाने तथा अन्य घटनाओं के बाद भी उसकी डायरी उसी के पास रही और नियमानुसार उस दिन की घटनाओं का वर्णन भी उसने उसमें लिखा। लेकिन फिर भी उसमें लगातार घटनाओं का वर्णन नहीं है। उसमें १५ मई से २२ जुलाई तक और बाद में २५ नवम्बर से ७ दिसम्बर तक की घटनाओं का वर्णन दिया है। १७ अगस्त को उसने वफादार और गैर-वफादार तहसीलदारों की सूची बनाई। स्पष्ट हो वह अपने को सार्वजनिक नैतिकता का निरीक्षक मानता था, लेकिन उसने यह स्वीकार किया कि वह पत्रिका मूल रूप में नहीं दी गई। उसने कहा है, "यह पत्रिका ग़दर से पहले से शुरू होकर ग़दर के अन्त तक की है, और अधिकारियों के सामने अपनी वफादारी सिद्ध करने तथा नाम पैदा करने के लिए इसे, अंग्रेज़ों के कानपुर पर पुनः अधिकार होने पर, जांच पड़ताल करके ठीक कर लिया गया।"

यह स्पष्ट है कि शेरर की नजर में वह "नाम पैदा करने में" असफल रहा जिसने उसे अपने घर आने की इजाजत नहीं दी। लान्स भी उससे अप्रभावित रहा और उसने उसे एक मामूली सूचना देने वाले और अपना मतलब गांठने वाले व्यक्ति के रूप में ही समझा। यद्यपि उसने "बड़ी सूक्ष्म जांच-पड़ताल" के बाद अपनी पत्रिका को "ठीक" कर लिया था लेकिन फिर भी उसका कोई भी बनावटी प्रमाण त्रुटियों से रहित नहीं है। एक ऐसी ही बड़ी त्रुटि पर सर जान का ध्यान भी गया। नानक चन्द का कहना है कि वह १७ जुलाई को कानपुर की कोतवाली में जनरल हैवलाक और नील से मिला। लेकिन नील २० तारीख तक कानपुर नहीं पहुंचा था। हैरानी की एक बात यह है कि १७ फरवरी,

६. नानक चन्द, पृ० १०

१८६६ की अर्जी में उसने अपने ही कथन का खण्डन किया, "१७ जुलाई, १८५७ को जनरल हैवलाक कानपुर आया और जनरल नील शायद एक या दो दिन बाद आया और वे १९ अगस्त की शाम तक वहां रहे।" नानक चन्द ने एक गलती सुधारने में दूसरी गलती की, क्योंकि उन दिनों हैवलाक कानपुर में था ही नहीं। उसकी पत्रिका में, यही नहीं ऐसी बहुत-सी अशुद्धियां हैं। पत्रिका के अनुसार जनरल (अंग्रेजों का) १८ जुलाई को बिठूर गया और उसने नाना नारायण राव को डांट-फटकार लगाई क्योंकि वह कुछ तोपें अपने घर ले गया था। ३१ जुलाई, १८६३ की अर्जी के चौदहवें पैरे में नानक चन्द ने ठीक ही कहा है कि जनरल १९ जुलाई को बिठूर पहुँचा।[७]

यह भी ध्यान देने की बात है कि इस दिन प्रति दिन के वर्णन में कभी-कभी पिछली तारीख की घटनाएं भी आ गई हैं। इस तरह की गलत तारीख फतेहगढ़ के शरणार्थियों के दूसरे दल के बारे में है। इस दल में कर्नल गोल्डी, कर्नल स्मिथ और मेजर राबर्टसन थे। वे लोग ४ जुलाई को फतेहगढ़ से रवाना हुए। पहला दल महीने भर पहले आ गया था और उसके पकड़े जाने की खबर नानक चन्द ने ११ जून को लिखी। उस समय वह जाजामऊ में था। "मेरे नौकर झैंनसिंह ने आकर मुझे खबर दी कि फर्रुखाबाद से आए हुए यूरोपियन इकट्ठे बांध कर मार दिए गए।" चूंकि ये निष्क्रांत व्यक्ति फतेहगढ़ से ४ जून को चले थे, इसलिए नानक चन्द के इस कथन में कोई अनौचित्य नहीं मालूम पड़ता कि वे १० तारीख को पकड़ कर मार दिए गए। १५ जून को नानक चन्द ने फिर लिखा, "कानपुर की कल की घटनाओं की खबरें मेरे पास आज सुबह दस बजे पहुंचीं। पहली यह कि फर्रुखाबाद के करीब चालीस पुरुषों और स्त्रियों को, जो पीछे छूट गए थे, जस्सासिंह बदमाश ने रोका ······· और बिठूर भेज दिया, बदमाश रावसाहब ने उन्हें बिठूर में रोक लिया और बड़े बदमाश नाना को खबर दी, और नाना ने बन्दियों को अपने सामने बुलाया। न मालूम उनकी क्या गत होगी।"[८] फतेहगढ़ के निष्क्रांतों का पहला दल १० जून को खत्म कर दिया गया था और दूसरा ४ जुलाई से पहले किले से रवाना नहीं हुआ। इसलिए हम यह समझ नहीं पाते कि १४ जून को यूरोपीय कैसे गिरफतार हुए। फिर भी छः और व्यक्तियों ने नानक चन्द के कथन का समर्थन किया है, जिनमें अप्पाजी लक्ष्मण, अप्पा शास्त्री और नाना अभयंकर बिठूर निवासी थे। नानक चन्द के गुप्तचर फतेहसिंह का यह दृढ़ मत था कि जुलाई में कोई यूरोपीय नहीं आया। कर्नल विलियम्स ने इस त्रुटि की कोई सफाई न देकर उस घटना की सही तारीख दी है, लेकिन बिना किसी टिप्पणी के उन गवाहों की चर्चा भी कर दी है जिन्होंने इस घटना की पिछली तारीखें बताई थीं। नानक चन्द ने फतेहगढ़ के बन्दियों के दो दलों की बात सुनी थी। लेकिन दूसरे और अन्तिम दल की तारीख पता न होने के कारण उसने ग़लत तारीख भर दी। और उसके एजेंटों और गुप्तचरों का यह फर्ज ही था कि वे उसके कथन का समर्थन करते। इसी तरह, कोतवाल के पद पर हुलास सिंह की नियुक्ति की तारीख के बारे में भी शक

७. उसका मतलब शायद मेजर स्टीफेन्सन से है।

८. नानक चन्द, पृ० १२ और १४

है। नानक चन्द के मुताबिक वह ६ जून को नियुक्त हुआ लेकिन खुद हुलास सिंह का कहना है कि विद्रोहियों के कल्याणपुर से लौटने के सात या आठ दिन बाद उसकी नियुक्ति हुई। हुलास सिंह से पहले और भी कई लोग उस पद पर काम कर चुके थे और बताया जाता है कि उनमें से एक तो सिर्फ दो या तीन दिन तक कोतवाल रहा। इसलिए हुलास सिंह की नियुक्ति १० जून से पहले होनी संभव नहीं थी।

नानक चन्द का कहना है कि अंग्रेजों के सुरक्षित स्थान में ११ जून को आग लगी, जब कि वह जाजामऊ में था। दूसरी ओर उस सुरक्षित स्थान में रहने वाले शेफ़र्ड ने कहा है कि बैरक में १३ जून की शाम को लगभग ५ बजे आग लगी।[९] डेलाफास ने कहा कि यह घटना १२ जून या उसके आसपास घटी। मौब्रे थामसन का कहना है कि यह भयंकर विपत्ति लगभग एक सप्ताह बाद आई। हिसाब लगाने से वह तारीख १३ जून निकलती है। लेकिन राइस होम्स ने यह कह कर नानक चन्द की तारीख को स्वीकार किया है कि "वह बहुत सजग डायरी-लेखक था।" वह इतना सजग था कि १७ जुलाई के वर्णन में उसने लिखा है कि एक महीने से वह बाहर नहीं निकला, यद्यपि उसके अपने ही कथन के अनुसार वह इस दौरान जाजामऊ और बद्रका जाकर कानपुर वापस लौट आया था।

मालूम पड़ता है कि नाना के आदमियों ने उससे असाधारण रूप से नरमी का व्यवहार किया। उसके सिर पर एक हजार रुपये के इनाम की घोषणा की गई थी। नाना के आदमियों ने उसे बद्रका से खोज निकाला लेकिन फिर छोड़ दिया, दया से नहीं बल्कि धन का लिहाज करके। एक रुपया भी नकद नहीं दिया गया, लेकिन इन धोखेबाज गुंडों ने सवा सौ रुपये का हाथ का लिखा हुआ एक पुर्जा स्वीकार कर लिया, जो इस महाजन को पकड़वाने पर मिलने वाली रकम के दस प्रतिशत के बराबर था।

कभी-कभी नानक चन्द को सूचना देने वाले परस्पर-विरोधी सूचनाएं देते रहे। विलियम्स के सामने उसने यह कहा कि जो बहुत-से व्यक्ति उसे सूचनाएं देते थे उनमें थामस ग्रीनवे का एक कर्मचारी मुन्शी कालिकाप्रसाद भी था। कालिकाप्रसाद ने क़हा, "मेरे पकड़े जाने और ब्रिगेडियर ज्वालाप्रसाद द्वारा छोड़ दिये जाने के बाद भी वह मुझे रोज बुलाता रहा और मुझसे मेरे मालिक के धन के बारे में पूछता रहा।" इससे यह पता लगता है कि २५ जून को कालिकाप्रसाद किस तरह शाह अली के तम्बू में पहुंचा था जब उसने प्रस्तावित हत्याकाण्ड के बारे में अज़ीमुल्ला, ज्वालाप्रसाद तथा अन्य लोगों की बातचीत सुनी। लेकिन अगर ग्रीनवे के खजाने का पहले ही पता लग चुका था तब शाह अली के निवास-स्थान पर कालिकाप्रसाद के जाने का कोई जवाब नहीं मिलता। नानक चन्द ने निश्चित रूप से कहा है कि ६ जून को ही ग्रीनवे का अहाता खोद कर खजाना निकाल लिया गया था। नानक चन्द ने कहा कि एडवर्ड ग्रीनवे, उसकी माता तथा बहनों को ९ जून को नजफगढ़ से बन्दी बना कर लाया गया, लेकिन कालिकाप्रसाद ने कहा कि नाना के सैनिक ८ तारीख को नजफगढ़ गए और ग्रीनवे परिवार के बन्दियों को ले आए। इन्हीं सब कारणों से सर जान के ने नानक चन्द को अविश्वसनीय गवाह करार दिया था।

---

९. शेफ़र्ड, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ४४

सर जार्ज ने कम से कम एक जगह यह बताया कि वह सुरक्षित स्थान के गवाहों की अपेक्षा नानक चन्द को क्यों प्राथमिकता देता है। वह मौब्रे थामसन के इस कथन को स्वीकार नहीं करता कि नाना ने जो दूत भेजा था वह श्रीमती ग्रीनवे थी क्योंकि श्री ग्रीनवे के गुप्त नौकर ने इस बात की पुष्टि की कि नाना ने श्रीमती जैकब को चुना था और अधिकांश बयानों में उसके इस कथन का समर्थन किया है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि बहुत-से गवाह नानक चन्द से मिले हुए थे और वे उसी के कथन की पुष्टि करते थे। लेकिन उस दूत की पहचान की एक बात ही ऐसी नहीं थी जिस पर मौब्रे थामसन का मत नानक चन्द और कालिकाप्रसाद से भिन्न था। नानक चन्द ने यह लिखा और कालिकाप्रसाद ने यह बयान दिया कि उसने २४ जून की सुबह लगभग ९ या १० बजे श्रीमती जैकब को अंग्रेज़ों के सुरक्षित स्थान पर जाते देखा, और उसके बाद लगभग बारह बजे वापिस लौटकर नाना के तम्बू की तरफ जाते देखा। यह गवाह हमेशा ठीक जगह पर और ठीक मौके पर ऐसी बातें देखने और सुनने के लिए मौजूद रहता था, जिससे यह सिद्ध हो सके कि २७ जून के हत्याकाण्ड में नाना का हाथ था। लेकिन डेलाफास ने यह निश्चित रूप से कहा है कि नाना का दूत २५ जून को उस सुरक्षित स्थान में आया और मौब्रे थामसन ने "उसे रास्ते की रोक पर से ऊपर उठाया" और यह "पहचान लिया कि वह श्रीमती ग्रीनवे है।" थामसन ने आगे कहा है कि "जब तक बातचीत होती रही तब तक श्रीमती ग्रीनवे मेरी टुकड़ी में ही रही और रात को नाना के शिविर में लौट गई।"[10] अगले ही दिन नानक चन्द को इस प्रस्तावित धोखेबाजी की खबर मिली और उसने लिखा है कि कालिकाप्रसाद ने एडवर्ड ग्रीनवे को इसकी चेतावनी दे दी थी। समझ में नहीं आता कि उसने अपने विश्वसनीय कर्मचारी की बात पर ध्यान क्यों नहीं दिया। लेकिन नानक चन्द के मामले में ट्रेविलियन या होम्स ने इस तरह की त्रुटिपूर्ण बातों पर ध्यान नहीं दिया।

सर जार्ज ट्रेविलियन ने एक 'प्रत्यक्षदर्शी' के विवरण का विस्तृत रूप से उल्लेख किया है, जिसका दावा था कि उसने सवाडा हाउस की करुण घटनाओं और बीबीनगर की भयंकरताओं को अपनी आंखों से देखा था। जान फ़िचेट ईसाई था और इलाहाबाद की छठी देशी सेना में ढोलची था। जब वहां विद्रोह शुरू हुआ तो अपनी जाति के दूसरे लोगों की तरह उसने भी इस्लाम स्वीकार कर अपनी जान बचाई। जब व्हीलर ने आत्मसमर्पण किया और जब हैवलाक ने फिर से वहां ब्रिटिश सत्ता कायम की, उस समय फ़िचेट और उसके साथ धर्म-परिवर्तन करने वाले उसके साथी वहीं थे। उसने कहा है कि स्त्रियां जब नदी से आईं, उस समय उसे सवाडा हाउस में रखा गया था। उसने कहा कि दूसरी बार कत्ले-आम को न सिर्फ उसने देखा था, बल्कि वे सारी घटनाएं उसे याद थीं। उसके कथनानुसार जिस दिन वह कानपुर पहुंचा, उसे सवाडा हाउस ले जाकर दक्षिण-पूर्व

---

१०. थामसन, उद्धृत ग्रंथ, पृ० १५१-५२। दि स्टोरी आफ़ कानपुर में पृ० १५१ पर छपी २३ जून की तारीख सम्भवतः गलती से छप गई है, क्योंकि पृ० १४८ पर थामसन ने कहा है कि घेरा पड़ने के २१वें दिन वह महिला उसकी टुकड़ी में आई।

दिशा के एक कमरे में कैद किया गया तथा क्लार्क और डिक्रूज़ भी उसके साथ ही रखे गये थे। इस जगह से बाहर की घटनाओं को अच्छी तरह देखा जा सकता था और यहीं से उसने खून और कीचड़ में सनी उदास महिलाओं और फटे चीथड़े पहने बच्चों को नदी की ओर से आते देखा था। क्लार्क और डिक्रूज़ ने अप्रत्यक्ष रूप से इससे इन्कार किया कि वे सवाडा हाउस या किसी अन्य स्थान पर फ़िचेट के साथ रखे गये थे। क्लार्क ने कहा कि जान फ़िचेट का कथन बिल्कुल झूठा है। हम दोनों में से किसी को भी कभी सवाडा हाउस में नहीं रखा गया। उसने बल देकर कहा कि उन दोनों को सवाडा हाउस से लगभग एक मील की दूरी पर रखा गया था। डिक्रूज़ ने भी उतना ही जोर देकर फ़िचेट के कथन का खंडन किया। वह तो क्लार्क के कथन से भी एक कदम आगे बढ़ गया। उसने कर्नल विलियम्स को बताया कि जान फ़िचेट को सवाडा हाउस में नहीं, बल्कि हम दोनों के साथ शिविर में ही रखा गया था। उसने कहा "जान फ़िचेट का यह वक्तव्य झूठा है। किसी को भी कैद नहीं किया गया। हम लोग सिपाहियों के साथ खुली जमीन पर एक शिविर में रखे गये थे। जान फ़िचेट भी हम लोगों के साथ था।" "हम लोग . . . सवाडा हाउस से लगभग एक मील दूर मैदान में रखे गये थे।" २७ जून के बाद वह वहां कभी नहीं गया।[११] यह स्वाभाविक भी था कि धर्म-परिवर्तन कर लेने के बाद इन बेचारों को घूमने-फिरने की आजादी दी जाय। अगर जान फ़िचेट सवाडा हाउस में न रखा जाकर एक मील दूर शिविर में रखा गया था तो उसके लिए सती चौरा के कत्ले-आम से बचे लोगों को कैदखाने आते देखना सम्भव नहीं था। यह भी विचित्र लगता है कि जब दूसरे कैदियों का तबादला किया गया तो सिर्फ उसे ही बीबीघर में क्यों कैद रखा गया। इस मामले में भी सर जान ट्रेविलियन तथा होम्स ने सर जान के की चेतावनी पर ध्यान नहीं दिया। के ने कहा कि "इस मुख्य गवाह का विवरण (जान फ़िचेट, छठी देशी पैदल सेना का ढोलची) अन्य सभी विवरणों से अधिक विस्तृत है और सबसे प्रामाणिक भी लगता है। उसने कहा कि वह हमारे लोगों के साथ बंदी बनाकर रखा गया था। लेकिन बाद में यही सफेद झूठ बोलने के लिए उसे दोषी भी ठहराया गया और उसके बयान को तभी विश्वसनीय माना जा सकता है जब कि दूसरे लोगों ने भी उसका समर्थन किया हो।"[१२] लेकिन दूसरे ढोलचियों को भी अपनी जान बचानी थी। उन्होंने स्वयं स्वीकार किया कि उन्होंने इस्लाम स्वीकार किया था और सिपाहियों से मिल गए थे।

अपनी बाद की अर्जियों में नानक चन्द ने अपनी डायरी के विवरण का खण्डन किया। ६२ अन्य गवाहों ने भी जो कर्नल विलियम के सामने पेश हुए, महत्वपूर्ण मामलों के सम्बन्ध में विरोधी बातें कहीं। सर जार्ज ट्रेवेलियन या डा० टी० राइस होम्स के विवरण पर केवल उतना ही विश्वास किया जा सकता है जितना उन साधनों पर जिनके आधार पर उन्होंने अपनी राय कायम की। कर्नल विलियम्स के सामने गवाही देने वालों तथा नानक चन्द के विवरण स्पष्टतः अविश्वसनीय हैं।

---

११. डिपोज़ीशन्स, पृ० ४, १४-१७

१२. के, ए हिस्ट्री आफ दि सिपाय वार, जिल्द २, पृ० ३७२

अध्याय ५

अवध

अवध का सूबा तो मुग़ल साम्राज्य के जमाने से ही चला आ रहा था। किन्तु वहाँ नवाबों का राज्य स्थापित हुए अभी ३८ वर्ष ही बीते थे। इस छोटी अवधि में पांच नवाब अवध की गद्दी पर बैठ चुके थे। इस राजवंश के पुरखे फारस से आए थे और ये शिया मतावलम्बी थे। इस राज्य का संस्थापक मुग़ल दरबार का सामन्त था। मुग़ल साम्राज्य के पतन के दिनों में उसके वंश के लोगों का वज़ीर के पद पर वंशगत अधिकार हो गया और अवध का सूबा इन लोगों की जागीर बन गया। बहुत समय तक ये लोग व्यवहारतः स्वतंत्र होते हुए भी हर तरह से मुग़ल साम्राज्य की अधीनता मानते आए। नवाब शुजाउद्दौला ने शाह आलम के साथ मिल कर बिहार सूबे पर हमला किया। यह सूबा नाममात्र के लिए ही उसके पिता के आधीन था। लेकिन नवाब तथा वज़ीर की संयुक्त सेना को सर हेक्टर मुनरो ने बक्सर की लड़ाई (१७६४) में बुरी तरह हराया। क्लाइव ने अपनी कूट-नीति से नवाब तथा वज़ीर से इलाहाबाद की संधि करके इस सैनिक विजय को दृढ़ता प्रदान की। इस संधि के अनुसार बादशाह ने बंगाल, बिहार और उड़ीसा के संयुक्त सूबे का दीवान ईस्ट इण्डिया कम्पनी को बनाया और वज़ीर ने यह कबूल किया कि उसे अंग्रेज़ों को छोड़ कर अन्य किसी विदेशी शक्ति से राजनीतिक संधि करने का अधिकार नहीं रहेगा।

इसके बाद के अवध के सभी नवाब इस संधि की शर्तों का सचाई के साथ पालन करते रहे। लेकिन अंग्रेज़ों का पक्ष अधिक शक्तिशाली था। ये धीरे-धीरे अपना नियंत्रण कड़ा करते गए और इनकी मांगें दिन-दिन बढ़ती गईं। अन्त में अवध राज्य का क्षेत्र करीब-करीब आधा रह गया और अवध के शासक की हैसियत एक स्वतन्त्र शासक की न रह कर एक सामन्त की सी हो गई। शुजाउद्दौला ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी के साथ मैत्री की संधि की थी। उसके पुत्र तथा उत्तराधिकारी, आसफ़उद्दौला की मृत्यु के बाद आसफ़उद्दौला के भाई सादत अली और उसके विख्यात पुत्र मिर्ज़ा अली के बीच उत्तराधिकार का झगड़ा हुआ। सादत अली उन दिनों बनारस में अंग्रेज़ों के संरक्षण में रहा करता था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने सादत अली के पक्ष में अपना निर्णय दिया। इसके बदले उसे अपनी रक्षक अंग्रेज़ी सेना को दी जाने वाली वार्षिक रकम में पर्याप्त वृद्धि करने की शर्त मंजूर करनी पड़ी। चार वर्षों के भीतर ही इस संधि में संशोधन हुआ जिसके अनुसार सादत अली को सेना के लिए दी जाने वाली वार्षिक रकम के बदले ब्रिटिश सरकार को दोआब का इलाका देना पड़ा। इससे राजस्व के रूप में प्रतिवर्ष

१,३५,२५,४७४ रुपए की आमदनी होती थी। १८०१ की संधि की छठी धारा के अंतर्गत सादत अली इस बात के लिए राजी हुआ कि सुरक्षित इलाकों में निजी अधिकारियों की देख-रेख में ऐसी प्रशासन-व्यवस्था कायम की जाए जिससे उसकी प्रजा की समृद्धि बढ़े और जिससे उनके जान-माल की रक्षा हो सके।" इसके अतिरिक्त उसने "उक्त कम्पनी बहादुर के अधिकारियों से सलाह लेना और उनकी सलाह के अनुसार काम करना"[1] भी स्वीकार किया। इस प्रकार ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने अवध के लोगों की सुख-सुविधा के लिए नैतिक दायित्व ले लिया और नवाब ने आन्तरिक प्रशासन के मामलों में कम्पनी के अधिकारियों की सलाह पर अमल करना स्वीकार कर लिया। निस्सन्देह उसने आशा की थी कि उसके जिन जागीरदारों ने उसके साम्राज्य के भीतर ही स्वयं अपना साम्राज्य बना लिया था और जिन्होंने राज्य के कानूनों पर अमल करना छोड़ दिया था, उनसे अंग्रेज़ी फौज उसके पक्ष में लड़ेगी। ये जागीरदार सुरक्षित किलों में रहते थे और उनके पास व्यक्तिगत फौजें भी थीं। लेकिन सादत अली और उसके जागीरदारों की लड़ाई में अंग्रेज़ तब तक नहीं पड़ना चाहते थे, जब तक उन्हें यह सन्तोष न हो जाए कि बादशाह का पक्ष औचित्य की कसौटी पर ठीक उतरता है। सादत अली ने हमेशा यह अनुभव किया कि अंग्रेज़ों का संरक्षण प्राप्त करने के लिए उसे बहुत बड़ी कीमत चुकानी पड़ी और जब भी उसने सैनिक सहायता मांगी, उसे अपमानित होना पड़ा। सादत अली की १८१४ में मृत्यु हो गई। उसके बाद उसका पुत्र ग़ाज़ीउद्दीन हैदर नवाब बना। नए नवाब ने नैपाल-युद्ध के कठिन दिनों में अंग्रेज़ों को धन से पर्याप्त सहायता दी। इससे उसके बारे में उनकी राय अच्छी बन गई। इससे प्रसन्न होकर कम्पनी की सरकार ने न केवल उसे कतिपय महत्वपूर्ण इलाकों में शासन का अधिकार दिया बल्कि उसे बादशाह का ओहदा देकर उसका रुतबा भी बढ़ाया।[2] बादशाह का यह नया ओहदा नासिरउद्दीन हैदर, मुहम्मद अली शाह और अमजद अली शाह को नवाब बनने पर मिला। इस क्रम में अन्तिम वाजिद अली शाह था, जो १८४७ में बादशाह बना। वाजिद अली शाह को छोड़ कर अवध के सभी बादशाहों ने सरकार द्वारा जारी की गई ऋण-योजनाओं में इस उद्देश्य से मुक्तहस्त धन दिया ताकि वे कम्पनी के अधिकारियों के कृपापात्र बने रहें और मृत्यु के बाद उनके कृपापात्र आश्रितों को नियत समय से पेन्शन मिलती रहे।

१८०१ की संधि में साफ-साफ व्यवस्था होने के बावजूद, प्रशासन का स्तर दिन-दिन गिरता गया। बादशाह विदेशी सेना के संरक्षण में सुरक्षित रहते ही थे। उन्होंने प्रशासन की पूरी देख-रेख अपने कृपापात्रों के जिम्मे छोड़ दी। उनके वे कृपापात्र स्वभावतः हाथ आए अवसर का पूरा लाभ उठाने को उत्सुक थे। शक्तिशाली जागीरदारों और ताल्लुकेदारों पर तो भ्रष्ट अधिकारियों का कोई वश नहीं चला, लेकिन छोटे जमींदारों को उनके कारण बहुत कठिनाइयां झेलनी पड़ीं। दशा दिन-दिन बिगड़ती ही

१. एचिसन, उद्धृत ग्रन्थ, जिल्द २, पृ० १२४-२५

२. वही, जिल्द २, पृ० ६९-७०

गई और वह भी समय आया जब अवध नाम से ही भ्रष्टाचार और कुशासन का बोध होने लगा। अन्त में कम्पनी सरकार को अपनी जिम्मेजारियों का ध्यान आया। जब निजी तौर पर शिकायतों से काम नहीं चला तो कम्पनी सरकार ने मुहम्मद अली शाह पर दबाव डाल कर एक नई संधि (१८३७) करने का प्रयत्न किया। नई संधि की ७वीं धारा में इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए साफ-साफ व्यवस्था थी—"उपर्युक्त संधि की छठी धारा के संशोधन स्वरूप यह व्यवस्था की जाती है कि अवध के बादशाह ब्रिटिश रेजिडेंट की सलाह से अपने शासन-क्षेत्र में पुलिस, न्याय तथा माल-विभागों के वर्तमान दोषों को दूर करने के लिए अच्छे से अच्छा उपाय करने का शीघ्र और सच्चा प्रयत्न करेंगे और यदि महामहिम ने ब्रिटिश सरकार अथवा उसके स्थानीय प्रतिनिधि के सुझावों और सलाहों पर अमल करने में लापरवाही बरती और यदि (ईश्वर न करे ऐसा हो) इस संधि के बाद अवध के शासन-क्षेत्र में कभी पूरी तरह से और आयोजित रूप से ऐसे अत्याचार, अराजकता और कुशासन का प्रसार हो जाए जिससे जन-जीवन की शांति को गम्भीर खतरा उपस्थित हो जाए, तो ऐसी स्थिति में ब्रिटिश सरकार अपना यह अधिकार सुरक्षित रखती है कि जिस भाग में उपर्युक्त प्रकार का कुशासन फैला हो, उसके किसी भी इलाके के प्रबन्ध के लिए अपने अधिकारी नियुक्त करे और उन्हें कम या अधिक अधिकार दे। यह अधिकार तब तक रहेगा जब तक ब्रिटिश सरकार इसकी जरूरत महसूस करे। ऐसी स्थिति में सभी खर्चों को काट कर बाकी आमदनी बादशाह के खजाने में जमा की जाएगी और इस प्रकार अधिकृत भागों की आमदनी और खर्च का असली और ठीक-ठीक हिसाब महामहिम को दिया जाएगा।" अगली धारा (धारा ८) के अन्तर्गत गवर्नर-जनरल ने यह दायित्व लिया कि अगर धारा ७ की व्यवस्थाओं पर अमल करने की जरूरत पड़े तो "वह यथासम्भव यह प्रयत्न करेगा कि उन अधिकृत क्षेत्रों की देशी संस्थाओं तथा प्रशासन-व्यवस्था को यथापूर्व (वैसे सुधारों के साथ जो उन्हें स्वीकार्य हों) रखा जाए, जिससे उचित अवसर आने पर वे क्षेत्र जब अवध के बादशाह को लौटाये जाएँ तो उसमें सुविधा हो।"[3] कोई भी स्वाभिमानी बादशाह ऐसी संधि पर हस्ताक्षर कर यह स्वीकार नहीं कर सकता था कि उसके शासन-क्षेत्र में पूर्ण तथा आयोजित रूप से अत्याचार, अराजकता और कुशासन फैला हुआ है, और मुहम्मद शाह ने भी यह अवश्य समझ लिया होगा कि इस संधि का मतलब उसे अपदस्थ किया जाना है। लेकिन वह जानता था कि वह ब्रिटिश सरकार की दया पर ही टिका हुआ है। इसलिए असमंजस में रहने के बावजूद, अंततः उसने इस संधि पर अपनी स्वीकृति दे दी। लेकिन ब्रिटेन की सरकार ने इस संधि को मंजूर नहीं किया। इसलिए यह रद्द कर दी गई। यह होने पर भी ऐसा नहीं कि मुहम्मद शाह के बुरे दिन फिर गए। वे फिरे नहीं, सिर्फ भविष्य के लिए टल गए।

सहायता की संधि की व्यवस्था में ही कुछ ऐसी अंतर्हित बुराइयां थीं, जिनका इस प्रकार की संधि में होना स्वाभाविक है। इस व्यवस्था में भारतीय राजाओं को अपने राज्य के भीतर तथा बाहर के दुश्मनों से अपनी रक्षा के लिए अंग्रेजों का भरोसा रहा करता

३. एचिसन, उद्धृत ग्रन्थ, जिल्द २, पृ० १७६-७७

था। परिणामस्वरूप उनमें परिश्रम करने तथा साहसपूर्वक कोई काम करने का उत्साह नहीं रह गया। उनमें आलस्य आ गया और उनका जीवन विलासमय हो गया। उनकी प्रशंसा ही करनी पड़े तो अधिक से अधिक यही कहा जा सकता था कि अपने पवित्र उद्देश्यों के बावजूद वे सामर्थ्यहीन बन गये थे। वैसे, वे स्वार्थी और विलासी हो गये थे और ऐसे-ऐसे कुकर्म किया करते थे जिनका लोगों के नैतिक जीवन पर बुरा प्रभाव पड़ता था। ब्रिटिश रेज़िडेंट ही एक ऐसा व्यक्ति था जिसे वे नाराज नहीं करते थे और रेज़िडेंट भी उनकी गतिविधियों में तब तक हस्तक्षेप नहीं करता था जब तक उसके लिए ऐसा करना आवश्यक न हो जाए। अवध के जितने भी बादशाह हुए वे अपनी जिम्मेवारियों को अपने अयोग्य उत्तराधिकारियों को सौंपते गये। वे कम्पनी के अधिकारियों के विरोध पर भी ध्यान नहीं देते थे। यहां तक कि लार्ड आक्लैंड जैसे नरम स्वाभाव के गवर्नर-जनरल ने भी बादशाह को उसके कृपापात्रों से छुटकारा दिलाने की जरूरत महसूस की।

वाजिद अली शाह ने भी यही किया जो उसके पहले के नवाबों ने किया था। कविता और संगीत में उसकी थोड़ी-बहुत रुचि थी। उसने कविता में अपने खानदान का इतिहास लिखना भी शुरू किया था।[४] अच्छा होता यदि वह सिर्फ शायरों और साहित्यकारों से ही सम्बन्ध रखता। लेकिन उसके पिता ने उसके नीचे घराने के संगीतज्ञों से मिलने पर भी कोई रोक-टोक नहीं रखी। फल यह हुआ कि वह साहित्यिकों की अपेक्षा गवैयों तथा नर्तकियों को अधिक महत्व देने लगा। उसका वज़ीर भी उससे सप्ताह या पखवाड़े में सिर्फ एक बार कुछ क्षणों के लिए ही मिल सकता था और वह भी किले में नहीं, बल्कि उसके कृपापात्र एक ढोलची के घर पर। उसके इन कुख्यात कृपापात्रों की ऐसी तूती बोलती थी कि वे जिसे जिस पद पर भी चाहते बिठा सकते थे। स्लीमैन ने १८४९ में लिखा था कि "वस्तुतः अवध में कोई सरकार नहीं रह गई है। गवैयों और ज़नखों को छोड़ नवाब और किसी से नहीं मिलता। प्रशासन की कोई परवाह नहीं करता और यह जानने की कोशिश भी नहीं करता कि उसकी सल्तनत में क्या कुछ हो रहा है।"[५] उसने यह लिखा कि जब तक राज्य में नवाब के नीचे घराने के कृपापात्रों का बोलबाला रहेगा, तब तक वज़ीरों के बदल देने से कोई लाभ नहीं होगा। उसने यह सुझाव दिया कि प्रशासन का भार एक बोर्ड को सौंप दिया जाए। नवाब को मजबूर किया जाए कि वह अपने अधिकार विधिवत् बोर्ड को दे दे, और नहीं तो वह अपने उत्तराधिकारी को गद्दी पर बिठा दे। अगर नवाब का उत्तराधिकारी गद्दी पर बिठाया जाए, तो बोर्ड संरक्षक की हैसियत से प्रशासन की देखभाल करे। लेकिन इतना कड़ा कदम उठाने के प्रश्न पर भारत सरकार स्वभावतः असमंजस में पड़ गई। उसने नवाब को चेतावनी देने और समझाने-बुझाने की अपनी पुरानी नीति ही जारी रखी। नवाब ने भी इस पर कोई ध्यान नहीं दिया। उसका रवैया पहले जैसा ही रहा। उसे यह पता नहीं था कि १८३७ की संधि रद्द हो

---

४. स्लीमैन, ए जर्नी थ्रू दि किंगडम आफ़ अवध, जिल्द १, पृ० ७३

५. वही, जिल्द १, पृ० ६१

चुकी है। उसको शायद यह संतोष था कि बुरी से बुरी नौबत आने पर भी अधिक से अधिक यही होगा कि उसके हाथ से शासक का अधिकार छीन लिया जाएगा, वह अधिकार जिसका अपने हाथ में रहने पर भी वह कभी उपयोग नहीं करता था। उसने शायद यह समझ रखा था कि शासन का अधिकार छीन लिये जाने पर भी राज्य की आमदनी उसे मिलती रहेगी।

१८५४ में स्लीमैन की जगह ऊटरम रेजिडेंट बना। उसके आने पर अवध की स्थिति "अगर ज्यादा बुरी नहीं थी तो कम से कम वैसी ही थी जैसी स्लीमैन ने समय-समय में थी।"[६] नवाब के "दिन और रातें हरम में बीतती हैं। ऐसा लगता है कि वह विलासिता, फजूलखर्ची तथा नीच कर्मों के लिए ही जीता है।" १८०१ की संधि में राज्य पर अधिकार कर लेने की व्यवस्था नहीं थी। उसमें सिर्फ देशी अधिकारियों के माध्यम से प्रशासन में सुधार करने की व्यवस्था थी। १८३७ की जो संधि रद्द हो चुकी थी, उसमें सरकार बदलने की व्यवस्था तो थी, लेकिन राज्य पर अधिकार कर लेने की व्यवस्था नहीं थी। डलहौज़ी राज्य पर कब्जा कर लेने और सल्तनत को समाप्त कर देने के पक्ष में नहीं था। वह चाहता था कि यदि संभव हो तो एक ऐसी नई संधि की जाए जिससे नवाब ऐच्छिक रूप से अवध का प्रशासन हमेशा के लिए कम्पनी के जिम्मे सौंप दे और बदले में नवाब, उसके उत्तराधिकारियों तथा शाही खानदान के सदस्यों को सहायता स्वरूप निश्चित रकम दी जाए। गवर्नर-जनरल की परिषद् के सदस्यों का मत था कि सभी संधियों की व्यवस्थाओं के बावजूद अवध की ५० लाख प्रजा के हित की दृष्टि से कम्पनी को अवध राज्य के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने का कानूनी और नैतिक अधिकार है। उनका कहना था कि एक व्यक्ति की सुविधाओं के लिए ५० लाख व्यक्तियों की सुख-सुविधा की उपेक्षा नहीं की जा सकती। परिषद् के एक सदस्य ने यह दलील पेश की कि पहले दिल्ली के सर्वशक्तिसम्पन्न बादशाह के जो भी अधिकार थे वे ईस्ट इण्डिया कम्पनी को उत्तराधिकार के रूप में मिले हैं। इसलिए कम्पनी को समस्त अधीनस्थ राज्यों पर पूरा अधिकार प्राप्त है। लेकिन ब्रिटेन के अधिकारी इस प्रश्न पर तत्काल कोई निर्णय नहीं कर सके और उनकी स्वीकृति जनवरी १८५६ से पहले नहीं मिल सकी। इस बीच डलहौज़ी निष्क्रिय नहीं रहा। उसने अपनी योजना बना ली थी और उसके लिए सारी तैयारियां भी वह कर चुका था। उसकी योजना थी कि नवाब यदि नई संधि पर हस्ताक्षर करने से इन्कार करे तो राज्य पर कब्जा कर लिया जाए। यह कठिन काम ऊटरम को करना था। उम्मीद यही थी कि नवाब अपनी इच्छा से संधि पर दस्तखत कर एक प्रकार से पूर्णतः गद्दी से उतार दिया जाना नहीं चाहेगा। यदि वह लड़ाई लड़ता तब तो रेज़िडेंट के लिए उसकी सेना को हराकर जबर्दस्ती उसके राज्य पर कब्जा कर लेना आसान था। लेकिन नवाब ने अपने को रेजिडेंट की दया के भरोसे छोड़ दिया। उसने पूरी अधीनता स्वीकार कर ली।

---

६. के, ए हिस्ट्री आफ़ सिपाय वार, जिल्द १, पृ० १४१, ली-वार्नर, उद्धृत ग्रंथ, जिल्द २, पृ० ३१६

इसके परिणामस्वरूप उसने रेज़िडेंट को अपनी पगड़ी देकर उससे यह प्रार्थना की कि वह गवर्नर-जनरल से उसके पक्ष में सिफारिश करे; उसने रेज़िडेंट को याद दिलाया कि उसके पूर्वज कम्पनी सरकार के प्रति हमेशा वफादार रहे हैं। यह कहकर उसने संधि पर हस्ताक्षर करने से इन्कार कर दिया। अगर नवाब और उसके सलाहकारों ने यह समझा था कि भारत सरकार अब भी उनके साथ वही ढीली-ढाली नीति बरतेगी, जैसी वह अब तक अवध के नवाबों के प्रति बरत रही थी, तो उनका निराश होना भी स्वाभाविक ही था। वाजिद अली शाह ने अंतिम चेतावनी नामंजूर कर दी। उसका नतीजा यह हुआ कि अवध ब्रिटिश भारत का एक सूबा बन गया।

नये सूबे की सरकार का चीफ़ कमिश्नर सर जेम्स ऊटरम को बनाया गया। साथ-साथ आवश्यक फौज के साथ सूबे के डिवीज़नों का प्रशासन संभालने के लिए तीन असैनिक अधिकारी भेजे गये। ब्रिटिश सरकार को आशा थी कि अवध के लोग बहुत लम्बे समय से अत्याचार सहते आये थे और वे अंग्रेज़ों को अपना मित्र समझेंगे। लेकिन यह नहीं सोचा गया कि अंग्रेज़ों को अपना मित्र मानने से पहले वे उनकी सदाशयता और उदारता के ठोस सबूत की भी अपेक्षा करेंगे। इस पर किसी ने ध्यान नहीं दिया कि जिस उत्पीड़न और भ्रष्ट शासन की चर्चा ब्रिटिश रेज़िडेंटों ने की थी, उसके बावजूद अवध के बहुत ही कम किसान आस-पास के उन जिलों में बसने गये जिन पर अंग्रेज़ी हुकूमत थी। वस्तुतः किसी देश की प्रशासन-प्रणाली में सुधार करने के लिए वर्षों तक धैर्यपूर्वक परिश्रम करना पड़ता है। पलक मारते ही स्वर्ण-युग का उदय नहीं होता।

कोई भी देश क्यों न हो, विदेशी शासन से उसकी सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था को गहरा धक्का लगता है। अवध पर ब्रिटिश हुकूमत कायम हो जाने के बाद वहां के अमीर-उमरा अब सरकार में ऊंचे पदों को पाने की आशा नहीं कर सकते थे। ये पद अंग्रेज़ों के लिए सुरक्षित हो गये। नवाब की सेना के ६० हजार सैनिकों की तत्काल छंटनी कर दी गई। उनमें से बहुत कम सैनिकों को ही सशस्त्र पुलिस में जगह मिल सकी। इस राजनीतिक परिवर्तन से अवध के बहुत सारे वर्गों में चिन्ता और अशांति की लहर दौड़ गई। पहले राज्य से बहुत-से कारीगरों और शिल्पियों की परवरिश होती थी। नये शासकों की रुचि और संस्कृति भिन्न थी। इसलिए इन कारीगरों और शिल्पियों की जीविका का अब कोई सहारा नहीं रह गया। यदि सर जेम्स ऊटरम चीफ़ कमिश्नर बना रहता या उसकी जगह सर हेनरी लारेंस जैसा कोई कुशल राजनीतिज्ञ होता, तो जिन लोगों को नई व्यवस्था से हानि पहुंची थी, उनके हित के लिए समय पर कोई उपाय करता। लेकिन चीफ़ कमिश्नर बनने के कुछ ही समय बाद ऊटरम छुट्टी पर चला गया और उसकी जगह पर कोवरले जैकसन की नियुक्ति हुई। नये चीफ़ कमिश्नर को असैनिक सेवा का लम्बा अनुभव था और वह कम्पनी के मातहत किसी पुराने सूबे के लिए उपयुक्त व्यक्ति सिद्ध हो सकता था। लेकिन उसमें अवध जैसे नये सूबे के लिए अपेक्षित सहानुभूति और सूझ-बूझ का अभाव था। जिस छत्तर मंजिल में पहले सिर्फ शाही परिवार के सदस्य रहा करते थे उसमें वह स्वयं रहने लगा। बाद में उसकी इस विवेकहीनता के लिए निन्दा की गई और उसे छत्तर मंजिल से हटना पड़ा। लेकिन तब तक जनता का

क्रोध उभड़ चुका था। कदम रसूल के भवन का मुसलमानों के लिए विशेष धार्मिक महत्व था। इसमें एक ऐसा पत्थर रखा था जिस पर पैगम्बर के पांव के निशान थे। नई सरकार ने इस भवन को हथियार रखने का भांडार बना दिया। नवाब से वृत्ति पाने वालों में बहुत-से लोग शाही परिवार के थे। उन्हें तथा अन्य व्यक्तियों को एक वर्ष से भी अधिक समय तक वृत्ति नहीं मिली। जब सर हेनरी लारेंस लखनऊ आया, तब कहीं उसने इन लोगों का कष्ट दूर करने का प्रबन्ध किया। अमूल्य समय बीतता गया, लेकिन अवध के लोगों के हृदय में स्वाभाविक रूप से जो भय घर चुका था, उसे दूर करने के लिए कुछ नहीं किया गया। उल्टे, राजस्व-विभाग के अधिकारियों के सुधारों से चारों ओर असन्तोष फैल गया।

लोगों ने निश्चित तौर पर यह धारणा बना ली थी कि नई व्यवस्था में किसानों के हितों की रक्षा करने के लिए राजस्व के सम्बन्ध में नई व्यवस्था की जाएगी। नवाबों के जमाने में किसानों के साथ अच्छा बरताव नहीं किया जाता था। किसान जमींदारों और राजस्व अधिकारियों की मर्जी पर छोड़ दिए गए थे और उन्हें कई प्रकार के अनुचित कर और लगान देने पड़ते थे। यद्यपि नई व्यवस्था में कितने ही कर उठा दिए गए लेकिन उनकी जगह उनसे भी अधिक अनुचित कर लगा दिए गए। इससे साधारण जनता को कोई भी लाभ नहीं हुआ। रीज़ के कथनानुसार, "हम लोग अपनी आमदनी बढ़ाने के लिए इतने आतुर थे कि लोगों को सुखी बनाने की थोड़ी भी परवाह नहीं की गई। टिकटों, अर्जियों, भोजन, मकान, खाद्य पदार्थों और नौकाओं पर कर लगा दिए गए। अफीम, अनाज और अन्य सामान तथा नमक और स्पिरिट सप्लाई करने के लिए ठेकेदार नियुक्त कर दिए गए। वस्तुतः अवध में बाहर से आने वाले सभी प्रकार के सामान के लिए ठेके दे दिए गए।" "विशेषतः अफीम पर लगाए गए कर से पूरे अवध में बहुत असन्तोष फैला। लखनऊ शहर में यह असन्तोष और अधिक था। लखनऊ में चीन की तरह लोग बहुत अफीम खाते थे। और एकाएक इस पर कर लग जाने से गरीब लोगों पर बहुत बुरा असर पड़ा। बहुत-से लोग जो मूल्य में वृद्धि हो जाने से अफीम नहीं खरीद सकते थे उन्होंने निराश होकर सचमुच अपना गला काट लिया।"[७] जनरल मैक्लौड इनस ने लार्ड डलहौज़ी के घोषणा-पत्र में दिए गए आश्वासनों को पूरा न कर सकने और इस सम्बन्ध में विश्वासघात करने के लिए अवध की सरकार की प्रत्यक्ष रूप से आलोचना की।[८]

नई सरकार पुलिस और न्याय-विभाग में भी अविलम्ब सुधार नहीं कर सकी।

---

७. रीज़, ए पर्सनल नरेटिव आफ़ दी सीज आफ़ लखनऊ, पृ० ३४-३५

८. इनस, लखनऊ एंड अवध इन दि म्यूटिनी, पृ० ८। घोषणा-पत्र का अन्तिम भाग इस प्रकार है: "अवध के जो आमिल अथवा सरकारी अधिकारी, जागीरदार, जमींदार या वहां के जो अन्य निवासी ब्रिटिश सत्ता को अविलम्ब और शान्तिपूर्वक मान लेंगे, उन्हें संरक्षण दिया जाएगा, उनके प्रति उदारता बरती जाएगी और उन्हें प्रसन्न रखा जाएगा।

जिलों का उचित और निश्चित आधार पर राजस्व नियत किया जाएगा। अवध के

नई सरकार ने पुराने अधिकारियों को शीघ्र नहीं हटाया और उनके पुराने तौर-तरीके भी, नहीं बदले। पुराने शासन के जमाने की तरह घूसखोरी और भ्रष्टाचार चलता रहा, लेकिन इनके लिए अब नई सरकार को दोष दिया जाने लगा। राजस्व सम्बन्धी नए बन्दोबस्त से भी लोगों को सन्तोष नहीं हुआ। बन्दोबस्त अधिकारियों ने यह मानकर काम करना शुरू किया कि जमीन का असल मालिक किसान है और सारे ताल्लुकेदार और जमींदार जालसाजी से उनके अधिकारों का हनन करते हैं। वे यह नहीं समझ सके कि बहुत-से ताल्लुकेदार सामन्तशाही व्यवस्था में न केवल किसानों के मालिक बल्कि उनकी जातियों के सरगना भी थे। किसानों और मालिकों के बीच ऐसी जातिगत एकता थी और किसानों में ताल्लुकेदारों के प्रति अधीनता का भाव इतना प्रबल था कि उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। बहुत-से ताल्लुकेदार और जागीरदार अपनी जागीरें तलवार के बल पर तो चलाते ही थे, उनको अपनी जाति का समर्थन भी प्राप्त था। उनके पास अपनी जागीरों के लिए कागजी सबूत नहीं थे। इसलिए उनको बहुत-से ऐसे गांवों से हाथ धोना पड़ा जिन पर बहुत समय से उनके खानदान का कब्जा था। वे लोग डकैतियां भी करते थे। इसलिए उनके मिट्टी के किले तोड़ दिए गए और उनके व्यक्तिगत सशस्त्र सिपाही भी हटा दिए गए। इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि कोई भी सरकार सामन्ती मान्यताओं के आधार पर काम नहीं कर सकती। कानूनी अमन-चैन की दृष्टि से ताल्लुकेदारों, जागीरदारों और उनके सशस्त्र सेवकों को निर्दयतापूर्वक कुचल देना भी आवश्यक था। ऐसा करने पर वे नई सरकार से असन्तुष्ट लोगों के दल में शामिल हो गए। कुछ ताल्लुकेदारों और जगीरदारों की शिकायतें उचित भी थीं, क्योंकि उनका खयाल था कि उनकी खानदानी जायदाद अन्यायपूर्ण ढंग से उनसे छीन ली गई है। किसानों ने नई सरकार को पसन्द नहीं किया और अपने मालिकों के प्रति सहानुभूति प्रकट की। गब्बिन्स ने स्वीकार किया है कि "कुछ ताल्लुकेदारों के साथ अनुचित बरताव हुआ लेकिन वैसे ताल्लुकेदार सिर्फ फैजाबाद डिवीजन में थे।"[९] पहले ही कहा जा चुका है कि सीतापुर का कमिश्नर, क्रिश्चियन इस पक्ष में नहीं था कि जागीरदारों और ताल्लुकेदारों को हटा कर किसानों को जमीन का मालिक बनाया जाए। उसकी राय की कद्र नहीं की गई थी लेकिन अब भी उसका महत्व था। उसने विश्वासपूर्वक अपना मत प्रकट किया था कि "साधारणतः लोग देशी राज की अपेक्षा बुरी से बुरी ब्रिटिश सरकार को पसन्द करते हैं।" विद्रोह ने सिद्ध कर दिया कि देशी राज उतना अप्रिय नहीं था।

अवध पर फरवरी १८५६ में कब्जा किया गया था, लेकिन सर हेनरी लारेंस, जिसने असन्तुष्ट लोगों की उचित शिकायतों पर अविलम्ब ध्यान दिया, १८५७ में चीफ़ कमिश्नर

क्षेत्रों में धीरे-धीरे सुधार करना जारी रखा जाएगा।

निष्पक्ष रूप से न्याय किया जाएगा।

जान और माल की रक्षा की जाएगी, और प्रत्येक व्यक्ति बिना किसी दबाव के अपने उचित अधिकारों का उपभोग कर सकेगा।" पृ० ३१६

९. गब्बिन्स, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ७५

बना। सर हेनरी के बारे में लार्ड डलहौज़ी की राय अच्छी नहीं थी। लेकिन यह सबको मालूम था कि ताल्लुकेदारों और जागीरदारों के प्रति, जिनका अंग्रेज़ों की विजय से सब कुछ खोया जा चुका था, उसके हृदय में सहानुभूति थी। आते ही सर हेनरी उनके दुःख दूर करने में लग गया। वृत्ति पाने वालों को उनकी बाकी वृत्तियां दी गईं, ताल्लुकेदारों को उनके पद के अनुरूप सम्मान मिलने लगा। अब पेन्शन और ग्रेचुइटी की अदायगी रोकी नहीं जाती थी। लेकिन सर हेनरी के आते-आते समय हाथ से निकल चुका था। चर्बी का उपयोग करने के प्रश्न पर सिपाहियों में उत्तेजना फैल चुकी थी और थोड़ी-सी गलती से भी आग भड़क उठने की सम्भावना थी। लेकिन कुछ ऐसे भी लापरवाह थे जो समय के साथ चलना नहीं चाहते थे। अप्रैल के आरम्भ में कालपी पैदल सेना की ४८वीं रेजीमेंट के एक शल्य-चिकित्सक डा० वेलस ने ऐसा अविवेकपूर्ण काम कर दिया जो भारतीय रीति-रिवाज की दृष्टि से बहुत अनुचित था। वह एक दवाखाने में गया हुआ था जहां उसकी तबीयत खराब हो गई। उसने "अस्पताल से एक वातनाशक दवा की बोतल लेकर मुंह से लगा ली। अब कोई भी हिन्दू इस जूठी दवा का इस्तेमाल नहीं कर सकता था।"[१०] परिणाम यह हुआ कि अस्पताल के रोगियों ने वहां से कोई भी दवा लेना नामंजूर कर दिया। इसके लिए डा० वेलस पर डांट पड़ी और वह दवा की बोतल देशी अधिकारियों के सामने फोड़ दी गई। लेकिन सिपाही इस घटना को भूल जाने के लिए तैयार नहीं थे। ऐसा करके उनके जातिगत नियमों में हस्तक्षेप करने की कोशिश की गई थी और उनका यह सन्देह सुगमता से हटाया नहीं जा सकता था। डाक्टर का बंगला जला दिया गया और वह बड़ी मुश्किल से अपनी जान बचा सका। १८ अप्रैल को जब चीफ़ कमिश्नर अपनी कार में कहीं जा रहा था किसी ने उस पर कीचड़ फेंक दिया। हो सकता है कीचड़ फेंकने वाला सिपाही न रहा हो। लेकिन प्रशासन के प्रधान अधिकारी का इस प्रकार अपमान करना इस बात का सबूत था कि लोगों में गहरा असन्तोष फैल चुका था।[११] "इसके बाद यह निश्चय हुआ कि देशी सेना की ४८वीं रेजीमेंट लखनऊ से हटा दी जाय। लेकिन चीफ कमिश्नर का पूर्ण विश्वास था कि "यह असन्तोष" कारतूसों के कारण या किसी दूसरी खास वजह से नहीं बल्कि "हाल में सरकार द्वारा किए गए ऐसे कई कामों के कारण है जिनसे असन्तोष फैलाने वालों ने कुशलतापूर्वक लाभ उठाया है।" चीफ़ कमिश्नर ने यह भी कहा कि रेजीमेंट के एक पुराने अधिकारी का यह मत था कि "अगर सिपाहियों की शिकायतें शीघ्र दूर न की गईं तो वे स्वयं उन्हें दूर कर लेंगे।"[१२] २ मई को ७वीं अवध रेजीमेंट के सिपाहियों ने "अपने अधिकारियों और बाद में ब्रिगेडियर के आदेश के बावजूद दांत से कारतूस काटने से इन्कार कर दिया।" किसी ने यह नहीं बताया कि जब दांत से कारतूस काटने की पद्धति अधिकाधिक तौर पर छोड़ दी गई थी, तब सिपाहियों को ऐसा करने के लिए क्यों कहा गया। शायद किसी अत्यन्त उत्साही

१०. गब्बिन्स, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ३-४

११. फ़ारेस्ट, ए हिस्ट्री आफ़ दि इण्डियन म्यूटिनी, जिल्द १, पृ० १७५

१२. वही, जिल्द १, पृ० १७७

अधिकारी ने जान-बूझ कर गलती की और अनुशासन के नाम पर ब्रिगेडियर ने भी उसका समर्थन किया। अनुशासन भंग करने वाले अवध के इन सिपाहियों के विरुद्ध कार्रवाई की गई और इसमें देशी रेजीमेंटों ने यूरोपियन फौज का साथ दिया तथा कथित विद्रोहियों ने प्रतिरोध नहीं किया। वे "पूर्णतः शान्त रहे"। बहुत-से सिपाहियों ने जब सामने तनी बन्दूकें देखीं, तो वे भाग खड़े हुए। उनका पीछा किया गया और कुछ सिपाही पकड़ कर वापस लखनऊ लाए गए। हथियार छीन कर उन्हें अपनी-अपनी बैरकों में भेज दिया गया। बाद में यह रेजीमेंट भंग कर दी गई और कुछ समय के लिए संकट टल गया।

सर हेनरी के लिए सावधान रहना आवश्यक था। उसे सन्देह था कि भविष्य में कोई संकट उपस्थित हो सकता है। इसलिए वह ऐसा उपाय करने लगा जिससे कोई खतरा होने पर शहर तथा फौजी छावनी के गोरों की रक्षा की जा सके। लेकिन वह भय और सन्देह का प्रदर्शन करके आसन्न संकट को और नजदीक लाना भी नहीं चाहता था। उसने सोचा कि सम्भव हो तो सेना के विश्वासपात्र लोगों को अपने पक्ष में संगठित किया जाए, लेकिन ऐसा कोई काम न किया जाए जिससे गर्म दिमाग वालों की उत्तेजना और बढ़े। ७वीं अवध सेना के अनियमित सैनिकों ने ४८वीं देशी पैदल सेना को एक पत्र भेजा था। ४८वीं रेजीमेंट पर सन्देह किया जाने लगा था। लेकिन जिस सिपाही और दो देशी अधिकारियों के हाथ वह पत्र पड़ गया था, उन्होंने बड़ी ईमानदारी से उसे अपने वरिष्ठ अधिकारियों को दे दिया। १३वीं देशी पैदल सेना के एक सिपाही ने ऐसे तीन व्यक्तियों को कैप्टन जर्मन के हवाले किया जो उसके पास शहर से विद्रोह करने का प्रस्ताव लेकर आए थे। लारेंस ने इन सभी वफादार लोगों को एक आम दरबार में पुरस्कृत करने का निश्चय किया। यह दरबार १२ मई को लगा। इसमें लखनऊ के प्रमुख सैनिक तथा असैनिक अधिकारी, फौजी छावनी के कमीशनप्राप्त सभी देशी अधिकारी और दो गैर-कमीशनप्राप्त अधिकारी उपस्थित थे। इसमें प्रत्येक रेजीमेंट से छः-छः सिपाही तैनात किए गए। जिन सिपाहियों और अधिकारियों ने अपनी सच्ची वफ़ादारी दिखाई थी, उन्हें सम्मान में पोशाकें और थैलियां देने से पूर्व सर हेनरी ने उपस्थित समुदाय के सामने भाषण दिया। उसने बताया कि ब्रिटिश सरकार भारतीय सैनिकों पर किस प्रकार अपनी कृपा-दृष्टि रखती आई है और किस प्रकार प्रजा से बिना भेद-भाव के अच्छा बरताव करती रही है। इसके विपरीत उसने औरंगज़ेब और रणजीत सिंह का उल्लेख किया जो क्रमशः हिन्दुओं और मुसलमानों से कड़ी तरह से पेश आए थे।[13] सर हेनरी ने कहा कि सौ वर्षों के इतिहास से सैनिकों को यह समझ लेना चाहिए

१३. केव-ब्राउन, उद्धृत ग्रन्थ, जिल्द १, पृ० ३१-३७। इस पुस्तक में सर हेनरी लारेंस का पूरा भाषण 'सेन्ट्रल स्टार' के १३ मई के अंक से उद्धृत किया गया है। जिन सैनिकों को पुरस्कार मिला, उनके नाम हैं सूबेदार सेवक तिवारी, हवलदार हीरालाल दुबे, सिपाही रामनाथ दुबे और सिपाही हुसैन बख्श।

सर हेनरी ने कहा, "पहले आलमगीर और बाद में हैदर अली ने हजारों हिन्दुओं को

कि आज जो उन्हें यह कह कर वरगलाना चाहते हैं कि सरकार सैनिकों की जाति नष्ट करना चाहती है, उनकी बात कितनी झूठी है।"[१४] उसने बंगाल सेना की शानदार परम्परा का उल्लेख किया और सैनिकों से उस परम्परा पर दाग न लगाने की अपील की। इस प्रकार उसने सैनिकों की वफादारी और प्रतिष्ठा तथा कृतज्ञता और सौहार्द्र की भावनाओं को उभारा, जिनके बल पर अब तक हिन्दू और मुसलमान सिपाहियों और उनके ईसाई मालिकों के बीच अच्छा सम्बन्ध कायम रहा था। साथ ही, उसने इंग्लैंड की शक्तिशालिता और उसके साधनों का भी उल्लेख किया।

ऐसा नहीं कि सर हेनरी के भाषण का सिपाहियों पर प्रभाव नहीं पड़ा। प्रभाव पड़ा, लेकिन सब पर समान रूप से नहीं। कुछ सैनिकों ने इसकी सराहना की और कुछ ने कहा कि भाषण में भय का आभास मिलता है। यह विचित्र बात है कि सर हेनरी को अपनी दलीलों की निस्सारता का ज्ञान नहीं हुआ। सिपाहियों में व्याप्त निराशा की भावना का पता उससे अधिक और किसी को नहीं था। कुछ ही दिन पहले स्वयं उसी ने गवर्नर-जनरल को लिखा था, "सिपाही समझते हैं कि उनके बिना हमारा काम नहीं चल सकता। फिर भी पचास, साठ या सत्तर वर्ष की उम्र के बाद किसी सिपाही को जो अधिक से अधिक सालाना पेन्शन मिलती है, वह लगभग सौ पौंड से अधिक नहीं होती। उनके बाद उनके बेटों को भी अच्छी नौकरी मिलने का कोई रास्ता नहीं रहता। सचमुच किसी विदेशी सिपाही को लम्बी सेवा और विशेष प्रकार की वफादारी के लिए यह पर्याप्त प्रोत्साहन नहीं है।" उसका मत था कि हमारा यह आशा करना गलत है कि "इतनी बड़ी फौज के उत्साही और महत्वाकांक्षी सैनिक पुरस्कार की हमारी इस अन्तिम सीमा को पर्याप्त समझेंगे। हमारा यह सोचना भी गलत है कि वे हमारे सर्वाधिकार, वेतन तथा अन्य सभी सुविधाओं के अनुचित दावे (हमारे अयोग्य होने पर भी) पसन्द करेंगे।"[१५] निस्सन्देह जब सर हेनरी ने भारत के हिन्दू और मुसलमान शासकों की धार्मिक असहनशीलता की चर्चा की, तब भी दरबार में भाग लेने वाले कुछ सैनिकों के मन में उपरोक्त बातें उठी थीं। कुछ भारतीय शासकों ने अपना धर्म मानने वालों को छोड़ कर दूसरों की धार्मिक स्वतन्त्रता को अवश्य सहन नहीं किया, लेकिन साथ ही उन्होंने उनकी योग्यता का सम्मान भी किया। मुसलमान शासकों की सेना में हिन्दुओं की उच्च पदों पर

मुसलमान बनाया, उनके मन्दिरों को तोड़ा और अपवित्र किया और उनके घरों की मूर्तियों का निर्दयतापूर्वक नाश किया। अब हमारे समय की बात लीजिए। यहां उपस्थित बहुत-से व्यक्ति यह अच्छी तरह जानते हैं कि रणजीत सिंह ने मुसलमानों को नमाज के लिए मुल्लाओं को कभी बुलाने नहीं दिया, लाहौर की मस्जिदों की मीनारों पर से मुअज़्ज़िन को कभी अज़ां नहीं देने दी। ये मीनारें आज भी अपने महान संस्थापकों की याद दिलाती हैं। पिछले से पिछले वर्ष तक कोई हिन्दू लखनऊ में मन्दिर बनाने की हिम्मत नहीं कर सकता था। ये सारी बातें अब बदल गई हैं।" पृ० ३३

१४. गब्बिन्स, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १४

१५. फ़ारेस्ट, ए हिस्ट्री आफ़ दि इण्डियन म्यूटिनी, जिल्द १, पृ० १७८

तरक्की हुई। लाहौर के सिख शासकों ने विदेशियों को भी ऊंचा पद दिया। लाहौर के दरबार में फकीर बन्धुओं पर जितना विश्वास किया गया और उनकी जितनी धाक थी, ईसाई सरकार के अधीन काम करने वाला कोई भारतीय उसकी कल्पना भी नहीं कर सकता था। अवध के अपदस्थ शासकों ने भी हिन्दुओं को ऊंचे पद दिए थे। इसलिए लारेंस के उपदेशों से किसी का भी सन्देह दूर नहीं हुआ। १२ मई को पुरस्कार पाने वाले कुछ राजभक्त बाद में विद्रोहियों में शामिल हो गए। लेकिन, ऐसा भी नहीं था कि लारेंस ने राजभक्तों को अपने पक्ष में संगठित करने का जो प्रयत्न किया, उसमें वह बिलकुल सफल नहीं हुआ हो। लखनऊ को विद्रोहियों से बचाने में भारतीय सैनिकों ने यूरोपियन सैनिकों की तरह ही महत्वपूर्ण योगदान किया। लारेंस अब भी भारतीय सैनिकों पर विश्वास करता रहा। घटनाओं ने यह सिद्ध भी कर दिया कि उसका विश्वास निराधार नहीं था।

मेरठ में जो कुछ हुआ उसकी खबर १४ मई को और दिल्ली की खबर उसके दूसरे दिन लखनऊ पहुंची। सर हेनरी ने गवंनर-जनरल से अवध के लिए पूर्ण अधिकार मांग लिए। उसे ब्रिगेडियर का ओहदा दे दिया गया, जिससे वह असैनिक प्रशासन के साथ-साथ सेना का भी प्रधान बन गया। उस समय सेना जहां-तहां छितराई हुई थी। पैदल सेना की तीन रेजीमेंटें लखनऊ से कुछ मील की दूरी पर मुरिआंव छावनी में और घुड़सवार सेना मुदकीपुर में थी। लेकिन सर हेनरी समझता था कि थोड़ी-सी यूरोपियन फौज और कुछ राजभक्त सिपाहियों की सहायता से वह इन सभी स्थानों की रक्षा नहीं कर सकता। वह अभी तक लखनऊ छावनी में ही रहा करता था। उसने शहर के दो केन्द्रों पर रक्षा की तैयारी करने का निश्चय किया—एक तो विशाल और सुरक्षित महल मच्छी भवन में और दूसरे रेजिडेंसी में। इन दोनों जगहों में रक्षा की व्यवस्था मजबूत की गई और साज-सामान का प्रबन्ध किया गया। स्त्रियों और बच्चों को फौजी छावनी से दूर हटा देने का आदेश दिया गया। सर हेनरी ने रेजिडेंसी को अन्तिम मोर्चा बनाया था। बाद में लार्ड क्लाइड तथा सर हेनरी हैवलाक ने इस निश्चय की आलोचना की। हैवलाक का मत था कि सर हेनरी को लखनऊ को भाग्य के भरोसे छोड़ कर सेना के साथ कानपुर चला जाना चाहिए था। लेकिन बहुत बड़ी संख्या में स्त्रियों और बच्चों को साथ लेकर लखनऊ छोड़ना मुश्किल होता। लार्ड क्लाइड की सेना बहुत मजबूत थी। लेकिन उसको भी स्त्रियों और बच्चों के साथ रात के अंधेरे में लखनऊ से भागने की व्यवस्था करनी पड़ी। राजनीतिक दृष्टि से अवध की राजधानी को छोड़कर भाग जाना बड़ी भारी गलती होती। इससे यूरोपियन सेना से लोगों का विश्वास उठ जाता और विद्रोहियों का सम्मान बहुत बढ़ जाता। ऐसी स्थिति में भी सर हेनरी ने भारतीयों से सहायता पाने की आशा नहीं छोड़ी थी और फौज में नई भर्ती करने की सोच रहा था। वह कभी नहीं चाहता था कि विद्रोहियों को यह पता लगे कि उसके आत्म-विश्वास में कोई कमी हो रही है।

रेजिडेंसी की एक चौकी जनरल मैक्लौड इनस के अधीन थी। उसका विचार था कि जिस स्थान पर यह चौकी थी, वह चौकी लगाने के उद्देश्य को पूरा करने के लिए बहुत उपयुक्त था। "उसमें एक ही कमी थी। वह यह कि रेजिडेसी के चारों ओर जो खाई थी उसके मिट्टी वाले भाग में सुधार की गुंजायश थी। नहीं तो चौकी के लिए रेजिडेंसी

और सभी दृष्टियों से उपयुक्त थी। उसमें काफी जगह थी, और हवा और पानी का अच्छा प्रबन्ध था। रहने के लिए मकान भी काफी थे। रेज़िडेंसी के सामने नदी थी और पास ही बहुत बड़ा मैदान था। इसके सामने कहीं भी ऐसी जगह नहीं थी जहां से गोले चलाये जा सकें। आसपास के मकानों के ऊपरी भाग को तोड़ा जा सकता था, जिससे वहां से रेज़िडेंसी पर कोई हमला न किया जा सके। इसकी बनावट कुछ इस तरह की थी कि यहां से बहुत सफलतापूर्वक अपनी रक्षा की जा सकती थी और गोले चलाए जा सकते थे। यह चौकी उन बीस चौकियों में से एक थी जिनमें पहले से सम्पर्क रखा जा रहा था। सबसे बड़ी बात यह थी कि बाहरी सहायता की आवश्यकता होने पर वहां गोमती के उत्तर के अपेक्षाकृत खुले इलाके से आसानी से फौज पहुंच सकती थी।"[१६] जनरल इनस ने लिखा है कि रेज़िडेंसी के अलावा किसी दूसरी जगह चौकी लगाने का कभी कोई सुझाव नहीं रखा गया था।

सर हेनरी सिर्फ आत्म-रक्षा की ही तैयारी नहीं कर रहा था। वह जानता था कि भय से भय और विश्वास से विश्वास पैदा होता है। वह आपत्कालीन परिस्थिति के लिए तैयारी न करने की गलती तो नहीं कर सकता था। लेकिन वह यह भी नहीं चाहता था कि ढुल-मुल चित्त वालों को यह मालूम हो कि सर हेनरी थोड़ा-सा भी परेशान है। अपनी शक्ति का परिचय देने पर आसन्न संकट यदि समाप्त नहीं हो सकता था तो टल अवश्य सकता था। कानपुर से सैन्य सहायता की मांग आ चुकी थी। वहां कैप्टन फ्लैचर हेज़ को अवध की थोड़ी फौज के साथ भेजा गया। वह कानपुर तक तो सकुशल पहुंच गया। लेकिन उसने यह सोचा कि और आगे बढ़ने पर सड़क को दुश्मन के हाथ पड़ने से रोका जा सकता है। मैनपुरी के पास उसके सिपाहियों ने बगावत कर दी और वह मारा गया। उसका एक साथी कानपुर लौटा। उसे भी विद्रोहियों ने बन्दी बना लिया। मुसलमानों की आबादी वाले शहर मलीहाबाद में कुछ गड़बड़ होने की आशंका थी। इसलिए कैप्टन वेस्टन के अधीन एक सैनिक दस्ता वहां भेजा गया। कैप्टन गाल के अधीन एक दस्ता कानपुर की ओर बढ़ा।

इधर मुरिआंव में जब-तब विद्रोह होने की अफवाह उड़ा करती थी, इसलिए वहां की यूरोपियन फौज हमेशा सावधान रहा करती थी। अन्त में ३० मई की रात के नौ बजे वहां के सिपाहियों ने यूरोपियन फौज पर सशस्त्र हमला कर दिया। इसमें कुछ लोगों की जान तो गई, लेकिन घमासान लड़ाई नहीं हुई। १३वीं और ७१वीं देशी पैदल सेना के राजभक्त सिपाहियों ने ३२वीं यूरोपियन रेजीमेंट का अविलम्ब साथ दिया। १३वीं देशी पैदल सेना का एक दस्ता छावनी में सर हेनरी के मकान पर पहरा दिया करता था। शहर को जाने वाली सड़क बन्द कर दी गई थी। इसलिए विद्रोही शहर की ओर नहीं बढ़ सकते थे। दूसरे दिन सुबह सिपाहियों पर उनकी बैरक के सामने हमला किया गया। लेकिन उन्होंने प्रतिरोध नहीं किया और वे तितर-बितर हो गए। अब सन्देह दूर हो चुका था। दोस्त और दुश्मन की पहचान हो गई। शहर का बलवा पुलिस की

---

१६. इनस, लखनऊ एण्ड अवध इन दि म्यूटिनी, पृ० ७७

सहायता से आसानी से दबा दिया गया जो स्थानीय कुछ रेजीमेंटों के साथ अब तक शान्त रहती आई थी।

बन्दियों का कोर्टमार्शल किया गया और उनमें से बहुतों को फांसी दे दी गई। मच्छी भवन के सामने फांसी का तख्ता लगाया गया। भविष्य में विद्रोह करने वालों में भय उत्पन्न करने के लिए वहां अठारह पौंड वाली एक तोप भी लगाई गई। यह ऐसा संकट था जिसमें कड़ी कार्रवाई करने की जरूरत थी। बगावत करने वाले जो सिपाही पकड़े गए थे उन्हें कड़े से कड़ा दण्ड भुगतना पड़ा। अन्य विद्रोही दिल्ली की ओर बढ़ गए।

अब प्रश्न यह था कि विद्रोही रेजीमेंटों के जिन सैनिकों ने राजभक्ति दिखाई थी, उनके साथ कैसा सलूक किया जाए। कुछ सिपाहियों ने ३० मई की लड़ाई में खुले आम भाग लिया था और हमेशा के लिए विद्रोही बन चुके थे। कुछ ऐसे थे जिन्होंने अपनी तैनाती की जगह पर डटे रह कर कर्तव्य-परायणता का परिचय दिया था। सूचनाओं के बल पर यह अनुमान लगाया जा रहा था कि कुछ दस्ते विद्रोहियों से सहानुभूति रखते हैं। देशी फौज की संख्या यूरोपियन फौज से कहीं अधिक थी। परिणामस्वरूप गोरी आबादी चिन्तित हो उठी थी। इसलिए गब्बिन्स ने यह विचार प्रकट किया कि देशी फौज के इन दस्तों से शक्ति नहीं, बल्कि कमजोरी बढ़ती है। उसने इस बात पर बल दिया है कि सर हेनरी उसके विचार से सहमत होने को तैयार था, लेकिन कुछ लोगों ने सर हेनरी को फिलहाल कोई कार्रवाई न करने की सलाह दी। सर हेनरी कायर नहीं था। उसने पेन्शन-याफ्ता पुराने सैनिकों को बुला रखा था। इन सैनिकों ने आग से खेलकर अपनी ईमानदारी का परिचय दिया था। इसीलिए इस संकट के समय सर हेनरी उनको अपने से अलग नहीं रखना चाहता था। गब्बिन्स की दलील थी कि "यह एक प्रकार से निश्चित है कि जो किर्च और बन्दूकबन्द १,२०० सिपाही नाम मात्र के लिए हमारे पक्ष में हैं, हमारे विरुद्ध हो जाएंगे। उनका नेतृत्व करने वाले जब यह देखेंगे कि हम दूसरी जगह शत्रु के साथ बुरी तरह उलझ गए हैं, तब मौके का फायदा उठाकर वे भी विद्रोह कर देंगे। अगर उनके हथियार छीन लिए जाएं तो यह खतरा नहीं रहता। उनमें से जो राजभक्त हैं, वे बाद में भी रह जाएंगे। बाद में उचित समझे जाने पर उनके हथियार फिर लौटाये जा सकते हैं।"[१७] यह नहीं कहा जा सकता कि गब्बिन्स की यह आशंका निराधार थी। चिनहाट के सिपाहियों ने विद्रोह कर दिया। लेकिन, तब भी ५०० भारतीय अपने देशी भाइयों के खिलाफ रेजिडेंसी की रक्षा करते रहे। इसमें सन्देह है कि गब्बिन्स के अनुसार हथियार छीन लिये जाने के अपमान के बाद भी उनकी वफादारी बनी रहती। अगर वे विद्रोहियों से न भी मिलते और फौज से अलग हो जाते तो इसका परिणाम बुरा होता। यूरोपियन फौज में स्वयंसेवकों की नियुक्ति करके उसे मजबूत बनाया गया था। इतना होने पर भी वह इतनी कम थी कि उससे सभी पदों की पूर्ति नहीं की जा सकती थी। अगर गब्बिन्स की चलती तो लखनऊ की भी वही दशा होती जो कानपुर की हुई थी।

१७. गब्बिन्स, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १३२

चारों ओर से घिरी हुई रेज़िडेंसी में सर हेनरी की मृत्यु के बाद भारतीय सैनिकों को सन्देह की दृष्टि से देखा जाने लगा और उन पर अविश्वास किया जाने लगा। लेकिन कर्नल इंगलिस ने, जिसे रक्षा की जिम्मेवारी सौंपी गई थी, सोचा कि अगर लखनऊ को बचाना है तो उन लोगों को अलग नहीं किया जा सकता। सर हेनरी को जब मालूम हुआ कि गब्बिन्स लखनऊ की रक्षा करने वाली देशी सेना को अलग करने की नीति बरत रहा है तो उसने डाक्टरी सलाह के खिलाफ बीमारी की हालत में ही अपना कार्यभार संभाल लिया।

विद्रोह लखनऊ तक ही सीमित नहीं रहा। शीघ्र ही यह लखनऊ से बाहर अन्य स्थानों में भी फैल गया। इसका मुकाबला करने के लिए कोई सुनिश्चित योजना नहीं थी और कोई संगठनात्मक प्रयत्न नहीं हुआ। सभी रेजीमेंटों ने अपनी मर्जी से काम किया। भारतीय सैनिकों के मन में अंग्रेज़ों के प्रति सन्देह पहले से ही था। कुछ जगहों पर अफसरों की अनुचित नीति से यह सन्देह भय के रूप में परिणत हो गया। फल यह हुआ कि विद्रोहियों से सहानुभूति रखने वाली रेजीमेंटों ने सक्रिय रूप से विद्रोह कर दिया।

प्रशासन के लिए अवध सूबे को ४ डिवीज़नों और १२ जिलों में बांटा गया था। खैराबाद डिवीज़न के मुख्यालय सीतापुर में ३ जून को उपद्रव हुआ। वहां का कमिश्नर जे० जी० क्रिश्चियन पक्के विश्वासों का आदमी था। इसलिए उसके ऊपर के अधिकारियों को उससे अपने आदेशों का पालन करवाना मुश्किल होता था। वित्तीय कमिश्नर, मार्टिन गब्बिन्स से उसका मेल नहीं खाता था और वह युगों से चली आ रही जागीरदारी प्रथा को समाप्त नहीं करना चाहता था। उसके डिवीज़न में अपेक्षाकृत उचित लगान लगाया गया था। लेकिन उसने शीघ्र ही देख लिया कि जिन जमींदारों से जमीन की आय का बन्दोबस्त किया गया था, वे पुराने भूमिहीन ताल्लुकेदारों से सांठ-गांठ कर रहे हैं। उस समय सीतापुर में ४१वीं देशी पैदल सेना तथा अवध अनियमित सेना की दो रेजीमेंटें थीं। क्रिश्चियन को ३० मई तक यह विश्वास रहा कि वह अनियमित सेना पर भरोसा कर सकता है और उसे अपने डिवीज़न के लिए चिन्ता करने की जरूरत नहीं है। लखनऊ के विद्रोहियों से लड़ने के लिए वस्तुतः ४१वीं देशी पैदल सेना रवाना हो चुकी थी। विद्रोही उस समय दिल्ली जा रहे थे। रेजीमेंट ने उन पर सामने से गोली चलाई और ऐसा कोई काम नहीं किया जिससे यह मालूम हो कि वह विद्रोहियों से मिल जाना चाहती है। रक्षा की दृष्टि से क्रिश्चियन ने सीतापुर की स्त्रियों और बच्चों को अपने बंगले में बुला लिया था। बचाव के लिए यह जगह अच्छी थी, लेकिन ऐसा कोई आसान रास्ता नहीं था जिससे विपत्ति आने पर भागा जा सके। सीतापुर के सभी गोरों को कमिश्नर के बंगले पर देख कर अनियमित सेना का सन्देह हुआ कि अंग्रेज़ देशी फौज पर अविश्वास कर रहे हैं। उसके एक देशी अफसर ने कमिश्नर के कार्यालय के सुपरिन्टेंडेंट से यह भी कहा कि कमिश्नर को अनियमित सेना पर भरोसा करना चाहिए। २ जून को सीतापुर में यह अफवाह फैली कि कोतवाल ने सेना के लिए अशुद्ध आटा भेजा है। सिपाही इस बात पर तुल गए कि वह आटा नदी में फेंक दिया जाए। लेकिन आटे को

नदी में डाल देने के बाद भी सिपाही शान्त नहीं हुए।[१८] दूसरे दिन सिपाहियों ने विद्रोह किया और ४१वीं देशी पैदल सेना के कर्नल बर्च को गोली से मार डाला। अवध अनियमित सेना ने ४१वीं देशी पैदल सेना का साथ दिया। क्रिश्चियन ने अपने परिवार तथा बंगले पर ठहरे हुए अन्य लोगों के साथ भागने की कोशिश की। लेकिन, कुछ लोगों को छोड़कर और सभी व्यक्ति गोली से उड़ा दिए गए। यह होते हुए भी सशस्त्र पुलिस ने न केवल अपने कमाण्डर कैप्टन हियरसे की बल्कि उसके अनुरोध करने पर पास के जंगल में छिपी दो महिलाओं की भी रक्षा की।[१९] बाद में उन्हें सीतापुर से दूर एक सुरक्षित स्थान पर भेज दिया गया।

फैजाबाद की कहानी कुछ और ही थी। फरवरी में वहां एक रहस्यमय व्यक्ति आया। बाद में मालूम हुआ कि वह फैजाबाद का मौलवी था। उसका शिष्य-समुदाय सारे भारत में फैला हुआ था। वह कुछ सशस्त्र लोगों के साथ जगह-जगह जाता रहा। उसने फिरंगियों के विरुद्ध धर्म के नाम पर जिहाद बोल दिया और कई जगहों पर विद्रोहात्मक भाषण दिए। जब उसके और उसके समर्थकों ने हथियार देने से इन्कार किया तो पुलिस ने बलपूर्वक उनसे हथियार छीन लिए। जेल पर खतरा था, इसलिए मौलवी को सेना के पहरे में रखा गया। विद्रोह के समय वह कैदी था।[२०]

बनारस में सेना से हथियार छीन लिए जाने के कारण इलाहाबाद में विद्रोह हुआ। फैजाबाद के विद्रोह का भी यही कारण था। उस समय यह कहा गया कि पहले बनारस की देशी फौज के हथियार छीन लिए गए और बाद में तोपखाने और गोरी पैदल सेना ने उनकी हत्या कर दी। फैजाबाद में सिपाहियों ने खजाने पर कब्जा कर लिया और यूरोपियन अफसरों से शान्तिपूर्वक वहां से चले जाने को कहा। फैजाबाद से जाने के लिए सिपाहियों ने गोरों को किश्तियां तथा रुपये दिए और यह भी कहा कि सम्भव हो तो वे अपना सामान भी ले जा सकते हैं। घुड़सवार सेना यह नहीं चाहती थी कि इन लोगों को शान्तिपूर्वक जाने दिया जाए। लेकिन पैदल सेना इस निश्चय पर डटी रही। इस पर भी आजमगढ़ की १७वीं देशी पैदल सेना ने बैरमघाट पर दो किश्तियों को रोक लिया और कमिश्नर, कर्नल गोल्डने एवं बहुत सारे यात्रियों को मार डाला। कुछ लोगों का मत है कि फैजाबाद की २२वीं देशी पैदल सेना ने १७वीं देशी सेना को इन गोरों के जाने की खबर दे दी थी। लेकिन, अगर २२वीं सेना चाहती तो स्वयं इन गोरों को उसी समय मार डालती जब इनकी किश्तियां अयोध्या में घण्टों लगी रही थीं।[२१]

---

१८. एनल्स आफ दि इण्डियन रिबेलियन, पृ० ४४४

१९. वही, पृष्ठ ४५०। ४१वीं देशी पैदल सेना के सैनिकों ने कहा कि हियरसे को मार डाला जाए। लेकिन उसके सिपाहियों ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया।

२०. हचिन्सन, नरेटिव आफ दि म्यूटिनीज़ इन अवध, पृ० २२-२३। हुकुम सिंह को उसने जो राहदारी दी थी, उस पर उसके नाम की मुहर थी जिससे पता चलता है कि मौलवी का नाम अहमदुल्ला था।

२१. फारेस्ट, ए हिस्ट्री आफ दि इण्डियन म्यूटिनी, जिल्द १, पृ० २०६-१०

स्थानीय ताल्लुकेदार आदि अब भी अंग्रेजों से मित्रता निभा रहे थे और राजा मानसिंह ने शाहगंज के किले में बहुत-सी स्त्रियों और बच्चों को शरण दी। गोरखपुर के भूतपूर्व नाजिम मीर मोहम्मद हसन ने कर्नल लेनोक्स और उसके परिवार को शरण दी। मानसिंह पुराना रईस नहीं था। वह जाति का राजपूत नहीं, बल्कि ब्राह्मण था। उसके पिता और चाचा नवाब के यहां राजस्व संग्रहकर्ता के पद पर रहे थे और इस पद से लाभ उठाकर उन्होंने बहुत-सी जमीन-जायदाद प्राप्त कर ली थी। अवध पर कब्जा होने के समय मानसिंह के नाम लगान बाकी था। उस पर यह सन्देह था कि वह वाजिद अली शाह के वज़ीर अली नकी ख़ां से मिला हुआ है। इसलिए उसे एहतियातन कैद कर लिया गया था। लेकिन विद्रोह की सम्भावना होने पर उसे छोड़ दिया गया। उसने अपने किले में स्त्रियों और बच्चों को रखना तो स्वीकार किया लेकिन पुरुषों को नहीं। उसे भय था कि पुरुषों को रखने पर विद्रोहियों को पता चल जाएगा। लेकिन उसे स्त्रियों और बच्चों को भी अधिक दिनों तक शाहगंज में रखने की हिम्मत नहीं हुई। इसलिए उसने इन लोगों को नदी से पूर्व की ओर दानापुर भेज दिया। रास्ते में बिरहर के बाबू माधोप्रसाद और गोपालपुर के राजा ने उन्हें शरण दी। मोहम्मद हसन भी अपने अतिथियों के कारण चिंतित था। उसने गोरखपुर के कलक्टर को खबर दी। वहां से घुड़सवारों का एक दल आया और कर्नल लेनोक्स और उसके साथ के लोगों को गोरखपुर ले गया। माधोप्रसाद और मोहम्मद हसन ने बाद में सिपाहियों का साथ दिया।[२२]

इस अवसर पर फैजाबाद डिवीज़न के दूसरे ताल्लुकेदारों ने राजपूतों के परम्परागत वीरतापूर्ण सौजन्य का परिचय दिया। देहरा के रुस्तम शाह ने सुल्तानपुर के शरणार्थियों को शरण दी थी। पहले इन बहादुर राजपूतों को अवध के नवाब से अपने अधिकारों की रक्षा करनी पड़ी थी। उस समय उनका मोर्चा गोमती के धरहरों में एक घने जंगल में था। वहां से इन्होंने नवाब की फौज के छक्के छुड़ा दिए थे। अवध पर कब्जा हो जाने के बाद राजस्व अधिकारियों ने उसको बहुत तंग किया था जिस कारण उसको अपने बहुत-से पुश्तैनी गांवों से अनुचित रूप से हाथ धोना पड़ा। रुस्तम शाह यह सब भूला नहीं था लेकिन उसकी खानदानी परम्परा का यह तकाजा था कि यदि शत्रु भी शरण में आ जाए तो उसकी रक्षा की जाए।[२३] धारूपुर के लाल हनुमन्त सिंह को भी अवध के नए शासकों ने तंग किया था। लेकिन जब सलोन के डिप्टी-कमिश्नर बैरो ने उससे मदद मांगी तो उसने स्वीकार कर लिया। यहां भी विद्रोहियों ने किसी को जान से नहीं मारा। उन्होंने सिर्फ ब्रिटिश अधिकारियों के आदेश मानने से इन्कार कर दिया और उनसे चले जाने को कहा।

---

२२. फैजाबाद के डिप्टी कमिश्नर कैप्टन रीड का कहना है कि कई अन्य हिन्दू और मुसलमान ताल्लुकेदारों तथा हनुमानगढ़ी के महन्तों ने एक या सभी असैनिक अफसरों के परिवारों को शरण दी। एनल्स आफ़ दि इंडियन रिबेलियन, पृ० ४५७-५८। लेनोक्स का कहना है कि फैजाबाद के मौलवी ने भी उसके एवं उसके परिवार की रक्षा करने का प्रस्ताव रखा।

२३. गब्बिन्स, उद्धृत ग्रंथ, पृ० १५८

हनुमन्त सिंह शहर से बाहर शरणार्थियों से मिला और उन्हें अपने किले में ले गया। पन्द्रह दिन बाद वह उनको अपने पांच सौ सिपाहियों के साथ इलाहाबाद के सामने गंगा के किनारे तक छोड़ आया। जब बैरो ने उससे कहा कि मुझे आशा है कि विद्रोहियों को दबाने में आप सरकार की मदद करेंगे तो उसने कहा, "साहब, आपके देश के लोग यहां आए और हमारे बादशाह को निकाल बाहर किया। आप लोगों ने अपने अधिकारियों को जेलों में जमींदारियों की जांच करने के लिए भेजा। पलक मारते मुझसे यह जमीनें छीन ली गईं, जो जमाने से मेरे परिवार की रही थीं। राज्य के लोगों ने आप लोगों के खिलाफ विद्रोह किया और आप उसी व्यक्ति की शरण में आए जिसका आपने सर्वनाश किया था। मैंने आप को बचा लिया। लेकिन अब मैं अपने सिपाहियों के साथ सीधे लखनऊ जाऊंगा और अंग्रेजों को अपने देश से खदेड़ कर भगाने की कोशिश करूंगा।"[२४] लेकिन यह सच्चा राजपूत अपने नए प्रभुओं से लड़ा नहीं।

बहराइच में गड़बड़ी का अंदेशा होते ही वहां का कमिश्नर चार्ल्स विंगफ़ील्ड भाग गया। बाद में उसकी तरक्की चीफ़ कमिश्नर के पद पर हुई। मई १८५७ में वह अपने प्रधान कार्यालय में न होकर सिकरोड़ा के फौजी अड्डे पर था। इस अड्डे पर यूरोपियन पल्टन नहीं थी। वहां अनियमित घुड़सवार सेना की रेजीमेंट, पैदल सेना की एक रेजीमेंट और गोले-बारूद वाली घुड़सवार सेना के कुछ सैनिक थे। स्त्रियों और बच्चों को लखनऊ पहुंचा दिया गया था। उनके लिए अधिकारियों को चिन्ता नहीं थी। अन्य स्थानों की तरह यहां के सिपाहियों पर भी संदेह था कि वे विद्रोह करना चाहते हैं। लेकिन पैदल सेना और घुड़सवार सेना के आपसी सम्बन्ध अच्छे नहीं थे। यूरोपियन सार्जेंटों से सिपाहियों की गतिविधि पर निगरानी रखने तथा कोई संदेह होने पर अधिकारियों को उसकी सूचना देने को कहा गया। ८ जून की रात को एक सार्जेंट को पैदल सेना की बैरकों में असाधारण गतिविधि होने का संदेह हुआ। शीघ्र ही घुड़सवार सेना के सिपाहियों को पैदल सेना की बैरकों के सामने तैनात कर दिया गया। बाद में संदेह निराधार सिद्ध होने पर घुड़सवार सेना को हटा लिया गया। सुबह होने पर सिपाहियों ने कहा कि अधिकारी सोते समय उनकी हत्या कर डालना चाहते थे और घुड़सवार सेना के मित्र यदि उन्हें न बचाते तो वे बच नहीं सकते थे। पैदल सेना और घुड़सवार सेना के सैनिकों का पुराना मन-मुटाव दूर हो गया और उन्होंने कैप्टन बायल्यू से शीघ्र परेड आयोजित कर गोले-बारूद बांटने की मांग की। बायल्यू ने सीधे वह बात मान ली और दूसरे ब्रिटिश अधिकारियों को सूचना दिए बिना ही विंगफ़ील्ड गोंडा चला गया। सिपाहियों ने फिर मांग की कि अधिकारियों को नदी पार करने से रोकने के लिए एक कम्पनी को बैरमघाट भेज दिया जाए। कैप्टन बायल्यू ने यह बात भी मान ली। लेकिन सिपाहियों का संदेह बढ़ते देख कर अधिकारी अपने को अरक्षित स्थिति में समझने लगे। इसलिए एक को छोड़ कर अन्य सभी अधिकारियों को गोंडा के गोरे सैनिकों के पास भेज दिया गया। वहां पर सिर्फ घुड़सवार सेना का मुख्य अधिकारी

२४. वही, पृ० १६०। मैलेसन, उद्धृत ग्रन्थ, जिल्द १, पृ० ४०७-८। जब उसके कालाकांकर के किले पर गोलाबारी की गई तो उसने भी उसका जवाब दिया।

लेफ्टिनेंट बोनहम रह गया। सिपाहियों ने उससे कमान लेने को कहा। उसने कहा कि अगर सिपाही लखनऊ चलने को तैयार हों तो वह कमान लेने को तैयार है। सिपाही पहले तो लखनऊ जाने को तैयार हो गए, लेकिन स्थिति धीरे-धीरे बिगड़ती गई और अन्त में उन्होंने बोनहम से सिरकोड़ा छोड़ कर चले जाने की मांग की। उससे यह कहा गया कि वह मुख्य सड़क से होकर लखनऊ न जाए। वह सकुशल लखनऊ पहुंच गया।[२५]

विंगफ़ील्ड अधिक दिनों तक गोंडा नहीं रहा। उसे और उसके साथियों को बलरामपुर के राजा ने शरण दी। उस दल के एक सदस्य, डा० बारट्रम ने बाद में अपनी पत्नी को पत्र लिखा, "बाद में सिपाहियों का बरताव अच्छा हो गया। बहुत-से सिपाही रास्ते में हमारे साथ रहे। उन्होंने हमारी दशा पर आंसू बहाए। देशी अधिकारियों ने हम लोगों को सलाम किया। लेकिन, कोई यह नहीं चाहता था कि हम लोग वहां बने रहें। एक हवलदार-मेजर ने सिरकोड़ा से भेजा हुआ एक पत्र हम लोगों को दिखाया। उसमें रेजीमेंट से अधिकारियों और खजाने को रोकने के लिए कहा गया था। इस प्रकार हमारे लिए यह आखिरी मौका था।"[२६] ऐसी स्थिति में यह सोचना गलत होगा कि अगर विंगफ़ील्ड ने सिपाहियों पर विश्वास किया होता तो बहराइच बच जाता। यह सोचना भी ठीक नहीं कि आधी रात वाली वह घटना न घटती तो सिपाही अंग्रेज़ों के वफादार बने रहते। चारों ओर संदेह और अविश्वास का वातावरण बन चुका था। ऐसी स्थिति में सर हेनरी की इस चेतावनी पर अमल करना मुश्किल था कि "अगर हमने देशी लोगों, विशेषतः देशी सिपाहियों से यह समझकर बरताव नहीं किया कि उनमें भी वही भावनाएं, वही महत्वाकांक्षाएं और योग्यता और अयोग्यता की वही पहचान है, तब तक हम बच नहीं सकते।"[२७] आधा जून बीतते-बीतते पूरे अवध में ब्रिटिश सत्ता लुप्त हो चुकी थी। लेकिन लखनऊ अभी तक बचा हुआ था। बाहर के शरणार्थियों ने नई सरकार के इस अन्तिम शरण-स्थल में आकर ही शरण ली।

विद्रोह शुरू होने के शीघ्र बाद सर हेनरी अपना प्रधान कार्यालय फौजी छावनी से हटा कर रेज़िडेंसी में ले आया। उन दिनों उसका स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता था। उसे आराम की बहुत जरूरत थी। उसकी असाधारण कर्तव्यपरायणता ही उसे अवध खींच लाई थी। वह हर तरह की आपत्ति का सामना करने के लिए तैयार रहना चाहता था। इसलिए उसने ४ जून को गवर्नर-जनरल को एक तार भेज कर कहा, "यदि वर्तमान अव्यवस्था में मुझ पर कोई विपत्ति आ जाए तो मैं हृदय से सिफारिश करता हूं कि मेरे बाद मेजर बैंक्स को चीफ़ कमिश्नर बनाया जाए और जब तक अच्छे दिन न आ जाएं, तब तक के लिए कर्नल इंगलिस को सेना का कमांडर बनाया जाए। ये दोनों उपयुक्त व्यक्ति हैं, बल्कि इन पदों के लिए इनसे बढ़ कर उपयुक्त व्यक्ति दूसरा नहीं है। मेरा सचिव मेरे मत से पूर्णतया सहमत है।" उसके डाक्टरों ने उसे आराम करने पर जोर दिया।

---

२५. बोनहम, अवध इन १८५७, पृ० ७४-८६

२६. बारट्रम, विडोज़ रेमिनिसैन्सेज़ आफ़ दि सीज आफ़ लखनऊ, पृ० ७४

२७. फ़ारेस्ट, ए हिस्ट्री आफ इंडियन म्यूटिनी, जिल्द १, पृ० १७८

इसलिए पांच सदस्यों की एक अस्थायी परिषद् बनाई गई। वित्त कमिश्नर, मार्टिन गब्बिन्स, न्याय कमिश्नर ग्रमन्ने, मेजर बेंक्स, कर्नल इंगलिस तथा चीफ़ इंजीनियर मेजर एंडरसन इसके सदस्य बनाए गए। स्वभावतः परिषद् की अध्यक्षता गब्बिन्स को सौंपी गई। अध्यक्ष बनते ही उसने विद्रोही रेजीमेंटों के बचे हुए सैनिकों के हथियार छीन लेने का अपना पुराना प्रस्ताव परिषद् के सामने रखा। अन्ततः सैनिक हथियार छीने जाने के अपमान-जनक व्यवहार से तो बच गए, लेकिन उन्हें थोड़े समय के लिए छुट्टी देकर उनके घर भेज दिया गया।[२८] अपनी नीति के पलट दिये जाने के कारण हेनरी लारेंस तुरन्त अपने पद पर फिर वापस आ गया। उसने परिषद् भंग कर दी, अपना कार्य संभाल लिया और जिन सिपाहियों को उनके घर भेज दिया गया था उन्हें वापस बुला लिया। उनमें से बहुत सारे लौट आए और घेरे के दिनों में उन्होंने बड़ी वफादारी के साथ अपने प्रभुओं की सेवा की।

३० और ३१ मई की आग बुझाई जा चुकी थी। ३१ मई को पुलिस ने शहर में धार्मिक असन्तोष का दमन किया। लेकिन दस दिन बाद विद्रोह हो गया। इस पर भी सर हेनरी निराश नहीं हुआ और रक्षात्मक तैयारियां करता गया। यह तय हुआ कि अन्तिम परिस्थिति में फौजी छावनी और मच्छी भवन खाली कर दिए जाएंगे और सारी फौज रेजिडेंसी में रख दी जाएगी। इसलिए रेजिडेंसी के उत्तर और दक्षिण में तोपें चलाने के लिए जगह बनाई गई, घने और बड़े वृक्षों को निर्दयतापूर्वक काट डाला गया, खाइयां खोदी गईं, दीवारें ऊंची की गईं, जमीन ढालू बनाई गई, पुरानी दीवारों की मरम्मत की गई और नए बुर्ज बनाए गए। शस्त्रागारों की मरम्मत की गई और सेना के हथियारों और साज-सामान को गुप्त रीति से मच्छी भवन से रेजिडेंसी भेज दिया गया। सर हेनरी ने मित्रों की सलाह और अपने शरीर की परवाह न की और सभी काम की निगरानी और प्रबन्ध स्वयं करने लगा। "नगर की स्थिति का पता लगाने के लिए वह अक्सर वेष बदल कर शहर के उन घने भागों में चला जाता जहां देशी लोग रहते थे। इस तरह वह यह पता लगाता कि उसके आदेशों का किस तरह पालन किया जा रहा है। कई बार तो वह बेलीगारद गेट के सामने, जहां तोपखाना रखा गया था, सैनिकों के बीच कोई हलका बिछावन बिछा कर लेट जाता और अपनी योजनाएं बनाया करता।"[२९]

लखनऊ के अंग्रेज़ों के हक में यह अच्छा हुआ कि सर हेनरी को जून में अपनी तैयारी पूरी करने के लिए काफी समय मिला। अवध के असैनिक और सैनिक केन्द्र एक के बाद एक विद्रोहियों के कब्जे में आते जा रहे थे। जिन जगहों पर सशस्त्र सेना न होने से गड़बड़ी होने की कोई आशंका नहीं थी, वहां के असैनिक अधिकारियों को भी समय रहते जगह छोड़ देने का आदेश दे दिया गया था। लेकिन लखनऊ में ऐसा नहीं हुआ। सर हेनरी

---

२८. परिषद् सिर्फ दो दिन तक चली। गब्बिन्स, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १६६-६६। गब्बिन्स ने जब राजभक्त सिपाहियों के हथियार छीनने का अपना पुराना प्रस्ताव रखा तो केवल एक अधिकारी ने उसका समर्थन किया।

२९. रीज़, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ३८

जानता था कि लखनऊ पर भी विपत्ति अवश्य आएगी। इसमें जितनी देर होती उतनी ही सफलता से वह विपत्ति का सामना कर सकता था। उसे जनरल व्हीलर के आत्म-समर्पण की खबर मिल चुकी थी और उसका यह सोचना ठीक था कि विद्रोही अब लखनऊ पर धावा बोलेंगे। २८ तारीख को विद्रोही शहर से २० मील दूर नवाबगंज में थे। खबर मिलते ही सर हेनरी ने फौज को छावनी से रेजिडेंसी और मच्छी भवन में हटा लिया।

प्रश्न यह था कि अब क्या किया जाए ? किसी सुरक्षित स्थान में रह कर शत्रुओं की प्रतीक्षा की जाए या शहर से बाहर किसी महत्वपूर्ण स्थान से उन पर हमला कर दिया जाए। शत्रुओं को करारी हार देने से दो फायदे थे। एक तो उनका साहस टूट जाता, दूसरे, अपने पक्ष के लोगों का दिल बढ़ जाता। जो स्थानीय लोग इस असमंजस में थे कि दोनों में से कौन-सा पक्ष लिया जाए, उनका भी अंग्रेजों पर भरोसा बढ़ सकता था। इसलिए सर हेनरी ने बहादुरी से हमला करने का निश्चय किया।[30] लेकिन चिनहाट में उसकी फौज का बुरा हाल हुआ। उसने यह नहीं सोचा था कि अवध के तोपची सेना छोड़ भागेंगे और देशी घुड़सवार सेना के सैनिक कायर सिद्ध होंगे। सर हेनरी को शत्रुओं की शक्ति की ठीक सूचना नहीं मिली। फल यह हुआ कि इस लड़ाई में बहुत नुकसान उठाना पड़ा। एक प्रत्यक्षदर्शी ने लिखा है कि "जब हमारी फौज पीछे हट रही थीं, उस समय ३८वीं सेना के सैनिकों की लाशें धमाधम गिर रही थीं, उनके हथियार और साज-सामान बिखर रहे थे। गोली लगे बिना ही सैनिक गिर जाते थे। शत्रुओं से अधिक मारक तो जून की तपती धूप थी। .... सिर्फ एक दिन की भयंकर लड़ाई में अंग्रेजों की बहादुरी का बखान करने के लिए ३२वीं सेना के सिर्फ ३ अफसर और ११६ सैनिक रह गए। लेकिन अफसोस कि बहादुरी की यह कहानी हमारी असफलता की भी कहानी है।"[31]

इस हार से चारों ओर भय फैल गया। "रेजिडेंसी में अव्यवस्था फैल गई। अपने सामान की चिन्ता न कर, औरतें और बच्चे सभी जगहों से रेजिडेंट के मकान पर भागे आ रहे थे। सबको अपनी जान की चिन्ता थी। पुरुष हथियार लिए हुए खाइयों में छिप रहे थे।"[32] लेकिन विद्रोही अपनी जीत का लाभ उठाने से चूक गए। वे खाइयों पर भी कब्जा कर सकते थे। लेकिन गोरी फौज की ईश्वर ने सहायता की। गोरी फौज के लिए शत्रुओं के घेरे का मुकाबला करने के सिवा अब और कोई चारा नहीं रह गया था।

कुछ तोपखानों का काम अभी अधूरा था। मजदूर दिन-रात काम कर रहे थे। चिनहाट की हार के बाद लोगों का अंग्रेजों पर भरोसा नहीं रह गया था। इसलिए मजदूरों ने

---

३०. गब्बिन्स ने लिखा है अपनी मृत्यु-शय्या पर हेनरी ने चिनहाट की गहरी हार का उल्लेख करते हुए कहा कि मैंने अपने निश्चय के विरुद्ध मानवीय डर से डरकर काम किया है। गब्बिन्स, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० २२३

३१. रीज़, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ६०। रीज़ ने अपने मित्र जान लारेंस के विवरण का उल्लेख किया है। यह चिनहाट की लड़ाई लड़ा था।

३२. रीज़, उद्धृत ग्रंथ, पृ० ६१-६२

अपनी मजदूरी बढ़ा दी थी। जून के पहले सप्ताह में सरकारी प्रोमिसरी नोटों पर चालीस प्रतिशत छूट देनी पड़ी। अगले महीने के आरम्भ में इनकी बिक्री पर ३५ प्रतिशत और छूट देनी पड़ी। उस समय यद्यपि साधारणतः कुशल मजदूरों की मजदूरी दो आने प्रति दिन थी, मार्टिन गब्बिन्स को मजदूरों को प्रति रात्रि दो रुपये की दर से मजदूरी देनी पड़ी। लेकिन अप्रत्याशित रूप से मजदूरी की दर बढ़ जाने से मजदूरों को कोई लाभ नहीं हो सका। घरेलू नौकर, मेहतर, घसियारे और भंगी आदि अधिक मजदूरी पर काम करने लगे।[33] लेकिन विद्रोहियों के घेरा डाल देने के बाद ये मजदूरी करना छोड़ने लगे। गोरों के रहने के लिए ही काफी जगह नहीं थी, इसलिए उनके नौकरों की बड़ी बुरी हुई। लेकिन सारी कठिनाइयों के बावजूद कुछ नौकर घेरा उठने के बाद तक अपने मालिकों के साथ रहे। लगभग इसी समय मद्रास के ईसाई नौकरों की मांग बढ़ी। ये कुछ-कुछ अंग्रेज़ी जानते थे। इसी सुविधा से पहले इंग्लैंड से नवागंतुक अंग्रेज इन्हें नौकर रखते थे। इनकी बहुत शराब पीने की आदत अच्छी नहीं समझी जाती थी। इसीलिए इनकी जगह अंग्रेज़ उत्तर भारत के मुसलमानों और हिन्दुओं को नौकर रखना चाहते थे। लेकिन लड़ाई शुरू होने पर मद्रासी ईसाई नौकर घर दूर होने के कारण अपने मालिकों के साथ रह गए और उत्तर भारत के नौकर अपने गांवों को भाग गए।[34]

लावारिस जानवरों से तकलीफ और बढ़ी। उनकी देखभाल करने के लिए नौकर नहीं रह गए थे। चारे की तलाश में वे चारों ओर घूमा करते थे। कुछ जानवर कुओं में गिर गए, जिससे पानी विषैला हो गया। कुछ जानवर गोली से उड़ा दिए गए और उनकी दुर्गन्ध से हवा दूषित हो गई। उनकी सड़ी लाशों को हटाने के लिए दल बनाए गए और कुछ घोड़ों को खदेड़ देना पड़ा। सर हेनरी ने अहाते के अन्दर काफी चारा जमा कर लिया था; घिरे हुए लोगों ने तोप ढोने वाले बैलों का मांस खाया और बच्चों को दूध पिलाने के लिए कुछ लोगों ने कुछ गाएं और बकरियां रख छोड़ी थीं। ये जानवर बहुत थोड़े थे। कम से कम एक बच्चे ने तो दूध के अभाव में दम तोड़ दिया। घेरा पड़ने के बाद के महीनों में जब खाद्यान्न पर कड़ा राशनिंग कर दिया गया तो कुछ भूखे सैनिकों ने श्रीमती इंगलिस की एक बकरी मार कर अपनी भूख शांत की।

प्रत्येक परिवार के लिए उसके रहने की अलग व्यवस्था करना कठिन था। पुरुष लड़ाई में व्यस्त थे और अपनी पत्नियों और बच्चों के पास कभी-कभी ही आ पाते थे। गोला-बारूद से रक्षा करने की दृष्टि से स्त्रियों और बच्चों को तहखानों में रख दिया गया था। प्रत्येक घर में जगह से अधिक आदमी थे, यहां तक कि जब हैजा और चेचक फैला तो रोगियों को अलग रखने के लिए जगह नहीं रही। अनेक परिवारों के लोग रेजिडेंसी में रखे गये और कुछ लोगों को डा० फ़ेरर और मार्टिन गब्बिन्स के निवास स्थान पर शरण दी गई। गब्बिन्स ने "संकटकाल के लिए, घेरा पड़ने के पहले से ही

३३. गब्बिन्स, उद्धृत ग्रंथ, पृष्ठ २१७-१८। सरकारी प्रोमिसरी नोटों का मूल्य गिर जाने के सम्बन्ध में विवरण पृ० १८५-८६ पर देखें।

३४. वही, पृ० २२७-२८

निजी तौर पर खाद्यान्न जमा कर रखा था। इस भंडार में ५०० मन गेहूं, १०० मन चना, ३० मन दाल, ५ मन महीन चीनी, १ मन तम्बाकू और काफी मात्रा में घी और चावल था।" इसके अलावा उसने "पत्थर का कोयला और लकड़ी भी जमा कर रखी थी।" इसलिए गब्बिन्स के निवास-स्थान पर टिकने वाले लोगों के लिए सामान की कमी नहीं थी। फिर भी कड़ी राशनिंग व्यवस्था करनी पड़ी। उसके पास काफी बीयर भी थी, जिसे सिर्फ परिचारिकाओं को दिया जाता था और अन्य प्रकार की शराब का खर्च बहुत कम कर दिया गया था। गब्बिन्स ने लिखा है कि "हमारा नियमित भोजन तीन बार से घटा कर दो बार कर दिया गया था।" "घेरा पड़ जाने के बाद और जब कमिसरियट की व्यवस्था लागू की गई तब यूरोपियनों को भोजन के लिए निश्चित अनुपात में आटा, या चावल और नमक के साथ बैलों और भेड़ों का मांस दिया जाने लगा। यह सामान मेरे नौकरों को दिया जाता था जो खाना बनाते थे। इसके अलावा भोजन में सिर्फ वही चीजें मिलती थीं, जिनकी हमारे भांडार में व्यवस्था थी। हमारे भांडार में मसाले, दाल, चावल और चीनी की व्यवस्था थी। इसके अलावा हमारे पास कुछ सूखी मछली और गाजरें थीं। जब हम दूसरी सेनाओं के लोगों को रात्रिकालीन भोजन का निमन्त्रण देते थे तो उन्हें यही मछली और गाजर खिलाते थे।" "घेरे के समय मेरे अधीन सेना को दिन के भोजन में एक-एक प्लेट चपातियां और एक-एक गिलास सार्टन (फ्रांसीसी शराब) दी जाती थी। रात के खाने पर पुरुषों को एका-एक गिलास शेरी या दो-दो गिलास शैम्पेन या क्लेरेट शराब दी जाती थी। स्त्रियों को शराब कम मात्रा में दी जाती थी।"[३५] घेरे के भीतर पाव रोटी बनाने वाले नहीं थे। अतः इसका मिलना दुर्लभ हो गया था। गब्बिन्स के पास कुछ मुर्गियां और उसके एक अतिथि के पास दो गाएं थीं। इसलिए उसके मकान पर टिके हुए लोगों को चाय पीने के लिए दूध और चीनी भी मिल जाती थी और अवसर रात के भोजन में चावल की पुडिंग भी बना करती थी। स्त्रियों को घरेलू काम बहुत करना पड़ता था, विशेषतः उन जगहों में जहां से नौकर चले गए थे। जिन लोगों ने अपने भोजन का अलग प्रबन्ध किया था, उन्हें पहले प्रति व्यक्ति सिर्फ बारह औंस मांस दिया जाता था। इस कारण उनकी हालत और बुरी थी। अगस्त में उनका दैनिक राशन आधा कर दिया गया। उन्हें अपने लिए ईंधन और आग जलाने का प्रबन्ध स्वयं करना पड़ता था और अपना खाना भी स्वयं पकाना पड़ता था।

घेरे के भीतर सभी तरह के लोग थे। उनमें असैनिक अधिकारी, क्लर्क, व्यापारी और अन्य व्यवस्थाओं के लोग थे। अब सब लोगों को हथियार उठाने पड़े। सभी गोरे इंग्लैंड के नहीं थे। उनमें डूप्रा नाम का एक फ्रांसीसी साहसिक था। अपने भाग्य की आजमाइश करने के लिए भारत आने से पहले वह एक सैनिक था और वह कुलीन वंश का था। वह पहले "शस डि अफ्रीक" का एक अफसर था और एलजियर्स में काम कर चुका था। रीज के कथनानुसार अप्रैल १८५७ में जब नाना और अजीमुल्ला थोड़े समय

३५. गब्बिन्स, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० २२९-३०

के लिए दौरे पर लखनऊ आये थे तो उन्होंने उससे मुलाकात की थी। व्हीलर के आत्म-समर्पण के बाद नाना ने उससे अपनी सेना का संचालन करने का अनुरोध किया था। नाना ने इसके लिए बहुत प्रलोभन दिए, लेकिन डूप्रा ने उसकी एक न सुनी। पहले उसने व्यापार से कुछ रुपया कमाया था, लेकिन घेरे के समय उसका शराब का भांडार सैनिकों ने लूट लिया। उस समय वह गब्बिन्स के तोपखाने में शस्त्र अधिकारी था। वह स्वभाव से मौजी था और उसके धार्मिक विचार सन्तुलित नहीं थे। वह ईश्वर में विश्वास नहीं करता था। इसीलिए उसकी मृत्यु होने पर रोमन-कैथोलिक पादरी ने उसे धार्मिक रीति से दफनाने से इन्कार कर दिया। वह गोली खाकर मरा और मरने से पहले उसे बड़ी तकलीफ हुई।[३६]

कम्पनी में एक दूसरा फ्रांसीसी मोशिए जेफ़राय और एक इटालियन सिगनर बारसोटोली[३७] भी था। वे लखनऊ में नहीं रहा करते थे, लेकिन वहां विद्रोह की चपेट में आ गए थे। बारसोटेली विनोदी था। इस कारण वह सेना में बहुत प्रिय बन गया था। एक रात को एक अफसर जब निरीक्षण करने गया तो वहां एक नवयुवक स्वयंसेवक की यह समझ में नहीं आया कि उस अफसर को किस तरह सलामी दी जाए। सिगनर बारसोटेली ने उसे अविलम्ब सलाह दी, "कोई परवाह नहीं, हथियार से थोड़ी सी आवाज कर दो। रात के समय कौन देखता है कि सलामी ठीक ढंग से दी जा रही है या नहीं!" लेकिन सैनिक की हैसियत से बारसोटेली ने अपनी उपयोगिता सिद्ध की। वह कभी अपनी जगह से नहीं हटा। उसे ऐसी गोली लगी कि उसका सिर धड़ से अलग हो गया। इस प्रकार वह बहादुर इटालियन स्वयं अपना मजाक बन गया। जेफ़राय एंडरसन के मोर्चे पर काम करता था और कभी-कभी घेरे में घिरे सैनिकों से हंसी-मजाक किया करता था। शमिठ का बाबा जर्मन था, लेकिन उसका जन्म भारत में हुआ था। वह क्रोधी स्वभाव का था और उसकी जबान बड़ी तेज थी। अक्सर वह अनुशासन भंग करता, जिसके लिए उसे कोड़े लगाए जाते थे।

घेरे में कुछ उच्चस्थ भारतीय लोग भी थे, जिन्हें सुरक्षा की दृष्टि से नजरबंद कर लिया गया था। इनमें प्रमुख था वाजिद अली शाह का बड़ा भाई मुस्तफ़ा अली खां, जिसे उसके पिता ने अयोग्य समझ कर गद्दी नहीं दी थी। ब्रिटिश सरकार ने भी अयोग्य होने के कारण ही उसे नजरबंद किया था, क्योंकि यह आशंका थी कि वह बड़ी आसानी से छली व्यक्तियों के हाथ का खिलौना बन जाएगा। दिल्ली के शाही खानदान के दो शहजादे, मिर्जा मोहम्मद हुमायूं और मिर्जा मुहम्मद शिकोह लखनऊ में नजरबंद थे। इन पर भी संदेह था कि विद्रोही दिल्ली और अवध पर कब्जा करने में इनका लाभ उठाएंगे। इनके अलावा अवध की गद्दी का समर्थ दावेदार नवाब रुक्नुद्दौला भी कैद था। यह अवध के भूतपूर्व शासक सादत अली का पुत्र था। मुसलमान नजरबंदों के अलावा शक्तिशाली ताल्लुकेदार तुलसीपुर का नवयुवक राजा भी कैद किया गया था।

---

३६. रीज़, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० २१७-१९

३७. वही, पृ० ११८

ये राजनीतिक बंदी मच्छी भवन में रखे गए थे। इनमें से अन्तिम दो लखनऊ से वापस लौटने के पहले ही मर गए।[३८]

घेरा पड़ने के बाद शहर से सम्बन्ध बिल्कुल कट गया था। इसलिए गुप्तचर विभाग का पुनर्गठन करने की आवश्यकता और बढ़ गई। मेजर गाल वेश बदल कर इलाहाबाद गया। लेकिन वह पहचान लिया गया और मार डाला गया। गुप्तचर विभाग गब्बिन्स के अधीन था और उसके पास काफी संख्या में विश्वसनीय दूत थे। लेकिन सिपाहियों के घेरे से होकर निकलना बहुत कठिन था। एक बार एक सिपाही अपनी बन्दूक में एक पत्र छिपाकर पूरी वर्दी पहन कर निकला। उसने बहाना किया कि वह बागी बन गया है। बाद में यह पता नहीं चला कि उसके साथ कैसी बीती। इसी प्रकार एक बूढ़ी स्त्री को शहर के दोस्तों से सम्पर्क स्थापित करने के लिए भेजा गया। उसका भी कुछ पता नहीं चला। पहली अवध अनियमित सेना के सिपाही बोधनसिंह ने एक पत्र तो पहुंचा दिया। लेकिन उसका उत्तर न ला सका। इस समय लखनऊ के सबसे बड़े गुप्तचर अंगद तिवारी और मिसर कनौजी लाल थे। अंगद पेंशनप्राप्त सिपाही और कनौजी लाल एक छोटी कचहरी में किसी छोटे-से पद पर था। दोनों ने असाधारण साहस और कुशलता से घेरे में पड़ी सेना और उनकी रक्षा में आने वाली सेना के बीच सम्पर्क स्थापित किया।

रेजिडेंसी के उत्तर में गोमती नदी थी। इस जगह घेरा डालने वालों को सेना एकत्र करने और यहां से धावा बोलने के लिए काफी जगह थी। सुविधाजनक दूरी से, इसी ओर से दीवारों पर भी गोलबारी की जा सकती थी। दक्षिण में कानपुर का मोर्चा फैला हुआ था। पश्चिम में शहर था। बेले रक्षक-दल रेजिडेंसी के पूर्वी भाग की रक्षा कर रहा था। इन तीनों मोर्चों पर "बीच के मकान और खण्डहर निचले सुरक्षा-स्थलों की गोलाबारी से रक्षा करते थे। इनके होने से अधिक संख्या में दुश्मनों की फौज आगे नहीं बढ़ सकती थी।" उत्तरी मोर्चे के बीच में रीडन तोपखाना लगा हुआ था, इसके पश्चिमी भाग की रक्षा इसका दल कर रहा था और पूर्वी छोर पर अस्पताल था। इसके आगे बेले रक्षक-दल दक्षिण-पूर्व दिशा में और आगे कानपुर तोपखाना और एंडरसन का दल था। पश्चिमी रक्षा-पंक्ति, जो शहर के सामने थी, उसके दक्षिणी छोर पर मार्टिन गब्बिन्स का मकान था, जिसके बारे में हर प्रकार की सुरक्षात्मक कार्रवाई की गई थी। चीनहाट की लड़ाई में अधिक लोगों के मारे जाने के कारण उत्तरी रक्षा-पंक्ति मजबूत नहीं बनाई जा सकी, लेकिन दक्षिणी रक्षा-पंक्ति अपेक्षाकृत अधिक सुरक्षित थी। इसके दोनों छोर पर एंडरसन और गब्बिन्स के सैनिक थे। कानपुर तोपखाना इनके बीच में पड़ता था। यहां डूप्रा का मकान और मार्टिनियर भवन था।

---

३८. रीज़, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ४२। यह कहा जाता है कि अपने अधिकार की अवहेलना किए जाने के बाद मुस्तफा अली खां ने कभी कोई पगड़ी या टोपी नहीं पहनी। उसने कहा "मेरे सिर पर केवल एक ताज रक्खा जा सकता है।" हचिन्सन, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ४६-४७ भी देखिए। उसने गलती से सूची में शराफुद्दौला को सम्मिलित किया है।

इस मकान का नाम मार्टिनियर इसलिए पड़ा, क्योंकि यहां मार्टिनियर के मालिक और लड़के रखे गए थे। यहीं पर ब्रिगेड मेस और सिख स्क्वायर भी था। घेरा डालने वाले विद्रोही इस रक्षा-पंक्ति के इतने नजदीक थे कि वस्तुतः विद्रोहियों से जा मिलने वाले सिख सिपाही रक्षा-पंक्ति के भीतर के सैनिकों से अक्सर बातचीत कर लिया करते थे। लेकिन दक्षिणी मोर्चे के सामने हर जगह इतने खण्डहर थे कि विद्रोही सेना आगे नहीं बढ़ सकती थी। ये खण्डहर गोलियों से मकानों के निचले भागों की भी रक्षा करते थे। पूर्व की ओर अस्पताल और एंडरसन के सैनिकों के बीच डा० फ़ेरर का मकान और डाकघर था। इसके पीछे जरमन चौकी और बेले रक्षक-दल तथा आगे सांडर्स और सागो की चौकियां थीं। इस पंक्ति के उत्तरी-पूर्वी भाग की बड़ी मजबूती से रक्षा की जा रही थी। पश्चिम में शहर की ओर गब्बिन्स और इसकी चौकियों के बीच कसाईखाना, भेड़-घर, रेजिडेंसी के नौकरों के लिए क्वार्टर, गिरजाघर, कब्रिस्तान और इवान्स का तोपखाना था। इस प्रकार रेजिडेंसी चारों ओर से सुरक्षित थी। चार चौकियों पर केवल राजभक्त सिपाही थे। ७१वीं और ४८वीं देशी पैदल सेनाएं अस्पताल की रक्षा के लिए तैनात थीं। बेली रक्षक-दल १३वीं देशी पैदल सेना के अधीन था। यहां सिख घुड़सवार भी थे। इसी से इस जगह का नाम सिख स्क्वायर पड़ा। जरमन चौकी पर सिख पैदल सेना थी। इसी प्रकार तीन स्थानों की रक्षा यूरोपियन सेना कर रही थी और अन्दर तथा बाहर की मिली-जुली शेष जगहों पर यूरोपियन और देशी सेनाएं बराबर-बराबर रखी गई थीं।[३९] घेरे के भीतर लगभग ३,००० आदमी थे। इनमें से १,७२० तो लड़ने वाले थे और १,२८० अन्य लोग थे। इनमें से भारतीय कुल संख्या के लगभग आधे थे। इनमें से ७२० लड़ने वाले लोग थे और ६८० अन्य लोग। रेजिडेंसी के अहाते की रक्षा के लिए पूरी तैयारी की गई थी, लेकिन ऊंचे मकानों से इस पर गोली चलाई जा सकती थी। तीर चलाने वालों और गोली चलाने वालों के लिए यह काफी अच्छी जगह थी।

घेरा डालने वाली विद्रोही सेना की शक्ति का ठीक-ठीक पता नहीं था। इनस का विचार है कि इसमें दो "नियमित देशी पैदल रेजीमेंट, आठ स्थानीय अवध रेजीमेंट, १५वीं अनियमित सेना तथा अन्य घुड़सवार सेना की टुकड़ियां, दो पूरे तोपखाने और अवध के ताल्लुकेदारों में से तीन की निजी फौजें थीं।"[४०] सर हेनरी ने अवध के ताल्लुकेदारों की मदद लेने की कोशिश की थी। उनमें सबसे अधिक शक्तिशाली शाहगंज का राजा मानसिंह था, जिसने सहायता देने का वचन दिया। लेकिन रामनगर के हिन्दू राजा गुरु बख्श और महमूदाबाद के मुसलमान सरदार राजा नवाब अली ने टाल-मटोल का जवाब दिया। उन्होंने कहा कि उनके पास साधनों की कमी है। जुलाई में उनकी सेनाएं लखनऊ के पास विद्रोही सेना में मिल गईं। उनमें विशेषतः धनुष चलाने वाले पासी सैनिक थे। उनका निशाना बड़ा अचूक था। लेकिन खुली लड़ाई में वे बन्दूक और राइफल चलाने वाले सैनिकों का मुकाबला नहीं कर सकते थे। वे सुरंग लगाने में

---

३९. इनस, लखनऊ एण्ड अवध इन दि म्यूटिनी, पृ० १०३-१०

४०. वही, पृ० ६७

बड़े होशियार थे और विशेषतः इसी काम के लिए इनका उपयोग भी किया गया। अगर वे किसी योग्य व्यक्ति के अधीन होते तो घेरे के भीतर के लोगों के लिए बहुत खतरनाक सिद्ध हो सकते थे। लेकिन विद्रोहियों ने आरम्भ में दीवालों के गिराने या रक्षा-व्यवस्था को नष्ट करने की कोशिश नहीं की। उन्होंने रेज़िडेंसी के भीतर के क्वार्टरों को अपनी गोली का निशाना बनाया। यह कहा जाता है कि १५वीं घुड़सवार सेना का अफसर बरकत अहमद सिपाहियों की सेना का तथा महमूदाबाद के राजा का लेफ्टिनेंट खान अली खां ताल्लुकेदारों की सेना का संचालन कर रहा था।

सर हेनरी लारेंस ने निश्चय किया कि अब मच्छी भवन को छोड़ दिया जाए और वहां की फौज रेज़िडेंसी में बुला ली जाए। यहां की सेना कर्नल पामर के अधीन थी। आदमी भेजने पर यहां संदेश पहुंच जाने का भरोसा नहीं था, इसलिए सिगनल से संदेश देने का निश्चय किया गया। रेज़िडेंसी की छत पर की मशीन ठीक काम नहीं कर रही थी। लेकिन भीषण गोली-वर्षा के बीच कैप्टेन फुलटन तथा दो अन्य अफसर तीन घंटे मेहनत करने के बाद संदेश भेजने में सफल हुए। संदेश था, "अच्छी तरह से बंदूकें भर लो, किले को उड़ा दो और आधी रात को चले आओ।" इस काम में बहुत गोला बारूद और सैन्य साज-सामान खर्च करना पड़ा, लेकिन संदेश का अक्षरशः पालन किया गया। इसमें किसी की मृत्यु नहीं हुई। रात के एक बजे तक मच्छी भवन के सारे सैनिक यहां जा चुके थे। इसके कुछ ही घंटे बाद सर हेनरी घातक रूप से घायल हो गया।

सुबह होते-होते सर हेनरी सभी रक्षा-स्थलों का निरीक्षण कर चुका था। सब कुछ देख-भाल कर लौटने पर वह राशन-वितरण की व्यवस्था के सम्बन्ध में एक आदेश लिखाने अपने कमरे में गया। एक दिन पहले उसके कमरे में एक छोटा गोला फटा था, लेकिन इससे कुछ नुकसान नहीं हुआ था। उसके कर्मचारियों ने उससे यह कमरा बदल कर किसी और सुरक्षित स्थान पर जाने को कहा। उसने दूसरे दिन कमरा बदल देने के लिए कहा भी था। लेकिन वह सोच भी नहीं सकता था कि कोई इतना अच्छा निशानेबाज भी हो सकता है जो दूसरी बार भी ठीक उसी स्थान पर निशाना बैठा सके। लेकिन असंभाव्य बात होकर ही रही। उसी कमरे में दूसरा गोला भी फटा। कैप्टेन विलसन अवाक होकर जमीन पर गिर पड़ा। सर हेनरी का भतीजा कमरे से सकुशल भाग गया। धुएं और धूल के मारे जब विलसन को कुछ दिखाई न पड़ा तो पूछा, "सर हेनरी, क्या आप को चोट लगी ?" कुछ देर के बाद सर हेनरी ने धीमी आवाज में उत्तर दिया, "मैं मार डाला गया।" डाक्टर के आने पर सर हेनरी ने पूछा, मैं कितनी देर और जी सकता हूं ?" डा० फ़ेरर ने अनुमान किया, "लगभग चालीस घंटे।" लारेंस को डा० फ़ेरर के घर ले जाया गया, जहां उसने ४ तारीख को दम तोड़ दिया। लेकिन उसके जीवन के अंतिम क्षण यों ही नहीं बीते। धार्मिक संस्कार समाप्त हो जाने के बाद उसने मेजर बैंक्स को विधिवत अपना उत्तराधिकारी बनाया और विस्तृत रूप से रक्षा-सम्बन्धी आदेश दिए। "मेजर बैंक्स की डायरी से इनका पता चलता है—गोलाबारी को रोकना और उस पर नियन्त्रण रखना, गोरों को लड़ाई में न जाने देना और उनकी रक्षा करना, रात के समय काम की व्यवस्था करना, खाइयां खोद कर रक्षा का प्रबन्ध करना, दुश्मनों

के गोलों का मुकाबला करना, न लड़ने वाले देशी लोगों को काम में लगाना और उसके लिए उदारतापूर्वक धन देना, सभी हथियारों और सामान आदि की एक सूची बनाना, दैनिक व्यय पर कड़ी निगरानी रखना, सैनिक दृष्टि से अनावश्यक घोड़ों को निकाल भगाना और दूसरी जगहों के ब्रिटिश अधिकारियों से सभी प्रकार के सम्भव सम्पर्क रखना।"[४१] इस प्रकार सर हेनरी अन्त समय तक कर्तव्य का पालन करता रहा। उसकी मृत्यु से सेना में उदासी छा गई। उसकी इच्छानुसार उसकी लाश चुपचाप दफना दी गई। अगले कुछ दिनों तक उसकी मृत्यु की बात गुप्त रही।

३ जुलाई को न्याय कमिश्नर, एम० सी० अमन्न के सिर में एक गोली लगी और दो दिन बाद उसकी मृत्यु हो गई। वह २३ वर्ष तक असैनिक सेवा में रहा था। उसकी मृत्यु से चीफ कमिश्नर का एक विश्वासपात्र व्यक्ति जाता रहा। नया चीफ़ कमिश्नर, मेजर बैंक्स भी अधिक दिनों तक नहीं बच सका। २१ जुलाई को गब्बिन्स की चौकी पर वह सैनिकों को लड़ाई करते देख रहा था। इसी समय उसके सिर में गोली लगी और वह मर गया। तीन सप्ताह के भीतर चीफ़ कमिश्नर का पद दो बार खाली हुआ। वरिष्ठता की दृष्टि से मार्टिन गब्बिन्स को चीफ़ कमिश्नर बनना चाहिए था। लेकिन सर हेनरी ने इस पर अपनी असहमति प्रकट की थी। इसलिए सेना का प्रधान होने की हैसियत से ब्रिगेडियर इंगलिस ने रक्षा की पूरी जिम्मेवारी स्वयं ग्रहण करने का निश्चय किया। इस प्रकार रेजिडेंसी में असैनिक सत्ता समाप्त हो गई। गब्बिन्स ने स्वयं यह स्वीकार किया है कि "असैनिक अधिकारों के प्रयोग की कोई गुंजायश ही नहीं थी। पूरी सेना में मार्शल लॉ लागू था और जब तक घेरा रहा तब तक घेरे से बाहर के देशी सरदारों से सम्पर्क स्थापित करने का मौका ही नहीं मिला।"[४२]

घेरे के भीतर चारों ओर लोग मरने लगे। सीतापुर की एक शरणार्थी श्रीमती डोरिन को गब्बिन्स के मकान की खिड़की से होकर एक गोली लगी, जिससे वह मर गई। "इसके बाद खिड़कियों को किताबों से भरी आलमारियों से ढक दिया गया। इससे गोलियों से बड़ी रक्षा हुई। बाद में हमें कई बार यह देखने का अवसर मिला कि युद्धास्त्रों से पुस्तकें किस प्रकार मुकाबला कर सकती हैं। लार्डनर के विश्वकोष की एक प्रति के कोने में एक गोली लगी और आधी पुस्तक में प्रवेश करने के बाद रुक गई। इससे पुस्तक के लगभग १०० से १२० पृष्ठ बरबाद हो गए। इस प्रकार मैंने बायरन पर फिंडेन रचित छोटे आकार की एक सचित्र पुस्तक देखी, जिसमें तीन पौण्ड का एक गोला लगा था। यह पुस्तक बिल्कुल नष्ट हो चुकी थी और इसके सभी पन्ने बुरी तरह फट चुके थे। लेकिन पुस्तक ने अपना काम किया। इसके सारे पृष्ठ फर्श पर बिखर गए और फिर वह गोला बेकार हो गया।"[४३] लेकिन प्रत्येक दरवाजे और खिड़की और रास्ते को मोटी पुस्तकों से बंद नहीं किया जा सकता था। इसलिए, लोगों का मरना भी नहीं रुका। रीज ने लिखा है,

---

४१. इनस, लखनऊ एण्ड अवध इन म्यूटिनी, पृ० ११५

४२. गब्बिन्स, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० २५४

४३. वही, पृ० २५५

"आज तक (सात जुलाई) हमारे बहुत से बहुत लोग मरे। प्रतिदिन औसतन १५ से २० लोगों की मृत्यु हुई। ये सारे लोग विशेषतः राइफल और गोलों से मरे। बहुत से लोगों की मौत एक विद्रोही अफ्रीकी की गोलियों से हुई, जो जुहानीज के मकान से लगातार गोलियां चलाया करता था। उसका निशाना शायद ही कभी खाली जाता हो।"[४४] डायरी भरने वाले को रोज एक दोस्त की मौत दर्ज करनी पड़ी। ८ तारीख को मेजर फ्रांसिस की मृत्यु हुई, लेकिन लड़ाई में बहादुराना ढंग से नहीं। ब्रिगेड मेस में वह चुपचाप बैठा हुआ था कि उसको एक गोला लग गया। ब्राइसन कहा करता था कि अभी ऐसी गोली ही नहीं बनी जो उसे मार सके। उसके सिर से भी होकर एक गोली निकल गई। घेरे में पड़े लोगों के भाग्य से शत्रुओं के पास गोला-बारूद कम था। १० जुलाई को रीज़ ने लिखा, "स्पष्टतः दुश्मनों का गोला-बारूद समाप्त हो रहा है। उनकी बन्दूकें फिर दनादन चलने लगी हैं, लेकिन अब वे पहले वाली गोलियां नहीं मारते। उनकी गोलियां अब लकड़ी, लोहे के टुकड़ों, तांबे के पैसों और बैलों की सींगों की बनी होती हैं।"[४५] कभी-कभी ये विचित्र गोलियां भी लोगों को घायल कर देती थीं।

जुलाई के आरम्भ में ५, ७ और १० जुलाई को घनघोर वर्षा हुई। इससे बहुत गंदगी बह गई और मृत जानवरों के सड़े अवशेषों की दुर्गन्ध जाती रही। ७ तारीख को वर्षा ने वातावरण को तो शुद्ध बनाया ही, इससे एक बहुत बड़ा लाभ भी हुआ। अस्पताल वाले तोपखाने के सामने बहुत-सा भूसा जमा था। कुछ साहसी सिपाहियों ने उसमें आग लगा दी थी। यदि प्रकृति साथ नहीं देती तो सैनिकों को शायद यह भीषण आग बुझाने में सफलता नहीं मिलती।

अब पुरुषों की बात छोड़ कर हम उनकी पत्नियों की कठिनाइयों पर भी ध्यान दें। श्रीमती केस ने, जिसका पति ३० जून को मारा गया, अपने सोने के कमरे का विवरण इस प्रकार दिया है—"इस बहुत ही छोटे कमरे में मैं, श्रीमती इंगलिस, उनके तीन बच्चों और केरी के साथ रहती हूँ। यह कमरा स्क्वायर के भीतर ब्रिगेड मेस के पास है।.... इस कमरे में दो सोफे हैं, जिनमें से एक पर मैं सोती हूं। श्रीमती इंगलिस, उनके बच्चे और कैरी सभी जमीन पर गद्दे बिछाकर सोते हैं।..... मेरा ख्याल है कि एक दृष्टि से पूरी रेजिडेंसी में हम लोग सबसे अधिक सुखी हैं, क्योंकि श्रीमती इंगलिस और हमारे नौकर हमारे साथ हैं।.... दिन रात लगातार गोलियां चलती रहती हैं। हमें गोलियों की आवाज सुनने की आदत नहीं, इसलिए, घेरा शुरू होने के बाद के दिन इनकी आवाज बड़ी भयानक लगी। जिसके पास भी बंदूक थी, वह मोर्चे पर था और हम लोगों को पता नहीं चलता था कि आखिर वहां हो क्या रहा है। प्रत्येक क्षण हमें यही आशंका थी कि शीघ्र ही दुश्मन इस जगह पर भी अवश्य टूट पड़ेंगे। हम मानते थे कि दुश्मन यदि भीतर आ गए तो हमारा बुरा हाल होगा। श्रीमती इंगलिस बीमार थीं। वह चेचक से अभी-

४४. रीज़, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १३०

४५. वही, पृ० १३४-३५

अभी ठीक हुई थीं। हम तीनों ने अपनी रक्षा के लिए परमात्मा से प्रार्थना की।"[४६]

श्रीमती जरमन तहखाने के एक कमरे में रहती थीं। यहां चूहे बहुत थे। २४ जुलाई को उन्होंने अपनी डायरी में लिखा, "पिछली रात जब मैं चाय बना रही थी, मैंने छोटे सुअर के बच्चे के बराबर एक चूहा देखा। इतना बड़ा चूहा मैंने कभी नहीं देखा था। रात को तहखाने में इतनी दुर्गन्ध थी कि हमें कपूर और कागज जलाना पड़ा।"[४७] २६ तारीख की रात को सोते समय श्रीमती जरमन की गर्दन पर एक चूहा दौड़ गया।

प्रार्थना से अधिक दिनों तक शांति नहीं मिल सकी और घेरे के भीतर के लोगों का विश्वास घटने लगा। गोलाबारी के धमाके तथा शस्त्रों की झंकार हमेशा आसन्न मृत्यु की याद दिलाती रहती थी। अब प्रतिदिन औसतन दस से अधिक गोरे नहीं मरते थे, लेकिन यह संख्या भी कुछ कम न थी। आधी जुलाई बीतते-बीतते बहुत-से मेसों में खाने-पीने के अच्छे सामान समाप्त हो चुके थे। "बहुत से गरीब अनियमित स्वयंसेवक अब चुरुट के छोटे-से टुकड़े को भी विलास की सामग्री समझने लगे हैं।" रीज़ ने १६ जुलाई को लिखा कि "हमें अच्छा भोजन नहीं मिलता। भोजन में सिर्फ गोमांस और चपातियां मिलती हैं और साथ में कुछ अन्य चीजें मिल जाती हैं।"[४८] ईंधन के लिए लकड़ी भी कम पड़ गई थी। श्रीमती इंगलिस के खानसामे ने ईंधन कम पड़ जाने की शिकायत की। श्रीमती केस ने लिखा है कि "अगर हालत और खराब हुई तो हमें ईंधन के लिए अपनी मेज और कुर्सियां तोड़नी पड़ेंगी।" लेकिन खानसामे को बिना किसी खतरे के कुछ ईंधन मिल जाता था। फिर भी हर कोई उस जैसा सौभाग्यशाली नहीं था। "श्री नीड [जो अपनी पत्नी और दो बच्चों के साथ सुरोड़ा से यहां आए थे और जो फाटक के नीचे हमारे पास ही रहा करते थे] को ईंधन चुनते समय फेफड़े में गोली लगी और उनकी मृत्यु हो गई।"[४९] "एक बार कर्नल इंगलिस जब सोए हुए थे तब गुप्तचरों ने खबर दी कि चार सौ दुश्मन खाइयों में घुस आए हैं।" स्वभावतः इस खबर से घेरे के भीतर के पुरुष और स्त्रियां परेशान हो गईं। वे लोग यह सोचने लगे कि अगर यह खबर ठीक है तो अन्तिम समय क्या किया जाए? २८ जुलाई को जब कि घेरे के भीतर के लोगों को अधिक प्रसन्न होना चाहिए था तब श्रीमती केस ने उल्लेख किया है कि उस दिन चारों ओर निराशा छा गई। "शाम को जब श्रीमती इंगलिस श्रीमती कूपर से मिलने गईं, तब उनके पास श्रीमती मार्टिन बैठी हुई थीं। तीनों ने इस पर विचार किया कि दुश्मन अगर घेरे के भीतर घुस आए तो क्या करना उचित होगा। क्या उनके अत्याचारों से बचने के लिए आत्महत्या कर लेना श्रेयस्कर न होगा? कुछ स्त्रियां अपने

---

४६. केस, डे बाई डे एट लखनऊ, पृ० ७८-८०

४७. ए डायरी केप्ट बाई मिसेज़ आर० सी० जरमन ऐट लखनऊ, पृ० ६६ तथा ६६

४८. रीज़, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १४२

४९. केस, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ११०

पास हमेशा अफीम का सत्व और प्रसिक एसिड रखा करती हैं।"[५०] लेकिन घेरे के भीतर की सभी स्त्रियों ने इसी प्रकार हिम्मत नहीं छोड़ दी थी। श्रीमती केस आत्महत्या करना उचित नहीं समझती थीं। वह दुश्मनों के हाथ मरने के लिए तैयार थीं। उनका कहना था कि हमें अपना कर्तव्य करना चाहिए और शेष सब कुछ ईश्वर के भरोसे छोड़ देना चाहिए, क्योंकि वह जानता है कि हम लोगों के लिए क्या करना उचित है। श्रीमती इंगलिस भी अपनी सखी के इस मत से सहमत थीं।[५१] पुरुषों में भी स्त्रियों से अधिक आत्मविश्वास नहीं रह गया था। कर्नल इंगलिस ने एक बार कहा कि अन्तिम समय आने पर स्त्रियों को गोली से उड़ा दिया जाए।[५२]

रीज़ को लखनऊ के तत्काल पतन की आशंका नहीं थी, परन्तु उसे जल्दी सहायता मिलने की कोई आशा नहीं दिखाई पड़ती थी। दिन-प्रति-दिन वह अपने मित्रों और पड़ोसियों को बन्दूक की गोलियों या हैजे से मरते देखता था और हताश होकर पूछता था, "हमें सहायता कब मिलेगी ? यह कहा जा रहा है कि सैन्य-दल आ रहे हैं, परन्तु कब और कहां से ? कानपुर शत्रुओं के हाथ में है। भारत के दूसरे भागों में भी निस्सन्देह उपद्रव हुए हैं। मुझे तो भय है कि इन सब खबरों में, जो वे हमें विश्वास पूर्वक दे रहे हैं, कुछ भी सच नहीं है। वे हमसे कह रहे हैं कि हमें जल्दी सहायता मिलेगी, परन्तु यह बात सच नहीं जान पड़ती। अधिक सैन्य-दलों के भेजे जाने की बात करना, परन्तु कहां से ? सम्भव है कि तार्तारा का चम और तिब्बत का महान लामा ही काश्मीरी बकरों की एक सेना लेकर आए। कानपुर में तो अभी सैन्य-दल हैं नहीं, और वे यहां उनकी बात करते हैं।"[५३]

दैनिक विवरणिका पूरी तरह से निरुत्साहित कर रही थी। १४ जुलाई को रीज़ ने लिखा, "विल्टशायर नामक एक बेचारा क्लर्क आज हैजे से मर गया। संवाहक बैक्स्टर

५०. केस, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १२८

५१. इंगलिस, दि सीज आफ़ लखनऊ, ए डायरी, पृ० १००

५२. वही, पृ० ११६। गब्बिन्स ने लिखा है, "जब दूसरा महीना (जुलाई) शुरू हुआ तो कुछ अपने लोगों ने सोचा कि अगर दुश्मन रेज़िडेंसी पर कब्जा कर लें तो हम अपने परिवार की स्त्रियों को जान से मार डालें। उन भयानक दिनों में शाम के समय मेरी फौज के एक सैनिक ने मुझे अलग ले जाकर कहा कि उसकी पत्नी इस बात पर राजी हो गई है कि दुश्मन अगर रेज़िडेंसी में घुस आएं तो वह उसे मार डाले। सैनिक की पत्नी ने कहा कि अगर मेरा पति मुझे पिस्तौल से मार डाले तो मुझे सन्तोष होगा। सैनिक ने यह भी कहा कि अगर मैं मार डाला गया तो वह मेरी पत्नी को भी उसी तरह मार देने को तैयार है। उसने मुझ से यह वचन मांगा कि अगर वह मुझ से पहले मार दिया जाए तो मैं उसकी पत्नी को मार डालूं। मैंने उससे कहा कि इसकी अभी आवश्यकता नहीं आई, इसलिए, वचन देने की भी जरूरत नहीं है। मैं इस शर्त के लिए तैयार भी नहीं हो सकता था।" गब्बिन्स, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ३८३-८४

५३. रीज़, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १३५

भी, जिसे ११ तारीख को गोली लगी थी, मर गया। लैफ्टिनेंट लेस्टर को मार दिया गया। दूसरे कई अभागे लोग भी मृत्यु को प्राप्त हुए हैं।" १७ तारीख को हम पढ़ते हैं, "ब्राउन को गोली लगी, टांग काटी गई। अब वह मर जायगा, अवश्य मर जायगा, क्योंकि चिकित्सा-विज्ञान का, जैसा कि दुर्ग-सेना के शल्य-चिकित्सकों ने उसका अभ्यास किया है, यह एक नियम है कि किसी अंग के कट जाने के बाद मृत्यु उतनी ही सुनिश्चित है जितनी दिन के बाद रात।" घायल लोगों में जलालाबाद का वीर डा० ब्राइडन भी था, परन्तु वह जीवित अवस्था में अपन घर पहुंचा और अवकाश-ग्रहण के बहुत वर्ष बाद उसने स्वाभाविक मृत्यु प्राप्त की।

रेजिडेंसी के एक लम्बे घेरे के बाद सिपाही नेताओं ने एक सामान्य आक्रमण के द्वारा उसे लेने के केवल चार गम्भीर प्रयत्न किये। पहला प्रयत्न २० जुलाई को किया। रेडन के समीप एक बम फटा परन्तु तोपों को कोई क्षति नहीं पहुंची। और न दीवाल में कहीं छेद ही हुआ क्योंकि फासले का हिसाब गलत लगाया गया था। परन्तु सिपाहियों ने उस स्थान पर सब दिशाओं से आक्रमण किया और उनकी गोलाबारी सतत और सुचलित थी। ऐसा संशय किया जाता था कि उनके तोपखाने की कमान एक अभ्यस्त यूरोपीय अधिकारी के हाथ में थी। प्रतिरक्षा भी उतने ही संकल्प के साथ की जा रही थी। आगे बढ़ते हुए सिपाहियों की टोलियां एक के बाद एक गोलियों के द्वारा मार कर गिराई जा रही थीं, परन्तु बार-बार आक्रमण का नेतृत्व करने वाले सैनिक नेताओं की कमी नहीं थी। लड़ाई सबेरे नौ बजे शुरू हुई और शाम के चार बजे तक चलती रही। कई घण्टों की कड़ी लड़ाई के बाद घेरा डालने वाले हार गये। स्वाभाविक रूप से उनकी हानि उनके शत्रुओं की अपेक्षा, जिनके पास प्राकारों और अवरोधकों की रक्षा थी, बहुत अधिक भारी थी। अंग्रेज़ों की तरफ हताहतों की संख्या २५ थी, जिनमें १५ यूरोपीय थे।

युद्ध का परिणाम तो उत्साहवर्धक था ही, २२ ता० की रात को उससे भी अधिक अच्छी खबर आई। २६ जून को अंगद कानपुर चला गया था। २२ जुलाई को वह वापस लौटा। वह कोई लिखित संवाद तो नहीं लाया, क्योंकि जो सरकारी पत्र उसे सौंपा गया था उसे वह मार्ग में खो आया था। परन्तु वह यह खबर लाया कि हैवलाक को नाना पर विजय प्राप्त हो गई है और जल्दी ही सहायता आने वाली है। खबर इतनी अच्छी थी कि उस पर विश्वास नहीं किया जा सकता था और ऐसे आदमियों की कमी नहीं थी जो अंगद की सूचना को सत्य नहीं मानते थे। परन्तु वह फिर कानपुर गया और जनरल हैवलाक की सेना के क्वार्टर मास्टर जनरल कर्नल फ्रेजर टाइटलर के पत्र को लेकर वापस आया। उसने लिखा था, "आपका २२ ता० का पत्र हमारे पास आ गया है। हमारी सेना का दो-तिहाई भाग नदी के पार है और हमारी आठ तोपें मौके पर लगी हुई हैं। शेष सब अभी तत्काल होगा। मैं कुछ संवाद आपके पास आज रात को या, कल भेजूंगा। उन सब लोगों को नष्ट कर देने के लिए, जो हमारा विरोध करते हैं, हमारे पास प्रचुर सेना है। नगर में अपनी स्थिति का एक मानचित्र हमें भेजो और उसमें प्रवेश करने या पहुंचने के सम्बन्ध में निर्देश भी, जो आपको सूझे। पांच या छः दिन में हम मिलेंगे। यदि शत्रु बाहर निकले तो तुम्हें पीछे से उस पर हमला करना चाहिए और फिर हम उसे कुचल देंगे।" इसके बाद इसी पत्र में

लिखा था, "हमने नाना को परास्त कर दिया है। वह अदृश्य हो गया है। बिठूर में उसका महल नष्ट कर दिया गया है। कोई नहीं जानता कि उसकी सेना तितर-बितर होकर कहां चली गई है, परन्तु वह गायब हो गई है।"[५४] पत्र उस समय आया जब सहायता असम्भव मानी जा रही थी और मृत्यु और सिपाहियों के सेना छोड़ कर चले जाने के कारण प्रतिरक्षकों की पंक्तियां क्षीण हो गई थीं। बहुत से सिख और १३ वीं देशी पैदल सेना के १६ आदमी पहले ही खाई को छोड़ कर चले गए थे। कर्नल टाइटलर के पत्र ने बहुत हद तक घेरे में पड़े लोगों की गिरती हुई भावनाओं को ऊपर उठाया। कर्नल इंगलिस ने दूसरे ही दिन रात को अंगद को एक पत्र देकर वापस भेजा। इस पत्र में सहायता के लिए जाने वाली सेना को आवश्यक सूचना और सुझाव दिए गए थे। कर्नल इंगलिस ने लिखा था, "यदि आपके पास राकेट हों तो जिस समय आप नगर में प्रवेश करने का इरादा करें उससे पहली रात को करीब आठ बजे तीन या चार हमारे लिए चेतावनी-स्वरूप चला देना। इस संकेत को पाकर हम सड़क के दोनों ओर मकानों पर गोलाबारी शुरू कर देंगे। मुझे यह पता नहीं है कि आपकी सेना की शक्ति क्या है और उसकी रचना कैसी है, इसलिये मैं केवल यही सुझाव दे सकता हूं। मैं आपको यह निश्चय दिलाता हूं कि जैसे ही आप पर्याप्त रूप से समीप आ जायेंगे, हमारी निर्बल और उत्पीड़ित दुर्ग सेना शत्रु को अधिक से अधिक विभक्त करने का प्रयत्न करेगी ताकि आप इसका लाभ उठा सकें।"[५५]

व्याकुल आंखें आगे की कुछ रातों तक धैर्यपूर्वक आकाश की ओर देखती रही होंगी, किन्तु वहां उन्हें राकेट दिखाई नहीं पड़े। रीज़ के इन शब्दों में दुर्ग-सेना की निराशा का प्रतिविम्ब है, "सत्ताईसवीं तारीख भी चली गई और कोई सैन्य-दल नहीं आए। अट्ठाइसवीं भी गई और कोई सहायता नहीं। उन्नीसवीं, तीसवीं और इकतीसवीं तारीख भी निकल गई और हमारी सहायता के लिए आने वाली किसी सेना का कोई चिन्ह नहीं। कितना दुखपूर्ण था यह। हमने इतने विश्वास के साथ आशा करके अपने आपको बनाए रखा था, हमारी आशाएं इतनी पक्की थीं और हम यह निश्चित किए बैठे थे कि अब हमारे बाहर के मित्र शीघ्र ही आएंगे और विद्रोहियों को मार भगायेंगे। परन्तु जब यह सब नहीं हुआ और हमने अपनी आशाओं को पूरा होते नहीं देखा तो हमारा अवसाद और अधिक बढ़ गया। हमारे दिल बैठने लगे और बहुतों ने तो (जिनमें मैं नहीं था) आशा के अन्तिम टिमटिमाते प्रकाश को भी छोड़ दिया और अपने आपको एक उदासीन, हठी और मौन निराशा के प्रति समर्पित कर दिया। जीवन के प्रति वे निराश थे और मारे जाने से पूर्व केवल मारने की उन्हें इच्छा थी। उनका जीवन उनके लिए भार-स्वरूप हो गया और उनमें से बहुत से अपने उन बेचारे साथियों की ओर जो हर शाम कब्र की ओर ले जाए जाते थे ईर्ष्या की दृष्टि से देखते थे।"[५६]

समय से पहले की गई आशाओं के द्वारा कभी-कभी उस दुख में शान्ति मिल जाती

---

५४. इनस, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १३३

५५. फ़ारेस्ट, ए हिस्ट्री आफ़ दि इण्डियन म्यूटिनी, जिल्द १, पृ० २८७

५६. रीज़, उद्धृत ग्रन्थ, १६६-७०

थी, परन्तु अन्त में उससे और भी अधिक निराशा होती थी।। ३० जुलाई को श्रीमती केस ने लिखा, "कल करीब छः बजे जब हम भोजन कर रहे थे तो दूर से बन्दूकों की आवाज सुनाई पड़ी, जिससे हम सबको बहुत अधिक उत्सुकता हुई और अंग्रेजी आवाजों से प्रसन्नताकारी ध्वनि आने लगी। हर एक आदमी प्रसन्नता की एक उत्तेजित अवस्था में इधर-उधर दौड़ रहा था, यह चिल्लाते हुए कि सहायता आ गई है। लोग समझ रहे थे कि वे दरवाजों तक आ गये हैं और प्रवेश करने की प्रतीक्षा में ही हैं। अन्य सब लोगों की तरह हम भी यह देखने के लिए कि क्या मामला है, बाहर दौड़े। कर्नल पामर दौड़ कर श्रीमती इंगलिस की ओर गये, उनसे हाथ मिलाया और उन्हें बधाई देते हुए कहा कि सहायता के लिए अधिक सेना आ गई है। जहां तक मेरा सम्बन्ध है, मुझे तो अपने भोजन के कमरे से बाहर निकलते समय ऐसा लगा जैसे मानो अब शत्रु उसके अन्दर घुसने वाला ही हो। उत्तेजना तो काफी थी, परन्तु वह थोड़े ही मिनट रही और फिर शान्त हो गयी। किसी को पता नहीं चला कि क्या मामला था। केवल एक बात बिलकुल स्पष्ट थी और वह यह कि सहायता-सेना नहीं आई थी।"[५७] परन्तु फिर भी दुर्ग-सेना में कुछ ऐसे दृढ़ आशावादी थे जो प्रत्येक तुच्छ घटना में एक शुभ लक्षण देखते थे। ३० जुलाई को कैप्टेन एण्डरसन और उसके मित्रों ने एक सुन्दर मोर देखा। पक्षी परकोटे के ऊपर बैठा था और अपने पंखों को सजा रहा था। उसकी प्रशंसा करने वाले कुछ भूखे सिपाहियों ने सोचा कि उनके समाप्त हुए मांस में वह एक बहुत अच्छी वृद्धि होगा और इसलिये उन्होंने उसे पकाने के बर्तन में भेजना चाहा। परन्तु एण्डरसन ने उसे एक शुभ लक्षण वाली चिड़िया समझा और उसे शान्तिपूर्वक जाने दिया।[५८] यदि मोर सचमुच शुभ का सन्देश वाहक था तो तत्काल तो वह कोई सहायता नहीं लाया। परन्तु यदि पक्षी को छोड़ दिया गया तो उसी के समान अहिंसक पौधे इतनी आसानी से छोड़े जाने वाले नहीं थे। एण्डरसन कहता है, अरण्डी के पेड़ों की पत्तियों पर चमकता हुआ चन्द्रमा कभी-कभी आदमियों की पगड़ी के समान लगता था और कई बार हमें उस पर निशाना लगाने की प्रेरणा हुई।"

जुलाई के अन्त में अस्पताल सदा भरा रहता था। "उसका दृश्य द्रावक था। हर जगह घायल अफसर और जवान खाटों पर पड़े थे, खून से लथपथ और कृमियों से भरे हुए। इलाज करने वाले, परिचारक और सेवक बहुत कम संख्या में थे और अपनी सम्पूर्ण क्रियाशीलता के बावजूद किसी की सेवा नहीं कर पाते थे। कपड़े बदलना भी सम्भव नहीं था, क्योंकि वह आते कहां से। यह ठीक है कि हमारे पास एक या दो धोबी थे, परन्तु वे जब-तब और बहुत अधिक मूल्य पर कपड़े धोते थे-बुरी तरह, अपर्याप्त रूप से और बिना साबुन के, जिसकी दुर्ग-सेना में बहुत बड़ी कमी थी। वे श्रम से दबे रहते थे, परन्तु कुछ नहीं करते थे। फिर कपड़ों की भी बड़ी कमी थी। यह एक विलास की चीज मानी जाती थी, जिसके उपभोग की अनुमति कुछ थोड़े लोगों को ही थी।

५७. केस, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १२०-१२१

५८. एण्डरसन, ए पर्सनल जर्नल आफ़ दि सीज आफ़ लखनऊ, पृ० ७४

सबके लिए पर्याप्त चारपाइयां तक नहीं थीं।"[५९] दुर्ग-सेना की स्त्रियां अपने दुखों और पीड़ाओं की चिन्ता न कर अस्पताल के कर्तव्यों को अपनी इच्छा से करती थीं और बीमार और घायलों को आराम देने के लिये अपना सर्वोत्तम प्रयत्न करती थीं।

जब कि घेरे में पड़े लोग चिन्ता और आशा से अपने दिनों को गिन रहे थे तो हैवलाक भी सुस्त नहीं बैठा था। वह १७ जुलाई को कानपुर पहुंच गया था। २० ता० को उसकी सेना के एक भाग ने अवध की तरफ नदी को पार कर लिया था। २५ ता० तक पार होने का काम समाप्त हो गया और स्वयं जनरल अपने सैन्य-दलों से जाकर मिला। २६ ता० को उसने लखनऊ सड़क पर ५ मील की दूरी पर मगरवारा नाम के स्थान में शिविर डाला। तीन दिन बाद उन्नाव में उसकी प्रगति को रोका गया। एक भीषण लड़ाई के बाद उसने सिपाही-सेना को उस स्थान से हटा दिया, जिस पर वह दृढ़ता से अधिकार जमाए हुए थे। सिपाही पीछे हटे, परन्तु अपने विजयी शत्रु को उन्होंने दीवालों से घिरे हुए शहर बशीरतगंज में, जो वहां से कुछ मील आगे था, फिर चुनौती दी। हैवलाक ने दूसरी विजय प्राप्त की, परन्तु उसे ऐसी हानि भी हुई जिसे उसकी छोटी सेना सहन नहीं कर सकती थी। उसने जो हिसाब लगा रखे थे वे दानापुर में गदर के समाचार से उलट-पुलट हो गए। अब वह कलकत्ता से अति शीघ्र अधिक सेनाओं के आने की आशा नहीं कर सकता था और विद्रोही प्रकट रूप में प्रत्येक सुविधाजनक चौकी पर उसके आगे बढ़ने को रोकने के लिए दृढ़ संकल्प थे। टाइटलर ने विद्रोही सेना की शक्ति और संकल्प का कम अन्दाज लगाया था। हैवलाक के पास उन सबका विनाश करने के लिए, जो उसका विरोध करें, प्रचुर सेना नहीं थी। "उसे एक ऐसा अरुचिकर निर्णय करना पड़ा, जिससे उसके सैन्य-दलों को भी कम निराशा नहीं हुई। उसने मगरवारा में फिर लौट कर आने का निश्चय किया जहां वह और अधिक सेनाओं के आने की प्रतीक्षा करना चाहता था, क्योंकि वह सोचता था कि बिना अधिक सैन्य-दलों की सहायता के आगे बढ़ना बुद्धिमानी नहीं होगी। प्रधान सेनापति को उसने यह समझाया, "मेरी सेना बीमारी के कारण और लगातार युद्धों के कारण घटकर १३६४ साधारण सैनिकों की रह गई है और हमारे पास कुल १० तोपें हैं जो अच्छी हालत में नहीं हैं। इसलिये सफलता की किसी आशा को लेकर मैं लखनऊ के विरुद्ध अभियान नहीं कर सकता था, विशेषतः जबकि मेरे पास सई नदी या नहर को पार करने के कोई साधन न थे। इसलिए मैंने दो बार पीछे हट कर, जबकि कोई शत्रु अभी तक मुझे हानि नहीं पहुंचा सका है, कानपुर के साथ अपनी दूरी को कम कर लिया है। यदि मुझे शीघ्रतापूर्वक १,००० और अधिक अंग्रेज सिपाहियों की सेना और मेजर ओल्फर्ट्‌स का पूरा तोपखाना मिल जाता है तो मैं लखनऊ की ओर अपने प्रयाण को जारी रख सकता हूं या अवध में शीघ्रता से आगे बढ़ा जा सकता है, क्योंकि मुझे कानपुर में नावों और दो स्टीमरों के द्वारा गंगा पार करने का अधिक आसान मार्ग मिल जाएगा, अथवा

५९. रीज़, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १६१

में गंगा को पुनः पार करके कानपुर में ग्रांड ट्रंक रोड के शीर्ष-स्थल पर अधिकार जमाए रख सकता हूं।"[६०]

हैवलाक के पीछे हटने के निर्णय के प्रति उसकी कमान के द्वितीय अधिकारी जनरल नील ने, जो इस बात पर उससे असन्तुष्ट हो गया था, विरोध प्रकट किया। उसका उद्‌बोधन इस प्रकार था, "मुझे गम्भीर रूप से खेद है कि आप एक पग पीछे हटे हैं। इससे हमारी प्रतिष्ठा पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा है........ इस नगर में अनेक प्रकार की खबरें फैली हुई हैं, जिनमें एक यह है कि आप जितनी तोपें ले गए थे उन सबको आप खो चुके हैं, इसलिए आप अधिक तोपें लेने के लिये पीछे हटे हैं। वस्तुतः सबका यह विश्वास है कि आप पराजित हो गए हैं और जबर्दस्ती आपको पीछे हटना पड़ा है। शत्रुओं से आपने जो तोपें छीनीं उन्हें आप अपने साथ वापस नहीं लाए, यह एक अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण बात है। लोग कभी यह विश्वास नहीं करेंगे कि आपने कोई तोप छीनी भी थी। आपके पीछे हटने की इस चाल का प्रभाव सब जगह हमारे उद्देश्य के लिए बहुत हानिकर होगा..... आपको फिर आगे बढ़ना चाहिए और तब तक नहीं रुकना चाहिए जब तक आप लखनऊ की दुर्ग-सेना को न बचा लें।" हैवलाक अपने अधीन अधिकारी के, चाहे वह कितना ही योग्य हो, इस प्रकार के धृष्टतापूर्ण व्यवहार को सहन करने वाला आदमी न था। उसने शीघ्र उसे फटकार भेजी कि वह अपनी कमान के अधीन किसी अफसर की सलाह या आलोचना सुनना नहीं चाहता और न वह उन्हें ग्रहण करेगा। उसने लिखा, "इसे स्पष्टतः समझ लो और यह भी कि केवल यह विचार करके कि इस क्षण जनता की सेवा के मार्ग में बाधा उपस्थित होगी, मैं आपको गिरफ्तार करने का दृढ़तर कदम नहीं उठा रहा हूं।"[६१]

३ अगस्त को हैवलाक को छोटी अतिरिक्त सहायक सेना मिली और वह दूसरी बार लखनऊ की ओर बढ़ा। हैवलाक के पीछे हट जाने के बाद सिपाहियों ने बशीरतगंज पर फिर बलपूर्वक अधिकार कर लिया था। अब जनरल ने वहां फिर नई विजय प्राप्त की। परन्तु यह जल्दी ही स्पष्ट हो गया कि लखनऊ को सहायता पहुंचाने के लिए वह पर्याप्त रूप से शक्तिशाली नहीं था। समस्या यह थी कि क्या वह अपनी अन्य सेना की हानि का खतरा मोल लेगा या कर्नल इंगलिस को अपने भाग्य पर अकेला छोड़ेगा। उसकी सेना का विनाश लखनऊ के पतन को निश्चित कर देता। परन्तु यदि वह प्रतीक्षा करता और अपनी सेना को अक्षत रखता तो सम्भव था कि विद्रोहियों द्वारा की गई कोई भूल उसे उन पर चोट करने का अवसर प्रदान करती और दुर्ग-सेना को अपना मार्ग बाहर निकालने में समर्थ बनाती। बशीरतगंज की दूसरी पराजय ने सिपाहियों को इतना उत्साहहीन नहीं कर दिया था कि वे हैवलाक को अपने आधार मगरवारा तक बिना विघ्न के पीछे हट जाने देते। उसे पीछे हटने से पूर्व बुढ़िया की चौकी पर युद्ध करना पड़ा। इसी समय उसे नील से पता चला कि बिठूर और कानपुर को एक

६०. फ़ारेस्ट, ए हिस्ट्री आफ़ दि इण्डियन म्यूटिनी, जिल्द १, पृ० ४६०

६१. वही, जिल्द १, पृ० ४६१-६२

शक्तिशाली विद्रोही सेना से भय था और बिना सहायता के वह खाई पर अधिकार रखने के अलावा और कुछ करने की आशा नहीं कर सकता था। नील को भय था कि "इस स्थान और इलाहाबाद से परे का सारा देश विद्रोह कर उठेगा और मुझे निश्चित विश्वास है कि यदि स्टीमर रवाना नहीं हुआ तो हमारा गोला-बारूद और आगे जाते हुए अस्त्र-शस्त्र शत्रु के हाथों में पड़ जाएंगे और हमारी बुरी हालत होगी।" इसलिए हैवलाक मगरवारा में नहीं ठहर सका और उसे शीघ्र कानपुर वापस आना पड़ा। १३ अगस्त को उसने फिर गंगा नदी को पार किया और १६ अगस्त बिठूर का युद्ध लड़ा गया। अपने प्रेषण-पत्र में उसने लिखा, "मुझे ग़दर करने वालों के साथ न्याय करते हुए यह कहना चाहिए कि वे दृढ़ता से लड़े, अन्यथा एक पूरे घण्टे के लिए भी वे हमारे शक्तिशाली तोपखाने के विरुद्ध अपनी रक्षा नहीं कर सकते थे, यद्यपि उन्हें रणभूमि के हमसे अच्छे लाभ प्राप्त थे।"[६२] प्रत्येक ऐसे युद्ध में जिसमें भारत-ब्रिटिश सेना का विद्रोहियों से सामना हुआ, विजेताओं को उनके पास अधिक अच्छे हथियार होने का लाभ मिला। यदि एन्फील्ड ने ग़दर किया तो एन्फील्ड ने ही ग़दर करने वालों को उखाड़ फेंकने में भी सहायता दी।

अगस्त का महीना एक बड़े अभाव का और लखनऊ में घेरे में पड़े लोगों के लिए एक परीक्षा का काल था। शीघ्र सहायता आने की उनकी सारी आशा नष्ट हो गई। निराशा ने उनको अपने प्रति इतना अविश्वासी बना दिया कि हैवलाक की विजय के समाचार में विश्वास करने के लिए भी वे अपने आपको प्रस्तुत नहीं कर सके। घेरा डालने वाले लोग खुलकर यह शेखी मारने लगे कि उन्होंने हैवलाक के सैनिक दस्ते को मार कर पीछे भगा दिया है। ६ अगस्त को गुप्तवार्ता विभाग में काम करने वाला ओधनसिंह नामक एक सिपाही रेजिडेंसी में लौटकर आया, परन्तु वह अपने साथ कोई पत्र नहीं लाया। वह लगातार दो विजयों की खबर लाया, परन्तु मगरवारा तक पीछे हटने का उसका समाचार उत्साहवर्धक नहीं था। एक दूसरे सिपाही ने भी, जो शहर में गया था, ओधनसिंह के कथन का समर्थन किया, परन्तु इस समर्थन से भी उनके सबसे बुरे भय की पुष्टि ही हुई। कितने समय तक सामग्री चलेगी ? कितने दिनों तक टूटी हुई दीवालें गोलाबारी को सहन करेंगी ? शत्रुओं के विस्फोटकारी युद्ध-कार्यों के विरुद्ध लगातार क्षीण होती हुई दुर्ग-सेना कब तक खाई को अपने अधिकार में बनाए रख सकेगी ?

राशन की मात्रा घटानी पड़ी। रीज ने लिखा है, "हमारी महान खुराक में मोटा बहुत अधिक मोटा, गेहूं का बिना छना आटा, माश की दाल, खारी नमक और एक दिन बीच में छोड़ कर गोमांस का एक टुकड़ा, जिसमें आधी हड्डियां होती थीं, ये चीजें सम्मिलित थीं। यह सब सामान मेरे मुख्य बवर्ची के हाथों से गुजरता था जो एक गन्दा काला आदमी था, तीन-चार और व्यक्तियों के लिये भी जो भोजन बनाता था और जिसे मुझे बाध्य होकर बीस रुपये मासिक देने पड़ते थे। इस बवर्ची के हाथ से निकल कर यह सामान इतना गन्दा हो जाता था कि स्पार्टा का तो एक कुत्ता भी इसकी ओर अपनी नाक नहीं

६२. फ़ारेस्ट, हिस्ट्री आफ़ दि इण्डियन म्यूटिनी, जिल्द १, पृ० ५०५.

उठाता। मेरी आधी सिगरेटें भी चुरा ली जाती हैं और सिगरेट पीना अब एक विलास की चीज है, जिसका उपयोग मैं यदा-कदा ही करता हूं।"[६३] जिन लोगों ने अधिक पूर्वोपाय कर लिये थे और दूरदर्शितापूर्वक सामान इकट्ठा कर लिया था, वे अपेक्षित रूप से अच्छी तरह रहे। परन्तु वसे प्रत्येक वस्तु का साधारणतः अभाव था। ३ अगस्त को श्रीमती केस ने लिखा है, "अब यह कहा जाता है कि हमारे पास केवल २० दिन के लिए सामग्री शेष है।" कमिसरियत विभाग का एक कसाई कर्नल इंगलिस की बकरियों में से तीन को मांगने आज सवेरे आया। वह भोजन के लिए उन्हें मारना चाहता था। इससे यह दिखाई पड़ता है कि अब हमें मांस की भी कमी होने जा रही है।"[६४] खाद्य-पदार्थों का मूल्य बहुत ऊंचा चढ़ गया। जब सर हेनरी लारेंस की चीजें बेची गईं तो सूअर की जांघ का एक टुकड़ा ७ पौण्ड में बिका और केवल एक दिन के भोजन के लिए पर्याप्त सूप का एक टिन २५ शिलिंग में। एक दर्जन ब्रांडी की बोतलों के लिये २० पौण्ड देने पड़े और सेमई के एक छोटे से डिब्बे के लिये ५ पौण्ड। चाकलेट की चार छोटी चक्कियों की कीमत २ पौण्ड १० शिलिंग थी।

घेरे की अपनी दुःखान्त घटनाएं थीं, जिनमें से एक अत्यन्त तीखी पीड़ाजनक घटना का उल्लेख श्रीमती केस और लेडी इंगलिस दोनों ने किया है। १४ अगस्त को एक सम्माननीय दिखाई देने वाली स्त्री ब्रिगेडियर की पत्नी से मिलने आई। उसका पिता कैण्ट में एक पादरी था और श्वसुर सेना में एक पदाधिकारी। उसका पति निर्माण-विभाग में एक ओवरसियर था। उसके फेफड़ों में गोली लगी थी और वह तत्काल मर गया था। घेरे के पहले दिन उसके एक बच्चा पैदा हुआ था परन्तु शोक और चिन्ताओं के कारण उसका दूध सूख गया था। वह अपने बच्चे के लिये कुछ पोषण के अलावा और कुछ न चाहती थी। उसके पहले तीन बच्चे मर चुके थे। और यदि हो सके तो इस बच्चे को वह बचाने की चिन्तित थी। श्रीमती इंगलिस के पास दूध देने वाली दो बकरियां थीं और विधवा यह चाहती थी कि उनके दूध में से कुछ थोड़ा यदि उसके बच्चे के लिए भी मिल सके तो अच्छा हो। अभाग्यवश श्रीमती इंगलिश के बच्चे भी दूध चाहते थे और सबके लिए पर्याप्त दूध नहीं था। वह विधवा स्त्री घेरे की मुसीबतों में भी जीवित बच गई, और अन्त में सर कोलिन कैम्पबेल की सहायता से वह अपने घर चली गई, परन्तु बच्चा नहीं बचाया जा सका। बहुत से छोटे बच्चे दूषित पोषाहार के कारण मर गये और अन्य बहुत से हैजे और पेचिश के शिकार हुए।

खाने के अभाव से भी अधिक अफीम की कमी दुखदायक सिद्ध हुई। चोरी के द्वारा लायी गई अफीम का वास्तव में एक लाभकारी व्यापार चल रहा था और घेरे में पड़े सिख लोग बाहर से सेना को छोड़ कर भागे हुए आदमियों से चोरी-चोरी अफीम खरीद कर मंगवा लिया करते थे, परन्तु हर एक नशा करने वाला आदमी चोरबाजार की कीमत नहीं दे सकता था। इस विपत्ति में पड़े लोगों में से एक जोन्स नामक व्यक्ति भी था, "वह

६३. रीज़, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १७४-७५

६४. केस, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १२८-२९

गोरे रंग का, यूरोपीय जैसा दिखाई देने वाला आदमी था जो ब्रांडी का बहुत शौकीन था और उससे भी अधिक अफीम का।" उसे अभी हाल में सार्जेन्ट बना दिया गया था। यूरोपीय सिपाही को प्रतिदिन एक ड्राम शराब मिल जाती थी, परन्तु जोन्स और उसके मित्र अपनी आदत की खुराक के बिना ही रह जाते थे। अन्त में उसने सेना को छोड़ कर भागने का निश्चय किया। उसके साथ बहुत से अवध के राजा के गायक भी चले गये जो सब भारतीय ईसाई थे। कई नौकर भी उनके साथ गए परन्तु वे सब खाली हाथ ही नहीं गये। "वे बहुत सी जगह दीवालों पर लिखा छोड़ गये, 'चूंकि मेरे पास अफीम नहीं है।'"[६५] बाहर जाकर उनका क्या हुआ, यह ठीक पता नहीं चला, परन्तु रीज़ ने बाद में सुना कि वे सब मार दिये गये थे।

११ अगस्त को रेज़िडेंसी का एक भाग धराशायी हो गया और बत्तीसवीं सेना के करीब आधे दर्जन आदमी भग्नावशेषों में दब गये। उनमें से दो को खोद कर निकाला गया, परन्तु केवल एक बचा। श्रीमती केस ने लिखा, "उन पर और उन्हें खोद कर निकालने वाले आदमियों पर बराबर गोली चलती रही। घेरे के शुरू होने के समय से लेकर अब तक यह सबसे अधिक भयानक घटना घटी है। अब चूंकि हर आदमी का जीवन बहुत अधिक मूल्यवान है, इसलिये उसकी हानि का जितना अधिक शोक हम करें वह थोड़ा ही है।"[६६] जब कि मृत्यु और सेना को छोड़ कर भागने के बारे में शोक किया जा रहा था, बचे हुए लोगों की ईमानदारी के बारे में सन्देह उससे भी अधिक चिन्ता पैदा कर रहा था। जिन लोगों पर सन्देह था उन्हें खाई के बाहर नहीं निकाला जा सकता था, परन्तु उन्हें बिना निगरानी के भी नहीं छोड़ा जा सकता था। २३ ता० को रेज़िडेंसी का पीछे का बरामदा गिर गया, परन्तु उससे कोई हताहत नहीं हुआ। २६ अगस्त को श्रीमती इंगलिस ने अपने पति को एक देशी सिपाही की, अपने साथी सिपाहियों की भावनाओं के बारे में, जांच करते देखा। वह लिखती हैं, "सिखों पर विद्रोह का संशय था। जोन्स ने पहले से आवश्यक सावधानी बरत ली थी और उनको इस प्रकार रख दिया था कि वे पूरी तरह बत्तीसवीं सेना की कमान में थे और अपनी जान को खतरे में डाले बिना वे अपने स्थानों को नहीं छोड़ सकते थे। फिर भी अपनी दीवालों के अन्दर विश्वासघात के बारे में सोचना भयानक था।"[६७] श्रीमती केस का कहना है कि सिखों पर सिर्फ इसलिए सन्देह था कि "किसी ने उन्हें यह कहते सुन लिया था कि उन्हें अपना वेतन चाहिए।" यह अच्छी प्रकार कल्पना की जा सकती है कि इस प्रकार के दुखपूर्ण वातावरण में गुलाब, वासमूर्त और रजनीगन्धा के गुलदस्ते श्रीमती जरमन को कितने आनन्दप्रद मालूम हुए होंगे।[६८]

---

६५. लेडी इंगलिस के दि सीज आफ़ लखनऊ, एक डायरी, पृ० १३७ पर देखिए कैप्टन वर्च।

६६. केस, उद्धृत ग्रंथ, पृ० १४६-४७

६७. इंगलिस, उद्धृत ग्रंथ, पृ० १३३

६८. उसके पति ने उसे २६ अगस्त को एक गुलदस्ता भेजा। ए डायरी कैप्ट बाई मिसेज़ आर० सी० जरमन एट लखनऊ, पृ० ८२

६ अगस्त को घेरा डालने वालों ने उत्साहित होकर अपने राजा के राज्याभिषेक की घोषणा अपने शत्रुओं के प्रति की। उन्होंने कहा, "हमने अपने राजा को ताज पहना दिया है। फिरंगियों का शासन अब समाप्त हो गया है और हम जल्दी ही आपके बेलीगार्ड में पहुंचेंगे। विद्रोही सेना को एक वैधानिक मुखिया की बुरी तरह आवश्यकता थी जो सत्ता का प्रतीक हो और जिसके झण्डे के नीचे वे इकट्ठे हो सकें। वैध राजा कलकत्ते में कैद था, इसलिए उसके एक अवयस्क लड़के का चुनाव किया गया और यदि जनरल इनस की सूचना सही है तो उसे ७ जुलाई को नवाब बना दिया गया। यह सन्दिग्ध है कि बिरजिस कादर ने वास्तविक रूप में राजा या नवाब के पद को ग्रहण किया या नहीं, क्योंकि अपनी घोषणा में उसने अपने को वली कह कर पुकारा है। उसका बाप, जो गद्दी से उतार दिया गया था, दिल्ली से स्वतंत्र था, परन्तु अब अवध के नये शासक के राज्याभिषेक की एक शर्त यह थी कि उसे, या ठीक कहें तो उसके परामर्शदाताओं को, बिना कुछ प्रश्न उठाए दिल्ली के सब आदेशों का पालन करना चाहिए। अधिक उत्तरदायित्वपूर्ण सिपाही नेता स्वतः एकीकरण की आवश्यकता को समझते थे। राज्य के मुख्य अधिकार हिन्दू और मुसलमानों में समान रूप से दिए गए और कुछ पुराने मंत्रियों की सेवाएं बुद्धिमानीपूर्वक ली गईं। शराफ़ुद्दौला को प्रधानमंत्री बनाया गया, परन्तु वित्त-विभाग महाराज बालकिशन को सौंपा गया। यदि सम्मू खां को उठा कर मुख्य न्यायाधीश के पद पर पहुंचाया गया तो राजा जैलालसिंह को युद्ध-मंत्री बनाया गया। परन्तु चिनहाट के विजेता बरकत अहमद के दावों पर आश्चर्यजनक रूप से ध्यान नहीं दिया गया और ऐसे दरबारियों को, जिनकी सैनिक योग्यता की कभी जांच नहीं हुई थी, सेना का प्रभार दिया गया। बेगम हजरत महल जो अवयस्क वली की माता थी, उसकी ओर से शासन का सब काम करती थी।

जनरल इनस का कहना है कि राज-शक्ति को प्राप्त करन की इच्छा वाले अन्य व्यक्ति भी थे। फैजाबाद का मौलवी अहमदुल्ला शाह लखनऊ में था और उसका व्यक्तित्व और पिछला लेखा ऐसा था कि उसे विद्रोही परिषद् में स्वाभाविक रूप से एक महत्त्वपूर्ण स्थान मिल गया। यह सन्दिग्ध है कि वह लखनऊ की गद्दी के लिए लालायित था, क्योंकि उसकी मुद्रा की काल्पनिक कहानी के अनुसार वह अपने आपको खलीफात-उल्ला कह कर पुकारता था। उसके पद में लौकिक और आध्यात्मिक अधिकार जुड़े हुए थे और उसके दावों का समझौता किसी पार्थिव शक्ति की अधीनता से नहीं हो सकता था। यह कहा जाता था कि बरकत अहमद और घुड़सवार सेना अवध के शाही वंश के एक शाहजादे, सुलेमान कादर के दावों के पक्ष में थी। सम्भवतः इसी से इस बात का स्पष्टीकरण हो जाता है कि उसकी अपेक्षा प्रभावशाली दल के सदस्यों को तरजीह दी गई। तोपों की जिस गूंज ने खाई में पड़े लोगों में आने वाली सहायता के सम्बन्ध में झूठी आशाएं जगाई थीं, यह वस्तुतः बिरजिस कादर के राज्याभिषेक के औपचारिक उत्सव की सूचक थी। राज्याभिषेक ने सिपाहियों के मनोधैर्य में सुधार किया और उन्हें नये उत्साह की प्रेरणा दी।[६९]

---

६९. इनस, लखनऊ एन्ड अवध इन दि म्यूटिनी, पृ० ११७

यदि राज्याभिषेक ने नगर में उत्साह को बढ़ा दिया तो घेरे में पड़े लोगों के भाग्य में अपने एक और मुख्य नेता की मृत्यु का शोक मनाना लिखा था। सर हेनरी लारेंस, मि० अमन्ने और मेजर बैंक्स को तो वे खो ही चुके थे और अब मुख्य इंजीनियर मेजर एण्डरसन की बारी थी। वह बन्दूक की गोली से नहीं बल्कि पेचिस से मरा। घेरा पड़ने से पूर्व ही उसे यह बीमारी लग गई थी, परन्तु उसने इतना कड़ा परिश्रम किया कि उसे अपने मुख्यालय को छोड़ने का समय ही नहीं मिला। जब वह शारीरिक रूप से इंजीनियरिंग के कार्यों की देखभाल करने में बिलकुल असमर्थ हो गया तभी उसने अपना कार्य-भार कैप्टन फुल्टन को दिया। मेजर एण्डरसन अधिक काम, चिन्ता और विश्राम के अभाव का शिकार था।

हैवलाक के दूसरी बार पीछे हटने ने अवध के ताल्लुकेदारों को गम्भीर रूप से प्रभावित किया। वे अब वली का समर्थन किये बिना नहीं रह सकते थे और अब उनमें से बहुतों ने अपना कर लखनऊ भेज दिया। किसानों और पासी तीरन्दाजों की इन सैनिक टुकड़ियों से, जिनके पास न ठीक प्रकार के हथियार थे, न प्रशिक्षण था और न अनुशासन था, विद्रोहियों की सैनिक शक्ति में सचमुच कितनी वृद्धि हुई, यह अत्यन्त सन्देहास्पद है। परन्तु संख्या ने स्वाभाविक तौर पर उनके मनोधैर्य में सुधार करने में योग दिया और यह कुछ कम लाभ नहीं था क्योंकि उनके पास अब भी गोला-बारूद की कमी थी। २१ अगस्त को ग्यारह साल का एक छोटा लड़का गोलियां इकट्ठा करता हुआ पकड़ा गया था। उसे खाई के अन्दर लाया गया और उससे प्रश्न पूछे गए। उसके कहने से पता चला कि शत्रु रण-क्षेत्र से हमारे हथियारों की चोरी करते थे। वह कोई विशेष सूचना देता हुआ तो नहीं जान पड़ा, परन्तु शत्रु का वर्णन करते हुए वह कहता है कि उनकी संख्या बहुत बड़ी है। लड़का यह भी कहता है कि हमारे शत्रुओं का यह भी इरादा है कि जब हमारी अधिक सेनाएं आएं तो वे उनसे खुले मैदान में लड़ें।"[७०] जो सेना घेरा डाले पड़ी थी उसकी शक्ति के बारे में अगस्त में विभिन्न अनुमान लगाए जा रहे थे और उसकी संख्या बीस हजार से लेकर चालीस हजार तक आंकी जा रही थी। बाद में कैप्टन एण्डरसन ने सुना कि उनकी संख्या पूरी एक लाख थी।

अगस्त मुख्यतः सुरंगों के लगाने का महीना था।[७१] पासी लोग सुरंग लगाने में अत्यन्त कुशल थे और भूमि उनके कार्यों के लिए अनुकूल थी। धरती के अन्दर का संघर्ष वस्तुतः जुलाई से शुरू हुआ। संदेहास्पद आवाज पर कड़ी निगरानी रखनी पड़ती थी और सुरंगों के लिए प्रतिकारी सुरंगें बनानी पड़ती थीं। सुरंगों के युद्ध का सबसे अधिक जोर कैप्टन फुल्टन पर पड़ा जो घण्टों तक एक सन्देहास्पद स्थान पर धैर्यपूर्वक इस प्रकार प्रतीक्षा करता रहता था जैसे चूहे के बिल के पास कुत्ता। कभी-कभी संघर्षशील दल इतने समीप

---

७०. केस, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १६५

७१. २० जुलाई से लेकर ६ अगस्त तक आठ बार सुरंग लगाकर हमले किए गए; १० अगस्त से ४ सितम्बर तक इस प्रकार के १६ हमले हुए। तालिकाबद्ध विवरण के लिए देखिए—इनस, लखनऊ एण्ड अवध इन दि म्यूटिनी, पृ० १६५-६६

बेगम हज़रत महल

आ जाते थे कि उनके बीच में केवल कुछ थोड़े फुट की क्षीण मिट्टी की दीवाल रह जाती थी। १० अगस्त को रेजिडेंसी को दुबारा गम्भीर खतरा उपस्थित हुआ। सवेरे करीब ११ बजे मार्टिनियर के पास एक सुरंग फटी, जिसने लकड़ी के बाड़े के ५० फुट के भाग को साफ कर दिया। फिर इसके बाद लगातार गोलाबारी हुई। कर्नल इंगलिस बाल-बाल बच गया, परन्तु उसके बाद जो आदमी था उसे गोली लगी और वह मर गया। एक दूसरी सुरंग पूर्व की ओर फटी और दो यूरोपीय हवा में उड़ गए, परन्तु एक हल्की झकझोर के अलावा उन्हें और कोई हानि नहीं हुई। उनमें से एक अहाते में गिरा और दूसरा बाहर जाकर पड़ा, परन्तु वह दीवाल को लांघ कर सुरक्षापूर्वक भाग गया। लगातार निगरानी रखने के बावजूद एक और सुरंग सिखों के पास फटी और उसने ३० फुट चौड़ा एक छेद कर दिया। यदि तत्काल सिपाही संकल्पपूर्वक दौड़े होते तो उन्होंने अहाते के अन्दर अपनी स्थिति बना ली होती। परन्तु उनकी हिचकिचाहट का प्रतिरक्षकों ने पूरा-पूरा लाभ उठाया और नौ पौण्ड का गोला फेंकने वाली एक तोप उस जगह लगा दी गई, जिसने छेद को एक छोर से दूसरे छोर तक ढक दिया। रात को कर्नल इंगलिस की व्यक्तिगत निगरानी में यह छेद अवरुद्ध कर दिया गया।

परन्तु घेरे में पड़े लोगों के लिए अगस्त का महीना विश्रान्तिहीन दुःख का भी नहीं था। यदि हर एक कोने से मृत्यु उनकी ओर एकटक देख रही थी तो उन्हें जल्दी ही यह भी आश्वासन दिया गया कि उनके मित्रों का ध्यान उनकी ओर सतत रूप से लगा हुआ है। अंगद ने लौटने में देर की, परन्तु वह कर्नल टाइटलर से दूसरा सम्वाद लेकर ही १५ अगस्त को लौटा। पत्र पर दिनांक ४ अगस्त अंकित था और उसमें लखनऊ को सहायता पहुंचाने के लिए हैवलाक के द्वितीय प्रयत्न की विज्ञप्ति थी। उसमें कहा गया था, "हम कल सवेरे लखनऊ के लिए अभियान कर रहे हैं और हमने अपनी सेना में वृद्धि कर ली है। हम इतनी शीघ्र चाल से आगे बढ़ेंगे जितना हम कर सकते हैं। अधिक से अधिक चार दिन में हम आपके पास पहुंचना चाहते हैं। आपको हमारी सब प्रकार सहायता करनी चाहिए। यदि हम बलपूर्वक अन्दर न आ सकें तो अपना मार्ग काटकर बाहर भी आ जाना चाहिए। हमारी सेना छोटी है।"[७२] अंगद शत्रु के हाथों में पड़ गया था। जब वह बचकर निकलने में सफल हुआ तो उससे पूर्व हैवलाक कानपुर के लिए दुबारा चल चुका था।

दुबारा पीछे हटने की खबर बिल्कुल असन्तोषजनक थी और कर्नल इंगलिस को आशंका थी कि टाइटलर यह अनुभव नहीं करता था कि उसकी स्थिति कितनी हताश है। इसलिए उसने उसे विस्तृत सूचना देना आवश्यक समझा और जनरल हैवलाक को निम्न लिखित पत्र लिखा: "गत रात मुझे कर्नल टाइटलर की मि० गब्बिन्स को लिखी सूचना मिली जो, मगरवारा से इसी महीने की ४ ता० को लिखी गई है। इस सूचना का अन्तिम अनुबन्ध इस प्रकार है, 'आपको हमारी सब प्रकार सहायता करनी चाहिए, यहां तक कि आपको अपना मार्ग काटकर बाहर भी आ जाना चाहिए, यदि हम बलपूर्वक अन्दर न आ सकें।' इससे मुझे बड़ी बेचैनी हो रही है क्योंकि अपनी निर्बल और छिन्न-भिन्न सेना के

७२. गब्बिन्स, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० २८७। रेखांकित वाक्य ग्रीक अक्षरों में थे।

साथ मेरे लिए यह नितान्त असम्भव है कि मैं अपनी प्रतिरक्षा की स्थिति को छोड़ सकूं। आपको यह ध्यान में रखना चाहिए कि मैं किस प्रकार कठिनाइयों में पड़ा हूं। मेरे पास १२० से ऊपर व्यक्ति बीमार और घायल हैं और कम से कम २२० स्त्रियां हैं तथा करीब २३० बच्चे हैं। किसी प्रकार की कोई गाड़ी नहीं है। इसके अलावा २३ लाख के खजाने का बलिदान करना पड़ेगा और विभिन्न प्रकार की करीब ३० तोपों का भी। इस खबर को प्राप्त करने के परिणामस्वरूप मैं सेना के राशन को शीघ्र आधा कर दूंगा, जब तक कि आगे आप मुझे इस सम्बन्ध में कुछ न लिखें। इस प्रकार हमारी सामग्री करीब १० सितम्बर तक चल जायगी। यदि आपको इस सेना को बचाने की आशा है तो बिना समय नष्ट किए आपको आगे बढ़ना चाहिए। हमारा शत्रु हमारी प्रतिरक्षा-पंक्ति से कुछ थोड़े गजों की दूरी पर है और प्रति दिन हम पर आक्रमण कर रहा है। शत्रु की सुरंगों ने हमारी चौकी को पहले ही निर्बल कर दिया है और मुझे पूर्ण सहेतुक रूप से विश्वास है कि वे आगे और सुरंगें लगा रहे हैं। उनकी १८ पौण्ड का गोला फेंकने वाली तोपें हमारी तोपों से १५० गज की दूरी के अन्दर हैं। उनकी स्थिति ऐसी है और हम काम करने वाले दलों को इकट्ठा करने में असमर्थ हैं, इसलिए हम उनका उत्तर नहीं दे सकते और परिणामतः हर घण्टे हमारा जो नुकसान हो रहा है वह बहुत बड़ा है। मेरे पास इस समय ३५० यूरोपीय लोगों और करीब ३०० देशी लोगों की शक्ति है और ये सब आदमी भयंकर रूप से पीड़ित हैं। रेजिडेंसी का एक भाग गोलों की मार से गिराया जा चुका है, इसलिए बहुत-से आदमी शरण-हीन भी हो गए हैं। करीब पच्चीस दिन पहले हमारी देशी सेना को कर्नल टाइटलर के प्रमाण पर यह विश्वास दिला दिया गया था कि आप जल्दी पहुंच रहे हैं। यह सेना स्वाभाविक रूप से अब विश्वास खो रही है और यदि इसके आदमी चले जाएं तो हम नहीं जानते कि प्रतिरक्षा के लिए आदमी कहां से लाएंगे। क्या आपने इस आदमी 'अंगद' से मेरा एक पत्र और योजना प्राप्त कर ली? कृपा कर इस प्रश्न का उत्तर दें।"[७३]

इस पत्र से पता चलता है कि दुर्ग-सेना की कितनी बुरी अवस्था हो गई थी। परन्तु भोजन की समस्या इतनी गम्भीर नहीं थी। यह ठीक है कि अधिकतर मामलों में राशन आधा कर दिया गया था, परन्तु सर हेनरी लारेंस ने एक लम्बे चलने वाले घेरे का पूर्वानुमान कर लिया था और पर्याप्त सामग्री रख ली थी। जब कभी धनवान भारतीय अपनी सेवाओं का प्रस्ताव करते थे तो सर हेनरी लारेंस उन्हें अनाज भेजने के लिए कहता था। इस प्रकार प्राप्त अनाज दावत के बड़े कमरे के पास स्नानागार में जमा कर दिया गया था और कर्नल इंगलिस और उसके परामर्शदाताओं को इस अतिरिक्त खाद्य सामग्री के बारे में कुछ पता न था।[७४] गब्बिन्स की शिकायत थी कि पत्र के इस भाग को सुधारने

---

७३. गब्बिन्स, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० २८९-२९०। गब्बिन्स ने लिखा है, "इस पत्र के सामान्य अभिप्राय से मैं सहमत था, परन्तु मैं समझता था कि हमारी स्थिति, विशेषतः खाद्य-स्थिति के खतरे इसमें बढ़ा-चढ़ा कर दिखाई गई है।

७४. कैप्टन बर्च, लेडी इंगलिस के उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १५६। सैनिक अधिकारी इस खयाल में थे कि केवल दो सप्ताह की खाद्य सामग्री रह गई थी।

के उसके सुझाव को कर्नल इंगलिस ने अस्वीकार कर दिया था। ब्रिगेडियर को कमिसरियत द्वारा दी गई सूचनाएं स्वीकार करनी पड़ीं और गब्बिन्स से यह अपेक्षा नहीं की गई कि उसे अधिक सूचना होगी। जब तक ऊटरम और हैवलाक बलपूर्वक अपना मार्ग बनाते हुए रेजिडेंसी में नहीं पहुंचे तब तक इस छिपे सामान की स्थिति प्रकाश में नहीं आई। यह दोष लगाना कि इंगलिस ने जान-बूझकर अपनी विपत्ति को बढ़ा-चढ़ा कर दिखाया और इस प्रकार हैवलाक को अनावश्यक खतरे उठाने के लिए बाध्य किया, न्याय न होगा।

सहायता की पुकार पर कोई ध्यान न दिया गया हो, ऐसी बात न थी। २९ अगस्त को अंगद एक उत्तर लेकर लौटा। सीधी सड़क सुरक्षित नहीं थी क्योंकि उसे फतहपुर चौरासी जाना पड़ता जो एक विद्रोही ताल्लुकेदार का निवास था और जहां बिठूर में अपनी पराजय के बाद नाना ने शरण ली थी। इसलिए अंगद नानामऊ घाट पर उतर कर हैवलाक से मिला। हैवलाक ने किसी तत्काल सहायता का वचन तो नहीं दिया, परन्तु सर कोलिन कैम्पबेल के भारत आने का शुभ समाचार भेजा। हैवलाक ने लिखा, "मुझे आपका इस मास की १६ ता० का पत्र मिल गया है। मैं सिर्फ यह कह सकता हूं कि बातचीत मत चलाओ, बल्कि तलवार हाथ में लिए हुए मर जाओ। सर कोलिन कैम्पबेल ने जनरल एन्थन की मृत्यु के समाचार प्राप्त होते ही केवल एक दिन की सूचना पर कमान संभाल ली है और उन्होंने मुझे वचन दिया है कि ताजे सैन्य दल मेरे पास आएंगे। मैं सर्वप्रथम आपकी परवाह करूंगा। अतिरिक्त सेनाएं मेरे पास बीस और पच्चीस दिन के बीच पहुंच सकती हैं और मैं लखनऊ पर अभियान करने की हर तैयारी करूंगा।"[७५] अब धैर्यपूर्वक और अधिक सेनाओं के लिए प्रतीक्षा करने के अलावा और कोई चारा न था।

परन्तु दुर्ग-सेना सदा प्रतिरक्षा का कार्य ही नहीं करती रही थी। बार-बार उसके साहसी आदमियों की छोटी-छोटी टोलियों ने, जिनमें यूरोपीय और भारतीय दोनों ने ही विशेषता प्राप्त की, भाग-भाग कर शत्रु पर धावे किए। परन्तु इन छोटे युद्ध-कार्यों के केवल घेरे में पड़े लोगों के मनोधैर्य को सुधारने में ही सहायता की, क्योंकि उन्होंने दिखा दिया कि युद्ध में पहल करना सदा दूसरे पक्ष के हाथ में ही नहीं है। अगस्त का सबसे प्रसिद्ध कार्य जुहानीज के घर का नाश करना था जिसके ऊपर से कानपुर का तोपखाना दिखाई पड़ता था। यहां एक अद्भुत निशानेबाज बैठा दिया गया। अपनी दुनाली राइफल से हर गोली जो वह छोड़ता था अपने निशाने पर बैठती थी और उसके शत्रुओं ने प्रशंसापूर्वक उसका नाम कील ठोकनेवाला बौब रख दिया था। अपने सुरक्षित स्थान पर बैठ कर उसने इतने अधिक आदमी मारे जितने दोनों पक्षों में से किसी एक व्यक्ति ने नहीं मारे थे। शत्रुओं के एक दल ने उनको आश्चर्य में डालते हुए मकान पर सहसा आक्रमण कर दिया। मकान में रहने वाले लोगों को इसका पता न था और बौब अपने स्थान पर मारा गया। परन्तु मकान पर पुनः अधिकार कर लिया गया और बौब के स्थान पर दूसरे लोग आए, जिन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि उनकी पंक्तियों में केवल एक बौब ही कुशल निशानेबाज नहीं था। डूप्रा के घर से कैप्टन फुल्टन ने एक सुरंग लगाई। २० अगस्त को सुरंग में आग लगा दी

७५. गब्बिन्स, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० २९२। रेखांकित शब्द ग्रीक अक्षरों में लिखे थे।

गई और जुहानीज़ का मकान पूरी तरह नष्ट हो गया। विस्फोट के बाद एक सहसाक्रमण हुआ और पड़ोस के कुछ घर नष्ट कर दिए गए।

मि० गब्बिन्स और उसकी पत्नी का एक दैवी ढंग से बचाव हुआ। उनके घर की ऊपरी मंजिल गोलियों से छिदी पड़ी थी। एक गोली उनके बिस्तर में लगी जिस पर वे सो रहे थे और वे भयभीत होकर बिस्तर से बाहर उछल पड़े।

सितम्बर का महीना अंग्रेजों के लिए बहुत शुभ था। इसने दिल्ली का पतन देखा और लखनऊ के लिए अतिरिक्त सैन्य दलों का आना। परन्तु अतिरिक्त सैन्य दलों के आने का अर्थ सहायता न थी। इसी समय मूल्य बहुत चढ़ गये। इस महीने के पहले दिन रीज़ ने लिखा है, "जीवनोपयोगी वस्तुएं कभी-कभी मिल जाती हैं, कैसे और कहां से यह हम पूछते ही नहीं। आटा एक रुपये प्रति सेर है; घी, जो बहुत पुराना मिलता है, १० रुपये प्रति सेर है; शक्कर १६ रुपये प्रति सेर, देसी तम्बाकू की पत्ती दो रुपये की एक पत्ती, ब्राण्डी की एक दर्जन बोतलें १५० रु० से १८० रु० तक, बीयर की एक दर्जन बोतलें ७० रु०, सूअर का मांस ६० रु०, अचार की एक बोतल २० रु० और इसी प्रकार अनुपात में अन्य सब वस्तुएं। मैंने तम्बाकू पीना बन्द कर दिया और इसके स्थान पर चाय की पत्तियां, नीम की पत्तियां और अमरूद की पत्तियां प्रयोग में ला रहा हूं और बेचारे सिपाही भी सतत रूप से ऐसा ही कर रहे हैं।"[७६] एक सिगार उस समय तीन रुपये में मिलता था। ७ ता० को श्रीमती केस ने लिखा कि "साबुन इतनी दुर्लभ वस्तु हो गई है कि छोटे-छोटे वर्गाकार टुकड़े सात रुपये प्रति टुकड़े के हिसाब से बिक रहे हैं।"[७७] खाई में किसी आदमी के पास इतने कपड़े नहीं थे कि वह अधिक बार उन्हें बदल सके। वास्तव में उन्हें कपड़े बदलने के लिए समय ही नहीं मिलता था, यदि उनके पास कपड़े होते भी। कर्नल इंगलिस १६ मई से अपने कपड़ों को उतार कर नहीं सोया था। साबुन की कमी ने रेजिडेंसी की अत्यन्त पीड़ित आबादी को इस प्रकार उस स्वास्थ्य-रक्षा सम्बन्धी सहूलियत से भी वंचित कर दिया जो उन्हें अब तक मिलती रही थी। धोबियों की सेवाओं को भी वे प्राप्त नहीं कर सकते थे, क्योंकि पहले तो खाई में धोबी थे नहीं और फिर बिना मांड और साबुन के धुलाई का भाव दस रुपये प्रति दर्जन था। बहुत-से आदमी बिना दूध और शक्कर के रहते थे। १७ सितम्बर को श्रीमती इंगलिस ने तीन रुपये प्रति पौण्ड के हिसाब से कुछ काफी खरीदी। एक पौण्ड चाय आठ रुपये में बिकती थी। १९ सितम्बर को कैप्टन मेन्सफ़ील्ड की चीजें बेची गईं। एक पुरानी फलालैन की कमीज ५५ रु० में बिकी और ब्राण्डी की एक बोतल २१ रु० में।[७८]

श्रीमती केस सूचना देती है कि ५ सितम्बर को महिलाओं के कमरों की दीवाल का

---

७६. रीज़, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० २०५-२०६

७७. केस, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १८५

७८. वही, पृ० १९७-९८। १८ सितम्बर को श्रीमती केस को एक सस्ता धोबी मिला जिसने बिना साबुन या मांड के कपड़े धोने के लिए प्रति सैकड़ा चौदह रुपये लिए।

एक भाग उस समय गिरा दिया गया जब वे भोजन कर रही थीं, इसलिए उन्हें अपने सोने के छोटे कमरे में खाना खाना पड़ा। "मात्र परिवर्तन जो चौबीस घण्टों में हम पर आया वह यह था कि हमें अपने भोजन के लिए दूसरे कमरे में जाना पड़ा। इसलिए हम पहले की अपेक्षा अब अधिक रूप से बन्दी हैं।"[७९] महिलाओं का निवास क्षेत्र छोड़ दिया गया और उसमें रहने वाली स्त्रियां अधिक सुरक्षित स्थानों में चली गईं।

इस महीने के प्रारम्भ में शाहगंज के शक्तिशाली ताल्लुकेदार राजा मानसिंह ने एक बड़ी सेना के साथ लखनऊ के पड़ोस में डेरा डाला। इस खबर से दुर्ग-सेना को पूरी तरह से प्रसन्नता हुई हो ऐसी बात न थी, क्योंकि राजा का रुख अब तक अनिश्चित था। उसने अभी निश्चित रूप से अंग्रेज़ों के उद्देश्यों के साथ अपने को बांधा नहीं था और शर्तों के लिए बातचीत चला रहा था। इसलिए उसकी उपस्थिति चिन्ता और आशा दोनों का ही कारण थी। यदि वह विद्रोहियों से मिलने का निर्णय करता तो रेजिडेंसी के मुट्ठी भर अंग्रेज़ और भारतीय एक पराभूत करने वाली संख्या के द्वारा कुचल डाले जाते। यदि दूसरी ओर वह उनकी सहायता करने का निश्चय करता तो दुर्ग-सेना सकारण रूप से अपनी रक्षा करने और शत्रु को मार कर पीछे हटाने की आशा कर सकती थी। कुछ भी हो, १४ सितम्बर को एक असाध्य विपत्ति पड़ी। कैप्टन फुल्टन के सिर में एक गोली लगी और वह तत्काल मर गया। एक अर्थ में फुल्टन प्रतिरक्षा की आत्मा था। गब्बिन्स कहता है कि उसने ही प्रथम बार मच्छी भवन में एक दूसरी चौकी रखने की गलती को पहचाना। उसने उन खतरों का अल्प मूल्यांकन नहीं किया, जो लखनऊ के प्रतिरक्षकों को सहन करने थे, परन्तु उसने अपने को उनसे पराभूत नहीं होने दिया और उसका आशावाद दूसरों में भी आशा का संचार करता था। "इस बात से सब सहमत होंगे कि फुल्टन को 'लखनऊ का प्रतिरक्षक' इस उपयुक्त उपाधि से विभूषित किया जाए।"[८०]

यद्यपि फुल्टन की मृत्यु एक गहरी चोट थी, फिर भी आह्लादजनक समाचार के आने में भी देर न थी। १६ सितम्बर को अंगद को फिर एक पत्र के साथ भेजा गया। इंगलिस ने हैवलाक को लिखा, "मेरे पिछले पत्र की तारीख से शत्रु लगातार बिना रुके इस स्थिति के विरुद्ध प्रयत्न जारी रख रहा है और दिन या रात में गोली चलाना कभी नही रुका है। आठ दिन में मेरे पास आदमियों के लिए शराब नहीं बचेगी। हम घटे हुए राशन पर रह रहे हैं। फिर भी मैं अगले मास की १८ ता० तक साधारणतः सबको ठीक तरह से रखने की आशा कर रहा हूं। यदि आपने उस समय तक हमारे पास सहायता नहीं भेजी तो हमारे पास मांस बिलकुल नहीं बचेगा क्योंकि कुछ बैल हमें तोपों को स्थिति पर लगाने के लिए भी बचाने पड़ेंगे और मेरे आदमी बिना जानवर का मांस खाये कठिन परिश्रम का काम नहीं कर सकेंगे। देशी सिपाहियों को पुनः आश्वासन देने के लिए मैं आपके आगे बढ़ने का समाचार सुनने के लिए बहुत उत्सुक हूं।"[८१]

---

७९. केस, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १८३

८०. गब्बिन्स, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ३२१

८१. फ़ारेस्ट, ए हिस्ट्री आफ़ दि इण्डियन म्यूटिनी, जिल्द १, पृ० ३२४-२५

वास्तव में भारतीय सिपाही अपने स्वामियों के लिए एक समस्या बन गए थे। उन पर यह संदेह था कि वे छिपकर विद्रोहियों के साथ पत्र-व्यवहार कर रहे हैं। यह ठीक है कि कोई लेखबद्ध साक्ष्य न था, परन्तु अंगद ने एक से अधिक बार ज्ञापित किया था कि बाहर घेरा डालने वालों को उन सब बातों की पूरी सूचना थी जो खाई के अंदर हो रही थीं।[८२] कुछ सिख और स्थानीय आदमी सेना छोड़ कर भाग गए थे और यह सन्देह किया जाता था कि वे अंदर के अपने बन्धुओं से सम्पर्क बनाए हुए हैं। इसलिए पहले ऐसे सावधानी के से उपाय किए गए जिनसे और अधिक आदमी सेना को छोड़ कर न भागें। अनिश्चित स्वामिभक्ति के आदमी चुपचाप ऐसी चौकियों को स्थानान्तरित कर दिए गए जहां से बचकर भागना साधारणतः कठिन था। गब्बिन्स ने उनसे कहा कि वे अपने बचाये हुए रुपयों को उसके पास जमा कर दें। इसमें उद्देश्य यह था कि कठिनता से कमाए गए अपने पैसे को खोने का भय सिपाहियों को भागने से रोकेगा।[८३] परन्तु अविश्वास भी साधारणतः संक्रामक होता है। भारतीय आदमी समझता था कि उसपर विश्वास नहीं किया जा रहा और उसके अफसर का उदाहरण सदा उसके अन्दर विश्वास और आशा की प्रेरणा नहीं देता था। जेम्स ग्राहम ने आत्महत्या कर ली और इसका एक अवसादकारी प्रभाव ही सम्पूर्ण दुर्ग-सेना पर पड़ सकता था।[८४] घेरा डालने वाले लोग अंग्रेज़ी सेना में लगे भारतीय सिपाहियों को धर्मत्यागी कह कर उलाहना देते थे और उनसे कहते थे कि उन्होंने केवल अपना धर्म ही नहीं छोड़ दिया है बल्कि उसके विरुद्ध वे लड़ भी रहे हैं। अंगद के संवाद अब अधिक गम्भीरता के साथ नहीं लिए जाते थे। इशारे से यह सुझाव किया जाता था कि यह आदमी कभी रेज़िडेंसी को छोड़ कर नहीं जाता, बल्कि समय-समय पर अपने छिपने के स्थान से अंग्रेज़ लोगों की विजयों के बारे में झूठी कहानियां गढ़ कर यहां लाता है जिससे कि वे भ्रम में पड़े रहें। उनमें से कुछ यह भी अनुभव करते थे कि उन्होंने एक हारने वाले पक्ष के साथ अपने को सम्बद्ध कर लिया है। इसलिए अब यह उचित समय समझा गया कि उनकी सहायता के लिए और अधिक सेनाओं के आने के बारे में कोई स्थूल साक्ष्य मिलना चाहिए। थकी हुई दुर्ग-सेना का यह सौभाग्य था कि इस प्रकार का साक्ष्य शीघ्रता से मिल गया। २२ ता० को अंगद यह समाचार लेकर आया कि सहायता के लिए आने वाली सेना बिलकुल पास आ पहुंची है। वह एक पत्र हैवलाक से नहीं बल्कि ऊटरम से लाया जिस पर दिनांक २० सितम्बर पड़ा हुआ था और जिसमें यह शुभ सम्वाद दिया गया था कि "कल सेना ने नदी पार की और सब प्रबन्ध पूरा हो जाने के बाद कल आप के पास आने के लिए अभियान कर रही है और भगवत्कृपा से अब आप को सहायता देगी। हमने सुना है कि हमारे शहर में पहुंचने पर विद्रोही लोग आप पर एक जोर का धावा करने का इरादा कर रहे हैं। जैसे ही हम शहर पर आक्रमण करेंगे विद्रोही लोग आप पर इस आशा में निगरानी रखेंगे कि आप अपनी कुछ दुर्ग-सेना

---

८२. गब्बिन्स उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ३०७

८३. वही, पृ० ३०६

८४. रीज़, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० २२०

हमारी सहायता के लिए उपलब्ध करेंगे। मैं आप को चेतावनी देना चाहता हूं कि आप अपने युद्ध-कार्यों से विरत होने के लोभ में न पड़ें। जब आप हमें अपने पड़ोस में युद्ध-रत देखें तो आप केवल इतनी सेना ही हमारी सहायता के लिए प्रस्तुत करें जिससे आपकी स्थिति को किसी प्रकार का खतरा न हो।"[८५] २३ ता० को कानपुर की तरफ दूर से तोपों की स्पष्ट आवाज सुनाई पड़ी और जैसे-जैसे दिन चढ़ता गया आवाज और अधिक जोरदार होती गई। २५ ता० को हैवलाक और ऊटरम ने रेजिडेंसी में प्रवेश किया। परन्तु लखनऊ को सहायता नहीं दी गई, वहां केवल अधिक सैन्य दल भेजे गए।

जिस समय ग़दर शुरू हुआ था सर जेम्स ऊटरम ईरान में था। एक अत्यावश्यक बुलावा भेज कर उसे वापस बुलाया गया था और वह बम्बई और लंका होता हुआ समुद्र-मार्ग से २१ जुलाई को कलकत्ते आ पहुंचा। इसी समय गवर्नर-जनरल निचले प्रान्तों की सुरक्षा के सम्बन्ध में गहरे रूप से चिन्तित था। दानापुर में सिपाहियों ने ग़दर कर दिया था और आरा की दुर्घटना ने स्थिति को और अधिक बुरा बना दिया था। पहले यह इरादा किया गया था कि मध्यवर्ती भारत की सेना की कमान ऊटरम को दे दी जाय, परन्तु संकटकालीन परिस्थिति की मांग थी कि उसकी सेवाओं का लाभ देश के उत्तर भाग को मिले। इसलिए दानापुर और कानपुर के सैनिक डिविज़न मिला दिए गए और उन्हें संयुक्त रूप से उसकी कमान में रख दिया गया। उसे विशेष काम यह दिया गया कि वह बरहमपुर से लेकर बनारस तक निचले प्रान्तों में शान्ति स्थापित रखे। कानपुर में हैवलाक की स्थिति अधिक अच्छी नहीं थी। युद्ध और व्यापक बीमारी ने उसकी सेना की संख्या को बुरी तरह घटा दिया था और उसके पास केवल ७०६ क्रियाशील सैनिकों का सैन्य दल था। यदि ग्वालियर के विद्रोही उसकी ओर मुड़ कर आते तो वह अपनी घटी हुई शक्ति से कानपुर को अपने अधिकार में रखने की आशा नहीं कर सकता था। २,००० सिपाहियों की सेना के साथ वह किसी भी विद्रोही सेना का मुकाबला करने को तैयार था। वह इससे लखनऊ को भी सहायता पहुंचा सकता था और आगरे या दिल्ली के लिए अभियान कर सकता था, परन्तु यदि उसे समय पर अतिरिक्त सैन्य दल नहीं मिले और इसी बीच यदि ग्वालियर के सैन्य दल उसके विरुद्ध आ डटे तो इसको छोड़कर उसके पास और कोई विकल्प न था कि वह कानपुर को छोड़ दे और वापस इलाहाबाद आ जाए।[८६] गवर्नर-जनरल की परिषद् के एक सदस्य ने इस विकल्प की सलाह दी थी, क्योंकि बनारस के साथ तार का सम्बन्ध टूट चुका था। परन्तु लखनऊ की बहादुर दुर्ग-सेना का बलिदान नहीं किया जा सकता था। लखनऊ अन्तिम चौकी थी, जिस पर अवध में अंग्रेज़ों का अधिकार था और उसे बचाया जाना था। ऊटरम की प्रारम्भिक योजना यह थी कि बनारस से जौनपुर मार्ग के द्वारा लखनऊ को अभियान किया जाए और इस प्रकार उन अनेक नालों से बचा जाए जो कानपुर से जाने वाली सीधी सड़क को काटते हैं। किन्तु ज्यों ही उसे उन बातों का पता चला जिससे हैवलाक को खतरा था, उसने अपनी योजनाएं बदल दीं

८५. फ़ारेस्ट, उद्धृत ग्रन्थ, जिल्द १, पृ० ३२७

८६. वही, जिल्द २, पृ० १४-१५

और सेनाओं को कानपुर भेज दिया गया। बन्नी के पुल के बारे में उसे जो सूचना मिली थी उसका भी उसके निर्णय पर काफी प्रभाव पड़ा। उसका यह ख्याल था कि पुल नष्ट कर दिया गया है। जब उसे पता लगा कि पुल अभी तक सही-सलामत है तो उसने जौनपुर के रास्ते से लखनऊ को सहायता पहुंचाने की अपनी पहली योजना छोड़ दी।

ऊटरम और हैवलाक पुराने मित्र थे। हैवलाक ने ऊटरम के अधीन ईरान में सेवा की थी। इसलिए संयुक्त कमान के सेनापति के रूप में ऊटरम की नियुक्ति का कड़े रूप में यह अर्थ नहीं लगाया जा सकता था कि कैसे हैवलाक के ऊपर तरजीह दी गई है। फिर भी इससे हैवलाक को एक दुःखपूर्ण निराशा हुई होगी। उसे कानपुर के युद्ध में सफलता पर सफलता मिली थी। इसमें उसका दोष नहीं था कि वह व्हीलर को या बीबीगढ़ के अभागे बन्दियों को बचाने के लिए बहुत देर से आया। लखनऊ को सहायता पहुंचाने में असफलता के लिए भी उसे दोष नहीं दिया जा सकता था। उसने विद्रोही सेना पर तीन महत्वपूर्ण विजय प्राप्त की थीं, परन्तु बुद्धिमत्ता के कारण उसे अपने आदमियों को बाध्य होकर पीछे हटाना पड़ा था। अब जब कि अन्त में अतिरिक्त सैन्य-दल आ रहे थे, यह उसका दुर्भाग्य ही था कि उसे अपने देशवासियों को सहायता पहुंचाने के यश से वंचित होना पड़ा। यह सब ऐसा लगता था जैसे मानों उच्चतर अधिकारियों ने उसके कार्य का अनुमोदन न किया हो। अन्तिम बात पर उसे प्रधान सेनापति ने पुनः आश्वस्त किया। एक अत्यन्त प्रशंसात्मक तार में स्वीकार किया गया कि, "गत कठिन युद्ध-कार्यों में जिस सतत शक्ति, सत्वर प्रतिक्रिया तथा उत्साहपूर्ण कार्य से आपकी सब कार्यवाहियां लक्षित रही हैं, वे उच्चतम प्रशंसा के योग्य हैं।"[८७] फिर भी अवध की राजधानी को पुनः प्राप्त करने का उच्चतम सन्तोष उसके हाथ से निकलता ही दीख पड़ता था जब कि वह करीब-करीब उसकी पहुंच में था।

परन्तु ऊटरम ने हैवलाक को उसके सैनिक जीवन के उच्चतम यश से वंचित नहीं किया क्योंकि वह समझता था कि इस प्रकार का अवसर मनुष्य के जीवन में दुबारा नहीं आता,। ऊटरम कलकत्ता से स्टीमर के द्वारा भागलपुर और दानापुर होता हुआ बनारस आया, जहां से उसने यह पत्र भेजा, "मैं अतिरिक्त सैन्य दलों के साथ आपसे मिलूंगा परन्तु लखनऊ को सहायता पहुंचाने का यश आपका ही रहेगा क्योंकि इस उद्देश्य के लिए आपने पहले से ही इतनी उदात्तता से संघर्ष किया है। मैं केवल कमिश्नर की असैनिक हैसियत से आपके साथ रहूंगा और अपनी सैनिक सेवाओं को मैं आपको इस प्रार्थना के साथ सौंपता हूं कि आप कृपा कर एक स्वयंसेवक के रूप में मुझे अपने नीचे रख लें। लखनऊ की दुर्ग-सेना को डटे रहने के लिए साहस दें। कर्नल इंगलिस के साथ संचार साधन स्थापित करने में खर्च की परवाह न करें।" वीरता की सर्वोत्तम परम्परा के योग्य यह एक उदात्त कार्य था, भले ही इसका औचित्य संदिग्ध हो। क्या ऊटरम के लिए यह उचित था कि वह अपने भारी उत्तरदायित्वों को, जिन्हें उसके पद ने उसके ऊपर डाला था, दूसरे सिपाहियों के

---

८७. फ़ारेस्ट, ए हिस्ट्री आफ़ दि इण्डियन म्यूटिनी, जिल्द २, पृ० १३

कन्धों पर डाले ? यदि कुछ गलती हो गई तो कौन उत्तरदायी होगा ? यदि हर एक सेनापति इस प्रकार विषमावस्था में अपने कर्तव्यों को अपने से बाद के आदमी को सौंपने लगे तो सैनिक अनुशासन की व्यवस्था कैसी होगी ? ऊटरम ने प्रश्न के केवल एक पक्ष की ओर देखा, अर्थात यह विश्वास कि इस साहसपूर्ण कार्य में सफलता की आशा थी, परन्तु उसने असफलता के परिणामों को बिलकुल भुला दिया। यह कहना कठिन है कि जब एक साम्राज्य का भाग्यनिर्णय होने जा रहा हो तो सदाशयता कहां तक बरती जा सकती है। परन्तु ऊटरम के पक्ष में यह तर्क दिया जा सकता है कि वह हैवलाक को पहचानता था और वह यह भी जानता था कि वह सदा उसके पास ही रहेगा और जिस क्षण आवश्यकता होगी कमान स्वयं सम्भाल लेगा। फिर ऊटरम का निर्णय प्रधान सेनापति को भेज दिया गया था और उसे उसका तथा गवर्नर-जनरल का भी अनुमोदन प्राप्त था। ऊटरम की नियुक्ति के समय सपरिषद्-गवर्नर-जनरल को हैवलाक के दूसरी बार पीछे हटने के बारे में पता नहीं था। उन्होंने सम्भवतः यह मान लिया था कि उसने अपने उद्देश्य को पहले ही पूरा कर लिया है। सर जेम्स ऊटरम के इस असाधारण त्याग के साथ सहमति प्रकट करके कैम्पबेल और कैनिंग ने भी समान रूप से अपने को उत्तरदायी बना लिया था और यह स्पष्ट था कि वे भी यह नहीं चाहते थे कि हैवलाक के महान कार्यों ने उसे जिस अवसर का पूर्ण अधिकारी बनाया है उससे उसे वंचित रखा जाए।

ऊटरम १५ सितम्बर को कानपुर आया। उसके साथ उसका बलाधिकरणिक (चीफ़ आफ़ स्टाफ़) भावी मगदल का लार्ड नेपियर भी था जो एक असाधारण योग्यता का और विशेषता प्राप्त सिपाही था। १८ ता० को तैरने वाला पुल पूरा हो गया और दूसरे दिन सेना लखनऊ के लिए यात्रा करने लगी, इस बार अपने गन्तव्य स्थान पर पहुंचने के लिए सहायता के लिए जाने वाली इस सेना में सब प्रकार के हथियारों के २७७९ यूरोपीय सिपाही थे और ४०० भारतीय सिपाही थे जिनमें कम से कम ३४१ सिक्ख थे। उन्हें पहले विरोध का सामना मगरवारा में करना पड़ा परन्तु इस बार उन्नाव या बशीरतगंज में लड़ाई नहीं हुई। सबसे बड़े आश्चर्य की बात यह हुई कि बन्नी पुल पर होकर सई नदी के मार्ग में रुकावट नहीं डाली गई, क्योंकि सीधी भागती हुई विद्रोही-सेना पुल को नष्ट करने के लिए नहीं ठहरी थी। अंग्रेज सेनापतियों को निश्चयतः इतने बड़े सौभाग्य की आशा नहीं थी और वे लखनऊ के पड़ोस में आलम बाग नामक स्थान पर २३ ता० को पहुंच गए। यहां एक शक्तिशाली सेना उनकी प्रगति को रोकने के लिए खड़ी थी। परन्तु विद्रोहियों को भगा दिया गया और लखनऊ के लिए सड़क साफ थी।

सबसे छोटा मार्ग अक्सर सबसे सुरक्षित नहीं हुआ करता। सबसे सीधा रास्ता चारबाग पुल और नहर पर होकर था, परन्तु इस पर जाने से भीषण गोली की लड़ाई लड़नी पड़ती जिससे भारी जीवन-हानि होती। सबसे सुरक्षित मार्ग यह था कि पूर्व की ओर से बढ़ा जाय और दिलकुशा तक अभियान करके गोमती को पार किया जाय और फिर बाईं ओर मुड़ कर लोहे के पुल पर अधिकार कर लिया जाए और नगर की ओर फिर नदी पार कर बादशाह बाग को ले लिया जाय और तब

रेजीडेंसी को सहायता दी जाय। परन्तु भारी वर्षा ने सड़क के कुछ भाग को भारी तोपखाने के जाने के अयोग्य बना दिया था। सहायता देने वाली सेना एक मार्ग से भी, जिसे इनस ने नहर के भीतर का मार्ग कह कर पुकारा था, अपने लक्ष्य स्थान पर पहुंच सकती थी। यह मार्ग भी चारबाग पुल पर होकर जाता था, परन्तु रेजिडेंसी के लिए सीधे चलने के बजाय इससे सेना को दाईं ओर मुड़ना पड़ता, नहर के भीतर की ओर शहर का चक्कर लगा कर खुली जगह में पहुंचना पड़ता, जहां से बाईं ओर मुड़ कर रेजिडेंसी की ओर आगे बढ़ना पड़ता, उस मैदान में से होकर जो कैसर बाग और दूसरे महलों तथा नदी के बीच में पड़ता था।"[८८] इस रास्ते को ऊटरम ने पसन्द किया और हैवलाक ने २५ सितम्बर को सवेरे इसी मार्ग का अनुसरण किया क्योंकि पुल से परे किसी गम्भीर लड़ाई की आशंका नहीं थी। पुल के ऊपर के मार्ग के लिए बड़ा मुकाबला हुआ, परन्तु उसके बाद अंग्रेजी सेना की क्या हलचल होगी, इसका पूर्वानुमान नहीं किया गया था। अवध के नेताओं ने पुल से रेजिडेंसी तक जाने वाले सीधे मार्ग को दृढ़ता से अवरुद्ध कर दिया था और उन्हें अपनी गलती तब तक मालूम नहीं पड़ी जब तक कि उनके शत्रुओं ने बेगम कोठी पर अपना अधिकार नहीं कर लिया और वे सिकन्दर बाग नहीं पहुंच गए। अंग्रेजी सैनिक दस्ता रेजिडेंसी से ११०० गज दूर मोती महल पर रुका। मोती महल और रेजिडेंसी के बीच में छत्तर मंजिल नामक अनेक महल थे। छत्तर मंजिल के लिए कोई प्रवेश-द्वार नहीं था और खास बाजार में होकर एक चक्करदार मार्ग से जाना पड़ता था। दोनों सेनापति सैनिक दस्ते को लेकर साण्डर्स की चौकी में होकर रेजिडेंसी में घुस गए। यह महान वीरतापूर्ण कार्य भयंकर हानि उठाकर किया गया। इस सैनिक दस्ते के आलम बाग छोड़ने से पूर्व २०७ अफसर और जवान हताहत हुए। २५ और २६ ता० को उनकी हानि ३१ अफसरों और ५०४ जवानों तक पहुंच गई। मरे हुए लोगों में वीर नील भी था जिसे "ब्रिटिश सेना का मूर्त आदर्श" कहा जाता है।

लेफ्टिनेंट-जनरल मैक्लाउड इनस का कहना है कि "यद्यपि हैवलाक की सेना को जो हानि उठानी पड़ी उस पर हमें शोक प्रकट करना पड़ता है, परन्तु फिर भी जिन कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करनी पड़ी और जितनी शक्ति को विरोधी सेना का सामना करना पड़ा, उनको देखते हुए हमारी हानि बहुत तुच्छ थी। एक साहसिक महान कार्य बिना हानि के सम्पन्न नहीं किया जा सकता।" वह आगे टिप्पणी करते हुए कहता है कि २५ सितम्बर की शाम का यह मिलना यद्यपि पारिभाषिक सैनिक अर्थ में लखनऊ रेजिडेंसी की सहायता नहीं माना जा सकता, परन्तु फिर भी साधारण बुद्धि की दृष्टि से यह सब आवश्यक बातों में दुर्ग-सेना के लिए एक सहायता ही थी। भयंकरतम कठिनाई में यह एक मदद थी। सिर पर मंडराने वाले खतरे से यह एक बचाव था। सुरक्षा-पंक्ति में बिना एक क्षण की चेतावनी के भी दरार पड़ने की जो सम्भावना थी और जिसके कारण विपत्ति और पीड़ा का महान भय उपस्थित हो रहा था, उससे इसने विश्रान्ति दी। यह बहुत सम्भव था

८८. इनस, लखनऊ एण्ड अवध इन दि म्यूटिनी, पृ० २१८

कि सुरक्षा-पंक्ति को भेद कर शत्रु, जो पहले से ही तैयार था, बड़ी भारी संख्या में अन्दर घुस आता और उसको रोकने वाला कोई नहीं था। और फिर जब हम यह याद करते हैं कि दिल्ली से सिपाही आकर निकट भविष्य में विद्रोहियों की संख्या में वृद्धि कर सकते थे और खाइयों में भी सिपाहियों के मन में एक संशयालु भावना विद्यमान थी, तो इन सब बातों को देख कर हमें इस बारे में सन्देह नहीं रह जाता कि हैवलाक के यहां आने से लखनऊ की दुर्ग-सेना उस दुर्भाग्य से बच गई जिसका खारतूम में गार्डन को सामना करना पड़ा था।"[८९] रेजिडेंसी के एक और निवासी का भी यही मत था कि हैवलाक और ऊटरम ठीक समय पर रेजिडेंसी पहुंचे थे। "यदि वे समय पर न आए होते तो हमारे देशी सैन्य दल, जिन्होंने उस समय तक अच्छा व्यवहार किया था और अनुकरणीय स्वामिभक्ति के साथ हमारे पीछे रहे थे, हमें निश्चय ही छोड़कर चले जाते। और यदि वे ऐसा करते तो सकारण रूप से हम उन्हें दोषी भी नहीं ठहरा सकते थे क्योंकि जीवन सभी को प्यारा है और आशा हमें लगभग बिल्कुल छोड़ चुकी थी।" उसने आगे यह भी कहा कि अधिक देर आगे डटे रहना बिलकुल असम्भव था। "कानपुर की दुर्घटना का पुनः लखनऊ में अभिनय होता, अथवा हमें, जैसा करने के लिए हम एक बार बात भी कर रहे थे, अपनी स्त्रियों, बच्चों और घायलों को विद्रोहियों के हाथों में पड़ने से बचाने के लिए, बन्दूकों से उड़ा देने के लिए बाध्य होना पड़ता और हम स्वयं भग्नावशेषों पर लड़ते हुए मर जाते।"[९०]

पहली सहायता अपनी दुःखान्त कहानियों से रहित नहीं थी। हैवलाक के सैन्य दलों ने हर काले चेहरे को शत्रु मानना सीखा था और उनके शिकार वे कुछ थोड़े-से स्वामिभक्त सिपाही हुए जिन्होंने इतने लम्बे समय तक घेरे की मुसीबतों को अंग्रेज़ों के साथ झेला था और प्रतिरक्षा की कठिनाइयों में उनका साथ दिया था।[९१] इससे भी अधिक तीव्र पीड़ाजनक अन्त श्रीमती बारट्रम का हुआ। उसका पति गोंडा में सैनिक शल्य-चिकित्सक था। जब सर हेनरी लारेंस ने यह आदेश दिया कि बाहर की चौकियों से स्त्रियों को लखनऊ में भेज दिया जाय तो वह पहले सिकरोड़ा आई और फिर वहां से सिपाहियों की एक टुकड़ी की सुरक्षा में रामनगर आई। उसने वहां और शरणार्थियों को पाया और उनके साथ वह लखनऊ आई। डा० बारट्रम ने, जो पीछे रह गया था, बलरामपुर के राजा के यहां सुरक्षित शरण-स्थान पाया। उसने मित्रों की तरह सिपाहियों से "आंसू बहाते हुए" विदाई ली और बहुत-से सिपाही मार्ग में उसके साथ भी गए। डा० बारट्रम हैवलाक की

८९. इनस, लखनऊ एण्ड अवध इन दि म्यूटिनी, पृ० २२५

९०. रीज़, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० २४८

९१. जायस, आरडियल एट लखनऊ, पृ० २३५। हैवलाक के सिपाहियों ने व्रत ले लिया था कि वे कभी किसी ग़दर करने वाले से कोई सम्बन्ध नहीं रखेंगे। सचमुच वे लोग हर काले चेहरे को शत्रु चेहरा समझते थे, इसलिए जिन स्वामिभक्त सिपाहियों ने शत्रु के विरुद्ध आक्रमण करने में भाग लिया था, उन्हें दूसरों से पृथक करने के लिए उनकी बांहों पर लाल बाजूबन्द बांधे गए थे।" पृ० २६८

सेना में सम्मिलित हो गया और जिस दिन सहायता सेना आई उससे एक दिन पूर्व उसकी पत्नी को पता लगा कि उसका पति उसके साथ अच्छी तरह सुरक्षित रूप से है। उसने स्वयं और अपने बच्चे को अच्छे कपड़े पहनाये और अपने पति के पुर्नमिलन की प्रतीक्षा करने लगी। कुछ अफसरों ने उसे बताया कि डा० बारट्रम के कल आने की आशा है, परन्तु वह कभी नहीं आया। अन्त में उसे भयंकर सत्य का पता लगा और वह था कि रेजिडेंसी के दरवाजे के ठीक बाहर उसका पति मार दिया गया था। उसका बच्चा भयंकर रूप से निर्बल और दुबला-पतला था और उसमें जो कुछ शक्ति थी वह भी घेरे के समय पोषण के अभाव में समाप्त हो गई थी। बेचारा बच्चा कलकत्ते में मर गया और श्रीमती बारट्रम ने, अपने पति और इकलौते बच्चे से विरहित होकर अपने घर को अकेले यात्रा की।[९२] युद्ध पीड़ित हृदयों और टूटे घरों का कोई हिसाब नहीं रखता। ग़दर के कारण गोरे और काले लोगों की समान रूप से क्षति हुई।

रेजिडेंसी की उल्लास-भावना शीघ्र ही एक सामान्य निराशा की भावना में परिवर्तित हो गई। श्रीमती केस २७ सितम्बर को लिखती हैं, "सब कुछ होने के बाद यह दिन अत्यन्त पीड़ाजनक रहा है; हर एक निराशा है और सब यह अनुभव कर रहे हैं कि वस्तुतः हमें विश्रान्ति नहीं मिली है। जो लड़ने वाले आदमी हमारे पास हैं, वे हमारी आपातिक अवस्था के लिए बहुत थोड़े हैं और जितनी खाद्य सामग्री हमारे पास दुर्ग-सेना में है उसके लिए आदमी बहुत अधिक हैं।" यह सूचना दी गई थी कि बाहर घेरा डालने वालों की संख्या एक लाख थी और नानासाहब उनके साथ था।[९३] दुर्ग-सेना को अभी यह पता न था कि ऊटरम आलम बाग जाने की और वहां और अधिक सेनाओं के आने की प्रतीक्षा करने के बारे में गम्भीरतापूर्वक सोच रहा था। स्त्रियों, बच्चों और बीमारों को हटाना उसकी शक्ति के बाहर था और खाई में अधिक देर तक ठहरना उसकी अल्प सामग्री को जल्दी समाप्त करना था। २ अक्तूबर को जनरल इंगलिस ने अपनी पत्नी को विश्वास में लेकर उससे यह कहा, "आज सवेरे जान ने मुझे बात करने के लिए बुलाया और मुझे एक बात बताई, जिसका पता केवल उसे, मि० कूपर को और दो सेनापतियों को है। वह यह है कि हमको सहायता देने के लिए जो सेना आई है, वह हमें खाद्य सामग्री के अभाव के कारण छोड़ कर जाने वाली है। यह संघर्ष और लड़ाई करती हुई आलम बाग पहुंचेगी और वहां तब तक प्रतीक्षा करेगी जब तक और अधिक सैन्य दल न आ जाएं।"[९४] परन्तु शीघ्र ही यह पता चला कि शहर में होकर उनका जाना सम्भव न होगा और खाद्य सामग्री इतनी कम नहीं थी, जितना कर्नल इंगलिस को भय था। सर हेनरी लारेंस का गुप्त अन्न-भण्डार जो स्नानागार में बन्द था, अन्त में खोद लिया गया और यह पाया गया कि राशन में कमी करके ऊटरम के आदमियों को वहां रखना सम्भव होगा।

---

९२. इंगलिस, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० २२५-२६। स्वयं श्रीमती बारट्रम का वर्णन "विडोज़ रेमिनिसेंसेज़ आफ़ दि सीज आफ़ लखनऊ" में मिलेगा

९३. केस, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० २१०-२१८

९४. इंगलिस, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १७४-७५

राशन में एकदम कमी कर दी गई। अब कमिसरियत आटा नहीं दे सकता था। इसके बजाय गेहूं दिया जाने लगा, और हर एक को अपने आप ही उसे पिसवाना पड़ता था। दाल बिल्कुल बन्द कर दी गई, नमक में कमी की गई और हड्डियों सहित केवल ६ औंस गो-मांस प्रतिदिन दिए जाने की अनुमति दी गई। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि समर्थ शरीर के व्यक्तियों को भूखा रहना पड़ता था, जब तक कि वे अपने अल्प भोजन की पूर्ति अन्य किसी साधन से न करें। रीज़ स्वीकार करता है कि एक बार उसने अपने अनुपस्थित मित्र की मेज से, जिस पर वह नाश्ता कर रहा था, एक अच्छी चबाई हुई हड्डी ले ली और बाद में उसे साफ कर गया।[९५] कभी-कभी वह कठिनता से एक अतिरिक्त चपाती प्राप्त कर लेता था, परन्तु किस प्रकार, यह वह हमें नहीं बताता। फिर भी दुर्ग-सेना में ऐसे आदमियों की कमी न थी जो सबकी विपत्ति से पैसे बना रहे थे। ऊटरम के आने के बाद जब अंग्रेज़ों की स्थिति में सुधार हुआ और कुछ महल लूटे गए, तो जवाहरात और शालों, रेशम और गोटे तथा तसवीरों और चमकदार पाण्डुलिपियों के साथ-साथ खाद्य पदार्थों के भण्डारों को भी व्यापारिक प्रवृति के दूरदर्शी लोगों ने इकट्ठा किया। ऐसे ही एक आदमी ने चाय, तम्बाकू, साबुन और कुछ इसी प्रकार की आवश्यक वस्तुओं के कई डिब्बे प्राप्त करने में सफलता प्राप्त की और केवल इन्हीं से उसने एक हजार पौण्ड से अधिक नकद रुपये कमाए। ३ अक्तूबर को शक्कर किसी कीमत पर नहीं मिल सकी। एक सेर के लिए पच्चीस रुपये लगाए गए, परन्तु नहीं मिल सकी। ब्रांडी की एक बोतल २५ रु० की थी, और श्रीमती इंगलिस कुछ साबुन लाई; "बादामी रंग के एक साधारण-से छोटे टुकड़े की कीमत ४ रु० थी।"[९६] दो सप्ताह तक साबुन बिल्कुल नहीं मिला और उसकी जगह "बेसन" का प्रयोग किया गया।"[९७] कर्नल इंगलिस ने सामग्री का एक छोटा भण्डार इकट्ठा कर लिया था, इसलिए उसके विभाग के आदमी अन्य लोगों की अपेक्षा कुछ अधिक अच्छी हालत में थे, परन्तु उन्हें भी केवल "गो-मांस, चावल, दाल और चपातियां" ही मिलती थीं।

२४ ता० को राशन में और कमी करने का निश्चय किया गया, ताकि सामग्री

---

९५. रीज़, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० २५६। परन्तु हैवलाक के आने के ठीक पश्चात् दुर्ग-सेना की इतनी बुरी अवस्था न थी। रीज़ कहता है, "हैवलाक के आने के कुछ दिनों बाद तक हमारे पास बहुत-सी अच्छी चीजों की बहुतायत थी। मांस को पकाने तथा कढ़ी बनाने के लिए मैंने मसालों को दिए जाते देखा और चूंकि हमे अपने बंदीगृह से पूरी मुक्ति की आशा थी, इसलिए अपनी थोड़ी सब्जियों को हम कुछ-कुछ अधिक मात्रा में खाने लगे क्योंकि अपने अपरिवर्तित सादे और अपरिष्कृत गो-मांस और दाल के बाद वे हमें बड़ी स्वादिष्ट मालूम पड़ती थीं।" पृ० २५४-५५

९६. केस, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० २२१-२२

९७. वही, पृ० २३९। श्रीमती केस ने इसे साबुन के स्थान पर प्रयुक्त करने का सबसे अच्छा पदार्थ पाया। श्रीमती हैरिस ने अपनी साबुन की अन्तिम टिकिया १५ अक्तूबर को समाप्त की। ए लेडीज़ डायरी आफ़ दि सीज आफ़ लखनऊ, पृ० १३८

पहली दिसम्बर तक चल सके। दो दिन बाद श्रीमती केस लिखती हैं, "अब हम प्रति-व्यक्ति हर दिन दो चपातियों से शुरू कर रहे हैं और केवल दो चने की रोटियां हम सबको मिलती हैं। मैं अन्य किसी चीज की अपेक्षा साबुन की कमी से अधिक दुःखी हूं।"[९८] सर जेम्स ऊटरम ने एक आदमी को १,००० रु० देकर कुछ चीनी लाने भेजा, परन्तु वह फिर लौट कर नहीं आया।[९९] डा० फेरिर ने अपने घर के निवासियों को एक नई चीज देकर रोज-रोज के एक ही प्रकार के भोजन में कुछ परिवर्तन करने का प्रयत्न किया। श्रीमती जरमन ने अपनी डायरी में १८ अक्तूबर को लिखा, "मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आज हमें चटक चिड़िया की बनी कढ़ी, रात के भोजन में मिलने जा रही है। डा० एफ० ने इसके लिए १५० चटक चिड़ियां मारी थीं। बहुत से लोगों ने कहा कि कढ़ी बहुत स्वादिष्ट थी, परन्तु मुझे इसकी परीक्षा की प्रेरणा नहीं हुई।"[१००] जुलाई में एक मोर को बिना हानि के छोड़ दिया गया था, परन्तु अक्तूबर में कढ़ी की एक तश्तरी के लिए १५० चटक चिड़ियों की हत्या की गई थी। नवम्बर में यदि भूखे सिपाही एक चपाती और अधिक लेते थे तो एक रुपया उसकी कीमत के रूप में रख देते थे। एक बार "कुछ बन्दूकधारी सिपाहियों ने, जो पहरा दे रहे थे, कर्नल इंगलिस के दो मेमनों और श्रीमती कूपर के एक बड़े बकरे को मार डाला।"[१०१] परन्तु इन स्त्रियों ने चूं तक नहीं की। श्रीमती केस की बहन केरोलिन अपने चचेरे भाई को ६ नवम्बर को लिखती हैं, "पिछले चार महीनों से हम गो-मांस और चावल पर रह रहे हैं। सब्जी हमें बिल्कुल नहीं मिली। अब हमें कभी-कभी एक हरी जड़ी मिल जाती है जो पालक से मिलती-जुलती है और खूब स्वादिष्ट होती है। मुझे चावल अच्छे लगते हैं और उनसे कभी ऊबती नहीं। दो या तीन बार को छोड़कर मांस भी अच्छा और कोमल मिला है। फिर भी मैं आदमियों को इसके बारे में बहुत शिकायत करते देखती हूं। इस पिछले सप्ताह में हमें बकरे का कुछ गोश्त भी मिला है। रोटी की बजाय हम चपाती खाते हैं, जो देशी लोगों का भोजन है। जबसे हमने अपने राशन में कमी की है और सुना है कि हमें अपनी सामग्री पहली दिसम्बर तक चलानी है, तब से हमने प्रतिदिन चपातियों की एक निश्चित संख्या तक अपने को सीमित कर लिया है। हमारे पास खाने के लिए पर्याप्त है और यह आश्चर्य है कि इतने लम्बे समय तक हमारी खाद्य सामग्री चल सकी है, विशेषतः जब कि हम सोचते हैं कि हमारी संख्या में नई सेना ने भी आकर वृद्धि की है।"[१०२]

इसी बीच मानसिंह की समझौते की बातों का कुछ परिणाम नहीं निकला। यद्यपि वह ऊपर से अंग्रेजों की अधीनता स्वीकार करता था, परन्तु निश्चित रूप से वह अपने आपको किसी पक्ष से बांधना नहीं चाहता था। स्पष्टतः वह दोनों युद्धकारियों से अच्छे

९८. केस, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० २५०

९९. वही, पृ० २४७

१००. ए डायरी केप्ट बाई मिसेज़ आर० सी० जरमन एट लखनऊ, पृ० १०८

१०१. केस, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० २६३

१०२. वही, पृ० ६५-६६

सम्बन्ध रखना चाहता था, जब तक कि युद्ध एक निर्णयात्मक मोड़ न ले। जुलाई में उसने एक परिपत्र अपने ताल्लुकेदार बन्धुओं के पास भेज कर उनसे यह कहा था कि वे अंग्रेज़ों की सहायता करें। ऐसा मालूम नहीं होता कि इस पत्र ने उनके निर्णय को किसी हद तक प्रभावित किया हो, परन्तु लखनऊ के पड़ोस को छोड़ने से पूर्व उसने सीतापुर की कुमारी मेडेलिन जैक्सन और श्रीमती ओर के, जो दोनों विद्रोहियों की अभिरक्षा में थीं, बचाव के प्रबन्ध में सहायता दी। उसके कारिन्दे को इसके लिए प्रचुर इनाम दिया गया।[१०३] ऊटरम के आने का स्पष्ट उद्देश्य यह था कि लखनऊ में स्थानीय बड़े लोगों की एक अस्थायी सरकार का निर्माण किया जाए, जो तब तक अंग्रेज़ों की ओर से उस स्थान को रक्खे रहे जब तक कि अंग्रेज़ दुबारा उस पर अधिकार न कर लें और इस बीच लखनऊ से दुर्ग-सेना को हटा लिया जाए। परन्तु ऊटरम लखनऊ को छोड़ने के पक्ष में नहीं था, क्योंकि उसे भय था कि ऐसा करने से अवध और रुहेलखण्ड के अनेक सरदार, जो इस समय ऊपर से अच्छा व्यवहार दिखा रहे थे, इस निष्कर्ष पर पहुंच जाएंगे कि अवध में अब अंग्रेज़ी राज्य समाप्त हो गया है। परन्तु उसने शीघ्र ही अनुभव कर लिया कि स्त्रियों, बच्चों और बीमारों को बाहर निकाल कर ले जाना व्यावहारिक नहीं था और आलम बाग के साथ सम्पर्क स्थापित करना भी सम्भव नहीं था। स्पष्टतः जब तक सहायता-सेना न आए उसे प्रतिरक्षात्मक कार्यवाही तक ही अपने को सीमित रखना था, परन्तु ऊटरम यह अनुभव करता था कि यदि रक्षा-पंक्तियों को बढ़ा दिया जाए तो प्रतिरक्षा का कार्य आसान हो जाएगा। इसलिए कुछ छोटे-छोटे आक्रमण किए गए और पड़ोस के कुछ मकानों पर अधिकार कर लिया गया, जिससे अब उनकी पुरानी स्थिति विद्रोहियों की गोलाबारी से सुरक्षित हो गई। ऊटरम का बाहरी संसार के साथ भी सम्पर्क था। उसे नाना के सैन्य दलों और ग्वालियर-सैनिक-टुकड़ी के कालपी में जमाव के बारे में पता लगा और उसने प्रधान सेनापति को सलाह दी कि लखनऊ को सहायता देने से पूर्व कानपुर को सुरक्षित बनाना चाहिए। घेरा डालने वालों ने अपने को मुख्यतः सुरंगें लगा कर आक्रमण करने तक सीमित कर लिया था, परन्तु उनकी कई सुरंगें वास्तविक चिन्ता पैदा कर देती थीं। ऊटरम की वास्तविक चिन्ता भोजन के बारे में थी। २८ अक्तूबर को उसने लिखा, "राशन को और अधिक घटा कर हम किसी प्रकार नवम्बर के अन्त तक काम चला सकते

१०३. यह मानसिंह ही था जिसने दारोगा वाजिदअली की सेवाओं को प्राप्त किया। वाजिदअली और मानसिंह के कारिन्दे या अभिकर्ता अनन्तराम ने ही मौलवी के शिविर में होकर (७ मार्च, १८५८) श्रीमती ओर के बच्चे को सलामती से ले जाने की तरकीब की और उन्होंने ही श्रीमती डाइन तथा उसके परिवार के भागने का प्रबन्ध किया। जब मानसिंह चिनहाट चला गया तो सर जेम्स ऊटरम के निर्देश पर कुमारी एम० जैकसन तथा श्रीमती ओर से पत्र-व्यवहार प्रारम्भ हुआ। वाजिदअली को नकद एक लाख रु० का इनाम मिला। अनन्तराम को ५ हजार का इनाम मिला और इसके साथ ही ५६० रु० के सरकारी लगान पर २,४१७ रु० की एक जायदाद और मिली। पोलिटिकल कन्सल्टेशन्स, सं० ८८६-६२१, ३० दिसम्बर, १८५६ (अनुपूरक)

हैं।" परन्तु उसे इतनी देर नहीं ठहरना पड़ा। सहायता महीने के मध्य तक आ गई और सहायता-सेना अपने साथ पर्याप्त खाद्य सामग्री लाई।

७ नवम्बर को एक सन्देशवाहक कानपुर से मेजर ब्रूस का एक पत्र लेकर आया। इसमें लिखा था कि सर कोलिन कैम्पबेल स्वयं एक शक्तिशाली सेना लेकर आ रहा है और तीन दिन में उसके आलम बाग पहुंचने की आशा है। सर कोलिन कैम्पबेल ने सन् १८०८ में सेना में प्रवेश किया था और विमीरा के युद्ध में अग्नि से उसका बप्तिस्मा संस्कार हुआ था। उसने वेस्ट इण्डीज़ में सेवा की थी और चीन में भी वह लड़ा था। जब वह भारत में सन् १८४६ में पहुंचा तो वह परिपक्व योग्यता और प्रतिष्ठित यश का एक सिपाही था। वह चिलियांवाला और गुजरात में उपस्थित था और पेशावर डिवीजन की कमान उसके हाथ में थी। लार्ड डलहौज़ी के साथ मतभेद हो जाने के कारण उसने आधे वेतन पर अवकाश ग्रहण कर लिया। परन्तु क्रीमिया के युद्ध ने उसे फिर सक्रिय सेवा में वापस बुला लिया। ११ जुलाई, १८५७ को उसे भारतीय सेना का प्रधान सेनापति बनाया गया और एक दिन की सूचना पर उसने भारत के लिए प्रस्थान कर दिया। १३ अगस्त को वह कलकत्ता आया। सिपाही-युद्ध के इतिहास में यह एक विषम महीना था। उसने एकदम युद्ध-क्षेत्र के लिए प्रस्थान नहीं किया, बल्कि अपने आपको प्रशासनिक और संगठनात्मक कार्य में लगाया। जब अतिरिक्त सैन्य दल इंग्लैण्ड से आए तो वे तत्काल देश के उत्तरी भाग में भेज दिए गए क्योंकि उनके लिए परिवहन, तम्बुओं के सामान, अस्त्र-शस्त्र और गोलाबारूद सब तैयार थे। २७ अक्तूबर को वह कलकत्ते से चल दिया। बनारस और इलाहाबाद के बीच अपने मार्ग में वह शत्रुओं के द्वारा पकड़े जाने से बाल-बाल बचा। इलाहाबाद में उसे ज्ञात हुआ कि ऊटरम घटे राशन पर नवम्बर के अन्त तक डटे रहने को तैयार था। प्रधान सेनापति ३ नवम्बर को कानपुर पहुंचा। उसे एकदम यह निश्चय करना था कि उसे पहले लखनऊ की सहायता के लिए जाना है या ग्वालियर-सैनिक-टुकड़ी के विरुद्ध अभियान करना है, जो कानपुर को खतरा उत्पन्न कर रही थी। उन्होंने कालपी में अपनी सेना का जमाव कर रखा था और यह सूचना थी कि नाना उनसे मिलने जा रहा है। यह सम्भावना थी कि प्रधान सेनापति की अनुपस्थिति में कानपुर पर आक्रमण हो जाए। उस दशा के लिए वह कानपुर में पर्याप्त सैन्य दल नहीं छोड़ सकता था। साथ ही उसे यह भी आशंका थी कि यदि लखनऊ की भूख-पीड़ित दुर्ग-सेना को शीघ्र ही सहायता नहीं दी गई तो वह अपनी चौकी पर अधिकार कायम नहीं रख सकेगी। इसलिए उसने विंढम को एक छोटी सैनिक टुकड़ी के साथ कानपुर में छोड़ दिया और स्वयं लखनऊ के लिए चल दिया। विंढम को यह आदेश दिया गया था कि "यदि कानपुर की ओर शत्रु बढ़े तो उसे सर्वोत्तम सम्भव ढंग से सामना करना चाहिए, परन्तु उसे आक्रमण करने के लिए बाहर नहीं जाना चाहिए, जब तक कि बमबारी के भय से उसे इसके लिए बाध्य न कर दिया जाए।"

कैम्पबेल ९ नवम्बर को कानपुर से चल दिया। उसके पास एक अत्युत्तम घेरा डालने के युद्ध में कुशल सैनिक दल था, जिसमें पील के नौसैनिक ब्रिगेड के नाविक तथा घुड़सवार सेना की एक टुकड़ी तथा घुड़सवार तोपखाने के आदमी थे जिनका नेतृत्व होप-

ग्रांट कर रहा था। दिल्ली के पतन के कारण ब्रिगेडियर विल्सन दो सैनिक दस्तों को भेजने में समर्थ हो गया था, जिनमें से एक कर्नल ग्रेटहेड की कमान में बुलन्दशहर और अलीगढ़ होता हुआ आगरे की ओर बढ़ा। आगरे में ग्रेटहेड ने इन्दौर के विद्रोहियों को हराया, जो शहर में अचानक घुसना चाहते थे। इसके बाद उसका सैनिक दस्ता कानपुर के अपने मार्ग पर आगे बढ़ा। फिरोजाबाद में कर्नल होप ग्रांट ने कमान संभाली और सैनिक दस्ता अक्तूबर के अन्तिम सप्ताह में कानपुर पहुंचा। इसके बाद होप ग्रांट ने आलम बाग के लिए अभियान किया और बंटेरा में एक विद्रोही सेना से युद्ध किया। उसने बीमारों और घायलों को आलम बाग से कानपुर ले जाने का प्रबन्ध किया और प्रधान सेनापति के आदेशों के अनुसार उसने बंटेरा में पड़ाव डाला, जहां प्रधान सेनापति ३५ मील के कड़े अभियान के बाद उससे मिला। सर कोलिन कैम्पबेल के पास समय कम था। इससे पूर्व कि विद्रोही सेना, जो उस समय कालपी में थी, कानपुर पर हमला करे, वह वहां लौट आना चाहता था।

कैम्पबेल जानता था कि यदि उसे एक ऐसा यूरोपीय मार्ग-दर्शक मिल जाए, जो उस भूमि से परिचित हो तो उसका काम पर्याप्त आसान हो जाएगा। थामस हेनरी कैवेने, जो लखनऊ के घेरे में घिरा हुआ एक आदमी था, स्वेच्छापूर्वक एक भारतीय गुप्तचर के साथ प्रधान सेनापति के शिविर में जाने को तैयार हो गया। लखनऊ में डिप्टी कमिश्नर के कार्यालय में वह एक क्लर्क था, परन्तु घेरे ने प्रत्येक असैनिक व्यक्ति को सैनिक बना दिया था। उसने उस गुप्तचर को खोजा, जो ऊटरम के प्रेक्षण-पत्र और योजनाओं को ले जाने वाला था, परन्तु इस आदमी ने एक यूरोपीय साथी को अपने साथ ले जाने में हिचकिचाहट अनुभव की। उसने सोचा कि अकेला तो वह शहर और चौकियों से ठीक प्रकार बचकर निकल सकेगा, परन्तु कैवेने की ऊंचाई के व्यक्ति के लिए कोई भी वेश-परिवर्तन कारगर न होगा और फिर उसके नीले नेत्र तो सब कथा कह देंगे। फिर उसका उच्चारण आसानी से उसकी पहचान करा देगा। अंगद ने अब काम करना बन्द कर दिया था। उसकी जगह नया स्काउट कनौजी लाल काम कर रहा था। अंगद तो एक सिपाही भी था, परन्तु कनौजी लाल वैसा नहीं था। विद्रोह के पहले वह एक कचहरी में नाजिर के रूप में काम किया करता था और उसके पेशे का आदमी साधारणतः गुप्त वार्ता-विभाग से अपना कोई सम्बन्ध नहीं रखता था। परन्तु असाधारण परिस्थितियों में मनुष्य में असाधारण गुण की आवश्यकता होती है और कनौजी लाल ने, कैवेने की तरह, ग़दर में अपनी साहसी भावना के लिए मौका पाया। कनौजी लाल से यह अनुरोध करके कि वह उसे अपने साथ चलने दे, कैवेने, नेपियर के पास गया। नेपियर ने इस साहसपूर्ण कार्य को व्यावहारिक नहीं समझा, परन्तु कैवेने का परिचय उसने सर जेम्स ऊटरम से कराया। ऊटरम ने पहले उसके विचार को निरुत्साहित कर दिया, यद्यपि वह यह अनुभव करता था कि कैवेने जैसे व्यक्ति की सेवाएं, जो शहर की प्रतिरक्षा के सम्बन्ध में इतनी अच्छी तरह जानता था, सहायता के लिए जाने वाली सेना के लिए अनमोल सिद्ध होंगी। परन्तु जब उसने देखा कि कैवेने अपने संकल्प से डिगता नहीं तो उसने उसे जाने के लिए अनुमति दे दी। कैवेने ने अपने चेहरे और हाथों को लैम्प की

कालिख से पोत लिया और एक रंगीन देशी पोशाक पहनी—एक पीला रेशमी कुर्ता, लाल पगड़ी, चुस्त पायजामा और देशी जूते। वह बिलकुल एक लखनऊ का बदमाश दिखाई पड़ने लगा और नेपियर उसे पहचान नहीं सका। इससे पहले कि कैवेने ने रात्रि के अन्धकार में प्रस्थान किया, ऊटरम ने उसे एक बार और रंगा। अंग्रेज़ी सेना-पंक्तियों में होकर जाना कठिन नहीं था। दोनों आदमी नदी के पानी में घुसकर उसके बाएं किनारे पर होते हुए चले, और इस प्रकार वे पत्थर के पुल पर आए जहां उन्होंने शहर जाने के लिए नदी को पार किया। सड़कों पर न तो भीड़ थी और न ठीक प्रकाश था, इसलिए वे सुरक्षापूर्वक बाहर खेतों में पहुंच गए। वहां वे मार्ग भूल गए और गलती से दिलकुशा बाग में पहुंच गए। उनकी यात्रा साहसिक कार्यों से भरी थी। एक बार एक सोते हुए गांव में उन्होंने कुत्तों को जगा दिया, इस पर उनके झुण्ड के झुण्ड उनके पीछे भौंकते हुए दौड़े। दो स्त्रियों ने तब उन्हें ठीक मार्ग पाने में सहायता दी। इसके बाद वे सैनिक पुलिस के एक दल से मिले जहां उनसे कुछ प्रश्न पूछे गए और वे छोड़ दिये गए। इसके बाद वे एक दलदल में फंस गए और घुटने तक गहरे पानी में उन्हें पूरे दो घण्टे तक चलना पड़ा। कैवेने के अनभ्यस्त पैर थक गए और उसके हाथों से रंग छूट गया। कनौजी लाल की डांट-फटकार के बाद भी वह एक पग भी आगे नहीं बढ़ा और उसने १५ मिनट तक विश्राम किया। फिर उन्हें कुछ ग्रामीण लोग मिले, जो अंग्रेज़ों के भय से भागे जा रहे थे। जब रात समाप्त होने को थी और चांदनी शीघ्रता से ढल रही थी, वे एक आमों के बाग में आए। कैवेने आगे चलने में बिल्कुल असमर्थ था और उसने एक घण्टे सोने का आग्रह किया, परन्तु कनौजी लाल दिन निकलने से पूर्व अंग्रेज़ी शिविर में पहुंचने को व्यग्र था। परन्तु उसका साथी आगे बढ़ने में बिल्कुल असमर्थ था। उसने उसे एक मार्ग-दर्शक की खोज में भेजा। जब भारतीय चला गया तो अंग्रेज़ी घुड़सवार सेना की एक चौकी के सिख घुड़सवार ने अंग्रेज़ को चुनौती दी। उसका इतना अच्छा भाग्य था कि ठोकर लगकर वह ठीक स्थान पर ही जा गिरा। सिखों ने प्रधान सेनापति के शिविर के लिए उसका मार्ग-दर्शन किया। "जैसे ही मैं दरवाजे पर पहुंचा, एक कठोर चेहरे वाला प्रौढ़ आयु का आदमी बाहर निकला। मैं उसके पास गया और उससे सर कोलिन कैम्पबेल के बारे में पूछा।" बुड्ढे आदमी ने कहा, "मैं ही सर कोलिन कैम्पबेल हूं।" कैवेने ने अपनी पगड़ी में से संक्षिप्त परिचय-पत्र निकाला, जिसे ऊटरम ने उसे दिया था। पहले से निश्चित एक सम्मिलित संकेत दिया गया जिसने रेजिडेंसी के चिन्तित आदमियों को यह सूचना दी कि कैवेने का उद्देश्य सफल हो चुका है। यद्यपि वह सेना का आदमी नहीं था, फिर भी उसकी वीरता के कारण उसे विक्टोरिया क्रास प्रदान किया गया। भारत सरकार ने उसे बीस हजार रुपए का नकद इनाम भी दिया और उसकी पद-वृद्धि एक सहायक कमिश्नर के रूप में कर दी गई—"महान पुरस्कार, परन्तु सचमुच वह इससे भी कहीं अधिक पुरस्कारों का अधिकारी था।"[१०४] कैवेने के मार्ग-दर्शक कनौजी लाल को बाद में तहसीलदार बना दिया गया।

---

१०४. नार्मन, फ़ारेस्ट द्वारा उद्धृत, ए हिस्ट्री आफ़ दि इण्डियन म्यूटिनी जिल्द, २ पृ० १२७

उसे ५,००० रु० का नकद इनाम मिला और ८३७ रु० वार्षिक आमदनी के गांव उसे दे दिए गए। अंगद तिवारी को उसकी प्रत्येक सफल यात्रा के लिए नकद इनाम दिया गया। केवल अपनी अन्तिम यात्रा के लिए उसे पांच हजार रुपए मिले, जो उसकी स्थिति के आदमी के लिए एक बहुत बड़ी रकम थी। उसने लगान-मुक्त जमीन के लिए मांग नहीं की, परन्तु उसे तीन हजार रुपए की एक जायदाद भी दी गई।[१०५]

सर कोलिन रेजिडेंसी की ओर आगे बढ़ने में लखनऊ की पीड़ाजनक सड़कों से बचना चाहता था। यद्यपि उसके पास उससे बहुत अधिक शक्तिशाली सेना थी, जितनी सितम्बर में ऊटरम और हैवलाक के पास थी, फिर भी उसने असाधारण सैनिक खतरों का मोल लेना अस्वीकार कर दिया। उसने १३ नवम्बर को आलम बाग से प्रस्थान किया और दिलकुशा और मार्टिनियर पर अधिकार करने के पश्चात् उसके सैन्य दलों ने वहां रात बिताई। उसका वास्तविक लक्ष्य मोती महल था, जहां सम्मिलित रूप से तैयार की गई पूर्व योजना के अनुसार ऊटरम को उससे मिलना था। फिर भी शत्रु को भ्रम में डालने के लिए उसने बेगम कोठी पर गोलाबारी शुरू की। १६ ता० को कोलिन ने नहर को उसके गोमती में मिलने के स्थान पर पार किया और सिकन्दरा बाग पर चढ़ाई की। विद्रोही नेताओं ने इस दिशा से किसी आक्रमण की आशंका नहीं की थी और दूसरी तरफ के दरवाजे बन्द कर दिए गए थे। सिकन्दरा बाग की रक्षा करने वाले सिपाहियों के पास तोपें नहीं थीं, परन्तु दीवालें मजबूत थीं और वे अन्त तक दृढ़ संकल्प के साथ लड़े। छोटी बन्दूकों का भारी तोपखाने से कोई मुकाबला न था और आक्रमण द्वारा स्थान पर अधिकार कर लिया गया। जाल में फंसकर सिपाही अन्तिम आदमी तक मारे गए और उनके दो हजार मृत पुरुष बाग में इधर-उधर पड़े थे। वैयक्तिक वीरता के अनेक महान कार्य इस युद्ध में किए गए और कई लोग बाल-बाल भी बचे। लार्ड राबर्ट्स ने मुकर्रब खां नामक एक पंजाबी मुस्लिम की वीरता का साक्ष्य दिया है। दरवाजे के भारी किवाड़, जिनमें होकर सिपाहियों का एक गिरोह पीछे हट रहा था, आक्रमणकारी सैन्यदलों के विरुद्ध बन्द ही किए जाने वाले थे, जब कि मुकर्रब खां ने, "अपना बायां हाथ, जिसमें वह एक ढाल पकड़े था, उनके बीच में धंसा दिया जिससे किवाड़ बन्द नहीं हो सके। तलवार से कटने के कारण जब उसका हाथ बुरी तरह घायल हो गया, तो उसने उसे बाहर खींचा और एकदम दूसरा हाथ धंसा दिया और इस प्रकार उसका दायां हाथ भी कट कर अलग हो गया।"[१०६] मुकर्रब खां की वीरता की स्वीकृति में उसे "आर्डर आफ़ मैरिट" का पदक प्रदान किया गया, क्योंकि विक्टोरिया क्रास के लिए भारतीय अधिकारी नहीं माने जाते थे।

कदम रसूल और शाह नजफ़ को दुबारा अधिकार में किया गया। शाह नजफ़ अवध के एक भूतपूर्व शासक की कब्र थी और इसकी मजबूत दीवालों में आसानी से छेद

१०५. पुरस्कृत व्यक्तियों की सरकारी सूची देखिए

१०६. राबर्ट्स, फ़ोर्टी-वन ईयर्स इन इण्डिया (एक जिल्द वाला संस्करण, १६०८), पृ० १८१

नहीं किए जा सकते थे। अचानक ६३वीं रेजीमेण्ट के कुछ सिपाहियों ने पीछे की दीवाल में एक छोटा-सा छिद्र देखा और प्रवेश कर लिया गया। इसी समय ऊटरम ने मोती महल के बीच के भवनों को उड़ा दिया था और १७ ता० को घेरे में पड़े लोगों को सहायता-सेना मिली, जिसके ४६६ अफसर और जवान चार दिन के युद्ध-कार्यों में हताहत हो चुके थे। घायल लोगों में स्वयं प्रधान सेनापति भी था।

अन्त में लखनऊ की रक्षा कर ली गई और घेरे में पड़े लोग अब स्वतन्त्रता के मधुर फल और जीवन के आनन्द का उपभोग करने में स्वतन्त्र थे। "एक संतरा लाया गया; वह बहुत स्वादिष्ट लगा। एक डबल रोटी और कुछ ताजा मक्खन हमें दिया गया। हमने इस सादे भोजन को इतने स्वाद के साथ खाया, जितना किसी रसिक आदमी ने भी कभी न खाया होगा। हमें कुछ रम (शराब) दी गई। सर्वोत्तम शराब भी कभी इतने आनन्द के साथ नहीं पी गई होगी। परन्तु इससे भी बड़ा एक आनन्द प्राप्त होना था। अनेक गाड़ियों पर लदे पत्र और अखबार आ पहुंचे थे।"[१०७] परन्तु विमुक्ति की यह प्रसन्नता कुछ लोगों के लिए बिछुड़े प्रियजनों और दिवंगत साथियों की दुःखभरी स्मृतियों के कारण दुःख में परिणत हो गई। कितनी ही पत्नियां अपने पतियों के लिए शोक मना रही थीं, कितनी ही माताओं ने अपने बच्चों को कपड़े की तह में बांधकर खाई में दफन किया था। उनकी परीक्षाएं समाप्त हो चुकी थीं, उनकी चिन्ताएं अब मिट गई थीं। परन्तु विमुक्त पत्नियों और माताओं ने उस स्थान को शोक और भारी हृदय से छोड़ा। विजय का समय उनके लिए शोक का समय था। साधारण सैनिक भी प्रफुल्ल हृदय से अभिमान नहीं कर सकता था क्योंकि जब दुर्ग-सेना रेज़िडेंसी से चल रही थी तो हैवलाक अपनी मृत्यु-शय्या पर पड़ा था। सर कोलिन कैम्पबेल उससे १७ ता० को मिला और उसे पता चला कि उसकी प्रथम तीन विजयों के उपलक्ष्य में उसे "नाइट कमाण्डर आफ़ दि आर्डर आफ़ बाथ" की उपाधि प्रदान की गई है। उसने अपनी पत्नी को लिखा, "२६ सितम्बर के कागज उसके (सर कोलिन कैम्पबेल के) साथ आए जिनमें मेरे प्रथम तीन युद्धों के उपलक्ष्य में "कमाण्डर आफ़ दि बाथ" के रूप में मेरी पद-वृद्धि की घोषणा की गई है। तब से मैंने नौ युद्ध और लड़े हैं।" युद्ध ने उसके स्वास्थ्य को बिल्कुल गिरा दिया था और आवश्यक वस्तुओं के अभाव और रूखे-सूखे भोजन ने शेष काम पूरा कर दिया। पेचिश के लक्षण दिखाई पड़ने लगे और २० ता० को उसे दिलकुशा ले जाया गया। वह जानता था कि उसका अन्त समीप है और उसने अपने पुत्र को छोड़कर किसी और को अपनी परिचर्या नहीं करने दी। हैवलाक एक महान सिपाही और कट्टर ईसाई था। सिपाही के रूप में रण-क्षेत्र में मृत्यु उसके लिए कोई भय की चीज नहीं थी और एक ईसाई के रूप में वह कहीं भी किन्हीं भी परिस्थितियों में मृत्यु का सामना करने के लिए तैयार था। उसने ऊटरम से कहा, "मैंने चालीस वर्ष से अपने जीवन पर इस प्रकार शासन किया है कि जब भी मृत्यु आएगी, मैं निर्भय होकर उसका सामना करूंगा।" २४ नवम्बर को उसका स्वर्गवास हो गया और उसके अन्तिम अवशेष आलम बाग में शहर के पास एक पेड़ के

---

१०७. रीज़, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ३३७-३८

नीचे दफना दिए गए। उसके देशवासियों की दृष्टि में इस स्थान के साथ उसका नाम सदा के लिए सम्बद्ध हो गया है। उसकी मृत्यु के दो दिन बाद उसे बैरन की उपाधि प्रदान की गई। इंग्लैण्ड की महारानी ने हाउस ग्राफ़ कामन्स को भेजे गए एक राजकीय सन्देश में हैवलाक की प्रशंसा की। "महामहिम सम्राज्ञी, मेजर-जनरल सर हेनरी हैवलाक, बार्ट, के० सी० बी०, को अपने अनुग्रह और प्रशंसा का सूचक एक विशिष्ट पुरस्कार देने की इच्छुक हैं। यह उनकी उन प्रमुख और विशेषतापूर्ण सेवाओं के लिए दिया जाएगा जो सर हेनरी हैवलाक ने भारत में अंग्रेज़ और देशी सैन्य दलों की कमान को संभाल कर कीं और विशेषतः जिन वीरतापूर्ण और सफल युद्ध-कार्यों के द्वारा उन्होंने लखनऊ की दुर्ग-सेना को सहायता दी। महामहिम सम्राज्ञी हाउस ग्राफ़ कामन्स से सिफ़ारिश करती हैं कि उन्हें सर हेनरी हैवलाक के आयु पर्यन्त १,००० पौण्ड प्रति वर्ष की पेंशन देने के लिए प्रबन्ध करने की अनुमति दी जाए।"[१०८]

कैम्पबेल ने रेज़िडेंसी पर अधिक देर तक अधिकार रखना बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं समझा। उसे तत्काल वहां से स्त्रियों, बच्चों और बीमारों को हटाना था। अपनी वास्तविक हलचल को छिपाने के लिए उसने कैसर बाग के विरुद्ध एक तोप लगा दी और जब रेज़िडेंसी के निवासी अपनी बत्तियों को जलती छोड़कर चले गए, तो सिपाहियों को यह सन्देह तक नहीं हुआ कि रेज़िडेंसी खाली कर दी गई है। वे रेज़िडेंसी को खाली कर दिए जाने के बाद भी उस पर गोलाबारी करते रहे। ऊटरम चाहता था कि उस स्थान को छोड़ने वाला वह अन्तिम आदमी हो, परन्तु इंगलिस ने आग्रह करते हुए कहा कि अपने दुर्ग के दरवाजों को बन्द करने का अधिकार उसका है। परन्तु अन्तिम अंग्रेज़ जिसने खाई को छोड़ा कैप्टन वाटरमैन था। जब दुर्ग-सेना छोड़कर गई, वह गहरी नींद में सो रहा था। जब वह अचानक उठा तो चारों ओर उसने जो अस्वाभाविक सन्नाटा देखा उससे वह पीड़ित हो उठा। वह बाहर गया, परन्तु कोई दिखाई नहीं पड़ा। वह एक चौकी पर गया और उसे भी खाली पाया। तब वह मृत्यु के भय से इधर-उधर दौड़ने लगा और अन्त में उसने पीछे हटते हुए सैनिक दस्ते के पीछे के भाग से सम्पर्क स्थापित कर लिया। यह कहा जाता है कि उसको इतना जबर्दस्त धक्का लगा था कि थोड़ी देर के लिए उसका दिमाग चल गया था। चार बन्दियों में से केवल दो अपने जेलर के साथ चलने के लिए बचे थे। घेरे के समाप्त होने से पूर्व ही रुक्नुद्दौला मर गया था और तुलसीपुर के तरुण राजा का तूफानी जीवन उसके आलम बाग पहुंचने से पूर्व ही समाप्त हो गया था। सर कोलिन समय को नष्ट नहीं कर सकता था, क्योंकि कानपुर फिर गम्भीर संकट में था। उसने सर जेम्स ऊटरम को आलम बाग में छोड़ दिया। इस चौकी को अंग्रेज़ों के लखनऊ लौटने की साई के रूप में अधिकार में रखना था। कानपुर से कोई निश्चित सूचना नहीं आई। जब कैम्पबेल बन्नी पहुंचा तो दूर से तोपों की आवाज घोषणा कर रही थी कि ग्वालियर सैनिक टुकड़ी ने अन्ततः उस स्थान पर आक्रमण कर दिया है।

---

१०८. मार्शमैन, मेमोयर्स आफ़ मेजर जनरल सर हेनरी हैवलाक, के० सी० बी०, पृ० ४५३

ग्वालियर के विद्रोही एक लम्बे समय से निष्क्रिय रहे थे। जून में ही उन्होंने सशस्त्र विद्रोह कर दिया था। फिर इतने लम्बे समय तक उन्होंने कार्य को क्यों रोके रखा, यह रहस्य है। जब इन्दौर के आदमियों ने आगरे पर अभियान किया तो उनके ग्वालियर के मित्र उनके साथ नहीं मिले। जब हैवलाक आदमियों की कमी के कारण महान संकट में था, उस समय उन्होंने कानपुर के विरुद्ध अभियान नहीं किया। यदि उन्होंने उस समय उस पर आक्रमण करने का संकल्प कर लिया होता तो कानपुर खाली करना पड़ता और विद्रोहियों के उद्देश्य की प्रतिष्ठा बहुत अधिक बढ़ जाती। उन्होंने उस समय निष्क्रिय उदासीनता की प्रवृत्ति धारण कर ली, जब कि सैनिक महत्व के स्थान पर अधिकांश प्रतिरक्षक थे ही नहीं तथा हैवलाक और ऊटरम लखनऊ के लिए चले गए थे। एक विवेकी नेता ने निश्चयतः उसी विषम क्षण में वार किया होता। स्पष्टतः ग्वालियर सैनिक टुकड़ी के भारतीय अफसरों में एक भी ऐसा आदमी न था, जिसके पास देखने के लिए आंख और योजना बनाने के लिए दिमाग हो और इस सेना के जवान सिंधिया के रुपयों के लाभ से ऊपर नहीं उठ सके। ग्वालियर के महाराजा के अंग्रेज़ मित्र उसे और उसके मुख्य मन्त्री सर दिनकरराव राजवाड़े को विभिन्न उपायों से इस बात का श्रेय देते रहे कि वे विद्रोहियों को अपने पुराने स्थान पर निष्क्रिय रख रहे हैं। अंग्रेज़ लोगों के उद्देश्य के लिए यह कुछ कम सेवा न थी कि इतनी शक्तिशाली सैनिक टुकड़ी इतने लम्बे समय तक विद्रोहियों को प्राप्त नहीं हो सकी। यह सम्भव था कि वे आगरे के किले का घेरा डाल देते या दिल्ली के प्रतिरक्षकों से मिल जाते, जिसके लिए अभी समय था। यह भी सम्भव था कि वे आसपास के ग्रामीण क्षेत्र में छापा-मार युद्ध करते। परन्तु उन्होंने इस प्रकार का कोई कार्य नहीं किया। अक्तूबर में उन्होंने अपनी सुस्ती हटाई और कालपी की ओर चले। मैलेसन कहता है कि दिल्ली के पतन के बाद जिस विश्रान्ति का अनुभव सिंधिया को हुआ उसके कारण उसकी चौकसी में कमी आ गई और सैनिक टुकड़ी पर उसका प्रभाव समाप्त हो गया। तात्या टोपे ने, जिसे मैलेसन एक "थका हुआ, योग्य और चालाक आदमी" बताता है, उनके अनिश्चय का लाभ उठाया और उनकी कमान स्वयं धारण कर ली। दृश्य के पीछे वास्तविक रूप में क्या हुआ, इसका हमें पता नहीं है। इसी समय कुंवर सिंह भी बांदा और कालपी के मार्ग में था। हो सकता है कि तात्या के अभिकर्ता अन्ततः ग्वालियर के आदमियों के निर्णय को प्रभावित कर सकते हों, परन्तु उन्होंने धीमे-धीमे और हिचकिचाहट के साथ काम किया। उनकी संख्या पांच हजार थी और तोपखाने के सिपाहियों का एक अच्छा दल उनके पास था। ९ नवम्बर को वे कालपी पहुंचे और उन्होंने तात्या की कमान में अपने को रख दिया।

रामचन्द्र पाण्डुरंग, जिसका दूसरा नाम तात्या टोपे था, उन थोड़े-से योग्य सैनिक नेताओं में था जिन्हें ग़दर ने पैदा किया। वह एक देशस्थ ब्राह्मण था। उसका पिता बाजीराव के अनेक आश्रितों में से एक था। तात्या अपने व्यक्तिगत रूप से नाना का अनुयायी था और स्वामिभक्ति और कृतज्ञता के बन्धनों से वह उसके साथ बंधा था। जोन लैंग, जिसने उसे बिठूर में देखा था, उसका इस प्रकार वर्णन करता है, "वह करीब मंझले कद का आदमी था, करीब ५ फुट ८ इंच का, कुछ पतला-दुबला-सा, परन्तु बिलकुल

सीधा। वह देखने में बिल्कुल सुन्दर नहीं लगता था। उसका मस्तक नीचा था, नाक नथुनों पर जरा चौड़ी थी और उसके दांत अव्यवस्थित और भद्दे रंग के थे। उसकी आंखें अभिव्यक्तिमय थीं और चालाकी से भरी थीं, बहुत-से एशियावासियों की तरह। मुझे वह विशेष योग्यता का आदमी नहीं जान पड़ा।"[१०९] उसे सैनिक अनुभव कुछ नहीं था। सम्भवतः उसे उतना ही सैनिक प्रशिक्षण मिला था, जितना उसकी पीढ़ी के एक औसत दर्जे के तरुण को मिलता था। परन्तु बाड़ा लगाने और गोली चलाने की अपनी कुशलता के आधार पर वह उस अप्रत्याशित कार्य को करने के लिए योग्य नहीं ठहर सकता था जो उसे अब करना था। स्पष्टतः उसने अपनी जाति के छापामार व्यूह-कौशल की स्वभाविक अन्तःप्रवृति को अपने पूर्वजों से पाया था और यह सुविदित था कि वह बड़ी कुशलतापूर्वक अपने अंग्रेज शत्रुओं को चकमा देकर उनसे बच कर निकल गया था, जबकि वे समझते थे कि उन्होंने उसे सुरक्षित रूप से अपने जाल में फंसा लिया है। नवम्बर १८५७ में गति ही सफलता का विश्वास दिला सकती थी। यदि वह कानपुर १३ ता० को आ जाता जबकि कैम्पबेल लखनऊ में व्यस्त था तो विंढम के निरस्त्र कर दिए जाने की, जो उस समय कानपुर की कमान संभाले था, पूरी सम्भावना थी। परन्तु १७ ता० को, जिस दिन सर कोलिन ने रेजिडेंसी में प्रवेश किया, तात्या का आगे का सैन्य दल अभी अपने लक्ष्य से १५ मील दूर था।

विंढम ने अपना विजय-यश क्रीमिया में प्राप्त किया था। साहस में वह किसी से कम न था। परन्तु उसके प्रधान ने उसे यह आदेश दे दिया था कि जब तक निर्विशेष रूप से आवश्यक न हो, उसे खाइयों के बाहर युद्ध नहीं करना चाहिए। १७ ता० को विंढम शहर से परे चला गया। उसने यह सोचा कि महत्वपूर्ण स्थानों पर जोरदार हमले के द्वारा वह विस्तृत रूप से शत्रु की सेना को हरा सकेगा और नगर और उसके पास के क्षेत्र को आग और लू से बचा सकेगा। इसी बीच लखनऊ से उसका सब सम्पर्क टूट गया। २४ ता० को विंढम ने कालपी सड़क और नहर के मिलने के स्थान पर डेरा डाल दिया और पहली चोट करने का इरादा किया। २६ ता० को उसने तात्या के सैन्य दलों के एक भाग को पीछे हटने पर विवश किया और वे अपनी दो तोपें पीछे छोड़ गए। परन्तु उसे मुख्य सेना का अभी सामना करना था। दूसरे दिन उसकी सैन्य चालों को विफल कर दिया गया। और उसकी सेना को हरा दिया गया। २८ ता० को विंढम की स्थिति और अधिक खराब हो गई और उसे जबर्दस्ती शहर छोड़कर खाई में शरण लेनी पड़ी।

२८ ता० को तोप की गड़गड़ाहट से चेतावनी पाकर जब सर कोलिन कानपुर की ओर चला तो उसे एक पत्र दिया गया जिसमें उससे तत्काल सहायता की प्रार्थना की गई थी। इसके ठीक बाद ही क्रमशः दो संवाद आए, जिनमें से दूसरे में यह बुरी खबर थी कि विंढम को खाई में खदेड़ दिया गया है। प्रधान सेनापति ने अपने सैन्य दलों और मार्ग-रक्षकों को पीछे छोड़ा और वह अपने कर्मचारीवर्ग के कुछ आदमियों के साथ घोड़े पर चढ़ कर तेज चाल से भागा। यह उसका सौभाग्य था कि नावों का पुल अभी वैसा ही अक्षत

१०९. लैंग, वांडरिंग्स इन इण्डिया एण्ड अदर स्केचेज़, पृ० ४१०-११

था। जब उसने कानपुर के लिए नदी पार की तो अंग्रेज़ी सेना अपनी अन्तिम सांस ले रही थी। परन्तु उसे सहायता मिल गई और तात्या ने यह अनुपम अवसर खो दिया।

कैम्पबेल एकदम हमला नहीं कर सका। जब तक कि मार्ग-रक्षक दल सड़क पर नहीं पहुंच गया, वह आगे नहीं बढ़ सका। मार्ग में रक्षा करते हुए जिन स्त्रियों, बच्चों और बीमारों को वह अब तक अपने साथ लाया था, उनकी सुरक्षा वह अपना प्रथम कर्तव्य समझता था। परन्तु तात्या ने उसे इस प्रकार न छोड़ा। अंग्रेज़ी शिविर के विरुद्ध भारी गोलाबारी की गई और ४ दिसम्बर को उसने एक गम्भीर भूल को सुधारने का प्रयत्न किया। आग के बेड़ों के द्वारा उसने नावों के पुल को जलाने का प्रयत्न किया। परन्तु अब अधिक विलम्ब हो गया था और पुल पर कड़ा पहरा था। ६ दिसम्बर को कैम्पबेल ने तात्या पर चढ़ाई की। उसकी योजना सरल थी। तात्या का केन्द्र करीब-करीब अभेद्य था और उसके बायें पार्श्व को आसानी से मोड़ा नहीं जा सकता था। इसलिए सर कोलिन ने उसके दाएं भाग पर चोट करने का निश्चय किया और ग्वालियर की सैनिक टुकड़ी को नाना के सैन्य दलों से पृथक करके उन्हें विस्तृत रूप से नष्ट करने का निश्चय किया। संख्या की दृष्टि से तात्या की सेना उसके शत्रु की सेना की अपेक्षा अधिक थी, परन्तु जिन तत्वों से वह निर्मित थी वे असमान योग्यता के थे। नाना के अनुयायी, जिनकी संख्या अनुमानतः १०,००० थी, नए रंगरूट थे। विद्रोही सेना पर अचानक आक्रमण किया गया। वे अपने नाश्ते का भोजन पका रहे थे और उनकी चपातियां तवे पर सिक ही रही थीं, जबकि उनपर आक्रमण किया गया और वे पंक्ति के चारों ओर इधर-उधर भाग गए। जनरल मैन्सफील्ड से कहा गया था कि वह उनके बाएं स्कन्ध को घेर ले और उनके पीछे हटने की पंक्ति को काट दे। परन्तु मैन्सफील्ड अपने सैन्य दलों को पुरानी छावनी के बाड़ों और घरों में फंसाना नहीं चाहता था, इसलिए विद्रोही बिठूर सड़क पर होकर पीछे हट गए। शहर अब भी तात्या की सेना के अधिकार में था, परन्तु चूंकि उसकी सेना का दायां भाग हटा दिया गया था और उसका शिविर उसके हाथ से जा चुका था, इसलिए उसके लिए अपनी स्थिति पर आगे बने रहना सम्भव न था और रात्रि के अन्धकार में वह पीछे हट गया। ८ ता० को होप ग्रांट को बिठूर भेजा गया परन्तु उसे पता लगा कि सिपाही सराय घाट में हैं। जब वह दूसरे दिन सवेरे जल्दी वहां पहुंचा, तो वे अपनी तोपें चढ़ा रहे थे। एकदम हमला किया गया और विद्रोहियों को विवश होकर एक बार और पीछे हटना पड़ा। इस प्रकार कानपुर को ले लेने और कैम्पबेल के युद्ध-कार्य के आधार को काट देने की तात्या की योजना विफल हो गई। उसकी योजना गुप्त नहीं रहती थी और अभीक्षण करने वाले सतर्क पुरुष उसकी हलचलों की नियमित रूप से सूचना दे देते थे। जो कुछ सफलता उसने प्राप्त की थी, उसके पीछे आश्चर्य का कोई तत्व न था। यद्यपि उसकी सेना छिन्न-भिन्न कर दी गई थी, उसकी तोपें पकड़ ली गई थीं, फिर भी वह अंग्रेज़ सेना के लिए एक खतरा बना रहा।

बिठूर ने फिर विजेताओं का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया और ब्रिगेडियर होप ग्रांट को वहां भेजा गया। यह सूचना दी गई थी कि युद्ध से एक दिन पहले नाना वहां रात को सोया था, परन्तु केवल उसका महल ही अंग्रेज़ लोगों के रोष का एकमात्र विषय न

था। इसके साथ-साथ मन्दिर भी नष्ट कर दिए गए।[110] परन्तु होप ग्रांट को केवल विनाश के उद्देश्य के लिए ही नहीं भेजा गया था। जब जुलाई में नाना अवध को भागा था तो वह अपने खजानों को अपने साथ नहीं ले जा सका था। वे महल के बड़े कुएं में डाल दिए गए थे। कुएं का पानी निकाला जाना था। परन्तु इंजीनियरों के पास कोई यान्त्रिक साधन न थे। इसलिए पानी को डोलों से निकालने का प्रारम्भिक तरीका बरता गया। हर एक आदमी इसी खयाल से काम कर रहा था कि कुएं से जो कुछ निकलेगा वह उसका वैध पुरस्कार माना जाएगा। जब पानी निकाल दिया गया तो कुएं की तह में लकड़ी की कुछ भारी बल्लियां मिलीं। "जैसे ही लकड़ी की इन भारी बल्लियों को हटाया गया, एक बड़ी मात्रा में चांदी की सिल्लियां मिलीं जो पानी में पड़ी रहने के कारण बहुत काली हो गई थीं। चांदी की इन चीजों के अलावा, ठोस चांदी का बना भूतपूर्व पेशवा का शाही हौदा भी मिला और इसके अलावा एक बड़ी मात्रा में सोने की तश्तरियां तथा अन्य बहुमूल्य वस्तुएं भी हाथ लगीं। ऐसा लगता था कि तश्तरियां जल्दी में वैसे ही उलट-पुलट डाल दी गई थीं और उनके नीचे पानी निकालने वाले इंजीनियरों को एक बहुत बड़ी संख्या में गोला-बारूद के सन्दूक मिले जिनमें देशी रुपये और सोने की मुहरें (हर एक सोने की मुहर की कीमत कम से कम १६ रुपये थी) भरी हुई थीं। अकेले इन सिक्कों की कीमत उस समय शिविर में २७ दिसम्बर को २ लाख पौंड से अधिक बताई गई थी। सोने और चांदी की तश्तरियों और अलंकृत जवाहरातों की कीमत इससे अलग थी।"[111] फोर्ब्स-मिशल ने सुना था कि तश्तरियों और अन्य बहुमूल्य वस्तुओं की कीमत दस लाख पौंड से अधिक थी और यह भी कि प्रत्येक प्राइवेट सिपाही को एक हजार रुपये से अधिक इनाम के रूप में मिलेंगे।[112] परन्तु कुएं के अन्दर जिन लोगों ने परिश्रम किया, उन्हें निराश होना पड़ा। सिक्कों पर सरकार ने अपनी सम्पत्ति के रूप में दावा किया, क्योंकि यह सन्देह था कि वे खजाने से आये हैं। तश्तरियों और जवाहरातों पर भी, जो भूतपूर्व पेशवा की सम्पत्ति थी, सरकार ने अपना दावा किया और सैन्य दलों को कुछ न मिला।

दिल्ली पर अधिकार किया जा चुका था, कानपुर को बचा लिया गया था और लखनऊ को सहायता-सेना भेज दी जा चुकी थी। अब फतेहगढ़ पर कब्जा करना बाकी था। फर्रुखाबाद से कुछ मील दूर यह स्थान पहले एक पठान नवाब के अधिकार में था। फतेहगढ़ एक सैनिक महत्व की चौकी था जो कानपुर से आगरा जाने वाली सड़क का समादेशन करता था। तोप-गाड़ियों का कारखाना यहां स्थापित किया गया था और विद्रोह के शुरू होने के समय यहां के किले का समादेशक अधिकारी कर्नल स्मिथ था। १०वीं देशी पैदल सेना जो फतेहगढ़ में रखी गई थी, समुद्र को पार कर बर्मा चली गई थी और वहां सुरक्षित

---

११०. कैप्टन ओलिवर जोन्स का कहना है, "उसका (नाना का) महल गिरा दिया गया, उसकी मस्जिद उड़ा दी गई और इतनी पूरी तरह से कि एक भी पत्थर दूसरे के ऊपर बचा नहीं रह गया।" जोन्स, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ५०-५१

१११. गार्डन-अलेक्ज़ेण्डर, रिकलेक्शन्स आफ़ ए हाईलैंण्ड सुबाल्टर्न, पृ० १६४-६५

११२. फोर्ब्स-मिशल, रेमिनिसेन्सैज़ आफ़ दि ग्रेट म्यूटिनी, पृ० १५२

समझी जाती थी। उन्होंने सचमुच जेल में एक विद्रोह को दबा दिया था, परन्तु कर्नल स्मिथ ने स्त्रियों, बच्चों और युद्ध में भाग न लेने वाले आदमियों को जून के प्रारम्भ में ही कानपुर भेजना अधिक उचित समझा। उनमें से कुछ तो वापस आ गए परन्तु शेष कानपुर के समीप विद्रोहियों के हाथ में पड़ गए। जून के मध्य में १०वीं सेना के कुछ देशी अफसरों ने स्मिथ को चेतावनी दे दी कि वे आगे उनके आदेशों का पालन नहीं करेंगे और कुछ थोड़े से यूरोपीय लोगों ने, जो वहां थे, किले में शरण ली। जून के प्रारम्भ में स्मिथ और उसके साथी जब किले को अपने अधिकार में रखने में असमर्थ हो गए तो वे तीन नावों में बैठकर किले से चले गए। इन नावों पर गोली चलाई गई, परन्तु कुछ भगोड़े नदी की धारा के साथ-साथ निकल जाने में सफल हो गए। परन्तु उन्हें भी बिठूर के समीप पकड़ लिया गया।[११३] १८ जून को सिपाहियों ने औपचारिक रूप से अपने को फर्रुखाबाद के नाम मात्र के नवाब की अधीनता में रख दिया। १८०१ की सन्धि के अनुसार अवध के नवाब ने फर्रुखाबाद का जिला अंग्रेज़ों को दे दिया था और साथ ही उसने उस कर को भी अंग्रेज़ों को दे देना स्वीकार किया था जो उसे स्थानीय शासक से मिलता था। अब फर्रुखाबाद के नवाब ने एक वर्ष बाद अपनी भूमि कम्पनी की सरकार को दे दी और उसके बदले में अपने और अपने आश्रितों के लिए एक लाख आठ हजार रुपये की पेंशन ले ली।[११४] जब अंग्रेज़ी राज्य-सत्ता उखाड़ फेंकी गई तो विद्रोहियों ने स्वाभाविक रूप से नेतृत्व के लिए उसकी ओर देखा क्योंकि वह भूतपूर्व शासक-वंश का वैध प्रतिनिधि था। औपचारिक रूप से उसे अपनी पुरानी अमलदारी का शासक घोषित कर दिया गया, परन्तु यह आश्चर्य की बात थी कि उसका अपने पड़ोसी, मैनपुरी के हिन्दू राजा से मेल न था, यद्यपि इस हिन्दू राजा के साथ भी अंग्रेज़ों ने अत्याचार किया था।

सर कोलिन कैम्पबेल, फतेहगढ़ के विद्रोहियों को चारों ओर से घेरना चाहता था। कर्नल सीटन की अधीनता में एक सैनिक दस्ता दिल्ली से भेजा गया था। प्रधान सेनापति ने एक सैनिक टुकड़ी कर्नल वालपोल की अधीनता में सीटन से मैनपुरी के पास मिलने के लिए भेजी। सर कोलिन भी बाद में गंगा के सहारे-सहारे आगे बढ़ना चाहता था। इस प्रकार दोआब को विद्रोहियों से साफ करना था और उन्हें खदेड़ कर रुहेलखण्ड और अवध पहुंचाना था। मैनपुरी से हाडसन, सीटन के प्रेषण-पत्रों को लेकर घोड़े पर सवारी करता हुआ प्रधान सेनापति के शिविर में गया। यह एक अद्वितीय साहस का काम था, परन्तु उसने यह भी दिखा दिया कि मैनपुरी और मीरन-की-सराय के बीच का प्रदेश, जहां हाडसन को कैम्पबेल मिला, बिलकुल अमित्रतापूर्ण नहीं था, क्योंकि हाडसन ने अपने अधिकतर मार्ग की यात्रा दिन में की और उसने कहीं विद्रोही सैन्य दलों के लक्षण नहीं देखे। केवल उसकी वापसी यात्रा में उससे यहा कहा गया कि चौबीस सवार जिन्हें उसने छिबरामऊ में छोड़ा था, काट डाले गए हैं और विद्रोही वहीं आस-पास छिपे हुए

---

११३. भगोड़ों में से कम से कम दो बच गए। जोन्स और चर्चर ने कृपालु ग्रामीणों के पास शरण ली थी और सुरक्षापूर्वक कानपुर भेज दिए जाने से पूर्व वे उनके पास रहे

११४. एचिसन, उद्धृत ग्रन्थ, जिल्द २, पृ० ३६-४०

हैं।[११५] प्रधान सेनापति के काली नदी पर पहुंचने से पूर्व सिपाहियों ने पुल को तोड़ा था। लकड़ी के फट्टे हटा दिए गए थे, परन्तु उसके ढांचे की मरम्मत हो सकती थी। यह एक आश्चर्य की बात थी कि जबकि मरम्मत का काम चल रहा था विद्रोही वहां कहीं दिखाई नहीं पड़े और उन्होंने उसी समय गोली चलाना शुरू किया जब कि पुल की पूरी तरह मरम्मत हो चुकी थी। कैप्टन आलीवर जोन्स ने जो उस समय वहां उपस्थित था कहा, "इन सिपाहियों और विद्रोहियों का संचालन करने वाले भी कितने अद्भुत रूप से महामूर्ख हैं! ये लोग तब तक ठहरे रहे जब तक हमें पुल की मरम्मत करने का समय मिल गया। यदि ऐसा करने के बजाय ये उस समय ही हम पर आक्रमण कर देते जब हम पहली बार यहां आए थे या जब पुल आधा बन चुका था उस समय यदि ये हमला करने की व्यवस्था करते, तो हमें अपने काम में देर भी लगा सकते थे और सम्भवतः हमारा नुकसान भी कर सकते थे; क्योंकि इस बात में बड़ा अन्तर है कि एक ओर तो भारी गोलाबारी में किसी पुल की मरम्मत की जाए और दूसरी ओर बिना किसी विरोध के।"[११६] लेफ्टिनेंट-कर्नल गार्डन-अलैक्जेण्डर हमें सूचना देता है कि जब नवाब ने किले को खाली किया तो "एक लाख पौण्ड के मूल्य की सरकारी सम्पत्ति मिली, जिसमें तोपों को ले जाने वाली गाड़ियों के कारखाने में काम में आने के लिए पकाई हुई लकड़ी, सब प्रकार की बन्दूकें, सिपाहियों के कपड़े, तम्बू और सब प्रकार का सैनिक सामान सम्मिलित था।" "विद्रोहियों ने किले में बन्दूक, गोली और बारूद तैयार करने का एक कारखाना स्थापित कर रखा था, परन्तु उनमें से किसी ने भी उस स्थान को उड़ाने की नहीं सोची थी। इतना ही नहीं, जब प्रधान सेनापति ने ३ ता० की शाम को किले में प्रवेश किया और किले की प्राचीर से विद्रोहियों को नावों में बैठ कर नदी को पार करते देखा गया तो यह पता चला कि उन्होंने नावों के पुल को भी काट कर अलग नहीं किया था।"[११७]

सीटन पहले बेवार के समीप वालपोल से मिला और फिर ४ जनवरी को वह प्रधान सेनापति से मिला। सेना फतेहगढ़ में एक लम्बा पड़ाव डाले पड़ी रही। चारों ओर के प्रदेश में "एक विशेष प्रकार के उपद्रवी स्वभाव के मुसलमान" बसे हुए थे और उन्हें दण्ड देने के लिए तथा व्यवस्था कायम करने के लिए एक सैनिक दल भेजा गया। इस सैनिक दल के साथ कमिश्नर मि० पावर भी गया, जिसका उसके शिविर के मित्रों और प्रशंसकों ने "फांसी पर चढ़ाने वाली शक्ति" नाम रख छोड़ा था। "प्रत्येक पड़ाव पर मि० पावर ने संक्षिप्त न्याय-विधि की एक कचहरी की और उसने युद्ध में भाग लेने वाले उन बीसों निर्दय राजद्रोहियों को मृत्यु की सजा दी जिनका गत जून में फतेहगढ़ में हुए अत्याचारों से सम्बन्ध था। यहीं केवल मऊ में करीब १०० ऐसे ग़दर करने वाले और विद्रोही लोगों को, जो कस्बे में और उसके आसपास गांवों में छिपे हुए थे, हमारे वहां (तीन दिन) के पड़ाव

---

११५. हाडसन, हाडसन आफ़ हाडसन्स हार्स, पृ० २६०-६४

११६. जोन्स, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ८२

११७. गार्डन-अलेक्ज़ेण्डर, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० २१०। कैप्टन आलिवर जोन्स भी देखिए, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ८३

में अर्थात् ११ जवनरी की प्रातः तक संक्षिप्त मुकदमा चला कर कस्बे के मध्य में एक वर्गाकार स्थान में एक बड़े पीपल के पेड़ की शाखाओं से लटका कर फांसी दे दी गई।"[११८]

ग्रांड ट्रंक रोड अब सुरक्षित हो गई। बंगाल और पंजाब, तथा कलकत्ता और लाहौर के बीच संचार-साधन पुनः स्थापित हो गया। परन्तु अवध और रुहेलखण्ड अब भी विद्रोहियों के हाथ में थे। फतेहगढ़ के पतन ने रुहेलखण्ड के मार्ग को खोल दिया था। सर कोलिन सोचता था कि विजय के बाद ही "आगे बढ़ कर रुहेलखण्ड पर अधिकार कर लेना चाहिए। विद्रोहियों के बड़े-बड़े जमावों के नेताओं को, जिनके वहां होने का हमें पता है, हमें समूल नष्ट कर देना चाहिए। उनकी तोपों को हमें अपने हाथों में कर लेना चाहिए और जिस प्रकार दोआब में हमारी राजसत्ता पुनः स्थापित की जा रही है उसी प्रकार क्रियात्मक रूप में हमें यहां भी करना चाहिए।"[११९] वह अवध की विजय को सन् १८५८ के शरत् काल तक के लिए स्थगित रखना चाहता था ताकि वह अपनी सेनाओं को सहारनपुर और बरेली के विरुद्ध केन्द्रित कर सके क्योंकि यह सूचना मिली थी कि इन्हीं स्थानों में विद्रोही सेनाएं इकट्ठी हो रही थीं। उसका विचार था कि जब सब आस-पास के प्रदेश अधीन कर लिए जाएंगे और सब विद्रोही सेनाओं को अवध में संचित कर दिया जाएगा तो उनका सफाया करने में आसानी होगी। प्रधान सेनापति और उसके परामर्शदाताओं का मत था कि ३०,००० आदमियों से कम की सेना को लेकर अवध को जीतने का प्रयास नहीं करना चाहिए। इसके विपरीत गवर्नर-जनरल का यह मत था, और दूसरे लोग भी उसके इस मत से सहमत थे, कि भारत-आंग्ल सेना को अवध पर सबसे पहले ध्यान देना चाहिए। हैवलाक ने रेज़िडेंसी को छोड़ने का अनुमोदन नहीं किया था और यह कहा जाता है कि उसे ऊटरम का समर्थन प्राप्त था। लखनऊ पर अंग्रेज़ी झण्डे के दिखाई न पड़ने का यह अर्थ माना जाता कि विद्रोहियों की विजय हो गई है और इसका राजनीतिक प्रभाव अंग्रेज़ों के उद्देश्य के लिए प्रतिकूल पड़ता। राजनीतिक दृष्टि से लखनऊ उतना ही महत्वपूर्ण था जितना दिल्ली। गवर्नर-जनरल ने लिखा, "भारत में हर एक की निगाह लखनऊ पर है जैसे कि दिल्ली पर थी। अवध केवल सिपाहियों का मिलन-स्थान नहीं है जिसकी ओर वे देखते हैं और जहां काम करके उनकी आशाएं और भविष्य बनेंगे या बिगड़ेंगे, बल्कि यह नगर एक राजवंश का प्रतीक है और इसका एक राजा भी है जो अपने को बचाने का प्रयत्न कर रहा है। अवध और उसके साथ हमारे सम्बन्ध एक ऐसी बात है जो प्रत्येक भारतीय के मस्तिष्क में गत दो वर्ष से विद्यमान रही है। प्रत्येक भारतीय सरदार का ध्यान इस ओर लगा है कि हमने जो कुछ प्राप्त किया है उसको हम अपने अधिकार में रखने में समर्थ हैं या नहीं।"[१२०] इसलिए इससे आगे के युद्ध में अवध को रुहेलखण्ड की उपेक्षा प्राथमिकता मिली थी और ऊटरम को, जो आलम बाग में ठहरा हुआ अवध को पुनः लेने की प्रतीक्षा कर रहा था, पीछे हटने की अनुमति नहीं दी जा सकती थी। इन

११८. गार्डन-अलेक्ज़ेण्डर, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० २१४

११९. फ़ारेस्ट, ए हिस्ट्री आफ़ दि इण्डियन म्यूटिनी, जिल्द २, पृ० २५४

१२०. फ़ारेस्ट, ए हिस्ट्री आफ़ दि इण्डियन म्यूटिनी, जिल्द २, पृ० २५३-५४

राजनीतिक विचारों की सैनिक निर्णय के ऊपर विजय हुई और प्रधान सेनापति को गवर्नर-जनरल की बात माननी पड़ी।

अवध के राज्य पर उत्तर की ओर से आक्रमण पहले किया जा चुका था। नेपाल का वास्तविक शासक जंगबहादुर आवश्यकता के समय सहायता करके अंग्रेजों के साथ अपनी मित्रता को दृढ़ करना चाहता था। जब ग़दर शुरू हुआ और अंग्रेजों की प्रतिष्ठा स्पष्टतः घट रही थी तो उस समय जंग बहादुर ने अंग्रेजी सरकार के सामने नेपाली सेना की सेवा का प्रस्ताव रखा। यद्यपि इस प्रस्ताव को एकदम स्वीकार नहीं किया गया, परन्तु लार्ड कैनिंग ने इस मित्रतापूर्ण रवैये को निरुत्साहित करना ठीक नहीं समझा और फलतः जुलाई में ३,००० गुरखों के एक सैनिक दल ने गोरखपुर जिले में प्रवेश किया। यहां मुहम्मद हसन को नाजिम बना कर एक विद्रोही सरकार स्थापित कर दी गई थी। पुराने शासन में मुहम्मद हसन गोरखपुर का नाजिम था, परन्तु इस प्रदेश के अंग्रेजी राज्य में मिलाए जाने के बाद उसका यह पद जा चुका था। पर्याप्त व्यक्तिगत खतरे को उठाकर भी उसने फैजाबाद से भागे कर्नल लैनोक्स तथा दूसरे शरणार्थियों को शरण दी थी और अवध में विद्रोहियों का साथ देने के बाद भी उसने निरपराध लोगों का रक्त नहीं बहाया।[१२१] बाद में जब अंग्रेजी सरकार ने उसे क्षमा-दान देने का प्रस्ताव किया तो उसने स्पष्टतः उत्तर दिया कि वह अपने राजा और स्वामी के लिए लड़ रहा था न कि अपने लिए। प्रथम बार उसके विरुद्ध ही गुरखा लोग भेजे गए थे और गोरखपुर से फिर वे जौनपुर और आजमगढ़ की ओर चले। केवल इस छोटी-सी सैनिक टुकड़ी को ही देने से संतुष्ट न हो कर जंग बहादुर ने अपनी व्यक्तिगत सेवाएं भी अर्पित कीं। यदि एक निर्णयात्मक नहीं तो कम से कम यह एक अतिरिक्त कारण अवश्य था जिससे सन् १८५७-५८ के शीतकालीन युद्ध में अवध को अन्य प्रदेशों की अपेक्षा प्राथमिकता दी गई। २१ दिसम्बर को जंगबहादुर १०,००० आदमियों की एक सेना लेकर सीमान्त पर पहुंचा और वहां जनरल जी० एच० मेकग्रेगर उससे मिला, जिसे गुरखा सैनिक दल के साथ गवर्नर-जनरल का एजेंट नियुक्त किया गया था।

जब यह निश्चय कर लिया गया कि दूसरे युद्ध का उद्देश्य अवध का पतन होना चाहिए तो प्रधान सेनापति फतेहगढ़ से कानपुर चला। परन्तु जाड़ा समाप्त होने तक अभियान प्रारम्भ नहीं हो सका। जनरल फ्रैंक्स को पूर्व दिशा से अवध में प्रवेश करना था और राजनीतिक कारणों से सर कोलिन को जंगबहादुर की प्रतीक्षा करनी थी। सर कोलिन १८ फरवरी के करीब अपने युद्ध-कार्यों को प्रारम्भ करने के लिए उत्सुक था, परन्तु जंग बहादुर और जनरल फ्रैंक्स की २७ ता० से पूर्व लखनऊ में आने की आशा नहीं हो सकती थी। लार्ड कैनिंग का विचार था कि जंग बहादुर के लिए प्रतीक्षा

१२१. यदि मुहम्मद हसन प्रयत्न न करता तो गोंडा का यरेशियन हेड कलर्क जार्ज यूवर्ड मरवा दिया गया होता। देखिए यूवर्ड, एन एपीसोड आफ़ दि रिबेलियन एण्ड म्यूटिनी इन अवध आफ़ १८५७ एण्ड १८५८, पृ० ३९-४०। परन्तु यूवर्ड का वर्णन गलत बातों से भरा पड़ा है।

करना बुद्धिमानी होगी। "जब वह यह देखेगा कि उसे चालाकी से इस बड़ी लड़ाई में लगा दिया गया है तो वह आगबबूला हो उठेगा—मुझे विश्वास है कि वह हमसे मित्रता तोड़ देगा और एक सप्ताह के अन्दर अपनी पहाड़ियों में वापस चला जाएगा। इस सहायता का खोना हमारे लिए बड़ा असुविधाजनक होगा, परन्तु उसके साथ हमारे सम्बन्धों का बिगड़ना तो और भी अधिक बुरा होगा। इसलिए यदि कुछ और देर हो तो मैं उसे स्वीकार करने के लिए बिल्कुल प्रस्तुत हूं।"[१२२] इस प्रकार एक शक्तिशाली पड़ोसी को प्रसन्न करने की आवश्यकता के सामने प्रधान सेनापति को भी झुकना पड़ा।

जनरल फ्रैंक्स पहले ही चल पड़ा था। उसके साथ पहलवान सिंह नामक एक गुरखा अफसर भी था। इन दोनों ने १९ फरवरी को चन्दा नामक स्थान में अवध के सैन्य दलों से, जो बन्दा हसन और मेंहदी हसन की अधीनता में थे, युद्ध किया। मेंहदी हसन ने बुधायन के समीप उनकी प्रगति को रोकने का प्रयत्न किया, परन्तु उसे इस बार फिर हरा दिया गया। फ्रैंक्स ने इसके बाद सुल्तानपुर की ओर अभियान किया जहां लखनऊ के एक सेनापति गफ़ूर बेग की अधीनता में एक शक्तिशाली सेना उसकी प्रतीक्षा कर रही थी। एक घमासान लड़ाई लड़ने के बाद उसने अपनी सेना को विश्राम देने के लिए पड़ाव डाला। दूसरे दिन जालन्धर से तीसरी सिख सेना उससे आकर मिली। ४ मार्च को फ्रैंक्स लखनऊ से ८ मील की दूरी पर था। जंग बहादुर कहीं ११ मार्च तक लखनऊ पहुंच पाया।

इसी समय ऊटरम को आलम बाग में बड़े बुरे समय का सामना करना पड़ रहा था। उसके पास आदमियों की इतनी कमी थी कि वह इतने खतरों से भरे स्थान को आसानी से बचाये नहीं रख सकता था। यह स्थान लखनऊ से इतना समीप था कि अधिक देर तक विद्रोहियों के ध्यान से बचकर नहीं रह सकता था। कानपुर के साथ इसकी संचार-पंक्ति इतनी लम्बी थी कि बिना कठिनता के उसे बनाए रखना सम्भव नहीं था। यदि अवध को तत्काल ही नहीं जीता जा सका तो उसे कानपुर के अधिक समीप किसी सैनिक स्थान पर जाने के लिए आलम बाग को छोड़ना पड़ता। चूंकि आलम बाग का अपने आप में कोई राजनीतिक महत्व नहीं था, इसलिए अवध का कोई अन्य स्थान भी प्रान्त में अंग्रेज़ों के पैर जमाए रखने के संकल्प का सूचक हो सकता था। परन्तु यदि अगला आक्रमण लखनऊ पर होना था तो उसके लिए यह आवश्यक था कि वह किसी भी मूल्य पर आलम बाग को अपने अधिकार में रखे और उसने सफलतापूर्वक ऐसा किया भी, यद्यपि इस बीच कम से कम छः आक्रमण लखनऊ पर किए गए। आक्रमण ठीक समय पर किए गए थे और दृढ़ संकल्प के साथ किए गए थे। एक बार आक्रमण उस समय किया गया जब दुर्ग-सेना का एक भाग मार्ग-रक्षा के काम से बाहर गया हुआ था। अपने अनुयायियों में साहस और संकल्प की प्रेरणा भरने के लिए एक बार विद्रोही सेना का नेतृत्व एक आदमी ने कपि-देवता हनुमान के वेश को धारण कर किया, एक बार स्वयं रानी अपने सैन्य दलों को उत्साहित करने के

---

१२२. फ़ारेस्ट, ए हिस्ट्री आफ़ दि इण्डियन म्यूटिनी, जिल्द २, पृ० ३०३

लिए युद्ध-क्षेत्र में दिखाई पड़ी। ऊटरम पर कभी अचानक आक्रमण नहीं किया गया। शत्रुओं की हलचल का पता लगाने वाले उसके सिपाही उसे सदा उनकी योजनाओं का पता देते रहते थे।[१२३] कभी-कभी सिपाहियों के आक्रमण की योजनाएं अत्युत्तम होती थीं, परन्तु उन्हें कार्यान्वित करने वाला कोई योग्य अफसर नहीं था। जैसा कि फ़ारेस्ट ने कहा है, "सिपाहियों के भारी नुकसान ने यह सिद्ध कर दिया कि उनमें साहस की कमी नहीं थी, बल्कि यदि किसी चीज की कमी थी तो नेतृत्व की, जैसा कि दिल्ली में भी देखने में आया। यदि उनका नेतृत्व ऐसे आदमियों के हाथ में होता जो युद्ध-कार्यों से परिचित होते, तो अंग्रेज़ कमाण्डर के लिए अपनी बढ़ी हुई स्थिति को बनाए रखना असम्भव हो जाता और न वह कानपुर के साथ संचार-साधनों को खुला रख सकता।" तीन महीने तक ऊटरम विद्रोही सेना को रोके रहा और भारी कठिनाइयों के बावजूद आलम बाग पर अपना अधिकार जमाए रहा। इसी बीच सर कोलिन कैम्पबेल ने लखनऊ पर अन्तिम आक्रमण करने की अपनी सब तैयारियों को पूरा कर लिया। कानपुर की ओर से अब उसे कोई चिन्ता नहीं थी। अवध के लिए प्रस्थान करने से पूर्व उसने कानपुर की प्रतिरक्षा के लिए उस आक्रमण के विरुद्ध उपयुक्त प्रबन्ध कर दिया था, जिसे बची हुई ग्वालियर सैनिक टुकड़ी के सिपाही कर सकते थे। उसने होप-ग्रांट को कानपुर से २५ मील दूर फतेहपुर चौरासी में भेजा जहां नाना छिपा हुआ बताया जाता था। होप ग्रांट १७ फरवरी को वहां पहुंचा और उसने उस किले को, जो विद्रोही नेता जसंसिह का निवास-स्थान था, उड़ा दिया, परन्तु नाना वहां नहीं था। १ मार्च को होप ग्रांट को आदेश दिया गया कि वह अपने प्रधान से बंटेरा में मिले। सर कोलिन एक दिन पूर्व कानपुर से चल चुका था और पचास मील घोड़े पर चढ़ कर वह आलम बाग पहुंचा और फिर वहां से नए मुख्यालय बंटेरा में वापस आया। २ मार्च को सवेरे लखनऊ के विरुद्ध युद्ध-कार्य शुरू हुआ।

इसी बीच लखनऊ की प्रतिरक्षा पर्याप्त रूप से शक्तिशाली बना दी गई थी। नदी के किनारे मिट्टी से भर दिए गए थे और शहर में तीन पृथक् पंक्तियों में अवरोधक खड़े कर दिए गए थे। परन्तु गोमती नदी के उत्तरी किनारे की ओर ऐसा ही ध्यान नहीं दिया गया था, जिससे प्रतिरक्षकों को अपने काम में उसी प्रकार की कठिनाई हुई जैसी दन्त-कथाओं के एक आंख वाले जानवर को होती है। सर कोलिन के साथ १६ हजार आदमी थे और जब फ्रैंक्स और जंग बहादुर उससे आकर मिले तो उनकी संख्या बढ़ कर तीस हजार से ऊपर हो गई। प्रधान सेनापति निश्चित योजना के अनुसार धीरे-धीरे और नियमित रूप से आगे बढ़ा और यदि कोई युद्ध-कार्य अपने समय से पहले सम्पन्न हो गया तो उस पर अधिक प्रसन्न भी नहीं हुआ। ऊटरम नदी के उत्तरी किनारे पर

---

१२३. "अंगद, अंजूर तिवारी और दूसरे लोग अद्भुत रूप से ठीक सूचनाएं देते थे। हमें उनके आयोजित सब आक्रमणों की, उनके वास्तविक रूप से किए जाने के घंटों पूर्व, परिपूर्ण सूचना मिल जाती थी।" माड एण्ड शेरर, मेमायर्स आफ़ दि म्यूटिनी, जिल्द २, पृ० ४४७

गया। उसका काम यह था कि वह नदी के उस ओर शत्रुओं के सैन्य दलों का सफाया करे। उसने कार्य-क्रम के अपने भाग को पूरा किया और लोहे के पुल को अपने अधिकार में बनाए रक्खा, परन्तु उसे पुल को पार करने की अनुमति नहीं दी गई थी, क्योंकि सर कोलिन किसी आकस्मिक दुर्घटना का खतरा मोल लेने को तैयार नहीं था और युद्ध-कार्य में कुछ नुकसान अवश्य होता चाहे वह कितना ही कम क्यों न होता। विद्रोही सेना के सामूहिक रूप में बच कर निकल जाने का कारण बाद में ब्रिगेडियर कैम्पबेल की इस भूल-चूक और ढिलाई को बताया गया।[१२४] गोमती के दक्षिण की ओर मुख्य सेना ने दिलकुशा पर अधिकार कर लिया। इसके बाद मार्टीनियर को ले लिया गया और फिर एक के बाद एक किलेबन्द महलों, दिवालों से घिरे बागों, मस्जिदों और मकबरों को लिया गया। अन्त में विद्रोहियों ने देखा कि वे अब अपनी स्थिति पर टिक नहीं पा रहे हैं और उन्होंने शहर खाली कर दिया। वे साहस के साथ लड़े थे और जब बेगम कोठी पर आक्रमण किया गया तो ८६० प्रतिरक्षक अकेले मध्यवर्ती आंगन में मरे पड़े थे। स्वयं राजमाता ने कभी हिम्मत नहीं हारी और अपने आदमियों के बीच वह उस उत्साह के साथ घूमती थी जिसका परिणाम अधिक अच्छी सफलता होना चाहिए था। परन्तु कुछ काम न आया और १८ मार्च को शहर के सब शक्तिशाली स्थान अंग्रेज़ों के हाथ में थे। एक शक्तिशाली विद्रोही सैन्य दल ने, जिसे सम्भवतः बेगम से प्रेरणा मिली थी, १६ ता० तक मूसा बाग को अपने अधिकार में रखा। मौलवी जो अन्यों की अपेक्षा अधिक दृढ़-निश्चयी था, २२ ता० से पूर्व अपने स्थान से नहीं हटाया जा सका। इस प्रकार लखनऊ का पतन हुआ, परन्तु अवध को अभी जीतना बाकी था। बन्दी महिलाओं ने रसेल को बताया कि उनके आदमी अब भी जीतेंगे।[१२५]

अन्य जीते गए शहरों का जो हाल हुआ था, वही लखनऊ का भी हुआ। बेगम कोठी पर कब्जा कर लेने के बाद जो भयानक विनाश और लूट की गई, उसका वर्णन रसेल ने इस प्रकार किया है, "लूट का दृश्य अवर्णनीय था। सिपाहियों ने अनेक संग्रहागारों को तोड़ दिया था और उनके सामान को चौक में इकट्ठा कर दिया था, जो अनेक चीजों से भरा पड़ा था। उसमें डिब्बे, कसीदा किए गए कपड़े, सोने और चांदी के गोटे, चांदी के बर्तन, हथियार, भांडे, ढोल, शाल, गर्दन पर डालने के लम्बे रुमाल, बाजे, दर्पण, तस्वीरें, किताबें, बहियां, दवाई की बोतलें, भड़कीली पताकाएं, ढाल, भाले और अनेक प्रकार की वस्तुएं थीं जिनके नाम यदि गिनाए जाएं तो यह कागज का पन्ना किसी सौदागर की वस्तुओं की सूची बन जाएगा। इन चीजों में से होकर आदमी चल रहे थे, उत्तेजना से

---

१२४. गार्डन-अलेक्ज़ेण्डर का मत है कि "सरकारी तौर पर स्वयं प्रधान सेनापति २०,००० आदमियों के बचकर फैजाबाद भाग जाने के लिए उत्तरदायी था, परन्तु मूसा बाग की हास्यास्पद विफलता के लिए अकेला ब्रिगेडियर कैम्पबेल ही उत्तरदायी था।" गार्डन-अलेक्ज़ेण्डर, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० २७७

१२५. "ये स्त्रियां कहती हैं कि उन्हें पूरा विश्वास है कि हम अन्त में हरा दिए जाएंगे।" रसेल, उद्धृत ग्रन्थ, जिल्द १, पृ० ३३८

पागल और 'लूट के नशे में मस्त'। मैंने इस वाक्यांश को सुना तो था परन्तु इस चीज को पहले कभी नहीं देखा था। उन्होंने चिड़ियों को मारने वाली छोटी बन्दूकों और पिस्तौलों को तोड़ कर टुकड़े-टुकड़े कर दिया, केवल उन पर चढ़े हुए सोने को लेने के लिए या उनके कुन्दों में जड़े हुए रत्नों को निकालने के लिए। उन्होंने चौक के बीच में आग जलाई और उसमें गोटे को और कसीदा की गई शालों को, उनमें से सोना और चांदी निकालने के लिए जलाया। उन्होंने चीनी मिट्टी के बर्तनों, शीशे की वस्तुओं और बहुमूल्य रत्नों को चूर-चूर कर दिया। तस्वीरों को उन्होंने फाड़ डाला या आग की लपटों में फेंक दिया। मेज-कुर्सी आदि लकड़ी के सामान का भी यही हाल हुआ।"[१२६] द्वेषपूर्ण भावना से एक स्त्री के बताए बिना जिसका पता लगना कठिन था ऐसे एक संग्राहागार की सम्पत्ति का वर्णन करते हुए लेफ्टिनेंट-कर्नल गार्डन-अलेक्ज़ेण्डर कहता है, "अन्दर मैंने एक बड़ा खुश्क-सा संग्रहागार पाया जो १४ फुट लम्बा और उतना ही चौड़ा एक वर्गाकार कमरा था और जो काफी ऊंचा था। उसके तीन ओर तीन-तीन फुट के फासले पर अलमारियां लगी हुई थीं, ठीक छत तक। इन अलमारियों में बहुमूल्य चीजें भरी हुई थीं, जैसे बड़े-बड़े डिब्बे जिनमें बहुत बढ़िया कश्मीरी शाल रखे हुए थे, चांदी और जवाहरातों से मढ़ी हुई तलवारें थीं और दूसरे हथियार थे। एक ठोस सोने की सन्दूकची थी जिसमें अलग-अलग खाने बने हुए थे जो ठीक वैसी लगती थी जैसे कि अंग्रेजों की रसोई की मसालेदानी। इसे मैं स्वयं उठा कर ले आया और मैंने उसे युद्धजित वस्तुओं के अभिकर्ता को दे दिया। इस सन्दूकची का प्रत्येक खाना बहुमूल्य रत्नों से पूरी तरह भरा पड़ा था, जैसे कि हीरे, लाल, पुखराज और नीलम। एक जो अन्य अद्भुत वस्तु मिली वह थी अनेक शंक्वाकार टोपियां जो उस प्रकार के मुकुट से मिलती थीं, जिसे हमारे "पीयर" लोग पहनते हैं। उनमें बहुमूल्य रत्न जैसे हीरे आदि, जड़े हुए थे। परन्तु ये टोपियां पतले गत्ते की बनी हुई थीं और उनके ऊपर रंग-बिरंगी रेशमी मखमल लगी हुई थी"[१२७] कर्नल गार्डन-अलैक्ज़ेण्डर ने स्वयं प्राप्त की हुई वस्तुएं युद्धजित वस्तुओं के अभिकर्ताओं को सौंप दीं परन्तु खोज करने वालों ने लूट के अधिकतर माल को स्वयं रख लिया। फोर्ब्स-मिशल मजाक करता हुआ टिप्पणी करता है कि जब कि शिविरानुचरों और दूसरे लुटेरों से जनता के हित या सेना के लाभ के लिए लूट के माल को निकलवा लिया गया, "सैनिकों द्वारा यह सन्देह किया जाता था कि टूटे डिब्बों में बन्द कुछ छोटी सन्दूकचियां थीं, जिनमें इतनी राशि थी कि जिससे स्काटलैण्ड, इंग्लैण्ड और आयरलैण्ड की बन्धक रूप में रक्खी हुई जायदादों को छुड़ाया जा सकता था और जिनसे दुनिया भर के सर्वोत्तम स्थानों में मछली मारने एवं शिकार खेलने के अधिकार प्राप्त किए जा सकते थे। ये सन्दूकचियां युद्धजित माल के अधिकर्ताओं ने गायब कर लीं। मैं स्वयं एक ऐसी भारी ऋण-ग्रस्त जायदाद का नाम जानता हूं जिसे लखनऊ की लूट के दो साल के अन्दर एक लाख अस्सी हजार पौण्ड चुकाकर बन्धक-भार से मुक्त किया गया था।" लूट के माल के इस प्रकार के अपहरण के मामलों के बाद भी युद्धजित वस्तुओं के अभिकर्ताओं

१२६. रसेल, उद्धृत ग्रन्थ, जिल्द १, पृ० ३३३

१२७. गार्डन-अलेक्ज़ेण्डर, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० २८३

ने जिस माल को इकट्ठा किया वह बहुत था। फोर्ब्स-मिशल कहता है, "हमारे लखनऊ से चलने से पूर्व युद्धजित वस्तुओं के अभिकर्ताओं ने जितना माल इकट्ठा किया था उसका मूल्य ६ लाख पौंड से अधिक आंका गया था (३१ मई, १८५८ के "दि टाइम्स" के अनुसार) और एक सप्ताह के अन्दर यह साढ़े बारह लाख पौण्ड तक पहुंच गया। इस सबका क्या हुआ ?"[१२८]

किसी भी दुःखान्त घटना का एक अच्छा पहलू भी होता है। कभी-कभी लूट से लोभी लुटेरों को काफी परेशानी भी होती थी। लेफ्टिनेंट मेजेण्डी के आदमी हर एक चीज की लूट के लिए तैयार रहते थे। कुक्कुट और कबूतर मांस के लिए बहुत अच्छी चीजें थीं, और हरे तोते (अधिक ठीक कहें तो छोटे तोते के बच्चे) भी अप्रिय साथी नहीं थे। परन्तु पकड़ी हुई चीजों में एक बड़ा तेन्दुआ भी था जो सड़क के किनारे एक पिंजरे में बन्द पाया गया था। उसकी खाल पाने के लिए उसे एकदम गोली से मार दिया गया जिस पर सारी सेना ने दावा किया। कुछ भारवाही बैलों को, जिन तोपों में वे जुते हुए थे, उनके साथ पकड़ लिया गया, परन्तु वे बड़े कष्टदायक सिद्ध हुए। "इस संसार में युद्ध-बन्दी कभी भी इतने विद्रोही सिद्ध नहीं हुए होंगे जितने ये सींगधारी श्रीमान्। तर्क और खुशामद दोनों का ही इन पर कोई प्रभाव नहीं हुआ। जब से वे हमारे हाथों में पड़े उन्होंने एकमत से हमारी तोपें ढोने से इन्कार कर दिया।"[१२९]

विद्रोह के नेता, मौलवी और बेगम, सुरक्षापूर्वक बच कर निकल गए थे। फ़ीरोजशाह भागा, परन्तु एक बार फिर लड़ने के लिए। कुंवरसिंह अपने अदम्य उत्साह और अकथनीय परिश्रम का ताजा साक्ष्य देने के लिए पहले ही आजमगढ़ जा चुका था। परन्तु अवध के शाही परिवार के सभी सदस्य इतने भाग्यवान नहीं थे। रसेल कुछ बन्दी बेगमों और उनकी परिचारिकाओं से मिलने गया। वह कहता है, "हमने उन सबको एक बड़े, नीची छत के अन्धाकारयुक्त और गन्दे कमरे के फर्श पर देखा। इस कमरे में खिड़कियां तक न थीं। जब ब्रूस प्रवेश करता था तो दीवालों के चारों ओर झुकी पड़ी हुई महिलाओं की आवाजें तीव्र हो उठती थीं तथा वे बड़े जोर से शोर करती थीं।"[१३०] उस "महान समान स्तर पर ला देने वाले" ने एक संक्षिप्त रात में बेगमों को भिखारिनें बना दिया था। परन्तु उनसे छोटे दर्जे की स्त्रियों ने शहर की प्रतिरक्षा में अपने प्राण उत्सर्ग कर दिए थे।[१३१] लखनऊ के पतन के कुछ थोड़े दिनों बाद "एक झुर्रियां पड़ी हुई बुढ़िया जो वृद्धावस्था के कारण झुक कर दुहरी हो रही थी" लोहे के पुल के पास छिपी हुई, फटे-चिथड़े कपड़ों के छोटे-छोटे टुकड़े इकट्ठे करती हुई देखी गई थी। बाद में उसे "बिलकुल मृत" पाया गया और "उसके हाथ से लगा हुआ मोमबत्ती के समान एक सूत का टुकड़ा पाया गया जो अंशतः

---

१२८. फोर्ब्स-मिशल, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० २२८

१२९. मेजेण्डी, अप अमंग दि पंडीज़, पृ० २०१-२०२

१३०. रसेल, उद्धृत ग्रन्थ, जिल्द १, पृ० ३५७

१३१. गार्डन-अलेक्ज़ेण्डर ने देखा कि सिकन्दर बाग के मृतकों में कुछ हब्शी स्त्रियां भी थीं। "वे जंगली बिल्लियों की तरह लड़ीं और उनके मारे जाने के बाद ही पता लगा कि

जला हुआ था। जहां इस मृत स्त्री का हाथ रखा था वहीं कूड़े में छिपा फर्श के नीचे गया हुआ एक बांस दिखाई पड़ा, जिसमें एक पलीना लगा हुआ था। बांस एक बड़ी सुरंग तक जाता था।[132] यह कभी पता न चल सकेगा कि इस बुढ़िया के निर्बल हाथ किस अन्याय का प्रतिकार करने के लिए प्रयत्नशील थे। उसके टिमटिमाते जीवन को किस दुःखान्त घटना ने कटु बना दिया था, इसकी खोज इतिहास कभी नहीं कर सकेगा। स्वभावतः शहर को छोड़ कर लोग चले गए। सर जेम्स ऊटरम ने नागरिकों को लौटने का निमन्त्रण दिया, परन्तु एक सरकारी रिपोर्ट का कहना है कि सिपाहियों ने निवासियों के साथ जो भयभीत कर देने वाला और उजड्ड व्यवहार किया था उसके कारण अधिकांश लोग शहर से बाहर रहे। फिर भी धीरे-धीरे वे लोग आने लगे और जैसे-जैसे सैनिक अधिकारियों ने कड़ा नियन्त्रण रखना शुरू किया, आदमियों ने देखा कि पहले की अपेक्षा अब उन्हें तंग नहीं किया जाता है और वे लगभग सब के सब वापस चले आए।[133]

२१ मार्च को पादरी मि० मेक के ने एक प्रभावशाली प्रवचन दिया। उसने कहा कि लखनऊ के पतन ने उसे निश्चित विश्वास दिला दिया है कि ब्रिटिश साम्राज्य का वह हाल नहीं होगा जो 'विश्व के अब तक के विशाल साम्राज्यों' का हुआ है, क्योंकि इंग्लैण्ड एक ईसाई देश है।[134] परन्तु सैनिक और असैनिक अधिकारियों ने इस विनिश्चय में कुछ भी आश्वासन नहीं पाया। लखनऊ के लिए जाने से पूर्व सर जेम्स ऊटरम को गवर्नर-जनरल की ओर से एक घोषणा मिली थी परन्तु इसका प्रकाशन तब तक स्थगित कर दिया गया था जब तक कि लखनऊ अंग्रेजों के अधिकार में न आ जाए। इसका कारण यह था कि गवर्नर-जनरल को आशंका थी कि अन्यथा उसकी उदारता कमजोरी और भय के कारण उत्पन्न मानी जाएगी। परन्तु ऊटरम ने इस घोषणा को बहुत कठोर और समझौते की भावना से रहित पाया, क्योंकि इसके अनुसार केवल ६ विशिष्ट जमींदारों और ताल्लुकेदारों को अपवाद-स्वरूप छोड़कर, शेष सब अवध के जमींदार रईसों को उनके पूर्वजों के समय से चली आई हुई भूमि से हाथ धोना था। गवर्नर-जनरल ने इस घोषणा में अवध के लोगों को याद दिलाया था कि उनकी राजधानी अब अंग्रेजी सरकार की कृपा पर, जिसके वे विरुद्ध लड़े थे, आश्रित थी। "वे एक महान अपराध के दोषी रहे हैं और अब उन्होंने अपने को एक न्याय्य प्रतिशोध का पात्र बनाया है।" "गवर्नर-जनरल का पहला काम उन लोगों को पुरस्कार देना होगा जो अपनी वफादारी में स्थिर रहे हैं।" "गवर्नर-जनरल आगे अवध के लोगों के समक्ष यह घोषित करता है कि उपर्युक्त अपवादों को छोड़ कर प्रान्त की जमीन के

वे स्त्रियां थीं।" गार्डन-अलेक्ज़ेण्डर, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १०४। फोर्ब्स-मिशल एक स्त्री का उल्लेख करता है जिसने सिकन्दराबाद के चौक में एक बड़े पीपल के पेड़ पर बैठ कर कई अंग्रेज़ सिपाहियों को गोली से मारा और बाद में स्वयं मारी गई। रेमिनिसैन्सेज़ आफ़ दि ग्रेट म्यूटिनी, पृ० ५७-५८

१३२. मेजेण्डी, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० २३६-३८

१३३. फ़ारेन सीक्रेट कन्सल्टेशन्स, सं० ५२-५५, २५ जून, १८५८,

१३४. रसेल, उद्धृत ग्रन्थ, जिल्द १, पृ० ३५६

सम्बन्ध में स्वामित्वाधिकार अब इस अंग्रेजी सरकार ने ले लिया है और यह सरकार ही आगे इस अधिकार का प्रयोग जिस ढंग से उचित समझेगी करेगी।" "उन तालुकेदारों, सरदारों और जमींदारों को और उनके अनुयायियों को, जो तत्काल अवध के चीफ कमिश्नर को समर्पण करेंगे और अपने हथियार उसे दे देंगे और उसके आदेशों का पालन करेंगे, सम्माननीय गवर्नर-जनरल वचन देते हैं कि उनके जीवन और प्रतिष्ठा सुरक्षित रहेंगे, यदि उनके हाथ अंग्रेजों की हत्या में बहाए गए खून से सने हुए नहीं हैं। परन्तु इसके अतिरिक्त उनके साथ की जाने वाली अन्य किसी कृपा के सम्बन्ध में या उस स्थिति के सम्बन्ध में जिसमें उन्हें आगे रक्खा जाएगा, उन्हें अंग्रेजी सरकार के न्याय और कृपा पर ही अपने को पूरी तरह छोड़ देना चाहिए।"[१३५] रसेल ने इस घोषणा पर कटु टिप्पणी करते हुए कहा, "इन शब्दों का भारतीयों के कानों के लिए कोई अर्थ नहीं है और उनसे उनके मस्तिष्कों में भी कोई खास विचार पैदा नहीं होता। अधिक से अधिक वे निर्वीर्य शब्द हैं, जिन्हें हम वास्तविक रूप में लागू नहीं कर सकते। अभी काफी समय लगेगा जब कि अवध हमारा हो सकेगा। दुःख की बात है कि लखनऊ के पतन से हमें अवध पर विजय नहीं मिली है जैसा कि लार्ड कैनिंग ने उस समय सोचा होगा जब कि उसने अपने निरर्थक वक्तव्य को इलाहाबाद से जारी किया।"[१३६] ज़ब्ती के भय से भयभीत लोगों को सन्तुष्ट करने के लिए ऊटरम ने प्रयत्न किया, किन्तु अंग्रेज़ी न्याय में विश्वास करने का अभी लोगों के पास कोई कारण न था और अंग्रेज़ों की दया की बात उनके लिए एक कल्पना मात्र थी। उनकी भूमि के छिन जाने का अर्थ था कि वे असम्मानपूर्ण ढंग से जीवन बिताएं। इसलिए तालुकेदारों ने अपनी जागीरों के लिए लड़ने का दृढ़ निश्चय किया जैसा कि उनके पूर्वजों ने नवाबों के समय में किया था। "लड़ाइयां फिर एकदम नए सिरे से शुरू हो गईं और पहले से भी अधिक विस्तृत क्षेत्र में।"

---

१३५. इनस, लखनऊ एण्ड अवध इन दि म्यूटिनी, पृ० ३३९-४०

१३६. रसेल, उद्धृत ग्रन्थ, जिल्द १, पृ० ३५५

अध्याय ६

बिहार

पटना के निकट उपद्रवों की शुरुआत से लखनऊ की मुसीबतें बढ़ गयीं। १८५७ में पटना का शासक विलियम टेलर था, जो बड़ा शक्तिशाली व्यक्ति था और किसी भी प्रकार की अव्यवस्था सहन नहीं कर सकता था और न वह किसी प्रकार की जिम्मेदारी से ही बचता था। वह उन विरले लोगों में से था जो कभी गलती नहीं करते और दूसरे लोगों के निर्णयों की अपेक्षा अपनी सहज बुद्धि पर अधिक विश्वास करते हैं। वह ५ वर्ष तक शाहाबाद का जिला-जज रहा था और वह सदर-कोर्ट में पहुंचना चाहता था, लेकिन जब शीघ्र कार्रवाई करने की जरूरत पड़ी तो उसका न्यायिक प्रशिक्षण कोई बाधा सिद्ध न हुआ। यूरोपीय बागान मालिकों को टेलर की शक्ति से बड़ा बल प्राप्त था क्योंकि बिहार में उनके बड़े बड़े स्वार्थ निहित थे और अराजकता तथा अव्यवस्था से उनका व्यापार चाहे चौपट न होता, लेकिन उनके लाभ की हानि तो हो ही सकती थी। यदि दमनकारी उपायों से शान्ति स्थापित हो सकती थी और ग़दर दबाया जा सकता था तो टेलर ही ऐसा व्यक्ति था जो यह कार्य कर सकता था और बिहार में उसी की आवश्यकता थी। वह जानता था कि पटना में विद्रोह की चिनगारी धधक रही है क्योंकि पटना वहाबी लोगों का केन्द्र था और हर एक वहाबी अच्छा-खासा बगावती था। टेलर की दृष्टि में सम्भवतः हर मुसलमान विद्रोही था, यद्यपि मौला बख्श, जो उसका दाहिना हाथ था, एक मुसलमान था और शाह कबीरुद्दीन, "पीला हथौड़ा" भी मुसलमान ही था। काजी रमजान अली ने अंग्रेजों के लिए छपरा जिले की रक्षा की थी जबकि सारे नागरिक अफसर वहां से जा चुके थे और सैयद विलायत अली खां "देशी की अपेक्षा कहीं अधिक विलायती" था। लेकिन ये सब लोग वास्तव में अपवाद स्वरूप थे।

कलकत्ता और बनारस के नदी और थल मार्गों का नियंत्रण पटना द्वारा होता था, इसलिए उत्तर पश्चिमी प्रान्तों के लिए पटना एक कुंजी था। पास की छावनी दानापुर में ७वीं, ८वीं और ४०वीं देशी पैदल सेना की रेजीमेंटें रखी गयीं थीं। इनके अलावा देशी तोपखाने की एक टुकड़ी, शाही १०वीं पैदल सेना और अंग्रेजी तोपखाने की एक टुकड़ी भी थी। मेरठ के ग़दर के बाद से भारतीय सेनाएं नागरिकों और अफसरों के लिए समानरूप से परेशानी का कारण थीं। मेजर जनरल लायड, जिसके हाथों में दानापुर डिवीजन की कमान थी, पिछले ५३ वर्षों से सेना में था और सन्थाल-विद्रोह को रोकने के कारण उसके बारे में लार्ड डलहौजी की बड़ी अच्छी राय बन गई थी। दानापुर के सिपाहियों में से अधिकांश निकट के जिले शाहाबाद के थे। इन लोगों ने ७ जून को बनारस

के उपद्रवों की बातें सुनीं और फलस्वरूप वहां भी गड़बड़ी की आशंका हो गई। देशी सिपाहियों को निःशस्त्र करने के लिए जनरल लायड ने गम्भीरता पूर्वक विचार भी किया था और इसी उद्देश्य से मद्रास-फ्यूसीलियर्स के १५० आदमी वहां आए भी, लेकिन देशी सिपाही स्वामिभक्त ही रहे। उसने लिखा है कि "मैं यह अच्छी तरह जानता था कि चाहे कुछ भी किया जाता, लेकिन संभवतः ये लोग अपने हथियारों के साथ ही भाग जाते। मुझे प्रसन्नता है कि फिलहाल उन्हें निःशस्त्र नहीं करना पड़ा, क्योंकि इस समय उत्तर-पश्चिम के क्षेत्रों में डटे हुए हमारे लोगों और अफसरों के प्राणों की रक्षा के लिए वहां अंग्रेज़ सेनाओं का भेजना आवश्यक था।"[1] भारत सरकार, बंगाल सरकार, पटना के कमिश्नर और दानापुर डिवीजन के कमांडिंग जनरल सब यह अनुभव करते थे कि कलकत्ता और कानपुर के बीच यातायात मार्ग का सुरक्षित बना रहना बहुत जरूरी है, लेकिन इस बारे में सब के अपने-अपने समाधान थे। लार्ड केनिंग 'क्रोध में शासन' करने को तैयार नहीं था। सर फ्रेडरिक हालीडे ने खबर मंगाई, लेकिन सिपाहियों द्वारा विद्रोह कर दिये जाने पर उसे किस प्रकार रोका जाए, इसके बारे में जनरल लायड कोई प्रभावशाली उपाय नहीं सोच सका, किन्तु टेलर अज्ञात शत्रु को पहले से ही जान लेने और पहला वार करने के लिए उत्सुक था।

बिहार में सर्वत्र मेरठ विद्रोह की खबर से बड़ी अशांति फैली। बनारस के समाचार से भय पैदा हो गया और बहुत से अंग्रेज़ों ने देहात में अपने-अपने काम छोड़ कर पटना में शरण ली। ७ तारीख को दानापुर में संभावित विद्रोह की अफवाह से पटना में खतरा पैदा हो गया था। टेलर शहर के सारे अंग्रेज़ों की सुरक्षा के लिए अपने आपको जिम्मेवार समझता था और उसने अपने आवास को सुरक्षित कर वहां सबको शरण दी। किन्तु उसे इस सुरक्षा के लिए देशी पहरेदारों पर निर्भर करना पड़ता था और उसकी सम्मति में उनकी स्वामिभक्ति संदेह से परे नहीं थी। इसलिए उसने रात्रे के सिखों को[2] पटना बुलवाया। यह बताया गया कि रास्ते में इन लोगों को देहातियों ने ईसाई कह कर उनका मजाक उड़ाया और उनको सिखों के बड़े पुजारी ने गुरद्वारे में प्रवेश नहीं करने दिया।

जून के महीने में दानापुर में कोई उपद्रव नहीं हुआ, लेकिन देशी सिपाहियों को तुरन्त निःशस्त्र कर देने के बारे में सरकार को राजी न कर सकने के कारण टेलर बहुत निराश हुआ। टेलर के तर्कों का जनरल लायड पर कोई प्रभाव न हुआ लेकिन जो खबरें उसके अपने गुप्तचर ला रहे थे उनके कारण उसकी चिन्ता और भी बढ़ गई। सब बड़े बड़े जमींदार विरोधी होते जा रहे थे। वहाबियों के बारे में यह सुना जा रहा था कि वे एक बड़े सरकार-विरोधी षड्यंत्र में लगे हुए हैं। १२ जून को रात्रे के सिक्खों के बीच एक नाजिब सरकार-विरोधी बातें फैलाते पाया गया। उस पर मुकदमा चला और अपराध सिद्ध होने पर उसे फांसी दे दी गयी। टेलर ने अनुभव किया कि वह और अधिक प्रतीक्षा

---

१. फ़ारेस्ट, ए हिस्ट्री आफ़ दि इंडियन म्यूटिनी, जिल्द ३, पृ० ४१२

२. यह ध्यान में रखने की बात है कि रात्रे के सब जवान सिख नहीं थे बल्कि उनमें कुछ गैर-सिख भी थे।

नहीं कर सकता। वह वहाबी नेताओं को अदालत में नहीं ला सकता था क्योंकि "हाल में हुए सरकार-विरोधी षड़यंत्रों में से किसी में भी उनका कितना सीधा हाथ था, इस बारे में कोई ऐसा साक्ष्य न था जिसके आधार पर उनके खिलाफ कोई कानूनी कार्यवाही की जा सकती।"[3] और टेलर ने मंजूर किया कि इस सम्बन्ध में उसके भेदिये जो पत्र लाये उनमें से एक को छोड़ कर बाकी सब जाली थे। मैलेसन ने लिखा है कि "इन वहाबियों (मौलवियों) में शाह मोहम्मद हसन, अहमद उल्ला, वैजुलहक ही प्रमुख थे। इन तीनों को खुले आम गिरफ्तार करने का मतलब होता उपद्रवों की शुरुआत और टेलर इसी बात को नहीं होने देना चाहता था। किन्तु जन-सुरक्षा की दृष्टि से उनका पकड़ा जाना जरूरी था, इसलिए टेलर ने उन तीनों को तथा दूसरे लोगों को राजकीय मामलों में सलाह-मशवरा करने के हेतु उपस्थित होने का आदेश भेजा। जब बैठक समाप्त हो गयी तो दूसरों को तो जाने दिया गया लेकिन इन तीनों को रोक लिया गया और उनसे कहा गया कि वर्तमान स्थिति में उन तीनों पर निगरानी रखना जरूरी है।" इस कार्यवाही में मैलेसन को कहीं कोई गलत बात नहीं दिखाई दी। मैलेसन कहता है कि "टेलर देश की शासकीय शक्ति का प्रतिनिधित्व करता था और वे मौलवी उस सत्ता की प्रजा थे। वे लोग टेलर के कोई अतिथि नहीं थे, वे लोग सरकार की वाणी सुनने के लिए उसके घर गये थे और उस शासकीय वाणी में उन्हें आदेश दिया गया कि जब तक संकट बना रहे तब तक उन्हें सम्मानपूर्वक नजरबन्द रहना चाहिए।"[4] अपने इस आचरण के बारे में टेलर का दृष्टिकोण यह था कि "मैंने इन तीनों प्रमुख व्यक्तियों को उनकी सारी जाति के अच्छे बरताव के लिए बन्धक रूप में रोक लिया था, न कि इसलिए कि उनके खिलाफ पर्याप्त प्रमाण प्राप्त किये जाएं और उन्हें दंडित किया जाए। यद्यपि यह कदम काफ़ी साहसिक और सम्भवतः खतरनाक था और कमजोर लोगों के खयाल से यह बात उपद्रव का कारण भी हो सकती थी। किन्तु मैंने इस बात की कीमत आंक ली थी और मुझे खुशी है कि इस बात से जो नतीजे निकले वे मेरी आशा से भी अधिक अच्छे रहे।"[5] निःस्संदेह यह खतरनाक कदम था लेकिन साहसिक नहीं था। जिन लोगों को कोई शक-शुबहा न हो उन्हें अपने घर बुला लेना और जब वे कोई भी प्रतिरोध न कर सकें तब उन्हें गिरफ्तार कर लेना, इस बात के लिए किसी साहस की आवश्यकता नहीं थी। यह भी शंकास्पद है कि टेलर ने वस्तुतः इस बात की कीमत आंक ली थी, क्योंकि सीधे-सच्चे व्यवहार के लिए अंग्रेजों की जो प्रतिष्ठा थी उसे इस कदम से धक्का लग सकता था, विशेषतः ऐसे समय जबकि इस प्रतिष्ठा को खतरे में नहीं डाला जा सकता था। टेलर के समर्थकों का, जिनमें मैलेसन भी था, कहना है कि ८ वर्ष बाद वहाबियों ने एक षड़यंत्र किया था और मौलवी अहमद

३. फ़ारेस्ट, ए हिस्ट्री आफ़ दि इंडियन म्यूटिनी, जिल्द ३, पृ० ४००

४. मैलेसन, उद्धृत ग्रन्थ, जिल्द, १, पृ० ५२-५३

५. फ़ारेस्ट, उद्धृत ग्रन्थ, जिल्द, ३, पृ० ४०१। सामयिक आवश्यकता के आधार पर एडवर्ड लाकवुड ने, जो उस समय पटना में था, इन गिरफ्तारियों को न्याय्य बताया। लाकवुड, दि अर्ली डेज़ आफ़ मार्लबरो कालेज, पृ० १५५-७८

उल्ला नामक जिस वहाबी नेता को टेलर ने २० जून को गिरफ्तार किया था, इस अवसर पर उसपर देश-द्रोह का मुकदमा चलाया गया। यह ध्यान रखने की बात है कि दूसरे मामलों में टेलर की सूचनाएं गलत साबित हुईं। डुमरांव के महाराजा और टिकारी की रानी पर पहले शक किया गया था। अपने अंग्रेज शासकों की तरह ही बड़े-बड़े जमींदार भी अपने जान-माल की रक्षा के लिए चिन्तित थे और यदि उन्होंने इस हेतु कुछ जंग लगे हथियार खोद कर निकाल लिए या सशस्त्र रक्षक भर्ती कर लिए तो उन लोगों पर भी विद्रोह का शक किया जाने लगा।

एक समूची जाति के रूप में वहाबियों ने विद्रोह का साथ नहीं दिया था। हो सकता है कि अपने अनेक देशवासियों की तरह कुछ वहाबियों ने १८५७ के विद्रोह में भाग लिया हो, लेकिन यदि पूरी की पूरी जाति ने सिपाही-नेताओं का साथ दिया होता तो सर जान लारेंस पंजाब स्थित अंग्रेजी सेनाओं को वहां से हटाना और ब्रिटेन के लिए इतने अधिक पंजाबी मुसलमान भर्ती करना सुरक्षित न समझता। बम्बई में सिपाही-षड़यंत्र का पता देने वाले फोरजेट ने उच्चवर्गीय वहाबियों से प्राप्त सहयोग के बारे में लिखा है कि "मुझे दुख है कि बम्बई में भी वहाबी विरोधी भावनाएं थीं, लेकिन यह कहते हुए मुझे प्रसन्नता है कि मुझे वहाबियों का सहयोग ही मिला। बम्बई के मुसलमानों का सबसे बड़ा काजी एक कट्टर वहाबी था जिसका सहयोग रात-दिन प्राप्त हुआ, इसी प्रकार पुलिस सूबेदार मोहम्मद बुन्दे ने, जो वहाबी था, सोनापुर में किये गए सिपाहियों के एक षड़यंत्र के उद्घाटन में मेरी काफी सहायता की थी।"[६] यदि वहाबियों के नेता बिहार में कोई दूसरा निर्णय करते तो बम्बई के वहाबियों के लिए यह कठिन था कि वे वहां के पुलिस कमिश्नर के साथ सहयोग करते। ३० सितम्बर, १८५८ के अपने ब्योरे में बंगाल के लेफ्टिनेंट गवर्नर ने लिखा कि "वहाबियों के खिलाफ कभी कोई बात सिद्ध नहीं हुई और न उनके विरुद्ध कुछ कहा गया, बल्कि एक वृद्ध वहाबी नेता द्वारा दी गयी सूचना पर कोई ध्यान नहीं दिया गया।"[७]

पटना के "सुसंस्कृत" कमिश्नर की इस धोखेबाजी का परिणाम अच्छा नहीं हुआ क्योंकि अगले महीने ही पटना में एक अजीब ढंग का उपद्रव हुआ, जो ग़दर के इतिहास में बेमिसाल है, क्योंकि इस व्यापक उपद्रव के पीछे कोई फौजी विद्रोह नहीं था।

टेलर जो कुछ कर चुका था उसी पर निश्चिंत नहीं बैठा रहा। वहाबी नेताओं की गिरफ्तारी के बाद एक आज्ञा निकाली गयी कि पटना के सारे निवासी चौबीस घण्टे के अन्दर सारे हथियार जमा कर दें और बिना आज्ञा के नौ बजे रात्रि के बाद घर से बाहर न निकलें। ये दोनों ही आज्ञाएं लागू नहीं की जा सकीं, क्योंकि ये गैर-कानूनी थीं और ऐसे नाजुक मौके पर इन आज्ञाओं के कारण उत्तेजना ही फैली। कमिश्नर ने इस सम्बन्ध में सरकार से पूर्व-स्वीकृति की आवश्यकता अनुभव नहीं की और लेफ्टिनेंट गवर्नर ने

६. फ़ोरजेट, आवर रियल डेंजर इन इंडिया, पृ० १३१

७. बंगाल सरकार के अधीन निचले प्रान्तों पर विद्रोह का जो प्रभाव पड़ा, उसके बारे में बंगाल के लेफ्टिनेंट गवर्नर का ब्योरा, पृ० ५

अनुभव किया कि उसके सामने एक ऐसी स्थिति पैदा कर दी गई है, जिसके औचित्य के बारे में उसे पर्याप्त सूचना नहीं दी गई थी। असिस्टेंट सेक्रेटरी के द्वारा लेफ्टिनेंट गवर्नर के विचार स्पष्ट रूप से टेलर तक पहुंचा दिए गए और टेलर की अपेक्षा किसी भी दूसरे कम आत्म-विश्वासी व्यक्ति को ये विचार सतर्क कर सकते थे। "लेफ्टिनेंट गवर्नर आपको अनावश्यक कठोरता और गैर-कानूनी कार्रवाइयों के विरुद्ध ईमानदारी से सावधान करना चाहते हैं। आपने उन्हें जो अपूर्ण जानकारी कराई है उसको ध्यान में रखते हुए ले० गवर्नर को यह संशय है कि आप जो काम करते रहे हैं, वह काफी असाधारण और आपत्तिजनक है। सम्भव है कि इन कार्रवाइयों के लिए आपके पास पर्याप्त कारण हों, लेकिन आपने अभी तक उनका स्पष्टीकरण नहीं किया है। आपके इस प्रकार के कार्यों से ले० गवर्नर को गहरा असन्तोष है जो स्पष्ट शब्दों में आपको पहले ही व्यक्त किया जा चुका है।"[८]

टेलर ने उत्तर में लेफ्टिनेंट गवर्नर को लिखा कि जिन कार्यवाहियों के बारे में शिकायत की गई है उनके बारे में तब तक वह कोई निर्णय न करें "जब तक कि यह निश्चय नहीं कर लिया जाता कि इनके कारण चारों ओर सुरक्षा एवं विश्वास स्थापित करने में, पूरे शहर में शांति स्थापित होने में तथा लोगों में सत्ता के प्रति आदर-भाव एवं भय उत्पन्न करने में कितनी सहायता मिली है।" अधिकारों की चर्चा करते हुए टेलर ने लिखा कि मौके पर मौजूद होने के कारण "अपने स्थानीय अनुभव के आधार पर मुझे ऐसे मामलों में निर्णय करने" का अधिकार दिया जाना चाहिए और यदि ऐसे समय "साहसपूर्ण तथा निर्णयात्मक कार्यवाहियां करने के उत्तरदायित्व"[९] से वह झिझकता तो वह अपने पद के योग्य सिद्ध नहीं हो पाता। संक्षेप में टेलर ने साध्य की सफलता को ही साधन के औचित्य का निर्णायक ठहराया किन्तु दुर्भाग्यवश साध्य की प्राप्ति अभी नहीं हुई थी और शासकों की आंतक की नीति असफल हो गई।

३ जुलाई की शाम को झण्डे लहराते हुए और ढोल बजाते हुए मुसलमानों का एक विशाल जुलूस सड़कों पर निकला। अफीम एजेंट के सहायक डा० लीएल ने ५० नजीबों और ८ सिखों को अपने साथ चलने का हुक्म दिया। लेकिन मौके पर पहुंचने के पहले ही वह कत्ल कर दिया गया। इसके बाद उपद्रवी तितर-बितर कर दिये गये और उनका एक आदमी मारा गया तथा एक बुरी तरह घायल हुआ। पीर अली नामक एक स्थानीय पुस्तक विक्रेता, जो एक वहाबी था, इन उपद्रवियों के नेता के रूप में गिरफ्तार किया गया। इस सिलसिले में ४३ आदमियों पर मुकदमा चलाया गया। ये लोग किसी साधारण अदालत के सामने पेश नहीं किये गये बल्कि टेलर और पटना के मैजिस्ट्रेट लोइस के कमिशन के सामने उपस्थित किये गये। "जिरह की आवश्यकता" और "अदालती विधि-विधान" को पूरा करने की इजाजत नहीं दी गई, यह बात टेलर ने भी अप्रत्यक्ष रूप से मानी है।[१०] उन ४३ व्यक्तियों में से १९ को फांसी दी गयी, ५ को आजन्म कारावास,

---

८. फ़ारेस्ट, ए हिस्ट्री आफ़ दि इण्डियन म्यूटिनी, जिल्द ३, पृ० ४०५

९. वही, जिल्द ३, पृ० ४०६

१०. २५ मई, १८५९ को टेलर ने एक पत्र बंगाल सरकार को लिखा कि "ऐसे

१ को कोड़े लगाये गये और केवल ३ बरी किये गये। सजा पर सिर्फ टेलर ने दस्तखत किये थे और फांसी की आज्ञा वाले १६ व्यक्तियों को तुरन्त फांसी दे दी गयी। टेलर के उत्तराधिकारी सैमुअल्स को यह शक था कि ये दण्ड समुचित गवाहियों पर आधारित नहीं थे इसलिए उसने सारे कागजात निजामत अदालत को भेज दिये। इस अदालत के न्यायाधीशों ने जेल और कोड़े की सजा पाने वाले व्यक्तियों के मामलों तक ही अपनी जांच सीमित रखी, क्योंकि फांसी पाने वाले तो रह नहीं गये थे, और उनकी जांच का निर्णय टेलर के विरुद्ध गया। "इन मुकदमों के कागजात पूरी तरह देखने पर अदालत का यह मत है कि कैदी संख्या १५-२३, २५-२८, ३०, ३१, ३८, ३९ और ४० के बारे में पर्याप्त सबूत नहीं हैं। जहां तक २४ संख्या वाले सादत अली का सवाल है, जिसका नाम रोड्रिग्स[११] ने अपने ५ जुलाई को दरोगा के सामने दिये गये बयान में लिया था और जिसकी अगले दिन उसने पहचान की, हमारा यह विचार है कि रोड्रिग्स का साक्ष्य और अधिक जांच करने पर विश्वसनीय प्रतीत नहीं होता। इसलिए हमारी सिफारिश है कि इसकी सजा में भी छूट दी जानी चाहिए।"[१२] टेलर ने जिन शेष २१ लोगों को दंडित किया था, निजामत अदालत ने उनमें से १९ को छोड़ दिया। अधिकांश सजाओं के लिए लोइस ने लिखित रूप में अपनी जिम्मेदारी से इन्कार कर दिया। लोइस ने लिखा कि "जिस उपद्रव में डा० लीएल की हत्या हुई, उस उपद्रव से सम्बन्धित कुछ व्यक्ति कमिश्नर टेलर, तथा मेरे सामने पेश किये गये थे। उन लोगों में से कुछ अवश्य ही अपराधी थे[१३] और समुचित कार्यवाही के बाद उनको फांसी दे दी गई, शेष का इस मामले से कितना और क्या सम्बन्ध था, इसके बारे में मुझे काफी शक है और उनके विरुद्ध जो सबूत थे उनके आधार पर उन्हें दोषी ठहराना मेरे लिए असम्भव था। इसलिए मैंने यह प्रस्ताव

संकट के समय यदि डा० लीएल के हत्यारों के साथ श्री सैमुअल्स ने अपनी इच्छा के अनुसार कार्य किया होता, यदि उसने जिरह तथा अदालती कार्यवाही की औपचारिकता को पूरी तरह बरता होता और यदि उसने कैदियों के सिरों को ढक दिया होता जिससे कि गवाह चकरा जाते, तो निश्चय ही पटना के ईसाइयों ने भगवान को धन्यवाद दिया होता कि ऐसे समय उनके जान-माल की रक्षा का भार सैमुअल्स के ऊपर न था।"

११. यह एक भारतीय था जिसने अपना धर्म बदल लिया था और जिसका हिन्दू नाम राधाकृष्ण था। सैमुअल्स लिखता है कि रोड्रिग्स ने ५ तारीख को थाने में ८ आदमियों को पहचाना। इसके दूसरे दिन उसने मौलाबख्श के सामने २७ आदमियों को, ६ तारीख को ४ और व्यक्तियों तथा ५ अगस्त को कुछ और व्यक्तियों को पहचाना

१२. पार्लियामेंटरी पेपर्स, ईस्ट इण्डिया, १८५८, सं० २५८, पृ० ६

१३. पीर अली निश्चय ही उपद्रव का नेता था। उसके घर से प्राप्त एक पत्र में यह वाक्य मिला, "शहर के कुछ सभ्य व्यक्ति जेल में हैं और सरकार के अत्याचार तथा दमन से प्रजा परेशान हो गई है और उसे कोसती है।" कमिश्नर के सामने लाए जाने पर उससे पूछा गया कि सरकार उसकी जान बख्श दे, इसके लिए उसे क्या कहना है? "बड़ी गौरवपूर्ण शांति के साथ, जैसी कि इस तरह की उत्तेजनात्मक परिस्थिति में हम लोग

रखा कि आगे की जांच-पड़ताल होने तक के लिए उन्हें छोड़ देना चाहिए। मेरे इस सुझाव का विरोध टेलर ने इस आधार पर किया कि सबके विरुद्ध एक जैसे सबूत होने से सभी समान रूप से अपराधी ठहरते हैं। मैं उनकी बातों से सहमत नहीं हो सका और मैं अपनी पहली ही राय पर कायम रहा। टेलर ने बाद में यह सुझाया कि कैदियों को १० वर्ष का कारावास दिया जाय और जब देश में फिर से शांति स्थापित हो जाय और सरकार यदि उचित समझे तो उनके मामले में फिर से जांच-पड़ताल करे।"[१४] इस बारे में सैमुअल्स की टिप्पणी से काफी प्रकाश पड़ता है, क्योंकि उसका कहना है कि मुकदमे के समय सरकारी गवाहों के कोई बयान नहीं लिये गये। अलीपुर जेल में इन लोगों ने बताया कि मौला बख़्श के दबाव के कारण उन्होंने झूठी गवाहियां दीं। सारे मामले की तैयारी मौला बख़्श ने की थी और उसका दफ्तर टेलर के अहाते में लगाया गया था तथा उसका काम था कि वह गवाहों को तैयार करे। सैमुअल्स लिखता है कि "जब एक प्रमुख मुकदमा चल रहा था तब प्रान्त के दूसरे जिले बिलकुल शांत थे।" "इन सजाओं का परिणाम, जिन्हें लोग ठीक नहीं मानते थे, केवल यही हो सकता था कि जनता में असन्तोष बढ़े।"[१५] ४ मार्च, १८५९ के अपने ब्योरे में गवर्नर-जनरल ने लिखा कि "मैं समझता हूं कि टेलर द्वारा किए गए मुकदमे में बिना अपेक्षित प्रमाणों के लोगों को दोषी ठहराया गया और उन्हें फांसी दी गई।" किन्तु टेलर के संभावित त्यागपत्र के कारण गवर्नर-जनरल इस मामले की सार्वजनिक जांच के लिए तैयार नहीं थे, यदि टेलर स्वयं इसके लिए तैयार होता तो अलग बात थी। लेकिन यह बात महत्वपूर्ण है कि ऐसी सार्वजनिक जांच के लिए टेलर स्वयं तैयार नहीं हुआ। कर्नल मैलेसन ने इस उपद्रव को एक ग़दर के रूप में देखा और पटना के रक्षक के रूप में टेलर की प्रशंसा की और उन उच्च अधिकारियों की निन्दा की जो कमिश्नर से असहमत थे। लेकिन इस कर्नल ने निज़ामत अदालत के जजों के निन्दात्मक शब्दों और लोइस द्वारा किए गए मुक़दमे के वर्णन के बारे में कुछ भी नहीं कहा।

गिरफ्तार व्यक्तियों के साथ टेलर ने स्वयं यह सौदा किया कि वे दूसरों को फंसा कर खुद मुक्त हो सकते हैं। जब एक देशी पुलिस का अफसर विद्रोहात्मक पत्र-व्यवहार करने के मामले में उसके सामने लाया गया तो टेलर ने उससे कहा कि "मैं तुमसे एक

हमेशा ही नहीं रख पाते, उसने प्रश्नकर्ताओं की ओर देखते हुए जवाब दिया : "कुछ बातें ऐसी होती हैं जिनमें प्राणों की रक्षा करना अच्छी चीज है लेकिन कुछ ऐसी होती हैं जिनके लिए प्राणों की बलि दे देना ज्यादा अच्छा होता है।" कमिश्नर के अत्याचारों की निन्दा करते हुए उसने कहा कि "तुम मुझे या मेरे जैसे दूसरे लोगों को भले ही फांसी पर लटका दो लेकिन हमारी जगह सैकड़ों नये व्यक्ति पैदा होंगे और आपका उद्देश्य कभी पूरा नहीं होने देंगे।" के, उद्धृत ग्रन्थ, जिल्द ३, पृ० ८५-८६

१४. ८ फरवरी, १८५८ का लोइस का पत्र। पार्लियामेंटरी पेपर्स, ईस्ट इण्डिया, १८५८, संख्या २२६, पृ० ८.

१५. पार्लियामेंटरी पेपर्स, ईस्ट इन्डिया, १८५८, संख्या, २२६, परि०, पृ० ७-११

सौदा करने को तैयार हूं, तुम मुझे तीन लोगों की जानें दो और मैं तुम्हें तुम्हारी जान लौटा दूंगा।"[१६] पीर अली कोई धनी आदमी नहीं था, लेकिन यह शक किया जाता था कि उसके पीछे कोई मालदार व्यक्ति था। पीर अली के साथ ही शेख़ घसीटा नामक व्यक्ति पर मुकदमा चला कर उसे फांसी दी गई थी। वह पटना के सबसे बड़े मालदार व बैंक के मालिक सैयद लुत्फ़ अली के यहां नौकर था। इसलिए उसे हिरासत में रखा गया, क्योंकि यह शक किया गया था कि यही व्यक्ति पीर अली के संगठन को अधिक आर्थिक सहायता देता था। उसके खिलाफ यह अभियोग था कि उसने एक प्रमुख विद्रोही को शरण दी थी। लुत्फ़ अली के सौभाग्य से उस पर टेलर द्वारा नहीं, बल्कि पटना के एक सीनियर जज की अदालत में मुकदमा चला और वह छोड़ दिया गया।[१७] यदि पटना में कोई भारतीय अपने को सुरक्षित नहीं समझता था तो क्या हुआ, टेलर को कलकत्ता के व्यापारी-वर्ग का समर्थन प्राप्त था और उसने यह जानने की जरा भी चिन्ता नहीं की कि दानापुर के सिपाहियों पर उसके कार्यों का क्या प्रभाव पड़ रहा था ?

दानापुर डिवीज़न की कमान जनरल लायड के हाथों में थी और उन्हें ग़दर की कोई आशंका न थी—जब तक कि किन्हीं अप्रत्याशित परिस्थितियों से सिपाहियों में ही उत्तेजना न फैल जाए। इसलिए भारत सरकार ने सिपाहियों को निःशस्त्र करने का कठिन निर्णय जनरल लायड के विवेक पर ही छोड़ दिया। बनारस जाते हुए जब अंग्रेज़ सेनाएं पटना होकर गुजर रही थीं तो जनरल लायड से कहा गया कि "जब रेजीमेंट दानापुर पहुंच जाए और यदि आपके पास देशी सेनाओं पर शक करने का पर्याप्त कारण हो और आपकी राय

---

१६. फ़ारेस्ट, ए हिस्ट्री आफ़ दि इंडियन म्यूटिनी, जिल्द ३, पृ० ४०८

१७. लुत्फ़ अली पर मुकदमा चलाने वाले और बाद में उसे रिहा कर देने वाले फ़र्कहार्सन ने बाद में बंगाल सरकार से शिकायत की कि मुकदमे के निर्णय के मामले में टेलर ने उस पर अवांछित प्रभाव डालने की चेष्टा की। "कमिश्नर टेलर द्वारा १८५७ के अधिनियम ११ के अन्तर्गत सैयद लुत्फ़ अली खां पर एक मुकदमा दायर किया गया और जिसे मैंने इस महीने की २३ और २४ ता० को सुना। यह मुकदमा उपरोक्त मोहब्बत नामक एक व्यक्ति को जानबूझ कर शरण देने के अभियोग के बारे में था, चूंकि अभियोग की पुष्टि में समुचित प्रमाण नहीं थे इसलिए मैंने उसे रिहा कर दिया। आखिरी वक्त में कमिश्नर ने चाहा कि मुकदमे की तारीख और बढ़ा दी जाय ताकि और दूसरे नए गवाह पेश किये जा सकें, जिससे यह सिद्ध हो जाय कि उक्त कैदी ने एक बगावती को अपने यहां शरण दी थी। कमिश्नर की यह बात मानने से मैंने इन्कार कर दिया, यद्यपि कमिश्नर ने मुझे चेतावनी दी थी कि ऐसा करते हुए मुझ पर बहुत बड़ी जिम्मेदारी आ जाती है। ऐसी विषम परिस्थितियों में मैंने इस मामले के सारे कागजात भेजना उचित समझा है ताकि यह मालूम हो सके कि यह मामला किस ढीले-ढाले ढंग से और आगे चलाने के लिए भेजा गया है। यहां यह बात भी फैली हुई है कि पिछले दिनों पटना शहर के विद्रोह में भाग लेने वाले और इस कारण दंडित कुछ लोगों को जिस कमीशन ने, जिसके अध्यक्ष श्री टेलर थे, सजाएं दीं, उनमें तो वैसे सबूत भी प्राप्त नहीं हो सके जैसे कि लुत्फ़ अली खां के मामले में थे और जो मैंने रद्द कर दिये

में उन्हें निःशस्त्र किया जाना ठीक हो तो पांचवें फ्यूसिलियर्स को वहां उतार कर इस मामले में आप उनकी सहायता शौक से ले सकते हैं, लेकिन यह बहुत जरूरी है कि आप रेजीमेंट को कम-से-कम समय के लिए ही रोकें।"[१८] इसके बाद एक बड़ी मूर्खतापूर्ण सलाह दी गई। तीनों रेजीमेंट निःशस्त्र की जाने वाली थीं। किन्तु उन्हें यह सावधानीपूर्वक बताना था कि उनका निःशस्त्र किया जाना उनके भले के लिए ही है, जिससे कि वफादार सैनिकों को विद्रोहियों के षड्यन्त्र से बचाया जा सके क्योंकि प्रत्येक रेजीमेंट में कुछ ऐसे अवांछित व्यक्ति थे। पानसनबी ने यही बात बनारस में अपने सिपाहियों के सामने कही थी। लेकिन उन्हें विश्वास नहीं हुआ क्योंकि सिपाही कोई बच्चे तो थे नहीं, बल्कि कुछ तो उनमें से बहुत चतुर थे और उन्हें इस प्रकार निःशस्त्र किया जाना उतना ही खला जितना कि अंग्रेजों को।

नील की खेती करने वालों की नाक बड़ी लम्बी थी और जनरल लायड को मिलने वाले आदेश उनसे छिपे नहीं थे। १५ जुलाई को लायड को एक पत्र मिला और २० जुलाई को नील के ये साहब गवर्नर-जनरल से मिले और उनसे कहा कि वे दानापुर के सिपाहियों को निःशस्त्र कर दें। उन्हें पता था कि सिपाहियों को निःशस्त्र करने की बुद्धिमत्ता एवं उपयोगिता के बारे में लायड को सन्देह है, इसलिए उन्होंने उसे यह कदम उठाने के लिए मजबूर करने की कोशिश की जिससे कि उनकी थैलियों पर आंच न आए। इस प्रकार एक सैनिक रहस्य का खूब विस्तृत प्रचार हुआ, लेकिन यह नहीं मालूम कि किस प्रकार और कितनी जल्दी यह बात दानापुर के सिपाहियों में फैली। सिपाहियों के खबर प्राप्त करने के अपने ढंग थे और कई बार तो ये इतने निश्चित और शीघ्रतापूर्ण होते कि उसके सामने सरकारी ढंग भी मात थे।

एक निर्णयात्मक कदम उठाने में लायड बहुत दिनों तक हिचकता रहा, लेकिन २४ जुलाई को उसने निर्णय कर लिया। चूंकि वह इस बात से पूरी तरह सहमत नहीं था इसलिए उसने बीच का रास्ता अपनाया। यदि तीनों देशी रेजीमेंटें अंग्रेजी तोपों के सामने खड़ी कर दी जातीं और उन्हें हथियार डालने के लिए कहा जाता तो कुछ को छोड़ ज्यादातर सिपाहियों ने आज्ञा का पालन किया होता और यदि कुछ विरोध भी होता तो वह शक्ति से दबा दिया गया होता, या फिर सिपाहियों से कोई छेड़-छाड़ न की जाती क्योंकि अभी तक उनमें अशांति के कोई भी चिन्ह प्रकट नहीं हुए थे; हालांकि टेलर की उग्र नीति के कारण काफी उत्तेजना थी और यह सम्भव था कि जब तक कि किसी अप्रत्याशित घटना

थे।" फ़र्क्हार्सन ने कहा कि इस मामले से न केवल सिविल सर्विस बल्कि पूरी अंग्रेज़ जाति के चरित्र के सम्बन्ध में सर्वसाधारण की बड़ी खराब धारणा हो गई है। लुत्फ़ अली के मामले से सम्बद्ध कागजात के साथ कमिश्नर द्वारा उसे भेजे गए कई निजी पत्र भी उसने भेजे, जिनमें उसे कैदी के खिलाफ भड़काने वाली बातें थीं। संलग्न २, १९९-२२२, कोर्ट को भेजे गए पत्र में, सितम्बर १, १८५७। अन्य पार्लियामेंटरी पेपर्स (सं ५) १८५७, पृ० १७-१८, परिशिष्ट बी, पृ० ७५-९१

१८. फ़ारेस्ट, ए हिस्ट्री आफ़ दि इंडियन म्यूटिनी, जिल्द ३, पृ० ४१४

से कोई खतरा ही न पैदा हो जाता, पहले की तरह ही सब बातें चलती रहतीं। लेकिन लायड ने उनकी अभिताड़न टोपियां इस ख्याल से ले लीं कि उन्हें बेइज्जत किये बिना ही उनके हथियार बेकार हो जाएं। दूसरे दिन सबेरे बैरक स्क्वायर में यूरोपियन सेनाएं बुलाई गईं और साथ ही दो बैलगाड़ियां भी भेजी गईं ताकि अभिताड़न-टोपियां एकत्र की जा सकें। वापसी में ७वीं और ८वीं रेजीमेंट ने शोर मचाया और इनको रोकने की चेष्टा की। लेकिन उनके अफसरों की कोशिश से शांति स्थापित हो गई और गाड़ियां जाने दी गईं। इस झगड़े के सारे समय ४०वीं रेजीमेंट पूरी तरह अनुशासन में रही, बल्कि वह उन दो रेजीमेंटों के अपने भाइयों का विरोध करने के लिए भी तैयार थी।

लायड का काम अभी आधा ही हुआ था, क्योंकि प्रत्येक सैनिक के पास अभी भी १५-१५ टोपियां और थीं। लायड का ख्याल था कि मांगने पर ये टोपियां भी वापिस कर दी जाएंगी और यह काम आसानी से देशी अफसरों को सौंपा जा सकता है। लेकिन सैनिकों ने टोपियां देने से इन्कार किया और इस बार अंग्रेज अफसरों का कहना-सुनना भी किसी काम नहीं आया। अफसरों से चला जाने के लिए कहा गया और कहा जाता है कि उन पर गोलियां चलाई गईं। यूरोपियन अस्पताल के पहरेदारों ने अफसरों को भागते देखा और उन्होंने खतरे की बन्दूकें छोड़ीं। इस प्रकार जो शाही १०वीं रेजीमेंट अभी तक शांत थी मैदान में आ गई। रोगी अस्पताल की छत पर चढ़ गए और वहां से उन्होंने गोलियां चलाकर "लगभग एक दर्जन बदमाश" मारे। ४०वीं देशी पैदल सेना ने पहले तो इन लोगों का साथ नहीं दिया, लेकिन यूरोपियन अस्पताल की छत से जब १०वीं रेजीमेंट द्वारा गोलियां बरसती देखीं तो उन लोगों ने भी विद्रोहियों का साथ दिया।[१९] टेलर ने देखा कि उसकी भविष्यवाणी सही सिद्ध हो रही है और लायड ने सारा मामला गड़बड़ा दिया है। लायड को चाहिए था कि वह इतना महत्वपूर्ण काम देशी अफसरों पर न छोड़ता बल्कि अपनी उपस्थिति में टोपियां एकत्र करवाता। जिस समय यह उपद्रव उठ खड़ा हुआ वह नदी में एक जहाज पर था। इसलिए सेना के अफसर उसकी सलाह से वंचित रहे। लायड जानता था कि विद्रोहियों की वापसी को नहीं रोका जा सकता। ये विद्रोही अपने शाहाबाद जिले के मुख्यालय आरा की ओर बढ़े। कुछ लोग अपनी पत्नियों और बच्चों को पीछे छोड़ गए क्योंकि इस उपद्रव की पहले से कोई योजना नहीं थी।

लायड ने इन भगोड़ों का पीछा नदी में किया और उसके जहाज ने उनकी कुछ नावों को डुबो दिया लेकिन इसके अतिरिक्त वह और कुछ नहीं कर सका। उसे इन लोगों के गंतव्य स्थान का भी पता नहीं था। वे आरा जा सकते थे, वे चाहते तो पटना की ओर बढ़ कर उस शहर को खतरे में डाल सकते थे या फिर गया की ओर जा सकते थे। पटना की रक्षा करना उसका तात्कालिक कर्त्तव्य हो गया था, इसलिए दो तोपों के साथ एक दस्ता वहां भेजा गया और इन सिपाहियों की गतिविधि जानने की प्रतीक्षा की जाने लगी। राइफलधारी सैनिकों का एक दस्ता २६ तारीख को एक जहाज में सोन नदी के ऊपर की ओर भेजा गया, लेकिन धारा गहरी नहीं थी इसलिए जहाज आगे नहीं जा सका। एक दूसरा

---

१९. के, ए हिस्ट्री आफ़ दि सिपाय वार, जिल्द ३, पृ० ९३-९४

जहाज नागरिकों के लिए आरा भेजा गया लेकिन वह रेत में फंस गया। एक तीसरा जहाज इलाहाबाद की ओर से कलकत्ता जाने वाले यात्रियों को लेकर शाम को आया। यह काफी देर से प्राप्त हो सका क्योंकि इसका कप्तान अपने यात्रियों को जगाने के लिए तैयार नहीं था। २६ तारीख की शाम को यह जहाज कप्तान डनबर की कमान में थोड़ी सी सेना के साथ रवाना हुआ।

इस अभियान का बड़ा बुरा अन्त हुआ। जगदीशपुर के बाबू कुंवर सिंह के नेतृत्व में सिपाहियों ने इस अंग्रेज जत्थे पर छिप कर हमला किया। सबसे पहले कप्तान डनबर की मृत्यु हुई। "हमारे दस्ते के सामने से, दाहिने बाजू से, बाएं बाजू से अंधेरे को चीरती हुई गोलियों की भारी बौछार हो रही थी।" सारा दस्ता अस्तव्यस्त हो गया। "एक दिन पहले स्वस्थ और आशाओं से भरे हुए जो ४०० आदमी चले थे, उनमें से आधे तो गिद्धों और सियारों का भोजन बनने के लिए पीछे रह गए और जो लौटे उनमें से करीब ५० ही ऐसे थे जो घायल नहीं थे।"[२०] इस दुर्घटना का कुप्रभाव टेलर जैसे आशावादी और आत्म-विश्वासी व्यक्ति पर भी इतना गहरा हुआ कि वह पूरी तरह से घबरा उठा और उसने सारे जिला-अफसरों को पटना आने का हुक्म दिया। इसका नतीजा यह हुआ कि टेलर पटना के कमिश्नर के पद से हटा दिया गया और पूर्वी बंगाल के मेमनसिंह जिले में जज बना कर भेज दिया गया। टेलर ने इस बात की शिकायत की और जब देखा कि कुछ नहीं हो सकता तो उसने त्यागपत्र दे दिया। लेकिन टेलर ने इस बारे में अपना विरोध आसानी से नहीं छोड़ा, बल्कि उसने लेख लिखकर आन्दोलन शुरू किया जिसके फलस्वरूप उसके कई समर्थक हो गए।

आरा पर हमला होना कोई आश्चर्य नहीं था। क्योंकि टेलर ने वहां के मजिस्ट्रेट वेक[२१] को ग़दर की संभावना से सूचित कर रखा था। तुरन्त एक परिषद बुलाई गई और स्त्रियां तथा बच्चे दानापुर भेज दिए गए। यह भी तय किया गया कि रेलवे इन्जीनियर श्री बायले का मकान सुरक्षित रखा जाय ताकि लोग समय पड़ने पर उसमें शरण ले सकें। इस मकान में थोड़ी खाद्य सामग्री और हथियार भी रखे गए लेकिन गैर-सरकारी यूरोपियनों ने पीछे ठहरना सुरक्षित नहीं समझा। उनमें से दो को छोड़ शेष दानापुर चले गए।[२२] यदि टेलर ने वेक की सहायता के लिए रात्रे के ५० सिख जवान न भेजे होते तो ये सारी तैयारियां किसी काम की न होतीं। २६ जुलाई को एक सवार ने सूचना दी कि सिपाहियों ने सोन नदी पार कर ली है। तुरन्त ही इस सूचना की पुष्टि भी हुई और १५ यूरोपियन तथा यूरेशियन और ५० सिक्ख बायले द्वारा सुरक्षित किए गए मकान में चले गए। इन

२०. "४५० में से २५० सैनिक ही जहाज तक जीवित पहुंचे। तब से १०० के लगभग घावों और बीमारियों के कारण मर गए।" मैक डानेल का यह वर्णन सीवकिंग ने उद्धृत किया है, ए टर्निंग पोइंग इन दि इंडियन म्यूटिनी, पृ० ६७-६८

२१. सिवकिंग का कथन है कि मजिस्ट्रेट वेक हेयरवर्ड दि वेक का वंशज था।

२२. हाल्स, टू मन्थ्स इन आरा, इन १८५७, पृ० १४। गैर सरकारी यूरोपियनों में से एक ने ही पीछे रह कर सेवा की। हाल्स, टू मन्थ्स इन आरा इन १८५७, पृ० १३

लोगों के साथ अकेला मुसलमान, डिप्टी कलक्टर सैयद अजीमुद्दीन हुसैन भी था।[२३] २७ जुलाई को सिपाहियों ने आरा में प्रवेश किया और उन्होंने अपने आपको कुंवर सिंह की कमान के अधीन कर दिया।

कुंवरसिंह की आयु उस समय लगभग ७० वर्ष की थी। उसका स्वास्थ्य भी बहुत अच्छा न था। पटना के कमिश्नर डब्ल्यू० डैम्पियर ने नवम्बर १८५४ में बताया था कि उसका जीवन कुछ वर्षों का ही और है।[२४] कुंवर सिंह की बहुत बड़ी जमीन-जायदाद थी, जिससे उसे कम से कम तीन लाख रुपया प्राप्त होता था और वह १ लाख ४८ हजार की सालाना की मालगुजारी देता था। कुंवर सिंह पढ़ा-लिखा नहीं था और चूंकि उसे काम-काज संभालने की भी शिक्षा नहीं मिली थी, इसलिए वह अपनी जायदाद की देखभाल भी नहीं कर पाता था और उस पर भारी कर्जा हो गया था। डैम्पियर और टेलर दोनों ही यह मानते थे कि कुंवर सिंह को उसके बेईमान एजेण्टों ने ही धोखा दिया है। डैम्पियर ने लिखा है कि उसके अपने नौकर ही उसकी अनुभवहीनता का लाभ उठाते थे और सूद की ऊंची दरों पर बड़ी बड़ी रकमों के पट्टे लिख देते थे। "मैं केवल यही कह सकता हूं कि उसे कुछ हजार रुपये ही मिले हैं जबकि वह लाखों रुपयों की देनदारी के लिए बंध गया है।" टेलर ने लिखा कि "जिला शाहाबाद में बाबू कुंवरसिंह की बहुत बड़ी और कीमती जायदाद है। बाबू कुंवर सिंह एक उच्च कुल और पुराने घराने के हैं। वह एक उदार और लोकप्रिय जमींदार हैं और उनकी रियाया उन्हें बहुत स्नेह करती है और उनके जिलों के देशी और यूरोपियन लोग उनका आदर करते हैं। किन्तु अधिकांश राजपूतों की तरह बाबू कुंवर सिंह भी बिलकुल अशिक्षित हैं, इसलिए बड़ी आसानी से वे सदा स्वार्थी लोगों के शिकार रहे हैं और उनके स्वार्थी एजेण्टों ने उन्हें अपने हाथ की कठपुतली बना रखा है। उदार प्रकृति और फिजूलखर्ची की खानदानी आदतों के कारण उनका खर्च बहुत बढ़ा हुआ है और उसकी पूर्ति कर्ज लेकर ही की जाती है।"[२५] कुंवर सिंह पर १३ लाख रु० का कर्ज हो गया था और उसने तथा उसके ऋण-दाताओं ने सरकार से प्रार्थना की थी कि वह उसकी जायदाद का प्रबन्ध अपने हाथ में ले ले और धीरे-धीरे उसका ऋण चुका दिया जाय। डैम्पियर और उसका उत्तराधिकारी टेलर दोनों ही ऐसा करने के लिए तैयार थे, लेकिन कुंवरसिंह के खून पर मोटे होने वाले उसके साथी कुंवर सिंह पर अपना प्रभाव छोड़ देने के लिए भला कैसे राजी हो सकते थे और टेलर को यह शक हो गया कि उसके ऋण-दाताओं को भड़काने में शाहाबाद के मजिस्ट्रेट कनलिफ का हाथ था।[२६] राजस्व-बोर्ड ने सुझाया कि कुंवर सिंह कहीं से १० लाख रुपये का कर्ज ले ले और इसके लिए विनायक राव के पुत्र किरवी निवासी नारायण राव और माधव राव से बात की गई लेकिन अनुपयुक्त शर्तों

---

२३. वही, पृ० ३८

२४. बंगाल सरकार के सचिव डब्ल्यू० ग्रे को २२ नवम्बर, १८५४ को डब्ल्यू० डेम्पियर का पत्र।

२५. राजस्व-बोर्ड के मंत्री को लिखा टेलर का पत्र, दिनांक १९ दिसम्बर, १८५६

२६. राजस्व-बोर्ड के मंत्री के नाम टेलर का पत्र, दिनांक १९ दिसम्बर, १८५६

के कारण बात-चीत भंग हो गई। कुंवर सिंह को बचाने के विचार से टेलर ने सुझाव दिया कि जरूरी भुगतान के लिए छोटे कर्ज लिए जाएं और शाहाबाद के डिप्टी कलक्टर सैयद अज़ीमुद्दीन हुसेन खां को जायदाद की देख-रेख के लिए नियुक्त किया जाए। उसने लिखा कि "रिपोर्ट के साथ जो वक्तव्य नत्थी किया गया है उससे बोर्ड को ज्ञात होगा कि लगभग ६ लाख रुपया चुका दिया गया है और केवल २,५६,५०० रु० का नया कर्ज लिया गया है।" लेकिन टेलर की ईमानदारी के साथ की गई कोशिशें भी उस गरीब सरदार को बरबाद होने से नहीं बचा सकीं। बोर्ड ने उसके प्रस्ताव को ठुकरा दिया और १८५७ में कुंवर सिंह ने अपने आप को दिवालिया अनुभव किया।[२७] वह अपनी पैतृक जायदाद के प्रति बहुत अनुरक्त था। जैसा कि टेलर ने लिखा है, "वास्तविक बात यह है कि कुंवर सिंह पुराने जमाने के सरदारों कैमरन या मैक्डोनल्ड की तरह उत्साही है, जो पिछले वर्षों में आई कठिनाइयों का सामना करने के लिए हमेशा उद्यत रहा है और अपनी जायदाद के प्रति सामन्ती अनुराग के कारण वह बड़ा भावुक हो गया है।" अपनी पैतृक जायदाद के नष्ट हो जाने की सम्भावना देखकर वह उसे बचाने के लिए मजबूर हो गया। जहां तक अंग्रेजों का सवाल है, उसके मन में उनके लिए कोई घृणा नहीं थी, बल्कि इसके विपरीत उसके सम्मानपूर्ण एवं शिष्ट बरताव, और खेलों में उसका शौक होने के कारण कई अंग्रेजों से उसकी मैत्री थी। उसका बड़ा से बड़ा दुश्मन भी उस पर यह दोषारोपण नहीं कर सकता था कि उसने निरपराध व्यक्तियों का खून बहाया।[२८]

कर्नल मैलेसन का कहना है कि सिपाहियों से उसकी गुप्त सांठ-गांठ थी और उसके ही आदमियों ने वे नावें दी थीं, जिन पर चढ़ कर विद्रोहियों ने सोन नदी पार की। शाहाबाद के मजिस्ट्रेट बेक का निश्चित मत था कि कुंवर सिंह का विद्रोह पूर्व-नियोजित था। उसने लिखा, "मैं जानता हूं कि लोग यह समझते हैं कि कुंवर सिंह का विद्रोह पूर्व-नियोजित नहीं था, वह पिछले तीन महीने से समय की प्रतीक्षा कर रहा था।"[२९] टेलर भी इस बात से आश्वस्त था कि उसकी इस प्रकार की कोई योजना नहीं थी। १४ जून, १८५७ को उसने बंगाल सरकार के सचिव को लिखा कि "कई लोगों ने अनेक जमींदारों और विशेषकर बाबू कुंवर सिंह की स्वामिभक्ति पर शक करते हुए पत्र लिखे हैं। लेकिन मैं उसके साथ अपनी व्यक्तिगत मित्रता और मेरे लिए उसके दिल में जो स्नेह है उसके आधार पर कह सकता हूं कि ये बातें गलत हैं। इसी प्रकार के दोषारोपण डुमरांव और हथवा के राजा पर भी किए गए हैं। मैं उनसे बिलकुल सहमत नहीं

---

२७. यह मालूम होना चाहिए कि अपने भारी ऋण के बावजूद कुंवर सिंह ने राजकीय ऋणों में चंदा दिया था क्योंकि कुंवर सिंह का नाम भी नाना और दूसरे विद्रोही नेताओं के साथ उल्लिखित है जिनके चन्दे की रकम ज़ब्त कर ली गई थी।

२८. "वह बहुत बड़ा खिलाड़ी था और साधारणतः यूरोपियनों को वह बहुत पसंद था", हाल्स, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ८५।

२९. १२ जनवरी, १८५८ को आरा के मजिस्ट्रेट एच० सी० वेक ने पटना के कमिश्नर को लिखा।

हूं।"[30] टेलर ने और भी दूसरे राजाओं और सरदारों के बारे में भी लिखा होगा, जिन पर विद्रोह का शक किया गया।

कुंवर सिंह के एक खास दोस्त और साथी ने बताया कि हिंसा की धमकी दिए जाने पर ही उसने विद्रोहियों का साथ दिया। कुंवर सिंह की मृत्यु के बाद निशानसिंह गिरफ्तार किया गया। इसलिए अपने नेता को बचाने के लिए झूठा बयान देने की उसे कोई आवश्यकता नहीं थी, यद्यपि वह अपनी जान बचाना चाहता था। इसलिए विद्रोहियों के साथ उसने अपना जो सम्बन्ध बताया, वह अविश्वसनीय है। अपने मुकदमे के दौरान उसने बताया कि "जेठ, आषाढ़ और सावन के महीने में गत वर्ष मैं आरा में ठहरा था। इस बीच दानापुर के विद्रोही सिपाही वहां पहुंचे और उन्होंने शहर लूट लिया। इसके बाद उन्होंने कुंवर सिंह के नौकरों को धमकाया कि या तो वे उसे वहां ले आएं, अन्यथा वे जगदीशपुर को लूट लेंगे। यह धमकी मेरे सामने नहीं दी गयी थी, बल्कि इसके बारे में मैंने जो सुना था उसी के आधार पर मेरा यह कहना है। इस प्रकार कुंवर सिंह उसी दिन जगदीशपुर से आरा आए, जिस दिन सिपाही आरा आए थे अर्थात् १८ सावन को।"[31] यहां सवाल यह उठता है कि इतने कम समय में और इतने नौकर-चाकरों के साथ कुंवर सिंह किस प्रकार सिपाहियों से जा मिला? उन अशांत दिनों में हर एक जमींदार किसी भी आकस्मिक घटना के लिए तैयार था। अपनी गिरफ्तारी की सम्भावना के लिए कुंवर सिंह के पास समुचित कारण था। वेक ने उस पर विद्रोह का दोषारोपण किया था और यह बात उसने अपने तक ही नहीं रखी थी। सैमुअल्स ने कहा कि कुंवर सिंह का यह विद्रोह अपनी आर्थिक कठिनाइयों के कारण किया गया विद्रोह था। आगे वह लिखता है कि "मजिस्ट्रेट को उस पर पूरी तरह से शक था और उसने इसे छिपाने की कोई चेष्टा नहीं की। एक डिप्टी कलक्टर उसे बुलाने के लिए भेजा गया लेकिन उसका दोषी मन भयभीत हो गया। उसने अपने गांववालों में यह बात फैला दी कि अधिकारी लोग उसे फांसी देना चाहते हैं, इसलिए लोगों को चाहिए कि वे उसे एक डोम के हाथों मरने से बचाएं।"[32] फ़ारेस्ट का कहना है कि टेलर ने जब एक आदमी "उसे पटना बुलाने के लिए" भेजा तो उसने बुढ़ापे का और स्वास्थ्य खराब होने का बहाना बना दिया। लेकिन इस बीमारी की बात पर शक करने का कोई कारण नहीं दिखाई देता था, क्योंकि १६ दिसम्बर, १८५६ को टेलर ने राजस्व बोर्ड को लिखा था, "अन्त में मैं यह बताना चाहता हूं कि बाबू अब बहुत बुड्ढा हो गया है और अब यह कहते हुए दुःख होता है कि वह इतना बीमार है कि वह कदाचित ज्यादा दिन न जिये।"[33] इसलिए

---

३०. १४ जून, १८५७ को कमिश्नर डब्ल्यू० टेलर ने बंगाल सरकार के सचिव को लिखा

३१. काली किंकरदत्त, १८५७-५६ के भारतीय आंदोलन के बिहार सम्बन्धी दौर से सम्बद्ध कुछ नए खोजे गए कागजात, पटना यूनिवर्सिटी जर्नल, जिल्द ८, १९५४.

३२. सैमुअल्स द्वारा बंगाल सरकार के सचिव ए० आर० यंग को भेजा गया पत्र, सं० १५१५, २५ सितम्बर १८५८, पृ० ४।

३३. राजस्व-बोर्ड के सचिव को टेलर का पत्र, दिनांक १६ दिसम्बर, १८५६

बाबू कुंवरसिंह की सतर्कता का कारण संभवतः उसका दोषी मन नहीं था।

हमें ठीक मालूम नहीं है कि कुंवर सिंह को पटना कब बुलाया गया, लेकिन यह बात सम्भवतः जुलाई के दूसरे सप्ताह की होगी, क्योंकि १६ तारीख को वेक ने बंगाल सरकार के सचिव को लिखा—"मैं उसकी (कुंवरसिंह की) गतिविधि पर नजर रखे हुए हूं और कमिश्नर ने उसे पटना बुलाया है ताकि उसके बारे में जो खबरें प्राप्त हुई हैं, उन पर चर्चा की जा सके। सुना है कि वह बीमार है और वह इसी बीमारी के कारण आना नहीं चाहेगा, लेकिन मैंने सुना है कि वह कहता है कि वह पटना नहीं जाएगा और यदि उसे फिर बुलाया गया, तो वह उसका विरोध करेगा।"[३४] २० जून को वहाबी नेता टेलर के निमंत्रण पर उससे मिले थे और गिरफ्तार कर लिए गए थे। जुलाई के शुरू में जिन लोगों पर दंगा-फसाद करने का शक था उन सबको फांसी दे दी गई। यह नहीं माना जा सकता कि पटना में होने वाली इन घटनाओं के बारे में कुंवर सिंह को कुछ पता न हो और इसलिए जब कमिश्नर का बुलावा आया, तो उसका घबड़ाना स्वाभाविक ही था, क्योंकि उसे यह डर लगा होगा कि आखिरकार मजिस्ट्रेट कमिश्नर को उसके विरुद्ध करने में सफल हो गया। डिप्टी मजिस्ट्रेट से कहा गया था कि वह "कुंवर सिंह के बारे में सारी बातों की छानबीन कर एक गुप्त रिपोर्ट कमिश्नर को दे।" जो कुछ भी वह जान सका, वह यही था कि यदि उसने विद्रोह किया तो कुंवर सिंह के लोग अपने इस सामन्ती सरदार का पूरा साथ देंगे। "लेकिन इससे अधिक और कुछ ज्ञात नहीं हुआ।"[३५] वेक के खुले दोषारोपण और टेलर के निमंत्रण ने इस वृद्ध सरदार को सावधान कर दिया। उसे हिंसा की आशंका थी और उसके स्वामिभक्त काश्तकार अपने सरदार की रक्षा के लिए तैयार थे। ऐसे समय विद्रोही सिपाही आरा पहुंचे और यदि निशान सिंह का कथन सत्य है, तो उन्होंने कुंवर सिंह से सहयोग मांगा। वह उनका स्वाभाविक नेता था, क्योंकि उनमें से बहुत सारे राजपूत थे। यद्यपि उसने कोई सैनिक शिक्षा प्राप्त नहीं की थी, लेकिन "उसकी धारणा थी कि यदि उसे सैनिक शिक्षा मिलती तो वह एक बहुत अच्छा कमांडर बनता।"

कुंवर सिंह के प्रमुख सहायकों में उसका भाई अमर सिंह,[३६] उसका भतीजा रितभंजन सिंह, उसका तहसीलदार हरकिशन सिंह और उसका साठ वर्षीय मित्र निशान सिंह थे। दिलावर खां और सरनाम सिंह का भी उल्लेख किया गया है। शाहाबाद के राजपूत इस बात पर तुले हुए थे कि वे यह सिद्ध कर दें कि रजपूती वीरता गुजरे जमाने की बात नहीं है।

सिपाहियों ने खजाना लूट लिया और जेलों से कैदी छोड़ दिए और इसके बाद घेरा शुरू हुआ। कुंवर सिंह के पास दो पुरानी तोपें थीं, लेकिन समुचित गोला-बारूद नहीं

---

३४. कोर्ट को प्रेषित पत्र, दिनांक १ सितम्बर १८५७ संख्या २ में संलग्न ६३। अगले पार्लियामेंटरी पेपर्स, (संख्या ५), १८५७, पृ० २८, परिशिष्ट 'बी'।

३५. फ़ारेस्ट, ए हिस्ट्री आफ़ दि इन्डियन म्यूटिनी, जिल्द ३, पृ० ४३३।

३६. दयाल सिंह और राजपति सिंह नामक उसके दो और भाई थे।

था, इसलिए पिटे हुए लोहे के गोले और दरवाजों के पीतल के हत्थे काम में लाए गए। आत्मरक्षा की लड़ाई में सिखों ने बड़ा भारी काम किया। घेरे में घिरे हुए डाक्टर हाल का कथन है कि "यदि सिख भी, जो हमारे साथ थे, धोखा दे देते तो उन्होंने हमारा नाश्ता बना कर खा लिया होता।"[३७] ऐसा करने के लिए प्रलोभन भी कम नहीं थे। पहले तो उनकी जाति और धर्म की भावना को उकसाया गया और बाद में लोभ दिखाया गया। अंग्रेज़ों का साथ छोड़ देने के लिए प्रत्येक आदमी को पांच सौ रुपये का प्रलोभन दिया गया। उनका जमादार हुकुम सिंह इस घेरेबन्दी में शक्ति का स्तम्भ सिद्ध हुआ। जब पानी खत्म हो गया, तो सिखों ने अठारह फुट गहरा कुंवा खोदा। जब जानवरों के मांस की कमी हो गई, तो हुकुम सिंह और उसके आदमी छिपकर इस छोटे-से किले से बाहर गए और कुछ भेड़ें लाए। जब बागियों ने सुरंग लगाने की चेष्टा की तो इस बात का पता लगाकर हुकुम सिंह ने उनका प्रयत्न विफल कर दिया। वह सभी जगह मौजूद रहता था। "तोप के हर गलत निशाने पर वह हंस कर बड़े ताने के साथ कहा करता था—कुछ परवाह नहीं।" छत पर चढ़ कर उसने घेरा डालने वालों पर ईंट-पत्थर तक फेंके।[३८] ३१ जुलाई को घिरे हुए लोगों की सहायता के लिए आने वाली फौज की दुर्दशा के बारे में बताया गया, लेकिन सिख फिर भी तब तक मजबूती से डटे रहे जब तक कि उनकी सहायता के लिए मेजर विन्सेंट आयर नहीं आ गया और इसके बाद घेरा उठ गया।

विन्सेंट आयर इलाहाबाद जा रहा था। अफगान-युद्ध के समय उसने काफी नाम कमाया था और बाद में उसकी नियुक्ति ग्वालियर कंटिंजेंट में हुई थी। जब ग़दर शुरू हुआ तो वह बर्मा में था। जिस दिन उपद्रव शुरू हुआ, वह दानापुर से होकर जा रहा था। उसने देखा कि छावनी के ऊपर से लपटें उठ रही हैं। २८ तारीख को वह बक्सर पहुंचा और वहां मालूम हुआ कि बागियों का एक झुंड आने वाला है। वह फिर गाजीपुर के लिए रवाना हुआ, जो कि उन दिनों अफीम के व्यापार का बहुत बड़ा केन्द्र था। गाजीपुर से वह २५ हाईलैंडर्स के साथ बक्सर लौट आया और एक सौ साठ बन्दूकचियों वाले दल के कप्तान एल० एस्ट्रेन्ज से जा मिला। बक्सर से वह आरा गया और रास्ते में उसे डनबर की पराजय की सूचना मिली। डनबर की तरह आयर पर भी बागियों ने रास्ते में छिपकर हमला किया, लेकिन उनकी बन्दूकें आयर के तोपखाने और एन्फील्ड राइफलों का मुकाबला न कर सकीं। बीबीगंज के पास कुंवर सिंह ने फिर मुकाबला करना चाहा किन्तु एस्ट्रेन्ज के बन्दूकची कुंवर सिंह के हमले के सामने बराबर मैदान छोड़ रहे थे। जब उसके दाहिने पक्ष पर किरचों से हमला किया गया तो बागियों ने मैदान छोड़ दिया। यह लड़ाई २ अगस्त की रात को लड़ी गई थी और दूसरे दिन सबेरे आरा मुक्त कर दिया गया। "इस सारे समय में आरा के अंग्रेज बन्दी थे। कई ईसाई और यूरेशियन परिवार कुंवर सिंह के हाथ में थे और उसके जाने के समय तक वे सभी सुरक्षित थे। वास्तव में हम यह नहीं

---

३७. हाल्स, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ३६

३८. वही ,पृ ६७

जानते कि दूसरे बागियों ने जो अत्याचार किये, उनमें कुंवरसिंह भी कभी शामिल हुआ।"[३९]

आरा से कुंवर सिंह जगदीशपुर के अपने पैतृक किले में चला गया जहां उसका पीछा आयर ने किया। काफी कड़ा मुकाबला हुआ लेकिन कुंवर सिंह के साथी आयर के सैनिकों के सामने न टिक सके और कोई नहीं बच सका और सारे घायल बागी फांसी पर लटका दिए गए और इस प्रकार आरा में किए गए बर्ताव का बदला लिया गया। कुंवर सिंह द्वारा बनवाया गया एक विशाल मन्दिर भी नष्ट कर दिया गया, "क्योंकि कहा जाता है कि विद्रोह करने के लिए उसे ब्राह्मणों ने ही भड़काया था।"[४०] जगदीशपुर का महल और दूसरी इमारतें भी नष्ट कर दी गयीं। यहां प्रधान सेनापति को इस बात का श्रेय अवश्य दिया जाना चाहिए कि "वर्तमान संकट के समय एक कमांडर के कर्तव्यों के बारे में गलत धारणा के कारण मेजर आयर ने जगदीशपुर के हिन्दू मन्दिर का जो विनाश किया" उसकी उसने निन्दा की, जबकि इसके साथ ही मेजर आयर के अधीनस्थ अफसरों एवं सैनिकों के निर्णय, वीरता एवं तत्परता की उसने गवर्नर-जनरल से प्रशंसा की।

कुंवर सिंह की सेना हार गयी, उसका गढ़ नष्ट कर दिया गया लेकिन बूढ़ा शेर झुका नहीं। जगदीशपुर के जंगलों से भाग कर वह रोहतास की पहाड़ियों में चला गया, जिसके कारण ग्रांड ट्रंक रोड को खतरा उत्पन्न हो गया जो स्थल मार्ग से अंग्रेज़ों के यातायात के लिए बड़ी महत्वपूर्ण थी। लेकिन कुंवर सिंह के सामने तो और दूसरी बातें और बड़ी-बड़ी योजनाएं थीं। वह अच्छी तरह जानता था कि युद्ध की जीत या हार का फैसला निचले प्रान्तों में नहीं बल्कि उत्तर भारत में होना है। २० अगस्त को इलेक्ट्रिक टेलीग्राफ के डिप्टी सुपरिंटेन्डेंट के एक पत्र से बीडन को पता लगा कि कुंवर सिंह "रोहतास के पास अकबरपुर में है और अमर सिंह सहसराम जाने वाली ग्रांट ट्रंक रोड को छेके हुए है और उसके आदमियों द्वारा सरकारी अफसरों और दूसरे लोगों को खतरा पैदा

---

३९. हाल्स, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ८६। आरा के मजिस्ट्रेट एच० सी० वेक ने १२ जून, १८५८ को पटना के कमिश्नर को एक पत्र लिखा, जिसमें उसने भी कुंवर सिंह की ऐसी ही प्रशंसा की है "इस जिले के उपद्रवों में एक बात यह अच्छी हुई कि आरा से लौटते हुए सिपाहियों के अलावा अंगेज़ों की हत्या नहीं की गई।" "यूरोपियन, यूरेशियन, हिन्दू और बंगाली ठीक उसी दिन जिले के बाहर जाने दिये गये जिस दिन बागी सिपाहियों ने सोन नदी पार की और विद्रोह शुरू हुआ।" "कलक्टर के कार्यालय का एक क्लर्क सैमुअल्स तथा आरा का एक यूरेशियन कुंवर सिंह के द्वारा गिरफ्तार कर लिए गये थे, लेकिन बागियों के चले जाने के बाद वे सही सलामत रिहा कर दिये गये।"

४०. फ़ारेस्ट, ए हिस्ट्री आफ़ दि इंडियन म्यूटिनी, जिल्द ३, पृ० ४५६। फौजी न्यायालय के निर्णय के बाद आरा में कई लोगों को फांसी दी गयी। फांसी की सज़ा पाने वालों ने कोई भय प्रदर्शित नहीं किया। "कई लोगों ने अन्तिम प्रार्थना केवल यही की कि उन्हें खुद ही गले की रस्सी ठीक करने की अनुमति दी जाय और उन्होंने वीरतापूर्वक मृत्यु का आलिंगन किया।"; सीवकिंग, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १०६

हो गया है।" किन्तु सितम्बर के शुरू में शाह कबीरुद्दीन ने सुना था कि कुंवर सिंह रीवा में था। वह मिर्जापुर जिले में जंगलों को चीरता हुआ रीवा के हिन्दू राज्य में चला गया, जहां का राजा कुंवर सिंह का सम्बन्धी बताया जाता था। कुंवर सिंह की आखरी मंजिल तो कदाचित दिल्ली ही थी। लेकिन पोलिटिकल एजेंट विलोबी ओसबोर्न ने रीवा के राजा को समझाया कि वह कुंवर सिंह के खिलाफ तगड़ा मोर्चा ले और अन्त में उसे रीवा छोड़ना पड़ा। यदि शाह कबीरुद्दीन की सूचना सही थी तो इस संकट के समय इस वृद्ध सरदार के अधिकांश साथी उसका साथ छोड़ चुके थे और उसके पास केवल ५०० सैनिक रह गए थे। सितम्बर के महीने में वह मिर्जापुर-रीवा क्षेत्र में मंडराता रहा और उन दोनों ही क्षेत्रों को उससे संकट बना रहा।[४१] वह अक्तूबर में बांदा में था।[४२]

इस समय तक दिल्ली का पतन हो चुका था और इन बदली हुई परिस्थितियों के अनुसार कुंवर सिंह को अपनी योजनाएं बदलनी पड़ीं। २५ अक्तूबर को शेरर ने म्योर को लिखा कि "ऐसा पता लगा है कि कुंवर सिंह (आरा का) बांदा से चल पड़ा है और कालपी में ग्वालियर कंटिंजेंट से मिलने वाला है, लेकिन मेरी बांदा की खबर अच्छी नहीं है।"[४३] महीने के अन्त तक शेरर को और भी सही खबरों का पता लगा, "कुंवर सिंह बांदा के १२ या १५०० बागियों और ३ या ४०० अपने आदमियों के साथ कालपी आ गया है।"[४४] म्योर ने २ नवम्बर को लिखा कि "कुंवर सिंह एक अनुशासनहीन भीड़" के साथ अवध में प्रविष्ट होने के लिए कालपी पहुंच गया है। ग्वालियर कंटिंजेंट बड़ी सरगर्मी से तथा सावधानी के साथ कालपी की ओर बढ़ रही है।"[४५] नवम्बर में मेजर एलिस को पता चला कि जगदीशपुर के सरदार को बांदा के किसी जमींदार ने पन्ना की सीमा में पराजित किया है और वह अब ग्वालियर की ओर बढ़ रहा है। पहले की एक खबर के अनुसार कानपुर पर किये जाने वाले हमले में मदद देने के लिए नाना ने उसे आमंत्रित किया था। निशान सिंह का कहना था कि ग्वालियर कंटिंजेंट का कुंवर सिंह के साथ पत्र-व्यवहार चल

---

४१. चेस्टर का १० सितम्बर, १८५७ का पत्र। टकर का १ सितम्बर का कालविन के नाम पत्र। म्योर और कोल्डस्ट्रीम, उद्धृत ग्रन्थ, जिल्द १, पृ० ५३६।

४२. ८वीं देशी पैदल सेना के अफसरों द्वारा ११ सितम्बर, १८५७ को बांदा से भेजे गये दिल्ली के बादशाह के नाम एक पत्र के अनुसार कुंवर सिंह अगस्त में बांदा पहुंचा। उन्होंने लिखा कि "हमारी विजय का समाचार सुनकर जगदीशपुर के बाबू कुंवर सिंह ने हमारी सहायता के लिए प्रार्थना की, जिसके फलस्वरूप ४०वीं देशी पैदल सेना के देशी अफसर अपने ८०० आदमियों के साथ उससे जा मिले।" २८ अगस्त, १८५७ के दिन पूरी की पूरी ७वीं और ८वीं रेजीमेंट तथा ४० वीं रेजीमेंट के २०० सिपाही प्रान्तीय बटालियन के ६० सिपाहियों के साथ आरा से चल कर बांदा पहुंचे।

४३. म्योर एण्ड कोल्डस्ट्रीम, उद्धृत ग्रन्थ, जिल्द २, पृ० ३२०

४४. म्योर एण्ड कोल्डस्ट्रीम, उद्धृत ग्रन्थ, जिल्द २, पृ० ३२२।

४५. वही, जिल्द २, पृ० २१२।

रहा था और उससे कहा गया था कि जब तक कि वे वहां न पहुंच जाएं वह जमना पार न करे। यहां यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सहसराम-रोहतास क्षेत्र से निकल कर कुंवर सिंह मिर्जापुर की ओर बढ़ा जिससे रीवा, मिर्जापुर तथा इलाहाबाद के कुछ भागों को खतरा पैदा हो गया। धीरे-धीरे उसके साथी उसे छोड़ते जा रहे थे और वह रीवा के राजा से लड़ने की स्थिति में नहीं था। इसलिए वह बांदा चला गया जहां का नवाब पहले ही विद्रोह में शामिल हो चुका था। बांदा से वह कालपी गया जहां उसे नाना के अथवा ग्वालियर कंटिंजेंट के या दोनों के ही आमंत्रण पर कानपुर के आक्रमण में शामिल होना था। यदि निशान सिंह की बात सत्य है तो कानपुर की लड़ाई के वक्त कुंवर सिंह मौजूद था। तात्या की हार के पश्चात् वह मराठा सरदारों के साथ कालपी नहीं गया बल्कि लड़ाई के सबसे महत्वपूर्ण केन्द्र लखनऊ गया। वहां वली ने उसका हार्दिक स्वागत किया और उसे सम्मानसूचक परिधान पहनाया। इसके अतिरिक्त उसे आज़मगढ़ के लिए एक फरमान दिया गया।

फरवरी १८५८ में कुंवर सिंह लखनऊ और दरियाबाद के बीच में कहीं था।[४६] मार्च महीने में वह सबसे अधिक सक्रिय रहा। गुरखे आजमगढ़ क्षेत्र को बागियों से खाली करवा रहे थे, लेकिन जब वे सर कोलिन कैम्पबेल की सहायता के लिए लखनऊ पहुंचे तो जिले के सब रक्षक दूर हो चुके थे। यह स्थिति इस वृद्ध राजपूत की गृद्ध दृष्टि से न बच सकी और वह आज़मगढ़ से २० मील दूर अतरौली गांव पर टूट पड़ा। कर्नल मिलमैन के हाथों में यहां की कमान थी और उसने कुंवर सिंह के विरुद्ध मोर्चा लिया किन्तु उसे मैदान छोड़कर भागना पड़ा। इसके बाद कुंवर सिंह ने आज़मगढ़ पर कब्ज़ा कर लिया। मिलमैन की सहायता के लिए जब कर्नल डेम्स गाजीपुर से दौड़ा और उसने शहर पर हमला किया तो उसे पीछे हटा दिया गया।[४७] आज़मगढ़ का पतन और उसके बाद अंग्रेज़ी सेनाओं का लगातार दो बार हारना वास्तव में बड़ी खराब खबर थी, हालांकि लखनऊ को फिर से ले लेने के कारण अंग्रेज़ों की इज्ज़त एक बार फिर बढ़ गयी थी। आज़मगढ़ की रक्षा के लिए इलाहाबाद से लार्ड मार्क कर को तत्काल भेजा गया और उसने शहर पर फिर अधिकार कर लिया, जहां कि कुछ दिनों बाद सर एडवर्ड लुगर्ड भी पहुंच गया। इस मजबूत संयुक्त मोर्चे के सामने कुंवर सिंह की कुछ नहीं चल सकती थी, इसलिए उसने अपने प्रान्त बिहार में लौट जाना तय किया। कुंवर सिंह ने अनेक वीरतापूर्ण लड़ाइयां लड़ीं जिनमें से एक का वर्णन मैलेसन ने किया है "उसने डगलस को तब तक पास नहीं फटकने दिया जब तक कि उसने अपने मुख्य दस्तों की विभाजित दो पंक्तियों को फिर से ठीक न कर लिया। वह बाद में आराम से पीछे हट गया और यद्यपि उसके बहुत से आदमी

---

४६. भारत सरकार के विदेश विभाग के सचिव को ब्रिगेडियर-जनरल मैकग्रेगर द्वारा १० फरवरी, १८५८ को भेजा गया पत्र; फ़ारेन पोलिटिकल कन्सल्टेशन्स, संख्या १३८६, ३० दिसम्बर, १८५९

४७. कुंवर सिंह की गिरफ्तारी के लिए घोषित इनाम की रकम इसके बाद १० हजार रु० से बढ़ा कर २५ हजार रु० कर दी गयी।

मारे गए लेकिन उन्होंने आखरी दम तक दृढ़ निश्चय का परिचय दिया। जब बराबर ४-५ मील तक पीछा करने के बाद डगलस शिथिल हो गया तो दोनों विभाजित पंक्तियां मिल गयीं और उन्होंने रात की लड़ाई के लिए मोर्चा बांध लिया।"[४८] इस प्रकार वह शिवपुर घाट पहुंचा जहां उसने कई नावें जमा कीं। उसने जानबूझ कर यह खबर फैलाई कि नावों की कमी के कारण वह हाथियों द्वारा नदी पार करने वाला है। २०० आदमियों की एक छोटी सी टुकड़ी के अतिरिक्त उसके सारे आदमी जनरल डगलस के वहां पहुंचने से पहले ही दूसरे किनारे पर पहुंच गए।

अब कुंवरसिंह जगदीशपुर वाले अपने नष्ट-भ्रष्ट घर की ओर जा रहा था। वृद्ध शेर अपनी मांद की ओर अब केवल मरने के लिए ही गया। गंगा पार करते हुए एक तोप के गोले से उसकी बांह क्षत-विक्षत हो गयी और इस बारे में यह कहा जाता है कि उस वृद्ध सरदार ने अपनी ही तलवार से वह क्षत-विक्षत बांह काट कर गंगा के पवित्र जल में अन्तिम भेंट के रूप में चढ़ा दी।[४९] इस आखरी यात्रा में भी उसे विरोध का मुकाबला करना था। उसके पास मुश्किल से २ हजार थके-मांदे, अस्त्रहीन आदमी रह गये थे, जिनके पास बन्दूकें भी नहीं थीं। आयर की भांति ही आरा का कप्तान ली ग्रांड भी उन्हीं जंगलों में इस वृद्ध सरदार पर आक्रमण करना चाहता था लेकिन वह मरणासन्न शेर अभी भी जोरदार प्रत्याक्रमण कर सकने की स्थिति में था। ली ग्रांड की सेना में केवल सिखों में ही अनुशासन एवं व्यवस्था बनी रही। यूरोपियन सैनिक तो पूरी तरह से घबरा गए और बुरी तरह से हारे। ३५वीं रेजीमेंट के १५० आदमियों में से पूरे १०० मारे गये। ली ग्रांड और अन्य दो अफसर भी मारे गये। सब तोपची मार डाले गये।[५०] लीग्रांड की सेनाओं की यह पराजय २३ अप्रैल को हुई और २४ अप्रैल को कुंवर सिंह की मृत्यु हो गई, लेकिन वह आखिरकार एक विजेता के रूप में ही मरा।[५१]

कुंवर सिंह की मृत्यु के बाद उसकी सेना की कमान उसके भाई अमर सिंह के पास आई। यद्यपि वह कोई विशेष सैनिक प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति न था, लेकिन अपने पूर्वज राजपूतों की वीरता और शौर्य उसे प्राप्त था। अपने काश्तकारों की भक्ति के सहारे, जो बड़े-बड़े इनामों के प्रलोभनों से भी अप्रभावित रहे, उसने शाहाबाद जिले में एक

४८. मैलेसन, उद्धृत ग्रन्थ, जिल्द २, पृ० ४७३-७४

४९. कुंवर सिंह के व्यक्तित्व के बारे में कई प्रकार की दन्तकथाएं प्रचलित हैं, जिनमें से एक यह भी है। प्रथम महायुद्ध के दिनों में मुझसे आरा के एक किसान ने कहा था कि बाबू कुंवर सिंह अभी जीवित हैं और वे अनुकूल समय पाकर जरूर लौटेंगे तथा अंग्रेज़ों से लड़ेंगे।

५०. "२२ ता० की शाम को आरा से चलने वाले ३०० अंग्रेज़ और सिखों में से लगभग आधे ही जीवित लौटे हैं।" यह सूचना आरा के कार्यवाहक मजिस्ट्रेट ब्राडहर्स्ट ने २४ अप्रैल, १८५८ को लिखे पत्र में पटना के सर्किट कमिश्नर को दी।

५१. कर्नल बर्च को २ मई, १८५८ को लिखे पत्र में यह तारीख कर्नल कोरफील्ड ने दी है।

समानान्तर सरकार बनाली थी। उसने अपने मजिस्ट्रेट और जज नियुक्त किए और एक जेल भी बनाई। जिस प्रकार अंग्रेज़ सरकार ने उसके सिर के लिए इनाम घोषित कर रखा था ठीक उसी तरह उसने बड़े अंग्रेज़ अफसरों के लिए इनाम घोषित किए। राजस्व अदा न करने पर उसने जायदादें बेच दीं। शासन का कार्य चलाया। सैमुअल्स लिखता है कि "शाहाबाद का यह आन्दोलन राष्ट्रीय विद्रोह की सारी गरिमा से मंडित था और जिसे कई छोटे जमींदारों का समर्थन प्राप्त था और लगभग सारे जिले के राजपूत खुले-आम इसमें साथ दे रहे थे।" "कुंवर सिंह के चले जाने के बाद कुंवर सिंह के गांव के राजपूतों का सामान्य रवैया विरोध न करने का था।" उन्होंने "पुलिस के थानों का फिर से खोले जाने का विरोध नहीं किया। यूरोपियन सारे जिले में सुरक्षापूर्वक घूमते थे, किन्तु उन्होंने पुलिस की किसी प्रकार की सहायता नहीं की, लेकिन जब पुलिस गांव में किसी बागी को गिरफ्तार करने आती, तो वे लोग उसे गांव से बाहर निकाल देते। उनका विश्वास था कि परम्परागत नेताओं की पुकार पर उनके रिश्तेदार उनकी जाति की रक्षा के लिए लड़ रहे हैं।"[५२]

अमर सिंह को अनेक विपरीत परिस्थितियों का सामना करना पड़ा। आरा की ओर ३ अंग्रेज सेनाएं बढ़ रही थीं। दानापुर की ओर से डगलस ने सोन नदी पार की। आज़मगढ़ से सर एडवर्ड लुगर्ड और सहसराम क्षेत्र से कर्नल कोरफ़ील्ड आए। २ मई को कोरफ़ील्ड ने बताया कि "अमरसिंह बहुत घबराया हुआ है और लड़ने के लिए तैयार नहीं है लेकिन सिपाही जोर दे रहे हैं। उसकी कमान में २,००० से लेकर २,५०० तक सिपाही हैं और ३००-४०० के लगभग अच्छे घुड़सवार हैं। जगदीशपुर में बहुत-से बदमाश और राजपूत जमींदार हैं।"[५३] अंग्रेज़ों के खिलाफ खुली लड़ाई में इस राजपूत सरदार की जीत होनी मुश्किल थी। इसलिए उसने जंगलों से बाहर आना मंजूर नहीं किया और गोरिल्ला-युद्ध से वह अपने शत्रुओं को परेशान करता रहा और उनके लिए आने वाले माल तथा रसद आदि को नष्ट करता रहा। जगदीशपुर का पतन हो गया, लेकिन अमर सिंह ने लतावरपुर में जाकर शरण ली। लुगर्ड ने जंगल के बीच चौड़ी सड़कें बनाने का प्रयास किया ताकि बागियों को पकड़ा जा सके लेकिन वे लोग बराबर छोटे-छोटे दल बनाकर उसकी पकड़ से बचते रहे। लुगर्ड इस प्रकार की लड़ाई को ज्यादा दिन बर्दाश्त नहीं कर सका और गिरते हुए स्वास्थ्य का बहाना बनाकर कमान से हट गया। इस बीच बागियों ने आस-पास के गांवों पर हमला कर अंग्रेज़ों के भक्त जमींदारों को दंडित किया। जून के महीने में गंगा के किनारे घुरमार के निकट अमर सिंह दिखाई दिया। ऐसा बताया गया कि वह अवध में जाना चाहता था। गाजीपुर के मजिस्ट्रेट को डर था कि इस राजपूत सरदार का उद्देश्य गाजीपुर पहुंचना था। गब्बिन्स को शक था कि कहीं अमर सिंह बनारस पर आक्रमण न कर दे।[५४] जुलाई १८५८ में उन्होंने आरा पर हमला किया

५२. यंग को भेजा गया सैमुअल्स का पत्र, संख्या १५१५, दिनांक २५ सितम्बर, १८५८,

५३. कर्नल बर्च को कर्नल कोरफ़ील्ड द्वारा भेजा गया २ मई, १८५८ का पत्र।

५४. फ़ारेन सीक्रेट कन्सलटेशन्स, संख्या १८८, २५ जून, १८५८ और संख्या १४८-१५६, २७ अगस्त, १८५८।

और रेल-विभाग के सहायक श्री विक्टर का कस्बे के बाहर का बंगला जला दिया। जब बागियों का पीछा किया गया तो वे अमर सिंह के गांव चले गए।[५५] अगले महीने फिर आरा पर आक्रमण हुआ। आरा का तत्कालीन कमांडर कर्नल वाल्टर यह खबर मिलते ही कि बागी शहर से १२ मील दूर पश्चिम में हैं, सेना लेकर चल पड़ा। जैसे ही वह विद्रोहियों के निकट पहुंचा वे रातों-रात गायब हो गए, लेकिन आरा की रक्षा हो गई। दूसरे दिन सबेरे वाल्टर को असिस्टेंट मजिस्ट्रेट का एक पत्र मिला कि बागी फिर शहर के निकट पहुंच गए हैं। जब तक सेनाएं लौटकर आईं बागियों ने कुछ दूकानें लूट लीं, कैदियों को छुड़ा लिया और २०-२५ मकान लूट लिए। वापसी में इन बागियों ने अंग्रेज़ों के भक्त जुमेरा के एक जमींदार चौधरी प्रतापनारायण सिंह का मकान जला दिया। दूसरे दिन सबेरे ५० सवारों की एक टुकड़ी ने आकर आरा में गड़बड़ी की।[५६] एक टुकड़ी ने गया पर हमला किया, जेल तोड़ दी और कैदियों को रिहा कर दिया। निराश होकर डगलस ने पूरा जंगल घेर लेना चाहा, ताकि बागियों को खदेड़ा जा सके। ७ सैनिक दलों ने एक-साथ जंगल में प्रवेश किया लेकिन अप्रत्याशित बाढ़ के कारण यह आक्रमण व्यर्थ हो गया। वास्तव में अंग्रेज पैदल सेना उतनी जल्दी से आगे नहीं बढ़ सकती थी जितनी कि बागी लोग इन जंगलों में आगे बढ़ जाते थे। छोटे हैवलाक ने डगलस को घुड़सवारों से काम लेने का परामर्श दिया। यह तरकीब अमर सिंह के आदमियों का पीछा करने में ज्यादा कारगर हुई और २० अक्तूबर को हैवलाक ने दलदल वाले एक गांव में इन लोगों को जा पकड़ा। बागियों की सेना नष्ट कर दी गई। लेकिन उनका नेता कैमूर की पहाड़ियों में भाग गया। नवम्बर १८५८ में डगलस ने वहां उस पर हमला किया और इस प्रकार पश्चिमी बिहार की लड़ाई समाप्त हुई। लेकिन अभी भी अमर सिंह बचा हुआ था। निशान सिंह गिरफ्तार किया जा चुका था और उसे फांसी दे दी गई थी। हरकिशन सिंह को फांसी दी जा चुकी थी। अमर सिंह की सारी सेना नष्ट कर दी गई थी लेकिन वह हार मानने को तैयार नहीं था। अक्तूबर १८५९ में कर्नल रैम्ज़े ने जंगबहादुर से सुना कि जगदीशपुर निवासी अमर सिंह तराई के बागियों से मिल गया है; और आशा है कि वह बाला तथा नाना राव की सेनाओं की कमान सम्भालेगा।[५७]

बिहार के भूमि-पति बराबर अंग्रेज सरकार के साथ रहे। एक बार दरभंगा, डुमरांव और हथवा के महाराजाओं की स्वामिभक्ति पर शक किया गया लेकिन उन्होंने और उनके साथी जमींदारों ने सरकार को जन और धन की सहायता दी। यद्यपि गया और चम्पारन में तथा छोटा नागपुर और देवघर में कुछ उत्पात हुए, लेकिन ये उत्पात शाहाबाद के गम्भीर उपद्रवों की तरह व्यापक नहीं थे।

---

५५. पटना के सर्किट कमिश्नर को ब्राडहर्स्ट द्वारा भेजा गया पत्र, दिनांक ८ जुलाई, १८५८

५६. पटना के सर्किट कमिश्नर को ब्राडहर्स्ट द्वारा भेजा गया पत्र, दिनांक ५ अगस्त, १८५८

५७. फ़ारेन पोलिटिकल कन्सल्टेशन्स, संख्या १६०, ४ नवम्बर, १८५९। नेपाल में शरण लेने वाले महावीरसिंह नामक एक सिपाही ने ८ नवम्बर, १८५९ को बताया कि "कुंवर सिंह का भतीजा उमर सिंह भोजपुरियों के साथ २ महीने पूर्व लाखन सिंह से जा मिला है।" फ़ारेन पोलिटिकल कन्सल्टेशन्स, सं० ५२५-३०, ३० दिसम्बर, १८५९ (पूरक)

अध्याय ७

झांसी

झांसी बुन्देलखण्ड के अन्तराल में एक छोटी मराठा अमलदारी थी। पेशवा के समय में यह एक सूबेदार या प्रान्तीय शासक का प्रान्त था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन ने इसकी स्थिति को बढ़ाकर इसे एक राज्य कर दिया। महान बुन्देल राजा छत्रसाल ने अपने राज्यक्षेत्र के एक तिहाई भाग की वसीयत अपने सहायक पेशवा बाजीराव प्रथम के लिए मुस्लिम आक्रमण के विरुद्ध उसकी सामयिक सहायता के उपलक्ष्य में की थी। पेशवा ने अपनी ओर से बुन्देलखण्ड के अपने भाग को तीन प्रान्तों में बांट दिया। पहले भाग को गोविन्दपन्त खेर के अधीन कर दिया गया, जिसने सागर को अपना मुख्यालय बनाया। दूसरा भाग जिसमें बांदा और कालपी शामिल थे, पेशवा के औरस पुत्र शमशेर बहादुर को दे दिया गया। तीसरे भाग, झांसी की सूबेदारी रघुनाथ हरि नेवलकर के परिवार में पैतृक बन गई। उसने अपने भाई शिवराम भाऊ के पक्ष में राज्य-त्याग कर दिया। ब्रिटिश सरकार ने सन् १८०४ में शिवराम भाऊ के साथ एक समझौता किया।[1] सन् १८१७ में शिवराम भाऊ के उत्तराधिकारी और पौत्र रामचन्द्रराव के साथ एक सन्धि की गई जिसके द्वारा उसको, उसके दायादों और उत्तराधिकारियों को अमलदारी की गारन्टी दी गई।[2] सन् १८३५ में रामचन्द्रराव, जिसे "महाराजाधिराज फिदवी बादशाह जामजाह इंग्लिस्तान" की उपाधि दी गई थी, निःसन्तान मर गया और उसकी विधवा पत्नी ने, अपनी बहन के पुत्र कृष्णराव को गोद रख लिया। चूंकि एक दूसरे परिवार के बालक को गोद लेना स्थानीय रिवाज के अनुसार अमान्य था, अतः उत्तराधिकार के लिए प्रतिद्वन्द्विता हुई और भारत सरकार ने अपना निर्णय रघुनाथराव के पक्ष में, जो मृत शासक का चाचा और शिवराम भाऊ का पुत्र था, दिया। रघुनाथराव लम्पट चरित्र का मनुष्य था और उसमें प्रशासकीय योग्यता बिल्कुल नहीं थी। उसके कुशासन ने राज्य को विनाश के समीप ला दिया। ब्रिटिश सरकार ने हस्तक्षेप किया और राज्य का

१. एचिसन, उद्धृत ग्रन्थ, जिल्द ३, पृ० १६४-६६

२. वही, जिल्द तीसरी, पृ० १६८-७१। "राव रामचन्द्र उसके दायादों और उत्तराधिकारियों को, मोट परगना को छोड़कर, उस राज्य-क्षेत्र का, जिस पर स्वर्गीय राव शिव भाऊ का अधिकार था, पैतृक शासक नियुक्त करने एवं उनकी यह स्थिति स्वीकार करने के लिए" उस सन्धि पत्र के दूसरे अनुच्छेद के अनुसार ब्रिटिश सरकार अनुमति देती है।

शासन अपने हाथ में ले लिया। रघुनाथराव बिना किसी वैध सन्तान के मर गया और उत्तराधिकार के लिए उसके औरस पुत्रों, कृष्णराव, जो रामचन्द्रराव का दत्तक पुत्र कहा जाता था और गंगाधरराव, जो दिवंगत महाराज का जीवित भाई था, के बीच विवाद हुआ। ब्रिटिश सरकार ने अपना निर्णय गंगाधरराव के पक्ष में दिया। परन्तु उसे शासकीय अधिकार सन् १८४३ तक नहीं दिए गए।[3] उसने संस्कृत हस्त-लिखित ग्रन्थों के एक उत्कृष्ट पुस्तकालय का निर्माण किया और झांसी नगर की उन्नति की।

नवम्बर सन् १८५३ में गंगाधरराव की मृत्यु हो गई और उन्होंने अपना कोई निजी दायाद नहीं छोड़ा। परन्तु अपनी मृत्यु से एक दिन पूर्व उन्होंने अपने दरबार के मुख्य उच्चकुलीन पुरुषों, झांसी के राजनीतिक अभिकर्ता (पोलिटिकल एजेंट) मेजर एलिस तथा झांसी सेना-भागों के समादेशक अधिकारी कैप्टन मार्टिन के समक्ष नेवलकर परिवार की एक अन्य शाखा के एक बालक को गोद ले लिया। उन्होंने स्वयं मेजर एलिस को एक खरीता दिया, जिसमें उन्होंने अपनी विधवा पत्नी और बालक को सरकार की रक्षा में सौंपा। उन्होंने प्रार्थना की, "मेरी राजभक्ति के उपलक्ष्य में सरकार इस बालक के साथ दयालुता का व्यवहार करे। जब तक मेरी विधवा पत्नी जिये, इस अमलदारी के सम्पूर्ण सत्ताधारी के रूप में तथा गोद लिये गए पुत्र की माता के रूप में राज्य का प्रशासन उसके अधिकार में रहे।"[४] इसके बाद एक स्मरणपत्र गवर्नर-जनरल को भेजा गया, जिसमें विधवा रानी ने दतिया और ओरछा के बुन्देल राज्यों के उदाहरण देते हुए कहा कि किस प्रकार वहां दत्तक पुत्रों के दावे स्वीकार कर लिये गए थे। मेजर एलिस ने भी उसके दावे का समर्थन किया, परन्तु गवर्नर-जनरल के एजेंट मेजर माल्कम की राय भिन्न थी। गंगाधरराव की मृत्यु के समय लार्ड डलहौज़ी कलकत्ता से बाहर थे और राज्य के भविष्य के सम्बन्ध में कोई तात्कालिक निर्णय सम्भव नहीं था। फिर भी लार्ड डलहौज़ी का तर्क यह था कि झांसी का मामला दतिया और ओरछा के समान नहीं था, क्योंकि इन राज्यों के विपरीत, झांसी कभी एक सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न स्वतन्त्र राज्य नहीं रहा था। यह पहले पेशवा की सरकार के अधीन था और फिर ब्रिटिश सरकार के। उसका यह भी मत था कि ब्रिटिश प्रशासन राज्य की जनता के लाभ के लिए होगा। अतः मार्च सन् १८५४ में झांसी को ब्रिटिश भारतीय अधिराज्य में मिला लिया गया और रानी को एक काफी बड़ी पेंशन का वचन दिया गया। उसके जीवन भर के लिए साठ हजार रुपये की पेंशन निश्चित कर दी गई और शहर के महल में रहने की उसे अनुमति दे दी गई।[5] ब्रिटिश न्यायालयों

३. एचिसन, उद्धृत ग्रन्थ, जिल्द ३, पृ० १७२

४. पारसैनिस, झांसी संस्थानाच्या महाराणी लक्ष्मीबाई साहेब ह्यांचें चरित पृ० ४३-४४

५. फ़ारेस्ट टिप्पणी करता है, "छः हजार पौण्ड प्रति वर्ष को किसी प्रकार एक क्षुद्र वेतन मात्र नहीं समझा जा सकता। पेशवा को आठ हजार की राशि प्रदान की गई थी।" फ़ारेस्ट, ए हिस्ट्री आफ़ दि इण्डियन म्यूटिनी, जिल्द ३, पृ० ४। पेशवा की पेंशन अस्सी हजार पौण्ड थी, आठ हजार पौण्ड नहीं।

के अधिकार-क्षेत्र से उसे मुक्ति दे दी गई और यह भी विधान कर दिया गया कि उसके जीवन-काल में उसके वैयक्तिक अनुचर-वृन्द को वही विशेषाधिकार प्राप्त रहेंगे। दत्तक-ग्रहण भी निषिद्ध नहीं किया गया। दामोदरराव को परिवार के खजाने तथा अपने गोद लेने वाले पिता की वैयक्तिक सम्पत्ति का वारिस स्वीकार कर लिया गया। यह पता चला कि गंगाधरराव की मृत्यु के समय खजाने में छः लाख रुपये नकद थे। इस धनराशि को न्यास के रूप में भारत सरकार ने अवयस्क राजकुमार के लिए रखा। परन्तु सदा की तरह भारतीय भावनाओं की उपेक्षा कर सरकार ने लोगों के मनोभावों को ठेस पहुंचायी। नेवलकर परिवार की कुल-देवी महालक्ष्मी के मन्दिर के लिए जो गांव दिए गए थे, वे सरकार ने वापस ले लिए। रानी ने पहले पेंशन लेना अस्वीकार कर दिया था, परन्तु अन्त में जब उसने अपने भाग्य के साथ समझौता कर लिया तो उसे पता चला कि पेंशन में बहुत-सी कटौतियां होती हैं, जिनमें एक कटौती गंगाधरराव के ऋण से सम्बन्धित है। रानी समझती थी कि यह राज्य की देयता है। विशेषतः उस पर और सामान्यतः हिन्दुओं पर जिस बात ने आघात किया, वह थी गो-हत्या को फिर से जारी करना जो एक लम्बे समय से ब्राह्मण-शासन में झांसी नगर में राजाज्ञा द्वारा निषिद्ध थी।[६] जब रानी ने दामोदरराव के यज्ञोपवीत-संस्कार के व्यय के लिए उसके ही निमित्त रखे हुए छः लाख रुपयों में से एक लाख रुपए के लिए आवेदन किया, तो सरकार ने उसे तब तक देना अस्वीकार कर दिया जब तक वह चार ऐसे जमानती न लाये जो, यदि बालक वयस्क होने पर उस राशि की मांग करे, तो उस धन को वापस दिलाने की जमानत कर सकें। रानी फिर भी आशा करती रही कि उसके और बालक के साथ न्याय किया जाएगा यदि संचालकों के न्यायालय में उसके मामले का ठीक प्रकार से प्रतिनिधित्व किया जाए। इसलिए अन्य राजकुमारों की तरह, जिनके अधिकार-स्वत्व छीन लिये गये थे, रानी ने भी अपने अभिकर्ता लन्दन भेजे। इस कार्य में रानी के साठ हजार रुपये व्यय हुए, परन्तु संचालकों को सपरिषद्-गवर्नर-जनरल के निर्णय को परिवर्तित करने का कोई कारण नहीं दिखाई दिया।

मेजर मालकम का कहना है कि रानी "एक उच्च चरित्र" की महिला है और "झांसी में हर कोई उसका बहुत आदर करता है।"[७] यह भी स्वीकार किया जाता था कि रानी ने "उस विश्वस्तता और राजभक्ति को अधिक महत्व नहीं दिया जो झांसी के राज्य ने हमारी सरकार के प्रति सदा उन अवस्थाओं में भी दिखाई जब उसके लिए पर्याप्त प्रलोभन हो सकता था और जब हमारी शक्ति उस महत्वपूर्ण स्थिति पर नहीं पहुंच सकी थी जो उसकी तब से हो गई है।" इसलिए झांसी को मिलाने का औचित्य सम्बद्ध लोगों को विशेषतः सन्देहास्पद ही दिखाई पड़ता था।

रानी लक्ष्मीबाई साधारण मां-बाप की लड़की थीं। उनके पिता मोरोपन्त ताम्बे, चिमनजी अप्पा के वैयक्तिक अनुचरों में थे और उनके साथ ही बनारस में रहते थे।

६. मैलेसन, उद्धृत ग्रन्थ, जिल्द १, पृ० १८२-८३

७. के, ए हिस्ट्री आफ़ दि सिपाय वार, जिल्द १, पृ० ९१

कहा जाता है कि यहीं उनकी प्रथम पत्नी भागीरथी बाई से उन्हें एक कन्या उत्पन्न हुई। माता-पिता ने उसका नाम मणिकर्णिका रखा, परन्तु उसके विवाह के समय जो नाम उसके ससुराल वालों ने उसे दिया, उसी से वह बाद में प्रसिद्ध हुई। उसकी बाल्यावस्था के सम्बन्ध में हमें प्रायः कुछ मालूम नहीं है। उसकी जन्म-तिथि के सम्बन्ध में भी हम कुछ नहीं जानते। न मालूम किस साक्ष्य के आधार पर पारसैनिस ने यह कहा है कि उसका जन्म १९ नवम्बर, १८३५ को हुआ था।[८] इसके साथ ही पारसैनिस हमें यह भी सूचना देते हैं कि मोरोपन्त ताम्बे, चिमनजी के अन्य आश्रितों की तरह, बिठूर में बाजीराव द्वितीय के दरबार से सम्बद्ध हो गया था। इसलिए मोरोपन्त १८३५ में बनारस में नहीं हो सकता था, क्योंकि चिमनजी की मृत्यु सन् १८३२ में हो गई थी। दूसरी ओर, लक्ष्मी बाई की बाल्यावस्था का मणिकर्णिका नाम उसके बनारस में जन्म की कथा को कुछ समर्थन प्रदान करता है। लक्ष्मीबाई बाल्यावस्था में नानासाहब और तात्या टोपे के साथ खेला करती थी, इस कहानी को सन्देहास्पद ही समझना चाहिए, क्योंकि नानासाहब और तात्या सम्भवतः उसकी आयु के नहीं हो सकते थे। सैनिक विद्रोह के बाद उसके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में अनेक कल्पित कहानियां गढ़ी गईं और झांसी के शासक के साथ उसके विवाह के पश्चात् कुछ पूर्ववर्ती कहानियां सम्भवतः प्रचलित हो गईं। वह अपने पति से अवस्था में काफी छोटी थी, क्योंकि उसके पति की प्रथम रानी की मृत्यु के पश्चात् उसके साथ उसका विवाह हुआ था। प्रसिद्ध वकील जान लैंग ने, जिससे रानी ने अपने राज्य के मिला लिए जाने के पश्चात् परामर्श किया था, उसका चरित्र-चित्रण संक्षेप में इस प्रकार किया है, "वह करीब मंझले कद की स्त्री थी, कुछ मोटी परन्तु अधिक नहीं। तरुणावस्था में उसका चेहरा अति सुन्दर रहा होगा, और इस समय भी उसमें बहुत आकर्षण है, परन्तु मेरे सौन्दर्य के विचार के अनुसार, वह कुछ गोल अधिक था। हाव-भाव भी बहुत अच्छे थे और बहुत बुद्धिमत्तापूर्ण। आंखें विशेषतः सुन्दर थीं और नाक की बनावट बड़ी सुकुमार थी। वह अधिक गोरी नहीं थी, परन्तु वह काली बिल्कुल नहीं थी। आश्चर्य है कि वह अपने शरीर पर कोई गहने नहीं पहनती थी, सिर्फ सोने के कर्ण-फूलों को छोड़कर। सादी सफेद मलमल ही उसका वेश था, वह इतनी महीन बुनी हुई थी और इस प्रकार खिची हुई उसके शरीर पर पड़ी रहती थी कि उसकी आकृति की रूपरेखा साफ-साफ दिखाई देती थी—और वस्तुतः उसकी आकृति बहुत सुन्दर थी। जो चीज उसकी सुन्दरता बिगाड़ती थी वह थी उसकी आवाज।"[९] जब मेजर एलिस ने सरकार के झांसी को मिलाने सम्बन्धी निर्णय को संप्रेषित किया तो उसने साफ और गूंजती हुई आवाज़ में घोषणा की, "मेरा झांसी नहीं देंगे"—मैं अपनी झांसी नहीं दूंगी। चाहे यह एक अप्रत्याशित अन्याय का विरोध हो या एक भावुक हृदय का क्षणिक उद्वेग, झांसी को मिलाए जाने का

८. पारसैनिस, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० २७। उसका आगे कहना है कि जब मोरोपन्त बिठूर गया तो उसकी कन्या की आयु चार वर्ष की थी। यदि १८३२ में वह चार वर्ष की थी तो १८५७ में उसकी अवस्था करीब तीस वर्ष रही होगी।

९. लैंग, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ९३-९४

कोई प्रतिरोध नहीं किया गया। लक्ष्मीबाई ने किले में अपने पति का निवास शान्तिपूर्वक छोड़ दिया और नगर के उस महल में आ गई जो उसे दिया गया था और वह एक हिन्दू विधवा का जीवन बिताने लगी। उसके सैन्य दल को भंग कर दिया गया और बंगाल सेना की १२ वीं देशी पैदल सेना ने किले पर अधिकार कर लिया। हर काम शान्ति पूर्ण ढंग से होता गया और नए शासकों को चिन्ता का कोई कारण दिखाई नहीं पड़ा। कैप्टन अलेक्जेंडर स्कीन को राज्य के प्रभार से युक्त राजनीतिक अधिकारी नियुक्त किया गया और दुर्ग-सेना की कमान कैप्टन डनलप ने संभाली।

चर्बी लगा हुआ कारतूस झांसी में भी चर्चा का एक साधारण विषय रहा होगा जैसा कि अन्यत्र। मई में मेरठ और दिल्ली की खबरें आईं, परन्तु कैप्टन डनलप और उसके सहयोगियों ने अपने आदमियों में कोई अशान्ति के लक्षण नहीं देखे। जून में मृत्यु-दण्डित सिपाही अमन खां के, जिसे सर राबर्ट हैमिल्टन विश्वसनीय समझता था, शपथाभि-साक्ष्य के अनुसार, "मेरी रेजीमेंट (१२ वीं देशी पैदल सेना) के किसी आदमी का एक नौकर या सम्बन्धी दिल्ली से एक चिट लाया, जिसमें कहा गया था कि बंगाल प्रेसीडेंसी की सारी सेना ने विद्रोह कर दिया है और चूंकि झांसी में स्थित रेजीमेंट ने ऐसा नहीं किया है, इसलिए इसमें सम्मिलित आदमी जाति-बहिष्कृत या धर्म-भ्रष्ट हैं।"[१०] यह ताना काम कर गया और ५ जून को उपद्रव शुरू हुआ। सौभाग्यवश पहले दिन की घटना की प्रामाणिक सूचना हमें प्राप्त है। ६ जून को झांसी के डिप्टी सुपरिन्टेंडेंट कैप्टन गोर्डन ने मेजर अर्स्किन और मेजर वेस्टर्न को लिखा, "स्कीन की प्रार्थना पर मैं तुम्हें कुछ पंक्तियां यह बताने के लिए भेज रहा हूं कि १२ वीं देशी पैदल सेना के एक पक्ष ने या उसके एक भाग ने छावनी में खुला विद्रोह कर दिया है और स्टार फोर्ट को ले लिया है, जिसमें बारूदखाना है। उन्होंने सारे खजाने को भी हस्तगत कर लिया है जिसकी राशि लगभग ४$\frac{1}{2}$ लाख है। तोपखाने के लोग भी उनमें सम्मिलित हो गए हैं और हमारे पास यहां केवल दो तोपें हैं। उन्होंने इस प्रकार से यह किया है। कल दोपहर बाद तीन बजे के करीब सिपाहियों का एक गिरोह यह हल्ला करते हुए कि डकैतों ने बारूदखाने पर हमला बोल दिया है इस जगह पर भाग आया। अनेक आदमी, जो सीधे रूप से इस मामले में सम्मिलित नहीं थे, विद्रोहियों में शामिल हो गए और उन्होंने एक दम तोपों को भर कर मोर्चे पर लगा दिया। अच्छे या कुछ कमजोर दिल वाले आदमी सन्ध्या के समय फिर बाहर चले गए, परन्तु बारूदखाना अभी भी करीब ५० आदमियों और दो तोपों की रक्षा में है। हम इस कठिन परिस्थिति में हैं कि न तो मैं स्वयं और न हमारे पक्ष (विंग) का कोई आदमी ही यह विश्वास कर सकता है कि घुड़सवार सेना पर भरोसा किया जा सकता है। मैं ठाकुरों की सहायता से किले से विद्रोहियों को हटा दूंगा, परन्तु पहली गोली शेष सब को खुले रूप से विद्रोही बना देगी।" हमसे यह भी कहा गया है कि बहुत से बुन्देल ठाकुरों ने अपनी सेवा का प्रस्ताव रखा है और उनमें से काफी लोग ले भी लिए गए हैं। "ग्वालियर और कानपुर से सहायता लेने के लिए एक्सप्रेस गाड़ियां भेज दी गईं

१०. फ़ारेन पोलिटिकल कन्सल्टेशन्स, संख्या २८३, ३० दिसम्बर, १८५६ (अनुपूरक)

हैं।" "मैंने समथर और ओरछा से भी सहायता के लिए आवेदन किया है। दतिया से कोई सहायता की आशा नहीं की जा सकती, क्योंकि वहां राजा की अभी मृत्यु हुई है और अव्यवस्था फैली हुई है।"[११] स्कीन और गोर्डन एकदम उस स्थान के यूरोपीय और ईसाई परिवारों के साथ किले में बन्द हो गए। उन्हें पता था कि वे किसी स्थान से सहायता की आशा नहीं कर सकते थे और उन्हें अपने ही साधनों पर निर्भर करना था। यह महत्व-पूर्ण है कि गोर्डन ने खाद्य-सामग्री का कोई उल्लेख नहीं किया है। नौकरों के साक्ष्य से यह मालूम पड़ता है कि पहले दिन वे स्वतन्त्रतापूर्वक अपने स्वामियों और स्वामिनियों के पास जा सके थे और उनके भोजन का प्रबन्ध बाहर से किया गया था।

कैप्टन डनलप और सेना के दूसरे अधिकारी अब भी शेष सैन्य दलों को स्थिर रखने की आशा कर रहे थे और वे अपनी पंक्तियों (लाइनों) में सोए। ६ तारीख को जेल का दरोगा बख़शीश अली भी अपने रक्षकों सहित सैनिक विद्रोह में शामिल हो गया और सिपाहियों ने न केवल कैप्टन डनलप, लेफ्टिनेंट टर्नबुल और इनसाइन टेलर पर ही गोलियां चलाईं बल्कि दो हवलदारों पर और एक सिपाही पर भी, जिसने इनसाइन टेलर को बचाने की कोशिश की थी। १४वीं सेना के कैप्टन कैम्पबेल को चोट आई, परन्तु एक वर्णन के अनुसार वे किसी प्रकार अपनी जगह पर बैठे रहे और किले में पहुंच गए इसके बाद किला अवरुद्ध कर दिया गया और अब यह केवल समय का ही प्रश्न था कि कितनी जल्दी भगोड़े भूख से परास्त हो जाएंगे। तीन आदमी वेश बदल कर किले से बाहर निकल गए, परन्तु वे पकड़ लिए गए और मार डाले गए। ८ तारीख को कैप्टन गोर्डन के सिर पर गोली मारी गई, अथवा उसने हताश होकर आत्महत्या कर ली।[१२] लेफ्टिनेंट पोविस को एक देशी नौकर ने किले के अन्दर मार डाला। दोपहर बाद स्कीन ने सुरक्षित व्यवहार के आश्वासन पर या बिना किसी शर्त के बाहर आने का निश्चय किया, और पुरुषों, स्त्रियों तथा बच्चों का पूरा दल तलवार से उड़ा दिया गया। लाशें जोखन बाग में, जहां यह हत्याकाण्ड हुआ था, तीन दिन तक खुली पड़ी रहीं। तब उन्हें एक ही गड्ढे में दफना दिया गया। जेल के दारोगा बख़शीश अली ने इस अविवेकपूर्ण वध में मुख्य भाग लिया था। केवल एक स्त्री और दो बच्चे किले से सही सलामत बच निकले। जब श्रीमती मुटलो देशी वेश में निकल भागी तो उसका रंग गोरा न होने के कारण किसी ने उसकी ओर ध्यान नहीं दिया।

सर राबर्ट हैमिल्टन, जिन्होंने एक वर्ष बाद इन दुःखद घटनाओं की जांच करवाई, कहते हैं, "यह कहीं वर्णित नहीं है कि मृत्यु से पूर्व इन अभागे यातनाग्रस्त लोगों में से किसी एक के प्रति भी किसी प्रकार का अपमान किया गया। न केवल कोई साक्ष्य ही नहीं है,

---

११. फ़ारेन पोलिटिकल कन्सल्टेशन्स, संख्या २८१, ३० दिसम्बर, १८५६ (अनुपूरक)

१२. देखिए भगवान् ब्राह्मण का साक्ष्य, फ़ारेन पोलिटिकल कन्सल्टेशन्स, संख्या २८४, ३० दिसम्बर १८५६ (अनुपूरक)। इसकी पुष्टि शंकर शाह ने की है, फ़ारेन सीक्रेट कन्सल्टेशन्स, संख्या ३४५, २५ सितम्बर १८५७। ए० जी० सेन्ट्रल इण्डिया के एक पत्र दिनांक ७ अगस्त, १८५७ का सहपत्र।

बल्कि इसके विपरीत यह भी निर्भय रूप से कहा जा सकता है कि एक भी शव को न तो बाद में विकृत किया गया था और न उसके साथ दुर्व्यवहार किया गया था। असन्दिग्ध रूप से उन्हें उसी स्थान पर छोड़ दिया गया था जहां वे मरे थे और इसमें भी सन्देह नहीं है कि उनके कपड़े चुरा लिए गए थे और कुछ की (सब की नहीं) लाशों पर नील पड़े हुए थे, परन्तु इससे अधिक कुछ न था। इन अतिशयोक्तिपूर्ण वक्तव्यों का, जो सार्वजनिक रूप से छपे हैं, विश्वस्त रूप से खण्डन किया जा सकता है। जो कुछ वास्तविक रूप में हुआ वह मृतकों के सम्बन्धियों तथा मित्रों के लिए अत्यन्त पीड़ाजनक था और मानवता के नाम पर कलंक था। अब उनकी भावनाओं को अपूर्ण ब्योरों से, जो तथ्य के विरुद्ध हैं, चोट पहुंचाने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि इस प्रकार के ब्योरों का गढ़ना प्रत्येक ईसाई की भावना के लिए घृणाजनक है।"[१३]

सैनिक विद्रोह और हत्याकाण्ड दोनों का कारण झांसी की रानी का षड्यन्त्र बताया गया। उस पर यह भी अभियोग लगाया गया कि उसने "धर्मान्धता के काले अभियन्त्रों" का प्रयोग किया है। परन्तु रानी ने सफाई देते हुए कहा कि वह दुर्भाग्यपूर्ण परिस्थितियों का असहाय रूप से शिकार हुई है। रानी को ब्रिटिश सरकार से वास्तविक शिकायत थी, इसलिए संशयालु मस्तिष्कों ने जोखन बाग के वध के पीछे उसका हाथ देखा। परन्तु इस अभियोग को सहारा देने के लिए जो साक्ष्य दिया गया वह अधिकतर सुनी-सुनाई बातों पर आधारित था और गवाह व्यक्तिगत जानकारी की बातों में भी एक दूसरे का खण्डन करते हैं। मेजर स्कीन के खानसामा शहाबुद्दीन, कैप्टन गोर्डन के हुक्मबर्दार शेख़ हिंगन और अर्दलियों के जमादार मादर बख़्श, इन सबका यह दावा था कि उन्हें अपने मालिकों, स्कीन और गोर्डन के ५ जून की शाम को किले में भागने का पता था। शहाबुद्दीन ने साक्ष्य दिया कि "मेजर स्कीन कचहरी से अपने घर आए और अपनी पत्नी, बच्चों और कुमारी ब्राउन को कैप्टन बर्गेस की गाड़ी में बिठला कर, जो उन्हें देखने आए थे, उन सबको कैप्टन बर्गेस के साथ किले में भेज दिया। इसी समय उन्होंने अपनी गाड़ी को लाने की आज्ञा दी, जिसके आ जाने पर वे उसमें बैठकर जोखन बाग गए जहां श्री गोर्डन उनसे मिले।"[१४] शेख हिंगन का कहना है कि जब कैप्टन गोर्डन को खतरे की सूचना दी गई और गोलियों की आवाज सुनाई पड़ी, उस समय वे अपने बंगले में बैठे लिख रहे थे। "कैप्टन स्कीन की खाली बग्घी को लेकर सईस कैप्टन गोर्डन के घर पर पहुंचा।" कैप्टन गोर्डन ने उससे पूछा कि क्या मामला है, तब सईस ने उन्हें बताया कि किस प्रकार डनलप और टेलर गोली से मार दिए गए और स्कीन पर, जब वे अपनी कचहरी में काम कर रहे थे, गोली चलाई गई। कैप्टन स्कीन तब मकान पर गये और बग्घी मंगवाई, लेकिन चूंकि बग्घी देर से तैयार हो रही थी, इसलिए वे स्वयं अपनी पत्नी और बच्चों को लेकर उनके साथ किले तक घूमते चले गये और बग्घी आपके (कैप्टन गोर्डन के) लिए भेजी है। कैप्टन गोर्डन तब बग्घी में बैठ गए और किले में पहुंचे। मैं उनके साथ गया। जब हम शहर के सेयर

---

१३. फ़ारेन पोलिटिकल कन्सल्टेशन्स, संख्या २८०, ३० दिसम्बर, १८५९ (अनुपूरक)
१४. एनल्स आफ़ दि इण्डियन रिबेलियन, पृ० ५२०

दरवाजे पर पहुंचे तो हमें सपरिवार कैप्टन स्कीन मिले और वे सब बग्घी में बैठ गए।"[१५] मादर बख्श का भी यह दावा था कि वह गोर्डन के साथ था। उसका कथन यह है, "दोपहर बाद तीन बजे सर्वश्री स्काट और पर्सेल परिवार के दो व्यक्ति जिला कचहरी से कैप्टन गोर्डन के बंगले पर भागे आए और कहा कि सेना पंक्तियों में लड़ाई हो रही है। कैप्टन गोर्डन ने इधर-उधर देखा और अपनी बन्दूक मंगवाई तथा कैप्टन स्कीन के पास चल दिये। मैं उनके साथ गया। वे किले पर गए जहां वह कैप्टन स्कीन से शहर दरवाजे पर मिले और वे दोनों साथ-साथ किले के भीतर गए।"[१६] मादर बख्श आगे कहता है कि कैप्टन गोर्डन ने उसे दतिया के वकील सुन्दरलाल के पास दो तोपें लाने के लिए और नाथूसिंह को ओरछा के वकील के पास सहायता के लिए भेजा। कैप्टन गोर्डन ने अर्स्किन को अपने एक पत्र में सूचना दी कि उसने समथर और ओरछा से सहायता मांगी है परन्तु दतिया से उसे किसी प्रकार की सहायता की आशा नहीं है। शहाबुद्दीन की कहानी में एक गल्प का पूरा मज़ा है। उसका दावा है कि वह दो बार विद्रोहियों के हाथ में पड़ा, दो बार उसे मृत्यु की सजा दी गई, परन्तु हर बार किसी सौभाग्यपूर्ण घटना ने उसे बचकर आने में सहायता दी और वह लौटकर अपने मालिक के पास आ गया। फ़ारेस्ट ने एक बंगाली के वक्तव्य से, जो सीमाशुल्क समाहर्ता (कस्टम्स कलक्टर) के कार्यालय से सम्बद्ध था, प्रचुरता से उद्धरण दिए हैं। इस बंगाली का कहना है कि ८ जून को "बंगालियों की एक सामान्य तलाशी ली गई और मैं और कस्टम्स विभाग के दो अन्य व्यक्ति गुण्डों के हाथों में पड़ गए और हमें खींचकर रिसालदार के सामने ले जाया गया जिसने आज्ञा दी कि जब तक किले का आत्मसमर्पण न हो जाए, हमें हिरासत में रखा जाए।"[१७] इस व्यक्ति को अपनी हिरासत के समय में हुई घटनाओं की कोई व्यक्तिगत जानकारी सम्भवतः नहीं हो सकती थी और उससे पूर्व भी उससे यह आशा नहीं की जा सकती कि रानी के महल में जो कुछ हुआ, उसका उसे पता होगा। उसने सिर्फ जो कुछ सुना, उसे कहा। उसने यदि यह सुना कि रानी ने यह कहा कि अंग्रेज सूअरों से वह कुछ सम्बन्ध नहीं रखेगी, तो उसने यह भी सुना कि "रानी को यह भय दिलाया गया था कि यदि उसने विद्रोहियों का साथ देने से इन्कार किया तो उसका तत्काल वध कर दिया जाएगा। फलतः उसने सहमति दे दी और १००० आदमियों की कुमुक भी उन्हें दी। उसने उन्हें दो भारी तोपें भी दीं जिन्हें उसने आज्ञा देकर धरती के अन्दर से खुदवा कर निकलवाया था।" इस गुमनाम महाशय के साक्ष्य का कम से कम एक आधार पर खण्डन एक प्रत्यक्षदर्शी के द्वारा किया गया है। बंगाली का कहना है कि "कैम्पबेल पर प्रथम आक्रमण किया गया और यद्यपि वह घायल हो गया था परन्तु फिर भी वह अपने तेज घोड़े की पीठ पर बैठा रहा जिसने छलांग मार कर एक दरवाजे को पार किया और सलामती से बिना अधिक चोट पहुंचाये अपने स्वामी को किले में पहुंचने में समर्थ

१५. फ़ारेन पोलिटिकल कन्सल्टेशन्स, संख्या २८६, ३० दिसम्बर १८५६ (अनुपूरक)
१६. फ़ारेन पोलिटिकल कन्सल्टेशन्स, संख्या २८७, ३० दिसम्बर १८५६(अनुपूरक)
१७. एनल्स आफ़ दि इण्डियन रिबेलियन, पृ० ५१८

बनाया।[१८] फ्रांसिस टेग रायली का निश्चय पूर्वक कहना है कि लेफ्टिनेंट कैम्पबेल पर पांच या छः बार गोली चलाई गई थी और उसकी घोड़ी घायल हो गई थी। तब एक आदमी सामान्य सैनिकों में से घोड़े पर चढ़ कर आया और उसने कैम्पबेल पर गोली चलाई। "इस समय लेफ्टिनेंट कैम्पबेल मुझे चिल्ला कर पुकार रहे थे और अपने हाथ को हिला रहे थे और मुझ से यह कह रहे थे कि तुम भाग जाओ। मैंने लेफ्टिनेंट कैम्पबेल को गिरते देखा और तब मैं घोड़े को तेज दौड़ाकर भाग आया।"[१९] जो कुछ कस्टम्स कलक्टर के दफ्तर के आदमी ने सुना, तथ्य नहीं था। जिन गवाहों के उद्धरण सर राबर्ट हैमिल्टन ने दिये हैं, उनमें शहाबुद्दीन रानी के पिता मोरो बलवन्त ताम्बे पर, जिनका दूसरा नाम मामा साहब भी था, यह आरोप लगाता है कि उन्होंने सिपाहियों के साथ क्रियात्मक सहयोग किया। रानी के आदमियों को अंग्रेजों के साथ उनकी कठिनाइयों में सहानुभूति दिखाने का कोई कारण नहीं था और यह माना जा सकता है कि मामा साहब ने उनके शत्रुओं के साथ अपने को निश्चित रूप से एकाकार कर लिया। उसका आगे कहना है कि रानी के आदमी और तोपें किले के विरुद्ध प्रयुक्त किए जाते थे और इसे अस्वीकार नहीं किया जाता था। सैनिक विद्रोह के उस विवरण में, जिसे रानी ने अर्स्किन को भेजा, वह कहती है कि उसके आदमी ८ तारीख को विद्रोहियों में शामिल हुए। इस गवाह के द्वारा सबसे बुरा अभियोग जो रानी पर लगाया गया है, वह यह है कि वह हत्याकाण्ड के बाद बख़शीश अली के साथ पल्टन में रिसालदार के पास गई। इसकी पुष्टि किसी ने नहीं की है और यद्यपि शहाबुद्दीन पल्टन में था, परन्तु जैसा उसने स्वयं स्वीकार किया है, वह वहां कैद में था। उसका कहना है कि सूबेदार लालबहादुर और जेल का दरोगा बख़शीश अली दोनों "अपने वचन देकर अफसरों को किले के बाहर लाये।" शेख़ हिंगन ने कहा कि जब गोर्डन ने यह सुना कि रानी के आदमी भी आक्रमणकारियों में हैं, तो उसने रानी को लिखा और रानी ने उसे यह उत्तर दिया "मैं क्या कर सकती हूं? सिपाहियों ने मुझे घेर रखा है और वे कहते हैं कि मैंने भद्र पुरुषों को छिपा रखा है। वे मुझ से किला खाली करवाने को कहते हैं और कहते हैं कि हमारी सहायता करो। अपने आप को बचाने के लिए मैंने तोपें और अपने अनुगामी भेजे हैं। यदि तुम अपने आप को बचाना चाहते हो तो किले को छोड़ दो। कोई तुम्हें हानि नहीं पहुंचायेगा।" शेख़ हिंगन का दावा है कि उसने इस पत्र को पढ़ा। वह इसमें यह और जोड़ता है कि गोर्डन ने एक दूसरा सन्देश भेजा जिसका कोई उत्तर नहीं मिला। उसके अनुसार हिन्दू और मुसलमान विद्रोहियों ने सुरक्षा का वचन दिया था जिस पर घेरे में पड़े हुए व्यक्ति अपने शरण-स्थान से बाहर आए। दूसरी ओर मादर बख़्श का दावा था कि वह गोर्डन के पत्र को रानी के पास ले गया और वहां उसके उत्तर का भी वाहक था, परन्तु उसका कहना है कि उत्तर में क्या लिखा था इसका उसको पता न था। श्रीमती मुटलो ने झांसी शहर और जोखन बाग में कई दिन कब्रों में बिताये और उसे कोई पहचान न सका। वह दृढ़तापूर्वक कहती हैं, "श्री ए०

१८. एनल्स आफ़ दि इण्डियन रिबेलियन, पृ० ५१७

१९. वही, पृ० ५२४-२५

स्कीन और श्री गोर्डन रानी के पास गए और उससे उन्होंने करीब पचास या साठ बन्दूकें, कुछ बारूद, गोलियां और छर्रे प्राप्त किए तथा रानी ने हमारी सहायता के लिए किले में स्वयं अपने लगभग पचास सिपाही भेजे।"[२०] इस कथन की अभी किसी दूसरे गवाह ने सम्पुष्टि नहीं की है। सम्भव है कि रानी ने अपने आदमी किले में यूरोपीयों की सहायता करने के लिए भेजे हों, परन्तु यह बिलकुल असम्भव है कि स्कीन और गोर्डन स्वयं उससे मिलने गए होंगे। गोर्डन ने अर्स्किन और वेस्टर्न को लिखे अपने पत्र में, जो स्पष्टतः घेरा पड़ने से पूर्व लिखा गया था, ऐसी किसी भेंट का उल्लेख नहीं किया है। घेरे के बाद व्यक्तिगत भेंट का प्रयत्न केवल एण्ड्रयूज़, पर्सेल और स्काट के द्वारा किया गया था और उन्हें विद्रोहियों के द्वारा पकड़ लिया गया था तथा मार डाला गया था। श्रीमती मुटलो आगे कहती हैं कि जब रानी ने ६ तारीख को सर्वव्यापी विद्रोह के बारे में सुना तो "उसने अपने सब सिपाहियों को किले से बुलवा लिया। रानी और उसके सिपाही रेजीमेंट से मिल गए, इसलिए हमने उसी रात अपने कपड़े बदले और किले से बाहर जाना चाहा, परन्तु ऐसा कर नहीं सके। सवार किले के चारों ओर थे। इसलिए हम शुक्रवार की रात, शनिवार और रविवार को वहीं रहे। सोमवार को प्रातः करीब ८ बजे श्री गोर्डन को गोली मारी गई। उस रेजीमेंट के सूबेदार ने कैप्टन स्कीन को लिखा कि वे किले से बाहर आएं और कहा, "हम तुम में से किसी को नहीं मारेंगे, हम तुम सब को तुम्हारे स्वदेश भेज देंगे ? इस पर कैप्टन स्कीन ने रानी को लिखा कि वे सिपाहियों से शपथ लेने को कहें और पत्र पर स्वयं अपने हस्ताक्षर कर दें। सब हिन्दुओं ने अपनी शपथ ली, 'यदि हम में से कोई तुम्हारे आदमियों को छुए तो गो-मांस खाए'। मुसलमानों ने भी शपथ ली, 'यदि हम में से कोई तुम्हारे आदमियों को छुए तो सूअर खाए।' रानी ने इस शपथ-पत्र के ऊपर अपने हस्ताक्षर किए और वह कैप्टन स्कीन को दे दिया गया।" श्रीमती मुटलो के अनुसार यह पत्र पढ़ा गया और सब जाने को सहमत हो गए। घेरे में पड़े हुए कुछ व्यक्ति भारतीय वेश में थे। जैसे ही वे बाहर आये, सिपाहियों ने सुरक्षा के लिए उनकी टोली के चारों ओर घेरा डाल दिया। श्रीमती मुटलो और उनकी आया को किसी ने नहीं देखा और वे घेरे से बाहर हो गईं। आया ने अपनी मालकिन को अपने घर ले जाने से इन्कार कर दिया और वह उसे जोखन बाग ले गई जहां वह करीब एक मास तक रही। यह कहानी अनेक कठिनाइयां उपस्थित करती है। उन दिनों भारतीय बड़े लोगों में अपने पत्रों पर हस्ताक्षर करने का रिवाज नहीं था और न वे उत्तम पुरुष में ही लिखते थे। रानी इसमें अपवादस्वरूप नहीं थी। अपने सब शासकीय पत्र-व्यवहार में वह अपनी मुद्रा का प्रयोग करती थी। श्रीमती मुटलो की स्थिति की स्त्री को इस बात की जानकारी न हो यह सम्भव था, परन्तु स्कीन के लिए तो यह आश्चर्यजनक ही माना जाएगा कि वह रानी

---

२०. एनल्स आफ़ दि इण्डियन रिबेलियन, पृ० ५२६। गोडसे ने एक अत्यन्त कल्पना प्रसूत कहानी दी है जिसे हम अन्यत्र कहीं नहीं पाते। उसका कहना है कि विद्रोह के प्रारम्भ से एक दिन पूर्व गोर्डन और स्कीन रानी से मिले और उससे प्रार्थना की कि वह झांसी का प्रभार संभाल ले।

के हस्ताक्षर के लिए प्रार्थना करे। निःसन्देह वह हस्ताक्षर की अपेक्षा मुद्रा से अधिक परिचित था। श्रीमती मुटलो के पति और बहनोई खतरे की प्रथम सूचना पाकर ही किले में चले गए थे। बाद में श्री स्कीन ने उसे बुलाने का प्रबन्ध किया था। क्या यह सम्भव था कि जब किला खाली किया जा रहा था, तो श्रीमती मुटलो अपने आदमियों से अलग होकर आया के समीप आकर खड़ी होतीं ? उस शाम जोखन बाग झांसी का सबसे अधिक खतरनाक स्थान था। यही वह स्थान था जहां यूरोपीय लोग ले जाए जाते थे और मार डाले जाते थे। इसलिए सभी शान्ति-प्रिय लोग इस स्थान से दूर रहना चाहते थे। श्रीमती मुटलो और उनकी आया ने, दो बच्चों को साथ लिए वेश बदले एक अकेली स्त्री के लिए इस स्थान को क्यों सुरक्षित समझा ? श्रीमती मुटलो का कहना है कि रानी "मेरी और दौलतराम की खोज कर रही थी।" (दौलतराम श्रीमती मुटलो का देशी रक्षक था)। क्या रानी के आदमियों के लिए एक ऐसी स्त्री का पता लगाना कोई कठिन काम था जो बच्चों के साथ एक हिन्दू श्मशान जैसे खुले स्थान में रह रही थी ?[२१]

सर राबर्ट हैमिल्टन ने रानी पर यह स्पष्टतः अभियोग नहीं लगाया कि उसने विद्रोहियों के साथ षड्यन्त्र किया है। उसने १२वीं देशी पैदल सेना के एक सिपाही का उल्लेख किया है, जिसका निर्देश ऊपर किया जा चुका है। इस सिपाही को मृत्यु की सजा दी गई थी और उसी समय उसने एक बयान दिया। हैमिल्टन का कहना है कि "उसके दृढ़तापूर्ण कथन दूसरे लोगों के द्वारा दिए गए वक्तव्यों की पुष्टि करते हैं और स्वयं उनके द्वारा पुष्ट होते हैं। जहां तक वे जाते हैं, मैं समझता हूं, वे विश्वास किए

२१. श्रीमती मुटलो के किले में जाने के पश्चात् उसके लिए यह सम्भव नहीं था कि बाहर जो कुछ हो रहा है उसका उसे पता हो। उसने अपने वक्तव्य में दौलतराम और गणेशीलाल का उल्लेख किया है। दौलतराम सागर से झांसी आया था और स्पष्टतया वह ब्रिटिश गुप्तचर था। वह दतिया भी जाया करता था। भारत के राष्ट्रीय अभिलेखागार (नेशनल आर्काइव्स आफ़ इण्डिया) के गुप्तवार्ता पत्रों में गणेशीलाल का एक पत्र है जो दतिया से दिनांक २२ फरवरी, १८५८ (फ़ारेन सीक्रेट कन्सल्टेशन, संख्या १३६, ३० अप्रैल, १८५८) को लिखा था। इस पत्र में श्रीमती मुटलो और दौलतराम दोनों का उल्लेख है। पारसैनिस का कहना है कि गणेशीलाल दतिया का दीवान था। श्रीमती मुटलो के इस कथन के समर्थन में कि स्कीन ने किले को रानी के इस आश्वासन पर छोड़ा कि घेरे में पड़े व्यक्तियों की जानें बख्श दी जाएंगी, पिंकने को स्पष्टतः कोई साक्ष्य नहीं मिला। वह कहता है, "कैप्टन स्कीन के यह संकेत कर देने पर कि दुर्ग-सेना समझौता करना चाहती है, विद्रोही और ग़दर करने वाले लोग दरवाजे के समीप इकट्ठे हो गये और देशी डाक्टर सलेह मुहम्मद के मान्य से उन्होंने पवित्रतम शपथें खाकर वचन दिया कि यूरोपीयों और ऐंग्लोइण्डियनों को इस शर्त पर कि वे किला खाली कर दें, और अपने हथियार डाल दें, सलामती से चले जाने की अनुमति दे दी जायगी।" पिंकने के अनुसार, हत्याकाण्ड की आज्ञा रिसालदार ने दी। पिंकने की रिपोर्ट, पृ० ६, अनुच्छेद ३५

योग्य हैं। सिपाही अमन खां, जिसका यहां प्रसंग है, इस बारे में निश्चित था कि "ग़दर से पूर्व विद्रोहियों ने रानी से परामर्श नहीं किया।" वह यह भी कहता है कि विद्रोही सिपाहियों ने अपनी तोप की नोक पर शेष सब को यह धमकी दी कि यदि वे उनमें शामिल नहीं हुई तो तुरन्त मार डाले जाएंगे। सवार और सिपाहियों को इस प्रकार अपने वश में कर लिया गया। फिर सब मिलकर अपनी भरी बन्दूकों को लेकर रानी के महल में गए और सहायता तथा सामग्री की मांग की। उसे उनके सामने झुकने के लिए तथा उन्हें बन्दूकें, अस्त्र-शस्त्र और सामग्री देने के लिए बाध्य होना पड़ा।"

इन वक्तव्यों का मिलान हम ग़दर के सम्बन्ध में रानी के उस वर्णन से कर सकते हैं जिसे सागर डिवीज़न के लेफ्टिनेंट जनरल, कमिश्नर और एजेंट, मेजर डबल्यू० सी० अर्स्किन को भेजे गए उसके पत्रों में संप्रेषित किया गया था। रानी से बलपूर्वक विशाल धन-राशि लेकर विद्रोही १२ जून को झांसी से दिल्ली के लिए चल दिए। उसी दिन एक हरकारा एक पत्र को लेकर अर्स्किन के पास भेजा गया। दो दिन बाद एक दूसरा हरकारा एक दूसरे पत्र को तथा झांसी में हुई घटनाओं के वर्णन को लेकर चला। हरकारों ने कागज अपनी लाठियों में छिपा लिए और झांसी और सागर के बीच के जंगली प्रदेश में अपने जीवन को खतरे में डालते हुए उन्होंने यात्रा की। मार्ग में उनको लूट भी लिया गया, क्योंकि उस प्रदेश में सब जगह अराजकता थी और निर्बल आदमी बलवानों की कृपा पर आश्रित थे। रानी ने लिखा, "झांसी स्थित सरकारी फौजों ने अपनी विश्वासहीनता, क्रूरता और हिंसा से सब यूरोपीय असैनिक और सैनिक अफसरों, क्लर्कों और उनके सम्पूर्ण परिवारों को मार दिया है और चूंकि रानी के पास तोपों की कमी थी और सिपाही भी उसके पास कुल १०० या ५० थे जो उसके मकान की रक्षा में लगे थे, अतः वह उनकी कुछ सहायता नहीं कर सकी, जिसका उसे भारी खेद है। बाद में विद्रोहियों ने उसके और नौकरों के साथ अत्यन्त हिंसात्मक व्यवहार किया और उससे बलपूर्वक प्रभूत धन राशि ली और कहा कि चूंकि रानी को रियासत के उत्तराधिकार का अधिकार है, इसलिए उसे प्रबन्ध भी करना चाहिए जब कि सिपाही बादशाह के पास दिल्ली जा रहे हैं। सिपाही जानते थे कि रानी बिल्कुल असहाय और ब्रिटिश अधिकारियों पर आश्रित है, जो स्वयं इस समय ऐसे दुर्भाग्य में पड़े हैं, इसलिए उन्होंने उसके पास झांसी के तहसीलदार, डिप्टी कमिश्नर के राजस्व और न्यायिक सरिश्तेदारों तथा न्यायालयों के अधीक्षकों (सुपरिन्टेंडेन्टों) के द्वारा यह सन्देश भिजवाया कि यदि उसने किसी प्रकार उनकी प्रार्थना को पूरा करने में आनाकानी की तो उसका महल तोपों से उड़ा दिया जाएगा। अपनी स्थिति को ध्यान में रखते हुए रानी को उनकी सब प्रार्थनाओं को मानने की अनुमति देने के लिए बाध्य होना पड़ा और भारी हानि भी सहनी पड़ी। अपने जीवन और सम्मान को बचाने के लिए उसे जायदाद और नकद के रूप में बहुत धन देना पड़ा। यह जानकर कि जिले में कोई ब्रिटिश अफसर नहीं बचे हैं, रानी ने जनता की भलाई और सुरक्षा का ध्यान कर और उससे प्रेरित होकर पुलिस आदि के रूप में सम्पूर्ण अधीनस्थ शासकीय अभिकरण (गवर्नमेंट सबोर्डीनेट एजेंसी) के पास इस प्रकार के परवाने भेजे कि वे अपनी जगहों पर बने रहें और सदा की

तरह अपने कर्तव्यों को करते रहें। रानी के अपने जीवन और निवासियों के विषय में सदा भय बना रहता है। यह उचित था कि इस सब का प्रतिवेदन तुरन्त भेज देना चाहिए था, परन्तु विद्रोहियों ने इसके लिए रानी को अवसर नहीं दिया। चूंकि आज दिन वे दिल्ली चले गये हैं, इसलिए रानी ने झटपट इसे लिखा है।" दिनांक १४ जून के पत्र में रानी ने प्रतिवेदन किया कि जिले में सब जगह अराजकता फैली हुई है और उपद्रवी सरदारों ने देहात के गढ़ों पर अपना अधिकार जमा लिया है और पड़ोस में लूट-मार कर रहे हैं। "यह उसकी शक्ति के बिल्कुल परे है कि वह जिले की सुरक्षा के लिए कुछ भी प्रबन्ध कर सके, क्योंकि इसके लिए रुपये की जरूरत पड़ेगी जो उसके पास नहीं है। महाजन भी इस प्रकार के समय में उसे रुपया उधार नहीं देंगे। इस समय तक तो उसने अपनी वैयक्तिक सम्पत्ति को बेचकर और बड़ी असुविधापूर्वक किसी प्रकार शहर को लूटे जाने से बचाया है और पिछली सरकार के स्वरूप को कायम रखा है। शहर और मुफस्सिल चौकियों कि रक्षा के लिए उसने बहुत से आदमियों को रखा है, परन्तु सक्षम सरकारी सेना और निधि के बिना वह देखती है कि आगे डटे रहना असम्भव है। इसलिए उसने जिले की हालत के सम्बन्ध में कुछ टिप्पणियां लिखी हैं, उन्हें भी वह इसके साथ भेज रही है। उसे विश्वास है कि शीघ्र आदेशों की कृपा की जाएगी, जिनका पालन वह निश्चयतः करवायेगी।"[२२]

इस स्पष्टवादी पत्र में प्रच्छन्न कुछ नहीं है। रानी स्पष्टतापूर्वक यह स्वीकार करती है कि उसे विद्रोही सैन्य दल की बात माननी पड़ी, परन्तु ऐसा उसने हिंसा की धमकी से डर कर किया। रानी यह भी स्वीकार करती है कि उसने प्रशासन के उत्तरदायित्व को संभाला, परन्तु ऐसा उसने जनता के हित में किया और उसने सरकार से प्रार्थना की कि शान्ति और सुव्यवस्था की स्थापना के लिए वह सैन्यदल भेजे। यदि वह सिपाहियों के साथ मिली हुई होती तो उसके लिए सबसे अच्छा मार्ग यही होता कि वह सिपाहियों से अनुरोध करती कि वे उसके पास ही ठहरे रहें क्योंकि उनके चले जाने से तो वह न केवल अंग्रेजों के प्रतिशोध का मुकाबला करने में असहाय रह गई, बल्कि पड़ोसियों के आक्रमण और अपने सम्बन्धियों के षड्यन्त्रों के समक्ष भी असहाय बन गई। अर्स्किन ने रानी की सच्चाई में सन्देह नहीं किया और आगे वीडन को भेजे हुए पत्र में उसने यह और जोड़ा कि रानी का वर्णन "उस सब से मिलता है जिसे मैंने अन्य श्रोतों से सुना है।" अर्स्किन ने रानी से कहा, "आप मालगुजारी वसूल करें, पुलिस भर्ती करें और सुव्यवस्था स्थापित करने के लिए अपना पूरा प्रयत्न करें। जब अफसर झांसी पहुंचेंगे तो हिसाब कर लिया जाएगा और आपके साथ उदारता का व्यवहार होगा। मैंने एक घोषणा निकलवाने के लिए भेजी है (जिसका अनुवाद मैं संलग्न कर रहा हूं), जिसमें सब जिलों के निवासियों से कहा गया है कि वे ब्रिटिश सरकार के रिवाजों के अनुकूल रानी की आज्ञा का पालन करें, जो कुछ समय तक उचित प्रबन्ध करेंगी।"[२३] यह उपाय किसी प्रकार अपवादस्वरूप

---

२२. फ़ारेन सीक्रेट कन्सल्टेशन्स, संख्या ३५४, ३१ जुलाई, १८५७

२३. फ़ारेन सीक्रेट कन्सल्टेशन्स, संख्या ३५३, ३१ जुलाई, १८५७

नहीं था। पन्ना के राजा को दमोह जिले का प्रभार दिया गया था। भारत के अ भागों में भी इस प्रकार की विषमावस्था में सत्ता का अस्थायी हस्तान्तरण किया गया।

गवर्नर-जनरल ने अर्स्किन के कार्य का केवल सशर्त अनुमोदन किया। भारत सरकार के सचिव (जी० एफ० एडमण्डस्टन ने अर्स्किन को सूचना दी, "मुझे यह कहना है कि यद्यपि सपरिषद्-गवर्नर-जनरल आपको इस बात के लिए दोष नहीं देते कि जिन परिस्थितियों में आप थे, उनमें आपने रानी के कार्यों के उसके स्वयं के लेखे और उसके मनोभावों को स्वीकार किया और ब्रिटिश सरकार की ओर से झांसी राज्य क्षेत्र का प्रबन्ध उसे सौंप दिया, परन्तु यह परिस्थिति रानी को बचा नहीं सकेगी, यदि उसका वर्णन झूठा निकल गया। मेजर एलिस ने सरकार को जो विवरण दिया, उससे यह मालूम होता है कि रानी ने ग़दर करने वाले विद्रोहियों की सहायता अवश्य की और उसने उन्हें बन्दूकें और आदमी भी दिये।"[२४] यह मेजर एलिस के द्वारा भेजे गये सन्देश से पूर्णतया मिलता था क्योंकि इसमें जोर देकर कहा गया था कि ग़दर करने वाले लोगों ने रानी पर इस बात के लिए जोर डाला कि वह बन्दूकों और हाथियों से उनकी सहायता करें।[२५] कुछ भी हो, रानी ने सपरिषद-गवर्नर-जनरल की जानकारी में और वैधानिक अधिकारियों के आदेश पर अपने पति की अमलदारी के प्रशासन को अपने हाथों में लिया। परन्तु जुलाई सन् १८५७ में भारत सरकार झांसी के हत्याकाण्ड को नहीं भुला सकी जिसमें करीब ६० पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों की जानें गईं। फिर भी उन्होंने अपने निर्णय को रोके रखा क्योंकि उस समय वे कुछ भी करने की परिस्थिति में नहीं थे। झांसी बदला मांगती थी और शिकार कोई काफी महत्व का व्यक्ति ही हो सकता था। लेकिन रानी की निष्पापता की पुष्टि सालों बाद एक अप्रत्याशित स्थान से हुई जब कि सन् १८८९ में मार्टिन नामक एक अंग्रेज़ रानी लक्ष्मी बाई की स्मृति की सफाई देने के लिए सामने आया। रानी के दत्तक पुत्र दामोदरराव को उसने आगरा से २० अगस्त को लिखा, आप की बेचारी मां के साथ बड़े अन्याय और निर्दयता का व्यवहार किया गया और उनके सच्चे मामले को मेरे से अच्छा और कोई नहीं जानता। उस बेचारी ने जून १८५७ में झांसी के यूरोपीय निवासियों के हत्याकाण्ड में कोई किसी प्रकार का भाग नहीं लिया। इसके विपरीत उन्होंने उन्हें उनके किले में जाने के बाद दो दिन तक भोजन-सामग्री दी। कुर्रर से १०० टोपीदार बन्दूकों वाले आदमियों को मंगवा कर उन्होंने हमारी सहायता के लिए भेजा। परन्तु किले में एक दिन रखे जाने के बाद वे शाम को वापस भेज दिए गए। तब रानी ने मेजर स्कीन और कैप्टन गोर्डन को परामर्श दिया कि वे एक दम दतिया चले जाएं और वहां के राजा की सुरक्षा में अपने को रख दें परन्तु यह भी उन्होंने नहीं किया। अन्त में वे सब हमारे ही सैन्य दलों, पुलिस, जेल और पूर्व के अपराध-मामलों के द्वारा मार डाले गए।"[२६] टोपीदार बन्दूकों वाले आदमी असंदिग्ध

२४. फ़ारेन सीक्रेट कन्सल्टेशन्स, संख्या ३५५, ३१ जुलाई, १८५७

२५. फ़ारेन सीक्रेट कन्सल्टेशन्स, संख्या १७६, ३१ जुलाई, १८५७

२६. पारसैनिस, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १२५। दामोदरराव का पुत्र इमली बाजार,

रूप से ठाकुर ही थे जिनका उल्लेख गोर्डन के पत्र और शेख़ हिंगन के साक्ष्य में भी हुआ है। जब इन लोगों को वापस भेज दिया गया तो बाहर वालों ने समझा कि रानी ने ही उन्हें वापस बुला लिया है।

रानी ने फिर भी अंग्रेज़ों के साथ अपने मित्रतापूर्ण सम्बन्ध कायम रखने में अपने प्रयत्नों में कोई कमी नहीं आने दी। सर राबर्ट हैमिल्टन का मध्यवर्ती भारत से लम्बे समय तक सम्बन्ध रहा था और उस प्रदेश की राजनीति की जितनी जानकारी उसे थी, उतनी और किसी अफसर को नहीं थी। जब वह छुट्टी के बाद अपने घर वापस आया तो रानी ने उसके पास एक हार्दिक अनुरोध भेजा। इस पत्र में रानी कहती है कि उसने अपनी विपन्नावस्था में इन लोगों को पत्र लिखे हैं: जबलपुर के कमिश्नर, मध्यवर्ती भारत के लिए गवर्नर-जनरल के कार्यकारी एजेंट, आगरा के लेफ्टिनेंट गवर्नर, जालौन के डिप्टी-कमिश्नर, ग्वालियर के पोलिटिकल एजेंट और मेजर एलिस, परन्तु उसे भय है कि इनमें से कुछ पत्र शायद अपने निर्दिष्ट स्थान तक पहुंच ही नहीं सके हैं। आगरा को भेजे गए पत्र के भाग्य के सम्बन्ध में उसे कुछ निश्चय नहीं था, क्योंकि उसका सन्देशवाहक किले में न घुस सकने के कारण उसे किसी भिश्ती को दे आया था।[२७] मार्टिन का कहना है कि आगरा को भेजा गया पत्र कहीं इधर-उधर नहीं हुआ था। वह लिखता है, "रानी ने जबलपुर में कर्नल अर्स्किन के पास खरीता भेजा और आगरा के चीफ़ कमिश्नर कर्नल फ्रेज़र के पास भी, जिसे मैंने स्वयं उन्हें दिया, रानी की व्याख्या सुनने के लिए, परन्तु नहीं ! झांसी एक खीज का शब्द हो गया था और बिना सुने ही उसे कठोर रूप में निन्दित कर दिया गया।"

इस बीच रानी के शत्रु भी सुस्त नहीं रहे। गंगाधरराव की मृत्यु के बाद उत्तराधिकार का दावा परोल के सदाशिवराव नामक एक व्यक्ति ने किया जो उसका भतीजा बनता था और जिसे कई बार हटाया जा चुका था। वह समझता था कि ब्रिटिश सत्ता के हटा दिए जाने और सिपाहियों के चले जाने के बाद अन्ततः उसका अवसर आ ही गया था। उसने कुछ सैन्य दलों की भरती की और झांसी से करीब तीस मील दूर करेरा के गढ़ को ले लिया तथा पुलिस और ब्रिटिश सरकार के राजस्व अधिकारियों को भगा दिया। इस स्थान से उसने पड़ौस के गांवों में अशान्ति पैदा करना शुरू कर दिया और झांसी के महाराज का पद भी उसने ग्रहण कर लिया। रानी के आदमियों ने उसे करेरा के गढ़ से बाहर निकाल दिया, लेकिन अपने आप को महाराज कहने वाले उस व्यक्ति ने पीछे हट कर सिन्धिया के राज्य-क्षेत्र में नरवर में अपने लिए सुरक्षित स्थान बना लिया। यहां उसने फिर एक सेना इकट्ठी की और अपनी कानून विरोधी कार्यवाहियां शुरू कीं। इस बार वह बन्दी बना लिया गया और झांसी के किले में रख दिया गया।[२८]

इन्दौर में रहता है। मार्टिन का पत्र पाया नहीं जा सका है, परन्तु पारसैनिस का दावा है कि उन्होंने उसे देखा।

२७. फ़ारेन पोलिटिकल कन्सल्टेशन्स, संख्या २६६, ३० दिसम्बर, १८५६ (अनुपूरक)

२८. ब्रिटिश सत्ता के पुनः संस्थापित हो जाने के बाद उसे फांसी दे दी गई।

परन्तु रानी के संकटों का अभी अन्त नहीं था। उसे अब अधिक भयंकर शत्रुओं का सामना करना था। बुन्देले एक लड़ाकू कौम हैं। मुगल काल में उन्होंने केन्द्रीय सत्ता की केवल अनिच्छुक अधीनता स्वीकार की और उसकी कमजोरी से लाभ उठाने के किसी अवसर को उन्होंने जाने नहीं दिया। पिण्डारी युद्ध के दिनों में बुन्देला किसान उस समय की सरकार से सहमत नहीं था और दूसरे लोगों को हानि पहुंचा कर भी वह अपने घर की शान बढ़ाना चाहता था। बुन्देले मराठों को अपने प्रदेश में बलपूर्वक घुस आने वाले मानते थे और यदि उनका बस चलता तो वे झांसी, जालौन और ऐसे दूसरों जिलों को, जो किसी समय उनके थे, वापस छीनने में प्रसन्नता अनुभव करते। जब ग़दर शुरू हुआ तो पहले अंग्रेज़ों के प्रति उनकी प्रवृत्ति कमजोरदिली की थी। हम देख चुके हैं कि किस प्रकार गोर्डन ने सम्थर और ओरछा के बुन्देल राज्यों से सहायता की प्रार्थना की। रायली हमें बताता है कि "शनिवार ६ जून के करीब दोपहर के समय ओरछा और दतिया के राजाओं के पास से इन्कार आ गया, यह कहते हुए कि वे हमारी कोई सहायता नहीं कर सकते।"[२९] ओरछा के दीवान ने कुछ ब्रिटिश भगोड़ों का जो स्वागत किया वह निश्चयतः रूखा था।[३०] जब उसने झांसी के ब्रिटिश निवासियों को ही सामयिक सहायता देने में असमर्थता प्रकट कर दी या इन्कार कर दिया, तो ब्राह्मण विधवा के साथ शक्ति-परीक्षण में उसने कोई हानि नहीं देखी।

पारसैनिस का कहना है कि ओरछा के दीवान नत्थे खां ने झांसी पर आक्रमण करने से पूर्व रानी के सामने यह प्रस्ताव रखा था कि यदि वह अपनी अमलदारी उसे दे दें तो वह उसे उतनी ही पेंशन देगा जितनी उसे ब्रिटिश सरकार से मिलती थी। हम नहीं जानते कि इसका कोई प्रामाणिक आधार है अथवा यह उन्हीं अनेक लोक गीतों में से किसी पर आधारित है जिनमें ग्रामीण कवि रानी की वीरता का यश गाते हैं। ओरछा की सेना ने कब झांसी पर आक्रमण किया इसे हम ठीक-ठीक रूप में नहीं जानते परन्तु युद्ध में रानी ने अपनी स्थिति को नुकसान में पाया। उसके पास थोड़े सैनिक थे और उसके सैनिक संग्रहागार भी अत्यन्त हीन थे। अपने संकट में रानी ने अपने सरदारों से राजभक्ति की याचना की और सामन्ती बन्धन रक्त के सम्बन्धों से अधिक बलिष्ठ सिद्ध हुए। बुन्देल ठाकुर झांसी के शासक के चारों ओर इकट्ठे हो गए और यहां तक कि ओरछा की रानी का जामाता भी पीछे न रहा। परन्तु युद्ध की प्रारम्भिक अवस्थाओं में युद्ध झांसी के विरुद्ध गया और नत्थे खां किले की दीवारों के नीचे तक बढ़ आया। सम्भवतः इस कठिन परिस्थिति के समय ही प्रथम बार रानी अपने सैन्य दलों में दिखाई पड़ी। ओरछा

२९. एनल्स आफ़ दि इण्डियन रिबेलियन, पृ० ५२३

३०. कैप्टन ए० सी० गोर्डन को सन्देह था कि सारी टोली के विनाश के लिए टेहरी (ओरछा) और बानपुर के अधिकारियों के बीच एक विश्वासघात की योजना पहले से ही बन गई थी, परन्तु मुहम्मद अली (बानपुर के राजा के मुख्तार) और प्रेम नारायण (टेहरी के राजा के शिक्षक) की ईमानदारी के कारण विफल हो गई। "पिंकने की रिपोर्ट, पृ० ११, अनुच्छेद ६१

के सैन्य दल पीछे हटा दिए गए। दतिया की ओर से जो कष्ट पैदा किए गए उनके बारे में भी हम पढ़ते हैं। एक समय यह सुझाव दिया गया था कि ओरछा और दतिया दोनों मिलकर (झांसी की) अमलदारी को आपस में बांट लें। ब्रिटिश लोगों के पुनः सत्ता प्राप्त कर लेने पर अपने राज्य को उनके अधीन कर देने में रानी को किसी प्रकार का अपमान या असम्मान अनुभव नहीं हो रहा था, परन्तु अपने परिवार के पुराने प्रतिद्वन्द्वियों के अधीन होने में उसे वास्तविक अवज्ञा अनुभव हो रही थी, यद्यपि वे सार्वभौम सत्ता की ओर से लड़ने का बहाना कर रहे थे। सर राबर्ट हैमिल्टन को लिखे गए अपने पहली जनवरी सन् १८५८ के पत्र में रानी ने शिकायत की, "देश की उपद्रवग्रस्त स्थिति से लाभ उठाकर दतिया और ओरछा के सरदारों ने पहले अपने-अपने राज्यों की सीमा से लगे झांसी इलाका जिले के पूर्वी और पश्चिमी दोनों भागों पर अधिकार जमा लिया। ३ सितम्बर को (इन दोनों सरदारों ने मिल कर काम करते हुए) ओरछा की सेना ने, जिसमें ठाकुर और राज्य के सम्बन्धी सम्मिलित थे तथा जिसमें ४०,००० आदमी और २८ तोपें थीं, स्वयं झांसी पर आक्रमण कर दिया और दूसरे सरदारों को अपनी सहायता करने पर विवश किया। यद्यपि मैंने दोनों पत्र, जो मुझे कमिश्नर से मिले थे, नत्थे खां के पास उसके परिशीलन के लिए भेज दिए थे, परन्तु उसने उन पर कोई ध्यान नहीं दिया।[31] इस पर मैंने कमिश्नर को फिर लिखा और उसने मुझे उत्तर में (१९ अक्तूबर के पत्र के द्वारा) कहा कि ब्रिटिश सेनाएं जबलपुर में इकट्ठी हो रहीं हैं और वह स्वयं झांसी आएंगे और छोटे या बड़े सबके चाल-चलन की परीक्षा करेंगे और उनके साथ तदनुकूल व्यवहार करेंगे। इस बीच मैंने अपनी सम्पत्ति को बेचकर और रुपया ब्याज पर कर्ज लेकर अपनी पूरी-पूरी कोशिश की है—आदमियों की एक टोली को भर्ती किया है और शहर की रक्षा के लिए तथा आक्रमणकारी सेना का सामना करने के लिए उचित कदम उठाए हैं।" अन्त में वह कहती है, "इन परिस्थितियों में मैं बिना ब्रिटिश सरकार की सहायता के इन शत्रुओं से पीछा छुड़ाने की और अपने भारी कर्ज को चुकाने की किसी प्रकार आशा नहीं कर सकती। कमिश्नर मेरी सहायता के लिए चलने के लिए तैयार नहीं जान पड़ता, क्योंकि उसने अपने ९ नवम्बर के पत्र में लिखा है कि ब्रिटिश सैन्य दलों की सेवाओं की इस समय उसके स्थान पर ही जरूरत है। चूंकि इन अल्पदर्शी व्यक्तियों को ब्रिटिश सर्वोच्च सत्ता का ध्यान नहीं है और ये मेरा और सारे देश का नाश करने के लिए सब कुछ कर रहे हैं, इसलिए मैं आपसे प्रार्थना करती हूं कि आप मुझे जो सर्वोत्तम सहारा दे सकते हैं दें और मुझे तथा जनता को बचाएं, जो अन्तिम अवस्था तक पिस चुके हैं और शत्रु का सामना करने में समर्थ नहीं हैं।" सर राबर्ट हैमिल्टन ने इस पत्र का उत्तर दिया हो, ऐसा नहीं जान पड़ता। उसने अपना संकल्प पहले ही कर लिया था।

---

३१. पारसैनिस का कहना है कि इस अवसर पर झांसी के किले में यूनियन जैक का प्रदर्शन किया गया। यह सम्भव नहीं है, क्योंकि एक यूनियन जैक जिसे ब्रिटिश सरकार ने झांसी के एक भूतपूर्व शासक को भेंट किया था, सर ह्यू रोज़ के आदमियों को किले में मिला था।

जबलपुर डिवीजन के कमिश्नर ने रानी से कहा था कि वह उनकी ओर से तब तक राज्य को रखे रहे जब तक कि ब्रिटिश अधिकारी पुनः उसके प्रभार को न संभाल लें। रानी ने इस दुर्वह कर्तव्य को अपने ऊपर ले लिया था, परन्तु शीघ्र ही उसे पता लगा कि पूर्व और पश्चिम से उसके जिलों पर आक्रमण हो रहा था और उसके किले का घेरा, विद्रोहियों द्वारा नहीं, बल्कि ब्रिटिश सरकार की अधीनता स्वीकार करने वाले बुन्देल सरदारों के द्वारा ही डाला जा रहा था। रानी ने रक्षा के लिए प्रार्थनाएं कीं, परन्तु उन पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। रानी अदम्य उत्साह वाली स्त्री थी। वह ओरछा और दतिया के द्वारा अपने को दण्डित किया जाना सहन नहीं कर सकती थी। उसने सेना दलों की भर्ती की, तोपों का ढलवाना और युद्ध के अस्त्र-शस्त्रों का बनवाना शुरू किया और अपने सहायक खोजे।[32] उसके नए सैन्य दलों ने उसके शत्रुओं को मऊरानीपुर और बरवा सागर में हराया। नत्थे खां का अपमान हुआ परन्तु रानी भी विद्रोहियों में फंस गई। उसके नए रंगरूटों में अनेक विद्रोही थे और उसके सहायकों में बानपुर और शाहगढ़ के विद्रोही राजा सम्मिलित थे। उसके सामन्तों ने जीत का मजा चखा था और अब वे लूट के माल के लिए युद्ध करने को तैयार थे। परन्तु सन् १८५८ के जनवरी और फरवरी के महीनों की ब्रिटिश जासूसों की रिपोर्ट से यह मालूम होता है कि रानी अब भी औपचारिक रूप से अपने को सौंपे गए राज्य-क्षेत्र को वापस देने को तैयार थी, यदि अंग्रेज लोग उसके साथ सम्मान और दयालुता का व्यवहार करते।

दिनांक ८ जनवरी की एक सूचना इस प्रकार है, "यह सूचित किया गया है कि झांसी जेल के दरोगा बख़शीश अली ने रानी से पूछा कि वह अंग्रेजी सेनाओं के साथ लड़ेंगी या नहीं, जिसके उत्तर में रानी ने उससे कहा कि वह लड़ेंगी नहीं, परन्तु वह अपने अधीनस्थ सब जिलों को ब्रिटिश अधिकारियों के झांसी आने पर उन्हें लौटा देंगी। यह सूचना पाकर दरोगा ने रानी की सेवा छोड़ दी।"[33] २६ जनवरी को यह सूचना थी कि रानी ने अपने सैन्य दलों को ओरछा की सेना से लड़ने के लिए मऊरानीपुर भेजा है। उसने एक वकील को कमिश्नर के पास भेजा था। यदि वकील के साथ अच्छा व्यवहार किया गया तो वह अंग्रेज़ों से नहीं लड़ेंगी, बल्कि सारे जिलों को लौटा देंगी; परन्तु यदि इसके विपरीत अंग्रेज़ अधिकारियों ने अप्रसन्नता प्रकट की तो वह आखिरी दम तक लड़ेंगी। बारूद और बन्दूकों का निर्माण किया जा रहा था।[34] हमें बताया गया है कि फरवरी में भी रानी लड़ने के लिए तैयार नहीं थी, यद्यपि युद्ध के लिए उसकी तैयारियां बिना किसी कमी के चल रही थीं।[35] मार्च में उसकी परिषद् में मतभेद उत्पन्न हो गया। १५ मार्च की गुप्त-वार्ता हमें सूचना देती है, "रानी के अधिकारियों ने परामर्श के लिए एक परिषद् की, जिसमें

---

३२. जब ओरछा के सैन्य दलों ने झांसी का घेरा डाला, तो बानपुर के राजा ने रसद-सामग्री भेजी।

३३. फ़ारेन पोलिटिकल कन्सल्टेशन्स, संख्या २६५, ३० दिसम्बर, १८५६ (अनुपूरक)

३४. फ़ारेन सीक्रेट कन्सल्टेशन्स, संख्या ३३, २६ मार्च, १८५८

३५. फ़ारेन सीक्रेट कन्सल्टेशन्स, संख्या ४२, २६ मार्च १८५८

काशीनाथ हरि और लल्लो बख़्शी ने प्रस्ताव किया कि अंग्रेजों के साथ समझौता कर लेना चाहिए। मामा साहब और गंगाधर की यह राय थी कि राज्य को चूंकि बड़ी कठिनाई से और बिना युद्ध के वापस पाया है, इसलिए उसे छोड़ देना उचित न होगा। बख़्शी और काशीनाथ ने यह कह कर इसका प्रतिवाद किया कि राज्य को स्वयं स्वर्गीय राजा ने अंग्रेजों को दे दिया था।"[36] यहां यह ध्यान रखना चाहिए कि इन सूचनाओं पर सदा विश्वास नहीं किया जा सकता। एक सूचना के अनुसार शहज़ादा फ़ीरोज़ शाह झांसी में था, परन्तु दूसरे साक्ष्य से इसकी पुष्टि नहीं होती, यद्यपि आन्तरिक रूप से यह असम्भव नहीं था। एक दूसरी सूचना के अनुसार तात्या टोपे ने रानी को सलाह दी कि वह अंग्रेज़ों से समझौता कर ले। परन्तु इसकी सम्भावना दिखाई नहीं पड़ती। लेकिन रानी ने एक अभिकर्ता को सागर भेजा था और सर राबर्ट हैमिल्टन को लिखा गया उसका पत्र भी इन सूचनाओं की बिल्कुल अनुकूलता में है। जनवरी में रानी ब्रिटिश उपेक्षा के कारण अति क्रुद्ध हो गई थी। फरवरी में वह परिस्थितियों की गति के अनुसार अपना कार्यक्रम बनाने की तैयारी कर रही थी और मार्च में उसके कुछ परामर्शदाताओं ने आक्रमण नीति का समर्थन किया। झांसी के अंग्रेज़ी राज्य में मिलाए जाने के बाद जिन सैन्य दलों को विसर्जित किया जा चुका था, उन पुराने दलों की रानी ने फिर भर्ती शुरू कर दी थी। वे जोर से लड़ाई के पक्ष में थे। उनके लिए शान्ति का अर्थ था बेरोजगारी और विनाश। कुछ बुन्देल सरदारों को अपनी पुरानी सत्ता का मजा मिल चुका था और वे अंग्रेज़ी अधिकार को फिर स्थापित देखने के लिए अनिच्छुक थे। कुछ भी हो, रानी के सामने कोई विकल्प नहीं था। ब्रिटिश गतिविधि को वह बड़े ध्यान से देखती रही। सर ह्यू रोज़ झांसी के लिये चल पड़ा था और उसका इरादा मित्रतापूर्ण नहीं मालूम पड़ता था। झुकने का अर्थ था अपमान को निमन्त्रण देना। अतः सम्मान को बचाने के लिए लड़ना ही एकमात्र मार्ग था, चाहे फिर अन्य सब कुछ भले ही विनष्ट हो जाए।

सर ह्यू रोज़ का अनुभव केवल सेना तक ही सीमित नहीं था। उसने कूटनीति में भी प्रसिद्ध प्राप्त की थी। उसने अपने सैनिक जीवन का प्रारम्भ सन् १८२० में सबसे छोटे अफसर के रूप में किया था और बीस साल में वह उन्नति करते हुए लेफ्टिनेन्ट-कर्नल के पद पर पहुंच गया। तुर्क-मिश्री युद्ध के दौरान में उसने सीरिया में विशेष प्रसिद्धि प्राप्त की और उसके बाद उसे वहीं कौंसल-जनरल नियुक्त किया गया। सन् १८५१ में वह कुस्तुन्तुनियां के ब्रिटिश दूतावास का सचिव बना और क्रीमिया-युद्ध के समय "क्वीन्स कमिश्नर" के रूप में फ्रांसीसी सेना के मुख्यालय से सम्बद्ध रहा। सितम्बर सन् १८५७ में सर ह्यू पूना डिवीज़न की कमान को संभालने के लिए बम्बई आया। दिसम्बर में उसे सेन्ट्रल इण्डिया फ़ील्ड फ़ोर्स का कमाण्डर नियुक्त किया गया। इस सेना को, प्रधान सेनापति के अवध और उत्तर-पश्चिमी प्रान्त में व्यस्त रहने के समय में, राजपूताना फ़ील्ड फ़ोर्स तथा सागर और नर्मदा फ़ील्ड फ़ोर्स के सहयोग से मालवा, बुन्देलखण्ड, राजपूताना और मध्यवर्ती-भारत में काम करना था। सर ह्यू के यहां आने के

३६. फ़ारेन सीक्रेट कन्सलटेशन्स, संख्या १४७, ३० अप्रैल, १८५८

थोड़ी देर बाद ही सागर से अशान्ति की खबर उसके पास पहुंची। सागर के मिट्टी के किले में, जिसमें १७० यूरोपीय स्त्री और बच्चे शरण ले रहे थे, केवल ६८ यूरोपीय तोपचियों की एक अत्यन्त छोटी दुर्ग-सेना थी। छावनी में ३१वीं देशी पैदल सेना के सिपाही राजभक्त थे और सचमुच वे ४७वीं देशी पैदल सेना के अपने विद्रोही बन्धुओं के विरुद्ध लड़े भी थे, परन्तु किले के निवासी फिर भी उनमें पूरा विश्वास नहीं करते थे। चारों ओर का प्रदेश विद्रोहियों के हाथ में था। ५२वीं देशी पैदल सेना ने जबलपुर में विद्रोह कर दिया था। उन्होंने अपने अफसरों को सूचना दे दी थी कि यदि यूरोपीय सैन्य दल आए तो वे विद्रोह कर देंगे। यूरोपीय सैन्य दल तो नहीं आए, परन्तु एक गोंड राजा[37] को, जिसका राज्य छीन लिया गया था, और उसके पुत्र को फांसी दे दी गई, जिसके फलस्वरूप सिपाहियों ने विद्रोह कर दिया। सागर का पूरे अर्थ में अवरोध तो नहीं किया गया, परन्तु चूंकि पड़ोस का गढ़कोट का गढ़ विद्रोहियों के हाथ में था और बुन्देल सरदार पड़ोस के जिलों की शान्ति भंग कर रहे थे, इसलिए ब्रिगेडियर अरक्षित अनुभव कर रहा था। यह भी भय था कि ३१वीं देशी पैदल सेना की राजभक्ति अधिक देर तक इस स्थिति का सामना नहीं कर सकेगी। पूर्व कार्यक्रम के अनुसार सागर की रक्षा का भार मद्रास सैन्य दलों को दिया गया था परन्तु दो मास से पूर्व उनके आने की आशा नहीं थी। इसलिए मुख्य लड़ाई लड़ने से पूर्व सर ह्यू रोज़ ने झांसी पर अभियान करने का निश्चय किया। पहला विद्रोही गढ़ जिससे उसका सामना पड़ा राहतगढ़ था। जिस समय ब्रिटिश सैन्य दल इस किले के बाहरी प्राकार पर गोलियों की लगातार बौछार कर रहे थे, बानपुर के राजा ने उन पर धावा बोल दिया।

बानपुर के बुन्देल राजा मर्दानसिंह को विद्रोहियों के उद्देश्य से कोई लगाव नहीं था। वह तो अपने पुरखाओं के राज्य-क्षेत्र के लिए लड़ रहा था। एक समय था जब चन्देरी और उस पर आश्रित जिले उसके पूर्वजों के हाथ में थे। उसके बाप को अपने भूतपूर्व राज्य के दो-तिहाई भाग को सिन्धिया को देने के लिए बाध्य होना पड़ा था।[38] यदि सिन्धिया के ऊपर सर्वोच्च सत्ता रखने वाले अंग्रेज चन्देरी को उसके वास्तविक स्वामी को वापस दिलवाने के लिए तैयार हो जाते, तो मर्दानसिंह उनकी ओर से भी लड़ने को तैयार था। वस्तुतः उसने अंग्रेज शरणार्थियों का आतिथ्य किया था और ललितपुर के विद्रोहियों से वह लड़ा भी था।[39] परन्तु जब उसे यह पता लगा कि उसका सहयोग सम्भवतः अभीष्ट पुरस्कार की प्राप्ति नहीं करवा सकेगा, तो उसने बिना किसी हिचकिचाहट के अपना भाग्य विद्रोहियों के साथ युक्त कर दिया और स्थानीय ठाकुरों की सहायता से उसने

३७. शकर शाह, मैलेसन, उद्धृत ग्रन्थ, जिल्द ३, पृ० १०३

३८. पिकने की रिपोर्ट, पृ०३, अनुच्छेद १८

३९. १४ जून को मर्दानसिंह ने कैप्टन गोर्डन से जबर्दस्ती एक पत्र पर हस्ताक्षर करवा लिए जो इस प्रकार था, "डकैती और रक्तपात आदि के कारण और सिपाहियों के विद्रोह के कारण मैं इस जिले का प्रबन्ध करने में असमर्थ हो गया और इसके फलस्वरूप मैंने इसका भार बानपुर के राजा को सौंप दिया। मैं अपने धर्म के अनुसार दृढ़तापूर्वक

ऐतिहासिक किले को अपने अधिकार मे ले लिया। उसका आक्रमण तो सुयोजित था, किन्तु राजा राहतगढ़ के घेरे को नहीं उठा सका और किला जीत लिया गया। विद्रोहियों ने अपना अगला मोर्चा बीना नदी के किनारे पर बरोदिया में लिया। इस छोटे किले की रक्षा दृढ़ संकल्प अफगानों और पठानों का एक दल कर रहा था, परन्तु उनके नेता को मार डाला गया और बानपुर का राजा भी घायल हुआ। अतः इस स्थान को खाली कर दिया गया। ३ फरवरी को सर ह्यू सागर पहुंचे और स्थानीय आदमी एक बड़ी संख्या में ब्रिटिश सैन्य दलों को प्रयाण (मार्च) करते देखने आये क्योंकि एक भी ब्रिटिश रेजीमेंट पहले सागर में नहीं रही थी। परन्तु स्वागत अमिश्रित नहीं था। लो का कहना है, "कुछ गलियो में उदासीन रूप से रोष दिखाते हुए शैतान की तरह देखने वाले लोग काफी बड़ी संख्या में थे जो हमें वहां देखना नहीं चाहते थे।"[४०] गढ़कोट को जीतकर सर ह्यू को लगा कि अब वह झांसी की ओर मुड़ने के लिए स्वतन्त्र है, परन्तु सामग्री और परिवहन की कमी के कारण उसे अपने अभियान को कुछ दिन के लिए स्थगित करना पड़ा। फरवरी के अंतिम दिन उसने बम्बई के गवर्नर को लिखा, "सामग्री और परिवहन की कमी के कारण मुझे अभाग्यवश रुकना पड़ रहा है, जो सार्वजनिक सेवा के लिए बड़ी हानिकर बात है। मैने नौ मूल्यवान दिन खो दिए है, जो मेरे लिए दुगुने मूल्यवान थे, न केवल इसलिए कि मौसम का यह समय ऐसा है जब कि प्रत्येक गर्म दिन यूरोपीय सिपाहियों के स्वास्थ्य और जीवन को खतरे में डालने वाला है, बल्कि इसलिए भी कि प्रत्येक दिन ने विद्रोहियों को अपने उस मनोधैर्य को पुनः प्राप्त करने में सहायता की है जिसे वे मेरे युद्ध-कार्यों के कारण खो चुके थे।"[४१] इसलिए सर ह्यू ने आगे कदम उठाने से पूर्व अपनी कमान के नीचे सेना की प्रत्येक शाखा के सुधार करने में अपने को लगा दिया। उसका उद्देश्य था वेगपूर्ण कार्य और कुचलने वाली चोटें।

सर ह्यू के सामने यह विकल्प था कि वह झांसी को पीछे छोड़कर चरखारी होता हुआ कालपी जा सकता था, क्योंकि चरखारी का राजा अंग्रेजों का पक्का मित्र था। झांसी के किले को वह अपने सैन्य दलों के लिए अधिक प्रबल समझता था, परन्तु साथ ही वह इसे भी बुद्धिमानी नहीं समझता था कि इतने मजबूत विद्रोही दल को वह अपने पीछे छोड़ दे। इसलिए उसने पहले झांसी को लेने और उसे एक उदाहरण बनाने का निश्चय किया। सर राबर्ट हैमिल्टन भी, जो सेना के साथ था, यही राय रखता था। उसने तर्क दिया कि नीति की मांग यही है कि तात्या के मुख्यालय कालपी पर आक्रमण करने से पूर्व झांसी को परास्त किया जाय। सागर के साथ आवागमन के मार्ग को बनाए रखना आवश्यक था, इसलिए लेफ्टिनेंट पेंडरगास्ट को अर्द्ध-बर्बर खोंड लोगों के एक समूह के साथ बरोदिया में

कहता हूं कि मैंने अपनी स्वतन्त्र इच्छा से इसे लिखा है। इस जिले में जो भी ब्रिटिश सैन्य दल आए, उन्हें राजा की सहायता करनी चाहिए।" पिकने की रिपोर्ट, पृ० ११, अनुच्छेद ५६

४०. लो, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १८६-८७

४१. फारेस्ट, ए हिस्ट्री आफ दि इण्डियन म्यूटिनी, जिल्द ३, पृ० १६६

छोड़ दिया गया। नरुत के मार्ग को बानपुर का राजा मजबूती के साथ अपने कब्जे में किए हुए था। इसलिए सर ह्यू ने मदनपुर वाले कम कठिन मार्ग से, जिसकी रक्षा शाहगढ़ का राजा कर रहा था, आगे बढ़ने का निश्चय किया। परन्तु उसने एक छोटी सेना लेकर नरुत पर कूटाक्रमण किया जब कि मुख्य सेना ने दूसरे किले को ले लिया। शाहगढ़ बिल्कुल उसकी कृपा पर आश्रित था और राज्य को ब्रिटिश लोगों ने मिला लिया। बानपुर के राजा ने अब घर-फूंक नीति स्वीकार की और उसकी राजधानी बिल्कुल खाली पाई गई। महल लूटा गया और नष्ट कर दिया गया। बाद में जो कुछ बचा उसमें आग लगा दी गई। फिर तालबेहट को विद्रोहियों से साफ किया गया। २१ मार्च को अंग्रेजी सेना झांसी के सामने आई, यहां सर ह्यू रोज़ से ब्रिगेडियर स्टुअर्ट, जिसने इस दौरान में गुना प्रदेश को साफ कर दिया था और चन्देरी के प्रबल किले को अपने हाथ में कर लिया था, दुबारा आकर मिला।

सर ह्यू जब झांसी से कुछ ही मील की दूरी पर था, उसे एक महत्वपूर्ण निश्चय करना पड़ा। कानपुर की पराजय ने तात्या टोपे को हतोत्साह नहीं किया था। वह एक छोटे बुन्देल राज्य चरखारी की इसी नाम की राजधानी में सहसा दिखाई दिया था और राजा ने अपने संकट में अपने अंग्रेज मित्रों से सहायता के लिए एक अत्यावश्यक याचना की थी। इसलिए सर ह्यू को यह सन्देश दिया गया कि वह शीघ्रता से उसकी रक्षा के लिए जाए, क्योंकि बुन्देलखण्ड के राजभक्त राजाओं को संरक्षण देना आवश्यक माना गया था। यह भय था कि चरखारी का पतन सम्भवतः उस क्षेत्र के अन्य मित्रतापूर्ण राज्यों के विरुद्ध आक्रमण को जन्म देगा और बुन्देलखण्ड में अंग्रेजों की प्रतिष्ठा कम हो जाएगी। परन्तु सर ह्यू का तर्क था कि चरखारी के किले का पतन सम्भवतः उसके वहां पहुंचने से पूर्व ही हो जाएगा; जब कि झांसी के विरुद्ध कार्यवाही का अर्थ होगा राजा को अधिक शीघ्रता से सहायता पहुंचाना, क्योंकि तात्या सम्भवतः चरखारी को छोड़कर अपना सैन्य-दलों को बढ़ाने के लिए झांसी आएगा। इसलिए सर ह्यू रोज़ ने झांसी को पराजित करने के प्रयत्न में अपनी शक्ति लगाने का निश्चय किया और सर रावर्ट हैमिल्टन भी इस बात में उससे सहमत था।

घेरा २२ मार्च को शुरू हुआ। २५ ता० को दाईं श्रेणियों ने गोलाबारी शुरू की। २६ ता० को बाईं श्रेणियां पूरी हो गईं और उन्होंने किले के परकोटे पर गोलियों की बौछार शुरू की। रक्षकों ने भी संकल्प के साथ गोलाबारी का उत्तर दिया और स्त्रियां भी मरम्मत के काम में हाथ बंटाती देखी गईं। सन्ध्या के समय स्वयं रानी ने अपने आदमियों में उत्साह और उमंग की भावना भरने के लिए रक्षा-कार्यों का चारों ओर घूम कर निरीक्षण किया। किला दृढ़ था, रानी के आदमी उसके व्यक्तित्व के प्रति अनुरक्त थे और उसे बाहर से अधिक सैन्य दलों के आने की आशा थी। वे जल्दी आ भी गए। ३१ ता० को २०,००० आदमी तात्या टोपे की अधीनता में झांसी को सहायता पहुंचाने आए। सर ह्यू को अब यह निश्चय करना था कि वह इस बाहर से आई हुई शत्रु सेना का सामना करने के लिए किले के घेरे से अपने सैन्य दलों को हटा ले या घेरे को कायम रखते हुए अपनी सेना के केवल एक अंश से उसका सामना

करे। उसने दूसरा मार्ग अपनाया और एक कठिन लड़ाई के बाद तात्या की सेना को तितर-बितर कर दिया।

तात्या के परास्त होने के बाद सर ह्यू अब अपना सारा ध्यान झांसी के युद्ध-कार्यों की समाप्ति में लगा सकता था। रानी ने बुद्धिमानी से सारे ग्रामीण क्षेत्र को वीरान कर दिया था। परन्तु सर ह्यू को खाद्य-सामग्री के बारे में चिन्ता नहीं थी, क्योंकि सिन्धिया और ओरछा की रानी ने उसके पास पर्याप्त खाद्य-सामग्री भेज दी थी। यह असम्भव था कि घेरे में पड़े लोगों को देर तक तात्या टोपे के पीछे हट जाने का पता न चलता, परन्तु फिर भी उनके मनोधैर्य पर इसका कुछ प्रभाव न पड़ा और पड़ा हो तो इसका कोई लक्षण प्रकट नहीं हुआ, क्योंकि जब ३ अप्रैल को उन पर आक्रमण किया गया तो उन्होंने अपने शत्रुओं पर विनाशकारी गोलाबारी की। आक्रमणकारियों पर उन्होंने सभी प्रकार के अस्त्र फेंके, जैसे बारूद से भरे मिट्टी के बर्तन, लकड़ी के लट्ठे या जो कुछ भी उनके हाथ में आया। अन्त में पीछे का दरवाजा टुकड़े-टुकड़े कर दिया गया और अंग्रेज सिपाहियों ने अन्दर घुसने का प्रयत्न किया, परन्तु मार्ग चट्टान के बड़े-बड़े टुकड़ों से अवरुद्ध था, अतः दाईं ओर से मुख्य आक्रमण विफल कर दिया गया और उसमें अंग्रेजों को बड़ा नुकसान उठाना पड़ा। परन्तु एक दूसरा दल अधिक सौभाग्यशाली था और उसने एक छोटे छिद्र से होकर प्रवेश कर लिया। बाईं ओर के सेना के दस्ते को परकोटे पर ठहरने की जगह मिल गई और वहां से वह उस सड़क पर पहुंच गया, जो महल को जाती थी। अब गली-गली, घर-घर और कमरे-कमरे में भयंकर युद्ध हुआ और रक्षक लोग चीतों की तरह लड़े। किसी ने न तो किसी से शरण मांगी और न दी गई। "आक्रमणकारी जब महल के आंगन में पहुंचे तो ऐसा लगा कि वास्तविक प्रतिरोध तो अब शुरू हुआ है। हर एक कमरे के लिए बर्बरता के साथ युद्ध हुआ। परन्तु यह विफल था। कमरे-कमरे से शत्रु को संगीनों के बल पर बाहर निकाल दिया गया। अन्त में महल तो ले ही लिया गया। परन्तु तब भी विरोध पूरी तरह समाप्त नहीं हुआ। दो घण्टे बाद यह पता लगा कि भवन से लगे अस्तबल अब भी रानी के अंगरक्षक दल के पचास आदमियों के अधिकार में थे।"[४२] "उनका एक दल अस्तबल से दूर एक कमरे में, जिसमें आग लग रही थी, तब तक डटे रहे जब तक वे आधे जल नहीं गए। उनके कपड़ों में आग लग गई थी। अपने आक्रमणकारियों के पैरों में ठोकरें जमाते हुए और अपने सरों को अपनी ढालों से बचाते हुए वे बाहर दौड़े।"[४३] गलियों में दूसरे दिन तक युद्ध चलता रहा और नगर को निर्दयता से लूटा गया। प्रत्येक काला चेहरा शत्रु था और न लड़ने वालों को भी उतना ही भारी नुकसान उठाना पड़ा जितना लड़ने वालों को। "जो अपने को बचा नहीं सके उन्होंने अपनी स्त्रियों और बच्चों को कुओं में डाल दिया और फिर स्वयं भी उन्हीं में कूद गए।"[४४]

४२. मैलेसन, उद्धृत ग्रन्थ, जिल्द ३, पृ० १७०

४३. फ़ारेस्ट, ए हिस्ट्री आफ़ दि इण्डियन म्यूटिनी, जिल्द ३, पृ० २१५

४४. लो, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० २५६ संस्कृत हस्तलिखित ग्रन्थों का प्रसिद्ध

अंग्रेज सिपाही बदला लेने के लिए प्यासे थे। उनका विश्वास था कि उनके देशवासी पुरुषों और स्त्रियों के वध का उत्तरदायित्व रानी पर ही था। उनकी भावनाएं डा० लो के वर्णन में बड़ी ईमानदारी के साथ प्रतिबिम्बित होती हैं, "किसी प्रकार की कमजोर भावुक दयाशीलता का चिन्ह इस नगर के पतन में नहीं था। भारत की जेज़बेल थी रानी—तरुण, शक्तिमती, स्वाभिमानिनी, न झुकने वाली और समझौता न करने वाली। मारे गए लोगों की हत्या का खून उसके सिर पर था और उतनी ही भयंकर सजा उसे मिलने वाली थी।"[४५] परन्तु रानी की मौत एक अपराधी की तरह नहीं होनी थी। रातोंरात वह अपने दत्तक पुत्र को लेकर पुरुष के वेश में चल दी। उसके साथ वफादार अफगानों का एक रक्षक दल था। ओरछा के रक्षक-दलों में होती हुई उसकी मण्डली निकल गई और कोई उन्हें पहचान नहीं सका। परन्तु जैसे ही उनका आमना-सामना एक दूसरे सैनिक दल के साथ हुआ, वे तितर-बितर हो गए और फिर मिल नहीं सके। रानी और उसके बचे हुए घुड़सवार सैनिक कालपी की सड़क पर

पुस्तकालय पूरी तरह विनष्ट हो गया और नगर को निर्दयतापूर्वक लूटा गया। "जैसे ही लड़ाई बन्द हुई, सेना के अफसर और जवान अपने इधर उधर जिज्ञासा की उस भावना से देखने लगे, जो किसी को उस समय होती है जब वह वार्डर स्ट्रीट, लीस्टर स्क्वायर की दूकानों को देखने के लिए जाता है। वे प्रत्येक घर में घुसे और उसके अंधेरे कोनों की उन्होंने खोज की। जो दीवालें हाल की बनी प्रतीत होती थीं उनको या उनके भागों को उन्होंने गिराया। यह सब उन्होंने सिर्फ अपनी उसी जिज्ञासा की भावना से किया, लूट के लिए नहीं, क्योंकि लूट करना कठोरतम दण्ड के द्वारा निषिद्ध था। फिर भी मुझे लगता था कि कुछ वस्तुओं की लूट सबसे अधिक नैतिक रूप से सावधान व्यक्तियों को भी न्याय्य लगती थी। ये वस्तुएं थीं, मन्दिरों में पाई गई देवताओं की मूर्तियां। वे एक बड़ी संख्या में मिली थीं और हर एक अफसर और सिपाही आश्चर्यजनक रूप से उनकी खोज में रहता था। अनगिनती गणपति और विष्णु थे और हर धातु के बने हुए। कुछ मूर्तियां अपने विकृत शरीरों पर सुन्दर चांदी के आभूषण और सोने के कंकण पहने हुए थीं और इतनी छोटी थीं कि घड़ी की जंजीरों में उन्हें बांधा जा सकता था। कुछ मर्तियां पीतल और पत्थर की थीं और उनमें असाधारण कारीगरी थी। "सिल्वेस्टर, रिकलेक्शन्स आफ़ दि कैम्पेन इन मालवा एण्ड सेन्ट्रल इण्डिया," पृ० १०७-१०८। परन्तु सिपाही केवल क्षुद्राकृति मूर्तियों को उठा कर ही सन्तुष्ट नहीं हुए। लो का कहना है कि आवेश के प्रथम क्षणों में उन्होंने उस सब को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया जो उन्हें मिला। लो कहता है कि "जवाहरात का एक बड़ा भाग उनकी जेबों में चला गया।" परन्तु क्षमा-याचना करते हुए वह आगे कहता है, "प्रलोभन को ध्यान में रखते हुए यह कहना ही पड़ेगा कि उन कठिन और आवेशमय परिस्थितियों में सिपाहियों ने चीजों के उठाने और चुराने से अपने हाथ बचाने की आज्ञा का अधिक से अधिक पालन किया।" लो, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० २६४

४५. लो, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० २३६

अपने घोड़ों पर बढ़ चले, परन्तु रानी के पिता नानासाहब मार्ग भूल गए और सबेरा होते होते वे दतिया जा पहुंचे। वे रक्तस्राव के कारण बेहोश थे और कड़ी सवारी के कारण अत्यन्त थक गए थे। उन्हें एकदम गिरफ्तार कर लिया गया और झांसी भेज दिया गया, वहां जोखन बाग में उन्हें फांसी लगा दी गई। रानी घोड़े पर चढ़ी चली गई और रात में उसने इक्कीस मील का रास्ता तय किया, परन्तु सबेरा होते ही ब्रिटिश शिविर में उसके बच कर चले जाने की बात विदित हो गई। कैप्टन फ़ोर्ब्स और लेफ्टिनेंट डौकर तीसरी "लाइट कैवेलरी" और १४ वीं "लाइट ड्रेगून" नामक सेना को लेकर आगे बढ़े। रानी के वफादार घुड़सवार अंगरक्षकों में से चालीस लौट पड़े और उन्होंने उनसे युद्ध किया तथा एक-एक कर सब मारे गए। एक बार पीछा करने वाले लोगों को वे दिखाई पड़े परन्तु रानी एक अति श्रेष्ठ घुड़सवार थी। पीछा करने वाले लोगों में जो सबसे आगे था उसके एक गोली लगी और वह युद्ध के अयोग्यहो गया। पीछा करना छोड़ दिया गया।

झांसी का पतन हो गया, परन्तु कालपी का लिया जाना, जो पेशवा के सैन्यदल का मुख्यालय था, अभी शेष था। यह स्थान सब विद्रोही नेताओं का मिलन-स्थल हो गया था। पेशवा परिवार के सबसे अधिक शक्तिशाली सदस्य राव साहब यहीं थे। बांदा का नवाब, जो पेशवा का नजदीकी रिश्तेदार था, बाद में कालपी में आकर उससे मिल गया था।[४६] और अब उनके साथ झांसी की रानी भी थी। बेतवा के युद्ध में तात्या अपनी अनेक बन्दूकों को खो चुका था, परन्तु साधन जुटाने की अपनी विशिष्ट शक्ति से उसने इस नुकसान को पूरा कर लिया। विद्रोही सेना कालपी में नहीं ठहरी, बल्कि झांसी की सड़क पर स्थित युद्ध-नीति की दृष्टि से महत्वपूर्ण कस्बे कूंच तक आगे बढ़ गई। जंगल, बाग और मन्दिर जो शहर की सीमा में स्थित थे, उन्हें छिपने का अच्छा स्थान प्रदान करते थे, परन्तु वे इस स्थान को रख नहीं सके और उन्हें पीछे हट कर फिर कालपी आना पड़ा। २३ मई को अनेक बड़ी लड़ाइयों के बाद, उन्हें अपने अन्तिम गढ़ को भी बाध्य होकर खाली करना पड़ा। दूसरे ही दिन विजयी सेनापति को गर्वनर-जनरल की ओर से एक बधाई-सन्देश मिला, "तुम्हारा झांसी पर अधिकार कर लेना सफलताओं की शानदार एवं अटूट परम्परा की महत्वपूर्ण कड़ी है। मैं हृदय से तुम्हें और तुम्हारे बहादुर सिपाहियों को धन्यवाद देता हूं।"

कालपी के पतन के बाद विद्रोही नेताओं ने एक परिषद बुलाई, जिसमें सिपाहियों के प्रतिनिधि भी उपस्थित थे।[४७] यमुना के दक्षिण में उनका अन्तिम गढ़ उनके हाथ से निकल चुका था और उन्हें युद्ध-कार्य के लिए एक नये क्षेत्र की खोज करनी थी। सिपाही

---

४६. नवाब बाजीराव प्रथम की अवैध सन्तान-परम्परा में उनका वंशज था। उसने सब अंग्रेज़ शरणार्थियों के साथ दया का बरताव किया, परन्तु अन्त में सैन्य दलों के डर से उसे जबर्दस्ती विद्रोह में शामिल होना पड़ा।

४७. ग्वालियर के मामले का वर्णन मैकफ़र्सन के प्रतिवेदन पर आधारित है। फ़ारेन पोलिटिकल कन्सल्टेशन्स, संख्या ४२८३, ३१ दिसम्बर, १८५८

अवध जाना चाहते थे, रानी झांसी में करेरा स्थान को या बुन्देलखण्ड में अन्य किसी स्थान को अधिक अच्छा समझती थी, परन्तु तात्या का तर्क था कि बुन्देले विरोधी हैं, इसलिए उन्हें उनकी जन्मभूमि में सामग्री कठिनता से मिलेगी। राव साहब ने दक्षिण का सुझाव दिया। पेशवाओं ने अपनी विजय के दिनों में दक्षिण पर शासन किया था और महाराष्ट्र के हृदय में अब भी पेशवा का नाम जादू का काम करता था। बहुत से सरदार उसकी पुकार का अब भी अनुकूल उत्तर देते और यह आशा थी कि यदि पेशवा की सेना उन्हें नेतृत्व प्रदान करने को तत्पर होती तो सब गांववासी विद्रोह कर देते। परन्तु सेना के पास न तो निधि थी और न सामग्री। इसलिए यह सोचा गया कि राव साहब पहले ग्वालियर जाएंगे और वहां सिन्धिया का समर्थन प्राप्त करने का प्रयत्न करेंगे। पेशवा एक समय सिन्धिया के ऊपर सर्वोच्च सत्ता था।[४८] उसके पूर्वजों ने नाना साहब के पुरखों की सेवा की थी। यदि पुरानी स्मृतियों को जगा कर सिन्धिया को अपनी ओर कर लिया जाए, तो उसके इस उदाहरण का प्रभाव सम्भवतः उत्तर के अन्य राजाओं पर भी पड़ेगा।

सिन्धिया अपने ब्रिटिश मित्रों के प्रति राजभक्त था, इतना स्वाभाविक सहानुभूति के कारण तो नहीं, बल्कि आवश्यकता के कारण तेरह वर्ष पहले उसके आदमियों ने अंग्रेज़ों के साथ अपनी शक्ति की परीक्षा की थी और वे बुरी तरह हरा दिए गए थे। सन् १८५७ के आरम्भ में उसने कलकत्ता की यात्रा की थी और अंग्रेज़ों की शक्ति के विशाल परिमाण की छाप उसके मन पर बैठ गई थी। राजनीतिक अभिकर्ता मेजर चार्टर्स मैकफ़र्सन ने यह भी बताया था कि अपनी बहुसंख्यक प्रजा के जातिगत भेदों के कारण वह बहुत शक्तिशाली न था। जैसे ही ब्रिटिश अधिकार खत्म होता जाट, बुन्देले और राजपूत एक साथ मिल कर मराठों के विरुद्ध उठ खड़े होते। इसलिए आत्मगत स्वार्थ की यह मांग भी थी कि वह पूरी तरह अंग्रेज़ों के उद्देश्य के साथ अपने को एकाकार करता। महाराजा के अंगरक्षक दल की एक टुकड़ी अति शीघ्र आगरा भेजी गई। सिन्धिया को ग्वालियर की सेना पर कोई भरोसा नहीं था। उसे डर था कि चाहे वे ग़दर में भले ही शामिल न हों, परन्तु वे अपने साथी सिपाहियों के विरुद्ध कभी नहीं लड़ेंगे। जिन अंगरक्षक मराठा सैन्य दलों की उसने अभी हाल में भर्ती की थी केवल उन्हीं से उसे आशा थी कि वे दृढ़ रूप से राजभक्त बने रहेंगे। मूर्खतावश यह आशा की गई थी कि पुरबिया आक्रमण के विरुद्ध वे मराठा शासक का साथ देंगे।

दूसरी ओर ग्वालियर की सेना की भर्ती यद्यपि अंग्रेज़ों के द्वारा की गई थी, उन्होंने ही उसे प्रशिक्षण दिया था और उसके अफसर भी अंग्रेज़ ही थे, परन्तु फिर भी उसका व्यय सिन्धिया देता था और ऊपर से दिखाने के लिए यह उसके हित के लिए ही थी, किन्तु यह सेना उसके अधिकार में नहीं रखी गई थी। ग्वालियर की सेना में बिल्कुल वही तत्व विद्यमान थे जो बंगाल की सेना में थे और उसके सिपाही उन्हीं भावनाओं से प्रेरित हो सकते थे जिनसे अंग्रेज़ों की नौकरी में लगे सिपाही थे। उनके भय और संवाद

---

४८. यह कहा जाता है कि ग्वालियर वंश का संस्थापक रानोजी सिन्धिया बाजीराव प्रथम की चप्पलें उठाने वाला था।

बिल्कुल उन लोगों के समान ही थे और वे चर्बी लगे कारतूस और मिलावट वाले भोजन की कहानी से उतने ही क्षुब्ध हो उठे थे, जितने अवध और उत्तर-पश्चिमी प्रान्त के लोग। जून १८५७ में जब ग़दर दूसरे अनेक स्थानों में फैला तो ग्वालियर की सेना के सिपाही भी उठ खड़े हुए। उनके पास यह सोचने के प्रभूत कारण थे कि अब उन पर भरोसा नहीं किया जा रहा। मेजर मैकफ़र्सन छावनी को छोड़कर रेजिडेंसी में चले गए थे जिस पर सिन्धिया के सैन्य-दलों का पहरा लगा था। महिलाएं सिन्धिया के एक महल में भेज दी गई थीं, परन्तु सैनिक स्थान के समादेशक (कमांडर) ब्रिगेडियर रेम्जे के अनुरोध पर वे बाद में छावनी में वापस आ गईं। ७ जून को कैप्टन मरे की अधीनता में पैदल सेना की चौथी कन्टिंजेंट की एक टुकड़ी झांसी में ग़दर को शान्त करने के लिए भेजी गयी। परन्तु उन्हें इस खबर के साथ वापस आना पड़ा कि वहां पर प्रत्येक ईसाई तलवार से उड़ा दिया गया है और खजाना लूट लिया गया है। यूरोपीय निवासियों को हमेशा ग़दर होने का भय लगा रहता था। १५ जून की रात को जब गदर शुरू हो गया तो उनका असमंजस समाप्त हो गया। सिपाहियों ने बिल्कुल अविवेकपूर्ण ढंग से ईसाइयों का वध नहीं किया। स्त्रियों को कोई हानि नहीं पहुंचाई गई और उन्हें जाने की अनुमति दे दी गई परन्तु नियमतः पुरुषों को नहीं छोड़ा गया। इसमें कुछ अपवाद भी थे। लेफ्टिनेंट पियर्सन को उसके आदमियों ने छोड़ दिया।[४९] परन्तु उस रात के हत्याकाण्ड से बचने वाला केवल वही अंग्रेज न था। पोलिटिकल एजेंट (राजनीतिक अभिकर्ता) और कुछ थोड़े आदमियों तथा कुछ स्त्रियों को फूलबाग महल में शरण मिली और बाद में उन्हें मार्ग-रक्षकों के साथ आगरा भेज दिया गया।

सिन्धिया विद्रोहियों के साथ कैसा बरताव करता? वह उनके हटाये जाने के लिए मूल्य चुकाने को तैयार था, परन्तु मेजर मैकफ़र्सन की सलाह दूसरी थी। जब तक सम्भव हो विद्रोहियों को ग्वालियर में ही रखना अंग्रेजों के हित में था। इसलिए सिन्धिया ने उन्हें अपनी सेवा में लेने का बहाना किया। वह ठीक समय उनका वेतन देता रहा और उसने कभी साफ शब्दों में यह नहीं कहा कि वह अंग्रेजों के विरुद्ध उनका नेतृत्व नहीं करेगा। विभिन्न उपायों से उसने उन्हें सितम्बर १८५७ तक शान्त रखा जब कि तात्या ने स्वयं आकर अपने पक्ष का पोषण किया और उन्हें अपने आलस्य को छोड़ने और कालपी पर अभियान करने के लिए मना लिया। सिन्धिया ने अपने मित्रों की बड़ी सेवा की थी। जब कि अंग्रेज उत्तर में धीरे-धीरे अपनी सत्ता पुनः प्राप्त करने में लगे थे, प्रशिक्षित और अच्छी प्रकार हथियारों से युक्त विद्रोहियों का एक भयंकर दल मुरार में अपनी सेना-पंक्तियों में निश्चिंत बैठा था जब कि उसका हस्तक्षेप कई बार आगरा, दिल्ली और कानपुर के भाग्य का निर्णय कर सकता था। परन्तु यदि ग्वालियर के सरदार ने निश्चितरूप से अपने भाग्य को विदेशियों के हाथ जोड़ दिया था, तो उसके अनेक अफसरों और सामन्तों तथा उसकी जाति के लोगों की छिपी हुई सहानुभूति अपने देशवासियों के प्रति भी थी जो अपने धर्म के लिए लड़ रहे थे। उनमें से बहुतों का ईमानदारीपूर्वक यह

४६. फ़ारेस्ट, ए हिस्ट्री आफ़ दि इण्डियन म्यूटिनी, जिल्द ३, पृ० ४८-५१

अवध जाना चाहते थे, रानी झांसी में करेरा स्थान को या बुन्देलखण्ड में अन्य किसी स्थान को अधिक अच्छा समझती थी, परन्तु तात्या का तर्क था कि बुन्देले विरोधी हैं, इसलिए उन्हें उनकी जन्मभूमि में सामग्री कठिनता से मिलेगी। राव साहब ने दक्षिण का सुझाव दिया। पेशवाओं ने अपनी विजय के दिनों में दक्षिण पर शासन किया था और महाराष्ट्र के हृदय में अब भी पेशवा का नाम जादू का काम करता था। बहुत से सरदार उसकी पुकार का अब भी अनुकूल उत्तर देते और यह आशा थी कि यदि पेशवा की सेना उन्हें नेतृत्व प्रदान करने को तत्पर होती तो सब गांववासी विद्रोह कर देते। परन्तु सेना के पास न तो निधि थी और न सामग्री। इसलिए यह सोचा गया कि राव साहब पहले ग्वालियर जाएंगे और वहां सिन्धिया का समर्थन प्राप्त करने का प्रयत्न करेंगे। पेशवा एक समय सिन्धिया के ऊपर सर्वोच्च सत्ता था।[४८] उसके पूर्वजों ने नाना साहब के पुरखों की सेवा की थी। यदि पुरानी स्मृतियों को जगा कर सिन्धिया को अपनी ओर कर लिया जाए, तो उसके इस उदाहरण का प्रभाव सम्भवतः उत्तर के अन्य राजाओं पर भी पड़ेगा।

सिन्धिया अपने ब्रिटिश मित्रों के प्रति राजभक्त था, इतना स्वाभाविक सहानुभूति के कारण तो नहीं, बल्कि आवश्यकता के कारण तेरह वर्ष पहले उसके आदमियों ने अंग्रेज़ों के साथ अपनी शक्ति की परीक्षा की थी और वे बुरी तरह हरा दिए गए थे। सन् १८५७ के आरम्भ में उसने कलकत्ता की यात्रा की थी और अंग्रेज़ों की शक्ति के विशाल परिमाण की छाप उसके मन पर बैठ गई थी। राजनीतिक अभिकर्ता मेजर चार्टर्स मैकफ़र्सन ने यह भी बताया था कि अपनी बहुसंख्यक प्रजा के जातिगत भेदों के कारण वह बहुत शक्तिशाली न था। जैसे ही ब्रिटिश अधिकार खत्म होता जाट, बुन्देले और राजपूत एक साथ मिल कर मराठों के विरुद्ध उठ खड़े होते। इसलिए आत्मगत स्वार्थ की यह मांग भी थी कि वह पूरी तरह अंग्रेज़ों के उद्देश्य के साथ अपने को एकाकार करता। महाराजा के अंगरक्षक दल की एक टुकड़ी अति शीघ्र आगरा भेजी गई। सिन्धिया को ग्वालियर की सेना पर कोई भरोसा नहीं था। उसे डर था कि चाहे वे ग़दर में भले ही शामिल न हों, परन्तु वे अपने साथी सिपाहियों के विरुद्ध कभी नहीं लड़ेंगे। जिन अंगरक्षक मराठा सैन्य दलों की उसने अभी हाल में भर्ती की थी केवल उन्हीं से उसे आशा थी कि वे दृढ़ रूप से राजभक्त बने रहेंगे। मूर्खतावश यह आशा की गई थी कि पुरबिया आक्रमण के विरुद्ध वे मराठा शासक का साथ देंगे।

दूसरी ओर ग्वालियर की सेना की भर्ती यद्यपि अंग्रेज़ों के द्वारा की गई थी, उन्होंने ही उसे प्रशिक्षण दिया था और उसके अफसर भी अंग्रेज ही थे, परन्तु फिर भी उसका व्यय सिन्धिया देता था और ऊपर से दिखाने के लिए यह उसके हित के लिए ही थी, किन्तु यह सेना उसके अधिकार में नहीं रखी गई थी। ग्वालियर की सेना में बिलकुल वही तत्व विद्यमान थे जो बंगाल की सेना में थे और उसके सिपाही उन्हीं भावनाओं से प्रेरित हो सकते थे जिनसे अंग्रेज़ों की नौकरी में लगे सिपाही थे। उनके भय और संवाद

४८. यह कहा जाता है कि ग्वालियर वंश का संस्थापक रानोजी सिन्धिया बाजीराव प्रथम की चप्पलें उठाने वाला था।

बिल्कुल उन लोगों के समान ही थे और वे चर्बी लगे कारतूस और मिलावट वाले भोजन की कहानी से उतने ही क्षुब्ध हो उठे थे, जितने अवध और उत्तर-पश्चिमी प्रान्त के लोग। जून १८५७ में जब ग़दर दूसरे अनेक स्थानों में फैला तो ग्वालियर की सेना के सिपाही भी उठ खड़े हुए। उनके पास यह सोचने के प्रभूत कारण थे कि अब उन पर भरोसा नहीं किया जा रहा। मेजर मैकफ़र्सन छावनी को छोड़कर रेजिडेंसी में चले गए थे जिस पर सिन्धिया के सैन्य-दलों का पहरा लगा था। महिलाएं सिन्धिया के एक महल में भेज दी गई थीं, परन्तु सैनिक स्थान के समादेशक (कमांडर) ब्रिगेडियर रैम्जे के अनुरोध पर वे बाद में छावनी में वापस आ गईं। ७ जून को कैप्टन मरे की अधीनता में पैदल सेना की चौथी कन्टिजेंट की एक टुकड़ी झांसी में ग़दर को शान्त करने के लिए भेजी गयी। परन्तु उन्हें इस खबर के साथ वापस आना पड़ा कि वहां पर प्रत्येक ईसाई तलवार से उड़ा दिया गया है और खजाना लूट लिया गया है। यूरोपीय निवासियों को हमेशा ग़दर होने का भय लगा रहता था। १५ जून की रात को जब गदर शुरू हो गया तो उनका असमंजस समाप्त हो गया। सिपाहियों ने बिल्कुल अविवेकपूर्ण ढंग से ईसाइयों का वध नहीं किया। स्त्रियों को कोई हानि नहीं पहुंचाई गई और उन्हें जाने की अनुमति दे दी गई परन्तु नियमतः पुरुषों को नहीं छोड़ा गया। इसमें कुछ अपवाद भी थे। लेफ्टिनेंट पियर्सन को उसके आदमियों ने छोड़ दिया।[४९] परन्तु उस रात के हत्याकाण्ड से बचने वाला केवल वही अंग्रेज न था। पोलिटिकल एजेंट (राजनीतिक अभिकर्ता) और कुछ थोड़े आदमियों तथा कुछ स्त्रियों को फूलबाग महल में शरण मिली और बाद में उन्हें मार्ग-रक्षकों के साथ आगरा भेज दिया गया।

सिन्धिया विद्रोहियों के साथ कैसा बरताव करता? वह उनके हटाये जाने के लिए मूल्य चुकाने को तैयार था, परन्तु मेजर मैकफ़र्सन की सलाह दूसरी थी। जब तक सम्भव हो विद्रोहियों को ग्वालियर में ही रखना अंग्रेज़ों के हित में था। इसलिए सिन्धिया ने उन्हें अपनी सेवा में लेने का बहाना किया। वह ठीक समय उनका वेतन देता रहा और उसने कभी साफ शब्दों में यह नहीं कहा कि वह अंग्रेज़ों के विरुद्ध उनका नेतृत्व नहीं करेगा। विभिन्न उपायों से उसने उन्हें सितम्बर १८५७ तक शान्त रखा जब कि तात्या ने स्वयं आकर अपने पक्ष का पोषण किया और उन्हें अपने आलस्य को छोड़ने और कालपी पर अभियान करने के लिए मना लिया। सिन्धिया ने अपने मित्रों की बड़ी सेवा की थी। जब कि अंग्रेज उत्तर में धीरे-धीरे अपनी सत्ता पुनः प्राप्त करने में लगे थे, प्रशिक्षित और अच्छी प्रकार हथियारों से युक्त विद्रोहियों का एक भयंकर दल मुरार में अपनी सेना-पंक्तियों में निश्चिंत बैठा था जब कि उसका हस्तक्षेप कई बार आगरा, दिल्ली और कानपुर के भाग्य का निर्णय कर सकता था। परन्तु यदि ग्वालियर के सरदार ने निश्चितरूप से अपने भाग्य को विदेशियों के हाथ जोड़ दिया था, तो उसके अनेक अफसरों और सामन्तों तथा उसकी जाति के लोगों की छिपी हुई सहानुभूति अपने देशवासियों के प्रति भी थी जो अपने धर्म के लिए लड़ रहे थे। उनमें से बहुतों का ईमानदारीपूर्वक यह

---

४९. फ़ारेस्ट, ए हिस्ट्री आफ़ दि इण्डियन म्यूटिनी, जिल्द ३, पृ० ४८-५१

विश्वास था कि अंग्रेज़ भारत के निवासियों का धर्म-परिवर्तन करना चाहते हैं। इसलिए ग्वालियर नगर में तात्या को शक्तिशाली समर्थक प्राप्त थे और उसके ऐसे अनेक मित्र थे जिन पर वह विश्वासपूर्वक आश्रित रह सकता था ग्वालियर का नायब कोतवाल बिठूर का आदमी था, यद्यपि इस बात का पता न सिन्धिया को था और न उसके दीवान को। तात्या का जामाता भी इसी नगर का निवासी था।

यह कहा जाता है कि कूंच की पराजय के बाद तात्या ने गुप्त रूप से दूसरी बार ग्वालियर की यात्रा की थी। सिन्धिया के सैन्य दलों को अपने स्वामी के विरुद्ध कुछ शिकायतें थीं। उनका बहुसंख्यक भाग मराठा वंश का नहीं था और जब वे चले गए तो महाराजा ने अपनी सेना में से पुरबिया तत्वों को निकालना शुरू कर दिया। इसलिए अफसरों और जवानों ने सोचा कि उनका निकाला जाना अब केवल समय का प्रश्न था। जिन मराठा लोगों में उसका बड़ा विश्वास था वे भी अपने धार्मिक और जातीय भावनाओं के आकर्षण को रोके नहीं रख सकते थे। उन्हें यह बात अच्छी तरह याद थी कि उनके आदमियों ने उत्तरी भारत पर अपना आधिपत्य स्थापित किया था और यद्यपि दिल्ली के बादशाह की नाममात्र की सत्ता पर उन्होंने कभी प्रश्न नहीं उठाया, परन्तु वह वस्तुतः उनके हाथों में बन्दी ही था। उनकी आंखों में सिन्धिया एक सन्देहास्पद खेल खेल रहा था। वे समझते थे कि चूंकि सिन्धिया को अपनी अमलदारी पेशवा के अनुग्रह से मिली है, अतः उसका यह कर्तव्य होना चाहिए कि वह ईस्ट इण्डिया कम्पनी का समर्थन करने के बजाय नाना के झंडे के नीचे आ जाए। तात्या ने जो थोड़े दिन ग्वालियर में बिताए थे, उन्हीं में उसने समझ लिया था कि सिंहासन उलट देने के साधन यहां तैयार हैं। उसने समझ लिया कि केवल नगर के सामने आ जाने का तात्पर्य होगा नगर को ले लेना। परन्तु वह यह भी जानता था कि यदि सम्भव हो सके तो सिन्धिया को अपने स्वामी के उद्देश्य की पूर्ति में मिला लेना उससे भी बहुत बड़ा कार्य होगा। विद्रोही लोगों की दृष्टि में सिन्धिया और उसके दीवान दिनकर राव ईसाई ही थे; और कुछ नहीं परन्तु उस क्षेत्र का सबसे अधिक शक्तिशाली राजा यदि पेशवा की ओर हो जाता तो यह ब्रिटिश प्रतिष्ठा पर एक गहरी चोट होती और इस का प्रभाव भारत के दूसरे राजाओं पर भी पड़े बिना नहीं रहता।

ग्वालियर बिना किसी आक्रमण के राव साहब के अधिकार में आ गया। जब विद्रोहियों ने ग्वालियर की सीमा में प्रवेश किया तो वहां मौजूद सिन्धिया के अफसरों ने विरोध की धमकी अवश्य दी, परन्तु कोई प्रतिरोध नहीं किया गया। सिन्धिया की नीति टाल मटोल के द्वारा समय प्राप्त करने की थी। वह समझता था कि ब्रिटिश सेना अपने शत्रुओं का पीछा करते आने में देर न लगाएगी और तब तक यदि वह विद्रोहियों को बहलाता रहे तो उसे कोई चिन्ता नहीं होगी। दिनकर राव भी सहसा कोई कार्य करने के विरुद्ध था। राव साहब दिखावटी रूप से सिन्धिया के प्रशासन में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करना चाहता था। वह धन, सामग्री और अपने निर्दिष्ट स्थान पर पहुंचने के लिए ग्वालियर राज्य-क्षेत्र से होकर एक निर्विरोध मार्ग चाहता था। परन्तु सिन्धिया के एक विश्वस्त अधिकारी ने उससे कह रखा था कि विद्रोही सेना की

बहुत बुरी दशा हो गई है और सिर्फ गोलियों की एक बौछार उसे तितर-बितर करने के लिए काफी होगी। दिनकर राव की सलाह के विरुद्ध सिन्धिया विद्रोहियों से लड़ने गया, परन्तु अपने युद्ध-प्रिय पूर्वजों की प्रतिभा उसने नहीं पाई थी और न उस उद्देश्य के प्रति, जिसका वह प्रतिनिधित्व करता था, उसके अनुगामियों की कोई सहानुभूति ही थी। विद्रोहियों ने दीन का एक ऊंचा नारा लगाया, जिसके उत्तर में विरोधी सैन्य दलों ने भी उसी प्रकार का नारा लगाया और बिना किसी संकोच के उनके साथ भाई-चारे का बरताव किया और इस प्रकार ग्वालियर का पतन हुआ। महाराजा अपने रनवास की सलामती को देखने के लिए चल दिया। उसका मन्त्री उसे मार्ग में मिल गया। दूसरे सरदार भी एक-एक करके उसके पीछे हो लिए। बैंजाबाई के नेतृत्व में रानियों ने नरवर के गढ़ में शरण ली। विद्रोही सब प्रकार के हिंसात्मक कार्यों से अलग रहे। शहर की भी लूट नहीं हुई। वे सब मुख्य सैनिक और असैनिक अधिकारी, जिन्होंने वहीं रहने का निश्चय किया अपने पहले के स्थानों पर पक्के कर दिए गए। प्रशासन में थोड़ा भी उलट-फेर नहीं किया गया, परन्तु सिन्धिया के द्वारा इकट्ठे किए गए खजाने सैन्य दलों का वेतन चुकाने में प्रयुक्त किए गए। मेजर मैकफ़र्सन कहता है, "राव ने केवल मोहनघर के दीवान और बलवन्त राव के मकानों को जब्त किया और लूटा। उसने सिन्धिया के सैन्य दलों को तीन महीने का वेतन दिया, जो उनका चाहिए था और दो महीने का वेतन उन्हें उपदान के रूप में भी दिया, इन सब का कुल योग ९ लाख रु० था। अपने सैन्य दलों को उसने करीब ७½ लाख रु० दिया। झांसी की रानी को २०,००० रुपये मिले और बांदा के नवाब को ६०,००० रुपये। राव ने स्वयं १५,००० सोने की मुहरें लीं। ली गई सम्पूर्ण धन-राशि का हिसाब १९ लाख से कुछ कम था, जब कि डेढ़ लाख रुपये का कोई हिसाब ही नहीं था।" शासक वंश के प्रतिनिधियों को प्रसन्न करने की अपनी कोशिश में राव साहब ने कोई कमी नहीं की। दुर्भाग्यवश सिन्धिया तो अपने स्थान को ही छोड़कर भाग गया था। परन्तु बैजाबाई, जो कभी राज्य की वस्तुतः शासक रह चुकी थी, अब भी उसकी सीमा के अन्दर थी। उसे उसने दो पत्र लिखे। पहला पत्र इस प्रकार था, "हम यहां आज आये हैं। आने पर हमने आपकी और जयाजी राव की खोज की। हमारे आने से पूर्व ही आप चली गई थीं। आपने यह अच्छा नहीं किया। जो होना था वह हो गया। अब आप यहां अवश्य आएं और चिमन राजा को अपने साथ लाएं।" इस पत्र का कोई उत्तर नहीं दिया गया। इसके बाद एक दूसरा पत्र भेजा गया जो इसी प्रकार समझौते की भावना से युक्त था। "यहां सब कुशल है। मेरा विचार है कि तुम्हारा यहां से जाना ठीक नहीं था। मैं तुम्हें पहले भी लिख चुका हूं, परन्तु उसका कोई मुझे उत्तर नहीं मिला। ऐसा नहीं होना चाहिए। मैं इस पत्र को रामजी चौथे जमादार के द्वारा भेज रहा हूं। अवश्य आओ और अपने शासन के स्थान के भार को संभालो। ग्वालियर को लेने का मेरा इरादा नहीं है। मैं सिर्फ एक बार मिलकर चले जाना चाहता हूं। यही मेरा उद्देश्य है। इसलिए यह आवश्यक है कि तुम आओ और इन्कार मत करो।"[५०]

---

५०. मैकफ़र्सन की रिपोर्ट में इन पत्रों को पूरी तरह उद्धृत किया गया है। दूसरा

परन्तु बैजाबाई काफी परिपक्व थी और इतनी आसानी से जाल में फंसने वाली नहीं थी। उसने उचित समय पर दोनों पत्रों को सर राबर्ट हैमिल्टन के पास भेज दिया।

विद्रोहियों की इस प्रगल्भ चाल ने अंग्रेज़ अधिकारियों को आश्चर्य में डाल दिया। पहले तो सर राबर्ट हैमिल्टन इस बात पर विश्वास ही नहीं कर सका कि विद्रोही ग्वालियर के मार्ग में थे। होम्स का कहना है कि "यह विचार उतना ही मौलिक और साहसिक था जितना कि वह जिसने अर्काट पर स्मरणीय कब्जे की प्रेरणा दी थी।" परन्तु इस साहसिक त्वराघात की योजना किसने बनाई? मैलेसन इसका श्रेय पूरी तरह रानी को देता है। होम्स के विचार में यह कार्य तात्या का भी हो सकता है, क्योंकि उसमें साहस और मौलिकता की कमी नहीं थी। परन्तु यदि मैकफ़र्सन ठीक था, और उसे सर राबर्ट हैमिल्टन का समर्थन प्राप्त था, तो तात्या ने ग्वालियर की यात्रा कर कालपी के खाली करने की पहले से ही कल्पना कर रखी थी। यह तात्या ही था जिसने सिन्धिया के सैन्य दलों और उनके अफसरों से सम्पर्क स्थापित किया था और राव साहब को यह निश्चय दिला दिया था कि ग्वालियर आसानी से उनके हाथ में आ जाएगा। यदि राव का वास्तविक रूप से गन्तव्य स्थान दक्षिण था तो वह ग्वालियर में क्यों ठहरा, इसकी कोई व्याख्या नहीं की जा सकती। सिन्धिया के कोषाध्यक्ष अमरचन्द भाटिया के तत्परतापूर्ण सहयोग से उसने ग्वालियर के खजाने से उस सब धन को प्राप्त कर लिया, जो राज्य के प्रशासन के लिए रखा गया था और वहां से मिल सकता था। उसे सिन्धिया या बैजाबाई से समझौता होने की कोई आशा नहीं थी, भले ही वह वहां महीनों ठहरा रहता। देर होने से यह भय और था कि कहीं सर ह्यू रोज़ से एक बार फिर आमना-सामना न हो जाए। उसने सोचा कि यदि वह एक दम दक्षिण की ओर चल पड़े तो सर ह्यू के हस्तक्षेप से पूर्व उसके दक्षिण पहुंचने का कुछ न कुछ अवसर था और मराठा देश में जो छिटपुट विद्रोह हुए थे, उनसे यह संकेत मिलता था कि उस प्रदेश में एक साहसिक नेता अब भी एक विशाल अनुगामी-दल को आकर्षित कर सकता था।

परन्तु सर ह्यू रोज़ ने पीछा करने में एक क्षण की भी देर नहीं की। ग्वालियर विद्रोहियों के हाथ में पहली जून को आ गया था। उसने कालपी से ६ तारीख को प्रस्थान किया और वह अपने शक्तिशाली अभियानों से १६ तारीख को मुरार के पड़ोस में पहुंच गया। तत्काल उसने विद्रोहियों से युद्ध किया और आगरा-ग्वालियर सड़क को विद्रोहियों से साफ कर दिया। १६ तारीख को ग्वालियर का युद्ध जीत लिया गया, २० ता० को किला ले लिया गया और महाराजा को मार्ग-रक्षकों के साथ महल तक पहुंचाया गया।

ग्वालियर के पतन के बाद एक ऐसा साहसिक और मृत्यु की भी अवज्ञा करने वाला कार्य किया गया, जो हमें मध्ययुगीन वीरता के सर्वोत्तम दिनों की याद दिलाता है। "तेरह आदमी, जिनमें सेना की टुकड़ी के चार सिपाही थे और नौ विलायती थे, और

पत्र फ़ारेस्ट की ए हिस्ट्री आफ़ दि इण्डियन म्यूटिनी, जिल्द ३, पृ० २६५-६६ में छपा है।

जिनके साथ दो स्त्रियां और एक बच्चा था, खाली किए गए किले से आगरा की ओर चले जा रहे थे। उन्होंने जान-बूझ कर संकल्प किया कि लौट कर वे किले में ही मरेंगे। जो सैन्य दल सिन्धिया का स्वागत करने के लिए बाहर आए थे, उन पर उन्होंने किले के परकोटे से पांच-छः गोलियां चलाईं। सिन्धिया और एजेंट जैसे ही जुलूस के साथ आगे बढ़े एक गोली बिल्कुल उनके सामने आकर गिरी। . . . . लेफ्टिनेंट रोज़ २५वीं बम्बई देशी पैदल सेना के सिपाहियों के एक समूह के साथ तथा शहर कोतवाल और पठान पुलिस के २० सिपाहियों की सहायता लेकर इन साहसिक आदमियों का विनाश करने के लिए गया। उन्होंने दीवालों के ऊपर से शहर में अपने सोने और चांदी के सिक्कों को तथा अन्य सम्पत्ति को फेंक दिया था और किले के एक आगे निकले हुए पंच भुजाकार स्थान पर स्थिति ले ली, जिसके सामने ही एक तोप लगी हुई थी। तीसरी बार चलाई जाने पर वह तोप फट गई। रोज़ आगे बढ़ा। उन उन्मत्तों ने अपनी स्त्रियों और बच्चों को मार दिया। रोज़ के दल ने फिर उनमें से सात को मारा, परन्तु इससे पूर्व कि बाकी सब मारे जाते, उनमें से एक ने उसे गोली से उड़ा दिया।"

१७ जून को जब ब्रिग्रेडियर स्मिथ कोटा की सराय से ग्वालियर के विरुद्ध आगे बढ़ा तो झांसी की रानी की मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु के दो विभिन्न वर्णन हैं। मैकफ़र्सन लिखता है, "मेरा विचार है कि फूलबाग के समीप जिस ऊंची जगह पर तोपें रखी जाती हैं, वहीं झांसी की रानी गिरी।" उसके नौकर का कहना है कि जब घुड़सवारों के आने की सूचना दी गई उस समय रानी बैठ कर शर्बत पी रही थी और ५वीं अनियमित सेना के ४०० सिपाही उसके समीप थे, उनमें से करीब ४० या ५० के वहां पहुंचते ही लगभग १५ को छोड़कर शेष विद्रोही भाग गये। रानी का घोड़ा नहर को नहीं कूद सका। इसी समय उसके बगल में गोली लगी और एक वक्र फलक वाली तलवार ने उसके सिर में घाव किया, परन्तु रानी घोड़े पर चढ़ी चली गई। थोड़ी देर बाद वह गिर कर मर गई और एक समीप के बाग में उसका दाह संस्कार किया गया।" सर राबर्ट हैमिल्टन, जिसने उस स्थान पर इस मामले की खोजबीन की, इसके सम्बन्ध में कुछ विभिन्न विवरण देता है। वह लिखता है, "झांसी बाई जिस ढंग से मारी गई, उससे एक ऐसा तथ्य सम्बद्ध है जो मेरी उन खोजों के, जो मैंने उस समय और उसी स्थान पर कीं, अनुकूल नहीं है। इस तथ्य की कि रानी मारी गई है कोई सूचना ब्रिग्रेडियर स्मिथ के शिवर में उस समय तक नहीं थी जब कि मेरे द्वारा उनको लिखे गए एक पत्र से उन्होंने इस बात को जाना। जो कुछ मैं निश्चय कर सका हूं उसके अनुसार रानी की मृत्यु उस समय हुई जब वह प्रातः कुछ आदमियों के साथ, जिसमें राव साहब और तात्या भी थे, ऊंचाई से पीछा करने वालों को देख रही थी। रानी घोड़े पर सवार थी और उसके बिल्कुल पास एक स्त्री (परिवार में लम्बे अर्से से रहने वाली एक मुस्लिम स्त्री) थी, जो किसी अवसर पर भी उसका साथ नहीं छोड़ती थी। इन दोनों को गोली लगी और वे गिर गईं। रानी करीब २० मिनट तक जीवित रही। उसके बाद उसे फूलबाग ले जाया गया। राव साहब उसकी सेवा में थे। इस घटना ने सरदारों को बिलकुल बेचैन कर दिया और इससे उन्हें बड़ा भय हुआ। शीघ्रता से शरीर के दाह संस्कार के लिए प्रबन्ध किया गया। फूलबाग और किले

के बीच की नदी के पास उनके मृत शरीर को एक पालकी में रखकर लाया गया। यहां से उसे पालकी के द्वारा मन्दिर के पास एक बाग के बाड़े के ऊपर से ले जाना असंभव था, इसलिए सेवक उसे उठाकर उक्त बाड़े के ऊपर से एक स्थान में ले गए, जहां कुछ रमणीय विशाल वृक्षों के नीचे उसका दाह संस्कार किया गया। संस्कार किया ही जा चुका था कि घुड़सवारों की ८ वीं सेना बाग और मन्दिर के बिलकुल समीप आ गई। यह कहा जाता है कि जो ६ या ७ आदमी भाग गये थे, काट डाले गए। यह स्पष्ट था कि दाह संस्कार में विघ्न पड़ा था, क्योंकि जब मैं उस स्थान पर गया तो डा० क्रिस्टीसन ने अस्थियों के टुकड़ों को उठाया, जिससे सिद्ध होता था कि अस्थियों को चुनने की सामान्य विधि का पालन नहीं किया जा सका था।"[५१]

कुछ भी हो, रानी ने युद्ध-क्षेत्र में एक सिपाही की मृत्यु प्राप्त की। नाना के बाद सम्भवतः वही ऐसी थी, जिससे उसके शत्रु सबसे अधिक घृणा करते थे। झांसी में हुए ग़दर के लिए उसे उत्तरदायी ठहराया गया है, क्योंकि उसे अंग्रेज़ों से वास्तविक शिकायत थी। ग़दर से पूर्व वहां के अधिकारी उसमें विश्वास रखते थे और मेजर अर्स्किन ने विद्रोह के आरम्भ के सम्बन्ध में उसके द्वारा वर्णित स्वरूप को स्वीकार किया था। उन सब जिम्मेदार अधिकारियों को अति विश्वासी ठहराना और बिना नाम के एक बंगाली के सुने-सुनाये साक्ष्य को तथा एक अर्ध-वर्ण की स्त्री की असम्भव कहानी को मान्यता देना बेकार ही होगा। परन्तु इन सानुग्रह प्राप्त गवाहों के साक्ष्य को भी पूरी तरह स्वीकार नहीं किया गया था। बंगाली का साक्ष्य ग़दर करने वाले लोगों के साथ पूर्व कपट सन्धि के अभियोग का समर्थन नहीं करता, इसलिए उसे उस हद तक उपेक्षित कर दिया गया। श्रीमती मुटलो कहती है कि घेरे की पूर्वावस्था में रानी ने किले के निवासियों को सहायता पहुंचाई थी। किले में खाद्य-सामग्री की कमी किसी के लिए भी एक रहस्य की बात नहीं हो सकती थी, क्योंकि पहले दिन नौकरों को बाहर जाने और अन्दर आने की स्वतन्त्रता थी। रानी जैसी एक बुद्धिमान नारी के लिए (यह मान लिया गया है कि रानी बुद्धिमती थी) इस निष्कर्ष पर पहुंचना कठिन न था कि भूल के कारण घेरे में पड़े लोगों को जल्दी या देर से आत्म-समर्पण करना ही पड़ेगा और उन्हें बाहर लाने के लिए अधिक प्रेरित करना बिलकुल अनावश्यक होगा। परन्तु झांसी के हत्याकाण्ड का बदला लिया जाना था और उसके लिए एक ऐसे व्यक्ति की खोज थी जिसके सिर पर दूसरों के दोष मढ़े जा सकें। अंग्रेज़ों के साथ मित्रतापूर्ण सम्बन्ध बनाए रखने के अपने सर्वोत्तम प्रयत्नों के बावजूद रानी को अंग्रेज़ों की पीड़ाकारी कूटनीति के कारण विरोधी शिविर में ज़ाना पड़ा। के ने उसके विरुद्ध कही गई बुरी बातों को मिथ्या कह कर उनकी उपेक्षा की है।[५२] परन्तु रानी की मृत्यु के

---

५१. फ़ारेन पोलिटिकल कन्सल्टेशन्स, संख्या ४२६३, ३१ दिसम्बर, १८५८

५२. "उसके बारे में बुरी बातें कही जाती थीं, क्योंकि हमारे यहां यह रिवाज है कि "जिसको तुमने चोट पहुंचाई है, उससे घृणा करो"—एक देशी शासक का राज्य ले लेना और फिर गद्दी से उतारे गए शासक या उसके होने वाले उत्तराधिकारी को गालियां देना। यह कहा जाता था कि दूसरों के प्रभाव में रानी केवल एक बालिका सी हो जाती थी और

काफी समय बाद आयरलैण्ड के निवासी फ़ारेस्ट ने बिना किसी औचित्य के उसके यश को कलंकित करना चाहा है।[५३] रानी के शत्रुओं ने उसकी जो निन्दा की है उसके स्थान पर यदि उसके देशवासियों की उसके प्रति अगाध श्रद्धा को ध्यान में रखा जाए, तो पता चलेगा कि रानी का गौरव अक्षुण्ण है और वह निर्दोष सिद्ध हुई है। हजारों सरल ग्रामीण आज भी उस स्त्री की वीरता और गुणों के गीत गाते हैं, जिसने अपने बुन्देल शत्रुओं से अपनी रक्षा की और जो अंग्रेजों की गोली से मरी।

विजेताओं ने अपनी जीत को भारत के प्रत्येक मुख्य सैनिक-स्थान में राजकीय सलामी में तोपें दागकर एक उपयुक्त रूप में मनाया। परन्तु पराजितों को चैन नहीं था। जनरल नेपियर ने उनका पीछा किया और पहले गोलाबारी के युद्ध से और फिर घुड़सवारों के अभियान से उन्हें २८ जून को जावरा अलीपुर में हराया। २९ तारीख को सर ह्यू रोज़ ने अस्वस्थता के कारण कमान छोड़ दी और उनका कार्य-भार जनरल नेपियर ने संभाला। तात्या और राव साहब चम्बल को पार कर राजपूताना भाग गए। उनकी बन्दूकें खो चुकी थीं, उनके अनुगामी भी बहुत थोड़े थे, परन्तु उन्होंने पराजय स्वीकार नहीं की। उनका उत्साह अब भी भंग नहीं हुआ था।

वह बहुत असंयमी थी। वह बालिका नहीं थी यह उसके वार्तालाप से स्पष्ट था और उसके असंयम की बात बिल्कुल मिथ्या मालूम पड़ती है।" के, ए हिस्ट्री आफ़ दि सिपाय वार, जिल्द ३, पृ० ३६१-६२

५३. फ़ारेस्ट कहता है, "झांसी की रानी उत्साही, साहसिक और अनैतिक चरित्र की स्त्री थी।" ए हिस्ट्री आफ़ दि इण्डियन म्यूटिनी, जिल्द ३, पृ० २८२। ये विशेषण मैकफ़र्सन की रिपोर्ट से लिए गए हैं, परन्तु मैकफ़र्सन अपने युग के आवेशों और पूर्वाग्रहों का शिकार था। उसकी रिपोर्ट सन् १८५८ में लिखी गई थी और केवल अफसरों की आंखों में ही उसका उपयोग था। फ़ारेस्ट ने रानी की मृत्यु से आधी शताब्दी से भी अधिक बाद लिखा और उसने यह देख लिया कि मेजर माल्कम के अनुसार उसका चरित्र अत्यन्त ऊंचा था और झांसी में प्रत्येक व्यक्ति उसका बहुत आदर करता था। अतः फ़ारेस्ट को मैकफ़र्सन की रिपोर्ट में एक भूले भटके वाक्य से पथभ्रष्ट नहीं हो जाना चाहिए था। डा० लो भी रानी के सम्बन्ध में लिखते समय गाली भरे शब्दों का प्रयोग करता है। परन्तु वह इस धारणा में बह गया था कि झांसी के हत्याकाण्ड के लिए रानी ही उत्तरदायी थी।

परिशिष्ट

विदेशी गुप्त परामर्श, संख्या ३५३, ३१ जुलाई, १८५७ संख्या ए, १८५७

प्रेषक,

मेजर डबल्यू० सी० अर्स्किन, कमिश्नर, सागर डिवीजन

सेवा में,

सी० बीडन एस्क्वायर, सचिव, भारत सरकार

गृह-विभाग, फ़ोर्ट विलियम,

जबलपुर, २ जुलाई, १८५७

गृह विभाग

महोदय,

गत रात दो हरकारे मेरे पास झांसी की रानी के पत्र अपनी छड़ियों में छिपा कर लाए।

रानी का पत्र दिनांक १२ जून	ए
रानी का पत्र दिनांक १४ जून	बी
घटनाओं का विवरण	सी
चौकियों से खबरें	डी

दूसरा—हाशिए में रानी के द्वारा भेजे गए जिन पत्रों को मैंने निर्दिष्ट किया है उनका स्वतन्त्र अनुवाद और मेरे द्वारा रानी को भेजे गए उत्तर को मैं इस पत्र के साथ संलग्न कर रहा हूं।

तीसरा—इनसे यह विदित होगा की रानी के स्वयं के वर्णन के अनुसार रानी ने ग़दर करने वालों और विद्रोहियों को किसी प्रकार की सहायता नहीं दी, बल्कि इसके विपरीत उसे स्वयं लूटा गया और जिले का प्रभार लेने को मजबूर किया गया। यह सब उससे मेल खाता है, जो मैंने दूसरे स्रोतों से सुना है।

चौथा—रानी धन और सैन्य दलों के कारण व्यवस्था बनाए रखने में असमर्थता प्रकट करती है और सहायता के लिए प्रार्थना करती है।

पांचवां—चूंकि इस समय अराजकता की खेदजनक स्थिति को, जो विद्यमान है, दबाने और व्यवस्था स्थापित करने के लिए असैनिक अधिकारी और सैन्यदल भेजने के कोई साधन मेरे पास नहीं हैं अतः मैंने रानी से कह दिया है कि वह मालगुजारी वसूल करे, पुलिस की भर्ती करे और जो कुछ भी उसकी शक्ति में

उससे उस समय तय कर लिया जायगा जब अधिकारी झांसी पहुंचेंगे और उसके साथ उदारता का बर्ताव किया जायगा। मैंने उसे एक घोषणा भी (जिसका अनुवाद मैं संलग्न कर रहा हूं) निकलवाने के लिए भेजी है, जिसमें जिलों के सब निवासियों से कहा गया है कि वे ब्रिटिश सरकार के रिवाज के अनुसार रानी की आज्ञा का पालन करें, जो कुछ समय तक उचित प्रबन्ध करेगी।

छठा—"डी" अंकित पत्र से मुझे यह जानकर दुःख हुआ है कि रानी ने यह सुना है कि जालौन जिले के उरई सैनिक-स्थान में वध और लूट हुई है, परन्तु कोई ब्योरा नहीं दिया गया है।

सातवां—जब सरकार के पास भेजने योग्य अतिरिक्त सैन्य दल हों तो कानपुर से जालौन और झांसी के जिलों पर दुबारा अधिकार कर लेना चाहिए और मिर्जापुर होते हुए यहां तथा सागर में यूरोपीय सैन्य दल भेज देने चाहिए।

आठवां—जालौन के मामलों के सम्बन्ध में मैं सम्भवतः कुछ थोड़े दिनों बाद अपना प्रतिवेदन भेज सकूंगा।

नवां—जो हरकारे रानी के पत्रों को लाए हैं, अपनी जान के खतरे पर आए हैं। झांसी और सागर के बीच के देश के जंगली भाग में यात्रा करते हुए उन्होंने उसे अराजकता की स्थिति में पाया है, जहां प्रत्येक व्यक्ति अपने पड़ोसी को मारने के लिए तैयार है। उनके कपड़े और जो कुछ थोड़ा माल उनके पास था, वह सब लूट लिया गया था। मैंने उनमें से हर एक को ३० रुपये इनाम में दिए हैं और रकम का अधिकतर भाग झांसी में हुंडी के रूप में दिया है। मैंने उन्हें वचन दिया है कि यदि उन्होंने मेरा पत्र सुरक्षापूर्वक रानी को दे दिया तो उन्हें २० रुपये और मिलेंगे।

दसवां—पिछले मास की २८ तारीख को दोपहर बाद नागौद में करीब ६० कैदियों की एक टोली जेल से निकल भागी। अफसरों के बंगलों की तरफ भाग कर उसने उनमें आग लगानी चाही। उसे यह आशा थी कि ५०वीं सेना के सिपाही उनकी सहायता करेंगे, परन्तु उनका यह अनुमान गलत था। सिपाही और पुलिस के लोग बाहर निकले और कैदियों में से १४ को गोलियों से मार डाला और सम्भवतः शेष सब को पकड़ लिया। सिर्फ ८ बच कर भाग गए और इनमें भी केवल एक ही महत्व का कैदी था। इस बात की जांच की जा रही है कि किस प्रकार कैदी जेल से बाहर निकल गए।

ग्यारहवां—जिन लोगों ने अपराधियों को पकड़ा या गोली से मारा, उनमें से योग्यतम को दिए जाने के लिए मैंने कुल मिलाकर ५०० रु० के पारितोषिकों की आज्ञा दे दी है।

बारहवां—ललितपुर के अधिकारियों के सम्बन्ध में मुझे अधिक कोई सूचना नहीं मिली है।

जबलपुर
२ जुलाई, १८५७

आपका, इत्यादि
हस्ताक्षर, डब्ल्यू० सी० अर्स्किन
कमिश्नर

परामर्श संख्या ३५४

ए

सागर डिवीज़न के कमिश्नर और एजेंट लेफ्टिनेंट-गवर्नर के पते पर झांसी की रानी के एक खरीते, दिनांक (सम्भावित) १२ जून, १८५७, का अनुवाद।

शिष्टाचार के बाद। रानी कहती है कि झांसी-स्थित सरकारी सेनाओं ने अपनी विश्वासहीनता, निर्दयता और हिंसातमकता के कारण सब यूरोपीय असैनिक और सैनिक अधिकारियों को तथा क्लर्कों और उनके परिवारों को मार दिया है और चूंकि रानी के पास बन्दूकों की कमी थी, इसलिए वह उनकी सहायता नहीं कर सकी। रानी के पास उस समय केवल १०० या ५० आदमी थे, जो उसके घर की रक्षा करने में लगे थे। इसलिए रानी उनकी कोई सहायता नहीं कर सकी, जिसका उसको भारी खेद है। विद्रोहियों ने बाद में उसके और सेवकों के साथ भी अत्यन्त हिंसात्मक रूप से व्यवहार किया और उससे जबर्दस्ती एक बड़ी धन-राशि वसूल की। विद्रोहियों ने उससे कहा कि चूंकि रियासत के उत्तराधिकार का उसे अधिकार था, इसलिए प्रबन्ध उसे अपने हाथ में लेना चाहिए क्योंकि सिपाही दिल्ली में बादशाह के पास जा रहे थे।

रानी कहती है कि वह पूरी तरह अंग्रेज़ अधिकारियों पर ही आश्रित है, जिन पर इस समय इतनी विपत्ति आ पड़ी है। सिपाही समझते हैं कि रानी इस समय बिल्कुल असहाय है, इसलिए उन्होंने झांसी के तहसीलदार, डिप्टी कमिश्नर के न्यायिक सरिश्तेदारों और सुपिरिन्टेंडेंट के न्यायालयों द्वारा उसके पास इस आशय के सन्देश भिजवाए हैं कि यदि उसने उनकी प्रार्थनाओं के अनुसार काम करने में कुछ भी आनाकानी की तो उसका महल तोपों से उड़ा दिया जाएगा। अपनी स्थिति को ध्यान में रखते हुए रानी को बाध्य होकर उनकी सब प्रार्थनाएं माननी पड़ीं। इस प्रकार रानी को बड़ी खीज सहन करनी पड़ी है। अपने जीवन और सम्मान को बचाने के लिए रानी को सम्पत्ति और नकद रुपयों के रूप में प्रभूत धन-राशि देनी पड़ी है।

रानी ने यह जानकर कि सम्पूर्ण जिले में कोई अंग्रेज़ अधिकारी नहीं बचा है, और आदमियों और जिले की भलाई और सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए पुलिस इत्यादि के रूप में सम्पूर्ण छोटे सरकारी अभिकरणों को इस आशय के परवाने भेजे हैं कि वे अपने-अपने स्थानों पर रह कर अपने कर्तव्यों का सदा की भांति पालन करते रहें। रानी को अपने और निवासियों के जीवन का सतत भय बना रहता है। यह उचित था कि इस सबकी सूचना शीघ्र ही भेज दी जाती, परन्तु विद्रोहियों ने इसके लिए रानी को अवसर नहीं दिया। आज चूंकि वह दिल्ली की ओर चले गए हैं, इसलिए रानी ने उसे शीघ्रता-पूर्वक लिखा है।

बी

सागर डिवीज़न के कमिश्नर और एजेंट लेफ्टिनेंट-गवर्नर के नाम झांसी की रानी के खरीते, दिनांक १४ जून, १८५७ का अनुवाद।

शिष्टाचार के बाद। रानी कहती है कि १२ जून को उसने झांसी में हुई भयानक घटनाओं के सम्बन्ध में कमिश्नर को लिखा और खत को गंगाधर डांगे और भवानी हरकारा

के द्वारा भेजा। रानी को अब भी झांसी के यूरोपीयों के भाग्य पर खेद है और वह यह भली प्रकार जानती है कि इससे अधिक क्रूरता अन्य किसी स्थान पर नहीं हुई होगी। इनका एक विस्तृत विवरण खरीते से संलग्न कर दिया है।

इसके बाद की खबर यह है कि झांसी के अधीन सब इलाकों में सरदारों ने गाड़ियों को अपने अधिकार में कर लिया है और दूसरे लोग देश को लूट रहे हैं। यह रानी की शक्ति से बिल्कुल परे है कि वह जिले की सुरक्षा के लिए प्रबन्ध कर सके। इसके लिए धन की आवश्यकता है जो उसके पास नहीं है। महाजन भी इस प्रकार के कठिन समय में उसे कर्ज देने को तैयार नहीं हैं। इस समय तक रानी ने किसी प्रकार अपनी निजी सम्पत्ति को बेच कर और बड़ी असुविधापूर्वक शहर को लूटे जाने से बचाया है और भूतपूर्व सरकार के स्वरूप को बनाए रखा है। नगर और मुफ़स्सिल चौकियों की रक्षा के लिए उसने बहुत-से आदमियों को नियुक्त किया है, परन्तु एक सक्षम सरकारी सेना और निधि के बिना वह आगे डटे रहना अशक्य समझती है। इसलिए उसने जिले की अवस्था के सम्बन्ध में कुछ टिप्पणियां लिखीं हैं कि शीघ्र आदेशों की कृपा की जाएगी, जिनका वह पालन अपनी पूरी शक्ति से करवाएगी।

सी

५ जून सन् १८५७ को दोपहर बाद करीब एक बजे झांसी में हुई घटनाओं के विवरण का अनुवाद। एकदम करीब ५० या ६० सिपाहियों ने विद्रोह कर दिया और उन्होंने बारूदखाने और सरकारी खजाने पर अधिकार कर लिया। कैप्टन स्कीन के बंगले की तरफ भी उन्होंने अपनी बन्दूकों से गोलियां बरसाना शुरू किया। जब कैप्टन स्कीन को इस मामले का पता चला तो वे स्वयं उनकी पत्नी और बच्चे, कैप्टन गोर्डन के साथ शहर में गए और उसकी रक्षा के लिए प्रबन्ध किया और फिर वे किले में चले गए। इसके थोड़ी देर बाद दूसरे भद्र पुरुष भी किले में गए, जिसकी रक्षा उन्होंने एक छोटी सेना से की और रानी ने अपने अंग-रक्षक दल में से कुछ थोड़े सिपाही उनकी सहायता के लिए किले में भेजे।

६ जून को दोपहर तक हर चीज पहले दिन की तरह ही रही, अर्थात् वे सिपाही जो विद्रोही हो गए थे वैसे ही बने रहे और शेष सिपाही तथा सवार शान्त रहे। बारह बजे के बाद सब विद्रोही हो गए और आपस में मिल गए। उन्होंने अपने सब अफसरों को मार डाला और उनके बंगलों को तथा सब सार्वजनिक दफ्तरों को अभिलेखों सहित जला डाला। सब कुछ नष्ट कर दिया गया और लूट लिया गया। फिर विद्रोही जेल की ओर बढ़े और सब कैदियों को मुक्त कर दिया। जेल का दरोगा ग़दर करने वालों से मिल गया और फिर वे सब शहर की ओर गए और किले को घेर लिया, परन्तु चूंकि अंग्रेज़ भद्र पुरुषों ने किले के दरवाजे बन्द कर दिए थे और किले की दीवारों से वे बड़ी वीरतापूर्वक गोली चला रहे थे, इसलिए ग़दर करने वाले लोग किले के दरवाजे नहीं खोल सके।

७ जून को विद्रोहियों ने किले की दीवारों पर से गोलाबारी करना शुरू किया और इससे शहर के आदमी बहुत डर गये, विशेषतः तब, जब ४ या ५ छर्रे शहर में आकर गिरे परन्तु सर्वत्र शान्ति रही।

८ जून को ग़दर करने वाले लोगों ने किले पर आक्रमण करने की योजना बनाई। उन्होंने रानी के १५० आदमियों को भी जबर्दस्ती अपने में मिला लिया और सबने दोपहर बाद तीन बजे तक चढ़ाई जारी रखी। इस बीच अंग्रेज भद्र पुरुष जो संख्या में इतने कम थे, सदा की भांति उत्साह से किले की रक्षा करते रहे। उन्होंने अपनी बन्दूकों से अनेक विद्रोहियों को मार दिया और घायल कर दिया। इसके बाद कैप्टन गोर्डन को एक बन्दूक की गोली लगी और वह मर गया। तब कैप्टन स्कीन अपनी पत्नी, बच्चों और दूसरे भद्र पुरुषों के साथ किले से नीचे उतरा और उसने शहर के बाहर बच कर जाने का इरादा किया, परन्तु निर्दय विद्रोहियों ने उसके इस उद्देश्य को पूरा नहीं होने दिया। विद्रोहियों ने उन सबको इस निर्दय ढंग से मारा कि सर्वशक्तिमान ईश्वर उन्हें इसके लिए अवश्य दण्ड देगा। उन्होंने नगर में भी कुछ लोगों को लूटा और जो कुछ उसके मन में आया वही किया। रानी ने बड़ी मुश्किल से अपने प्राण बचाए, परन्तु उसका धन और सम्पत्ति लूट ली गई। रानी इस सबकी खबर कमिश्नर या एजेंट को पहले नहीं भेज सकी। इसका कारण यह था कि विद्रोहियों ने सब डाक का लाना-ले जाना बन्द करवा रखा था तथा झांसी के चारों ओर मार्गों पर रक्षक नियत कर दिए गए थे जो हर किसी को बाहर जाने से रोक देते थे।

११ जून की रात को वे इस स्थान को छोड़ कर चले गए और यह आशा है कि वे अपने दुष्कृत्यों के लिए नरक में जाएंगे।

डी

सागर डिवीज़न के कमिश्नर की ओर से झांसी की रानी को भेजे गये दिनांक २ जुलाई, १८५७ के एक खरीते का अनुवाद।

शिष्टाचार के बाद। आप के हरकारे भवानी और गंगाधर के द्वारा प्रेषित आपके १२ और १४ जून के पत्र मुझे मिल गए हैं और उनके विषय को मैंने समझ लिया है।

मुझे आशा है कि मैं बहुत शीघ्र झांसी में पुनः व्यवस्था स्थापित करने के लिए अधिकारी और सैन्य दल भेज सकूंगा। शीघ्र ही यूरोपीय सैन्य दल ग्रामीण क्षेत्र में तथा उपद्रवग्रस्त जिलों में भेजे जा रहे हैं। परन्तु मेरी आप से प्रार्थना है कि जब तक नया सुपरिटेंडेंट झांसी में न आए, आप ब्रिटिश सरकार की ओर से जिले का प्रबन्ध करें। आप ही मालगुजारी वसूल करें और जितनी आवश्यकता हो पुलिस की भर्ती करें। दूसरे उचित प्रबन्ध भी आप करें जिनके सम्बन्ध में आप को विश्वास हो कि सरकार उन्हें स्वीकार कर लेगी। जब सुपरिटेंडेंट आकर आप से भार संभालेगा तो वह न केवल आप को कष्ट नहीं देगा बल्कि आप के सब नुकसान और व्यय के लिए आपको धन देगा और आप के साथ उदारता का बरताव करेगा। मैं अपनी मुद्रा और हस्ताक्षर सहित एक घोषणा फारसी और हिन्दी दोनों में आप के पास भेज रहा हूं, इस सूचना के साथ कि आगे आदेश प्राप्त होने के समय तक, आप ब्रिटिश सरकार के नाम से जिले का शासन करें और सब लोगों से यह कहना है कि वे आप को मालगुजारी दें और आप की आज्ञा का पालन करें।

आप मेरे इस वचन पर निर्भर कर सकती हैं कि शीघ्र ही भारत के सब भागों में

व्यवस्था स्थापित हो जाएगी, क्योंकि ग़दर में भाग लेने वाले और विद्रोही लोग जो दिल्ली में इकट्ठे हुए थे, करीब-करीब सब या तो युद्ध में मार डाले गए हैं, या ग्रामीणों द्वारा लूट लिए गए हैं और मार दिए गए हैं, या विभिन्न स्थानों में शासनीय अधिकारियों द्वारा फांसी पर चढ़ा दिए गए हैं।

दिल्ली के लेने की खबर सुनकर जो घोषणा मैंने निकाली थी, उसकी एक प्रति मैं आपके लिए संलग्न कर रहा हूं।

बादशाह और अन्य बड़े आदमी, जिन्होंने ये उपद्रव करवाये, उन्होंने अपने लाभ की आशा से ही यह सब किया, न कि आपके या देश के आदमियों के लाभ के लिए। परन्तु अब वे हथकड़ियों में बन्द हैं और जिन दुष्ट आदमियों को अभी कुछ थोड़े समय और जीने की अनुमति दे दी गई है वे अपने मूर्ख और दुष्ट चाल-चलन के लिए बुरी तरह पश्चाताप कर रहे हैं।

गत मास की २३ तारीख को मैंने आप को जो पत्र लिखा था वह आपको नहीं मिल सका होगा। उसकी एक प्रतिलिपि में आपको भेज रहा हूं।

झांसी के लिए घोषणा

झांसी के सरकारी जिले के जो लोग हैं या जो वहां निवास करते हैं, उन्हें विदित हो कि सिपाहियों के बुरे चाल-चलन के कारण कुछ मूल्यवान जानें चली गई हैं और सम्पत्ति भी नष्ट हुई है, परन्तु जिन स्थानों पर उपद्रव हुए हैं वहां बलिष्ठ और शक्तिशाली ब्रिटिश सरकार हजारों यूरोपीय सिपाहियों को भेज रही है और झांसी में व्यवस्था कायम करने के लिए शीघ्र ही प्रबन्ध किया जाएगा।

जब तक अधिकारी और सैन्य दल झांसी में नहीं पहुंचते, रानी ही ब्रिटिश सरकार के नाम से तथा ब्रिटिश सरकार के रिवाज के अनुसार शासन करेगी। मेरा हर छोटे-बड़े से कहना है कि वह रानी की आज्ञा का पालन करे और सरकारी मालगुजारी उसे दे। इसके लिए उसे मान्यता दी जाएगी।

अंग्रेजी सेना ने दिल्ली शहर पर फिर कब्जा कर लिया है और हजारों विद्रोहियों को मार दिया है। उसे जहां कहीं विद्रोही मिलेंगे वे फांसी पर चढ़ा दिए जाएंगे या गोली से उड़ा दिए जाएंगे।

परामर्श संख्या ३५५

संख्या ३०३२, १८५७

प्रेषक, जी० एफ० एडमन्स्टन एस्क्वायर, सचिव, भारतसरकार

सेवा में, डब्ल्यू० सी० अर्स्किन, कमिश्नर, सागर और नर्मदा राज्य-क्षेत्र

विदेश विभाग, दिनांक, फ़ोर्ट विलियम, २३ जुलाई, १८५७

महोदय,

आपके इस मास की २ तारीख के पत्र संख्या ए के उत्तर में, जिसमें, आपने झांसी की रानी के दो पत्रों का अनुवाद भेजा था, मुझे आपको यह अवगत कराने का आदेश दिया गया है कि सपरिषद-गवर्नर-जनरल पांच सौ रुपए के उन इनामों को अनुमोदित और

स्वीकृत करते हैं जिन्हें आपने नागौद जेल से भागने का प्रयत्न करने वाले अपराधियों को मारने या पकड़ने वाले योग्यतम आदमियों को दिए जाने का अधिकार दिया है।

२. रानी के बारे में मुझे यह कहना है कि यद्यपि सपरिषद-गवर्नर-जनरल आपको, आपकी परिस्थितियों को देखते हुए, रानी के कार्यों और भावों के सम्बन्ध में उसके विवरण को स्वीकार करने के लिए और ब्रिटिश सरकार के ओर से झांसी राज्य-क्षेत्र के प्रबन्ध को उसे सौंप देने के लिए, दोष नहीं देते, परन्तु यदि उसका उपर्युक्त विवरण झूठा सिद्ध हुआ तो यह परिस्थिति रानी को बचा नहीं सकेगी। सरकार को मेजर एलिस ने जो विवरण दिया है, उससे यह मालूम पड़ता है कि रानी ने ग़दर करने वालों और विद्रोहियों को अवश्य सहायता दी और यह भी कि उसने उन्हें बन्दूकें और आदमी भी दिए।

फ़ोर्ट विलियम, आपका, इत्यादि

२३ जुलाई, १८५७ हस्ताक्षर जी० एफ० एडमन्स्टन

भारत सरकार के सचिव

परामर्श संख्या १७६

संख्या ३१७

इलेक्ट्रिक टेलीग्राफ द्वारा प्राप्त शासकीय सन्देश की प्रतिलिपि

प्रेषक

मेजर आर० आर० डब्ल्यू० एलिस, बुन्देलखण्ड और रीवा के पोलिटिकल असिस्टेंट

नागौद, २६ जून, मिर्जापुर होकर, २६ जून, सोमवार, रात्रि के ८ बजकर २५ मिनट

सेवा में

भारत सरकार के सचिव, कलकत्ता

(शब्द ६४६ एस० आर०)

एक मुस्लिम सवार और भगवानदास देशी सर्वेक्षण विभाग के दो खलासियों तथा मुहम्मद इस्माइल देशी सर्वेक्षण विभाग के एक खलासी के साक्ष्य पर आधारित झांसी हत्याकाण्ड के विवरण। ये चारों व्यक्ति अंग्रेज़ भद्र पुरुषों के साथ एक किले में बन्द कर दिए गए थे और इसी महीने की १० तारीख को जब वे वहां से मुक्त हुए तो वे महोबा में मेरे पास आये और उन्होंने मुझे जो कुछ हुआ था, उसका हाल सुनाया। मैंने इन आदमियों को कलक्टर, श्री केन के पास भेज दिया, जिन्होंने इनकी जांच की। कुछ समय पूर्व से भद्र पुरुष रात तो किले में बिताया करते थे और दिन में अपने बंगलों में आ जाया करते थे। कैप्टन बर्गेस और उनका विभाग किले के अन्दर अपना तम्बू डाले हुए थे और हर एक चीज इस प्रकार तैयार रखी जा रही थी कि जब भी अवसर आए शीघ्रता से किले में पीछे हट कर जाया जा सके। ४ तारीख की सन्ध्या को ऐसा अवसर आ गया। कुछ

थोड़े-से लोग उस जगह से बिल्कुल बच कर भाग गए। एक भद्र पुरुष जिसका नाम पता नहीं, बरुआ सागर पहुंचा, जहां नहर विभाग के साहिब राय नामक एक देशी सर्वेक्षक से मिलकर उसने उसे अपनी घड़ी और घोड़ा दिया और उससे एक हिन्दुस्तानी पोशाक लेकर पैदल ही भाग निकला। वह मुश्किल से ही आंखों से ओझल हुआ होगा कि दो सवार तेजी से उसका पीछा करते हुए वहां आये और उसके घोड़े को पहचान लिया। उन्होंने साहिब राय और थानेदार को बन्दी बनाया और झांसी की ओर वापस चल पड़े। इन लोगों के बारे में अन्तिम खबर जिस समय की है, उस समय वे झांसी में ही थे। लेफ्टिनेंट टर्नबुल इतना भाग्यवान नहीं था कि वह किले में प्रवेश कर सकता और अपने साथियों से मिल सकता। वह एक बड़े पेड़ पर चढ़ गया। परन्तु उसे देख लिया गया और पेड़ पर ही उसे गोली से मार दिया गया। ४ तारीख की शाम से लेकर ८ तारीख के प्रातःकाल तक किले में बन्द भद्र पुरुषों ने अपनी स्थिति को ठीक रखा। महिलाओं ने उनके लिए खाना बनाने में उनकी सहायता की, उनके लिए अल्पाहार भेजे, उनकी गोलियां निकालीं। उन सब की संख्या कुल मिलाकर ५५ थी, जिनमें महिलाएं और बच्चे भी शामिल थे। खाद्य-सामग्री के अभाव से उनकी अवस्था बहुत बुरी हो गई। सब दरवाजों के पीछे उन्होंने पत्थरों के ऊंचे ढेर अपनी शक्ति को बढ़ाने के लिए इकट्ठे कर रखे थे। वे अपनी रक्षा इस प्रकार करते रहे। एक तोप जो दरवाजों के बहुत अधिक समीप ला दी गई थी, छोड़ दी गई। रात में इसी तोप में रस्सी बांधकर विद्रोहियों ने इस पर पुनः अधिकार कर दिया। लेफ्टिनेंट पोविस पहला व्यक्ति था जो किले में मारा गया। उसकी मृत्यु इस प्रकार हुई: कैप्टन बर्गेस की सेवा में दो आदमी, जो भाई थे, नौकर थे। उनमें से एक ने, जो कैप्टन बर्गेस का जमादार था, घोषणा की कि वे दोनों बाहर जाएंगे। उनसे कहा गया कि यदि वे ऐसा करेंगे तो उन्हें गोली से मार दिया जायगा। परन्तु उन्होंने कहा कि किले में बन्द रह कर भूखों मरने से तो यही अच्छा है कि गोली खा कर मर जाएं। इसलिए उन्होंने रस्सी के बन्धनों को खोलना शुरू किया। इनमें से एक को तत्काल गोली से मार दिया गया। दूसरा लेफ्टिनेंट पोविस की ओर मुड़ा जो उस समय उसके पास थे और उसने उन्हें तलवार से काट दिया। इस दूसरे व्यक्ति को भी कैप्टन बर्गेस ने सीधे गोली से उड़ा दिया। इनके अतिरिक्त अन्य जो व्यक्ति किले के अन्दर मरा, वह कैप्टन बर्गेस ही थे। मुझसे कहा गया है कि उनके सिर पर गोली लगी और उससे पूर्व वे कम से कम २५ लोगों को मार चुके थे। सब देशी लोग कैप्टन बर्गेस की एक कुशल निशानेबाज के रूप में बड़ी प्रशंसा करते थे। विद्रोहियों ने रानी को मजबूर करके जबर्दस्ती बन्दूकों और हाथियों की सहायता ली और दो दरवाजों में होकर प्रवेश करने में सफल हो गए। उन्होंने भद्र-पुरुषों को वचन दिया कि यदि वे अपने हथियार डाल देंगे और चुपचाप आत्मसमर्पण कर देंगे, तो उनके प्राण बच जाएंगे। भद्र पुरुषों ने अभाग्यवश उनके वचनों पर विश्वास किया और बाहर निकल आए। कुछ पेड़ों के बीच में उन्हें एक लम्बी पंक्ति में बांधा गया और थोड़ी देर के परामर्श के बाद उनके सिर काट डाले गए। जिन स्त्रियों के साथ बच्चे थे, उनकी आंखों के सामने उनके बच्चों को दो भागों में चीर दिया गया। ऐसा लगता है कि सवारों ने इन नृशंस कृत्यों में मुख्य भाग लिया। यह ८ तारीख को दोपहर बाद हुआ।

कलकत्ता
इलेक्ट्रिक टेलीग्राफ कार्यालय,
३ जून, १८५७
प्रेषित दोपहर बाद ३ बज कर ५० मिनट पर

(ह०) डी० करशोफ, सार्जेंट
सहायक ओवरसियर
बुन्देलखण्ड सिंचाई विभाग

परामर्श संख्या २६६

विदेशी राजनीतिक परामर्श, संख्या २६६, ३० दिसम्बर, १८५६ (अनुपूरक)

मध्यवर्ती भारत के एजेंट गवर्नर-जनरल को प्रेषित झांसी की रानी के एक खरीते, दिनांक १४ जामदि-उल-अव्वल ए० एच० १२७४ तदनुसार १ जनवरी, १८५८ का अनुवाद।

शिष्टाचार के बाद। भारत से आपकी अनुपस्थिति के समय जो आश्चर्यजनक और अप्रत्याशित घटनाएं हुई हैं, उनका विवरण देना एक पीड़ाजनक कार्य है। जो कष्ट और कठिनाइयां इस कथन में मुझे सहन करनी पड़ी हैं, उनका मैं वर्णन नहीं कर सकती। भारत में आपके दुबारा लौट आने से मुझे नया जीवन मिला है। मैं इस अवसर पर अपनी कहानी का संक्षिप्त लेखा आपकी सेवा में भेजती हूं। उस समय जब कि अंग्रेजी सेनाओं ने इस स्थान पर ग़दर किया और मेरी सम्पति की लूट की और जब दतिया और ओरछा के सरदारों ने बल-प्रयोग और लूट-पाट शुरू की तो मैंने झटपट अंग्रेज अफसरों को इस सम्बन्ध में लिखा, जिनके नाम हाशिए में अंकित हैं। मैंने इन अधिकारियों को देश की स्थिति के सम्बन्ध में विस्तृत सूचना दी। इन पत्रों के कुछ वाहकों का कोई पता नहीं चला, कुछ मार्ग में लूट लिए जाने के कारण अपने गन्तव्य स्थान पर न जा सके और वापस झांसी लौट आए। जो आगरा भेजे गए थे, वे यह कहते हुए वापस आए कि वे पत्रों को किले के अंदर एक भिश्ती के द्वारा भिजवा आए थे और वे वहां उत्तर के लिए इसलिए नहीं ठहरे कि उन्हें अपने जीवन का भय था। मेजर एलिस ने मुझे सूचना दी कि मेरे पत्र उस अधिकारी को दे दिए गए थे जो कैप्टन स्कीन की जगह काम कर रहा था। गुरसराय के सरदार के द्वारा मुझे दिनांक २३ जून का कमिश्नर का एक पत्र मिला, जिसमें कहा गया था कि मैं जिले का प्रभार संभालूं। मेरे तीन पत्रों के उत्तर में उक्त अधिकारी का ही दिनांक १० जुलाई का एक अन्य पत्र भी मुझे मिला था। इस पत्र में उसने मेरा ध्यान उसके पहले के पत्रों की ओर दिलाया था जिसमें एक घोषणा संलग्न बताई गई थी, जिसके अनुसार जिले का प्रभार मुझे सौंपा गया था। २६ जुलाई को मैंने उत्तर में लिखा कि मुझे कोई घोषणा नहीं मिली है।

जबलपुर के कमिश्नर
मध्यवर्ती भारत के लिए स्थानापन्न एजेंट जी० जी०
भारत के गवर्नर-जनरल
आगरा के लेफ्टिनेंट-गवर्नर
जालौन के डिप्टी कमिश्नर
ग्वालियर के पोलिटिकल एजेंट मेजर एलिस

२. देश की उपद्रवग्रस्त स्थिति का लाभ उठाकर दतिया और ओरछा के सरदारों ने पहले झांसी इलाके के जिले को, जो उनके राज्यों के सीमान्त में क्रमशः पूर्व और पश्चिम की ओर था, अपने अधिकार में ले लिया।

३. तीन सितम्बर को (इन दोनों सरदारों ने मिलकर काम करते हुए) ओरछा की सेनाओं ने, जिनमें ठाकुर लोग और सरदारों के सम्बन्धी थे, और जिनमें कुल ४०,००० आदमी और २८ तोपें थीं, स्वयं झांसी पर धावा बोल दिया और दूसरे सरदारों को अपनी सहायता करने पर विवश किया। यद्यपि कमिश्नर के दो पत्र जो मुझे मिले थे, मैंने नत्थे खां के पास उसके परिशीलन के लिए भेज दिये थे, फिर भी उसने उन पर कोई ध्यान नहीं दिया। इस पर मैंने कमिश्नर को फिर लिखा, जिसने मुझ से उत्तर में (दिनांक १९ अक्तूबर के पत्र के द्वारा) कहा कि अंग्रेजी सेनाएं जबलपुर में इकट्ठी हो रही हैं और वह स्वयं झांसी आएगा और प्रत्येक छोटे-बड़े के व्यवहार की जांच करेगा और उनके साथ तदनुकूल बर्ताव करेगा। इसी समय मैंने अपनी सम्पत्ति बेचकर और रुपया ब्याज पर कर्ज लेकर—आदमियों की एक टोली को इकट्ठा किया और शहर को बचाने तथा आक्रमणकारी सेना का सामना करने के लिए यथा सम्भव सब उपाय किये। शत्रु ने बन्दूकें, टोपीदार पुरानी चाल की बन्दूकें और बाण चलाकर बहुत शरारत की और हजारों महत्वपूर्ण व्यक्तियों को मारा। अपने साधन असफल सिद्ध होते देख मैंने २० सितम्बर और १९ अक्तूबर को कुमुक भेजने के लिए लिखा। दो महीने बाद घेरा डालने वाली सेना ओरछा से करीब ३ मील दूर स्थित कोमा नामक गांव में चली गई। वे सभी जिले जो पहले ओरछा के सरदार ने अपने अधिकार में कर लिए थे, अब भी उसके अधिकार में हैं। इसी प्रकार दतिया की रानी अब तक उन सब जिलों पर अधिकार रखे हुए है जो उसके हाथ में पड़ गए थे। ओरछा और दतिया के अधिकारी इन स्थानों को नहीं छोड़ते। जिन सैन्य दलों को वहां इन स्थानों पर पुनः अधिकार प्राप्त करने के लिए भेजा जाता है, उनका मुकाबला किया जाता है।

४. पहले की तरह पवार और मवास लोगों को उत्तेजित किया जा रहा है कि वे शेष जिलों को भी लूट-पाट से बरबाद कर दें।

५. इन परिस्थितियों में ब्रिटिश सरकार की सहायता के बिना मैं इन शत्रुओं से अपना पिण्ड कभी नहीं छुड़ा सकती और न भारी ऋण को ही चुका सकती हूं।

६. कमिश्नर मेरी सहायता के लिए कार्य करने के लिए प्रस्तुत नहीं जान पड़ता, क्योंकि वह अपने दिनांक ९ नवम्बर के पत्र में कहता है कि इस समय ब्रिटिश सैन्य दलों की उसे अपने स्थान पर ही आवश्यकता है। चूंकि इन अल्पदर्शी व्यक्तियों को ब्रिटिश सर्वोच्च सत्ता के सम्बन्ध में कोई ध्यान नहीं है और ये मुझे और देश को बरबाद करने के लिए सब कुछ कर रहे हैं, इसलिए मैं आपसे प्रार्थना करती हूं कि आप सर्वोत्तम ढंग से मेरी सहायता करें और मुझे और लोगों को बचाएं जो अन्तिम सीमा तक थक चुके हैं और शत्रु का सामना करने में असमर्थ हैं।

अध्याय ८

राजपूताना और मध्यवर्ती भारत

राजपूताना नाम मात्र के लिए उत्तर-पश्चिमी प्रान्त के लेफ्टिनेंट गवर्नर के प्रभार में था, क्योंकि उसकी शान्ति और सुव्यवस्था के लिए उत्तरदायी अधिकारी गवर्नर-जनरल का एजेंट (अभिकर्ता) था। सीधे ब्रिटिश प्रशासन के अधीन क्षेत्र अत्यन्त छोटा था, परन्तु उसमें तीन महत्वपूर्ण सैनिक स्थान थे, अजमेर, नसीराबाद और नीमच। मुस्लिम सर्वोच्च सत्ता के समय में भी अजमेर, राजपूताना की कुंजी समझा जाता था और इस नगर के किले में शाही सेना रहती थी। ब्रिटिश काल में भारतवर्ष के मानचित्र में भारतीय रियासतों के पीले विस्तार में अजमेर ही एक लाल बिन्दु था। सब रियासतें, केवल एक को छोड़कर, हिन्दू राजाओं के द्वारा शासित थीं जो अपनी वंशावलियों का उद्गम सूर्य और चन्द्र से मानते थे। सीसोदिया वंश के मुखिया, मेवाड़ के महाराणा सरूपसिंह, शक्ति में तो नहीं, परन्तु पद में सबसे ऊंचे माने जाते थे। जयपुर के महाराजा रामसिंह के पूर्वजों ने मुगल-काल में अपने राज्य-क्षेत्र में विस्तृत वृद्धि कर ली थी और महाराजा रामसिंह कछवाहा राजपूतों के माने हुए मुखिया थे। इसी वंश की एक नवीनतर शाखा ने अपने आप को अलवर में स्थापित कर लिया था और वहां बन्नीसिंह शासन कर रहा था। जोधपुर के महाराजा तख्तसिंह[1] राठौर वंश के मुखिया थे। परम्परागत आज्ञोल्लंघन का असुविधाजनक उत्तराधिकारी उन्हें मिला था, क्योंकि उनके पूर्वगामी मानसिंह ने जसवन्त राव होलकर, नागपुर के राजा और ऐसे अन्य अल्प प्रसिद्ध सरदारों को जिन्होंने अंग्रेजी शासन के प्रति अवज्ञा दिखाने की धृष्टता की थी, सहायता दी थी जिससे उनकी युद्ध-प्रिय प्रजा उनकी प्रशंसा करने लगी थी। जोधपुर-परिवार की एक नवीनतर शाखा बीकानेर में शासन करती थी। हाड़ा राजपूतों के शासन केन्द्र बूंदी और कोटा में थे।[2] टोंक की छोटी अमलदारी एक मुस्लिम सरदार के द्वारा शासित थी। यह पिंडारी नेता अमीर खां का, जिसने होलकर के साथ मिल कर एक बार सम्पूर्ण राजपूताना को भयभीत कर दिया था, वंशज था। राजपूताना सामन्ती वीरता और हिन्दू

१. जोधपुर के सिंहासन को प्राप्त करने से पूर्व तख्तसिंह गुजरात में ईदर का सरदार था। मारवाड़ के अभिजात पुरुष उसे पर्याप्त रूप से अच्छा मारवाड़ी नहीं मानते थे। उसके लोकप्रिय न होने का एक अन्य कारण यह भी था कि अपने प्रजा जनों की बजाय वह अपने पुराने साथियों में ही अधिक विश्वास रखता था।

२. कोटा के महाराव बूंदी के राजवंश की एक नवीनतर शाखा के थे।

देशभक्ति का गढ़ था। प्रत्येक सामन्त अपने परिवार में एक चारण रखता था जो उसे अपने वीर पूर्वजों के वीरतापूर्ण कृत्यों की याद दिलाया करता था। प्रारम्भिक बाल्यावस्था से ही हथियारों की शिक्षा के साथ राजपूत का लालन-पालन होता था, अतः उससे यह आशा की जाती थी कि अपने परम्परागत अधिकारों के अतिक्रमण का वह प्रतिरोध करेगा और अपने सम्मान की रक्षा के लिए अपने प्राणों की भी आहुति दे देगा। यदि राजपूत राजा धर्म के नारे का अनुकूल उत्तर देते, तो दिल्ली से गुजरात तक फैले सम्पूर्ण रेगिस्तानी क्षेत्र से अंग्रेजी सत्ता विलुप्त हो जाती।

सर हेनरी लारेंस राजपूताना में एक बार गवर्नर-जनरल का एजेंट रह चुका था। जब उसे अवध में शान्ति स्थापित करने के लिए बुलाया गया तो उसका बड़ा भाई जार्ज सेंट पेट्रिक लारेंस उसके स्थान पर नियुक्त किया गया। जार्ज लारेंस ने घुड़सवार सेना के एक अधिकारी के रूप में अफगानिस्तान और पंजाब में युद्ध-कार्य में भाग लिया था। राजपूताना के लिए वह नया नहीं था, क्योंकि अपने भाई के रिक्त स्थान पर पदवृद्धि होने से पूर्व वह मेवाड़ का राजनीतिक अभिकर्ता (पोलिटिकल एजेंट) रह चुका था। इस पद पर अब उसका उत्तराधिकारी मेजर शावर्स नियुक्त हुआ था, जो एक उद्यमी और उत्साही अफसर था। अनुभव और योग्यता से सम्पन्न दो अन्य कूटनीतिक अधिकारी भी राजपूताना में रखे गए, ईडन जयपुर में और मोंक मेसन जोधपुर में। सामान्य दिनों में भी उनका काम आसान नहीं था, क्योंकि सामन्ती सरदारों और उनके राज्यों के प्रमुखों के बीच सदा ही झगड़ा बना रहता था और सामन्त लोग महाराजा के साथ अपने युद्ध में अपने काश्तकारों की असंदिग्ध आज्ञाकारिता पर सदा निर्भर रह सकते थे। चूंकि महाराजा को साधारणतः सर्वोच्च सत्ता का समर्थन प्राप्त होता था, अतः सामन्त लोग दोनों को प्रायः एक ही समझते थे। इस प्रकार महाराजा के विरुद्ध प्रतिरोध कभी-कभी गड़बड़ी से ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध विद्रोह समझ लिया जाता था। सन् १८५७ में मेवाड़ में सलूम्बर के सरदार केसरीसिंह को अपने प्रमुख उदयपुर के महाराणा के विरुद्ध कुछ वास्तविक या काल्पनिक शिकायतें थीं[3] और आवा के ठाकुर कुशलसिंह अपने राजा जोधपुर के महाराजा के विद्रोह के लिए तैयार खड़े थे।[४]

३. केसरीसिंह की शिकायतें परम्परागत शिष्टाचार के एक प्रश्न पर आधारित थीं। रिवाज के अनुसार उदयपुर के युवराज को सलूम्बर के सरदार के अभिषेक के समय उपस्थित होना आवश्यक था। महाराणा सरूपसिंह के कोई पुत्र न था, इसलिए केसरीसिंह को यह आशा थी कि इन परिस्थितियों में स्वयं महाराणा उसके अभिषेक के उत्सव में भाग लेने के लिए सलूम्बर पधारेंगे। परन्तु महाराणा ने उसको सन्तुष्ट करने से इन्कार कर दिया। परिस्थिति आगे चल कर इस बात से और जटिल हो गई कि सलूम्बर के सरदार और महाराणा मेवाड़ के राजवंश की क्रमशः बड़ी और छोटी शाखाओं का प्रतिनिधित्व करते थे।

४. आवा के ठाकुर के विद्रोह का कारण यह था कि उसके सामन्ती अधिकारों में हस्तक्षेप किया जाता था। किसी कारीगर या आसामी को ठाकुर के राज्य-क्षेत्र को छोड़ कर

जब ग़दर शुरू हुआ तो जार्ज लारेंस अपने गर्मी के विश्राम स्थान आबू में थे। अजमेर की सुरक्षा स्वाभाविक रूप से उनका प्रथम कर्तव्य हो गया, क्योंकि अजमेर राजपूताना की शस्त्रशाला थी और १५ वीं देशी पैदल सेना की दो टुकड़ियां इसकी रक्षा कर रही थीं तथा निकटतम यूरोपीय सैन्य दल दीसा में था। मेरठ में ग़दर शुरू होने के बाद हर एक देशी सेना पर थोड़ा-बहुत संशय किया जाता था और लारेंस यह अनुभव करता था कि खजाने और शस्त्र-शाला को देशी सैन्य दलों की रक्षा में सलामती से नहीं छोड़ा जा सकता। इसलिए उसने दीसा को आवश्यक सहायता के लिए लिखा। परन्तु महामहिम सम्राज्ञी (हर मैजेस्टी) की ८३वीं सेना के आदमियों के वहां आ सकने के पूर्व ही अजमेर के कमिश्नर कर्नल डिक्सन ने अपने सैनिक-स्थान की १५वीं देशी पैदल सेना के स्थान पर मेवाड़ से एक मेयर सैनिक टुकड़ी की मांग की थी। मेयर लोग आदिम जाति के थे और उन्हें भोजन के सम्बन्ध में कोई बन्धन नहीं थे। उच्च कुलीन हिन्दुओं की तरह उन्हें चर्बी से भी उन्हें घृणा नहीं थी। मेयर सैनिक-दल के साथ लेफ्टिनेंट कार्नेल मे ३६ मील का एक अभियान किया और शस्त्रशाला का प्रभार संभाला। १५वीं देशी पैदल सेना के सिपाही नसीराबाद वापस भेज दिए गए, जहां शेष सेना को भी रखा गया था।

नसीराबाद अजमेर से अधिक दूर नहीं था। पन्द्रहवीं देशी पैदल सेना के अलावा तीसवीं देशी पैदल सेना, देशी तोपखाने का एक बन्दूक-दल और बम्बई के भालेदार घुड़सवार सैनिकों का प्रथम दल, वहां छावनी डाले पड़े थे। मई सन् १८५७ में हड्डी के चूरे से मिश्रित आटे की कहानी बाजार में फैल गई और स्वाभाविक रूप से सिपाही विचलित हो उठे। फिर उन्हें अजमेर से जहां वे एक लम्बे समय से पहरे का काम कर रहे थे, हटाया गया। अतः सिपाहियों को लगा कि अब उन पर भरोसा नहीं किया जा रहा है। उन्होंने देखा कि छावनी पर अब बम्बई के भाले वाले घुड़सवार सैनिकों का दल पहरा लगा रहा है और बन्दूकें गाड़ियों पर चढ़ा दी गई हैं और भर दी गई हैं। २७ मई को पन्द्रहवीं देशी पैदल सेना का एक आदमी लेफ्टिनेंट प्रिचर्ड के पास गया और उसने पूछा कि क्या यह बात ठीक है कि एक यूरोपीय सैन्य दल नसीराबाद आ रहा है। वस्तुतः कुछ समय पूर्व यूरोपीय सिपाहियों और कुछ बन्दूकों की मांग की गई थी। अधिकारियों ने इसे अत्यन्त गुप्त रखा था, परन्तु खबर फैल गई और गोपनीयता ने इस चाल को एक शैतानी रूप दे

बाहर जाने की आज्ञा नहीं थी। परन्तु ब्रिटिश सरकार ने इसे अपनी अनुमति नहीं दी। दो 'महाजन' जब एक बार बिना ठाकुर की आज्ञा के उसके अधिकार क्षेत्र से बाहर चले गए तो राजा ने उसके इस दावे का समर्थन नहीं किया कि उन्हें जबर्दस्ती वापस भेज दिया जाए। यही झगड़े का कारण था। आवा के ठाकुर का समर्थन असोप और गुलर के ठाकुरों ने किया। प्रिचर्ड, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० २२७-२९, वी० एन० राव, मारवाड़ का इतिहास, जिल्द २, पृ० ४४८-५०। निक्सन का कहना है कि ठाकुर जोधपुर की सबसे अधिक उपद्रवी जातियों में से एक से सम्बद्ध था। बिठूर के उत्तराधिकार के मामले में निरंकुशतापूर्वक हस्तक्षेप कर उसने महाराजा को अप्रसन्न कर दिया था।

दिया।[५] २८ तारीख को नसीराबाद में ग़दर फैल गया, "जैसे ही उन्होंने सुना कि दीसा से सैन्य दल आ पहुंचे हैं।"

दो पैदल सेनाओं के अधिकांश सैनिक पहले तो निष्क्रिय रहे। १५वीं सेना की लघु टुकड़ी के कुछ थोड़े से आदमी तथा ३०वीं सेना की ग्रिनेडियर टुकड़ी के कुछ आदमी जो कुल मिलाकर सत्ताईस से अधिक नहीं थे, बन्दूकों की तरफ दौड़े और उन्हें कब्जे में कर लिया। बम्बई के भालेवाले घुड़सवार दल को जिसकी स्वामिभक्ति में कोई सन्देह नहीं था, ग़दर करने वालों के पीछे लगाया गया। उन्होंने बनावटी तौर पर कुछ वार किए, परन्तु वे लड़े नहीं।[६] सूर्यास्त के बाद १५वीं देशी पैदल सेना के बहुत से आदमी ग़दर में शामिल हो गए और ३०वीं सेना के बहुत से आदमियों की एक अधिक बड़ी संख्या अपने अधिकारियों के प्रति वफादार बनी रही, परन्तु उसे विद्रोहियों के विरुद्ध लड़ने के लिए प्रेरित नहीं किया जा सकता था। अधिकारियों के सामने अब सैनिक-स्थान को छोड़ने के अलावा और कोई विकल्प न था। ३०वीं देशी पैदल सेना के १२० आदमियों ने उनका अनुगमन किया, परन्तु उन्हें अपने हथियार छोड़ने पड़े और उन्हें नसीराबाद जाने का आदेश दिया गया। उनकी आधी संख्या वापसी मार्ग में अलग हो गई।[७] गम्भीरसिंह नामक एक राजभक्त देशी अधिकारी अपने यूरोपीय सेनापतियों के साथ भाग कर ब्यावर गया था, परन्तु जब सार्वजनिक रूप से प्रधान सेनापति के आदेश पर परेड मैदान में उससे हथियार छीने गए तो वह भग्न-हृदय होकर मर गया।[८]

नीमच नसीराबाद के करीब १२० मील दक्षिण में राजपूत रियासत मेवाड़ की सीमा के पास स्थित है। वहां सैन्य दलों (१२वीं देशी पैदल सेना, ७वीं ग्वालियर सैनिक टुकड़ी और प्रथम बंगाल घुड़सवार सेना एक का पक्ष) को यह जानने में देर नहीं लगी कि नसीराबाद में क्या हुआ। २ जून को कर्नल एबट ने उन्हें राजभक्ति की एक शपथ दिलवाई। कुरान और गंगा-जल की शपथ खाकर सिपाहियों ने कहा कि वे एक दूसरे का विश्वास करेंगे और नमक हराम नहीं होंगे। कर्नल एबट ने भी अपनी ओर से इंजील की शपथ खाई कि सिपाहियों की सद्भावनाओं में उसका विश्वास है। इस प्रकार सिपाही शान्त हो गए।[९] ३ तारीख की शाम को सैन्य दलों के आने के सम्बन्ध में एक अफवाह सुनी

---

५. प्रिचर्ड, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ३५-३६; प्रिचर्ड का विचार है कि सैनिक न्यायालय की कार्यवाहियों का इतना विस्तृत प्रचार करना एक गलती थी, पृ० २४-२५

६. प्रिचर्ड को सन्देह था कि भालेवाले घुड़सवार सैनिक इस बात को जानते थे और उन्होंने पैदल सेना के साथ गुप्त समझौता कर रखा था।

७. प्रिचर्ड, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ८०

८. वही पृ० २३-२४

९. वही, पृ० १२२-२३। कैप्टन लायड का कर्नल जी० सेंट० पी० लारेंस को पत्र, दिनांक १६ जून, १८५७। शावर्स का वर्णन थोड़ा भिन्न है। कर्नल एबट ने देशी अफसरों को शपथ दिलवाई और उन्हें उस शपथ की याद दिलाई जो उन्होंने अपने भर्ती होने के समय ली थी। "इसी समय घुड़सवार सेना का एक सिपाही, जिसका नाम मुहम्मद

गई और वह निराधार नहीं थी। सिपाही विद्रोही हो गए और अधिकारी उदयपुर भाग गए। तब विद्रोही दिल्ली की ओर चल दिए और इसके बाद मेवाड़, कोटा और बूंदी की सैनिक टुकड़ियों ने नीमच को अपने अधिकार में ले लिया। १२ जून को दीसा से एक सेना, जिसमें महामहिम सम्राज्ञी की ८३ वीं सेना के ४०० आदमी, १२वीं बम्बई पैदल सेना और यूरोपीय घुड़सवार तोपखाने का एक सैन्य-दल सम्मिलित थे, नसीराबाद आई। ग़दर के प्रारम्भ होने के शीघ्र बाद ही नीमच के सिपाहियों की तरह नसीराबाद के विद्रोहियों ने भी अपने सैनिक-स्थान को खाली कर दिया था इसलिए बिना लड़ाई के इस पर दुबारा अधिकार कर लिया गया।

इसके बाद नीमच को एक अत्यन्त योग्यता वाले शाही साहसी व्यक्ति से भय उत्पन्न हुआ। शहज़ादा फ़ीरोज़ शाह निज़ाम बख़्त का पुत्र था जो बहादुर शाह प्रथम का एक सीधा वंशज था।[10] सन् १८५५ में वह दिल्ली से मक्का तथा अन्य स्थानों में गया और मई सन् १८५७ में बम्बई वापस उतरा। वह अभी करीब बीस वर्ष का ही था। यदि वह एक शताब्दी पूर्व पैदा हुआ होता तो उसके जैसे सूझ-बूझ वाले नवयुवक ने अपने लिए एक राज्य का निर्माण कर लिया होता और यदि वह एक शताब्दी बाद होता तो एक लोक-प्रिय नेता के रूप में वह प्रसिद्धि प्राप्त करता। परन्तु वह एक ऐसे युग में उत्पन्न हुआ जो या तो बहुत देर से आया या बहुत जल्दी, और उसके साहसिक कार्यों का परिणाम केवल असफलता और स्वतः आरोपित देश-निकाला हुआ। यह कहा जाता है कि वह बम्बई से दिल्ली गया, परन्तु इस खबर का कोई आधार प्रतीत नहीं होता। जून में वह सीतामऊ के समीप दिखाई दिया। तदनन्तर हम उसे मन्दसौर के निकट पाते हैं जहां उसने इस्लाम के हरे झण्डे को फहराया और अंग्रेज़ों के विरुद्ध जिहाद की घोषणा की। मन्दसौर के गवर्नर ने उसे नगर से बाहर निकाल दिया और उसने एक अज्ञात मसजिद में शरण ली। फकीर के वेश में एक बादशाह के लड़के का होना उसके किसी सेना के अग्रणी होने से अधिक प्रभावशाली राजनीतिक शक्ति है और फ़ीरोज़ शाह ने शीघ्र ही पर्याप्त अनुयायियों को आकृष्ट कर लिया, जिसमें अधिकतर संख्या अफगान और मकरानी मुस्लिमों की थी। उन्होंने नगर को अपने अधिकार में कर लिया और गवर्नर तथा कोतवाल को कैद कर लिया।[11] फ़ीरोज़ शाह औपचारिक ढंग से बाद-

---

अली बेग था, सेना-पंक्तियों में से बाहर निकल कर बाहर आया और समादेशक अधिकारी को उद्दण्डतापूर्वक सम्बोधित करता हुआ बोला, 'हमारे अधिकारियों की शपथें हमारे लिए क्या हैं? हमारी स्वयं की शपथें भी क्या हैं? हम क्यों तुम्हारे प्रति अपनी शपथों को रखें जब कि तुम स्वयं अपनी शपथों को तोड़ चुके हो? क्या तुमने अवध पर कब्जा नहीं लिया?' शावर्स, ए मिसिंग चैप्टर आफ दि इण्डियन म्यूटिनी, पृ० २७

१०. दिल्ली के शाही परिवार में सात और मिरज़ा फ़ीरोज़ थे। दिल्ली जिले के कमिश्नर और सुपरिन्टेंडेंट की ओर से अवध के चीफ कमिश्नर के सहायक सचिव को लिखा गया पत्र संख्या २४, दिनांक २८ फरवरी, १८६०

११. कोतवाल को बलपूर्वक मुस्लिम बनाया गया। शावर्स, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ६०

शाह बनाया गया और मिरज़ाजी नाम का एक आदमी, जिसके पूर्वज मन्दसौर के इजारेदार रहे थे, उसका प्रधान मन्त्री नियुक्त हुआ। उसने फिर प्रतापगढ़, जावरा, सीतामऊ और रतलाम के राजाओं के पास तथा सलूम्बर के सरदार के पास परिपत्र भेजे और उनसे कहा कि वे नई सत्ता को स्वीकार करें,[12] परन्तु किसी ने अनुकूल उत्तर नहीं दिया सिवाय अब्दुल सत्तार खां के, जो जावरा के शासकीय वंश का तरुण सदस्य था।[13] सितम्बर तक उसके अनुयायियों की संख्या सत्रह से अठारह हजार तक हो गई। नवम्बर में शहजादे ने अपने अधिकार-क्षेत्र को बढ़ाने के लिए अपने को पर्याप्त शक्तिशाली अनुभव किया और नीमच के विरुद्ध अपने सैन्य दल भेजे। उन्होंने जिरान में एक सैनिक टुकड़ी को हराया और किले का घेरा डाल दिया। यदि समय पर वहां सर हेनरी ड्यूरेण्ड आ जाते तो उन्होंने किले को जीत लिया होता।

हेनरी मेरियन ड्यूरेण्ड उस समय मध्यवर्ती भारत में गवर्नर-जनरल के स्थानापन्न एजेंट थे और उनका मुख्यालय इन्दौर में था। स्थायी पदाधिकारी सर राबर्ट हैमिल्टन इंग्लैण्ड छुट्टी पर गये हुए थे। ड्यूरेण्ड बंगाल इंजीनियर्स में कमीशन प्राप्त अधिकारी बन कर भारत आये थे और सार्वजनिक निर्माण-कार्य विभाग से सम्बद्ध थे। अनेक ग़दर-नेताओं की तरह उन्होंने प्रथम अफगान-युद्ध में विशेष ख्याति प्राप्त की थी। सन् १८४२ में लार्ड एलन बरा ने उनको अपना व्यक्तिगत सचिव बनाया और महाराजपुर के युद्ध में भी वह उपस्थित थे। इसके बाद उन्होंने तनासेरिम के गवर्नर का पद संभाला जहां उन्होंने यूरोपीय व्यापारिक स्वार्थों को इस हद तक रुष्ट किया कि उन्हें अपने पद से हटा दिया गया। द्वितीय सिख युद्ध में उनकी सेवाओं का पुरस्कार उन्हें ग्वालियर में एक राजनीतिक नियुक्ति के रूप में मिला। इन्दौर में सर राबर्ट हैमिल्टन के पद पर स्थानापन्न रूप में नियुक्त होने से पूर्व वह भोपाल में राजनीतिक अभिकर्ता (पोलिटिकल एजेंट) बनकर भी रहे थे।

मध्यवर्ती भारतीय अभिकरण के निरीक्षण में छः भारत रियासतें थीं। ग्वालियर इन्दौर, धार और देवास मराठा राजाओं द्वारा शासित थीं और किसी समय ये उस साम्राज्य का अंग थीं जिस पर पेशवा का आधिपत्य था। धार और देवास छोटी-छोटी अमलदारियां थीं जिन्होंने शक्तिशाली पड़ोसियों—ग्वालियर और इन्दौर के समान राजनीतिक महत्व का कभी उपभोग नहीं किया। भोपाल और जावरा मुस्लिम रियासतें थीं, जिनमें से प्रथम ने ब्रिटिश सर्वोच्च सत्ता के स्थापित होने से पूर्व मराठों के नेतृत्व को स्वीकार किया था और द्वितीय एक मराठा जागीर थी जो एक मुस्लिम साहसी वीर को दी गई थी।

इन्दौर में जब ग़दर शुरू हुआ तो तुकोजीराव द्वितीय इक्कीस वर्ष का था। ग्वालियर सैनिक टुकड़ी ने जून के दूसरे सप्ताह में विद्रोह कर दिया, परन्तु इन्दौर में पहली जुलाई तक कोई उपद्रव नहीं हुआ। मैकफ़र्सन और जयाजी राव सिन्धिया में पूरा मेलजोल था, परन्तु ड्यूरेण्ड और तुकोजी राव के सम्बन्ध अच्छे न थे। सर राबर्ट हैमिल्टन,

---

१२. शावर्स उद्धृत ग्रंथ, पृ० ८६-६३

१३. वही, पृ० ६६

जिसके प्रति तरुण होलकर अपनी गद्दी के लिए ऋणी था, स्वतन्त्र मताभिव्यक्ति को न केवल सहन करता था, बल्कि उसे उत्साहित करता था। सर हेनरी ड्यूरेण्ड के दरबार सम्बन्धी शिष्टाचार के विचार भिन्न प्रकार के थे और खुले दरबार में शासक या उसके परामर्शदाताओं द्वारा सर्वोच्च सरकार की ईमानदार समालोचना को भी वह बुरी आदत और असहनीय धृष्टता समझता था।[१४] इसलिए गवर्नर-जनरल के एजेंट और इन्दौर के भारतीय शासक के बीच उस सहानुभूति और एक दूसरे को समझने की शक्ति का दुःखजनक अभाव था, जिसकी उस विषम परिस्थिति में आवश्यकता थी। इन्दौर से करीब १३ मील दूर महू में अंग्रेजी सैनिक तैनात थे। दुर्ग-सेना में देशी तत्वों का विस्तृत रूप से बाहुल्य था, परन्तु यूरोपीय तोपखाने का एक सैनिक समूह भी वहां था, जो भारतीय सैनिकों को अपने नियंत्रण में रख सकता था। होलकर के पास सब प्रकार के हथियारों से युक्त ७५०० सैनिकों की सेना थी, परन्तु न तो यह उसकी राजधानी में केन्द्रित थी और न उसकी दक्षता और वफादारी में होलकर का विश्वास था। दूसरी ओर ड्यूरेण्ड ऐसा कोई काम करने को तैयार नहीं था जिससे नगर या छावनी में भय फैले। परन्तु साथ ही वह महू में स्थित भारतीय सेना की स्वामिभक्ति पर भी पूरी तरह निर्भर नहीं रह सकता था। वह जानता था कि सेना का एक दस्ता कर्नल वुडबर्न की अधीनता में मध्यवर्ती भारत की ओर जा रहा था। परन्तु भारतीय सैन्य दल यूरोपीयों की ओर भय और संशय की दृष्टि से देखने लगे थे। ड्यूरेण्ड अपनी समस्या के मनोवैज्ञानिक पक्षों के प्रति सजग थे, जैसा कि अक्सर उनके सहयोगी नहीं थे। १३ जून को ड्यूरेण्ड ने लिखा, "मेरा विचार है कि तेइसवीं देशी पैदल सेना पहली घुड़सवार सेना की अपेक्षा अधिक शान्ति से रहने को तैयार है। पहली घुड़सवार सेना के सिपाहियों के बारे में कहा जाता हैं कि वे पैदल सेना को उलाहना दे देकर विद्रोह के लिए उत्तेजित कर रहे हैं। फिर भी ये दोनों सैन्य दल यूरोपीय बन्दूकधारियों से भयभीत हैं और यहां जो बन्दूकें और सैन्य दल हैं, उनसे भी। उन्हें बम्बई से आने वाले सेना के दस्ते का भी भय है। और उन्हें सन्देह है कि वह उन्हें सजा देने के उद्देश्य से ही यहां आ रहा है। अधिकारी लोग उन्हें विश्वास दिलाने का प्रयत्न कर रहे हैं कि यदि वे शान्त और संयत बने रहेंगे तो उन्हें किसी चीज का भय करने की आवश्यकता नहीं है। यदि महू के सैन्य-दल उपद्रव कर बैठें हों तो उसका कारण यह भी होगा कि उनमें इस प्रकार की शंकाएं फैलाई गई हैं कि संदिग्ध सैन्य दलों के विरुद्ध कड़ी कार्यवाही की जाएगी। दिल्ली पर अधिकार करना हमारे लिए

---

१४. के कहता है कि ड्यूरेण्ड कभी भी "तरुण महाराजा के प्रति वैयक्तिक कृपालुता की कोई भावना नहीं रखता था। महाराजा के प्रति उसका व्यवहार उदासीनता का था जिसके उत्तर में महाराजा ने भी उसके प्रति उदासीनता दिखाई।" फ़ारेस्ट प्रतिशोधात्मक उत्तर देते हुए कहता है, "ड्यूरेण्ड से कम उग्र स्वभाव का भी कोई ब्रिटिश रेज़िडेंट यह सहन नहीं करता कि उसकी सरकार के, जिसका वह प्रतिनिधि है, विरुद्ध शिकायत उसके मुखिया लोगों के सामने किसी देशी शासक के द्वारा की जाय।" फ़ारेस्ट, ए हिस्ट्री आफ़ दि इण्डियन म्यूटिनी, जिल्द ३, पृ० ८५

एक दुःखभरी आवश्यकता है, क्योंकि इससे सरदार लोग और जनता शांत हो जाएगी और विद्रोह की वह भावना भी जो अन्दर ही अन्दर सुलग रही है, शान्त हो जायगी।"[१५] पर दिल्ली का पतन नहीं हुआ और वुडबर्न नहीं आया। उसे निज़ाम के राज्य में औरंगाबाद में रुकना पड़ा।

महू के संदिग्ध सैन्य दलों के द्वारा नहीं, बल्कि होलकर की सेना के द्वारा पहली जुलाई को रेज़िडेंट के भवन पर आक्रमण किया गया। होलकर की अश्व-सेना का एक अधिकारी सादत खां[१६] तेज़ी से घोड़ा दौड़ाता हुआ रेज़िडेंट-भवन की रक्षा में नियुक्त बन्दूकधारी सिपाहियों के पास आया और उसने घोषणा की कि महाराज की आज्ञा है कि साहब लोग मार दिए जाएं। उन्होंने एक दम रेज़िडेंट-भवन पर गोलाबारी शुरू कर दी। ड्यूरेण्ड ने मालवा भील सैनिक टुकड़ी के करीब ३०० आदमियों और भोपाल सैनिक टुकड़ी के पुलिस-दल के सिपाहियों के दो दलों की मांग की थी। भोपाल सैनिक टुकड़ी ने अपनी बन्दूकों की नलियों को अपने अधिकारियों की ओर मोड़ दिया। भील लोगों के ऊंची जाति के सिपाहियों के साथ कोई जातीय या धार्मिक सम्बन्ध नहीं थे, अतः उनसे आशा की जाती थी कि वे मेयरों के समान दृढ़ रह कर अपने स्वामियों की सहायता करेंगे, परन्तु इस विषमावस्था में वे खरे नहीं उतरे। महिदपुर सैनिक टुकड़ी भी रोष-भरी उदासीनता के साथ अलग खड़ी रही। वास्तव में यूरोपीय तोपखाने के लिए एक सन्देश महू भेज दिया गया था, परन्तु अब होलकर की घुड़सवार सेना बन्दूकधारी सिपाहियों की सहायता के लिए आ रही थी। एक शीघ्र निर्णय की आवश्यकता थी। रेज़िडेंट-भवन छोड़ दिया गया। कैप्टन हंगरफोर्ड अपने तोपखाने के साथ यथा शीघ्र महू से रवाना हो चुका था, परन्तु जब वह इन्दौर के आधे मार्ग में ही था, उसे रेज़िडेंट-भवन के खाली किये जाने का पता लगा और वह वापस लौट गया। ड्यूरेण्ड को यह आशा नहीं थी कि वह दोपहर तक आ जाएगा और तब तक डटे रहने की उसकी शक्ति नहीं थी, परन्तु उसे स्त्रियों और बच्चों का भी विचार करना था। ट्रैवर्स ने कहा है कि "यद्यपि वह रेज़िडेंट-भवन को कुछ घण्टे और सम्हाल सकता था, फिर भी हम बेचारी असहाय स्त्रियों और बच्चों को निकालने में असमर्थ ही रहते।"[१७] ड्यूरेण्ड महू जा सकता था और हंगरफोर्ड के साथ लौट कर आ सकता था, परन्तु उसे होलकर की स्वामिभक्ति में सन्देह था क्योंकि उनके सैन्य दलों ने आभासित रूप से उसके आदेशों के अनुसार ही रेज़िडेंट-भवन पर आक्रमण किया था। यात्रा का प्रथम भाग भय से भरा था और इस खबर को उठाना बुद्धिमानी नहीं समझी गई। सिक्खों ने और भोपाल के सिपाहियों ने शरण-स्थान के लिए सीहोर का सुझाव दिया। इसलिए होलकर के अधिकार-क्षेत्र से बाहर ड्यूरेण्ड सिहोर चला गया।

परन्तु इसमें होलकर का दोष नहीं था। उसने साफ तौर पर ड्यूरेण्ड को चेतावनी

---

१५. फ़ारेस्ट, ए हिस्ट्री आफ़ दि इण्डियन म्युटिनी, जिल्द ३, पृ० ९२

१६. उसके पिता ने भी इन्दौर सेना में नौकरी की थी।

१७. फ़ारेस्ट, ए हिस्ट्री आफ़ दि इण्डियन म्यूटिनी, जिल्द ३, पृ० ९८

दे दी थी कि उसके अपने सिपाही, देशी सैनिक टुकड़ियों से अधिक भरोसा करने योग्य नहीं थे। एक वही ऐसा राजा नहीं था जिसका अपनी सेना पर अधिकार न हो और अपनी रियासत की हथियारबन्द सेनाओं के सम्बन्ध में वह उतना ही असहाय था जितना गवर्नर-जनरल का एजेंट।[१८] मालवा के मराठा शासक वस्तुतः बाहरी आदमी थे जो केवल अपनी जीत के अधिकार के बल पर शासन करते थे। इसलिए वे स्थानीय जनता की स्वामिभक्ति पर सदा निर्भर नहीं रह सकते थे। होलकर के बारे में इसलिए सन्देह था कि सादत खां रेजिडेंट-भवन पर आक्रमण के बाद अपने खून से लथपथ कपड़ों को पहने हुए सीधे दरबार में गया था और प्रातःकाल हुए काण्ड में अपने कार्य की उसने डींग हांकी थी। परन्तु होलकर बिना अपने आप को खतरे में डाले उसे गिरफ्तार नहीं कर सकता था और फिर उसे अपने महल की स्त्रियों के बारे में भी सोचना था। वह अपने इरादों को छिपाकर रखने का दोषी था और क्या सिंधिया भी समय के अनुसार नहीं चल रहा था जब कि उसने विद्रोही सैनिक टुकड़ी को अपनी सेवा में रख लिया? किन्तु एक मामले में राजा और राजनीतिक अधिकारी साथ-साथ मिल कर कार्य कर रहे थे तो दूसरे में राजनीतिक अधिकारी राजा में विश्वास नहीं कर रहा था। दोनों में ही विद्रोहियों ने निर्दयता पूर्वक अंग्रेज़ों का खून बहाया।

इन्दौर में उपद्रव होने के कुछ थोड़े घंटों बाद ही महू में उपद्रव शुरू हो गये। प्रातःकाल पैदल और घुड़सवार सेना ने अपने अधिकारियों के आदेश का पालन करते हुए इन्दौर की सड़क पर अपनी स्थिति जमा ली ताकि उधर से कोई आक्रमण हो तो सामना कर सकें। उन्होंने कुछ बन्दूकधारी सिपाहियों को मार कर होलकर की दो तोपों को अपने अधिकार में कर लिया, जो शहर की ओर ले जाई जा रही थीं। बाहरी तौर पर इसे ही महू के ग़दर का बहाना बना लिया गया। समादेशक अधिकारी कर्नल प्लाट्स ने अपने आदमियों को युक्तियां देकर समझाना शुरू किया, परन्तु उसे गोली मार दी गई। दो दूसरे अधिकारियों का भी यही हाल हुआ। परन्तु कैप्टन हंगरफोर्ड अपने तोपखाने के बल से किले को अपने अधिकार में रखे रहे। दूसरे दिन विद्रोही महू से इन्दौर चले गये और फिर शीघ्र ग्वालियर के मार्ग पर चल पड़े। ग्वालियर से वे धौलपुर गये। यदि सादत खां का विश्वास किया जाय तो ग्वालियर में शहज़ादा फ़ीरोज़ शाह ने, जो वहां धौलपुर से आया था, उससे कमान ले ली।[१९] इन्दौर के विद्रोही ग्वालियर की सैनिक टुकड़ी को इस बात के मनवाने में असफल रहे कि वे आगरा के विरुद्ध अभियान में उनके साथ मिल जाएं। मिट्टी के घड़ों को उल्टा कर बनाये गये अपरिष्कृत वाहनों से उन्होंने चम्बल नदी को पार किया और एक काफी लम्बे समय तक वे धौलपुर में ठहरे। जब वे आगरा पहुंचे तो उन्हें पता लगा कि दिल्ली से आये हुए ग्रेटहेड की सेना के दस्ते वहां उनके लिए पहले से ही मौजूद हैं।

---

१८. यह ध्यान में रखना चाहिए कि टोंक, कोटा, ग्वालियर, भोपाल और भरतपुर के सैन्य दलों ने विद्रोह कर दिया था, परन्तु वहां के शासक पक्के स्वामिभक्त बने रहे।

१९. सादत खां के मुकदमे की कार्यवाही, इन्दौर रेज़िडेंसी, संख्याएं १७७-२३३, १० सितम्बर, १८७४ देखिए।

इसी बीच हंगरफोर्ड ने अपने को उत्तरदायित्व की एक ऐसी स्थिति में पाया जो उसके पद से सर्वथा ऊंची थी। गवर्नर-जनरल का एजेंट जा चुका था। होलकर की राजभक्ति में सन्देह किया जा रहा था। उसने राजनीतिक सत्ता अपने हाथ में ले ली और एक ओर होलकर से और दूसरी ओर बम्बई सरकार से पत्र-व्यवहार शुरू किया। वह होलकर के रुख के सम्बन्ध में निश्चय कर लेना चाहता था ताकि परिस्थिति की मांग के अनुसार वह उचित कार्य कर सके। केन्द्रीय अधिकारियों के निर्देश के बिना उसने जो सत्ता अपने हाथ में ले ली थी, उसकी कानूनी स्वीकृति बम्बई सरकार दे सकती थी। होलकर से उसने एक सीधी सीधी जांच पड़ताल की। उसने सुना था कि राजा ने विद्रोहियों को हथियारों, युद्ध-सामग्री और खाद्य-सामग्री से सहायता दी है। उसने लिखा, "ये खबरें सम्भवतः अतिशयोक्तिपूर्ण हैं। मैं इनमें विश्वास नहीं करता। आप पर अंग्रेज लोगों का इतना अधिक ऋण है और उनके प्रति शत्रुता दिखाकर आप इतना अधिक बरबाद हो सकते हैं कि मैं यह विश्वास नहीं करता कि आप अपने स्वार्थों के प्रति इतने अन्धे हो जाएंगे कि अंग्रेज सरकार के शत्रुओं को सहायता दें या उनके साथ मित्रता दिखायें। इसलिए मुझे स्वयं आपसे जानना है कि आपकी इच्छाएं क्या हैं।"[२०] होलकर ने अपने प्रधान मन्त्री और कोषाध्यक्ष को अपने उत्तर के साथ भेजा और इन्दौर के विद्रोह का उसका लेखा परिशीलन के योग्य है। "दुनिया में मुझ से अधिक और कोई उस हृदय-द्रावक विपत्ति के सम्बन्ध में खेद नहीं कर सकता जो इन्दौर और महू में पड़ी। इस महीने की पहली तारीख को प्रातः मेरे सैन्य दलों ने, सम्भवतः महू के विद्रोहियों के प्रभाव में आकर खुला विद्रोह कर दिया और वही बन्दूकें और सेना के वर्ग जो रेजिडेंट-भवन की रक्षा करने के लिए भेजे गये थे, किसी से साधारण झगड़ा होने पर शीघ्र रेजिडेंट के भवन पर गोलाबारी करने लगे। जो नुकसान हुआ वह बहुत अधिक था और बहुत सी जानें गईं। किसी भी सैनिक टुकड़ी ने अंग्रेज अधिकारियों की सहायता नहीं की, परन्तु यह एक खुशी का समाचार है कि कर्नल ड्यूरेण्ड, मि० शेक्सपियर व उनका परिवार और दूसरे लोग सुरक्षापूर्वक बाहर चले गये। बदमाश लोगों ने फिर सम्पूर्ण रेजिडेंट-भवन को लूटा। दूसरे दिन प्रातः महू के सैन्य दल इसी प्रकार के पाशविक कृत्य करने के बाद यहां आये और सम्पूर्ण नगर भयभीत हो गया। मेरे सैन्य दलों का अधिकतर भाग खुले रूप से विद्रोह कर बैठा और जो बचे हुए आदमी थे, उन पर भी विश्वास नहीं किया जा सकता था। मुसलमानों ने 'दीन' का झण्डा ऊंचा किया और पूर्ण अव्यवस्था फैल गई। इन दुःखपूर्ण परिस्थितियों में ग़दर करने वालों ने अपनी शर्तें जबर्दस्ती मनवाईं। उन्होंने न केवल कुछ यूरोपीय लोगों के सिरों की मांग की जिन्हें मैंने अपने महल में छिपा रखा था बल्कि दरबार के कुछ थोड़े से अधिकारियों की भी, जिन्हें ब्रिटिश स्वार्थों के पक्ष में समझा जाता था। यदि मैं बाहर न आया तो उन्होंने सब को लूटने और नष्ट करने की तैयारी की। मेरे पास इसके सिवा और कोई विकल्प नहीं था कि मैं उन्हें स्वयं अपना शरीर अर्पित कर देता, परन्तु मैंने निश्चय किया कि अपने स्वयं के मारे जाने से पूर्व मैं यूरोपीयों को छूने नहीं दूंगा। अंग्रेजी खजाने को लूटने के

२०. फ़ारेस्ट, ए हिस्ट्री आफ़ दि इण्डियन म्यूटिनी, जिल्द ३, पृ० १०६

बाद और शहर से गाड़ी को लेकर तथा उन सब बन्दूकों को अपने साथ लेकर जो ग़दर की अवस्था में उनके हाथ लगी थीं, इस स्थान के तथा मह्रू के सब विद्रोही एक साथ गत रात देवास की ओर अभियान कर गये हैं। कहानी बहुत वेदनापूर्ण है और इस पत्र के वाहक राव रामचन्द्र और बख्शी खुमान सिंह इसे विस्तृत रूप से आपके सामने वर्णन करेंगे। मैं स्वप्न में भी अंग्रेज़ी सरकार की मित्रता और अधीनता के मार्ग से भ्रष्ट नहीं हुआ हूं। मैं जानता हूं कि संशय करने से पूर्व उनके न्याय और सम्मान की भावना उन्हें एक क्षण के लिए भी एक ऐसे मित्रतापूर्ण सरदार के प्रति संशय करने से रोकेगी जो अपने प्रति किये गए उनके उपकारों से भली प्रकार अवगत हैं और जो उनके लिए कोई भी चीज करने को तैयार हैं। इस संसार में ऐसी अनेक विपत्तियां आती हैं जिन पर कोई बस नहीं चलता और अभी जो घटना घटी है इसी प्रकार की है।"[२१]

हंगरफोर्ड इस बात से सन्तुष्ट हुआ कि होलकर अपनी स्वामिभक्ति को सिद्ध करने के लिए व्यग्र है और उसने सरकार को प्रतिवेदन दिया, "देश पूर्णतः शान्त है। इन्दौर का महाराजा सरकार के प्रति अपनी मित्रता और स्वामिभक्ति को सिद्ध करने के लिए व्यग्र है।...महाराजा के सहायकों ने समझ लिया है कि उन्होंने पहले होलकर को जो अंग्रेजों का शत्रु समझ लिया था, वह उनकी गलती थी और इसलिए अब उन्होंने अपने जिलों में सब प्रकार की अव्यवस्था को दबा दिया है और व्यवस्था स्थापित करने में सहायता देने को तैयार हैं। केवल महाराजा के कुछ सैन्य दल बुरी भावना दिखा रहे हैं और अब भी ग़दर और विद्रोह की प्रवृत्ति के हैं, परन्तु मैं समझता हूं कि उन्हें आगे अत्याचार करने से रोक दिया जायगा और यूरोपीय सैन्य दलों के आने पर महाराजा शीघ्र उनसे हथियार रखवा लेगा और उन्हें सजा देगा।"[२२] हंगरफोर्ड ने बिना अधिकार के जो राजनीतिक दायित्व संभाल लिया था, उसे ड्यूरेण्ड ने पसन्द नहीं किया, परन्तु बम्बई के गवर्नर लार्ड एल्फिस्टन का समर्थन उसे प्राप्त था, जिसने यह विश्वास प्रकट किया कि सामान्य समयों के लिए निर्धारित उपचारों में समय नष्ट न करके हंगरफोर्ड ने न्याय संगत कार्य किया था।

इस अफवाह से कि होलकर ग़दर करने वालों में शामिल हो गया है, इन्दौर से बाहर अव्यवस्था फैल गई। अमझेरा के राजा ने भोपावर नामक छोटे कस्बे पर आक्रमण कर दिया। इस स्थान पर कुछ थोड़े से अंग्रेज़ थे जिन्हें थोड़े से भीलों पर निर्भर रहना पड़ा। परन्तु इन्दौर की तरह यहां भी भील लड़ने के लिए तैयार नहीं थे और केवल बीस को छोड़कर शेष सब रात के अन्धकार में बाहर खिसक गए थे। भगोड़े लोगों ने झाबुआ के नाबालिग राजा के यहां शरण ली, परन्तु यहां राजा के अरब सैन्य दलों ने इनकी मृत्यु की मांग की। फिर भी राजा ने अपने विश्वस्त राजपूत आश्रितों की रक्षा में उन्हें रखने की पहले से ही सावधानी बरती। इस असुरक्षित स्थिति से इस दल को अन्त में होलकर के द्वारा भेजे गए घुड़सवारों ने बचाया।

---

२१. फ़ारेस्ट, ए हिस्ट्री आफ़ दि इण्डियन म्यूटिनी, जिल्द ३, पृ० ११०-११

२२. वही, जिल्द ३, पृ० ११५-१६

इसी समय ड्यूरेण्ड लड़ाई के लिए बार बार तिलमिला रहा था। उसने वुडबर्न से मालवा पर अभियान करने के लिए अनुरोध किया। उसने भारत सरकार को समझाया कि नर्मदा-पंक्ति को घेरा डालने वाली रेखा के रूप में रखने की अत्यन्त आवश्यकता है। इससे विद्रोह की बीमारी का संक्रमण दक्षिण में नहीं फैल सकेगा। नागपुर के कमिश्नर के स्पष्ट आदेश विपरीत होते हुए भी उसने सैनिक अधिकारियों को अपने अपने स्थानों पर बने रहने के लिए अधिकार दे दिया। जनरल वुडबर्न ने अन्त में अस्वस्थता के कारण त्याग-पत्र दे दिया और बम्बई सेना का दस्ता ब्रिगेडियर स्टुअर्ट की अधीनता में असीरगढ़ होता हुआ महू के लिए चल दिया। अभियान १२ जुलाई को शुरू हुआ और २२ तारीख को सेना ने असीरगढ़ के निकट पड़ाव डाला और वहीं ड्यूरेण्ड ब्रिगेडियर स्टुअर्ट से आ मिला। महू को २ अगस्त को सहायता दी गई। ड्यूरेण्ड को वर्षा ऋतु में आगे युद्ध-कार्य बन्द करना पड़ा। जब तक सन्तोषजनक रूप से यह सिद्ध न हो जाए कि होलकर का विद्रोह में कोई हाथ न था, वह उसके साथ सामान्य सम्बन्ध पुनः स्थापित करने को तैयार नहीं था।

जैसे ही ऋतु अनुकूल हुई, ड्यूरेण्ड सेना के दस्ते को लेकर धार के विरुद्ध लड़ने पहुंचा। धार एक अत्यन्त प्राचीन नगर था और इसी नाम के एक छोटे मराठा राज्य की राजधानी था। राजा अवयस्क था। उसकी सेवा में किराये पर रखे हुए अरब और अफगान सिपाहियों ने जैसे ही सुना कि इन्दौर के रेजिडेंट भवन पर आक्रमण कर दिया गया है तो वे अंग्रेज़ों के विरुद्ध विद्रोह कर बैठे। मालवा में किराये पर रखे गए विदेशी सैनिकों ने ग़दर में मुख्य भाग लिया और लो का कहना है कि अगले वर्ष सर राबर्ट हैमिल्टन ने बुन्देलखण्ड के विद्रोहियों में एक आर्मीनिया के निवासी को पाया।[२३] धार के तरुण राजा की माता और चाचा पर यह सन्देह किया गया कि उन्होंने विद्रोह को भड़काया है।[२४] धार इन्दौर से केवल ३२ मील दूर है और ड्यूरेण्ड २२ अक्तूबर को किले के सामने पहुंच गया। दुर्ग-सेना ने आत्मसमर्पण करने से इन्कार कर दिया और उस स्थान का घेरा डाल दिया गया। इससे पूर्व कि इस पर आक्रमण किया जाता रक्षक चुपचाप किले को छोड़ कर बाहर चले गए। तरुण राजा ने बाहर निकल कर गवर्नर-जनरल के एजेंट का स्वागत किया। किला नष्ट-भ्रष्ट कर धरती में मिला दिया गया और रियासत अंग्रेज़ी राज्य में मिला ली गई, परन्तु बाद में नाबालिग राजकुमार को वापस दे दी गई।

---

२३. लो, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० २२६। लो का कहना है, "वह देखने में एक अच्छा और गोरे रंग वाला तरुण व्यक्ति था और बहुत भड़कीली पोशाक पहनता था।"

२४. ब्रिगेडियर स्टुअर्ट ने जब बिना शर्त समर्पण की मांग की तो दुर्ग सेना ने जो उत्तर दिया उससे यह मालूम नहीं पड़ता कि वे राजा के स्वार्थ में युद्ध कर रहे थे। "आज सन्ध्या समय ब्रिगेडियर को किले से एक पत्र मिला जिसमें यह जानने की प्रार्थना की गई है कि किन शर्तों पर समर्पण स्वीकार किया जायगा। उत्तर में बिना शर्त समर्पण कहा गया, जिस पर उन्होंने कहा 'बहुत अच्छा, हमें कोई परवाह नहीं। तुम धार के राजा की सम्पत्ति को नष्ट कर रहे हो, हमारी नहीं। हमने अपने कुछ थोड़े से ही आदमी खोये हैं, परन्तु तोपों के गोलों से हमारे मवेशी मर रहे हैं।' इसलिए हमने घेरे को जारी रखा।" वही पृ० ७७

धार के सेना के इस दस्ते ने मन्दसौर के लिए अभियान किया, जो फ़ीरोज़ शाह का मुख्यालय था। मार्ग में जावरा के नवाब ने, जिसने अपनी रियासत में पहले गम्भीर संकट का सामना किया था, ड्यूरेण्ड का हार्दिक स्वागत किया। फ़ीरोज़ शाह के सैन्य दलों को अपने शत्रुओं का सामना करने के लिए नीमच के घेरे को उठाना था और गरोरिया में उनकी पराजय हो गई। गरोरिया पर कब्जा हो जाने से मन्दसौर में उनकी स्थिति प्रतिरक्षा के अयोग्य हो गई। शहज़ादा पहले ही इन्दौर के विद्रोहियों की कमान ग्रहण करने के लिए ग्वालियर चला गया था। १५ दिसम्बर को ड्यूरेण्ड इन्दौर वापस लौट आया। दूसरे दिन उसने अपना कार्य-प्रभार सर राबर्ट हैमिल्टन को संभाल दिया। सर ह्यू रोज़ ने उस सेना की कमान संभाली जिसका नाम अब मध्यवर्ती भारत युद्ध-क्षेत्र सेना (सैण्ट्रल इण्डिया फ़ील्ड फ़ोर्स) था।

इसी समय राजपूताना भी शान्त नहीं रहा। शासक बराबर अपने प्रभुओं के साथ थे, परन्तु सैन्य दल धर्म के प्रश्न पर उत्तेजित थे। अगस्त में अजमेर की जेल में एक छोटा-सा विद्रोह हुआ, परन्तु उसे आसानी से दबा दिया गया। इसके बाद नज़ीराबाद में बम्बई सेना के मालेदार घुड़सवार सैनिकों में हलका-सा दंगा हुआ। बम्बई सैन्य दल बंगाल के सिपाहियों से अधिक समाश्रयणीय समझे जाते थे और साधारणतः उनके द्वारा आज्ञोल्लंघन की आशंका नहीं थी। उपद्रव केवल एक सैनिक द्वारा शुरू हुआ और जब उसका पीछा किया गया तो उसने १२वीं बम्बई पैदल सेना की पंक्तियों में शरण ली। इसी महीने के तीसरे सप्ताह में जोधपुर सेना के कुछ थोड़े से आदमी, जो अन्दारा में थे एक दिन जल्दी प्रातःकाल घने कुहरे के आवरण में आबू में आ गए और वहां उन्होंने सोये हुए यूरोपीय लोगों की खिड़कियों से उन पर गोली मारना शुरू कर दिया। उनके गोली चलाने से केवल एक मृत्यु हुई। जनरल लारेंस का पुत्र जब जल्दी से कैप्टन हाल के बंगले की तरफ जा रहा था तो उसकी जांघ में गोली का घाव लगा, परन्तु वह शीघ्र अच्छा हो गया। विद्रोही लोग जब आबू के आक्रमण में विफल होगए तो वे ऐरनपुरा को मुड़े, जहां सेना का मुख्य दल छावनी डाले पड़ा था। लेफ्टिनेंट कोनोली, दो सार्जेंट और उनके परिवार बस यही यूरोपीय लोग उस समय वहां थे। कोनोली ने सिपाहियों को शान्त करने का प्रयत्न किया, परन्तु वह विफल रहा। उसने भीलों को हिन्दुओं और मुस्लिमों के विरुद्ध इकट्ठा करने का प्रयत्न किया, परन्तु भील राजभक्त होते हुए भी इतनी भारी विपरीत परिस्थितियों में लड़ने को उद्यत नहीं हुए या उनमें लड़ने की शक्ति नहीं थी। यदि रिसालदार अब्बास अली ने वीरतापूर्ण हस्तक्षेप न किया होता तो कोनोली और दूसरे यूरोपीय लोग असन्दिग्ध रूप से मार डाले गए होते। अब्बास अली ने वास्तव में यह भी प्रस्ताव रखा कि सेना के बहुत सारे सिपाहियों सहित वह विद्रोहियों का साथ छोड़ देगा बशर्ते कि उन्हें क्षमा-दान और लगातार नौकरी में रहने देने का वचन दिया जाए। परन्तु मोंक मेसन को लगा कि हथियारबंद विद्रोहियों के साथ शर्तें तय करने का उसे कोई अधिकार नहीं है।[२५] इसलिए अब्बास अली के सामने

२५. सम्भवतः यही एक मात्र कारण न था। प्रिचर्ड का तर्क है कि संभवतः एक

इसके अलावा और कोई विकल्प न था कि वह सेना के अन्य सिपाहियों के साथ अपने भाग्य का गठबन्धन करे। जोधपुर राज्य-क्षेत्र में होकर विद्रोही अजमेर की ओर बढ़े। आवा का ठाकुर अपने अधिपति जोधपुर के महाराजा के साथ एक युद्ध लड़ रहा था और महाराजा ने एक छोटी सी सेना अपने विश्वस्त अधिकारी आनन्दसिंह की अधीनता में भेजी थी। ठाकुर ने अधीनता स्वीकार करने का प्रस्ताव रखा, यदि पोलिटिकल एजेंट मोंक मेसन उसकी शर्तों को स्वीकार कर ले। यह स्वीकार किया जाता है कि जो शर्तें रखी गई थीं उनका भावनात्मक महत्व अधिक था, राजनीतिक महत्व कम और उनके स्वीकार करने से कोई उलझन नहीं पड़ती। परन्तु मोंक मेसन फिर हिचकिचाया। ठाकुर का झगड़ा महाराजा के साथ था, अंग्रेज़ी सरकार के साथ नहीं। महाराजा तब तक ठाकुर को क्षमा करने के लिए तैयार नहीं था जब तक वह अपनी ओर से स्पष्ट रूप से और बिना शर्त के अपनी भूलों को स्वीकार न करे। इसलिए पोलिटिकल एजेंट ने हस्तक्षेप करना बुद्धिमानी का काम नहीं समझा। आवा के ठाकुर ने विद्रोही सेना से समझौता करना शुरू कर दिया जो उस समय उसके पड़ोस में पहुंच चुकी थीं। ठाकुर ने उन्हें अपने किले में आने दिया। ८ सितम्बर को उन्होंने पाली में जोधपुर शिविर पर आक्रमण किया और महाराजा के सैन्य दलों को हरा दिया। आनन्द सिंह मारा गया और उसकी बन्दूकें तथा सैनिक-संग्रहागार विद्रोहियों के हाथ लगे। जनरल लारेंस को अब अनुभव हुआ कि ठाकुर और उसके नये साथियों को यदि वैसे ही छोड़ दिया गया तो प्रतिष्ठा की बड़ी हानि होगी, क्योंकि अंग्रेज़ लोग जोधपुर के पक्ष का घनिष्ठ रूप से साथ दे रहे थे। परन्तु आवा की शक्ति और परिमाण के किले को पराजित करने के लिए वह पर्याप्त सैन्य दलों को इकट्ठा नहीं कर सकता था। जो कुछ वह कर सका वह केवल किले के सामने विरोध का एक प्रदर्शन था। नकली रूप से पीछे हटकर वह दुर्ग-सेना को बाहर आने का प्रलोभन देना चाहता था, परन्तु वह उसके इस प्रलोभन में नहीं आई। इसलिए उसके सामने पीछे हटने को छोड़कर और कोई विकल्प न था और पीछे हटने का तात्पर्य साधारण लोगों की दृष्टि में पराजय था। आवा के विरुद्ध लारेंस के अभियान से एक बहुमूल्य जीवन की हानि हुई। मोंक मेसन जोधपुर से गवर्नर-जनरल के एजेंट से मिलने के उद्देश्य से आया था। वह वस्तुतः शिविर से कुछ गज़ की दूरी पर ही था जब वह एक बिगुल की आवाज से धोखा खाकर विद्रोही सैनिकों की पंक्तियों में चला गया और वहां तुरन्त मार दिया गया। जब इस बात का दूसरे दिन सबेरे पता चला[२६] तो आवा के ठाकुर ने उसके शव को अच्छी प्रकार से दफनाया। परन्तु आवा और विद्रोही सेना का मेल अल्पकालीन सिद्ध हुआ। सेना दिल्ली की ओर

बलिष्ठ हथियारबन्द दल पर विश्वास करना बुद्धिमानी नहीं थी। प्रिचर्ड, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० २२९

२६. उस समय यह कहा जाता था कि उसका सिर काट डाला गया था और आवा के दरवाजों पर उसका प्रदर्शन किया गया था। परन्तु मुकदमा चलने के समय इस आरोप का समर्थन नहीं किया गया।

अपने मार्ग पर चल दी और ठाकुर को अकेले लड़ना पड़ा। नवम्बर में जेराई ने उसे नरनूल में पूरी तरह हरा दिया। आवा के ठाकुर को अपना गढ़ जनवरी सन् १८५८ में खाली कर देना पड़ा। उसने अपने मित्रों सहित मेवाड़ में शरण ली[२७] और बाद में अंग्रेज अधिकारियों के प्रति उसने आत्मसमर्पण कर दिया। एक आयोग के द्वारा, जिसके अध्यक्ष मेजर टेलर थे, दो अभियोगों के लिए उस पर मुकदमा चलाया गया : (१) कैप्टन मोंक मेसन के मारने वालों को उसने शरण दी, और (२) अगस्त सन् १८५७ से लेकर जनवरी सन् १८५८ तक उसने अंग्रेज सरकार के विरुद्ध विद्रोहियों का नेतृत्व किया। चूंकि दिए गए साक्ष्य दण्ड का समर्थन नहीं करते थे, इसलिए उसे छोड़ दिया गया।

आवा के ठाकुर कुशलसिंह से एक अधिक उच्च पद वाले राजपूत सरदार को एक अधिक गम्भीर अपराध के लिए दोषी ठहराया गया। राजपूताना में मोंक मेसन ही विद्रोह का एक मात्र शिकार नहीं हुआ था। कोटा के पोलिटिकल एजेंट मेजर बर्टन की मृत्यु भी १५ अक्तूबर को कोटा में विद्रोहियों के हाथ हुई थी। उसके साथ उसके दो लड़के भी मारे गए थे और महाराव पर यह सन्देह किया गया था कि वह भी विद्रोहियों के साथ षड्यन्त्र में था।[२८] जून में मेजर बर्टन कोटा सैनिक टुकड़ी के साथ नीमच में सहायता देने के लिए गया था और जनरल लारेंस ने उसे अपने स्थान पर लौटने की अनुमति देना सुरक्षित नहीं समझा। इसलिए वह अपने परिवार के सहित नीमच में ठहर गया। मोंक मेसन की मृत्यु और लारेंस के आवा से पीछे हट जाने के बाद वह कोटा लौट जाना चाहता था क्योंकि उसका विचार था कि उसकी वहां उपस्थिति महाराव के लिए शक्ति का एक स्रोत होगी। परन्तु महाराव के अभिकर्ता नन्द किशोर ने वहां जाने के लिए वह समय उपयुक्त नहीं समझा क्योंकि उसने वहां के सैन्य दलों में यूरोपीय-विरोधी भावनाओं के सम्बन्ध में सुन रखा था। बर्टन ने यद्यपि यात्रा को स्थगित कर दिया परन्तु उसने कोटा लौटने का विचार नहीं छोड़ा। इसके बाद नन्द किशोर अधिक अनुकूल खबरें लाया। महाराव ने कुछ अधिक विद्रोही तत्वों को देश के भीतरी भाग में भेज दिया था और उसने सैन्य दलों के नेता से यह गम्भीर आश्वासन ले लिया कि पोलिटिकल एजेंट वापस आ सकते हैं और उन्हें कोई हानि नहीं होगी। बर्टन अपने दो पुत्रों के साथ, जिनमें से एक की आयु २१ वर्ष की थी और दूसरे की १६ वर्ष की, नीमच से चल दिया। चम्बल नदी पार करने के बाद नन्द किशोर का दिल घबराने लगा और उसने बर्टन को कुछ दिन वहां ठहरने की सलाह दी। बर्टन के पुत्र ने उसके द्वारा की गई आपत्ति को हल्का समझा और मेजर ने कहा कि यदि कोटा में उसकी आवश्यकता नहीं है तो वह बूंदी जाएगा। जब नन्द किशोर ने देखा कि बर्टन संकल्प कर चुका है तो वह भयभीत हो गया और अधिक आपत्ति नहीं की। वहां पहुंचने पर बर्टन ने देखा कि चिन्ता करने योग्य कोई बात नहीं थी। महाराव ने औपचारिक रूप से उससे भेंट की और उसने भी उनसे एक बार

---

२७. कोटारिया का सरदार उसका आतिथेय था।

२८. मेरा वर्णन जांच की कार्यवाही के विवरण पर आधारित है। फ़ारेन पोलिटिकल कन्सल्टेशन्स, संख्याएं ३२४-२७, ५ अगस्त, १८५६

और भेंट की। अपनी भेंट के समय बर्टन ने महाराव से अनुरोध किया कि कुछ विद्रोहियों को सजा देने की आवश्यकता है। मैलेसन का कहना है कि महाराव ने यह रहस्य खोल दिया और यही दुःखान्त घटना का कारण हुआ।[२९] शहर के निवासियों को आगे होने वाले विद्रोह की चेतावनी नहीं थी और वास्तविक रूप में आक्रमण होने से कुछ थोड़ी देर पहले ही एक व्यापारी अपना सामान लेकर रेजिडेंट-भवन पर गया था। मेहराब खां और लाला जयलाल के नेतृत्व में विद्रोहियों ने मि० साल्डर और मि० सैवियल को मार डाला और फिर रेजिडेंट-भवन पर धावा बोला। रक्षा के लिए तैनात एडजुटेंट ने महाराव को महल से बाहर जाने से रोक दिया और देवीलाल नामक एक आदमी को सैन्य दलों को यह समझाने के लिए भेजा कि वे पोलिटिकल एजेंट से छेड़छाड़ न करें। देवीलाल का उद्देश्य पूरा नहीं हुआ और कुछ विद्रोहियों ने उसे मार डाला। बर्टन और उसके दो पुत्र जब तक हो सका लड़ते रहे। उनकी रक्षा करने वाला कोई नहीं था, अन्त में वे मार डाले गए। जयलाल ने एक दम कोटा की सत्ता को अनधिकृत रूप से अपने हाथ में ले लिया और महाराव को एक कागज पर हस्ताक्षर करने के लिए बाध्य किया, जिसमें उसने जो कुछ हुआ था उसका दोष अपने पर लेना स्वीकार किया। लारेंस उस समय विवश था और वह कोटा पर आक्रमण नहीं कर सका। परन्तु मार्च सन् १८५८ में जब बम्बई से और अधिक फौजें मेजर जनरल एच० जी० राबर्ट्स की अधीनता में आई तो उसने कोटा के विरुद्ध अभियान किया। इस समय तक महाराव ने अपनी सेना के शेष राजभक्त सैनिकों से तथा करौली के राजा के द्वारा भेजी गई एक फौज की सहायता से अपने महल के आसपास के क्षेत्र से तथा अपनी राजधानी के कुछ भाग से विद्रोहियों को साफ कर दिया था। शहर का शेष भाग तब तक विद्रोहियों के हाथ में रहा जब तक कि ३० मार्च को किले को नहीं ले लिया गया। अंग्रेजी सैन्य दल तब तक नीमच नहीं गए जब तक कि महाराव की सत्ता पूरी तरह पुनः संस्थापित नहीं हो गई।

नीमच हमें ३ जून के विद्रोह की स्मृति दिलाता है। अपने अधिकारियों के जाने के बाद विद्रोही लोग देर तक नहीं ठहरे। दिल्ली उन्हें बुला रही थी, परन्तु राजधानी के मार्ग में उन्होंने आगरा जाने का निश्चय किया। आगरा उत्तर-पश्चिमी प्रान्त के लेफ्टिनेंट-गवर्नर का मुख्यालय था। लेफ्टिनेंट-गवर्नर मि० कालविन एक लम्बे अनुभव का असैनिक अधिकारी था। वह लार्ड आकलैण्ड का विश्वस्त परामर्शदाता था, अतः कुछ समालोचकों ने उसे अफगान-युद्ध और उससे सम्बद्ध दुर्घटना के लिए उत्तरदायी ठहराया है। मेरठ की खबर उसके लिए एक आश्चर्य थी, परन्तु उसने एक युद्ध-परिषद बुलाई। लेफ्टिनेंट गवर्नर ने स्वयं प्रस्ताव रखा कि ईसाई जनता को किले में भेज दिया जाए, परन्तु आगरा में तीव्र मतभेद था और शीघ्र ही यह स्पष्ट हो गया कि लेफ्टिनेंट गवर्नर में वह दृढ़ संकल्प और स्फूर्ति नहीं है, जिससे वह अपने तीव्र मतभेद रखने वाले सहयोगियों को अपने अधिकार में रख सके। उसने पहला निश्चय मि० डरमण्ड से प्रभावित होकर किया। उसका

---

२९. मैलेसन, उद्धृत ग्रन्थ, जिल्द २, पृ० ५६६। परन्तु इसे प्रमाणित नहीं किया जा सका।

मत था कि शान्ति और सुव्यवस्था पुलिस-दल द्वारा बनाई रखी जा सकती है। इसके अनुसार पुलिस की शक्ति नए रंगरूटों की भर्ती कर बढ़ाई गई, परन्तु दूसरे लोगों का इनकी राजभक्ति में बिल्कुल विश्वास नहीं था। ग़दर को एक विशुद्ध मुस्लिम आन्दोलन समझा गया और कालविन ने दिल्ली के मुस्लिम वंश के परम्परागत शत्रु ग्वालियर रियासत के मराठा सैन्य दलों और भरतपुर रियासत के जाटों को सेना में रखकर हिन्दू-मुस्लिम मतभेद का लाभ उठाने का निश्चय किया। दोनों रियासतों के राजाओं ने अपनी इच्छा से लेफ्टिनेंट-गवर्नर की इस मांग का अनुकूल उत्तर दिया, परन्तु भरतपुर के सैन्य दलों के पास अच्छे हथियार नहीं थे और वे एक अनुशासनहीन भीड़ जैसे लगते थे।[30] सिंधिया के आदमियों की राजभक्ति स्वयं उसके कथन के अनुसार संशय से परे नहीं थी। लेफ्टिनेंट गवर्नर ने इसके बाद यूरोपीय और भारतीय सैन्य दलों की एक बड़ी परेड की। यह काफी आश्चर्यजनक है कि यूरोपीय लोगों को भारतीय सैन्य दलों पर अविश्वास न करने की सलाह देते हुए उसने दिल्ली में कुमारी जेनिंग्स की हत्या का उल्लेख किया।[31] उसने एक हिन्दुस्तानी भाषण में सिपाहियों को आश्वासन दिया कि उसे उनकी स्वामिभक्ति में पूर्णतम विश्वास है। परन्तु जब उसने कहा कि यदि किसी को कोई शिकायत हो या कोई सेना को छोड़ना चाहता हो तो आगे आए, तो सिपाहियों ने एक जोर की चिल्लाहट दी परन्तु सामने कोई नहीं आया। कुछ थोड़े दिन तक कुछ भी असामान्य या असाधारण घटना नहीं घटी। कचहरियां मुकदमेबाजों से भरी हुई थीं, स्कूलों में उपस्थिति सामान्य थी और सदा की भांति दैनिक चर्चा चल रही थी।

भय का प्रथम स्वर समीप के अलीगढ़ से आया। मेरठ में सैपर्स और माइनर्स पर किस प्रकार आक्रमण किया गया था, इसकी कहानी अलीगढ़ में पहुंची, परन्तु सिपाहियों ने अशान्ति के कोई लक्षण नहीं दिखाए। एक ब्राह्मण ने दो सिपाहियों के सामने राजद्रोह के प्रस्ताव रखे। उसे गिरफ्तार कर लिया गया और सैनिक न्यायालय ने उसे मृत्यु की सजा दी, परन्तु उसके फांसी होने से विद्रोह की छिपी हुई भावनाएं फूट पड़ीं और बाहर आ गईं। "देखो हमारे धर्म के एक शहीद को", ऐसा कह कर एक सिपाही अपने साथियों का आह्वान करने लगा और खान में विस्फोट हो गया। एक भी ईसाई की जान नहीं ली गई

३०. भरतपुर के जो सैन्य दल मथुरा में छोड़े गए, उनके सम्बन्ध में मार्क थार्नहिल कहता है, "मैंने इसे केवल शर्मीले ग्रामीणों का एक झुण्ड-सा पाया। किसी आदमी पर गण-वेश नहीं था, केवल थोड़े से लोगों के पास गोली मारने वाले हथियार थे और यह गोली मारने वाले हथियार भी अत्यन्त साधारण प्रकार की पुरानी चाल की टोपीदार बारूदी बन्दूकें थीं। उनकी बारूद में नमी थी और वह फटती नहीं थी। उनकी गोलियां हमारी ही बन्दूकों के पुराने टूटे हुए छर्रे थे, जो उनके लक्ष्य स्थानों से खोदकर निकाल लिए गए थे। थार्नहिल उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ८१

३१. उसने कहा, "दिल्ली के धूर्तों ने एक पादरी की पुत्री को मार दिया है। यदि तुम्हें उनका सामना युद्ध-क्षेत्र में करना पड़े तो तुम इस बात को नहीं भूलोगे।" मैलेसन उद्धृत ग्रन्थ, जिल्द १, पृ० १५०

परन्तु अंग्रेजी सत्ता एक दम धराशायी हो गई। पुरुष, स्त्री और बच्चों ने भाग कर जान बचानी चाही और आगरा पहुंचने वाले भगोड़ों में लेडी ऊटरम भी थीं। अलीगढ़ में उपद्रव प्रारम्भ होने के बाद मैनपुरी और इटावा में भी उपद्रव हुए। मैनपुरी के राजा तेजसिंह[३२] की बन्दोबस्त के अधिकारियों ने बड़ी हानि की थी, परन्तु उसकी सम्पत्ति के एक प्रतिद्वन्द्वी दावेदार उसके चाचा राव भवानीसिंह ने अंग्रेजों के पक्ष का समर्थन किया।

इन उपद्रवों की खबरों से आगरा में भय फैल गया और मतभेदों के कारण और भी गड़बड़ घोटाला हुआ। इस विषमावस्था में बरेली के कर्नल ट्रूप ने कालविन से यह अनुरोध किया कि भय को कम करने की बड़ी आवश्यकता है क्योंकि उसके अनुसार भय ही "उस सबका मुख्य कारण है जो इस समय देशी सेना के आदमियों में हो रहा है।" उसने बिना किसी संकोच के इसे अपना निर्विशिष्ट मत बताया कि "इस वर्तमान उत्तेजना के समय देशी सिपाही से जो कुछ भी कहा जाय या उसके लिए जो कुछ भी किया जाय उसमें उस बदले या दण्ड का कोई संकेत न किया जाय जो उन लोगों की बाट जोह रहा है, जिन्होंने सिपाही का नाम बदनाम किया है।" उसने आगे कहा, "जब तक कि यह सीधे आपकी ओर से या सरकार की ओर से (किसी बीच के अधिकारी के शब्द का कोई उपयोग न होगा) नहीं आता, तब तक इससे कोई लाभ न होगा।" ट्रूप के सुझाव के अनुसार २५ मई को कालविन ने एक घोषणा निकलवाई, "वे सिपाही जो गत उपद्रवों में सम्मिलित रहे हैं, यदि इस समय अपने घरों को जाना चाहते हैं तो अपने हथियारों को सबसे पास के सरकारी असैनिक या सैनिक स्थान में रख कर शान्तिपूर्वक जा सकते हैं। उन्हें इस प्रकार जाने की अनुमति दी जायगी और उनके साथ किसी प्रकार की छेड़छाड़ नहीं की जायगी। बहुत से स्वामिभक्त सिपाहियों ने केवल इसीलिए सरकार का प्रतिरोध किया कि वे सिपाहियों की पंक्तियों में थे और उनसे नहीं बच सकते थे और इसलिए भी कि वे वास्तविक रूप में समझते थे कि सरकार के कार्यों ने उनके धर्म और सम्मान की भावना को चोट पहुंचाई है। यह भावना पूर्णतः एक गलती थी, परन्तु फिर भी इसने मनुष्यों के मन पर प्रभाव डाला। गवर्नर-जनरल के द्वारा निकाली गई घोषणा बिलकुल स्पष्ट है और इन बातों पर सब सन्देहों को दूर कर देगी। उपद्रव में जिस भी शैतानी दिमाग के आदमी ने उत्तेजना दी होगी या जो साधारण व्यक्तियों के विरुद्ध नृशंस अत्याचारों के अपराधी माने जाएंगे, उन सब को दण्ड दिया जाएगा। इस घोषणा के बाद जो लोग सरकार के विरुद्ध हथियार उठाएंगे, वे सब खुले रूप में शत्रु समझे जाएंगे।"[३३] इस घोषणा का बड़ा विरोध हुआ और कटु समालोचना भी हुई और स्वयं गवर्नर-जनरल ने इसका खण्डन किया। इसके स्थान पर एक नई घोषणा निकाली गई, जिसने स्पष्ट किया कि "जिन सेनाओं ने अपने अधिकारियों या अन्य व्यक्तियों को मारा है या उन्हें घायल किया है, उन्हें बिना शर्त क्षमा प्रदान नहीं की जा सकती और इसी प्रकार उन लोगों

---

३२. वह चौहान राजपूतों का मुखिया था। सन् १८४० के बन्दोबस्त में उसके परिवार की करीब तीन-चौथाई सम्पत्ति चली गई।

३३. के, ए हिस्ट्री आफ़ दि सिपाय वार, जिल्द ३, पृ० २३०-३३

को भी जिनका सम्बन्ध निर्दय अत्याचारों से रहा है।"[३४] मथुरा और होडल से नए उपद्रवों की खबरें आईं। कालविन के परामर्शदाताओं में तीव्र मतभेद था और उसका स्वास्थ्य अत्यधिक परिश्रम के कारण गिर गया। ३१ मई को आगरा की दो देशी सेनाओं से हथियार रखवा लिए गए और अधिकतर आदमी छुट्टी लेकर घर चले गए।

लेफ्टिनेंट-गवर्नर को, जिसका शारीरिक स्वास्थ्य बिलकुल गिर चुका था, रुहेलखण्ड, मालवा और बुन्देलखण्ड में ताजा हुई दुर्घटनाओं के समाचार से और अधिक बेचैनी हुई और उसके पद सम्बन्धी दायित्वों को एक प्रशासन-परिषद् को सौंप दिया गया, तो उसी समय नीमच के सैन्य दलों के समीप आने की खबर मिली। कोटा की सैनिक टुकड़ी के विद्रोह से उन्हें नई शक्ति मिली थी। यह सैनिक टुकड़ी आगरा की दुर्ग-सेना को और अधिक बल देने के लिए आई थी। परन्तु उनकी ईमानदारी पर सन्देह किया गया और उनकी जांच करने का निश्चय किया गया। यह आदेश दिया गया कि उनकी पैदल सेना और घोड़े तो सेना के साथ विद्रोहियों के विरुद्ध अभियान में जाएंगे, परन्तु उनकी बन्दूकें सुरक्षित यूरोपीय लोगों के पास छावनी की रक्षा के लिए रहेंगी।[३५] उन्होंने अपने तोपखाने को अपने से अलग करना ठीक नहीं समझा और वे विद्रोहियों के शिविर में जा मिले। ब्रिगेडियर पोलव्हील ने पहले यह निश्चय किया था कि वह नीमच के विद्रोहियों का इन्तजार आगरा में करेगा, परन्तु बाद में उसने अपने विचार को बदल दिया और उनसे लड़ने चल दिया। शाहगंज के युद्ध का परिणाम एक पूरी पराजय हुआ परन्तु अंग्रेज़ लोगों का यह सौभाग्य था विजेताओं ने इस विजय से कोई लाभ नहीं उठाया। नीमच के आदमी आगरा में नहीं घुसे, परन्तु शहर की भीड़ ने उपद्रव किया और ईसाई जनता ने, जिसकी संख्या करीब ६ हजार थी, किले में शरण ली। एक निवासी ने कहा है कि यह एक अनेक रंगों की भीड़ थी, "जिसमें केवल ब्रिटिश द्वीपों के ही प्रत्येक भाग का प्रतिनिधित्व नहीं था, बल्कि इसमें यूरोप और अमेरिका के बहुत से भागों से अपनी इच्छा के बिना आए हुए प्रतिनिधि भी थे। गेरोन और लोयर नदियों के किनारे की ईसाई भिक्षुणियां, सिसली और रोम के पुजारी, ओहियो और बैसिल के धर्मोपदेशक, पेरिस के रस्सी पर नाच दिखाने वाले और आरमीनिया के घूम-घूम कर माल बेचने वाले छोटे सौदागर भी वहां थे। इनके अलावा

---

३४. वही जिल्द ३, पृ० २३५

३५. के, ए हिस्ट्री आफ़ दि सिपाय वार, जिल्द ३ पृ० ३८०-८१। इस सैनिक टुकड़ी पर शुरू से ही अविश्वास किया जाता था और यह मथुरा भेज दी गई। "मि० कालविन के कुछ परामर्शदाताओं ने इस सेना में ग़दर की प्रवृत्ति को समझ कर इसे दूर रखना ही अच्छा समझा। परन्तु कुछ दूसरों का इसकी राजभक्ति में विश्वास था और इसे भंग की हुई सेना के स्थान पर वहीं रखना चाहते थे।" थार्नहिल, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ११०। पुनः "उन्हें भय था कि वे आदमी ग़दर करना चाहते थे। उन्होंने एक ऐसी सावधानी बरती जिसने उनका ग़दर करना प्रायः बिलकुल निश्चित कर दिया। उन्होंने सेना को अलग होने का आदेश भेजा। तोपखाने को किसी एक स्थान पर जाने का आदेश दिया गया, घुड़सवार सेना को किसी दूसरे पर और पैदल सेना को किसी तीसरे पर।" पृ० १८५

कलकत्ता के बाबू और पारसी सौदागर थे।" पहले भारतीयों को किले से अलग रखा गया था, परन्तु बाद में जल्दी ही यह पता चला कि यूरोप और यूरेशिया के निवासी अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं नहीं कर सकते और उनकी सेवा के लिए पर्याप्त संख्या में ईसाई सेवक नहीं हैं। दो या तीन दिन के बाद नौकर वापस आए और अपने साथ धोबियों, कहारों, दर्जियों, गड़रियों, रसोइयों और मेहतरों के एक गिरोह को लाए। आगरे के किले का जीवन लखनऊ के रेजिडेंट-भवन के जीवन से बिल्कुल विभिन्न प्रकार था।

आगरे का घेरा नहीं डाला गया, परन्तु दुर्ग-सेना को पहले इसका पता नहीं था। एक बार गोली चलाने की आवाज से खतरे की चेतावनी दी गई। जब कुछ निवासी अपनी बन्दूकें लेकर उस स्थान पर पहुंचे तो उन्हें पता लगा कि कुछ अंग्रेज सिपाही तथा गए वेश पहने अन्य लोग बाड़े में होकर गोली चला रहे हैं। उनकी गोलियों का कोई प्रत्युत्तर नहीं दिया जा रहा था, क्योंकि कहीं भी कोई शत्रु था ही नहीं और वे लोग केवल अपने मनोरंजन के लिए एक गधे और गिद्धों के एक समूह की ओर निशाना लगा रहे थे। "गधा घास चरता रहा और पास में मरी पड़ी एक भेड़ के गोश्त से अपना पेट भरते हुए गिद्ध शान्ति से बैठे थे।"[३६] "सफाई का कोई प्रबन्ध नहीं था और किला सब प्रकार की गन्दगियों से भरा पड़ा था।" थार्नहिल लिखता है कि "पहले दो दिन सब कुछ विस्मय-कारी था। तीसरे दिन जब कि वस्तुस्थिति का भान हुआ, तो अधिकारियों के विरुद्ध कानाफूसी होने लगी। बाद में इस अफवाह से असन्तोष और बढ़ा कि वास्तव में वहां कोई अधिकारी है ही नहीं। पहले ये अफवाहें कानाफूसी के रूप में चलती रहीं और फिर बाद में स्पष्ट रूप से कह कर प्रकट की जाने लगीं। यह कहा जाता था कि कालविन का दिमाग जवाब दे गया है और जनरल मानसिक रूप से निर्बल हो गया है। इनमें से पहला कथन एक अतिशयोक्ति था और दूसरा बिलकुल असत्य था, परन्तु उस समय इन दोनों कथनों पर साधारणतः विश्वास किया जाता था।"[३७] नौकरों के लौट आने से खिचावट की अवस्था शान्त हुई और सिपाहियों तथा असैनिक लोगों को पता लगा कि कहीं कोई शत्रु नहीं है और वे बाहर जाने को स्वतन्त्र हैं।

शाहगंज की पराजय का मूल्य ब्रिगेडियर पोलव्हील को अपनी कमान छोड़ देने के रूप में चुकाना पड़ा और कर्नल काटन उसका उत्तराधिकारी नियुक्त हुआ। कुछ शरणार्थियों ने मुगलों के छिपे हुए खजानों के बारे में सुन रखा था और खजानों की खोज उनका मनोरंजन का मुख्य साधन बन गया। परन्तु उनका सब परिश्रम हास्यास्पद सिद्ध हुआ। तब बहुमूल्य वस्तुओं को रखने के कक्षों की खोज गुप्त मार्गों का पता लगाने के लिए हुई, परन्तु केवल मनुष्यों की हड्डियों का ढेर हाथ लगा। महल में प्रेतात्माएं भी बताई जाती थीं, परन्तु प्रेतों की खोज इतनी मनोरंजक नहीं होती जितनी उनकी कहानियां होती हैं। कुल मिलाकर किले के निवासियों का समय अच्छा गुजरा। परन्तु असैनिक और सैनिक

३६. थार्नहिल, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १६७

३७. थार्नहिल, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १७४-७५

लोगों में सहयोग नहीं था। असैनिक लोगों के विरोध करने पर भी सेना ने एक मस्जिद गिराने में अपनी मनमानी की। उन्हें एक बात का फिर भी आश्वासन था कि यदि मस्जिद जायगी तो उसके साथ सेना के अनुग्रह प्राप्त कमिसरियत के ठेकेदार, जोती प्रसाद का नया बनवाया हुआ सुन्दर भवन भी जायगा। "परन्तु अपनी इस आशा में भी उन्हें निराशा हुई। प्रारम्भिक कठिनाइयों का प्रबन्ध करने के बाद, कारीगरों का एक दल आस-पास छोड़ दिया गया। कुछ दिनों तक वे एक धूल के बादल में छिपे रहे, जिससे कभी-कभी फटने की आवाज सुनाई दे जाती थी। जब धूल हटी तो मस्जिद गायब थी, पास का स्थान भी नष्ट हो चुका था, परन्तु असैनिक अधिकारियों में रोष को उत्पन्न करने वाला जोती प्रसाद का मकान पहले जैसा ही दिखाई पड़ रहा था, ताजे रंग से चमकता हुआ, सफेद और विजयी।"[३८] परन्तु छोटी चीजों के लिए झगड़े चलते ही रहे। "असैनिक अधिकारी सेना के अधिकारियों से झगड़ते थे, जानपद सैनिक नियमित सैनिकों से और सब आपस में एक दूसरे के साथ। जैसे यह सब पर्याप्त न हों, कुछ असैनिक अधिकारियों ने बिना किसी उत्तेजना के रोमन कैथोलिक बिशप और पादरियों पर आक्रमण किया।"[३९]

अन्त में आगरा के अधिकारियों का ध्यान अधिक गम्भीर चीजों की ओर गया और उन्होंने अपनी शक्ति के प्रदर्शन का निश्चय किया। परन्तु इस अभियान ने कुछ कार्य सम्पन्न नहीं किया। यह दल हाथरस तक गया, कुछ धर्मान्ध गाजियों से लड़ा और वापस चला आया। जैसे ही सेना का दस्ता वापस आया, विद्रोहियों ने किले पर अपना अधिकार कर लिया।

९ सितम्बर को कालविन की मृत्यु हो गई। साधारण समय में उसने अपने विस्तृत अनुभव, न्याय-प्रेम और व्यक्ति के अधिकार के प्रति सम्मान की भावना से शासित लोगों का आदर प्राप्त किया होता। परन्तु ग़दर की मांग एक दृढ़तर भावना के पुरुष के लिए थी, जो वह नहीं था। कुछ हद तक उसके निर्णय न ले सकने का कारण उसकी अस्वस्थता हो सकती है। उसके पास आगरा में काफी संख्या में योग्य पुरुष थे, परन्तु वह उन्हें सहयोग पूर्वक कार्य करने में प्रवृत्त नहीं कर सका। उसकी मृत्यु के बाद दिल्ली का पतन हुआ, और यह खबर यद्यपि बड़ी प्रसन्नता भरी थी, परन्तु फिर भी उसका एक अन्धकार पूर्ण पक्ष भी था। दिल्ली से बाहर निकाले जाने पर विद्रोही मथुरा आ गए और यह निश्चित नहीं था कि वे किधर जाएंगे। इन्दौर के विद्रोही भी धौलपुर बताए जाते थे। यदि ये दोनों मिल कर आगरा पर दो ओर से आक्रमण करते तो कितनी देर तक किला रखा जा सकता था? कुछ भी हो, दिल्ली के विद्रोहियों ने यमुना को पार किया और इन्दौर के विद्रोही चलने की जल्दी में नहीं थे। परन्तु विद्रोहियों के एक दूसरे के आसपास होने से आगरे में बड़ा आतंक और गड़बड़ी फैल गई। यह मालूम हुआ था कि दिल्ली से कर्नल ग्रेटहेड की अधीनता में सेना का एक दस्ता दोआब से विद्रोहियों को साफ कर देने के लिए भेजा गया था और यह आगरा से करीब ४० मील दूर एक स्थान पर पहुंच चुका था। ग्रेटहेड के

---

३८. थार्नहिल, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० २६१

३९. वही, पृ० २६२

पास एक अत्यावश्यक प्रार्थना सहायता के लिए की गई थी और १० अक्तूबर को ग्रेटहेड ने यमुना को पार किया। आगरा की सहायता के लिए ग्रेटहेड जिन आदमियों को लाया था वे जंगली जैसे दिखाई देने वाले आदमियों का एक गिरोह मात्र थे, जो फटे-पुराने गण-वेश पहने हुए थे। जब ये लोग पंक्तिबद्ध होकर गुज़रे तो उनमें कोई भी खास बात नजर नहीं आई। "बल और शक्ति का परिचय देने के कारण तो यह दृश्य प्रभावशाली जान पड़ता था, परन्तु वैसे इसमें कोई दिखावट या चमक दमक नहीं थी। भालेवाले घुड़सवार सैनिक सादे नीले कपड़े का गणवेश पहने हुए थे और शेष, सिख और अंग्रेज दोनों, मट-मैले रंग के सूती कपड़े पहने हुए थे। भालों की लाठियां सादे प्रभूर्ज वृक्ष की बनी हुई थीं जिन पर न रंग हो रहा था, न जिनमें झंडियां लगी हुई थीं और न कोई दूसरा अलंकरण ही था। संक्षेप में, यह युद्ध की वास्तविकता थी, उनकी पोशाक का पूर्वाभ्यास नहीं।"[४०] ग्रेटहेड को बताया गया कि इन्दौर के आदमियों से तत्काल कोई खतरा नहीं था क्योंकि गुप्त वार्ता-विभाग की सूचना के अनुसार वे खारा नदी के दूसरे किनारे पर थे, परन्तु मुश्किल से तम्बू गाड़े ही गए थे कि एक तोप की आवाज ने शत्रु के आने की सूचना दे दी। विद्रोहियों ने ग्रेटहेड को आश्चर्य में डाल दिया था और ग्रेटहेड ने भी बिना जाने उन्हें आश्चर्य में डाला था, क्योंकि उनमें से कोई भी दल दूसरे की उपस्थिति से अवगत नहीं था। जब कि आगरा के आदमी यह सोचते थे कि विद्रोही मीलों दूर हैं, इन्दौर के विद्रोहियों को ग्रेटहेड के आने की कोई सूचना नहीं थी। युद्ध के परिणाम स्वरूप अंग्रेज़ों की जीत हुई परन्तु पराजित सिपाहियों का पीछा करने में कुछ देर हो गई क्योंकि वरिष्ठ अधिकारी कर्नल काटन अपने अधिकार का प्रयोग करना और कमान को लेना चाहता था। इसके बाद आगरा सुरक्षित हो गया और ग्रेटहेड कानपुर जाने के लिए स्वतन्त्र था। शहर का जीवन फिर धीरे-धीरे सामान्य स्थिति पर आ गया।

---

४०. थार्नहिल, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० २९५

अध्याय ६

पंजाब

पंजाब एक ऐसा प्रान्त था जो एक समस्या बना हुआ था। इसे सन् १८४६ में अंग्रेज़ी राज्य में मिलाया गया था और वह एक युद्ध-प्रिय लोगों का घर था। परन्तु लोग आपस में बंटे हुए थे और उनकी "ईर्ष्याभरी प्रतिद्वन्द्विता" के कारण शासकों ने अपने को सुरक्षित समझा। अंग्रेज़ी प्रशासन का उद्देश्य था, "दो वर्गों को एक दूसरे के द्वारा नियंत्रण में रखना, एक जाति को दूसरी जाति के साथ और एक मत को दूसरे मत के विपरीत सन्तुलित करते रहना।"

प्रशासन का कार्य बहुत योग्य आदमियों के द्वारा किया जाता था। वस्तुतः असैनिक सेवा के चुने हुए लोग पुराने और पूर्व के प्रान्तों से लाकर पंजाब में लगा दिए गए थे। पंजाब में पुरबिया सिपाहियों की संख्या बहुत अधिक नहीं थी। अम्बाला से लेकर मरदान तक विभिन्न सैनिक स्थानों पर ६० हजार आदमी छावनी डाले पड़े थे, जिनमें हिन्दुस्तानियों की संख्या ३६,००० थी जबकि २४,००० यूरोपीय और पंजाबी थे।[1] सिख और पुरबियों के बीच प्रेम-भाव बिल्कुल नहीं था और केव-ब्राउन का कहना है कि "पुरबिया" शब्द को जान-बूझ कर फिर प्रचलित किया गया था, "क्योंकि यह उस अपमान और घृणा को पुनर्जीवित करता था, जिसे इस वर्ग के प्रति सदा दिखाया जाता था। इसने पंजाबी और हिन्दुस्तानी के बीच की खाई को और चौड़ा कर दिया और दोनों के बीच मेल-जोल को अधिक कठिन बना दिया।"[2] गुड़गांव, रेवाड़ी और हिसार के सीमान्त के जिलों की बात यदि हम छोड़ दें तो पुरबिया सिपाही पंजाब में अपने को एक परदेश में ही नहीं बल्कि एक प्रतिपक्षी देश में अनुभव करता था। उस अनुश्रुति को भी पुनर्जीवित किया गया, जिसमें गुरु के अनुयायियों को दिल्ली की लूट का वचन दिया गया था और सिखों को यह आश्वासन दिया गया कि यह भविष्यवाणी अंग्रेज़ों के नेतृत्व में ही सच्ची सिद्ध होगी।

मेरठ और दिल्ली की खबरें लाहौर में १२ मई को प्रातः पहुंची। चीफ कमिश्नर (मुख्यायुक्त) सर जान लारेंस रावलपिण्डी में था और मरी जा रहा था। उसकी अनुपस्थिति में उसका कार्य जुडीशियल कमिश्नर (न्यायायुक्त) राबर्ट मोंटगमरी पर था। उस स्थान के मुख्य असैनिक और सैनिक अधिकारियों को अपने विश्वास में लेकर ब्रिगेडियर कोरबेट की सहमति से उसने देशी सैन्य दलों से मियां-मीर में हथियार डलवाने का निश्चय किया।

---

१. केव-ब्राउन, उद्धृत ग्रन्थ, जिल्द, १, पृ० ४१

२. वही, प्रस्तावना, पृ० १५-१६

प्रारम्भिक योजना यह थी कि पहले उनसे गोला-बारूद का सामान और उनकी अभिलाइन टोपियों को ले लिया जाय, किन्तु पुलिस के एक गैर कमिशन प्राप्त एक सिख अफसर ने एक व्यापक षड्यन्त्र की सूचना दी।[3] सूचना के स्रोतों की जांच का समय नहीं था और यही निश्चित किया गया कि भारतीय सेना से पूरी तरह हथियार डलवाकर सब खतरों को हटाया जाए। मोंटगमरी और उसके मित्रों ने अपने इस निश्चय को अत्यन्त गुप्त रखा। १२ तारीख की रात को मियां-मीर छावनी में एक नृत्य का आयोजन था, जिसे स्थगित नहीं किया गया, परन्तु प्रातः जल्दी एक परेड की गई जिसका उद्देश्य उस सामान्य आदेश को पढ़ना था, जिसके अनुसार बारकपुर की ३४वीं देशी पैदल सेना भंग कर दी गई थी। परेड की समाप्ति पर १६वीं, २६वीं और ४६वीं देशी पैदल सेना तथा आठवीं देशी घुड़सवार सेना ने अपने सामने भरी हुई बन्दूकें देखीं। उनसे यह बताया गया कि उनसे इसलिए हथियार रखवा लिए जा रहे हैं क्योंकि ब्रिगेडियर उन्हें अपने यश को बरबाद कर देने का अवसर नहीं देना चाहता। यद्यपि पहले कुछ थोड़ी झिझक अवश्य हुई, परन्तु भारतीय सैन्य दलों ने आज्ञाकारिता के साथ अपने हथियारों का ढेर लगा दिया और हथियार डालने का काम बिना किसी दुर्घटना के पूरा हो गया। केव-ब्राउन का कहना है कि "इस प्रकार केवल ६०० यूरोपीय लोगों के सामने २५०० देशी सिपाही निहत्थे कर दिए गए और वे आपेक्षिक रूप से बिना हानि के अपनी पंक्तियों में चले गए।"[४] राइस होम्स विस्मय करता हुआ कहता है, "इससे अधिक निर्णयात्मक विजय कभी प्राप्त नहीं हुई थी।"[५]

दूसरा कार्य गोबिन्दगढ़ में किया गया जिसकी कमान में अमृतसर था और जो सिखों का पवित्र नगर है। यहां भी कार्य उतनी ही आसानी और निर्णयात्मक रूप से हुआ। महामहिम सम्राज्ञी की ८१वीं सेना कैप्टन शिचेस्टर की अधीनता में लाहौर से इक्कों में १२ ता० की रात को चली और दूसरे दिन प्रातः गोबिन्दगढ़ पहुंची। सूर्योदय से पूर्व उन्हें शान्तिपूर्वक किले के अन्दर जाने दिया गया और अधिकारियों को नगर के सिखों के पवित्र स्थान होने के कारण अधिक चिन्ता नहीं उठानी पड़ी।

फीरोजपुर की स्थिति इतनी आसान नहीं थी। १०वीं देशी घुड़सवार सेना के अलावा देशी पैदल सेना की दो रेजीमेंटें ४५वीं और ५७वीं भी वहां पड़ाव डाले हुए थीं। घुड़सवार सेना की राजभक्ति के सम्बन्ध में तो कोई सन्देह नहीं था और पैदल सेना की रेजीमेंटों में ५७वीं सबसे अधिक विद्रोही समझी जाती थी। ब्रिगेड में अंग्रेजों की पैदल तोपखाने की दो कम्पनियां एक लाइट फील्ड बैटरी और दूसरी महामहिम सम्राज्ञी की ६१वीं रेजीमेंट थीं। मोंटगमरी ने फीरोजपुर के अधिकारियों को मेरठ और दिल्ली के संकट के सम्बन्ध में तथा पंजाब में हिन्दुस्तानियों के द्वारा संभाव्य विद्रोह के सम्बन्ध में चेतावनी दे दी थी। ब्रिगेडियर इनस को भी, जिसने सिर्फ दो दिन पूर्व इस सैनिक-स्थान का कार्य-भार संभाला था, संकट का निश्चय था, परन्तु सेना के समादेशक अधिकारियों को इसका कोई भान

---

३. केव-ब्राउन, उद्धृत ग्रन्थ, जिल्द १, पृ० ६३-६६

४. वही, जिल्द १, पृ० ६६

५. होम्स, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ३१५

न था। इनस ने देशी पैदल सेना की दोनों रेजीमेंटों को अलग-अलग रखने और फिर अलग-अलग उनसे हथियार डलवाने का निश्चय किया था। ५७वीं रेजीमेंट तो आज्ञानुसार शिविर-मैदान में चली गई, परन्तु ४५वीं रेजीमेंट ने अपने लिए निश्चित मैदान के लिए एक सीधा रास्ता लिया और उन्होंने यूरोपीय सिपाहियों और तोपखाने की नई हलचल को देखा, जिसके सम्बन्ध में कुछ भी जानने की उनसे आशा नहीं की जाती थी। "दग़ा है" की पुकार उठी और करीब २०० सिपाही प्राचीरों की ओर दौड़े और शेष आगे चले गए।[६] गैर-कमिशन प्राप्त सिख अफसरों ने मोंटगमरी को सूचना दी थी कि १५ तारीख को लाहौर, गोबिन्दगढ़, फीरोज़पुर, जालंधर, और कांगड़ा में एक साथ विद्रोह होगा। परन्तु फीरोजपुर में, जहां सिपाहियों को ब्रिगेडियर के इरादे का मूर्त साक्ष्य भी मिल गया था, केवल २०० आदमियों ने ग़दर किया। ५७वीं रेजीमेंट उस रात पूर्णतः शान्त रही। दूसरे दिन प्रातः लाइट कम्पनी ने बिना किसी विरोध के अपने हथियार डाल दिए और अपनी पंक्तियों में लौट गई। इसके थोड़ी देर बाद यूरोपीय सैन्य दलों के एक वर्ग की पंक्तियों को साफ करने का आदेश दिया गया, जिससे ५७वीं रेजीमेंट के शेष सिपाहियों ने सोचा कि लाइट कम्पनी को निहत्था करने के बाद उसे बन्दी बना लिया गया है और वे मैदान में भाग गए। सन्ध्या के समय समादेशक अधिकारी ने उनसे अनुरोध किया कि वे यूरोपीय पंक्तियों में चले जाएं और वहां अपने हथियार डाल दें। ४५वीं रेजीमेंट ने, १३० आदमियों को छोड़कर, सैनिक स्थान को छोड़ दिया। उनका पीछा किया गया और वे तितर-बितर कर दिए गए और वहां बन्दी बना लिए गए। कुछ को गांव वालों ने पकड़ लिया और फिर उन्हें वे सैनिक-स्थान में लाए। शेष दिल्ली चले गए जहां उन्होंने विद्रोहियों की संख्या को बढ़ाया। १०वीं देशी घुड़सवार सेना राजभक्त बनी रही।

जालंधर में ३६वीं और ६१वीं देशी पैदल सेना पर उनके क्रमशः मेरठ और लखनऊ के साथ पहले के सम्बन्ध के कारण सन्देह किया गया। जब करीब एक वर्ष पूर्व ६१वीं रेजीमेंट लखनऊ छोड़ कर चली आई थी तो वह सैनिक-स्थान विद्रोह के संक्रामण से मुक्त हो गया था, परन्तु यह भय था कि उनका सम्पर्क अब भी उनके भूतपूर्व मित्रों, बरहमपुर और बारकपुर में प्रसिद्धि प्राप्त १९वीं और ३४वीं रेजीमेंटों से बना हुआ था। परन्तु एकदम उनके विरुद्ध किसी खुले उपाय का अवलम्बन लेना बुद्धिमानी नहीं समझा गया, क्योंकि अधिकतर बाहरी सैनिक स्थानों में यूरोपीय सैन्य दल बिल्कुल नहीं थे और वे बिल्कुल सिपाहियों की कृपा पर आश्रित थे। परन्तु युद्ध नीति की दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान फिल्लौर में यूरोपीय सैन्य दलों को रख दिया गया था और कपूरथला के राजा ने जालंधर की रक्षा के लिए अपने सैन्य दलों को भेज दिया था। ब्रिगेडियर और कमिश्नर ने दो सिपाही रेजीमेंटों से हथियार डलवाने का निश्चय कर लिया था और वे केवल एक अनुकूल अवसर की प्रतीक्षा कर रहे थे। दो बार तारीख बदली गई और यह असम्भव था कि सिपाही अपने अफसरों के इरादों से बिल्कुल अनभिज्ञ रहते। ७ जून को उन्होंने अपने मालिकों का पूर्वानुमान कर विद्रोह कर दिया। फिल्लौर दुर्ग-सेना का भारतीय भाग भी

६. केव-ब्राउन, उद्धृत ग्रन्थ, जिल्द १, पृ० १०७-८

उनसे मिल गया और उन्होंने लुधियाना की ओर अभियान किया, जहां उनका कुछ प्रतिरोध हथियारों से किया गया। वे वहां अधिक देर नहीं ठहरे और दिल्ली के अपने मार्ग पर चल दिए। परन्तु शहर में उनका थोड़ी देर के लिए दिखाई पड़ना इस बात का द्योतक था कि अंग्रेज शासक पंजाबी ग्रामीणों के स्नेह पर कितना कम निर्भर रह सकते थे। "आग लगाना, हत्या, मार्ग में लूट-पाट करना, मवेशियों को उठा ले जाना और डकैती एक दम फिर शुरु हो गई। कुछ अपराधी जब पकड़ लिए जाते थे तो बड़े सीधेपन से अपने बुरे चाल-चलन का कारण बताते और अपराध स्वीकार करते हुए कहते थे कि उन्होंने तो यह समझ लिया था कि अंग्रेजी शासन समाप्त हो गया है।"[७] मैजिस्ट्रेट ने कानून तोड़ने वालों के विरुद्ध कड़ी कार्रवाई की। शहर पर एक दण्ड-कर लगा दिया गया और उसकी आबादी को निहत्था कर दिया गया क्योंकि उन्होंने अपने हथियार कानून की रक्षा में प्रयुक्त नहीं किए थे।

चौथी देशी पैदल सेना ने, जो कांगड़ा के किले में दुर्ग-सेना के रूप में थी, मांग किए जाने पर हथियारों को डाल दिया। "उनका चाल-चलन आदि से अन्त तक बहुत नियमपूर्ण था और ऊपर से वे राजभक्त दिखाई देते थे।" १५ ता० को एक साथ विद्रोह करने की कोई सामान्य अभिसन्धि सिपाहियों में हुई भी हो तो भी स्पष्टतः उसमें दृढ़ नेतृत्व का अभाव था। ये लोग उदासीन षड्यन्त्रकारी थे, जिन्होंने विद्रोह के लिए निश्चित दिन से केवल दो दिन पूर्व किसी प्रकार का सम्मिलित प्रतिरोध किए बिना अपने हथियार वापस कर दिये।

मुल्तान के कारण पर्याप्त बेचैनी थी, क्योंकि मुल्तान, सिन्ध और बम्बई को जाने वाले मार्ग का समादेशन करता था। ६० यूरोपीयों और अनियमित सेना के १००० सिपाहियों के साथ, जिनकी स्वामिभक्ति संदिग्ध थी, २००० पुरबियों से हथियार डलवाना असम्भव समझा गया। इसलिए मेजर क्राफ़ोर्ड चैम्बरलेन ने देशी अफसरों से घुल मिल कर बातें कीं और उस समय के लिए तो खतरा टल गया। परन्तु जालंधर में ७ ता० को दुबारा उपद्रव हुआ, जिसने संशय को फिर पैदा कर दिया। इसी समय विश्वसनीय पंजाबी सैन्य दलों के आने से राजभक्त तत्वों की शक्ति बढ़ गई थी और हथियार वापस ले लेने का आदेश ९ जून को आया। दो संदिग्ध रेजीमेंटों को परेडमैदान से बाहर लाया गया और उन्होंने अपने आपको एक ओर राजभक्त घुड़सवारों और दूसरी ओर यूरोपीय तोपखाने के बीच फंसे देखा। "भाग जाने का प्रयत्न करना पागलपन होता, हिचकने का अर्थ मृत्यु था।" हथियार दे देने के आदेश का पालन किया गया और इस प्रकार मुल्तान "बच गया"।

भारत-अफगान सीमान्त की दृष्टि से पेशावर का बड़ा सामरिक महत्व था। यह भाग किसी समय अफगान राज्य का एक अंग था। दोस्त मुहम्मद के हाथ से निकल कर यह रणजीत सिंह के अधिकार में आ गया था और बाद में लार्ड डलहौज़ी ने इसे शेष सिख राज्य के साथ अंग्रेजी राज्य में मिला लिया। कर्नल हर्बर्ट एडवर्ड्स अभियान-दल का प्ररक्षी था और वह एक प्रमाणित योग्यता और परिपक्व निर्णय का व्यक्ति था। उसका उत्तरदायित्व अत्यन्त कठिन था। दोस्त मुहम्मद को कूटनीति से और धन का लालच देकर अंग्रेज़ों ने अपनी ओर कर लिया था, परन्तु यह निश्चित नहीं था कि उसने अपनी हानि के साथ

---

७. होम्स, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ३३२

अन्तिम रूप से समझौता कर लिया है। ये आशंका के प्रभूत कारण थे कि अपने पुराने दावों को फिर उपस्थित कर वह अपने नए साथियों की मुसीबतों से लाभ उठाना चाहेगा। घाटी और पास की पहाड़ियां एक ऐसे युद्धप्रिय लोगों का घर थी जो जाति, भाषा और संस्कृति में अफगान लोगों के समान थे। परन्तु उनके कबीले सम्बन्धी मतभेद उनके जाति और धर्म सम्बन्धी बन्धनों से अधिक दृढ़ थे और प्रत्येक खेल या कबीला अकेला ही उन्नति या अवनति करता था। कानून और जीवन की पवित्रता का उन्हें कोई ध्यान नहीं था और सम्पत्ति उनके लिए एक अर्थहीन काल्पनिकता थी। वीरान पहाड़ियां उनके परिश्रम का कुछ फल न देती थीं और इसलिए एक स्मरणातीत काल से उन्होंने अपनी रोजी तलवार से ही कमाई है। वे लूट के, लोभ के आसानी से शिकार हो जाते थे, इसलिए सिपाही-विद्रोह को एक ईश्वर के द्वारा प्रेषित वरदान समझ कर वे उसका स्वागत कर सकते थे। उनके पूर्वजों ने सिकन्दर महान की बहादुर पैदल सेना को तंग किया था और महान मुगल सम्राट की शक्ति की अवज्ञा की थी। अवितविल के फांसी के तख्ते भी उन्हें झुका नहीं सके थे और जब कि चारों ओर संकट उत्पन्न हो रहे थे अंग्रेज़ी सेना से यह आशा नहीं की जा सकती थी कि वे इन लोगों के हृदय में कुछ अधिक भय पैदा कर सकेंगे।

एडवर्ड्स के पास करीब १३,००० सैनिक थे, जिनमें सिर्फ ३००० यूरोपीय थे।[८] शेष में से अधिकतर संख्या पुरबिया लोगों की थी परन्तु एक पुरबिया रेजीमेंट, जिसका नाम खिलात-ए-गिलजई था, पूरी तरह से विश्वसनीय थी। इसी प्रकार रक्षा-सेना-निकाय (गार्ड कोर) और सेना के पंजाबी लोगों पर भी भरोसा किया जा सकता था। परन्तु परिस्थिति खतरे से भरी हुई थी और एडवर्ड्स को बड़ी सतर्कता से चलना पड़ा। वह बेचैनी या भय नहीं दिखा सकता था, परन्तु वह किसी प्रतिकूल लक्षण को भी भुला नहीं सकता था। उसकी एक निगाह सिपाहियों पर रहती थी तो दूसरी उपद्रवी कबीलों पर। उनकी तटस्थता का निश्चय ही पर्याप्त न था, यदि सम्भव हो तो अंग्रेज़ों के पक्ष में उनका सैनिक सहयोग भी प्राप्त करना था। घाटी की सुरक्षा के लिए प्रबन्ध करना उसकी पहली चिन्ता थी। इसलिए एडवर्ड्स ने अपने सहयोगियों की परिषद बुलवाई, जिसमें ये लोग सम्मिलित थे; पेशावर के डिप्टी कमिश्नर कर्नल निकल्सन, पेशावर के समादेशक अधिकारी ब्रिगेडियर सिडनी काटन और पंजाब के वरिष्ठतम सैनिक अधिकारी जनरल रीड। कर्नल नेविले चैम्बरलेन को भी तत्काल कोहाट से बुलाया गया। यह निश्चय किया गया कि जनरल रीड को पंजाब सैन्य दलों की कमान संभालनी चाहिए और रावलपिण्डी में चीफ कमिश्नर से मिलना चाहिए। कर्नल चैम्बरलेन की अधीनता में सेना का एक चलता-फिरता दस्ता संगठित किया गया और यह निश्चय किया गया कि जिन दो रेजीमेंटों पर सबसे अधिक असंतुष्ट होने का सन्देह था, उन्हें विभिन्न स्थानों पर तितर-बितर कर देना चाहिए ताकि वे कोई संयुक्त कार्य न कर सकें। इसलिए ६४वीं देशी पैदल सेना तीन भागों में विभक्त कर दी गई और तीन विभिन्न किलों की रक्षा के लिए भेज दी गई। ५५वीं सेना की दो कम्पनियां नौशेरा में छोड़ दी गईं और शेष सैनिक मार्गदर्शक सेना-

---

८. केव-ब्राउन, उद्धृत ग्रन्थ, जिल्द १, पृ० १४१

निकाय (गाइड कोर) को सहायता पहुंचाने के लिए, जिसे चलते-फिरते सेना के दस्ते से मिलने का आदेश दिया गया था, होती मर्दान चले गए। १६ मई को चीफ कमिश्नर के निमन्त्रण पर एडवर्ड्स रावलपिण्डी चले गए। २१ ता० को वह वापस लौटे और उन्हें पता लगा कि पेशावर के भारतीय सैन्य दल भी भरोसा करने योग्य नहीं समझे जाते। उसने एक दम २४वीं और ३१वीं, देशी पैदल सेना तथा ५वीं लघु घुड़सवार सेना से हथियार डलवाने का निश्चय कर लिया। उनके विरुद्ध क्या साक्ष्य पाया गया था यह स्पष्टतः ज्ञात नहीं है, परन्तु अधिकतर अधिकारियों को अपनी-अपनी रेजीमेंटों की राजभक्ति में पूरा विश्वास था। २२ मई को जब सिपाही परेड मैदान में इकट्ठे हुए तो उन्हें कुछ भी पता न था कि उन पर क्या होने वाला है। उन्होंने अपने को सेना के दो दस्तों के बीच में पाया जो प्रतिरोध का अल्पतम लक्षण प्रकट होने पर गोली चलाने को तैयार थे। इसलिए सिपाहियों को जब आदेश दिया गया तो उन्होंने अपने हथियारों को रख कर उन्हें इकट्ठा कर दिया। कुछ अफसरों ने इसे अपने सेना-निकायों का अनुचित अपमान समझा और उसके विरोधस्वरूप उन्होंने अपनी तलवारें हथियारों के ढेर के ऊपर फेंक दीं।[९] इस प्रकार बिना एक गोली चलाए हुए तीन हजार सिपाहियों और पांच सौ सवारों को निहत्था कर दिया गया, परन्तु ५१ वीं सेना की एक कम्पनी ने रात के अन्धकार में भाग गई। यह राजद्रोहात्मक सेना छोड़ कर भागना, जो कानून के शब्दों में असंदिग्ध रूप से सेना छोड़ कर भागना था, जिसके लिए दण्ड अवश्य दिया जाना था। भगोड़ों को पकड़ने के लिए इनाम घोषित किए गए और कबाइलियों ने उनकी खोज करने में बड़ा आनन्द लिया और इस प्रकार उन्होंने ईमानदारी से कुछ चांदी के टुकड़े कमाए। बन्दियों को कड़ा दण्ड दिया गया। के कहता है, "यह समय कोमलता या दया के लिए नहीं था, यहां तक कि न्याय के लिए भी नहीं।"[१०]

५५वीं देशी पैदल सेना की कहानी कुछ भिन्न है। इस रेजीमेंट के कुछ थोड़े से आदमी सिन्ध नदी के दायें किनारे पर खैराबाद में पहरे के काम पर नियुक्त थे। फतेह खां खाटक नामक एक राजभक्त कबाइली भी अपने नए भरती किए हुए लोगों के साथ वहां नियुक्त था। २१ मई को खाटक सरदार ने मेजर वान को, जो नदी के उस पार अटक की कमान संभाले हुए था, सूचना दी कि ५५वीं देशी पैदल सेना के एक सिपाही ने उसके कुछ आदमियों को फुसलाने की चेष्टा की थी। अपराधी को सजा देने के लिए लेफ्टिनेंट लिंड को भेजा गया। इसके बाद क्या हुआ, इसका ठीक पता हमें नहीं है, परन्तु सूबेदार और उसके आदमियों ने उसकी आज्ञा का उल्लंघन किया और वे नौशेरा की ओर चले गए। मार्ग में उन्हें २४वीं देशी पैदल सेना की एक टुकड़ी मिली जो कुछ सामान को सुरक्षापूर्वक पेशावर पहुंचाने जा रही थी। स्पष्टतः वे उस समय वहां नहीं थे जब उनकी रेजीमेंट के हथियार रखवाए गए थे और वे ५५वीं सेना आदमियों में शामिल हो गए। जैसे ही यह दल नौशेरा पहुंचा उसे १४वीं अनियमित सेना के द्वारा गिरफ्तार कर

---

९. होम्स, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ३२५-२६

१०. के, ए हिस्ट्री आफ़ दि सिपाय वार, जिल्द २, पृ० ४८१

लिया गया और उसके हथियार डलवा लिए गए। परन्तु ५५वीं सेना के आदमियों ने उन्हें फिर बचा लिया जबकि वे यूरोपीय रक्षकों (यूरोपियन गार्डस) के पास जा रहे थे। फिर उन्होंने नदी को पार करने तथा होती मर्दान में जाने का प्रयत्न किया जहां रेजीमेंट का मुख्य दल ठहरा हुआ था। परन्तु नावों का पुल टूट गया और केवल एक या दो सिपाही दूसरे किनारे पर पहुंच सके और उन्होंने होती मर्दान में अपने मित्रों को जो कुछ हुआ था उसके सम्बन्ध में चेतावनी दी। उनके समादेशक कर्नल स्पोटिसवुड ने नौशेरा में बची हुई सेना को बुलवाया। २२ ता० को उन्होंने कैप्टन कैमरन की अधीनता में अभियान किया और दूसरे दिन प्रातः वे मुख्यालय में पहुंचे। "एक-दो अपवादों को छोड़कर, अपने अधिकारियों के प्रति उनका व्यवहार पूर्णतः सम्मानपूर्ण था। सचमुच ५८वीं सेना के अधिकारियों ने यह घोषणा कर दी थी कि उन्हें अपने आदमियों की अपेक्षा दसवीं अनियमित घुड़सवार सेना के सवारों से खतरे की अधिक आशंका थी, जबकि दसवीं सेना के अफसर पूरी वफादारी बरत रहे थे।" अब तक होती मर्दान की ५५वीं देशी पैदल सेना ने ग़दर का कोई खुला कार्य नहीं किया था। स्पोटिसवुड की लगातार प्रार्थनाओं के बावजूद, सैन्य दल पेशावर से कर्नल श्यूट की अधीनता में मर्दान भेज दिए गए और कर्नल निकल्सन उसके साथ राजनीतिक अफसर के रूप में गया। २४ ता० की रात को ५५वीं सेना के देशी अफसर मिलकर अपने कर्नल के पास गए और उससे स्पष्टीकरण मांगा। वह उन्हें कोई स्पष्टीकरण नहीं दे सका और जब वे चले गए तो उसने आत्महत्या कर ली। ५५वीं सेना ने तब मर्दान छोड़ दिया और उसके सैनिक स्वात की दिशा में भाग गए। पहले उन्होंने काफी लम्बी यात्रा की परन्तु निकल्सन ने उनका पीछा किया और उनमें से दो सौ से अधिक को मार डाला और एक सौ बीस को बन्दी बनाया, जिनको एक भयानक उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जाना था।[११] निकल्सन ने सिखों तथा तरुण रंगरूटों के पक्ष का समर्थन किया। यह कहा जाता है कि सिखों ने अधिकारियों को पुरबिया सिपाहियों के ग़दर करने के इरादे के बारे में सामयिक सूचना दे दी थी, परन्तु जब ५५वीं सेना होती मर्दान से भाग गई तो वे और सैनिकों के साथ क्यों मिल गए, इसे कहीं स्पष्ट नहीं किया गया। सर जान लारेंस भी सब बन्दियों को फांसी लगवाने के पक्ष में नहीं था। "फांसी की सजा देने के लिए १२० आदमियों की संख्या बहुत बड़ी है। हमारा उद्देश्य एक उदाहरण प्रस्तुत करके दूसरों को डराना है। मैं समझता हूं कि हमारा यह उद्देश्य इनमें से केवल एक चौथाई से लेकर एक तिहाई आदमियों के मार देने से भी प्रभावशाली रूप में पूरा हो जाएगा।"[१२]

पुरबियों की ६ रेजीमेंट इस प्रकार प्रभावशाली रूप से विनष्ट कर दी गईं और अब पंजाब सरकार अपनी सारी शक्ति प्रधान सेनापति को और अधिक कुमुक भेजने के महत्वपूर्ण कार्य में लगा सकती थी। परन्तु सर जान लारेंस को इस नीति के अन्तिम परिणाम

---

११. केव-ब्राउन, उद्धृत ग्रन्थ, जिल्द १, पृ० १६४-७०, के, ए हिस्ट्री आफ़ दि सिपाय वार, जिल्द २, पृ० ४८२-८६

१२. के, ए हिस्ट्री आफ़ दि सिपाय वार, जिल्द २, पृ० ४८६

के बारे में सन्देह थे जिसके अनुसार सब सिपाहियों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी गई थी चाहे उन्होंने कोई विद्रोह के कार्य किए हों या नहीं। एडवर्ड्स को अपने एक पत्र में उसने लिखा, "वर्तमान वस्तुस्थिति का दुर्भाग्य यह है कि प्रत्येक कार्य जो हम अपनी सुरक्षा के लिए करते हैं वह नियमित सिपाही पर एक आघात सिद्ध होता है। वह ऐसा अनुभव करता है और अपनी ओर से वह आगे का कदम उठाता है और ऐसा ही हम भी करते हैं और इस प्रकार यह सिलसिला चलता जाता है जब तक कि या तो हम उन्हें विसर्जित न कर दें या मार न दें, या वे विद्रोह न कर बैठें और अपने अफसरों को न मार दें।"[13]

६४वीं सेना के तीन भागों को बाद में निपटाया जाना था। उन्हें अबूज़ाई, शाब कादर और मिचनी के किलों में भेजा गया था। श्यूट और निकलसन ने इनमें से प्रत्येक स्थान के लिए अभियान किया और सेना-भागों को पूरी तरह से निहत्था कर दिया तथा उनका कोई विरोध नहीं किया गया। एड्वर्ड्स अब पुरानी सेना से लड़ने के लिए एक नई सेना की भर्ती करने के लिए स्वतन्त्र था और उसने कबाइलियों को अंग्रेज़ी झण्डे के नीचे इकट्ठे होने का निमन्त्रण दिया। यह एक साहसिक प्रयोग था परन्तु यह सफल हुआ। कबाइलियों को अंग्रेजों से कोई प्रेम न था, जो उनकी पहाड़ियों में अनधिकृत रूप से घुस बैठे थे। परन्तु कुछ समय के लिए उनके लूट के प्रेम ने उनकी विदेशियों के प्रति घृणा पर विजय प्राप्त कर ली। कबाइलियों ने भारत की काल्पनिक सम्पत्ति के बारे में सुन रखा था और अब उनकी कल्पना दिल्ली और लखनऊ में मिलने वाले लूट के माल की सम्भावना से चकाचौंध हो गई। उन्हें विश्वास हो गया कि ये सफेद रंग के ईसाई ही उन्हें उस स्वर्गीय सोने के स्थान में पहुंचायेंगे। अफरीदी, खाटक और मोमन्द कबीलों के लोग जब एक बार अपनी पहाड़ी मांदों से बाहर निकले तो उन्होंने अनुभव किया कि सलामती इसी में है कि अपने नए मालिकों के प्रति वफादार रहें। पुराने झगड़ों की स्मृतियां और कबीलों की आपसी प्रतिद्वन्द्विताओं के कारण वे घर पर अलग-अलग रहते थे। हिन्दुस्तान के मैदानों में भी इनका भुलाया जाना सम्भव न था। इन उपद्रवी लोगों को भर्ती करना और उन्हें अपने देशी जिलों से हटाकर, जहां वे सतत रूप से चिन्ता और बेचैनी के कारण हो सकते थे, पांच नदियों के पार ले जाना जहां उनकी सैनिक प्रवृत्तियों और लूट-मार के लोभ को पूरा अवसर मिले, एक बहुत अच्छी चाल थी। अंग्रेज़ी साम्राज्य की नीति के साधन के रूप में सिपाही लाहौर, मुल्तान, पेशावर और बन्नू तक गए थे। अब परिस्थिति उनके लिए ठीक विपरीत हो गई और पंजाबी मुस्लिम और सिख, कोहाट के कबीले वाले और यूसुफज़ाई प्रदेश मिल कर हिन्दुस्तानी, मुस्लिम और गैर-मुस्लिम, इन सबके विरुद्ध हो गए, क्योंकि इन सबसे ही उन्हें घृणा थी। सिखों के पास ऐसा कोई नेता नहीं था जिसके चारों ओर वे इकट्ठे हो सकते। रणजीत सिंह का पुत्र अपने पूर्वजों के प्रदेश में नहीं था। बहुत से सिख सरदार अपने विजेताओं के प्रति सहेतुक रूप से कृतज्ञ थे, क्योंकि यदि अंग्रेज़ी कूटनीति ने शासक-वंश को हटा दिया था तो उसने व्यक्तिगत रूप से सरदारों के स्वार्थों की रक्षा करने का पूरा प्रयत्न किया था। पुरानी व्यवस्था का फिर

१३. वही, जिल्द २, पृ० ४७२

लौट कर आना उनके लिए लाभप्रद सिद्ध नहीं होता। जिन सरदारों के विरुद्ध विद्रोह का संशय था उन्हें भी अंग्रेजों के प्रति अपनी वफादारी सिद्ध करने का बहुत अच्छा अवसर मिला और उन्होंने इस संकट की स्थिति में अपनी सेनाओं का प्रस्ताव रखा। परन्तु यह समझना गलत होगा कि पंजाब में ब्रिटिश प्रशासन को जो भी छोटी-मोटी परेशानी उठानी पड़ती थी, उसका एक मात्र कारण असंतुष्ट सिपाही ही थे। दिल्ली के पास की रांगड़ और अन्य जातियां सशस्त्र विद्रोह कर बैठीं, परंतु उनकी लूट-मार की प्रवृत्ति थी और वे अराजकता और अव्यवस्था की हालत में किसी भी अवसर से लाभ उठाने को तैयार न थे। हिसार, रेवाड़ी और गुड़गांव के सीमान्त के जिलों में पंजाबी लोगों ने भी विद्रोहियों का साथ दिया और कुछ सिख सरदार उनमें पूरी तरह से शामिल हो गए।

१३ जून को सर जान लारेंस ने बंगाल सेना के हिन्दुस्तानी सिपाहियों के नाम एक घोषणा निकलवाई," वे रेजीमेंट जो इस समय स्वामिभक्त रहेंगी, अपनी अविचल राजभक्ति के कारण पुरस्कार प्राप्त करेंगी। जो सिपाही इस समय डिग जाएंगे वे सदा के लिए अपनी नौकरी खो देंगे। समय निकल जाने के बाद फिर पछताने से कुछ नहीं होगा। अपनी स्वामिभक्ति और ईमानदारी सिद्ध करने का यही समय है। अंग्रेजी सरकार को देशी सिपाहियों की कभी कमी नहीं रहेगी। एक महीने में ही यह केवल पंजाब में ५०,००० की भर्ती कर सकती है। यदि पुरबिया सिपाही आज के दिन पर ध्यान नहीं देगा, तो यह कभी लौट कर नहीं आएगा। पंजाब में हमारे पास काफी फौज है जो सब विद्रोहियों को नष्ट कर सकती है। सरकार और साधारण आदमी दोनों राजभक्त और आज्ञाकारी हैं और साधारण आदमी ही सेना में तुम्हारा स्थान लेना चाहते हैं। वे सब लोग तुम्हें कुचलने के लिए मिल जाएंगे। फिर, किसी सिपाही को तो इंग्लैण्ड की शक्ति का अंदाजा भी नहीं हो सकता है? पहले से ही प्रत्येक स्थान से अंग्रेज सिपाही हिन्दुस्तान आ रहे हैं।"[१४] परन्तु इसके बाद जो हुआ उससे पता चलता है कि चुनाव सिपाहियों के हाथ में नहीं छोड़ा गया था। यह उन्हें निश्चय नहीं करना था कि उन्हें किस ओर जाना था, यह तो रावलपिण्डी, लाहौर और पेशावर के अधिकारियों को ही निश्चय करना था कि उन्हें किसी प्रकार का चुनाव करने का अवसर ही न दिया जाए। उन्होंने यह निश्चय कर लिया था कि हथियारबन्द सिपाहियों का विश्वास नहीं किया जा सकता और उन्हें इस निश्चय को कार्यान्वित भी करना था।

पेशावर डिवीजन की जिस दूसरी रेजीमेंट को फंसाया गया वह नौशेरा और पेशावर स्थित १०वीं अनियमित रेजीमेंट थी उसने कोई अनुचित कार्य नहीं किया था। परन्तु उन्होंने ५५वीं सेना के कैदियों को बचाए जाने और भाग जाने दिया था और होती मर्दान से भागे हुए लोगों का पीछा करने में उन्होंने पर्याप्त उत्साह नहीं दिखाया। अतः उनका भाग्य निश्चित हो चुका था परन्तु वे अपने आने वाले दुर्भाग्य के बारे में अनभिज्ञ थे। २६ जून के दिन दोनों स्थानों पर बिना किसी कठिनाई के कार्य चलता रहा और १०वीं अनियमित सेना ने सुरक्षापूर्वक हथियार डाल दिए। परन्तु उन्हें वेतन, पेंशन और चरित्र की हानि

१४. केव-ब्राउन, उद्धृत ग्रन्थ, जिल्द १, पृ० २१६-१७

का ही दण्ड नहीं भोगना था। बल्कि उनकी सारी सम्पत्ति जब्त की जानी थी और यह जब्ती उनके घोड़ों तक ही सीमित नहीं थी। उनकी बैरकों की तलाशी ली गई और पहने हुए कपड़ों को छोड़ कर उनका सब सामान उनसे ले लिया गया। उनके स्त्री और बच्चे जो थोड़े बहुत गहने और आभूषण पहने हुए थे वे भी नहीं छोड़े गए।" उन्हें नावों पर बैठा कर सिन्धु नदी के पार उतारा गया और उसमें से हर एक को चार रुपये दिए गए। उनसे कहा गया कि वे जैसे चाहें अपने घर का रास्ता पकड़ें और साथ ही उन्हें यह चेतावनी भी दी गई कि उन पर नजर रखी जाएगी और यदि उन्होंने उपद्रव का कोई प्रयत्न किया तो उनको विनष्ट कर दिया जाएगा।"[१५]

इसी समय सेना का चलता-फिरता दस्ता आगे बढ़ रहा था। २१ जून को वह जालंधर पहुंचा। उसका प्रथम समादेशक अधिकारी ब्रिगेडियर नेविले चैम्बरलेन कर्नल चेस्टर की मृत्यु के बाद सेना का एडजुटेंट जनरल नियुक्त हुआ था और उसके रिक्त स्थान पर ब्रिगेडियर के पद पर निकलसन की नियुक्ति हुई थी। उसने ५५वीं लघु पैदल सेना तथा ३३वीं देशी पैदल सेना की जिम्मेवारी लेने से इन्कार कर दिया। अब तक ये रेजीमेंट शान्त रहीं थीं, परन्तु ३५वीं पर कड़ी निगाह रखी जा रही थी और ३३वीं अभी दस्ते में शामिल नहीं हुई थी। दोनों मिलकर खतरे का स्रोत बन सकती थीं, इसलिए निकलसन ने एकदम निश्चय कर लिया। सेना के दस्ते ने फिल्लौर के लिए अभियान किया और वहां किले की तोपों की हद में ३५वीं लाइट इन्फैंट्री से हथियार डलवा लिए गए। जब ३३वीं सेना वहां आई तो उसने भी आज्ञानुसार अपने हथियार डाल दिए।" इस कुशल प्रबन्ध से करीब १,५०० विद्रोही सिपाहियों से केवल ८०० यूरोपीयों तथा एक दर्जन तोपों के सामने हथियार डलवा लिए गए और बन्दूक की एक भी गोली नहीं चलाई गई और न रक्त की एक बूंद ही बहाई गई।"[१६]

परन्तु आधे रास्ते में ठहरा नहीं जा सकता था। पंजाब पुरबियों से बिलकुल खाली नहीं हुआ था। कम से कम ६ हथियारबन्द रेजीमेंट वहां और थीं।" ५८वीं देशी पैदल सेना रावलपिण्डी में थी, १४वीं झेलम में, ४६वीं सियालकोट में, जिसके साथ नवीं लघु घुड़सवार सेना का एक स्कन्ध भी था और जिसका दूसरा स्कन्ध चलते-फिरते दस्ते में था, ५९वीं देशी पैदल सेना अमृतसर में, चौथी कांगड़ा और नूरपुर में और दूसरी

१५. केव-ब्राउन, उद्धृत ग्रन्थ, जिल्द १, पृ० २८४-९० जब्ती के काम को केव-ब्राउन ने इस प्रकार वर्णन किया है, "हर झोंपड़ी, हर दीवाल और हर छत की जांच की गई, हर दरार और छिद्र की खोज की गई। पंजाबी प्रसन्न हो रहे थे कि उन्हें पुरबियों को कुचलने का अवसर मिला है और निःसंदेह साथ ही साथ उनके धन से अपने को धनवान भी बना रहे थे। सवारों से उनका गणवेश ले लिया गया। उनके कमरबन्द, पगड़ियां सब की तलाशी हुई। पैसा, जवाहरात, सब चीज़ें ले ली गई। "इसके बाद सिर्फ उनकी पगड़ी, चपकन और पतलूनों के साथ उन्हें वहां से उस रात लिंड के मुलतानी सिपाहियों की अधीनता में बाहर ले जाया गया।" पृ० २८८-८९

१६. वही, जिल्द १, पृ० ३०३

अनियमित घुड़सवार सेना गुरदासपुर में थी; ये सब हथियारबन्द थीं।"[१७] झेलम, सियालकोट, कांगड़ा या गुरदासपुर में कोई अंग्रेज़ सैन्य दल नहीं थे। इसलिए यह निश्चय किया गया था कि शेष पुरबिया रेजीमेंटों से हथियार डलवा लिए जाएं ताकि वे कोई हानि न पहुंचा सकें। रावलपिण्डी और झेलम के सिपाहियों को एक साथ निःशस्त्र किया जाना था। इस कार्य को सुगम बनाने के लिए १४वीं देशी पैदल सेना की दो कम्पनियों को झेलम से रावलपिण्डी स्थानान्तरित कर दिया गया था। इसी समय निकल्सन को आदेश दिया गया कि वह पीछे हटकर आगे बढ़े। जालंधर से वह फिल्लौर गया और वहां से अमृतसर। ७ जुलाई को, जैसा सदा ऐसे अवसरों पर होता था, रावलपिण्डी में परेड का आदेश दिया गया। परन्तु यूरोपीय सैन्य दलों और तोपखाने को देखकर सिपाही भयभीत हो गए और वे भागकर अपनी बैरकों में चले गए। वहां ५८वीं सेना के आदमियों ने शान्तिपूर्वक अपने हथियार डाल दिए, परन्तु १४वीं की दो कम्पनियां नगर की ओर भाग गईं। घुड़सवार पुलिस ने उनका पीछा किया और जो बच गए उन्हें गांव वालों ने मार दिया क्योंकि प्रत्येक विद्रोही के सिर के लिए इनाम की घोषणा कर दी गई थी।

झेलम में कार्य सुगमता से नहीं हुआ। कभी-कभी बहुत अच्छी तरह से बनाई हुई योजनाएं भी विफल हो जाती हैं और कर्नल एलिस झेलम में अपनी दाण्डिक सेना के साथ दिन निकलने के पूर्व नहीं बल्कि पीछे पहुंचा। उसका उद्देश्य उसके सहयोगियों से भी अत्यन्त गोपनीय रखा गया था और उन्हें गुप्त आदेश दिए गए थे जिन्हें वे झेलम के पास पहुंच कर ही खोल सकते थे। परन्तु यह नाटक इतनी बार खेला जा चुका था कि सिपाहियों को यूरोपीयों और मुल्तानियों के उद्देश्य के बारे में कोई सन्देह नहीं था, क्योंकि उन्होंने परेड मैदान से ही उन्हें देख लिया था। सिपाही एक दम अपने हथियारों की ओर दौड़े और जोरदार मुकाबला हुआ। पुराने ढंग की बन्दूकें नए ढंग की बन्दूकों और राइफलों के सामने कहीं ठहर सकती थीं, परन्तु सिपाही जान हथेली पर रख कर पूरे दिन लड़ते रहे क्योंकि उन्हें अपने बचने की कोई आशा नहीं थीं। नावों का पुल नष्ट हो चुका था और झेलम को पार करना असम्भव था। एक या दो टोलियों ने इधर-उधर की नावों को पकड़ा परन्तु दूसरे किनारे पर पहुंच कर वे शत्रु के हाथ में पड़ गए। उन ५०० आदमियों में से जो कर्नल एलिस से ७ ता० के प्रातःकाल लड़े थे, अन्त तक ५० भी बच कर नहीं भाग सके। १५० मुठभेड़ में मर गए और १८० बाद में पकड़ लिए गए। १२० कश्मीर राज्य-क्षेत्र में चले गए जहां उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया और बाद में अंग्रेज़ अधिकारियों के हवाले कर दिया गया। इस प्रकार १४वीं देशी पैदल सेना विलुप्त हुई।[१८]

सियालकोट की ९वीं लघु घुड़सवार सेना के सैनिक पुलिस दल के सिपाहियों को पहले से ही चेतावनी दे दी गई थी। उन्होंने झेलम के युद्ध के बारे में सुन रखा था परन्तु सम्भवतः उनको यह मालूम नहीं हो पाया था कि उसका अन्त किस प्रकार हुआ। फिल्लौर में निकल्सन की कार्यवाहियों के बारे में भी उन्हें निश्चित सूचना थी। अमृतसर

१७. केव-ब्राउन, उद्धृत ग्रन्थ, जिल्द २, पृ० ४८

१८. वही, जिल्द २, पृ० ५७

के कूपर के अनुसार यह अन्दाज का ही मामला था कि सियालकोट और झेलम में कोई गठबन्धन हुआ था या सियालकोट के आदमियों ने वहां की हताश मुठभेड़ के बारे में सुना था। "परन्तु यह निश्चित है कि अमृतसर के चलते-फिरते दस्ते के अंग-स्वरूप ९वीं सेना के एक पक्ष से सम्बन्धित एक आदमी, जिसने अबुद्धिमत्तापूर्वक छुटी ली थी, विद्रोह का तात्कालिक कारण था। वह ३३वीं और ३५वीं देशी पैदल सेना के निहत्थे किए जाने की कहानियां लाया। तरह-तरह की झूठी बातों से उसने घुड़सवार सेना की भावनाओं को उभाड़ा होगा, क्योंकि उसी रात ४६वीं देशी पैदल सेना के प्रतिनिधियों की एक दूसरी गुप्त बैठक हुई थी।"[१९] अमृतसर के आदमी ने झूठ बोला था या नहीं यह केवल अनुमान का ही विषय है क्योंकि प्रत्यक्ष सत्य भी काफी बुरा था। निकल्सन ने दो रेजीमेंटों से बिना किसी चेतावनी के और बिना किसी स्पष्टीकरण के हथियार छीन लिए थे। अपने सिपाही बन्धुओं की निगाह में इस अत्याचार के शिकार बेकसूर लोग थे, क्योंकि उन्होंने कोई अपराध नहीं किया था। निकल्सन उत्तर की ओर बढ़ता आ रहा था। ऐसी हालत में दो ही रास्ते थे—वार करना या चोट खाना और सिपाहियों ने फैसला किया कि पहले वार करने का मौका दूसरे पक्ष को क्यों दिया जाय। घुड़सवार सेना ने नेतृत्व किया, पर ४६वीं देशी पैदल सेना उदासीन रही।

झेलम की खबर सियालकोट के डिप्टी कमिश्नर के पास ८ ता० को पहुंची। उसने एक दम इस खबर को सैनिक स्थान के समादेशक अधिकारी ब्रिगेडियर ब्रिंड के पास भेज दिया। जिस समय सियालकोट से यूरोपीय सैन्य दल हटाए गए तभी सर जान लारेंस ने सलाह दी थी कि स्त्रियों और बच्चों को लाहौर ले जाना चाहिए। परन्तु पहले खतरे के समाप्त हो जाने के बाद विश्वास पूरी तरह पुनः स्थापित हो गया था और कुछ थोड़े से लोगों को छोड़कर शेष सबने वहीं ठहरे रहने का निश्चय किया। सियालकोट में पुराना सिखों का एक किला था जो अच्छा खासा मजबूत हालत में था। जब ९ ता० को सवेरे ग़दर हुआ तो यहीं पर यूरोपीय लोगों ने शरण ली। कुछ थोड़े से लोग किले की ओर भागते हुए मारे गए या घायल कर दिए गए, परन्तु अधिकतर लोगों की जानें उनके नौकरों की या सिपाहियों की वफादारी के कारण बच गईं। केवल एक घटना में श्रीमती हन्टर नामक एक स्त्री और उसका बच्चा मारे गए, परन्तु अपराधी कोई सिपाही नहीं बल्कि सियालकोट की जिला जेल का एक कोड़े लगाने वाला था जिसे अपने पद से अवनत कर दिया गया था।[२०] अन्यत्र स्त्रियों पर कहीं वार नहीं किया गया। हां पुरुषों पर गोलियां जरूर चलाई गईं।

ग़दर की शुरुआत घुड़सवार सेना ने की। डा० बटलर का कहना है, "सवेरे के सवा चार बजे मुझे सवारों को देखने के लिए बुलाया गया जिन्होंने खुले रूप में ग़दर कर रखा था और जो छावनी में चारों ओर घोड़ों पर चढ़े हुए यूरोपीयन पोशाक में दिखाई देने वाले हरेक मर्द को गोली का निशाना बना रहे थे।"[२१] कुछ थोड़े भारतीयों का भी

---

१९. कूपर, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १३७

२०. रिच, दि म्यूटिनी इन सियालकोट, पृ० २५

२१. वही, पृ० ३२

जो अपने अंग्रेज स्वामियों के विश्वासपात्र समझे जाते थे, यही भाग्य हुआ। परन्तु ४६वीं देशी पैदल सेना अपने अधिकारियों के प्रति स्वामिभक्त रहना चाहती थी। उसके सिपाहियों ने अपने अधिकारियों को उनकी सुरक्षा के लिए अपने रेजीमेंट के क्वार्टर-गार्ड में बन्द कर दिया और रात होते ही उन्हें उनके परिवारों सहित न केवल किले तक सुरक्षापूर्वक पहुंचा दिया बल्कि उन्हें सियालकोट छोड़ने से पूर्व पैसा भी दिया। एक कहानी यह भी है कि उन्होंने बड़ा खतरा उठाकर अपनी रक्षा में ली हुई एक महिला को अपने बंगले में छोड़ी हुई सम्पत्ति को प्राप्त करने में सहायता दी। "दिन में जब उन्हें क्वार्टर गार्ड में बन्द कर दिया गया तो क्वार्टर मास्टर सार्जेंट की पत्नी रोती देखी गई थी। पहरे के अधिकारी हवलदार ने जब सामने आकर उससे रोने का कारण पूछा तो उसने कहा कि यद्यपि उन्होंने उसकी जान बचाई थी परन्तु वह बिना पैसे के थी क्योंकि वह अपना सब कुछ बंगले में रखा छोड़ आई थी। हवलदार ने कुछ आदमियों को इकट्ठा किया और तनी हुई संगीनों के साथ वे उसे छावनी से उसके घर तक ले गए, जहां उसे अपने नकद रुपया और दूसरी बहु-मूल्य वस्तुओं को इकट्ठा करने का समय दिया गया।" यहां तक कि ४६वीं सेना अपने समादेशक अधिकारी कर्नल फ़ार्हर्सन और कैप्टन कालफ़ील्ड को अपने साथ ठहराना चाहती थी। कर्नल को २,००० रु० प्रति मास का वेतन प्रस्तावित किया गया था और उसे पहाड़ियों में रहने की छुट्टी दे दी गई थी। इसी प्रकार कैप्टन कालफ़ील्ड से कहा गया कि यदि वह अपनी पुरानी रेजीमेंट में सेवा करना स्वीकार करले तो उसे १,००० रु० प्रति मास दिए जाएंगे।[२२] पादरी पाल ने गिर्जे की दो ईसाई भिक्षुणियों और बच्चों सहित एक धोबी की झोंपड़ी में शरण ली। यद्यपि वे भारतीय पोशाक में थे, परन्तु उनके हाथ और पांव उनके भेद को खोल रहे थे। सिपाहियों ने यद्यपि उन्हें मारने की धमकी दी, परन्तु ऐसा किया नहीं गया।

दोपहर बाद चार बजे विद्रोही होशियारपुर चले गए। वे अपने साथ एक पुरानी संकेत-बन्दूक ले गए थे जो उनके लिए बाद में उस समय बड़ी उपयोगी सिद्ध हुई जब उन्हें निकलसन ने जा पकड़ा था।

सियालकोट में विद्रोह शुरू होने से पूर्व निकलसन ने ५९वीं देशी पैदल सेना से अमृतसर में परेड करवाई थी और उसने उनकी "उन सब के अच्छे चाल-चलन के लिए प्रशंसा की और उन्हें निश्चय दिलाया कि उनके हथियार डलवाने का कोई कारण न होने के लिए उसे प्रसन्नता है।" परन्तु झेलम की सूचना ने उनके भाग्य का निर्णय कर दिया। दूसरे दिन सवेरे (९ जुलाई) उनसे परेड करवाई गई। जाहिर सिर्फ इतना किया गया कि उन्हें फांसी लगती हुई दिखाई जा रही है। पर जब फांसी समाप्त हुई तो ५९वीं सेना को एकदम "हथियार इकट्ठे करने" का आदेश दिया गया। उन्होंने एक क्षण भी झिझक न करते हुए हथियार डाल दिए, क्योंकि उनके सामने और दोनों तरफ यूरोपीय थे और बन्दूकें थीं।"[२३]

---

२२. रिच, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ५३-५४

२३. केव-ब्राउन, उद्धृत ग्रन्थ, जिल्द २, पृ० ७०-७१

परन्तु उन्होंने अपना संकल्प कर लिया था। यदि बिना शर्त अधीनता राजभक्ति का प्रमाण थी तो वे राजभक्त थे, क्योंकि अपनी पंक्तियों में वापस आने पर उन्होंने पुराने ढंग की ७०० और बन्दूकें अपने अधिकारियों को लौटा दीं। दूसरे दिन सवेरे ९वीं घुड़सवार सेना के उस पक्ष की बारी आयी जिसका सम्बन्ध इतने लम्बे समय तक चलते-फिरते दस्ते के साथ रहा था। बिना वर्दी और हथियारों के हाजिरी लेने का आदेश दिया गया और सैनिक पुलिस के आदमियों को बताया गया कि उनके साथियों ने सियालकोट में क्या किया है। फिर उनके हथियार इकट्ठे करके यूरोपीय पहरेदारों की देख रेख में गोबिन्दगढ़ पहुंचा दिये गये। उनके घोड़े भी सेना के उपयोग के लिए ले लिए गए।[२४]

इसके बाद निकल्सन ने सियालकोट के जवानों का पीछा किया। मुश्किलों का सामना करते हुए भी वह किसी न किसी तरह ११ ता० को गुरदासपुर जा पहुंचा। दूसरे दिन सवेरे उसे पता चला कि विद्रोही वहां से १० मील दूर त्रिम्मू घाट में हैं, इसलिए वह फिर चल दिया। एक तेज लड़ाई के बाद विद्रोही नदी की ओर पीछे हट गए और निकल्सन के आदमी इतने थक गए थे कि वे पीछा करने के लिए नहीं बढ़ सके। परन्तु प्रकृति भाग्यवान जनरल के अनुकूल थी। सहसा नदी में बाढ़ आ गई जिससे भगोड़े जमीन के एक छोटे से टुकड़े में, जो एक रात के अन्दर ही एक टापू बन गया था, फंस गए। यहां वे सब मारे गए। उधर उनका ध्यान किनारे पर स्थित तोपों की तरफ लगा रहा और इधर निकल्सन चुपके से नदी पार कर टापू पर जा पहुंचा। इस प्रकार सियालकोट ब्रिगेड नष्ट कर दिया गया।

१०वीं लघु घुड़सवार सेना अब तक राजभक्त रही थी। नाभा के राजा के राज्य-क्षेत्र में एक विद्रोह को दबाने में उन्होंने क्रियात्मक सेवा की थी। परन्तु झेलम और सियालकोट के बाद किसी हथियारबन्द हिन्दुस्तानी में विश्वास नहीं किया जा सकता था, चाहे उसका पहले का लेखा कितना ही अच्छा क्यों न रहा हो। इसलिए राजभक्ति अब अपमान के विरुद्ध एक रक्षात्मक विधान के रूप में बिलकुल नहीं रही थी। पुरबिया लोगों के लिए यह असम्भव था कि पंजाब सरकार के सामने अपनी स्वामिभक्ति सिद्ध कर सकें या उसके विश्वास-पात्र बन कर रह सकें। १०वीं सेना के हथियार छीन लिए गए थे, परन्तु अभी कुछ समय के लिए उनके घोड़े नहीं लिए गए थे।

कांगड़ा और नूरपुर की चौथी देशी पैदल सेना का अपना एक अलग ही दर्शन था। जब कांगड़ा में हथियार मांगे गए तो वे तुरन्त दे दिए गए। सिपाहियों को यह विश्वास दिलाया गया कि उनकी ईमानदारी के बारे में तो कोई सन्देह न था परन्तु उनसे हथियार ले लेने से वे दूसरे विद्रोही सेना की संक्रामकता से बच जाएंगे।" उनका उत्तर था कि "उनके हथियार सरकार की सम्पत्ति है और अपने अधिकारियों की प्रार्थना पर वे उन्हें छोड़ने को तैयार हैं परन्तु खेद यही है कि शक्ति का प्रदर्शन किया गया है।"[२५] नूरपुर का सेना-भाग, सम्भवतः अधिक कृतार्थ करने वाला था। ये

---

२४. केव ब्राउन, उद्धृत ग्रन्थ, जिल्द २, पृ० ७२-७३

२५. वही, जिल्द २, पृ० ८२

लोग हथियारों को अपने समादेशक अधिकारी मेजर विल्की के बंगले पर ले गए जो किले से करीब एक मील पर था। इस प्रकार वृत्त पूरा हुआ। खिलात-ए-गिलज़ई के अपवाद को छोड़कर पंजाब में सब पुरबिया रेजीमेंटें, चाहे उनका पहले का लेखा और इस समय की प्रवृत्ति कैसी ही हो, इस प्रकार निःशस्त्र कर दी गई थीं कि वे हानि न पहुंचा सकें। परन्तु मनुष्य गणित शास्त्र की इकाइयों की तरह नहीं होते। यह पहले से नहीं बताया जा सका कि समान भावना से प्रेरित दो व्यक्तियों की प्रतिक्रियाएं क्या होंगी। चौथी देशी पैदल सेना ने स्पष्टतः हथियारों का छीना जाना अपने लिए अपमानजनक नहीं समझा। १४वीं और ४६वीं उसके केवल विचार मात्र से विद्रोह कर बैठीं।

हथियारबन्द हिन्दुस्तानी सिपाही एक खतरे की चीज था, हथियार से रहित होने पर वह एक समस्या बन गया। वह अपने आप पर नहीं छोड़ा जा सकता था। उसे घर भी नहीं जाने दिया जा सकता था।[२६] परन्तु पिंजड़े में पड़ी हुई एक चिड़िया सदा सींकचों से बाहर निकलने का मार्ग चाहती है। ३० जुलाई को २६वीं देशी पैदल सेना के सारे सिपाही जिनसे हथियार डलवा लिए गए थे एक साथ मिलकर मियां-मीर शिविर से भाग खड़े हुए। हथियार के नाम पर उनके पास छोटी कुल्हाड़ियां और चाकू ही थे, परन्तु संख्या में तो वे अधिक थे ही। वे मेजर स्पेंसर पर जिसने उन्हें रोकने की कोशिश की थी, टूट पड़े और उसे मार डाला। उसकी मदद के लिए जो सार्जेंट मेजर आया वह भी मारा गया। यदि कोई झिझक या अनिश्चितता थी तो वह सिख सैनिकों की अन्धाधुन्ध गोली वर्षा ने "हत्याओं को और शीघ्रता से किया और अच्छे, बुरे और उदासीन प्रवृत्ति वाले सबको भयभीत कर भगा दिया।"[२७] एक अप्रत्याशित बवण्डर ने उन्हें आच्छादन प्रदान किया जिसकी उन्हें बड़ी आवश्यकता थी। और पहले यह पता ही नहीं चला कि वे किस दिशा में भाग रहे हैं। दूसरे दिन उनकी उपस्थिति के सम्बन्ध में अमित्रतापूर्ण ग्रामीणों में अजनाला के तहसीलदार को सूचना दी, जिसने तत्काल एक पुलिस-दल को लेकर उन पर आक्रमण किया। निहत्थे और भूख से मरते हुए भगोड़े अपनी रक्षा नहीं कर सके और उनमें से १५० मारे जा चुके थे जब कि अमृतसर के डिप्टी कमिश्नर मेजर कूपर घुड़सवारों के एक दल को लेकर उस स्थान पर जा पहुंचे। उसने उन्हें "जंगली कुक्कटों के एक झुण्ड की तरह लुढ़कते" और एक टापू में मृत्यु की प्रतीक्षा करते देखा। नावें लाई गईं और उत्साही ग्रामीण उनके हाथ जोर से बांध कर उन्हें किनारे पर लाए। उनमें से कुछ थोड़े से फांसी से बच गए क्योंकि वे हताश होकर नदी में गिर गए थे। शेष जिनकी संख्या २८२ थी, अजनाला लाए गए। डिप्टी कमिश्नर ने अपराधियों को फांसी लगवाने के लिए बहुत-सी रस्सियां मंगवाईं। कूपर की दृष्टि में सब बन्दी हत्यारे थे, अतः उसने निश्चय किया कि उन सबको मरना चाहिए। परन्तु इतने लोगों को फांसी देने के लिए पर्याप्त रस्सियां नहीं थीं, इसलिए यह निश्चय किया गया कि छोटे-छोटे खण्डों में उन्हें गोली से

२६. आगरा में जिन सिपाहियों के हथियार डलवाए गए थे उन्हें घर जाने की अनुमति दे दी गई थी।

२७. कूपर, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १५३

उड़ा देना चाहिए। शेष कहानी को अजनाला के वीर के शब्दों में ही सुनिए, "जब करीब १५० आदमी मारे जा चुके थे तो एक मारने वाले को गश आ गया (गोली मारने वालों की टोली में वह सबसे बड़ी आयु का था) और उसे थोड़े विश्राम की अनुमति दी गई। उसके बाद बढ़ कर संख्या २३७ तक पहुंच गई। तब जिला अधिकारी को सूचना दी गई कि शेष किले के अग्र भाग से, जहां वे अस्थायी रूप से कुछ घंटे पूर्व बन्दी के रूप में रखे गए थे, आने के लिए इन्कार कर रहे हैं। यह सोच कर कि वे भागना और प्रतिरोध करना चाहेंगे, उनके भाग जाने के विरुद्ध तैयारियां की गईं, परन्तु उस वास्तविक और भयानक भाग्य की सम्भावना के बारे में कुछ नहीं सोचा गया जो उन शेष विद्रोहियों पर पड़ चुका था। उन्होंने अपनी मृत्यु का कुछ घंटे पूर्व अनुमान कर लिया था। जब दरवाजे खोले गए तो उन सबको लगभग मृत पाया गया। अज्ञात रूप से हालवेल की काल कोठरी की दुःखान्त घटना दुबारा घटित हो गयी थी। रात भर कोई चिल्लाहट सुनाई नहीं पड़ी। ४५ लाशें उन लोगों की, जो भय, थकावट, गर्मी और घुटन से मर चुके थे, लाई गईं और ग्रामीण भंगियों द्वारा एक गड्ढे में दबा दी गईं।"[२८]

कूपर कहता है कि उसका न्यायपूर्ण कृत्य इकट्ठे हुए देशी आदमियों की राय में, जिनके प्रति अपराध की पूरी व्याख्या कर दी गई थी, अधूरा था, क्योंकि "मैजिस्ट्रेट ने पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों को भी सीधे गड्ढे में नहीं डाल दिया था, जो विद्रोहियों के साथ बुरी तरह भागे थे" और वे लोग, "ब्रिटिश लोगों की दया और उनके न्याय पर विस्मय प्रकट कर रहे थे।"[२९]

पंजाब की ग्रामीण जनता के अनुमोदन से ही सन्तुष्ट न होकर कूपर ने अपने देशवासियों को भी, जिनके स्नायु इतने बलवान नहीं थे, एक प्रवचन का उपदेश करना आवश्यक समझा। "कुछ ढोंगी मानवोपकारी व्यक्ति चिल्ला सकते हैं परन्तु अपने सम्पूर्ण संकल्पों और अभिभाषणों से वे उन लोगों को पुनर्जीवित नहीं कर सकेंगे, जिनका बलिदान उन जीवित लोगों के दोष से हुआ जिन्होंने अहेतुक रूप से अपने स्पष्ट और सादे कर्तव्यों को करने से मुंह मोड़ा, जिनके करने से महत्ता की अवस्थाएं प्राप्त होतीं या ऐसे दृश्य उपस्थित होते जिनसे कमजोर स्नायुओं पर जोर पड़ता। ऐसे लोग सजा की सख्ती की तरफ तो देखते हैं परन्तु न्याय की तरफ नहीं। वे उस भयानक और विस्तृत दुर्घटना के दृश्य और स्मृति को भुला देते हैं जो हिन्दुस्तान से निर्बल परामर्श और हिचकपूर्ण कार्य पर सदा पड़ी है और सदा पड़ती रहेगी।"[३०]

---

२८. कूपर, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १६२-६३। केव-ब्राउन दम घुट कर मृत्यु होने के सम्बन्ध में मौन है। वह कहता है, "यहां दूसरे दिन प्रातः एक आम मृत्यु दण्ड दिया गया और मियां मीर में विद्रोह शुरू होने के ४८ घंटे के भीतर २६वीं देशी पैदल सेना का अस्तित्व समाप्त हो गया और पंजाब की शान्ति अब तक प्राप्त कर ली गई है।" केव-ब्राउन उद्धृत ग्रन्थ, जिल्द २, पृ० १००-१०१

२९. कूपर, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १६३

३०. वही, पृ० १६६

कूपर के कार्य को तत्काल सरकारी स्वीकृति मिली। सर जान लारेंस ने उसे लिखा, "२६वीं देशी पैदल सेना के विरुद्ध तुम्हारी सफलता के लिए मैं तुम्हें बधाई देता हूं। तुमने और तुम्हारी पुलिस ने बड़े उत्साह और भावना से काम किया और तुम सब राज्य से सम्मान पाने के अधिकारी हो।" कूपर के कार्यों की इससे भी अधिक उत्साहपूर्ण और हार्दिक प्रशंसा राबर्ट मोंगटमरी ने की, "जो कुछ तुमने किया उसके लिए तुम्हें सम्पूर्ण सम्मान प्राप्त है। तुमने बहुत ही अच्छी तरह यह काम किया। जब तक तुम जीवित रहोगे यह सेहरा तुम्हारे सिर पर रहेगा।" इस पत्र के अन्त में उसने यह पुनश्चलेख और लिखा जो उद्धरण के योग्य है, "शेष तीन रेजीमेंट यहां कल बड़ी दुविधा में थीं, परन्तु अब मैं सोचता हूं कि वे मुश्किल से ही जाएंगी। मैं तो चाहता हूं कि वे चली जाएं क्योंकि वे मुश्किलें पैदा करती हैं। यदि उन्होंने गड़बड़ी मचा दी तो एक भी आदमी नहीं बचेगा।"[३१]

परन्तु जो रेजीमेंट यह सोचती थीं कि उन पर अत्याचार किया गया है वे २६वीं देशी पैदल सेना के भयानक अन्त से डरने वाले नहीं थे। दसवीं घुड़सवार सेना के कमांडर-इन-चीफ़ से अपनी स्वामिभक्ति और अच्छी सेवा के लिए धन्यवाद प्राप्त कर लिए थे। फिर भी उनके हथियार इसलिए डलवा लिए गए कि दूसरे आदमियों पर झूठा होने का संशय था। जब उनके हथियार ले लिए गए तो ब्रिगेडियर ने उन्हें आश्वासन दिलाया कि जब उपयुक्त अवसर आएगा तो उनके अच्छे चाल-चलन को ध्यान में रखते हुए उनको सर्व प्रथम अपने हथियार वापस दिए जाएंगे। घोड़े, सैनिकों की व्यक्तिगत सम्पत्ति थे, वे सरकार के नहीं थे। परन्तु सरकार को नए भर्ती किए गए रंगरूटों के लिए घोड़ों की आवश्यकता थी और यह निश्चय किया गया कि जो घोड़े इस समय बेकार हैं और कुछ काम नहीं दे रहे हैं उन्हीं का प्रयोग किया जाए। दसवीं घुड़सवार सेना के सिपाहियों के पहले सौ और फिर पचास घोड़े सरकार ने ले लिए और अगस्त में आदेश आया कि शेष घोड़े भी सरकार के अश्वालय में दुबारा जाने चाहिए। ब्रिगेडियर इनस ने लाहौर के अधिकारियों से अनुरोध किया कि वे अपने निर्णय में परिवर्तन करें क्योंकि घोड़ों की हानि सिपाहियों के लिए एक अतिरिक्त अपमान था। १८ ता० को सरकार का अन्तिम आदेश फीरोजपुर पहुंचा और १९ ता० को दसवीं घुड़सवार सेना ने, जिसके हथियार डलवा लिए गए थे, विद्रोह कर दिया। उन्होंने बन्दूकों को लेने का प्रयत्न किया परन्तु इसमें वे सफल नहीं हुए। सैनिक पुलिस के करीब १०० आदमियों को छोड़ कर पूरी रेजीमेंट अपने घोड़ों के साथ बाहर निकल गयी और मार्ग का ठीक चुनाव करके सुरक्षापूर्वक बच निकली।

फीरोजपुर के दंगे के बाद निहत्थी ५१वीं देशी पैदल सेना ने पेशावर में विद्रोह कर दिया। वहां के अधिकारियों ने सिपाहियों की पंक्तियों में छिपे हुए हथियारों की तलाश के लिए जांच करवाई। २७वीं देशी पैदल सेना ने, जिनकी पंक्तियों की पहले जांच हुई कोई प्रतिरोध नहीं किया, परन्तु ५१वीं मिल कर विद्रोह कर बैठी। खतरे की सूचना दे दी गई और अफगान सिपाहियों पर टूट पड़े। इस मुठभेड़ में सफलता का तो सवाल ही न था। सिपाही अच्छी तरह लड़े परन्तु वे कुछ थोड़ी तलवारें और पुराने ढंग की बन्दूकें ही इकट्ठी

३१. कूपर, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १६७-६६

कर सके थे जबकि उनके आक्रमणकारियों के पास राइफलें और बन्दूकें थीं। उन्हें पूरी तरह विनष्ट कर दिया गया। "उन ८७० आदमियों में से, जो २८ ता० को सवेरे १५वीं देशी पैदल सेना में थे, ४८ घंटों के अन्दर लगभग ७० भी जीवित नहीं रहे और कुछ दिन बाद विश्वसनीय प्रमाणों के आधार पर यह सूचना दी गई कि केवल १९ भूख-पीड़ित भगोड़े आस-पास की पहाड़ियों में कहीं-कहीं घूम रहे हैं।"[३२]

पंजाब में सिपाही अब खतरे का कारण नहीं थे। एडवर्ड्स ने प्रकट रूप से पेशावर को शान्त कर दिया था। परन्तु अधिकारी लोग अपनी बेचैनी को नहीं हटा सकते थे। वे अपने नए मित्रों में विश्वास नहीं कर सकते थे। वे जानते थे कि उनकी राजभक्ति अत्यन्त निर्बल आधारों पर आश्रित थी। उन्हें भय था कि निर्बलता के अल्पतम लक्षण को देखकर ही पंजाबी मुस्लिम और सिख तथा मुलतानी और कबीले वाले लोग अपने ईसाई स्वामियों के विरुद्ध मिल कर एक हो जाएंगे।[३३] व्यापारियों का वर्ग भी जिसने अंग्रेजों के दृढ़ शासन से बहुत लाभ उठाया था सरकार को ऋण देने में हिचकता था। पेशावर के महाजन व्यापारियों ने केवल १५००० रु० देने का प्रस्ताव किया, परन्तु एडवर्ड्स ने उन पर जोर डाल कर उनसे ५ लाख रुपए दिलवाए।

पहले से ही यद्यपि अधिकारियों ने दृढ़ उपाय किए थे, परन्तु पंजाब के संकटों का अभी अन्त नहीं हुआ था। पहली सितम्बर को पहाड़ी आदमियों के एक गिरोह ने मरी पर आक्रमण कर दिया, परन्तु पुलिस को इस होने वाले आक्रमण की पहले से सूचना मिल चुकी थी और लुटेरों ने उन्हें पहले से ही तैयार पाया। कोई हानि होने से पूर्व वे पीछे हट गए। इससे अधिक गम्भीर विद्रोह मुलतान जिले में हुआ। इस नए विद्रोह का नेता खुर्रल कबीले का मुखिया अहमद खां था। उसके साथ अन्य युद्ध-प्रिय जातियां भी सम्मिलित हो गई थीं और कुछ दिन के लिए मुलतान और लाहौर के बीच का संचार मार्ग रुक गया था। मुलतान की दुर्ग-सेना बहुत निर्बल थी और इस अप्रत्याशित खतरे का सामना करने के लिए काफी सैन्य दल नहीं भेज सकती थी। विद्रोहियों ने गोगेरा के जंगलों पर अपना अधिकार कर लिया और अपने अंग्रेज शत्रुओं के विरुद्ध उन्हें कुछ प्रारम्भिक सफलता भी मिली। मेजर चैम्बरलेन ने अपने आपको एक सराय में घिरा पाया और मुलतान से किसी सहायता को आशा नहीं थी। फिर भी सर जान लारेंस ने हाल में भर्ती की गई पंजाब घुड़सवार सेना का एक दल तत्काल भेजा। २८ सितम्बर को मुलतान से भेजी गई एक टुकड़ी उनसे मिली और चिचवतनी सराय में चैम्बरलेन को सहायता पहुंचाई। पहल अब अंग्रेजों के हाथ में आ गई, परन्तु युद्ध-प्रिय कबीले के लोग जंगलों की शरण से बराबर लड़ते रहे। अहमद खां की मृत्यु ने युद्ध को समाप्त नहीं किया। विद्रोहियों ने मीर बहावल फत्वाना के रूप में एक नया नेता पाया। परन्तु चारों ओर से दबाव पड़ने पर विद्रोही धीरे-धीरे अपने देश के जंगल के अन्दर घुस गए जहां ब्रिटिश सैन्य दलों ने कुछ गड़रियों के मार्ग-निर्देशन में उन पर

---

३२. केव-ब्राउन, उद्धृत ग्रन्थ, जिल्द २, पृ० ११३

३३. ब्रिगेडियर चैम्बरलेन अपने दिनांक १ सितम्बर, १८५८ के एक पत्र में कहता है कि सिखों ने अब यह सोचना शुरू कर दिया है कि विद्रोह सम्भव है।

आक्रमण किया और उन्हें पराजित कर दिया। इस प्रकार गोगेरा का विद्रोह समाप्त हुआ।[३४]

लारेंस और उसके सहयोगियों ने पूर्ण विजय प्राप्त करने के लिए सब कुछ की बाजी लगा दी थी। उन्होंने दिल्ली की संकरी पहाड़ी की क्षीण पंक्ति को शक्तिशाली करने के लिए पंजाब के यूरोपीय सैन्य दलों को हटाया। वे जानते थे कि कोई भारतीय तत्व वास्तविक रूप में ब्रिटिश स्वार्थों के लिए अनुकूल नहीं हो सकता था, फिर उन्होंने सेना में सिख शक्ति को करीब परिपूर्ण अवस्था तक बढ़ाया। वे कबायली नेताओं से दृढ़ता से खेलते रहे क्योंकि वे जानते थे कि किसी भी क्षण वे फिरंगियों से विरुद्ध हो जाएंगे। परन्तु हिन्दुस्तान को बचाना था, इसलिए पंजाब और पेशावर के साधनों पर अत्यधिक सीमा तक जोर डालने में उन्हें हिचक नहीं थी। जब कि साम्राज्य लगभग जाता दिखाई देता था लारेंस इसे रखने के लिए उच्चतम मूल्य देने को तैयार था। उसने गम्भीरता पूर्वक प्रस्ताव किया कि पेशावर को छोड़ देना चाहिए। सीमान्त-प्रदेश में लगे सैन्य दलों को भारत भेज देना चाहिए और दोस्त मुहम्मद को निमन्त्रण देना चाहिए कि वह उसका भार संभाले जो पहले उसका था। परन्तु एडवर्ड्स ने दृढ़ता पूर्वक इस प्रस्ताव का विरोध किया और लारेंस को यह सर्वोच्च बलिदान नहीं करना पड़ा। जो आदमी उसने भेजे, जो रसद उसने दी, उसने तराजू के पलड़े को अपने देश के पक्ष में कर दिया।

३४. केव-ब्राउन, उद्धृत ग्रन्थ, जिल्द २, पृ० २००-२३

अध्याय १०

आखिरी दौर

जब लखनऊ अंग्रेज़ों के हाथ में आ चुका था और उत्तर-पश्चिमी प्रान्त भी करीब-करीब पराजित हो चुका था तो सर कोलिन कैम्पबेल इस स्थिति में हो गया कि वह रुहेलखण्ड की ओर बढ़ सके। वहां जून सन् १८५७ से एक विद्रोही सरकार काम कर रही थी। बहुत पहले से ही रुहेलखण्ड युद्ध प्रिय जातियों का निवास स्थान था। यहां कठेरिया राजपूत, जिनके नाम पर इस क्षेत्र का पूर्वतम नाम कठेर पड़ा, पूर्व से आकर बस गए थे। रुहेला लोग उनसे कहीं बाद में आए थे। उन्होंने सत्रहवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में कठेर को अपना निवास-स्थान बनाया। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में वीर पठानों का निवास प्रदेश एक ब्रिटिश प्रान्त बन गया। सन् १७७४ में वारेन हेस्टिंग्स ने ४० लाख रुपये लेकर नवाब को सैनिक सहायता दी थी और ब्रिटिश सैन्य दलों ने नवाब के लिए रुहेलखण्ड को जीता था। परन्तु सन् १८०१ में नवाब ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी को रुहेलखण्ड दे दिया और कालान्तर में यह एक कमिश्नर का डिवीज़न हो गया और बरेली इसका सदर मुकाम बना। इस डिवीज़न में पांच प्रशासनिक जिले थे : बरेली, मुरादाबाद, शाहजहांपुर, बदायूं और बिजनौर।

मई १८५७ में तीन देशी रेजीमेंट, ८वीं अनियमित घुड़सवार सेना, १८वीं और ६८वीं देशी पैदल सेना तथा तोपखाने का एक भारतीय दल, ये सब बरेली में छावनी डाले पड़े थे।[1] ब्रिगेडियर सिबाल्ड इस सैनिक स्थान का सामादेशिक अधिकारी था और उसके बाद दूसरे नम्बर का अधिकारी कर्नल कोलिन ट्रुप था, जिसने लेफ्टिनेंट-गवर्नर कालविन को घोषणा की प्रेरणा दी, जिसकी बहुत समालोचना की गई थी। बरेली में मई के अन्तिम सप्ताह तक किसी संकट की आशंका नहीं हुई। नगर के मुख्य नागरिकों ने शान्ति के उद्देश्य के लिए अपनी सेवाएं स्वेच्छा से अर्पित कर दीं और ख़ान बहादुर ख़ां, जो मुस्लिम रईसों के मुखिया थे, प्रतिदिन कमिश्नर मि० अलेक्ज़ेंडर से भेंट करने जाते थे।[2] स्वाभाविक रूप से यह आशा की जाती थी कि राजपूत ठाकुर और रुहेला सरदार एक दूसरे के विरुद्ध सन्तुलन का काम करेंगे और उनकी युगों पुरानी प्रतिद्वन्द्विता किसी अन्य चीज की अपेक्षा शान्ति और सुव्यवस्था के उद्देश्य को अधिक अच्छी तरह से पूरी करेगी। मई के शुरू में घुड़सवार सेना के रिसालदार मेजर मुहम्मद शफ़ी ने ब्रिगेडियर को आश्वासन दिलाया था

---

१. फ़ारेस्ट, ए हिस्ट्री आफ़ दि इण्डियन म्यूटिनी, जिल्द ३, पृ० ३०२

२. अलेक्जेंडर्स रिपोर्ट, अनुच्छेद २२

कि घुड़सवार सेना हर हालत में पूरी तरह से वफादार रहेगी और यदि पैदल सेना ने कोई उपद्रव किया तो वह उसे दबा भी देगी।[3] महिलाएं अप्रैल में ही नैनीताल के पहाड़ी स्थान पर भेज दी गई थीं।

निगाहबाज़ लोगों ने मार्च में ही सिपाहियों में एक गूढ़ परिवर्तन देख लिया था। घुड़सवार सेना के एक दुर्गादास बन्द्योपाध्याय ने उनकी आदतों और सम्भाषण में एक विचित्र परिवर्तन देखा, जिसने अप्रैल में एक निश्चित अक्खड़ता का रूप ग्रहण कर लिया। उसका कहना है कि अप्रैल में ही चर्बी लगे हुए कारतूस की बात छावनी में फैली और उसने इसकी सूचना अधिकारियों को दे दी थी।[4]

सक्रिय असन्तोष के प्रकट होने का प्रथम लक्षण १९ मई को मुरादाबाद में दिखाई पड़ा जब २९वीं पैदल सेना के एक दल ने जेल के दरवाजों को तोड़ दिया। २१ मई को ब्रिगेडियर सिबाल्ड और कमिश्नर अलेक्जेंडर ने क्रमशः सैन्य दलों और उनके अफसरों के सामने बरेली में भाषण दिए और उनसे अनुरोध किया कि वे अपने धर्म के बारे में सब भय और संशय तज दें। उसने उन्हें विश्वास दिलाया कि उनके प्रति सरकार के रुख में कोई अन्तर नहीं आया है। प्रकट रूप से वे उनके अभिभाषणों के परिणाम से सन्तुष्ट हुए और ब्रिगेडियर सिबाल्ड ने उत्तर-पश्चिमी प्रान्त की सरकार को लिखा, "इस समय सैन्य दलों ने प्रसन्नता और आज्ञाकारिता की जो भावना दिखाई है, उससे मुझे भविष्य में अत्यन्त सुखद परिणामों की आशा है। मुझे विश्वास हो गया है कि यदि उनकी सेवाओं की आवश्यकता हुई तो वे अच्छे और राजभक्त सिपाहियों के रूप में कार्य करेंगे।"[5] २९ ता० को कर्नल ट्रुप से कहा गया कि पैदल सेना की रेजीमेंटें अगले दिन दो बजे विद्रोह करेंगी और अपने यूरोपीय अफसरों की हत्या करेंगी। उसे अब भी आठवीं अनियमित घुड़सवार सेना की स्वामिभक्ति के सम्बन्ध में कोई संशय नहीं था। ३० ता० को कुछ नहीं हुआ और ३१ ता० को सबेरे भी बिल्कुल शान्ति रही। परन्तु जैसे ही रेजीमेंट की घड़ियों ने ११ बजाए, बन्दूकें गड़गड़ाने लगीं और सिपाहियों की पंक्तियों और अफसरों के निवास-स्थानों में आग लग गई। ब्रिगेडियर एक दम घुड़सवार सेना की पंक्तियों की ओर दौड़ा, परन्तु उसकी छाती में गोली लगी; यद्यपि जब तक वह घटनास्थल पर नहीं पहुंच गया उसकी मृत्यु नहीं हुई। कर्नल ट्रुप को घुड़सवार सेना की सद्भावना में कोई विश्वास नहीं था और उसने घोड़े पर चढ़ कर नैनीताल जाने का निश्चय किया। घुड़सवार सेना के समादेशक अधिकारी कैप्टन मैकेन्ज़ी मेंज़ीज़ ने अभी अपनी सेना में विश्वास नहीं छोड़ा था। उसने अपनी रेजीमेंट के एक स्कन्ध को पैदल सेना के साथ एक पंक्ति में खड़े देखा और वह उन्हें समझाने लगा जब कि हरा झण्डा फहरा दिया गया और दोनों स्कन्धों पर उसका अधिकार समाप्त हो गया। इसलिए मैकेन्ज़ी भी ट्रुप और दूसरे अफसरों के साथ भाग गया।

दुर्गादास बन्द्योपाध्याय का वर्णन कुछ भिन्न प्रकार का है, परन्तु उसका यह दावा

३. दुर्गादास बन्द्योपाध्याय, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ८३

४. वही, पृ० ८०-८१

५. फ़ारेस्ट, ए हिस्ट्री आफ़ दि इण्डियन म्यूटिनी, जिल्द ३, पृ० ३०४

नहीं है कि उसे घटनाओं का वैयक्तिक ज्ञान था। जब ग़दर हुआ तो उसे इसका कोई भान न था। यद्यपि उस दिन रविवार था, फिर भी वह मासिक हिसाब-किताब लेकर एडजुटेंट (सेना-सहायक) के बंगले पर साढ़े दस बजे सबेरे गया था।[६] और उसने लेफ्टिनेंट बीचर को अनुपस्थित पाया। इसके थोड़ी देर बाद चारों ओर से गोलियों की आवाज़ ने उसे विश्वास दिला दिया कि बहुत दिनों से जिस क्षण की आशंका थी वह आ गया है। उसने सुन रखा था कि यूरोपीय अधिकारियों को इस आने वाले विद्रोह की सूचना दे दी गई थी और अब वे विद्रोह के लिए नियत समय साढ़े दस बजे से पूर्व बीस विश्वस्त देशी अधिकारियों के साथ घुड़सवार सेना की पंक्तियों के पास आमों के एक बाग में जमा थे। घुड़सवार सेना यूरोपीय लोगों से मिलने के उद्देश्य से उनके पास आमों के बाग में गई। परन्तु वे जैसे ही उनके पास पहुंचे यूरोपीय लोग भयभीत हो गए और उन्होंने अपने घोड़े नैनीताल की ओर मोड़ दिए। जब रिसालदार मेजर मुहम्मद शफ़ी वहां आया तब वे आधा मील दूर जा चुके थे। जब उसने उनके पास पहुंचने का प्रबन्ध किया तो भगोड़ों ने अपने घोड़ों की चाल और तेज कर दी। शफ़ी ने अनुभव किया कि वे उसके इरादों को गलत समझ रहे हैं, इसलिए उसने एक लाल रूमाल से संकेत करना आरम्भ किया परन्तु अंग्रेज़ अफसरों ने पीछे मुड़ कर देखा तक नहीं और इसलिए वे उसके मैत्रीपूर्ण संकेत नहीं देख सके। शफ़ी बड़ी उलझन में पड़ गया। यदि यह अफसरों के पीछे घोड़े पर जाता तो यह सम्भव था कि अधिकारी उस पर गोली चलाते और स्वामिभक्त सैनिक-पुलिस के आदमी उन पर तत्काल टूट पड़ते और उन्हें मार डालते। इसलिए वह वापस आया और ग़दर करने वालों से मिल गया, क्योंकि उसके पास अपने आदमियों को वेतन देने और उनके लिए सामग्री जुटाने के कोई साधन न थे। दुर्गादास ने इस कहानी को स्वयं मुहम्मद शफी से सुना। कुछ भी हो, घुड़सवार सेना ने भगोड़ों का पीछा नहीं किया।[७]

विद्रोही सेना की कमान तोपखाने के सूबेदार बख़्त ख़ां ने संभाली और उसने अपने को ब्रिगेडियर घोषित कर दिया। ख़ान बहादुर ख़ां प्रशासन का प्रमुख हो गया, स्वतन्त्र शासक के रूप में नहीं बल्कि दिल्ली के सम्राट की ओर से कठेर के वायसराय के रूप में। वह रुहेला लोगों का स्वाभाविक मुखिया था, यद्यपि उसकी अवस्था ७० और ८० के बीच थी। वह रुहेलखण्ड के अन्तिम स्वतन्त्र शासक हाफ़िज रहमत ख़ां का पौत्र था और इसलिए उसके अधिकारों और दावों का वैध उत्तराधिकारी था। अपने परिवार के मुखिया के रूप में उसे अंग्रेज़ी सरकार से प्रति मास एक सौ रुपये वजीफे के रूप में मिलते थे। उसे एक और पेंशन अंग्रेज़ी सेवा में एक न्यायिक अधिकारी के रूप में भी मिलती थी। उसमें न तो शारीरिक शक्ति थी और न मानसिक उत्साह, जिन दोनों की उस समय की परिस्थिति में जरूरत थी। ग़दर के शुरू होने से पूर्व वह सम्भवतः कानून और व्यवस्था का एक सच्चा समर्थक था। ३० ता० को उसने कमिश्नर को चेतावनी

---

६. क्योंकि उसके कथनानुसार वह महीने का अन्तिम दिन था।

७. दुर्गादास बन्द्योपाध्याय, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ६१-६२

दी, "मामला निराशाजनक है और रेजीमेंट अवश्य विद्रोह करेगी।" अलेक्ज़ेंडर कहता है, "उससे मेरी यह अंतिम मुलाकात थी। उसने मेरे साथ हाथ मिलाया और उसके अन्तिम शब्द अर्थपूर्ण थे—अपनी जान बचाओ।"[८] यह कहा जाता था कि एक दिन पहले रेजीमेंट के आदमी ख़ान बहादुर ख़ां से भेंट करने गए थे।[९]

क्या विद्रोहियों और इस बुड्ढे आदमी के बीच पहले से कोई समझौता था? क्या वह कमिश्नर से एक दुहरा खेल खेल रहा था? अलेक्ज़ेंडर का विचार है कि ऐसा नहीं था। "न तो किसी तथ्य से, न लेख और न मौखिक साक्ष्य या जांच से यह कभी माना जा सकता है या निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ३१ मई से ठीक पहले के दो सप्ताहों से पूर्व रेजीमेंटों की पंक्तियों के बाहर किसी प्रकार का संगठित षड्यन्त्र वर्तमान सरकार को उलटने के लिए या उसके स्थान पर किसी दूसरी अवैध सरकार को स्थापित करने के लिए हुआ।" "ग़दर के ठीक बाद जिस प्रकार की सरकार कायम हुई उससे मेरी राय में यह सिद्ध हो जाता है कि पहले से किए गए षड्यन्त्र का विचार अनुपयुक्त है।"[१०]

यह सम्भव है कि वह वृद्ध व्यक्ति विद्रोह के उठते हुए ज्वार में बह गया हो। वायसराय पद के लिए दूसरे उम्मीदवार थे और यदि उसने इसे अस्वीकार कर दिया होता तो उसके प्रतिद्वन्द्वी उस सम्मान और सत्ता को नहीं छोड़ते जो निज़ामत के साथ संयुक्त थी।[११] रुहेलखण्ड का शासन एक समय उसके परिवार के हाथों में था और ब्रिटिश अधिकारी उसके अधिकारों के बदले में उसे एक सौ रुपये की एक तुच्छ पेंशन देते थे। वह सरकार भी अब हटा दी गई थी और एक मुस्लिम बादशाह फिर से दिल्ली की गद्दी पर बैठा दिया गया था। क्या उसके लिए यह ठीक था कि वह उस शासन-सत्ता से अपने को तथा अपने पुत्रों को नियुक्त कर ले जो ग़दर के कारण सुलभ हो गई थीं? वृद्ध पुरुष ने संकल्प तो कर लिया, परन्तु वह नगर में शान्ति और सुव्यवस्था बनाये रखने में अशक्त था। सिपाहियों ने मनमाने ढंग से बरेली के धनवान लोगों को लूटा और चार अंग्रेज़ अफसर यदि उसके आदेश से नहीं तो कम से कम उसके नाम से मार डाले गए। कम से कम एक अंग्रेज़ उसकी उपस्थिति में मार डाला गया। उसने एक घोषणा निकलवाई थी जिसमें यूरोपियों को शरण देने वाले हर व्यक्ति को मृत्यु की धमकी दी गई थी। दूसरे स्थानों की तरह शहर के गुण्डे भी सेना के साथ उठ खड़े हुए और उन्होंने

---

८. अलेक्ज़ेंडर्स रिपोर्ट आन बरेली, अनुच्छेद ५६

९. अलेक्ज़ेंडर्स रिपोर्ट, अनुच्छेद ५५

१०. अलेक्ज़ेंडर का पत्र उत्तर-पश्चिमी प्रान्त की सरकार के सचिव के नाम, दिनांक ३० नवम्बर, १८५८, संख्या ३३१, १८५८, अनुच्छेद ७ और ८

११. पठान जाति का मुखिया मुबारक शाह इस पद के लिए उम्मीदवार था। वास्तव में वह कोतवाली जा रहा था जब उसे पता लगा कि खान बहादुर खां भी वहीं जा रहा है। वह एक चालाक आदमी था। उसने एकदम खान बहादुर खां के दावों को स्वीकार कर लिया और उसे बदायूं का नाज़िम नियुक्त कर दिया गया। इंगलिस रिपोर्ट आन बरेली, पृ० २ तथा १३ दुर्गादास बन्द्योपाध्याय, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १४०-१४२

दूकानों और व्यापारिक स्थानों को लूटा। जो लोग सन्देह में गिरफ्तार किए गए उनमें बंगाली क्लर्क भी थे जो ब्रिटिश सरकार के असैनिक और सैनिक विभागों से सम्बद्ध थे।

ख़ान बहादुर ख़ां ने, जो अब रुहेलखण्ड का नवाब-नाज़िम था, हिन्दुओं को और विशेषतः राजपूत ठाकुरों को प्रसन्न करने के लिए शीघ्र ही कदम उठाये और उसने यह भी प्रयत्न किया जिस पद को उसने अपने आप प्राप्त कर लिया था उसके लिए उसे औपचारिक नियुक्ति दिल्ली से मिल जाए। इसलिए उसने नज़र और बहुमूल्य भेंटें सम्राट के पास भेजीं और उचित समय पर उसे आवश्यक फरमान मिल गया। ठाकुरों के एक मुखिया जयमल सिंह ने सर्व प्रथम ख़ान बहादुर ख़ां को अपना स्वामी स्वीकार किया,[१२] और दूसरों ने उसका अनुगमन किया। सोभाराम नामक एक बनिये को दीवान नियुक्त किया गया और केवल एक को छोड़कर उसके सारे कर्मचारी हिन्दू थे। बख़्त ख़ां के दिल्ली प्रस्थान कर जाने के बाद ख़ान बहादुर ख़ां ने पुनः व्यवस्था स्थापित करने का प्रयत्न किया और आठ सदस्यों की एक समिति प्रशासन का कार्य चलाने के लिए बनाई, जिसमें दो सदस्य हिन्दू और छः मुसलमान थे। ठाकुर जयमल सिंह इस समिति का सदस्य था और यह समिति तब तक कार्य करती रही जब तक ख़ान बहादुर ख़ां के पास सत्ता रही।[१३] निःसन्देह हिन्दू भावनाओं का आदर करते हुए उसने शहर में गो-वध का निषेध कर दिया, परन्तु वह नाऊ मुहल्ला के सैयदों को अपने वश में नहीं रख सका और व्यक्तिगत झगड़े अक्सर साम्प्रदायिक रंग ले लेते थे। सोभाराम को मुसलमान अच्छी निगाह से नहीं देखते थे और वैसे भी जिसका काम कर इकट्ठा करना होता है उसके बहुत से शत्रु हो जाते हैं। सोभाराम एक ऐसे नए स्थापित शासन के माल विभाग का प्रमुख था जिसे धन की सदा ही आवश्यकता रहती थी, इसलिए अनेक शक्तिशाली और प्रभावशाली व्यक्तियों को उसने रुष्ट कर दिया था। एक दिन जब वह अपने कार्यालय में था तो एक उपद्रवी मुस्लिम भीड़ जबरदस्ती उसके घर में घुस गई और यह बहाना करके कि वह उन अंग्रेज़ों को खोजना चाहती है जिनके वहां छिपे हुए होने का सन्देह है, उसका घर लूटा।[१४] इससे भी अधिक बुरा मामला बल्देव गिर गोसाईं का था। ख़ान बहादुर ख़ां के एक सम्बन्धी मीर आलम खां ने स्वयं गोसाईं पर उसके घर में जाकर आक्रमण किया और उसे और उसकी पत्नी को हिंसा की धमकी दी। गोसाईं ने आत्म रक्षा करते हुए मीर को मार डाला। एक मुफ्ती ने उसका न्याय किया और उसे छोड़ दिया, परन्तु मीर आलम के भाई ने कानून को अपने हाथ में लेकर गोसाईं की हत्या कर दी। ख़ान बहादुर ख़ां अपराधी को सजा नहीं दिलवा सका और हिन्दुओं को इससे स्वाभाविक रूप से शिकायत हुई।[१५] नया प्रशासन विशेषतः व्यापारी वर्ग में लोकप्रिय नहीं था, क्योंकि उन्हें बहुत अधिक बार राज्य कोष में धन देना पड़ता था। जो समिति कर का निर्धारण करती थी उसमें सब हिन्दू ही

---

१२. इंगलिस की रिपोर्ट, पृ० ७, अलेक्ज़ेंडर्स रिपोर्ट, अनुच्छेद ४६

१३. इंगलिस की रिपोर्ट, पृ० ६

१४. दुर्गादास बन्द्योपाध्याय, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० २२०

१५. इंगलिस की रिपोर्ट, पृ० १३-१४

थे और खान बहादुर खां ने बड़ी सावधानीपूर्वक कर लगाने के सम्बन्ध में मुस्लिम मुल्लाओं से फतवा और ब्राह्मण पण्डितों के हस्ताक्षरों सहित व्यवस्था ले ली थी और इस प्रकार अपनी स्थिति को मजबूत कर लिया था, परन्तु फिर भी जिन पर करों का भार पड़ता था वे उसके प्रति रोष दिखाते थे। सोभाराम विशेषतः ऐसे व्यापारी वर्ग से कर वसूल करता था जो अंग्रेज लोगों के साथ सहानुभूति दिखाने वाले माने जाते थे या उन लोगों से जो नए शासन के प्रति अच्छी भावना नहीं रखते थे। मिश्र बैजनाथ और "सरकारी कोषाध्यक्ष कुंजेत लाल" को एक बार ५४,००० रु० देना पड़ा।[१६] लेकिन केवल यही एक अवसर नहीं था जबकि बैजनाथ को अपना धन देना पड़ा था। एक अर्थ में तो वह सस्ता ही छूटा, क्योंकि वह न केवल अपने गुप्तचरों द्वारा नैनीताल के भगोड़े अफसरों के साथ अपना सम्पर्क बनाए हुए था बल्कि उसके अभिकर्ताओं ने बदायूं के एडवर्ड्स को हरदेव बख़्श के एक गांव में खोज निकाला था और उसे धन दिया था, जिसकी उसे बड़ी आवश्यकता थी।[१७] चूंकि विद्रोही शासन को बैजनाथ की कार्यवाहियों का पूरा पता नहीं था इसलिए वह केवल धन की हानि उठाकर ही छुटकारा पा गया। परन्तु ब्रिटिश सत्ता के पुनः स्थापित होने पर उसकी जो क्षति हुई थी उससे कहीं अधिक आर्थिक लाभ उसे हो गया। उसे न केवल राजा का खिताब दिया गया बल्कि उसके साथ विशाल जागीर भी मिली।

बदायूं और बिजनौर में जो घटनाएं हुई उनकी कहानी संक्षेप से कही जा सकता है। बदायूं एक सैनिक स्थान नहीं था और मैजिस्ट्रेट विलियम एडवर्ड्स ही वहां एक मात्र यूरोपीय अफसर था। जब कुछ थोड़े से सिपाहियों ने, जो वहां नियत किए गए थे, विद्रोह किया तो वह वहां से फतेहगढ़ चला गया। यह उसका सौभाग्य था कि वह उन अभागे लोगों में नहीं था, जिन्होंने वहां ठहरने का निश्चय किया। एक मित्र जमींदार हरदेव बख़्श के सुरक्षित निवास-स्थान धर्मपुर में वह प्रोबिन से जाकर मिला और एक सुरक्षित गांव में वह तब तक घूमता रहा जब तक कि उसे सुरक्षापूर्वक कानपुर जाना सम्भव नहीं जान पड़ा।

बिजनौर की कहानी बड़ी मनोरंजक थी। लगभग मई के अन्त में पड़ोस के गुण्डों ने जेल पर आक्रमण कर दिया। जेल के पहरेदारों ने आक्रमणकारियों पर गोली चलाई और उन्हें तितर-बितर कर दिया। कोई गम्भीर घटना नहीं हुई, यद्यपि कुछ अपराधी भाग निकले। बाद में रुड़की के विद्रोही बिजनौर में आए। इसी समय एक मुस्लिम अफसर को, जो बाद में एक महान राजनीतिज्ञ और शिक्षाशास्त्री के रूप में प्रसिद्ध हुआ, अपनी कूटनीतिक प्रतिभा दिखाने का अवसर मिला। बिजनौर के सदर अमीन सैयद अहमद ने विद्रोहियों से वार्ताएं कीं और उनसे अनुरोध किया कि वे अंग्रेज़ों को बिना हानि पहुंचाए छोड़ दें। परन्तु विद्रोही सैन्य दलों के चले जाने से बिजनौर के यूरोपीय अफसरों को केवल अस्थायी विश्रान्ति मिली। बदनाम गुलाम कादिर के भतीजे नवाब महमूद ख़ां ने उस घर पर आक्रमण कर दिया, जिसमें यूरोपीय लोगों ने शरण ले रखी थी। सैयद अहमद

---

१६. इंगलिस की रिपोर्ट, पृ० ५, और अलेक्ज़ेंडर्स लेटर, संख्या ३३१, १८५८

१७. एडवर्ड्स उद्धृत ग्रन्थ, पृ० २६ और पृ० १५६

फिर उनकी सहायता के लिए आए और एक मैत्रीपूर्ण समझौता हो गया, जिसके अनुसार यूरोपीय लोगों को मेरठ जाने की अनुमति दे दी गई और जिला तब तक के वास्ते नवाब के लिए छोड़ दिया गया, "जब तक कि अंग्रेज लौटकर उसे वापस न ले लें।" इसके बाद तीन हिन्दू जमींदार, जिनमें तेजपुर के चौधरी (बाद में राजा) प्रताप सिंह मुख्य थे, पठान नवाब के विरुद्ध मिल गए और उसे पीछे हटने को बाध्य किया। उन्होंने यूरोपीय अफसरों से लौटने और जिले का भार संभालने की प्रार्थना की, परन्तु स्पेशल कमिश्नर क्रूकोफ्ट विलसन ने सैयद अहमद से मुहम्मद रहमत खां, डिप्टी मैजिस्ट्रेट और तहसीलदार मीर तुराब अली के सहयोग से प्रशासन को चलाने के लिए कहा। यदि एक हिन्दू सहयोगी ने अविवेक न दिखाया होता तो सैयद अहमद अपने अंग्रेज स्वामियों के लिए बिजनौर की तब तक सुरक्षा किये रहता जब तक अंग्रेजों की सत्ता पुनः स्थापित न हो जाती। परन्तु चौधरी ने एक मुस्लिम गांव को लूटा जिसके परिणामस्वरूप मुस्लिमों ने विद्रोही नवाब का साथ दिया और उसकी सत्ता को पुनः स्थापित कर दिया।[१८]

३ जून को मुरादाबाद में एक अप्रत्याशित दंगा हुआ। २९वीं देशी पैदल सेना, जिसके ऊपर मि० क्रूकोफ्ट विलसन का असाधारण प्रभाव रखने का दावा था, न केवल अविचल रही बल्कि उसने उपद्रवों को दबाने में भी भाग लिया। गूजर, मेवाती और कुछ हालतों में जाटों ने भी वैधानिक सत्ता के पतन का लाभ उठाया था और अपनी लूट-मार की प्रवृत्ति पर वे उतर आए थे। मैजिस्ट्रेट का प्रतिवेदन है कि "असैनिक अधिकारियों द्वारा २९वीं देशी पैदल सेना तथा अनियमित घुड़सवार सेना की टुकड़ियों की सहायता से अमरोहा में तथा चुगलुत और हसनपुर के पड़ोस में, इन हत्याकारियों के विरुद्ध अनेक अभियान सफलतापूर्वक किए गए थे और मई के अन्त तक जिले में पूर्ण शान्ति स्थापित हो चुकी थी और हम अपनी जगहों को बनाए रखने के लिए और सुरक्षापूर्वक कठिनाई को पार कर जाने के लिए बड़े आशावादी थे। सफर मैना पलटन का एक बड़ा दल जो मेरठ से सेना को छोड़कर आ रहा था, जब जिले में से होकर अपने घर जा रहा था तो उस पर आक्रमण किया गया और साठ से अधिक लोगों से हथियार डलवा लिए गए। मुजफ्फर-नगर से सरकारी खजाने के लूट के माल को लेकर अपने घरों को लौटते हुए २०वीं देशी पैदल सेना के २० सिपाहियों की टोली पर भी आक्रमण किया गया और उनका लूट का धन छीन लिया गया। उनकी टोली के दो आदमी मारे गए और करीब बारह या तेरह पकड़ लिए गए।"[१९] अनुशासन और आज्ञा का सदा पालन करने वाले २९वीं सेना के आदमियों ने अन्त में अपने अधिकारियों की अवज्ञा करने का क्यों निश्चय किया, इसकी व्याख्या करना कठिन है। मैजिस्ट्रेट का कहना था कि विद्रोह के प्रारम्भ का कारण बरेली का निंदनीय उदाहरण था क्योंकि वहां के विद्रोह के समाचार ने ही सिपाहियों की भावनाओं को भड़का दिया। परन्तु अफसरों को कोई हानि नहीं पहुंचाई गई। जब कुछ सिपाहियों ने अपनी बन्दूकों की नलियां मैजिस्ट्रेट और जज की ओर कीं तो उनके अफसरों ने उन्हें

---

१८. ग्राहम, दि लाइफ़ एण्ड वर्क आफ़ सर सैयद अहमद खां, पृ० १५-२०

१९. एनल्स आफ़ दि इण्डियन रिबेलियन, पृ० ३५१

अपनी शपथ के बारे में याद दिलायी और फिर उनके जीवन लेने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया। अनियमित घुड़सवार सेना के कुछ भारतीय अफसर उस समय मुरादाबाद में छुट्टी पर थे और उनकी सेवाएं असैनिक अधिकारियों को सौंप दी गई थी। उन्होंने सुरक्षापूर्वक पहरे में भगोड़ों को मेरठ पहुंचाया।[२०] रामपुर का नवाब ब्रिटिश सरकार का घनिष्ठ मित्र था और यूरोपीय अधिकारियों की अनुपस्थिति में जिला अधिकतर उसके ही अधिकार में रहा। यह बात नहीं थी कि उसकी सत्ता को चुनौती दी गई हो, क्योंकि उसकी प्रजा में धर्म के ऐसे समर्थक थे जो यह देखना चाहते थे कि वह धर्म के शत्रुओं के विरुद्ध उनका नेतृत्व करें।

शाहजहांपुर के गोरे आदमी कम भाग्यवान थे। बरेली की घटनाओं का वहां के ग़दर में कोई हाथ न था, क्योंकि यदि उसी घड़ी नहीं तो कम-से-कम उसी दिन शुरू हुआ। मृतकों की संख्या बहुत अधिक थी, क्योंकि सिपाहियों ने तलवारों और लाठियों से सुसज्जित होकर उस समय गिर्जे पर आक्रमण किया जब प्रार्थना हो रही थी। बचे हुए लोग पोवाइन भाग गए जो एक शक्तिशाली जमींदार का निवास स्थान था और अवध के सीमान्त पर स्थित था। परन्तु जमींदार ने अपने स्थान को भगोड़ों के लिए सुरक्षित नहीं समझा। पोवाइन से मोहमदी को, जो अवध में था, और जहां एक और दल सुरक्षित रूप से ले जाए जाने के लिए प्रतीक्षा कर रही थी, एक पत्र भेजा गया। मोहमदी से ये अभागे लोग औरंगाबाद के लिए चले परन्त जब वे अपने गन्तव्य स्थान से एक मील दूर थे तो उन्हें सिपाहियों के एक दल ने निर्दयतापूर्वक मार डाला। परन्तु कैप्टन ओर के जीवन को, जो मोहमदी से उनके साथ जा रहा था, लछमन नामक एक जमादार ने बचाया। वह कैप्टन को सुरक्षापूर्वक मिठौली में पहुंचाने ले गया जहां उसकी पत्नी पहले से ही विद्यमान थी। शाहजहांपुर से विद्रोहियों के आने के कारण मोहमदी में ग़दर और जल्दी शुरू हुआ।[२१]

रुहेलखण्ड से लगभग ग्यारह महीने के लिए अंग्रेज़ी सत्ता विलुप्त हो गई और लाल बहादुर ने निर्विघ्न होकर बरेली में शासन किया। सन् १८५७ के अन्तिम महीनों में रुहेलखण्ड में हिन्दू विद्रोह के लिए धन जुटाने का प्रयत्न किया गया और कैप्टन गोवन को इस उद्देश्य के लिए ५०,००० रु० व्यय करने का अधिकार दे दिया गया। परन्तु उसके प्रयत्नों का कुछ परिणाम नहीं हुआ और उसने १४ नवम्बर (सन् १८५७) को लिखा, "आसपास के ठाकुरों को किसी भी संख्या में आदमी भरती करने की प्रेरणा देने के प्रयत्न में बिल्कुल असफल रहा हूं। मुझे यह बताया गया था कि वे सरकार को सक्रिय सहायता देने को तैयार हैं परन्तु जब मुझे पता लगा है कि यह सहायता केवल सद्भावना रखने और एक अच्छी यूरोपीय सेना की नियुक्ति के पश्चात वे क्या कर दिखाएंगे, यहीं तक सीमित है।"[२२] मुट्ठी भर यूरोपीय भगोड़ों को नैनीताल से निकालने का ख़ान बहादुर ख़ां

२०. एनल्स आफ़ दि इण्डियन रिबेलियन, पृ० ३५२

२१. वही, पृ० ३५५-६५

२२. फ़ारेन सीक्रेट कन्सल्टेशन्स, संख्या २५, २७ अगस्त, १८५८

का प्रयत्न बिल्कुल असफल रहा। उसकी सेना में कोई प्रशिक्षित सिपाही नहीं था। उसकी लड़ने वाली सेना का अनुमान साधारणतः ३० से ४० हजार तक लगाया जाता था, परन्तु उसमें सैनिक अनुभव[२३] का अभाव था, और उनका नेतृत्व करने के लिए कोई योग्य अफसर भी नहीं था।

सर कोलिन ने फिर प्राथमिकता के प्रश्न को उठा दिया। क्या पहले अवध को अधीन किया जाए या आगे के युद्ध के कार्यक्रम में बरेली को प्रथम स्थान मिले? सर कोलिन की इच्छा थी कि वह रुहेलखण्ड को बाद के युद्ध के लिए छोड़कर पहले अवध को पराजित करे। अपने २४ मार्च, १८५८ के पत्र में उसने लार्ड कैनिंग को इसके कारणों का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा, "यह मालूम पड़ता है कि इन सैन्य दलों के उपयोग के दो तरीके हैं। एक तो यह है कि इन्हें अवध के प्रान्त में लखनऊ की सहायता के लिए लगा दिया जाए और दूसरा यह है कि इस प्रान्त की सीमाओं के बाहर रुहेलखण्ड में युद्ध किया जाए। दूसरे तरीके के बारे में यह कहा जा सकता है कि रुहेलखण्ड को ले लेने के सम्बन्ध में बड़ी व्यग्रता विद्यमान है। जो लोग इसकी परिस्थिति से परिचित हैं उनका कहना है कि बिना किसी खतरे के रुहेलखण्ड को लिया जा सकता है, परन्तु वे यह स्वीकार करते हैं कि इसके लिए विभिन्न दिशाओं से सम्मिलित युद्ध करने की आवश्यकता है और एक पर्याप्त सैन्य दल की भी।"। अवध का प्रान्त अब भी एक सक्रिय विद्रोह की अवस्था में है, इसलिए केवल दुर्ग-सेना से ही उसकी रक्षा हो सकेगी यह सन्देहास्पद है। इसका तात्पर्य यह है कि सम्भवतः दुर्ग-सेना भी घेरी जा सकती है और रसद-सामग्री भी रोक दी जा सकती है, इसलिए इस प्रदेश का कुछ निश्चित भाग पूर्णतः जीत लेना और अपने अधिकार में रखना जरूरी है। इस कार्य की सिद्धि के लिए हमें लखनऊ को ध्यान में रखते हुए युद्ध-नीति की दृष्टि से कुछ महत्वपूर्ण नाकों पर अपना अधिकार करना होगा।" "जब कभी हमारे सैनिक दस्तों ने अभियान किया है, वे वस्तुतः विद्रोहियों को रौंदते हुए आगे बढ़े है, परन्तु जैसे ही वे आगे निकले हैं कि विद्रोही फिर उनके पीछे जमा हो गए हैं और उनके संचार साधनों को काट दिया है तथा उनकी रसद पहुंचने में विघ्न पहुंचाया है।" "यह अधिक आवश्यक है कि इस प्रान्त में बिना विलम्ब के वास्तविक सत्ता स्थापित की जाए बजाय इसके कि रुहेलखण्ड में एक और युद्ध छेड़ा जाए। इसलिए मैं यह अधिक पसन्द करता हूं कि अगले पांच-छः महीने रुहेलखण्ड में ही रहा जाए ताकि अवध को संगठन करने का समय मिल जाए।" परन्तु लार्ड कैनिंग ने दूसरा निर्णय किया। गवर्नर-जनरल ने उत्तर दिया, "तुम्हें सम्भवतः याद होगा कि सबसे पहले अवध के मामले को हाथ में लेने के सम्बन्ध में मैंने जो मत प्रकट किया था उसका आधार यह था विद्रोहियों के हाथ से अवध का पूरा प्रान्त नहीं बल्कि केवल उसकी राजधानी लखनऊ को ले लेना एक राजनीतिक आवश्यकता थी।" युद्ध की योजना तैयार करना प्रधान सेनापति का काम था, गवर्नर-जनरल ने केवल नीति निर्दिष्ट की।[२४]

---

२३. दुर्गादास बन्द्योपाध्याय के अनुसार बहुल रूप से निर्धन पठान।

२४. फारेस्ट, ए हिस्ट्री आफ दि इण्डियन म्यूटिनी, जिल्द ३, पृ० ३३३-३६

रुहेलखण्ड में विभिन्न स्थानों से प्रवेश करना था। ब्रिगेडियर-जनरल वालपोल को गंगा का बायां किनारा साफ करना था। प्रधान सेनापति स्वयं फतेहगढ़ से आगे बढ़ कर रुहेलखण्ड के सीमान्त पर वालपोल से मिलना चाहता था। मेजर जनरल पेनी को मेरठ से अभियान करना था और शाहजहांपुर और बरेली के बीच पीरन कटरा पर प्रधान सेनापति से मिलना था। एक चौथे दस्ते को ब्रिगेडियर-जनरल जोन्स की अधीनता में रुड़की से रुहेलखण्ड में प्रवेश करना था। सब सैनिक दस्तों को बरेली में मिलना था और वहां मुख्य विद्रोही सेना पर जोरदार हमला करना था, मेजर-जनरल सीटन को फतेहगढ़ के अपने मुख्यालय से गंगा नदी के किनारे विद्रोहियों की गतिविधि पर निगाह रखनी थी। निश्चित कार्यक्रम के अनुसार योजना क्रियान्वित की गई, परन्तु इसमें मुझे हानि भी हुई। वालपोल नरपतसिंह के गढ़ गया पर अपने आक्रमण में भारी हानि उठाई। इस किले को दो पार्श्व बांसों के एक दुर्गम वन के द्वारा सुरक्षित थे और शेष दो आपेक्षिक रूप से पहुंचने के लिए सुगम थे। एक जनप्रिय अफसर कर्नल एड्रियन होप की मृत्यु के कारण भारी पराजय का सामना करना पड़ा, परन्तु दूसरे दिन सवेरे किले को खाली पाया गया। सर कोलिन अपने सैन्य दलों के आगे घोड़े पर चढ़कर फतेहगढ़ में जनरल पेनी से मिलने गया। इसी समय वालपोल ने योजना के अपने भाग को पूरा किया और रामगंगा नदी के पास प्रधान सेनापति से मिला। पेनी पर ककरौली कस्बे के पास छिपकर हमला किया गया, जिससे यद्यपि सामान्य कार्यक्रम में तो कोई गड़बड़ी नहीं हुई परन्तु अपने प्रमाद के कारण उसे अपने जीवन से हाथ धोना पड़ा। ब्रिगेडियर जनरल जोन्स ने हरद्वार के समीप गंगा नदी को पार किया और भगनीवाला जंगल में उसका विद्रोहियों की सेना से आमना-सामना हुआ। उसके एक भारतीय अफसर इमाम बख़्श ने अपनी ओर से पहल करके एक छोटे किले को जीत लिया जिसमें एक नवाब ने शरण ले रखी थी। सैनिक दस्ता फिर मुरादाबाद की ओर बढ़ा, वहां ब्रिगेडियर रुक गया क्योंकि उसे प्रधान सेनापति की गतिविधि के बारे में कोई सूचना नहीं थी। उसे बरेली में मुख्य सेना से मिलना था ताकि ठीक समय पर आक्रमण में सम्मिलित हो सके। जोन्स ने ३ मई को अपना अभियान फिर शुरू किया और ५ मई को वह मीरगंज पहुंचा, जो बरेली से १४ मील था। मीरगंज में मन्दसौर की प्रसिद्धि का शाहज़ादा फ़ीरोज़ शाह ठहरा हुआ था, जो बिना प्रतिरोध किए पीछे हट गया। परन्तु सर कोलिन के बारे में कोई खबर नहीं थी।

सर कोलिन ने ३० अप्रैल को शाहजहांपुर के बाहर शिविर डाला। उसने एक छोटा-सा सैन्य दल वहां छोड़ दिया, जिसे जेल की रक्षा करनी थी। ३ मई को वह रुहेलखण्ड के नगर फतेहगढ़ पहुंचा। इसका यह नाम इसलिए पड़ा था कि अस्सी से कुछ अधिक वर्ष पूर्व यहां अवध के नवाब और उसके अंग्रेज़ सहायकों ने हाफिज़ रहमत ख़ां के रुहेलों पर फतह हासिल की थी। पूर्व योजना के अनुसार कर्नल जोन्स मीरनपुर कटरा में पेनी के सैनिक दस्ते सहित मुख्य सेना से मिला। ५ मई के प्रातः संयुक्त सेनाएं फरीदपुर पहुंचीं और घुड़सवार चौकीदारों ने सूचना दी कि रुहेला घुड़सवार सेना आ गई है। एकदम युद्ध के लिए तैयारियां होने लगीं। युद्ध भारी गोलाबारी से शुरू हुआ और फिर गाज़ियों ने भयंकर वार किए। हाइलैण्डर्स जी-जान से लड़े और गाज़ी घुड़सवार तोपों की

गोलाबारी के सामने न टिक सके। गाज़ी लोग धर्म के लिए मरने आए थे और उन्होंने न किसी का समर्थन चाहा और न वह उन्हें मिला। बरेली के युद्ध में रुहेला लोग हार गए और दूसरे दिन ब्रिगेडियर जोन्स की अधीनता में रुड़की-क्षेत्र-सेना बरेली के पास से बहने वाली एक छोटी नदी के ऊपर पत्थर के एक पुल पर अधिकार जमाए हुए विद्रोहियों के एक छोटे से सैन्य दल को पीछे हटाकर शहर की सीमा पर पहुंची। ख़ान बहादुर ख़ां पीलीभीत भाग गया और उसकी राजधानी पर पूरी तरह अंग्रेज़ों ने अधिकार जमा लिया।

बरेली की विजय के बाद सर कोलिन को चैन नहीं मिला। फ़ैज़ाबाद के मौलवी को सैनिक शिक्षा तो नहीं मिली थी, परन्तु उसमें एक जन्म-जात नेता की स्वाभाविक ख़ूबियां थीं। शत्रु के निर्बल स्थान पर एकदम उसकी निगाह पहुंचती थी और उस पर चोट करने से वह कभी नहीं चूकता था। लखनऊ के समीप सर होप ग्रांट द्वारा पराजित हो जाने के बाद अब उसने रुहेलखण्ड की ओर अपना ध्यान दिया। सम्भवतः वह बरेली के प्रतिरक्षकों की सहायता के लिए शत्रु सेना को विभक्त करना चाहता था। यह सम्भव न होने पर रक्षक-दलों को बीच में रोक कर और कमजोर चौकियों को काट कर वह आक्रमणकारी सेना को तंग करना चाहता था। शाहजहांपुर की थोड़ी सी दुर्ग-सेना पर उसका ध्यान गया और चूंकि इस समय सर कोलिन दूसरी जगह व्यस्त था इसलिए मौलवी ने इस कमजोर चौकी को नष्ट करने की आशा से हमला किया। परन्तु वह अचानक शहर पर कब्जा नहीं कर सकता था। एक गुप्तचर ने मौलवी के आने के बारे में अंग्रेज़ों को खबर दे दी और उन्होंने अपने तम्बू उखाड़े, जिन्हें उन्होंने जेल के समीप एक बाग में लगा लिया था और फिर शीघ्रता से खाई में प्रतिरक्षा के लिए तैयार हो गए। मौलवी ने पुराने किले, शहर के आसपास के स्थानों और कस्बे पर अपना अधिकार कर लिया और फिर जेल की तरफ अभियान किया। वह ब्रिटिश पक्षपाती नागरिकों को फांसी लगाना भी नहीं भूला, क्योंकि वह उन्हें देशद्रोही ही समझता था। आठ दिन और रात तक यह थोड़ी सी दुर्ग-सेना अपनी स्थिति की रक्षा करती रही और इस बीच ब्रिगेडियर जोन्स रुड़की क्षेत्र सेना के साथ, जिसका नाम अब शाहजहांपुर क्षेत्र सेना था, इसकी सहायता के लिए आया। फिर भी मौलवी बिना युद्ध किए नहीं हटा। इसी बीच उसे शाहज़ादा फ़ीरोज़ शाह और बेगम हज़रत महल से भी अधिक सेनाओं की सहायता मिल चुकी थी। परन्तु जोन्स ने उनके आक्रमण को पीछे हटा दिया और शाहजहांपुर बचा लिया गया। सर कोलिन ने रुहेलखण्ड को वालपोल की रक्षा में छोड़ा और जोन्स को अधिक सेना भेजकर वह स्वयं फतेहगढ़ लौट गया। अवध का युद्ध यह निश्चय हुआ कि जाड़ों में लड़ा जाए। परन्तु सर कोलिन से फिर लड़ने के लिए मौलवी जीवित नहीं रहा। शाहजहांपुर से पराजित होकर उसने आपको मोहमदी सड़क पर स्थापित कर लिया था जहां से जोन्स उसे नहीं हटा सका। मोहमदी को छोड़ने से पूर्व उसने सावधानीपूर्वक उस स्थान की समस्त प्रतिरक्षा को नष्ट कर दिया। ५ जून को वह पोवाइन के सामने दिखाई पड़ा, जो अवध-रुहेलखण्ड सीमान्त पर एक छोटा सा किला था और शाहजहांपुर से कुछ मील की दूरी पर था। परन्तु राजा ने मौलवी को अन्दर न आने देने के लिए किले के दरवाजों को बन्द करवा दिया। मौलवी ने अपने हाथी से किले के दरवाजों पर चोट करवाई परन्तु दुर्ग-सेना ने उसे गोली से मार दिया, क्योंकि हौदे

पर बैठा हुआ वह आसानी से गोली का निशाना बन सकता था। तदनन्तर उसके कटे हुए सिर को शाहजहांपुर के मैजिस्ट्रेट के पास भेजा गया और शहर की कोतवाली में उसे खुला रख दिया गया। शव जला दिया गया और उसकी राख नदी में फेंक दी गई। मौलवी के सिर की कीमत ५०,००० रु० राजा को मिली।[२५]

सर थामस सीटन के मतानुसार मौलवी "महान योग्यता वाला पुरुष था। उसमें निर्भीक साहस था, दृढ़ संकल्प था और वह विद्रोहियों में निश्चित रूप से सर्वोत्तम सिपाही था।"[२६] मैलेसेन ने मौलवी की एक मनुष्य और देशभक्त के रूप में सबसे अधिक प्रशंसा की है। "यदि एक ऐसा पुरुष देशभक्त कहलाता है जो अपनी जन्म-भूमि की स्वतन्त्रता के लिए, जिसे अन्यायपूर्वक नष्ट कर दिया गया है, षड्यन्त्र करता है और लड़ता है तो निश्चय रूप से मौलवी एक सच्चा देशभक्त था। उसने हत्याओं से अपनी तलवार को कलंकित नहीं किया, उसने हत्याओं की योजना नहीं बनाई, विदेशियों के विरुद्ध, जिन्होंने उसके देश को छीन लिया था, उसने वीरता, सम्मान और भीषणता से युद्ध किया और उसकी स्मृति सब राष्ट्रों के वीर और सच्चे हृदय वाले पुरुषों के आदर की अधिकारिणी है।"[२७]

ग्रीष्म ऋतु के गर्म महीनों में सैनिक-कार्य बिल्कुल बन्द नहीं किए गए। सर होप ग्रांट ने अवध में युद्ध किया और सुल्तानपुर को वापस ले लिया। परन्तु गवर्नर-जनरल और प्रधान सेनापति दोनों ने यह अनुभव कर लिया कि केवल सैनिक बल-प्रयोग से इतने व्यापक विद्रोह का ठीक-ठीक इलाज नहीं किया जा सकता, क्योंकि गांवों को अविवेकपूर्ण ढंग से जलाने की नीति का कुप्रभाव अन्त में वैधानिक सरकार पर ही पड़ता है क्योंकि उससे मालगुजारी की अदायगी नहीं हो पाती। इसलिए यह आवश्यक समझा गया कि बल-प्रयोग और तुष्टीकरण, प्रहार एवं प्यार इन दोनों का प्रयोग साथ-साथ करना चाहिए और यह भी प्रयत्न करता चाहिए कि अधिकांश विद्रोहियों से अनुरोध कर के उनके हथियार डलवा लिए जाएं और वे शान्ति से अपने घर वापस लौट जाएं। अधिक महत्वपूर्ण नेताओं को तो अपनी ओर मिलाना सम्भव नहीं था। वास्तव में नाना, तात्या टोपे, खान बहादुर खां और फर्रुखाबाद के नवाब तफज्जुल हुसैन जैसे आदमियों के लिए तो उपयुक्त सजा निर्धारित कर दी गई थी। परन्तु अब समय आ गया था जब कि विद्रोह के समय और उसके बाद अन्य साधारण लोगों द्वारा किए गए कार्यों की उपेक्षा की जानी चाहिए थी। भारत सरकार के कम्पनी की अधीनता से निकलकर सम्राज्ञी के अधीन हो जाने से इस प्रकार के प्रयोग के लिए अवसर मिला। पार्लियामेंट के दोनों सदनों के द्वारा पारित विधेयक, जिसके द्वारा ईस्ट इंडिया कम्पनी का शासन भारत में समाप्त कर दिया गया, अगस्त १८५८ में कार्यान्वित हुआ और पहली नवम्बर को रानी की घोषणा इलाहाबाद के एक विशाल दरबार में पढ़ी गई। इसमें भारतीय राजाओं के अधिकार, सम्मान और प्रतिष्ठा की सुरक्षा का

---

२५. जी० पी० मनी की ओर से आर० अलेक्ज़ेंडर को लिखा दिनांक १७ जून, १८५७ का पत्र। फ़ारेन सीक्रेट कन्सलटेशन्स, संख्या १३८, २७ अगस्त १८५८

२६. मैलेसन, उद्धृत ग्रन्थ, जिल्द २, पृ० ५४१

२७. वही, जिल्द २, पृ० ५४४

वचन दिया गया और घोषणा की कि धर्म के कारण न तो किसी पर कोई विशेष अनुग्रह किया जाएगा और न किसी को हानि पहुंचाई जायगी और "सबको समान और निष्पक्ष रूप से कानून का सरंक्षण मिलेगा।" इसने रानी का अधीन समस्त अधिकारियों को आदेश दिया कि "वे हमारे किसी भी प्रजा-जन के धार्मिक विश्वास या पूजा में हस्तक्षेप न करें। यदि वे ऐसा करेंगे तो उन्हें हमारी अप्रसन्नता के कारण दण्ड भोगना पड़ेगा। और हमारी यह इच्छा है कि जहां सम्भव हो हमारे प्रजा-जन, चाहे वह किसी जाति या धर्म के हों, स्वतन्त्रता और निष्पक्षता के साथ सेवा के सभी पदों को प्राप्त करें किन्तु अपनी शिक्षा, योग्यता और चारित्रिक निष्ठा के आधार पर उनमें इन पदों के कर्तव्यों को पूरा करने की क्षमता होनी चाहिए।"

इस घोषणा को विशेष सफलता नहीं मिली। एक दूसरी रानी, अवध की बेगम हज़रत महल ने, इसकी सचाई में संदेह प्रकट किया। उसने फौरन अपने पुत्र के नाम से एक प्रति-घोषणा निकलवाई। इसमें सम्बद्ध आदमियों से अनुरोध किया गया कि वे क्षमा के प्रस्ताव में विश्वास न करें, "क्योंकि अंग्रेजों का यह एक अपरिवर्तनीय रिवाज है कि वे किसी दोष को क्षमा नहीं करते चाहे वह छोटा हो या बड़ा," जबकि हिन्दुस्तानी शासकों की कृपा सर्वविदित है। "घोषणा में यह कहा गया है कि हिन्दुस्तान का शासन जो पहले कम्पनी के हाथ में था, अब रानी ने अपने अधिकार में ले लिया है।" परन्तु बेगम ने यह प्रश्न किया कि कम्पनी और रानी के शासन में अन्तर ही क्या रहा जबकि कम्पनी का प्रबंध पहले की तरह ही कायम है और कम्पनी के नौकर, गवर्नर-जनरल और कम्पनी का न्यायिक प्रशासन सब कुछ अपरिवर्तित रूप में बना हुआ है। इंग्लैंड की रानी ने कहा कि कम्पनी ने जो वायदे और समझौते किए हैं उनका वह आदर करेगी। अवध के शासक ने कई मामलों के उद्धरण दिए जिनमें भारतीय राजाओं के साथ घोर अन्याय किए गए थे और उनके साथ जिन सन्धियों पर हस्ताक्षर किए गए थे उन्हें प्रत्यक्ष रूप में तोड़ा गया था। उसने बताया कि किस प्रकार खुद उसके पूर्वगामियों से धीरे-धीरे शाहजहांपुर, बरेली, आजमगढ़, जौनपुर, गोरखपुर, इटावा और इलाहाबाद के जिले ले लिए गए थे। "ये तो पुराने मामले हैं," परन्तु अभी हाल में सन्धियों और शपथों की अवज्ञा कर और इसके बावजूद कि उन पर हमारे लाखों रुपये के ऋण थे, उन्होंने बिना किसी कारण के और बुरे शासन तथा हमारी प्रजा के असन्तोष का बहाना बनाकर, हमारे देश और लाखों के मूल्य की सम्पत्ति को ले लिया है। यदि हमारी जनता हमारे शाही पूर्वज वाजिद अलीशाह से असन्तुष्ट थी तो वह हमसे किस प्रकार सन्तुष्ट हो सकती है? हमारे समान किसी अन्य शासक ने अपनी जनता से इतनी स्वामिभक्ति और अपने जीवन और सम्पत्ति के लिए इतना प्रेम नहीं पाया है। फिर हम में क्या कमी है जिससे वे हमें हमारा देश वापस नहीं देते। "इस आश्वासन के बारे में कि रानी अपने राज्य-क्षेत्र को बढ़ाना नहीं चाहती, यह प्रश्न किया गया" कि महामहिम रानी फिर हमें हमारे देश को क्यों नहीं लौटा देती जबकि जनता की ऐसी ही इच्छा है? "शहज़ादे ने आगे कहा", "घोषणा में यह लिखा हुआ है कि ईसाई धर्म सच्चा है।" "शहज़ादे ने सवाल किया कि न्याय के प्रशासन को किसी धर्म की सच्चाई या झूठ से क्या करना है?" "ग़दर धर्म के लिए शुरू हुआ और इसी के लिए लाखों आदमी मारे गए

हैं। हमारी प्रजा को चाहिए कि वह इस प्रकार न ठगी जाए।" "घोषणा में यह लिखा हुआ है कि जिन लोगों ने बागियों को शरण दी या जिन्होंने लोगों को ग़दर करने के लिए उत्तेजित किया, उनकी जानें नहीं ली जाएंगी, परन्तु दण्ड बड़े सोच विचार के बाद दिया जाएगा और हत्यारों और हत्या में सहायता करने वालों के साथ कोई दया नहीं दिखाई जाएगी।" शहज़ादे ने अपने आदमियों को चेतावनी दी कि इस आश्वासन का कोई अर्थ नहीं है। "सब कुछ लिखा हुआ है, परन्तु कुछ नहीं लिखा हुआ है।" जिस भी गांव या जमींदारी में सेना (स्पष्टतः सिपाही सेना) गई होगी वहां के निवासी ग़दर में शामिल समझे जाएंगे। जिन गावों के मुखिया मूर्खतावश अंग्रेज़ों के सामने हाजिर हुए थे, उन्हें पहली जनवरी से पूर्व शहज़ादे के दरबार में आने की आज्ञा दी गई। उसने इस बात को फिर दोहराया, "किसी ने स्वप्न में भी यह कभी नहीं देखा है कि अंग्रेज़ों ने किसी अपराध को क्षमा किया हो।" इस घोषणा के अन्त में यह कहा गया कि अंग्रेज़ों ने "हिन्दुस्तानियों के लिए सड़क बनाने और नहर खोदने से अच्छे किसी काम का वचन नहीं दिया है। यदि अब भी लोग यह साफ-साफ न समझ सकें कि इसका क्या अर्थ है, तो फिर उन्हें कोई नहीं बचा सकता। किसी भी प्रजा-जन को इस घोषणा से धोखा नहीं खाना चाहिए।"[२८] इतना समय बीत जाने के बाद हमारे लिए आज इस बात का निर्धारण करना कठिन होगा कि अवध की जनता पर बेगम हज़रत महल की इस घोषणा का क्या प्रभाव पड़ा, परन्तु गवर्नर-जनरल को निश्चयतः यह आशा नहीं थी कि उसकी सम्राज्ञी द्वारा शासन को अपने हाथ में ले लेने से या जिन उदार शब्दों में उसने घोषणा जारी की थी, उनसे युद्ध समाप्त हो जाएगा। कई दृष्टियों से उसने अपनी सम्राज्ञी का पूर्वानुमान कर लिया था। ७ जुलाई १८५८ को उत्तर-पश्चिमी प्रान्त की सरकार के सचिव विलियम म्योर ने रुहेलखण्ड के कमिश्नर को लिखा कि दण्ड देते समय "जब भी किसी अफसर को कोई सन्देह हो और अपने वरिष्ठ अधिकारी के निर्णय के लिए वह इसको पेश करने में असमर्थ हो तो सरकार की इच्छा है कि ऐसे मामलों में दया दिखाई जाए। विद्रोहियों के नीचे सिर्फ कोई पद स्वीकार करना दण्ड के लिए पर्याप्त कारण नहीं है।" परन्तु अवध को अन्तिम रूप से पराजित करना सेना का उत्तरदायित्व था। जब यह घोषणा पढ़ी गई तो प्रधान सेनापति दूसरे युद्ध की तैयारी कर रहा था।

२ नवम्बर को सर कोलिन कैम्पबेल, अब क्लाइड्सडेल के लार्ड क्लाइड, अवध से इलाहाबाद के लिए चल दिया। उसकी योजना यह थी कि विद्रोही सैन्य दलों को घेर कर धीरे-धीरे नेपाल के सीमान्त तक धकेल दिया जाए और वहां उन सबको कुचल दिया जाए या तराई के ज्वर-ग्रस्त जंगलों में उन्हें अभावों और बीमारियों से मरने के लिए छोड़ दिया जाए। सिपाही नेताओं ने यह समझ रखा था कि नेपाल सरकार का रुख उसके अनुकूल है।[२९] जंगबहादुर के अवध में आने से पूर्व हुकुम सिंह

---

२८. फ़ारेन पोलिटिकल कन्सल्टेशन्स, संख्या ३०२२, ३१ दिसम्बर, १८५८

२९. "डांग और देवगढ़ के विद्रोह नेताओं को नैपाली सरकार द्वारा जारी की गई एक घोषणा के अनुसार बुलाया गया और उनसे कहा गया कि वे उन घाटियों को छोड़ दें

नामक एक सिख दूत एक दुहरे उद्देश्य से गुरखा दरबार में भेजा गया था। उसे रणजीत सिंह की विधवा रानी जिन्दन को वापस लाना था ताकि पंजाब में सिख विद्रोह का संगठन किया जा सके। उसने गुलाब सिंह के बारे में एक मनगढ़ंत कहानी सुनाई कि वह अपने प्रभु की ओर से पंजाब को अपने अधिकार में रख रहा है और एक फ्रांसीसी दलीप सिंह को भगा कर ले गया और वह भारत की ओर आते हुए समय अदन तक पहुंच चुका था। इन झूठी बातों पर स्वभावतः किसी ने विश्वास नहीं किया और हुकुम सिंह नेपाल सीमान्त को भी पार करने में असफल रहा।[३०] जंगबहादुर के खुले तौर पर अंग्रेजों की ओर हो जाने, और लखनऊ की पराजय में प्रधान सेनापति के साथ क्रियात्मक सहयोग करने पर भी, अवध के वली, उसके एजेंट और नाना साहब उसके साथ पत्र-व्यवहार करते रहे। १६ मई १८५८ में वली ने नेपाल के प्रधान मन्त्री को लिखा, "यह सुविदित है कि मेरे पूर्वज अंग्रेज़ों को हिन्दुस्तान में लाए। . . . . अंग्रेज़ लोगों ने कुछ समय पूर्व हिन्दू और मुसलमान दोनों के धर्म में हस्तक्षेप करने का प्रयत्न किया और यह उन्होंने ऐसे कारतूस तैयार करवा कर किया जिनमें हिन्दुओं के लिए गाय की चरबी और मुसलमानों के लिए सूअर की चरबी लगी हुई थी, जिसे उन्हें दांतों से काटने का आदेश दिया गया था। सिपाहियों ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया, जिसके परिणामस्वरूप अंग्रेजों ने आदेश दिया कि उन्हें परेड-मैदान में गोली से उड़ा दिया जाए। युद्ध के शुरू होने का यही कारण है। "दो दिन बाद जंग बहादुर को सूचना दी गई" कि मन्दिर और इमामबाड़े तोड़ दिए गए हैं। आपको यह भी पता है कि अंग्रेज़ लोग हिन्दुओं या मुसलमानों के धर्म या जीवन की परवाह नहीं करते। उनकी चालाकी और दगाबाजी तथा उपकारों को भूल जाना यह सब भी आपको ज्ञात है। "अली मुहम्मद ख़ां ने शिकायत की," ब्रिटिश राष्ट्र इस देश के निवासियों को उनके धर्म, विश्वास, राज्य और जीवन से भ्रष्ट करने के लिए तुला हुआ है और इस अभिशप्त राष्ट्र में किसी राजा की कोई आशा नहीं रह गई है। "जंगबहादुर बड़ा कुशल राजनीतिज्ञ था और वह धर्म के संरक्षण के रूप में कार्य करने के लिए तैयार नहीं हो सकता था। उसने उत्तर दिया, "चूंकि हिन्दू और मुसलमान कृतघ्नता और विश्वासघात के अपराधी रहे हैं, इसलिए न तो नेपाल सरकार और न मैं ही उनका पक्ष ले सकता हूं।"[३१]

और तराई-नाले के पूर्व और गोरखपुर के सीमान्त के उत्तर में चले जाएं। विद्रोही नेता इस आदेश को मानने के लिए तैयार हो गए, इस दृढ़ और पूर्ण आशा के साथ कि गुरखा लोग हृदय से उनके मित्र हैं और वे निश्चयतः उनका पक्ष लेंगे और अंग्रेज़ों के विरुद्ध उनकी सहायता करेंगे, यदि इन पहाड़ियों को छोड़ने के बाद अंग्रेज़ों ने उन्हें हानि पहुंचाने का प्रयत्न किया। इस विश्वास के साथ वे उस दिशा में बढ़ गए जो उन्हें बताई गई थी।" लेफ्टिनेंट यूस्टेस हिल का संक्षिप्त प्रतिवेदन। एक दूसरे कागज-पत्र में यह लिखा हुआ है कि बेगम हज़रत महल ने उन्हें यह विश्वास दिलाया था।

३०. फ़ारेन सीक्रेट कन्सलटेशन्स, संख्या ४४८-५३, २७ नवम्बर, १८५७। हुकुमसिंह पहले घुड़सवार सेना की एक रेजीमेंट में जमादार था।

३१. फ़ारेन सीक्रेट कन्सलटेशन्स, संख्या १००-१०३ तथा ३२, २७ अगस्त, १८५८

वह स्वयं कृतज्ञता या ईमानदारी को अधिक महत्त्व नहीं देता था, परन्तु इस लताड़ के बाद भी विद्रोही लोग नैपाली सहानुभूति और मित्रता के प्रति अपने विश्वास में अविचल बने रहे। लार्ड क्लाइड की सैनिक नीति को विद्रोहियों की मनोदशा से पर्याप्त सहायता मिली।

उसकी योजना सीधी-सादी थी। एक दस्ते को उसके पुराने मुख्यालय फतेहगढ़ से अवध में प्रवेश करना था, दूसरे को शाहजहांपुर से, और तीसरे को आमजगढ़ से जबकि उसे स्वयं इलाहाबाद के समीप सोरांव से आगे बढ़ना था। उसका इरादा नवम्बर में युद्ध शुरू करने का था, परन्तु विद्रोहियों ने उसके इरादों का पूर्वानुमान कर एक महीने पहले ही संडीला की छोटी चौकी पर आक्रमण कर दिया। लार्ड क्लाइड अवध में राजपूत सरदारों के गढ़ों को, एक के बाद एक को पराजित करना चाहता था। शक्तिशाली खानपुरिया जाति के सदर मुकाम रामपुर कसिया पर सर्वप्रथम आक्रमण किया जाना था। यह एक मजबूत स्थान था, परन्तु वेदराल और होप ग्रांट ने इसे कुछ थोड़े ही दिनों में जीत लिया। क्लाइड ने फिर अमेठी के राजा के विरुद्ध अभियान किया। राजा लाल माधो सिंह ने उपद्रव प्रारम्भ होने पर अंग्रेज भगोड़ों को आश्रय दिया था और उन्हें सुरक्षापूर्वक इलाहाबाद भिजवाया था। बाद में वह सक्रिय रूप से विद्रोहियों से मिल गया था। लार्ड क्लाइड ने उसे अपना किला, सैन्य दल, अस्त्र-शस्त्र और गोला-बारूद समर्पण करने का आदेश दिया, परन्तु राजा का उस शक्तिशाली विद्रोही दल पर कुछ वश न था, जिसने किले में शरण ले रखी थी। और कुछ न कर सकने के कारण राजा चुपके से अपने महल से बाहर निकल गया और उसने प्रधान सेनापति के शिविर में अपने को उपस्थित कर दिया। विद्रोहियों ने उसका अनुसरण किया और दूसरे दिन अमेठी का गढ़ खाली पाया गया, जिसमें केवल राजा के व्यक्तिगत अनुचरों को छोड़कर और कोई नहीं था।

दूसरा लक्ष्य शंकरपुर था जो बैसवाड़ा राजपूतों के वीर शिरोमणि वेणी माधव का स्थान था। ग्राम-चारणों ने उसके शौर्य को अमर कर दिया है और उनके गीत आज भी होली के अवसर पर ग्रामीण जनता द्वारा गाए जाते हैं।[३२] अप्रैल में उसने दक्षिण-पूर्वी अवध में बन्दोबस्त सम्बन्धी कार्यों में हस्तक्षेप किया था और उन सब जमींदारों को उसने दण्ड दिया था, जिन्होंने अंग्रेज लोगों के साथ समझौता किया था। सर होप ग्रांट २८ अप्रैल को एक सैनिक दस्ता लेकर उससे लड़ने गया परन्तु वेणी माधव और उसके सैन्य दलों को नष्ट किए बिना उसे लखनऊ लौटना पड़ा। लार्ड क्लाइड ने उसे आश्वासन दिलाया कि उसकी सम्पत्ति को उसके पास ही रहने देने के उसके दावों पर विचार किया जाएगा, यदि वह आगे बिना प्रतिरोध किए अंग्रेजों की अधीनता स्वीकार कर लें। वेणी माधव ने उत्तर दिया कि वह अपने शरीर का तो समर्पण नहीं कर सकता क्योंकि वह उसके प्रभु का है जिसके लिए उसका लड़ना अनिवार्य है, परन्तु वह किला देने के लिए तैयार है क्योंकि

---

३२. नागपुर विश्वविद्यालय के भूतपूर्व उप-कुलपति पंडित के. एल. दुबे ने कृपापूर्वक इनमें से एक गीत मुझे भेजा। शंकरपुर के वेणी माधव और अतरौली के इसी नाम के सरदार को एक ही नहीं समझना चाहिए। ये दोनों व्यक्ति अलग-अलग हैं।

वह उसकी अपनी सम्पत्ति है।[33] रात्रि के अन्धकार में उसने शंकरपुर छोड़ दिया और उत्तर या पूर्व जाने की बजाय वह डुंडिया खेड़ा गया जहां बाबू रामबख्श सिंह, जिसके आदमियों ने मौब्रे थामसन के दल पर गोली चलाई थी, रह रहे थे। ब्रिगेडियर ईवले को उसका पीछा करने का आदेश दिया गया परन्तु उसका कुछ पता न लगा और सब दिशाओं से उसके बारे में खबरें मिलती रहीं।[34] अन्त में यह मालूम हुआ कि वह रामबख्श के गांव को चला गया था। वहां के किले को मई में सर होप ग्रांट ने अंशतः विनष्ट कर दिया था। २४ नवम्बर को एक मुठभेड़ हुई। विद्रोही पराजित हुए परन्तु वेणी माधव छिप कर भाग गया और पकड़ा न जा सका। उसका लग कर पीछा किया गया, परन्तु उसने पहले गोमती को पार किया और फिर घाघरा की ओर से अवध में प्रवेश किया। वह फिर वापस लौटकर बैसवाड़ा नहीं आया जो उसके पूर्वजों का घर था और जो उसके जीवन के प्रारम्भिक दिनों के वीरतापूर्ण कृत्यों का स्थल था। लखनऊ के एक प्रतिवेदन में, जो दिनांक ४ दिसम्बर का है, हम यह पढ़ते हैं कि वेणी माधव की सेना भंग कर दी गई और उसे तितर-बितर कर दिया गया। उसके सैन्य दल शान्तिपूर्वक अपने गांवों में बस गए। "उनमें से लगभग ५,००० अपने मुखिया का अनुसरण कर छोटे-छोटे दल बनाकर बहराइच डिवीजन में चले गए हैं।" कुछ थोड़े दिनों बाद सूचना मिली कि वह बैराम घाट के पास मिठौली में है। परन्तु प्रधान सेनापति की पूरी कोशिश के बाद भी वह उत्तर की ओर पीछे हटता चला गया। फिर भी लार्ड क्लाइड की योजनाओं के अनुसार ही युद्ध होता रहा था। वेणी माधव, देवी बख्श, मुहम्मद हसन, मेंहदी हसन, अमर सिंह, ख़ान बहादुर खां, बेगम हज़रत महल, मम्मू खां, नाना साहब, बाला साहब, ज्वाला प्रसाद, और दूसरे मुख्य विद्रोही नेता अपने अपने जिलों से बाहर खदेड़ दिए गए और नेपाल के सीमान्त पर उन्हें एक संकरे प्रदेश में धकेल दिया गया। अब यही शेष था कि उन्हें और उत्तर की ओर धकेल कर जंग बहादुर के प्रदेश में भेज दिया जाए, जहां उनको कोई पूछने वाला न था।

एक विद्रोही सरदार इस जाल में नहीं फंसा। फ़ीरोज़ शाह दो हजार अनुयायियों को लेकर पीछे की ओर हटा और गंगा नदी को पार कर इटावा के समीप दिखाई दिया। ब्रिगेडियर ट्रुप और ब्रिगेडियर बार्कर उसे रोक नहीं सके। फ़ीरोज़ शाह बाद में राव साहब और तात्या टोपे से जाकर मिला। उसने उनके साहसिक कृत्यों में भाग लिया, परन्तु उसका भाग्य उनसे अलग था।

इसी समय लार्ड क्लाइड अपना जाल बिछाने में व्यस्त था। बाला साहब के बारे में यह सूचना मिली थी कि वह तराई क्षेत्र के समीप तुलसीपुर में है। विधवा रानी के

---

३३. फ़ारेस्ट, ए हिस्ट्री आफ दि इण्डियन म्यूटिनी, जिल्द ३, पृ० ५१७

३४ वेणी माधव की खोज करनी है। हमारे पास "निश्चित" सूचना है कि वह उसी दिन के उसी समय वह दिग्घटी के सब बिन्दुओं पर विद्यमान रहता है और हमारे पास ३१ अतिरिक्त सैनिक दस्ते नहीं हैं कि हम इन सूचनाओं की पुष्टि कर सकें। रसेल, उद्धृत ग्रन्थ, जिल्द २, पृ० ३२०

बारे में यह विश्वास किया जाता था कि वह विद्रोहियों से मिली हुई है। इसलिए सर होप ग्रांट को उसके किले को जीतने के लिए भेजा गया। १६ ता० को वह बलरामपुर आया, जहां मित्रतापूर्ण राजा उससे मिला। २३ ता० को ब्रिगेडियर रोक्राफ्ट ने तुलसीपुर पर अपना अधिकार कर लिया। लार्ड क्लाइड १७ ता० को बहराइच पहुंचा। उसके गुप्तचरों की सूचना के अनुसार नाना साहब और बेगम हज़रत महल दोनों उसी पुराने नगर में थे। परन्तु जैसे ही प्रधान सेनापति वहां पहुंचा वे वहां से चल दिए। लार्ड क्लाइड वहां पांच दिन तक ठहरा। रसेल ने कहा, "बहराइच में हमारे देर करने के राजनीतिक कारण थे। पहली बात यह है कि दो बेगमें समर्पण करने को तैयार हैं। दूसरी बात यह है कि मम्मू ख़ां मिलने के लिए बात चला रहा है। इतना ही नहीं, स्वयं बेगम और बिरजिस कादर सिविल कमिश्नर मेजर बैरो को पत्र और दूत भेजते हैं। बुड्ढा हनुमन्त सिंह अपने जिद्दी और बहादुर रिश्तेदार वेणी माधव को समझा-बुझा रहा है और उसे आशा है कि वेणी माधव समर्पण कर देगा। मेजर बैरो का विश्वास है कि यदि सरदारों पर जोर नहीं डाला गया और यदि प्रधान सेनापति, इस समय जबकि छल युद्ध और गहरी कूटनीति से काम लया जा रहा है, कुछ देर तक रुक जाता है, तो यह सम्भावना है कि वे हमारे अधिकार में आ जाएंगे और अपने हथियार डाल देंगे। यदि उन्हें हमारे प्रस्तावों पर विचार करने के लिए समय नहीं दिया गया तो वे ऐसी जगह भाग जाएंगे जहां हम उनका पीछा नहीं कर सकेंगे और वे हमारे लिए कष्ट, खोज और खर्च के कारण पैदा कर देंगे।"[३५] परन्तु मेजर बैरो की कूटनीति अपने मुख्य उद्देश्य में विफल हो गई। बेगम को अंग्रेजों की ईमानदारी में बिल्कुल विश्वास नहीं था। वेणी माधव तब तक समर्पण नहीं करना चाहता था जब तक बेगम की सहमति न हो। मम्मू खां भी स्वतन्त्र मार्ग का अवलम्बन नहीं करना चाहता था। जैसा हम आगे देखेंगे, नाना तब तक अधीन होने को तैयार न था जब तक रानी या वायसराय स्वयं उसके जीवन का वचन न दें और उनके वचन का किसी दूसरी सत्ता द्वारा अनुमोदन न कर दिया जाए। इसलिए लार्ड क्लाइड ने नानपारा के लिए अभियान कर दिया, जहां उस समय विद्रोही नेता बताए जाते थे, परन्तु २६ ता० को गुप्तचर सूचना लाए कि वे वहां से चल दिए हैं। घने जंगल के बीच में स्थित मानपारा का वह किला अभी हाल में अधिक मजबूत कर दिया गया था और वेणी माधव अपने शत्रुओं की प्रगति को यहीं रोकना चाहता था। परन्तु बरोड़दिया में जो युद्ध हुआ उसमें उसकी पराजय हुई और झुकना न जानने वाला राजपूत और पीछे हट गया। इसके बाद चर्दा के राजा का एक किला, जहां नाना छिपा हुआ बताया जाता था, अधिकार में कर लिया गया और नष्ट कर दिया गया। २९ ता० को लार्ड क्लाइड नानपारा लौट कर आया तो उसे मालूम हुआ कि नाना और वेणी माधव वहां से करीब २० मील दूर राप्ती नदी के किनारे बांकी नामक स्थान पर थे। लार्ड क्लाइड ने ३० ता० की रात को ही अभियान करने का आदेश दिया ताकि उन्हें असावधान रूप में पकड़ लिया जाए। परन्तु पहरा देने वाले आदमी सचेत थे और यह रहस्य छिपा नहीं रह सका। नाना ने, जो दो

३५. रसेल उद्धृत, ग्रन्थ, जिल्द २, पृ० ३५९

मील पीछे था नदी पार की, परन्तु विद्रोही सेना ने उसका अनुगमन नहीं किया जब तक कि उन्होंने लड़ना शुरू नहीं किया। जब विद्रोही नेपाल राज्य-क्षेत्र में चले गए तो क्लाइड का काम पूरा हो गया और १८ जनवरी १८५९ को वह लखनऊ लौट गया।

बांकी के युद्ध के बाद कुछ अधिक प्रमुख विद्रोही नेताओं ने अधीनता स्वीकार की। रसेल लिखता है, "७ ता० की प्रातः, हमारे जाने से पूर्व, फर्रुखाबाद के नवाब ने अपने अनुयायियों सहित राप्ती नदी को पार किया और मेजर बैरो के सामने समर्पण किया। मेंहदी हसन और दूसरे प्रसिद्ध विद्रोही नेताओं ने भी समर्पण किया। यह दृश्य बड़ा मनोरंजक था और विशेषतः इन लोगों की गम्भीरता और संयम बहुत ही दर्शनीय थे क्योंकि कुछ घंटों पूर्व ही तो ये लोग हमसे लड़े थे और अब स्पेशल कमिश्नर के तम्बू में पूर्ण शान्ति से बैठे थे।"[३६] फर्रुखाबाद के नवाब तफज्जल हुसेन और मेंहदी हुसेन ने भी उसी दिन समर्पण किया, परन्तु उनके साथ जो व्यवहार किया जाना था वह बिलकुल भिन्न था। मेंहदी हुसेन, अपनी रियासत के अंग्रेजी राज्य में मिलने से पूर्व, अवध के राज्य की सेना में एक चकलदार था। जब तक उससे बना वह अपने राजा और देश के लिए लड़ा, परन्तु जब उसने देखा कि उसका और आगे लड़ना व्यर्थ है तो उसने हथियार डाल दिए। प्रधान सेनापति की सिफारिश पर उसे २०० रु० प्रति मास की पेंशन दी गई परन्तु उसे फैजाबाद जिले में अपने पुराने घर में जाने की इजाजत नहीं मिली।[३७] फर्रुखाबाद के नवाब पर मुकदमा चला और उसे मृत्यु-दण्ड दिया गया क्योंकि उसे कुछ यूरोपीय लोगों की हत्या के लिए उत्तरदायी ठहराया गया था, परन्तु उसके समर्पण के समय मेजर बैरो ने उसे जो वचन दे रखा था उसके अनुसार उसकी जान बख्श दी गई। उसे अरब भेज दिया गया जहां उसे अपना गुजारा खुद करना था।

मैनपुरी के राजा तेजसिंह ने काफी पहले ११ जून, १८५८ को ही समर्पण कर दिया था। जब अक्तूबर १८५७ में सर होप ग्रांट का सैनिक दस्ता मैनपुरी होता हुआ कानपुर जा रहा था तो उसने इस राजा को अपने पूर्वजों के गढ़ से निकलने को विवश कर दिया। अंग्रेज जनरल ने इस किले को राव भवानी सिंह के सुपुर्द कर दिया जो चौहान सरदार का चाचा और उसकी सम्पत्ति का दावेदार था। जैसे ही होप ग्रांट गया, तेजसिंह फिर वापस आ गया और भवानी सिंह को आगरा में शरण खोजनी पड़ी। अप्रैल, १८५७ में तेजसिंह मैनपुरी रवाना हुआ और उसने एटा को खतरे में डाल दिया। परन्तु उसके अनुयायी धीरे-धीरे कम हो रहे थे और ११ ता० को उसके पास केवल १०० व्यक्तिगत अनुचर रह गए थे। उसके बाद उसने परताबनेर के कुंवर जोरसिंह का आतिथ्य प्राप्त करना चाहा, परन्तु उसने उससे समर्पण कर देने का अनुरोध किया। तेजसिंह को उसके प्राणों की रक्षा का वचन दिया गया और आगे उसे यह भी विश्वास दिलाया गया कि उसके साथ कोई अपमान का व्यवहार नहीं किया जाएगा और यदि उसे जेल में रखने की आवश्यकता भी होगी तो उसे साधारण कैदियों के साथ नहीं रखा जाएगा। राजा

---

३६. रसेल, उद्धृत ग्रन्थ, जिल्द २, पृ० ३९५

३७. फ़ारेन पोलिटिकल कन्सल्टेशन्स, संख्या ३७२-७३, ३० दिसम्बर १८५९

को इसके बाद बनारस ले जाया गया जहां उसे २५० रु० मासिक की जीवन-वृत्ति दी गई। उसकी जायदाद राव भवानी सिंह को दे दी गई।[३८]

जब लार्ड क्लाइड ने अवध में अपना अन्तिम युद्ध शुरू किया तो गोरखपुर के डिप्टी मैजिस्ट्रेट शेख ख़ैरुद्दीन और सैयद मुहम्मद हसन ख़ां के बीच बराबर पत्र-व्यवहार चल रहा था। सैयद मुहम्मद हसन ख़ां गोरखपुर के अंग्रेज़ी राज्य में मिलने से पूर्व वहां ग़दर के दौरान में थोड़े समय के लिए नाज़िम था। ख़ैरुद्दीन ने अपने दिनांक १३ नवम्बर, १८५८ के पत्र में भूतपूर्व नाज़िम को लिखा कि "विद्रोहियों को अपना वर्तमान व्यवहार छोड़ देना चाहिए क्योंकि इससे उनका विनाश हो जाएगा।" आगे उसने इस पत्र में उसे बताया कि "महामहिम सम्राज्ञी की घोषणा में जो इस महीने में जारी की गई है, सबको क्षमा-दान देने की बात कही गई है। इससे तुम्हें पता चलेगा कि केवल वही व्यक्ति, जो अंग्रेज़ अधिकारियों या उनकी प्रजा की हत्या के अपराधी हैं, दण्ड के योग्य माने जाएंगे।" "इन परिस्थितियों में तुम्हें सोचना चाहिए कि विद्रोहियों के साथ रहने से तुम्हें किसी प्रकार के लाभ की आशा नहीं हो सकती। यदि तुम उनके साथ रहोगे तो या पकड़े जाओगे या मार दिए जाओगे।" मुहम्मद हसन को न केवल यह सलाह दी गई कि इस समय जो क्षमा-दान दिया जा रहा है, उसका वह लाभ उठाए, बल्कि उससे यह भी कहा गया कि वह गोंडा के राजा जैसे दूसरे सरदारों को भी इसी प्रकार की सलाह दे और सिपाहियों को सूचित कर दे कि यदि उन्होंने घोषणा के अधीन शर्तों पर समर्पण कर दिया तो उन्हें घर चले जाने दिया जाएगा। मुहम्मद हसन ने ग़दर के प्रारम्भिक दिनों में अंग्रेज़ भगोड़ों का केवल आतिथ्य ही नहीं किया था, बल्कि उनके गोरखपुर भाग जाने का भी प्रबन्ध किया था। ईसाइयों की हत्या से उसका किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं था और वह बड़ी आसानी से घोषणा की शर्तों से लाभ उठा सकता था। परन्तु वह प्रकट रूप से तब तक समझौता करने को अनिच्छुक था, जब तक उसके स्वामी पर किए गए अन्याय का प्रतिकार न हो जाए। और फिर बेगम की तरह उसे भी घोषणा के वास्तविक मन्तव्य के बारे में सन्देह था। इसलिए उसने जो लम्बा उत्तर भेजा था, उसमें राज-वंश और विद्रोहियों के पक्ष का समर्थन किया गया था, न कि अपने लिए पेंशन और क्षमा की याचना, क्योंकि उसे पेंशन देने और क्षमा करने के लिए सरकार तैयार थी। मुहम्मद हसन ने प्रारम्भ में अपनी सफाई देते हुए कहा कि वह यूरोपीय लोगों का ख़ून बहाने का अपराधी नहीं है। "मैंने किसी अफसर या प्रजा-जन को नहीं मारा है, यद्यपि यूरोपीय अफसरों और उनके सिपाहियों ने हजारों निरपराध और निरीह आदमियों को मारा है, जिनमें स्त्रियां, बुड्ढे और भिखारी भी थे। उन्होंने उनके मकानों को जलाया है और उनकी सम्पत्ति को लूटा है।" उसने स्वीकार किया कि उसे डराने के लिए अंग्रेज़ों की शक्ति के बारे में जो कुछ ख़ैरुद्दीन ने लिखा था, वह बिलकुल ठीक था।

---

३८. फ़ारेन सीक्रेट कन्सलटेशन्स, संख्या १२२ और २७०, २५ जून, १८५८, फ़ारेन डिपार्टमेंट प्रोसीडिंग्स, जन-बी मार्च १८६२, संख्याएं २३८-२३९; संख्याएं ६७-६८; नवम्बर, संख्याएं ६७-६८ और दिसम्बर, संख्याएं १८१ १८४

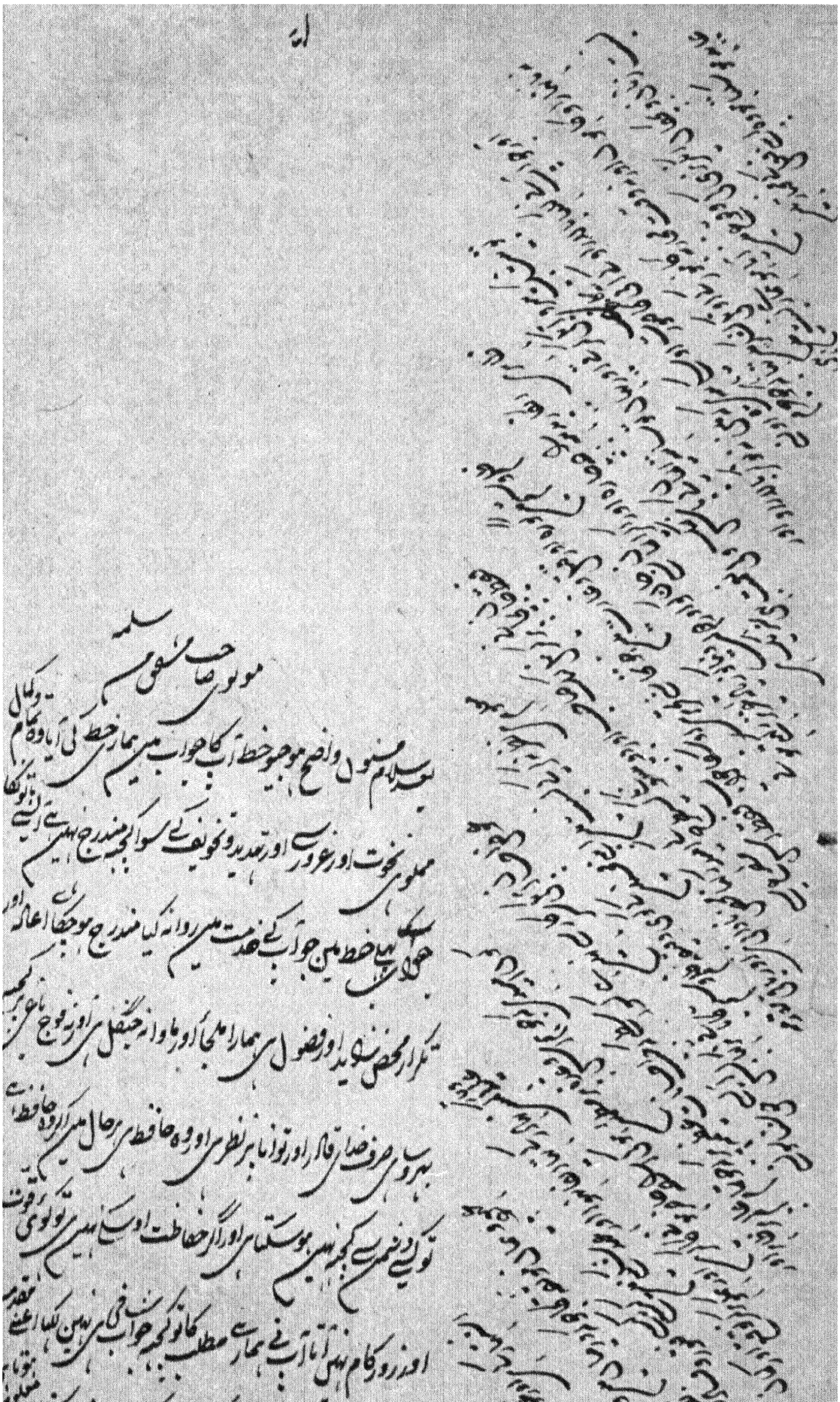

मोहम्मद हसन का पत्र

خلاصہ مطلب آپ یہ ہے کہ زمین تو ملک موروثی کار سرکار ہی کا ہو جب تک اون کی

حق میں کوئی تجویز مناسب سرکار انگریزی سے نہیں ہوئی تو اپنے حاضر ہو سکو

بہ نسبت یکدو جاہ بیان کیا

ہرگز جانا نہیں چاہیے باقی اور آپ کے تحریر کا جواب مصرح لکھنے میں بجز ...

بیعنایت کے کیا فائدہ ہے کہ آپ کو تنبیہ اور علاج ہو اسواسطے اسپر

اکتفا کیا گیا فقط

رقوم تاریخ ۱۶ ماہ ربیع الثانی

उसने यह भी स्वीकार किया कि विद्रोहियों के साथ रहने से उसे कोई लाभ नहीं हो सकता। "खुदा, जो शक्तिशाली है और सबका रक्षक है, सर्वशक्तिमान है। यदि शत्रु शक्तिशाली है तो खुदा उससे भी अधिक शक्तिशाली है। वह चाहे तो बलवान को कमजोर बना दे और कमजोर को बलवान बना दे। जिसको वह चाहता है, ऊपर चढ़ाता है, जिसको चाहता है, नीचे गिराता है।" "मुझे न पकड़े जाने का भय है और न मारे जाने का।" उसने कहा कि यदि दुर्भाग्यवश मैं पकड़ा गया तो मेरे लिए डरने की कोई बात नहीं क्योंकि घोषणा के अनुसार मुझे किसी प्रकार दण्ड नहीं दिया जा सकता। "यदि दूसरी ओर मैं युद्ध करते हुए अपने मजहब और अपने बादशाह के लिए मारा गया, तो मुझे दोनों लोकों का सुख मिलेगी।" नाज़िम ने इसके बाद घोषणा के शब्दों की जांच शुरू की, "घोषणा की वाक्य-रचना, जहां वह अपराधों की क्षमा का वचन देती है, कुछ-कुछ अस्पष्ट और अनिश्चित है।" अपने विचार का स्पष्टीकरण करते हुए उसने आगे कहा, "हिन्दुस्तान के अंग्रेज़-शासक ने उन समझौतों का पालन नहीं किया है जो उन्होंने देशी राजाओं के साथ किए थे और उन्होंने उन शर्तों के विरुद्ध कार्य किया है जिन्हें किसी प्रकार तोड़ा नहीं जाना चाहिए था।" तब फिर ऐसे आश्वासनों पर कौन विश्वास करेगा जिनका बिल्कुल दूसरा अर्थ निकाला जा सकता है? अवध के नवाब के साथ जो अन्याय का व्यवहार किया गया था, वह सबको ज्ञात ही है। "एक ऐसे राज-वंश से उसका राज्य छीन लिया गया है, जिसने अंग्रेज़ी सरकार का कभी विरोध नहीं किया बल्कि सदा उसे सन्तुष्ट ही किया।" "हिंदुस्तान के राजाओं और जनता ने सेना द्वारा किए गए विद्रोह का लाभ उठाया, ग़दर शुरू हुआ जिनमें खुदा के हजारों मासूम बन्दों की हत्याएं हुई और उन्हें लूटा गया।" उसने जोर देकर कहा कि अवध को अंग्रेज़ी राज्य में मिलाने के परिणामस्वरूप ही ग़दर हुआ। यदि यह अन्यायपूर्ण कार्य न किया जाता तो इतना रक्तपात न होता, क्योंकि सरदार लोग असन्दिग्ध रूप से विद्रोहियों के विरुद्ध लड़ते। इसलिए मुहम्मद हसन ने महामहिम सम्राज्ञी से यह आशा की कि वह अवध को उसके वैध शासकों को लौटा दे क्योंकि उसने ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा किए गए सब समझौतों और सन्धियों को मानने का वचन दिया है और राजाओं को आश्वासन दिया है कि उसे अपने राज्य-क्षेत्र को अब और अधिक बढ़ाने की इच्छा नहीं है। उसने कहा कि "इस समय अधिकार में" ये शब्द घोषणा के लिखे जाने के समय लागू होने चाहिए, क्योंकि उस समय अवध का अधिकतर भाग अंग्रेज़ों के अधिकार में नहीं था। अन्त में उसने लिखा, "अवध के राजा के हम सेवक और आश्रित दोनों लोकों में अपनी समृद्धि के लिए इसे आवश्यक समझते हैं कि इस राज्य की रक्षा में हम अपनी भक्ति प्रदर्शित करें और आक्रमणकारियों के प्रयत्नों का विरोध करें जो इसमें पैर जमाना चाहते हैं। यदि हम ऐसा न कर सकें तो हम देशद्रोही हैं और दोनों लोकों में हमारे मुंह पर कालिख लगेगी।"

अंग्रेज़ी सरकार के एक राजभक्त नौकर के रूप में ख़ैरुद्दीन स्त्रियों और अंधे लोगों की हत्याओं के इन अभियोगों को तथा बेईमानी और अनाधिकारपूर्वक राज्य छीनने के अभियोगों को बिना निराकृत किए नहीं छोड़ सकता था। इस अभियोग का कि अंग्रेज़ सिपाही स्त्रियों, अपाहिजों और बच्चों की हत्या के अपराधी थे, उसने रोषपूर्वक निराकरण

किया और स्वयं नाज़िम पर यह अभियोग लगाया कि वह बाला राव के साथ रहा था, जो स्वयं और जिसका भाई इस प्रकार के अपराधों के दोषी थे। "अवध के राज्य के लौटाने के बारे में जो प्रस्ताव तुमने रखा है और कहा है कि उसके बाद ही तुम अधीनता स्वीकार कर सकते हो, यह सब बेहूदा है। सरकार एक बीघा जमीन भी नहीं देगी, जिसे वह एक बार ले चुकी है। फिर तुम्हें इन सब वाद-विवादों से क्या लेना है? तुम अपने बारे में जो चाहो, लिख सकते हो, परन्तु राज्य के सम्बन्ध में नहीं। संक्षेप में मैं तुम्हें लिख कर देता हूं कि यदि तुम अपने जीवन को बचाना चाहते हो तो एकदम समर्पण कर दो।" खैरुद्दीन ने मुहम्मद हसन को याद दिलाया कि दया दिखाने का समय चालीस दिन में समाप्त हो जाएगा और उसके बाद यूरोपीय अफसरों के लिए की गई उसकी सेवाएं किसी काम न आएंगी।

इन धमकियों का तत्काल कोई प्रभाव नहीं हुआ। नाज़िम अब भी अपने संकल्प पर दृढ़ था और उसका उत्तर एकदम शान्त और गौरवपूर्ण था, उसने फिर यह कहा कि अपने जीवन के लिए वह विद्रोहियों पर आश्रित नहीं है। "मुझे सर्वशक्तिमान ईश्वर पर मेरा भरोसा है। यदि वह मुझे बचाएगा, तो कोई शत्रु मुझे हानि नहीं पहुंचा सकता, और यदि वह बचाना नहीं चाहता तो कोई शक्ति काम न आएगी।" "सरकार ने हर तरह का अत्याचार किया है, इसलिए मेरे लिए यह मूर्खता ही होगी यदि मैं अपने द्वारा कर्नल लेक (लेनोक्स) और उसकी दो महिलाओं को बचाए जाने के बदले कुछ आशा करूं।" "यदि मैं अपने जीवन और सांसारिक सम्पत्ति को अपने धर्म से अधिक मूल्यवान समझता तो मैं अवश्य तुम्हारे पास आता।" "मैं बाला राव या नाना राव का नौकर नहीं हूं और न मैं कानपुर में उनके शिविर में आता हूं। इसलिए उसने जो अपराध अंग्रेज स्त्रियों और बच्चों पर किए हैं, उनका मुझ से बदला नहीं लिया जा सकता।" "मैं नहीं समझता कि मेरा समर्पण वैध होगा, बल्कि वह एक अपराध ही होगा। आपने शेष जो भी कुछ लिखा है, उसका उत्तर देना एक व्यर्थ का और कटु वाद-विवाद करना ही होगा, इसलिए इतना ही पर्याप्त समझा जाए।"[३९]

नाज़िम मुहम्मद हसन के ये दो पत्र सर्वोत्तम रूप में अवध के नेताओं की विचार धारा को स्पष्ट कर देते हैं। उन्होंने अपने राजा और धर्म के लिए युद्ध किया और उनका धर्म उन्हें अपने राजा की वफ़ादारी से सहायता करने का आदेश देता था। मुहम्मद हसन को बाद में अधीनता स्वीकार करने के लिए तैयार कर लिया गया, परन्तु बहुत से दूसरे नेता, जैसे कि शंकरपुर का वेणी माधव, गोंडा का देवी बख्श और बिसवाह का गुलाबसिंह, ये सब नेपाल के मलेरिया-ग्रस्त जंगलों में मर गए, परन्तु उन्होंने अपने बादशाह को नहीं छोड़ा और न उस शक्ति का निषेध किया जो स्वर्ग से शासन करती है।

विद्रोही नाज़िम के पत्र-व्यवहार से गवर्नर-जनरल अवश्य ही प्रभावित हुआ होगा क्योंकि उसने इस पर जो टिप्पणियां लिखीं, उनसे यही विदित होता है। "इन पत्रों की प्रतिलिपियां प्रधान सेनापति के पास भेजो। उससे यह भी कहो कि उसने कर्नल

३९. फ़ारेन पोलिटिकल कन्सल्टेशन्स, संख्या ७-९, १८ मार्च, १८५९

लेनोक्स और उसके परिवार को जो शरण दी और उनके साथ दयालुता का व्यवहार किया, उसको ध्यान में रखते हुए उसके बहुत से अपराधों को क्षमा किया जा सकता है। यदि मुहम्मद हसन प्रधान सेनापति के हाथों में पड़ जाए या वह समझौते की शर्तें चाहे तो उसे न केवल जीवन और स्वतन्त्रता का ही आश्वासन दिया जाए बल्कि एक उदार जीवन-वृति का भी, यद्यपि उसे उसके लिए यह आवश्यक होगा कि वह सरकार का विरोध करने और सरकार के प्रति शत्रुता प्रदर्शित करने के अपने व्यवहार को छोड़ दे।"[४०] परन्तु गोरखपुर के कमिश्नर विंगफ़ील्ड का रवैया इतना नरम न था। उसके अनुरोध पर ही खैरुद्दीन अहमद ने मुहम्मद हसन के साथ समझौते की बात चलाई थी और जो लताड़ उसे मिली थी, उसका प्रभाव कमिश्नर पर भी पड़ा था। उसने दिनांक २६ दिसम्बर, १८५८ के अपने पत्र में विदेश-विभाग के सचिव जी० एफ० एडमन्स्टन को लिखा, "यद्यपि यह एक ऐसा मामला है जिससे हमारी सरकार का कोई सम्बन्ध नहीं है फिर भी इस उद्देश्य से कि केवल एक कृत्य से ही मुहम्मद हसन के चरित्र के सम्बन्ध में कोई अनुचित रूप से अच्छा अन्दाज न लगा लिया जाए, मैं उसके द्वारा महाजन रामदत्त की खुले न्यायालय में की गई जघन्य हत्या की ओर ध्यान दिलाना चाहता हूं, जिसकी परिस्थितियों का विस्तृत विवरण अवध को मिलाए जाने सम्बन्धी सरकारी कागज पत्रों में हैं। यदि वह उस समय पकड़ा जाता तो अवध सरकार, कर्नल स्लीमैन के अनुरोध पर, अवश्य ही उसे मरवा देती।"[४१] मुहम्मद हसन ने जब सैनिक अधिकारियों को समर्पण कर दिया तो विंगफ़ील्ड ने शिकायत की कि सर होप ग्रांट ने विद्रोही सरदार के प्रति विशेष सम्मान दिखाया। मुहम्मद हसन पर मि० पेप्प नामक एक यूरोपीय व्यक्ति को मरवा देने का भी अभियोग लगाया गया था।[४२] होप ग्रांट ने साफ तौर पर इस बात का निराकरण कर दिया कि उसके शिविर में मुहम्मद हसन के प्रति कोई विशेष व्यवहार किया गया था,[४३] और नाज़िम का यह सौभाग्य था कि मि० पेप्प जीवित ही मिल गया।[४४]

---

४०. फ़ारेन पोलिटिकल कन्सल्टेशन्स, संख्या ७, १८ मार्च, १८५९

४१. फ़ारेन पोलिटिकल कन्सल्टेशन्स, संख्या १२, १८ मार्च, १८५९

४२. जी० ई० डबल्यू० कूपर का भारत सरकार के विदेश विभाग के सचिव को दिनांक १६ मई १८५९ का पत्र। फ़ारेन पोलिटिकल कन्सल्टेशन्स सं० ७९, २७ मई १८५९

४३. होप ग्रांट ने लिखा, "मैंने उसको जरा सी भी शह नहीं दी ताकि वह यह न समझ ले कि मेरे द्वारा अस्थायी रूप से उसकी सैनिक सत्ता बनाए रखने के कारण वह उन परिणामों से बच जाएगा जो उसे भुगतने हों।" "मैंने सुना कि जब उसने समर्पण करने की सोची तो उसके अधिकार में पांच हाथी थे जिनमें से एक पर वह अभियान करते समय चढ़ा करता था।" यह विंगफ़ील्ड की शिकायत का विषय था। फ़ारेन पोलिटिकल कन्सल्टेशन्स, संख्या १००, ५ अगस्त, १८५९। पत्र संख्या २५६, दिनांक लखनऊ, ९ जून, १८५९

४४. कूपर का बीडन को दिनांक १२ अगस्त, १८५९ का पत्र। फ़ारेन पोलिटिकल कन्सल्टेशन्स, संख्या २९, २६ अगस्त, १८५९

नाजिम अवध के उन रईसों में से नहीं था जिनके पास जमीन थी। राज्य के सेवक के रूप में उसे जो वेतन मिलता था, उसके अतिरिक्त इसकी और कोई आमदनी नहीं थी। इसलिए २०० रु० का मासिक भत्ता उसके लिए पर्याप्त समझा गया और उसे सीतापुर जिले में रहने का आदेश दिया गया।

मुख्य विद्रोही नेता नेपाल चले गए। उनके अनुयायियों की संख्या के बारे में चार हजार से लेकर पच्चीस हजार तक के विभिन्न अनुमान लगाए गए हैं। उनके पत्र-व्यवहार से यह प्रकट होता है कि भगोड़ों ने जिस देश में शरण ली थी, वहां से भी सहानुभूति मिलने की आशा नहीं थी और जंगबहादुर की सद्भावना को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न किया जा रहा था। परन्तु जंगबहादुर ने जनवरी १८५९ में ही यह स्पष्ट कर दिया था कि उसे अपने अंग्रेज सहायकों के शत्रुओं के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखना है। १५ जनवरी को उसने अवध की बेगम को लिखा, "आपको यह विदित हो कि ब्रिटिश सरकार और नेपाल राज्य में गहरी मित्रता है और दोनों सन्धि के द्वारा इस बात से बंधे हैं कि जिस किसी के राज्य में एक दूसरे के शत्रु मिलें तो वह उन्हें पकड़ कर उस राज्य को समर्पित कर दे जिसके वे शत्रु हों। इसलिए मैं तुम्हें यह लिख रहा हूं कि यदि तुम मेरे राज्य-क्षेत्र के अन्दर या उसके सीमान्त पर रहोगी या उसमें शरण लोगी तो निश्चित रूप से गुरखा सैन्य दल उस सन्धि के अनुसार, जो दोनों महान राज्यों के बीच हुई है, तुम पर आक्रमण करेंगे और तुम से युद्ध करेंगे।..... और यह भी विदित हो कि ऐसे आदमियों को, जो इतने बेईमान और कृतघ्न हैं कि उपद्रव करने से भी नहीं चूके और जिन्होंने अपने उन स्वामियों के विरुद्ध विद्रोह किया है, जिनका उन्होंने नमक खाया और जिनके कारण ही उनकी स्थिति में इतना अच्छा परिवर्तन हुआ और जिन्होंने उन्हें पाला-पोसा, नेपाल राज्य कभी सहायता न देगा, न उनके प्रति दयालुता दिखलाएगा और न उन्हें अपने राज्य-क्षेत्र में या सीमान्त पर रहने की अनुमति देगा।"[४५] जंग बहादुर अपनी सीमा के अन्दर विद्रोहियों को सहन नहीं कर सकता था, क्योंकि उसकी अपनी सत्ता पाशविक बल पर अवस्थित थी, उसकी जनता की स्वतन्त्र सहमति पर नहीं। इसके साथ ही वह अपने देश के परम्परागत रिवाज को भंग किए बिना राज-वंश के भगोड़ों को आश्रय देने से भी इन्कार नहीं कर सकता था। परन्तु ऐसा लगता है कि वह कुछ नरम पड़ गया क्योंकि हमें बिरजिस कादर के १ फरवरी के पत्र से पता चलता है कि उसे जंग बहादुर से एक पत्र दिनांक ८ माघ, संवत् १९१५ (२९ जनवरी, १८५९) को मिला था जिसमें यह इच्छा प्रकट की गई थी कि वह (सरकार) अपनी सेना, राजा और ताल्लुकेदारों सहित चितवान चला जाए।[४६] १८ फरवरी के एक पत्र से यह मालूम पड़ता है कि मम्मू खां ने जंग बहादुर के भाई जनरल बद्री नरसिंह को १५,००० रु० देने का प्रस्ताव किया था और विद्रोही शिविर के राजा भी उसे जवाहरात भेंट करने के लिए

४५. फ़ारेन पोलिटिकल कन्सल्टेशन्स, संख्या ४१३ एल, १५ जुलाई, १८५९

४६. फ़ारेन पोलिटिकल कन्सल्टेशन्स, संख्या ५४१, ३० दिसम्बर, १८५९ (अनुपूरक)

तैयार थे यदि उन्हें मिलने की अनुमति मिल जाए, परन्तु ये सब प्रस्ताव अस्वीकृत कर दिए गए। ऐसा लगता है कि नेपाल सरकार ने यह निश्चय कर लिया था कि विद्रोही सरदारों को यदि सम्भव हो तो अनुरोध से नहीं तो शक्ति से समर्पण करने के लिए विवश किया जाय।

भगोड़े चितवान, बुटवल और नयाकोट के बीच एक स्थान से दूसरे स्थान पर भटकते फिरे और उन्हें भयंकर यातनाएं सहन करनी पड़ीं। कुछ सिपाहियों को अपना भोजन खरीदने के लिए अपनी बन्दूकें भी बेचनी पड़ीं। गुरखा लोग उन्हें चावल बेचने को तैयार थे परन्तु वे जो कीमत मांगते थे, वह अत्यधिक थी। भुखमरी के समान ज्वर और पेचिश के कारण भी बहुत से लोग मर गए। अपने इन अनिमन्त्रित अतिथियों को पकड़ने और बाहर निकालने के लिए नेपाल सरकार ने अपने सैन्य दलों को लगाया। इसी प्रकार की एक मुठभेड़ में शंकरपुर का लोक प्रिय नेता वेणी माधव दबीर जंग बहादुर मर गया। वह समर्पण के लिए तैयार न था, इसलिए वह डांग घाटी में गुरखा सैन्य दलों से लड़ा और अपने सैन्य दल के अनेक आदमियों के साथ मारा गया। उसका भाई जोगराज सिंह भी इसी अवसर पर मारा गया।[४७] उसका दूसरा भाई, विधवा पत्नी और पुत्र दिसम्बर १८५६ तक नेपाल में रहे। अपने पिता की मृत्यु के समय बालक की आयु करीब १३ या १४ वर्ष की थी। उसे एक जागीर दे दी गई जिसकी आय ६,००० रु० प्रति वर्ष थी और उसे शिक्षा के लिए सीतापुर भेज दिया गया।[४८] नवाब मम्मू खां, ख़ान बहादुर खां, और ब्रिगेडियर ज्वाला प्रसाद तथा दूसरे कम प्रसिद्ध लोगों को अंग्रेज़ अधिकारियों को सौंप दिया गया। गोंडा के राजा देवी बख्श, हरप्रसाद, खैराबाद के चकलदार, और बिसवा के गुलाब सिंह नेपाल में ही मर गये। किन परिस्थितियों में वे मरे, यह हम नहीं जानते। बूंदी के हरदत्त सिंह को मार दिया गया। नाना का मित्र अज़ीमुल्ला बुटवल में अक्तूबर में किसी समय मर गया। तराई के मलेरिया के कारण बाला साहब और सम्भवतः उनके भाई नानासाहब की मृत्यु हुई।

अप्रैल १८५६ में नाना और बाला दोनों ने समर्पण की शर्तों के सम्बन्ध में अंग्रेज अधिकारियों से समझौता करने का प्रयत्न किया। परन्तु उनके पत्रों का आशय एक दूसरे से भिन्न था। बाला ने अंग्रेज़ों को एक "याचिका" भेजी।[४९] नाना ने अन्य बातों के अलावा रानी को एक इश्तहार भी भेजा। बाला ने विद्रोह के लिए सारा दोष अपने भाई पर डाला। "सिपाही मुझे उनका साथ नहीं छोड़ने देते थे, मेरा भाई मुझे अलग नहीं होने देता था। इसलिए मेरे लिए यह आवश्यक हो गया कि मैं अपने भाई के आदेशों के अनुसार कार्य करूं। मैंने फतेहपुर के जज की ६ या १० साल की एक बच्ची की जान बचाई है जो मेरी पत्नी के साथ छिप कर रही है और जिसे मैंने जनरल बद्री नरसिंह को दिखा दिया है।"[५०] "यह आपके हाथ में है कि आप मेरे साथ जैसा चाहें वैसा व्यवहार करें।

४७. फ़ारेन पोलिटिकल कन्सल्टेशन्स, संख्या १८४-८८, २४ फरवरी, १८६०

४८. फ़ारेन डिपार्टमेंट प्रोसीडिंग्स, संख्या २१४-१५, ६ मार्च १८६०

४६. फ़ारेन पोलिटिकल कन्सल्टेशन्स, संख्या ६८, २७ मई, १८५६

५०. इस बालिका के बारे में कुछ भी ज्ञात नहीं है।

आप मुझे जेल में डाल सकते हैं, मार सकते हैं या फांसी लगवा सकते हैं ।" परन्तु नाना अब भी अवज्ञा कर रहा था । उसके सिर पर एक लाख रुपये का इनाम बोल लिया गया था और उसे पकड़ने वाले उन लोगों को भी, जो यूरोपीयों लोगों की हत्या अपराधी थे, पूर्ण और बिना शर्त क्षमा-दान का वचन दिया गया था ।"[५१] परन्तु नाना ने दृढ़तापूर्वक इस बात का निषेध किया कि अंग्रेज पुरुषों और स्त्रियों की हत्या में उसका कोई हाथ रहा है और उसने दया के लिए याचना नहीं की । "तुमने सबके अपराधों को क्षमा कर दिया है और नेपाल का सरदार तुम्हारा मित्र है । इस सबके होते हुए भी तुम कुछ नहीं कर सके । तुमने सब को अपनी ओर कर लिया है और केवल मैं ही बचा हूं, परन्तु तुम देखोगे कि दो साल से मैं जिन सिपाहियों को रख रहा हूं, वे क्या कर सकते हैं । हम मिलेंगे और मैं तुम्हारा खून बहाऊंगा जो घुटनों तक आ जाएगा । मैं मरने के लिए तैयार हूं ।"[५२] यह निर्धारित करना शक्य नहीं है कि यह निराशा की अन्तिम आवाज थी या अपराजित भावना का अविजित विरोध ।

मेजर रिचर्डसन ने, जिसे एक ब्राह्मण के द्वारा उपर्युक्त इश्तहारनामा दिया गया था, उत्तर में लिखा कि "इंग्लैंड की महामहिम सम्राज्ञी ने जो घोषणा जारी की थी वह किसी दल या व्यक्ति के लिए नहीं थी, बल्कि वह सबके लिए थी । अतः जिन शर्तों पर फर्रुखाबाद और बांदा के नवाबों तथा अवध के सरदारों और राजाओं ने अपने हथियार डाले हैं और अपने आप को सरकार के हाथों समर्पित कर दिया है, वही शर्तें आपके लिए भी प्रस्तुत हैं और उन सबके लिए भी जो समर्पण करने के इच्छुक हैं । आपने लिखा है कि आपने स्त्रियों और बच्चों (मेम और लड़के) को नहीं मारा है, तो फिर आपको बिना किसी भय के समर्पण कर देना चाहिए ।" इस उत्तर को सपरिषद्-गवर्नर-जनरल का अनुमोदन प्राप्त नहीं था और यह निश्चय किया गया कि भविष्य में "सरकार ने जिन विद्रोहियों को अवैध घोषित कर दिया है या जिन पर हत्याओं में भाग लेने का सन्देह है, उनकी ओर से आए हुए समझौते के प्रस्तावों का उत्तर रानी की घोषणा भेजकर या उसका उल्लेख करके दिया जाए तथा उस पर और कोई टिप्पणी न की जाए ।"[५३] परन्तु नानासाहब ने इस प्रकार की शर्तों पर समर्पण करने से इन्कार कर दिया । उसने उत्तर में लिखा, "मैं इस प्रकार समर्पण नहीं कर सकता । यदि महामहिम सम्राज्ञी के द्वारा लिखा हुआ और उसकी मुहर लगा पत्र फ्रांसीसी सेना के समादेशक अधिकारी के द्वारा या उसके बाद दूसरे अधिकारी के द्वारा मेरे पास लाया जाए तो मैं इन अधिकारियों पर विश्वास करके बिना संकोच के शर्तों को स्वीकार कर लूंगा । हिन्दुस्तान में की हुई आपकी सब दगाबाजी का मुझे पता है, फिर मैं आपसे क्यों मिलूं ?" "किसी न किसी दिन तो मरना है ही । फिर अपमानित होकर क्यों मरूं ? जब तक मैं जीवित हूं, आपके और मेरे बीच युद्ध जारी रहेगा, चाहे मैं मारा जाऊं या कैद किया जाऊं या मुझे फांसी

५१. फ़ारेन सीक्रेट कन्सलटेशन्स, संख्या ४५६, २८ मई, १८५८
५२. फ़ारेन पोलिटिकल कन्सलटेशन्स, संख्या ६६, २७ मई, १८५६
५३. फ़ारेन पोलिटिकल कन्सलटेशन्स, संख्या ६७, २७ मई, १८५६

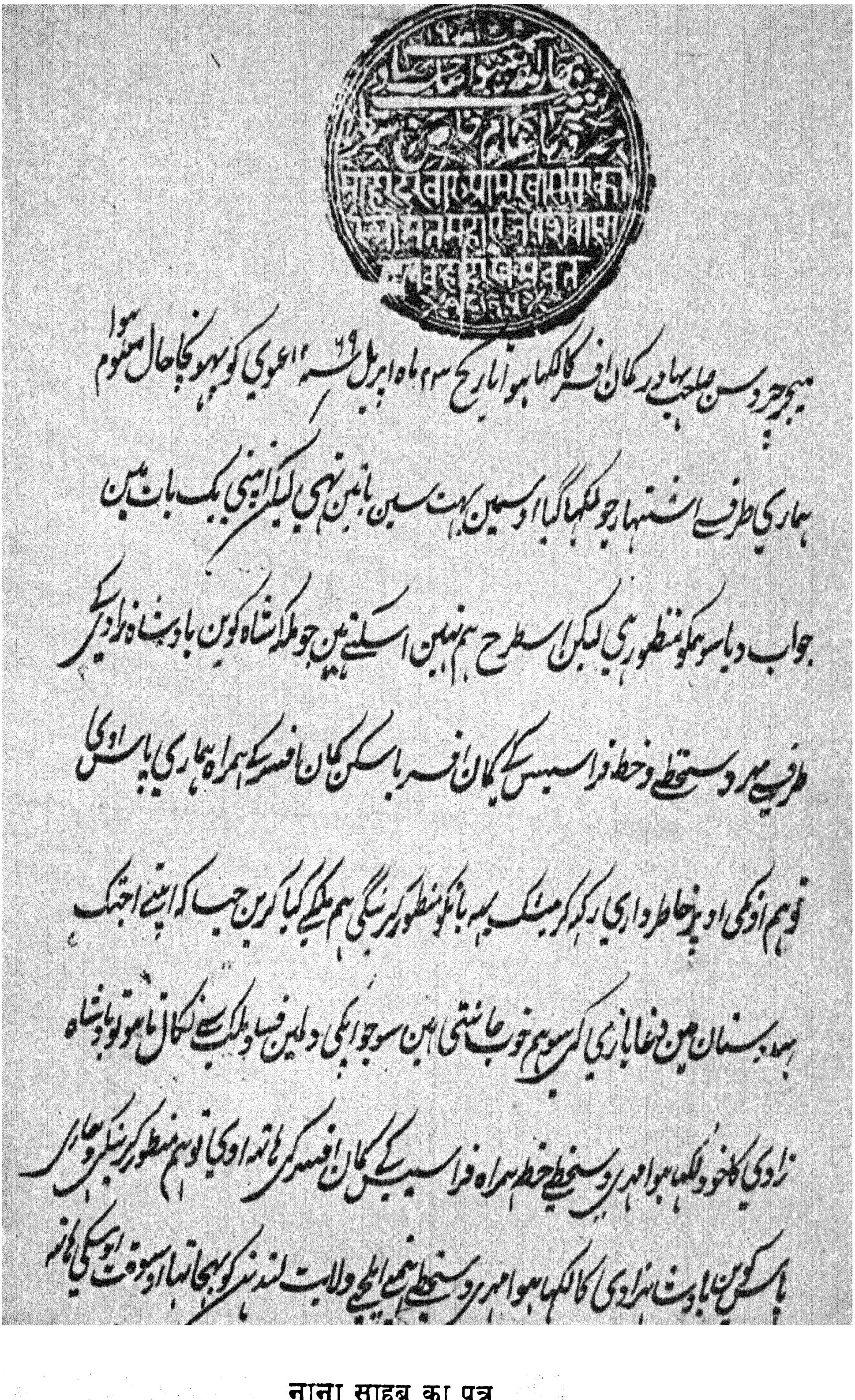

میجر جرویس صاحب بہادر کمان افسر کا لکھا ہوا تاریخ ۲۳ ماہ اپریل سنہ ۱۸۵۹ عیسوی کو پہونچا حال معلوم ہوا
ہماری طرف سے اشتہار جو لکھا گیا اوسمین بہت سی باتین تہی لیکن اپنی یک بات مین
جواب دیا سو ہمکو منظور ہی لیکن اسطرح ہم نہین اسکلئے ہین جو ملکہ شاہ کوین بادشاہزادی کی
طرف سے مہر دستخط و خط فراسیس کے کمان افسر پاس کن کمان افسر کے ہمراہ ہماری پاس اوی
تو ہم اونکی اوپر خاطر داری رکہ کر بیشک یہہ بات کو منظور کرینگی ہم ملکے کیا کرین جب کہ اپنے اجتک
ہندوستان مین دغابازی کی سو ہم خوب جانتی ہین سو جو اونکی دلمین فساد ملک سے نکالنا ہو تو بادشاہ
زادی کا خود لکھا ہوا مہر دستخطی خط ہمراہ فراسیس کے کمان افسر کے ہاتہ اوی تو ہم منظور کرینگی و ہماری
پاس کوین بادشاہزادی کا لکھا ہوا مہر دستخطی ہمنے ایلچی ولایت لندن کو بہیجا تہا اوسکا جواب نہوسکی لہذا نہ

नाना साहब का पत्र

लगा दी जाए। जो कुछ मुझे करना है वह केवल तलवार से किया जाएगा।"[५४] एक लम्बे अर्से से नाना का व्यक्तित्व आकर्षक एवं रहस्यात्मक बना हुआ था। कानपुर के प्रारम्भिक दिनों में भी वह पृष्ठभूमि में रहा। फिर वह चुपचाप बिठूर से फर्रुखाबाद, फर्रुखाबाद से बरेली, बरेली से बहराइच और वहां से तराई के जंगलों में चला गया। परन्तु वह रंगमंच पर अपनी तलवार की शानदार चमक दिखाकर गया। उसमें एक असाधारण अभिनयात्मक बुद्धि थी। बाद में क्या उसका हुआ, यह हम नहीं जानते। नेपाल सरकार का यह पक्का विश्वास था कि वह मर गया है। किन्तु भारत सरकार इस बारे में पूरी तरह से आश्वस्त नहीं थी। नाना का एक ऐसा खौफ छा गया था, जिसे आसानी से दूर नहीं किया जा सकता था।

पेशवा परिवार की महिलाओं, बाजीराव द्वितीय की दो विधवा पत्नियों, नाना की विधवा पत्नी और बाला की विधवा पत्नी, इन सबको नेपाल में अपना अन्तिम जीवन बिताने की अनुमति दे दी गई। उनके साथ बाजीराव द्वितीय की एक पुत्री थी, जो भट्ट परिवार की अन्तिम निशानी थी। जब शान्ति पुनः स्थापित हो गई तो वह अपनी विमाताओं को छोड़कर ग्वालियर में अपने पति के साथ रहने लगी।

बेगम हज़रत महल ने भी अपने पुत्र और एक छोटे से अनुचर-वृन्द के सहित गुरखाओं के देश में रहना पसन्द किया। उसे वचन दिया गया कि उसके पति अवध के भतपूर्व नवाब को दिए जाने वाले भत्ते के अतिरिक्त उसे एक उचित पेंशन दी जाएगी। उसे उन सब सम्मानों का भी आश्वासन दिलाया गया जो उसके पद के अनुकूल थे। परन्तु उसे भारत वापस आने के लिए प्रेरित नहीं किया जा सका। रसेल कहता है कि वह एक महान शक्ति और योग्यता वाली स्त्री थी। "उसने सम्पूर्ण अवध को अपने पुत्र का साथ देने के लिए उत्तेजित कर दिया है और सरदारों ने उसके प्रति वफादार रहने के लिए शपथ ली है।" "बेगम ने हमारे विरुद्ध कभी न खत्म होने वाली लड़ाई की घोषणा की है और उसके राज्य को मिलाने की परिस्थितियों, सन्धि की शर्तों का पालन न करना, उधार दिए गए धन के बदले में उसके परिवार के साथ किया गया कृतघ्नता का व्यवहार और अत्यन्त विषम परिस्थितियों में उसके परिवारों ने जो सहायता दी, इन सब कई बातों के आधार पर बेगम ने अपना रोष प्रकट किया है।"[५५] युद्ध में हार कर, बेगम ने अंग्रेजों की पेंशन लेने से इन्कार कर दिया, क्योंकि इसका अर्थ यह होता कि वह अपने पुत्र के अधिकारों को छोड़ देना चाहती है। वैयक्तिक रूप से वह अपने पति और स्वामी से बहुत अधिक अच्छी थी।

ख़ान बहादुर ख़ां को अपनी महत्वाकांक्षा का मूल्य अपनी जान देकर चुकाना पड़ा। उस पर मुकदमा चलाया गया, उसे दोषी ठहराया गया और उसे फांसी पर लटका दिया गया। उसकी यह दलील बेकार रही कि यदि वह अपराधी होता तो समर्पण न करता। उसके विरुद्ध साक्ष्य काफी प्रबल था। दिल्ली के बादशाह झांसी की रानी और अवध के

---

५४. फ़ारेन पोलिटिकल कन्सल्टेशन्स, संख्या ६८, २७ मई, १८५६

५५. रसेल, उद्धृत ग्रन्थ, जिल्द १, पृ० २७४-७५

बेगम के विरुद्ध वह एक ब्रिटिश प्रजा-जन था और यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति को अपने देश की राजनीतिक स्वतन्त्रता के लिए लड़ने का अधिकार है, परन्तु असफलता की सजा मृत्यु है। उसके वित्त मंत्री सोभाराम को केवल आजीवन कारावास की सजा दी गयी, परन्तु एक अपाहिज के लिए यह मृत्यु से अधिक बुरा दण्ड है। उसे मोलमीन भेज दिया गया।[५६]

दिल्ली के पतन के बाद बख़्त ख़ां लखनऊ चला गया था। उसने लखनऊ की प्रतिरक्षा में या बाद के युद्धों में क्या भाग लिया, यह हम ठीक प्रकार से नहीं जानते। ऐसा पता चला कि १३ मई, १८५९ को हुए एक युद्ध में वह मारा गया।[५७]

ज्वाला प्रसाद को कानपुर में सती चौराघाट के पास ३ मई १८६० को फांसी लगा दी गई।

अपने नेताओं के लुप्त हो जाने के बाद साधारण सिपाहियों के पास यदि कुछ हथियार बचे थे, तो उन्होंने उन्हें डाल दिया। वे प्रसन्नतापूर्वक मृत्यु का भय छोड़कर अपनी अन्तिम पराजय के समाचार की पुष्टि करने के लिए अपने गांवों के घरों में लौट आए। बिहार के नेताओं को वैसे ही छोड़ देने का निश्चय किया गया यदि वे मानव-हत्या के अपराधी न हों। नेपाल की सरकार ने अपने ब्रिटिश मित्रों को कुल दो हजार सशस्त्र विद्रोही वापस दिए।

हमने तात्या और राव साहब को जावरा अलीपुर की पराजय के बाद राजपूताना जाते छोड़ा था। तात्या ने ठीक ही अनुभव किया कि उसकी सलामती अब जनता के समर्थन में थी। वह नागरिक आबादी से क्रियात्मक सहयोग की तो आशा नहीं कर सकता था, परन्तु उनकी सद्भावना की हानि उठाने के लिए वह किसी प्रकार तैयार नहीं था। इसलिए राव साहब ने घोषणा की कि उसके सैन्य दलों को जिस किसी चीज़ की आवश्यकता होगी, वह उचित मूल्य पर खरीदी जाएगी। ग्रामीणों को उनके आने पर भागना नहीं चाहिए, क्योंकि उन्हें उनसे किसी प्रकार की हानि की शंका नहीं करनी चाहिए, बल्कि इसके विपरीत वह जो कुछ खरीदेगा उसके लिए बाजार भाव से भी अधिक मूल्य देगा।[५८] किसानों और व्यवसायियों को इस प्रकार सन्तुष्ट करने के बाद तात्या ने भारतीय राज्यों के सैन्य दलों की ओर अपना ध्यान उन पर ही उसकी आशाएं आधारित थीं और सदा

---

५६. उत्तर-पश्चिमी प्रान्त के सचिव को भेजा गया पत्र, संख्या ४४०७, १५ जुलाई, १८५९

५७. फ़ारेन पोलिटिकल कन्सल्टेशन्स, संख्या १८७, १७ जून, १८५९

५८. जयपुर से गुजरते हुए तात्या के आदमियों ने ग्रामीणों से अपना सामान खरीदा। उनकी कार्य-प्रणाली यह थी कि वे पहले से ही अपने कुछ आदमी गांव में भेज देते थे जो ग्रामीणों को यह स्पष्ट कर देते थे कि उनका इरादा गांव या उसके निवासियों को कोई हानि पहुंचाने का नहीं है। जिस सामान की उन्हें आवश्यकता होती थी, उसका दुगुना मूल्य वे दे देते थे और यदि कोई इन्कार करता था तो फिर वे धमकी देते थे कि वे बलपूर्वक आवश्यक वस्तु प्राप्त कर लेंगे। कई बार उन्होंने ऐसा किया भी। जयपुर के पोलिटिकल एजेंट ईडन का ए० जी० जी० को लिखा दिनांक २४ जुलाई, १८५८ का पत्र।

उसे निराश भी नहीं होना पड़ा। वह चम्बल नदी को पार कर जयपुर की ओर गया परन्तु उस दिशा में उसके आगे बढ़ने का पूर्वानुमान जनरल राबर्ट्स ने कर लिया था और तात्या टोंक की ओर चल दिया। नवाब ने अपने कुछ स्वामिभक्त अनुयायियों के साथ अपने आप को किले में बन्द कर लिया परन्तु उसके सैन्य दल सामूहिक रूप से विद्रोहियों से मिल गए।

कर्नल होम्स द्वारा पीछा किए जाने पर तात्या ने बूंदी के कठिन पहाड़ी प्रदेश में से गुजरते हुए मेवाड़ में प्रवेश किया। अगस्त में तात्या को राबर्ट्स ने भीलवाड़ा में पराजित कर दिया और वह कंकरौली की ओर भाग गया। राबर्ट्स पीछा करता ही गया और उसने तात्या को बनास नदी के किनारे पर दुबारा हराया। परन्तु ऐसी असफलताओं और प्रतिकूल परिस्थितियों ने तात्या को हतोत्साहित नहीं किया। जब हर कोई यह सोचता था कि नदी को पार नहीं किया जा सकता, तब उसने चम्बल को पार किया और वह झालरपाटन पहुंचा जो झालवाड़ की छोटी-सी रियासत की राजधानी थी। राजा के सैन्य दलों ने अपनी इच्छा से विद्रोही सैन्य दलों के साथ भाई-चारे का बरताव किया और तात्या ने एक बड़ी राशि की मांग की। पांच लाख रुपये चुका देने के बाद राजा का बचाव हो सका। तात्या और राव साहब अब इन्दौर से पचास मील दूर थे और यदि वे अपने ग्वालियर के कार्य की पुनरावृत्ति करने में और सैन्य दलों को उनके स्वामी के विरुद्ध खड़ा करने में सफल हो जाते, तो एक अधिक गम्भीर और विषम परिस्थिति उत्पन्न हो जाती। परन्तु जनरल माइकेल ने पहले से ही थोड़ी सी सेना उज्जैन भेज कर इन्दौर की रक्षा करने की सावधानी बरत ली थी। १५ सितम्बर को उसने ब्यावर के समीप तात्या पर आक्रमण किया।

माइकेल से पराजित होकर तात्या ने अपने सैन्य दलों को विभक्त कर दिया और बुन्देलखण्ड में अगला युद्ध करने का निश्चय किया। उसने निश्चय किया कि वह स्वयं चन्देरी के प्रसिद्ध किले के विरुद्ध अभियान करेगा और राव साहब को अपनी सेना के साथ झांसी की दिशा में जाना था। तात्या जब उस सैनिक महत्व के किले पर अधिकार नहीं कर सका तो वह नदी के पश्चिमी किनारे की ओर बढ़ा। यहां माइकेल ने उसका पीछा किया और १० अक्तूबर को उसने तात्या को मंगरौली में हराया। किसी भी बात से भयभीत न होकर तात्या ने नर्मदा नदी को पार किया और उसने आज के मध्य-प्रदेश में प्रवेश किया। यदि उसने पहले के मराठा राज्य में जनता के समर्थन की आशा की, तो इसमें उसे दुःखपूर्ण निराशा ही हुई। सहायता प्राप्त करने की बजाय उसने अपने शत्रुओं को ही यहां अधिक सचेत पाया और वह असीरगढ़ की ओर चल दिया। उसने इस क्षेत्र को सुरक्षित पाया और वह कुड़गांव की ओर चल दिया जहां होलकर के कुछ विद्रोही सैन्य दलों ने उसकी शक्ति को बढ़ाया। अपने शत्रुओं के सब प्रयत्नों के बावजूद तात्या ने नर्मदा को पार किया और वह बड़ौदा की ओर चल दिया जो एक मराठा राज्य था और जहां उसे सम्भवतः पेशवा के लिए कुछ सहायता प्राप्त होने की आशा थी, परन्तु गायकवाड़ की राजधानी में पहुंचना उसके भाग्य में नहीं बदा था, क्योंकि पार्क ने उसे बड़ौदा से ५० मील दूर छोटा उदयपुर में रोक लिया।

गुजरात से आगे बढ़कर राव साहब और तात्या ने बंसवाड़ा की छोटी राजपूत

रियासत में प्रवेश किया। बांसवाड़ा से दोनों विद्रोही नेताओं ने मेवाड़ में दुबारा प्रवेश किया। सलूम्बर के सरदार केसरीसिंह के अपने अधीश्वर से अच्छे सम्बन्ध नहीं थे और कूटनीतिज्ञ तात्या ने सम्भवतः मेवाड़ के शासक और सलूम्बर के सामन्त के आपसी मत-भेदों से लाभ उठाने की आशा की। सामन्त ने उसे कुछ रसद दी और तात्या अपने पहले के कार्य-क्षेत्र भीलवाड़ा में से होता हुआ प्रतापगढ़ पहुंचा जो एक दूसरी राजपूत रियासत थी। परन्तु पीछा न छोड़ने वाले शत्रुओं ने उसे यहां भी चैन नहीं लेने दिया। हर तरफ उसे शत्रुओं के सैन्य दलों ने घेर लिया और प्रतापगढ़ के पड़ोस में उनके एक दल का सामना करना पड़ा। प्रतापगढ़ से वह मन्दसौर को भागा और वहां से ज़ीरापुर को।

नए वर्ष (१८५९) में वह कोटा के राज्य-क्षेत्र में था। नाहरगढ़ में वह अपने नए सहायक और मित्र मानसिंह से मिला। केवल विपत्ति ने इन अपरिचित व्यक्तियों को एक दूसरे से मिला दिया था। मानसिंह को अंग्रेज़ों से कोई शिकायत नहीं थी। नरवर का यह सरदार अपने अधीश्वर ग्वालियर के मराठा शासक के विरुद्ध अपने चाचा की जागीर पर अपने न्यायपूर्ण दावे के रक्षार्थ विद्रोह कर बैठा था। उसने पावड़ी के किले पर अधिकार कर लिया जिससे वह अंग्रेज़ अधिकारियों के सीधे संघर्ष में आ गया। जनरल नेपियर ने जब मानसिंह को पावड़ी के किले से हटा दिया तो वह अपनी जन्म-भूमि के जंगलों में चला गया। परन्तु तात्या इन्दरगढ़ में शहज़ादा फ़ीरोज़ शाह से मिलने के लिए उससे अलग हो गया।

फ़ीरोज़ शाह की अधिकांश सेना बड़े दयनीय ढंग से विनष्ट कर दी गई थी क्योंकि उसने भी नेपियर के हाथों सजा पाई थी। गंगा नदी को पार कर फ़ीरोज़ शाह कूंच और कालपी के प्रदेश की ओर बढ़ा था जिससे उसके सिपाही अच्छी तरह परिचित थे। नेपियर ने एकदम उन्हें बीच में रोकने का निश्चय किया। दोनों नेताओं का अप्रत्याशित ढंग से रानौद में आमना-सामना हो गया, क्योंकि उनमें से कोई भी दूसरे की गतिविधि से परिचित नहीं था। इसके बाद फ़ीरोज़ शाह ने अपनी छिन्न-भिन्न सेना के साथ आरोनी के जंगलों में शरण ली जहां से उसे गुना से कैप्टन राइस ने आकर भगा दिया। जब वह इन्दरगढ़ में आकर तात्या से मिला तो उन दोनों की संयुक्त सेना में दो हजार से अधिक सिपाही न थे। तात्या और फ़ीरोज़ शाह इन्दरगढ़ को, ब्रिगेडियर होनर के वहां आने से ठीक एक दिन पूर्व छोड़ कर चले गए। परन्तु ब्रिगेडियर शावर्स जयपुर और भरतपुर के बीच देवसा में १४ जनवरी, १८५९ को उन पर टूट पड़ा। उस दिन उनके पूरे अनुगामी-दल का दसवां भाग मारा गया परन्तु तात्या और फ़ीरोज़ शाह ने पीछा करने वालों को एक बार और छका दिया। वे जयपुर के राज्य-क्षेत्र में मंडराते रहे और सीकर नामक एक छोटे कस्बे में, जो एक छोटे से सरदार का ठिकाना था, उन्होंने अपना शिविर डाला। परन्तु कर्नल होम्स नसीराबाद से चल कर उनका पीछा कर रहा था। उसने चौबीस घण्टों में पचास मील से अधिक की यात्रा की और २१ जनवरी को विद्रोही शिविर में पहुंच कर उसे आश्चर्य में डाल दिया। तात्या की सेना फिर पराजित हो गई परन्तु सदा की तरह नेता बचकर भाग निकले। तात्या के पीछे अंग्रेज़ जनरल काफी देर तक अपने घोड़े दौड़ाते रहे।

उनमें से हर एक को यह लोभ था कि वह महान विद्रोही को अपने जाल में फंसाने का श्रेय प्राप्त करे। इसलिए विभिन्न सैनिक दलों में सूचना के स्वतंत्र विनिमय का सम्भवतः अभाव था।[५९] परन्तु तात्या ने अब देखा कि वह उनसे अधिक देर तक बचा नहीं रह सकता। मध्यवर्ती-भारत से वह जुलाई १८५८ में राजपूताना को भागा था, राजपूताना से वह बुन्देलखण्ड भाग गया, बुन्देलखण्ड से वह मध्य-प्रदेश गया और वहां से वह बड़ौदा गया जहाँ से फिर उसे पीछे राजपूताना में धकेल दिया गया। चम्बल, बेतवा और नर्मदा जैसी नदियां उसके शत्रुओं के आगे बढ़ने में बाधा पहुंचाती थीं, परन्तु उसे कोई कठिनाई नहीं होती थी। वह छोटे से छोटे मार्गों से पहाड़ियों और जंगलों में होकर चला जाता था। उसे किसानों में ही नहीं, बल्कि आदिम जातियों में भी मित्र मिल जाते थे। वह दक्षिण की ओर क्यों नहीं बढ़ा ? क्या वह नाना की प्रतीक्षा कर रहा था ? इस प्रश्न का कभी उत्तर नहीं दिया जा सकेगा क्योंकि इस बारे में वह मौन था।

सीकर की दुर्घटना के बाद तात्या टोपे, राव साहब और फ़ीरोज़ शाह, इन तीनों नेताओं ने अलग-अलग होने का निश्चय किया। छोटे-छोटे गिरोहों में वे अब भी अपने शत्रु को धोखा देकर बच सकते थे और एकान्त पहाड़ियों या दूरस्थ जंगलों में शरण प्राप्त कर सकते थे। परन्तु साथ-साथ रहकर उनका पूरा पता लग जाना और उनका पकड़ा जाना अनिवार्य था। ऐसा सुना जाता है कि तात्या ने अपने अनुयायियों से कहा कि वे खुद अपनी रक्षा करें, क्योंकि वह इतनी बड़ी सेना के विरुद्ध अधिक समय तक युद्ध जारी नहीं रख सकता। तीन सेवक, तीन घोड़े, और एक टट्टू लेकर वह राव साहब के शिविर से रवाना हुआ और मानसिंह की रक्षा में वह पैरों के जंगल में शरण लेने गया। राव साहब और फ़ीरोज़ शाह को मार्ग में रोकने के प्रयत्न किए गए परन्तु वे सफल नहीं हुए। उन्होंने चतुर्भज दर्रे को पार किया और सिरोंज के जंगल में उन्होंने अपने लिए छिपने का एक सुरक्षित स्थान प्राप्त कर लिया। परन्तु वहां भी उन्हें शान्ति से नहीं रहने दिया गया। अपने श्रेष्ठ साधनों से अंग्रेज़ जनरलों ने जंगल का घेरा डालना चाहा और उसकी इंच-इंच जमीन की खोज करनी चाही। अन्त में चार सैनिक दस्तों ने मिलकर जंगल की छान-बीन की और वे विद्रोही शिविर में पहुंच गए। परन्तु अंग्रेज़ अफसरों के भाग्य में निराशा ही बदी थी। राव साहब और फ़ीरोज़ शाह वहां से विलुप्त हो गए थे।

परन्तु सीकर की पराजय के बाद विद्रोहियों का दिल टूट गया था और न केवल दो राजाओं की ओर से बल्कि कम महत्वपूर्ण अन्य सरदारों की ओर से भी समझौते के लिये शर्तों के प्रस्ताव रखे जा रहे थे। बांदा के नवाब ने रानी की घोषणा से लाभ उठाया और नवम्बर १८५८ में इसके प्रकाशन के शीघ्र बाद उसने समर्पण कर दिया। उसे ४०० रु०

---

५९. "सभी दस्ते उत्साही और अनुभवी अफसरों की कमान में थे और उनमें से प्रत्येक तात्या टोपे को पकड़ना चाहता था और चूंकि हर अफसर यह चाहता था कि उसका दस्ता बिना किसी दूसरे के हस्तक्षेप के यह कार्य करे, इसलिए विद्रोहियों का पीछा करने के साथ-साथ ये सैनिक दस्ते एक दूसरे से भी दूर-दूर भागते थे।" मिसेज़ पैजेट, कैम्प एण्ड कैण्टोनमेंट, पृ० ४४१-४२

प्रतिमास पेंशन दी गई। १६ फरवरी को नीमच के समीप दो आदमी पकड़े गये जिनका दावा था कि वे विद्रोही शिविर के दूत हैं। उनके पास दो पत्र पाए गए, जिनमें से एक अंग्रेज़ी में था और आगरा के भूतपूर्व सब-असिस्टेंट सर्जन वज़ीर ख़ां की ओर से नीमच के समादेशक अधिकारी को लिखा गया था। दूसरा पत्र फारसी में था जिस पर न पता था और न तारीख। इस पर सैयद ज़हूर अली ने अपने और अपने साथी अफसरों की तरफ से हस्ताक्षर किए थे। वज़ीर ख़ां ने यह कहते हुए पत्र का प्रारम्भ किया था कि वह "न तो एक विद्रोही था और न ग़दर करने वाला" और विशिष्ट अवस्थाओं में उसे आगरा में अपना स्थान छोड़ने के लिये बाध्य किया गया था। उसका दावा था कि उसने विद्रोहियों से समर्पण करने के लिये अनुरोध किया था और ऐसा ही उसने बीकानेर जिले के सैनिक दस्ते के समादेशक अधिकारी को भी लिखा था। परन्तु उसे कोई उत्तर नहीं मिला। अब उसने घोषणा की शर्तों की स्पष्ट व्याख्या के लिए प्रार्थना की और अन्त में फ़ीरोज़ शाह और राव साहब की ओर से क्षमा की प्रार्थना की। उसने लिखा, "मेरा विश्वास है कि शहज़ादा फ़ीरोज़ शाह और राव साहब दोनों को सुरक्षा के सम्बन्ध में आश्वस्त कर दिया जाए तो एक भी आदमी ऐसा नहीं बचेगा जो अंग्रेज़ी सरकार के विरुद्ध लड़ता रहे। यदि सरकार राव को क्षमा के योग्य न समझे तो मैं समझता हूं कि अकेला शहज़ादा ही प्रायः सब ग़दर करने वालों से समर्पण करवा देगा बशर्ते कि उसे विद्रोहियों से मिल जाने के लिए क्षमा कर दिया जाय।" ज़हूर अली ने लिखा, "हमें सीकर से महामहिम सम्राज्ञी की घोषणा की एक प्रति मिली। उसमें समर्पण करने की अवधि १ जनवरी, १८५६ रखी गई है, परन्तु हाशिये में ६ महीने की और अवधि दे दी गई है, जिससे कि कुछ बातों का स्पष्टीकरण किया जा सके। हमने अपने वकील सिरमुश्त ख़ां और अब्दुल करीम ख़ां को आपके पास भेजा है। उनके कथनानुसार यदि हमें सुरक्षा का आश्वासन मिल जाय, तो जब भी आप कहें, हम समर्पण कर देंगे। "नीमच के सुपरिंटेंडेंट कैप्टन डेनिस ने शीघ्रतापूर्वक उत्तर दिया कि हर किसी के प्रति, जो रानी की घोषणा के अनुसार समर्पण करेगा, उस घोषणा में दिए गए हर वचन का पूरी तरह से पालन किया जायगा। यह समान रूप से राव साहब, फ़ीरोज़ शाह और साधारण सिपाहियों पर लागू होता है।"[६०] पर राबर्ट हैमिल्टन की ओर से १४ मार्च को दिए गए एक तार-सन्देश से हमें ज्ञात होता है कि राव साहब का एक एजेंट शान्ति के प्रस्तावों को लेकर सर राबर्ट नेपियर से मिला था। "वकील ने एक साथ राव साहब के लिये कई अनुग्रहों की सूची प्रस्तुत की, परन्तु उसे सूचित किया गया कि उन्हें घोषणा में सम्मिलित नहीं किया जा सकता। मैं अपने पहले उत्तर में उसे उसकी जीवन-रक्षा का वचन दे चुका था और साथ ही यह भी कि उसके साथ व्यक्तिगत असम्मान का बर्ताव नहीं किया जायगा, इन्हीं सब बातों से उसे सूचित किया जा सकता है। वकील का कहना है कि फ़ीरोज़ शाह समर्पण करने को व्यग्र है, परन्तु वह डरता है।"[६१] राव साहब को बाजी राव के दामाद बाबा साहब आप्टे के रूप में अपना एक प्रभावशाली

---

६०. फ़ारेन पोलिटिकल कन्सल्टेशन्स, संख्या ६१८, १५ अप्रैल, १८५६

६१. फ़ारेन पोलिटिकल कन्सल्टेशन्स, संख्या १६६, २५ मार्च, १८५६

समर्थक मिल गया था। आप्टे मालवा में सिन्धिया का सर-सूबेदार था और इसलिए वह अंग्रेज़ों की दृष्टि में बहुत अच्छा था। जबकि उसके दो साले अंग्रेज़ों के विरुद्ध युद्ध लड़ रहे थे, वह सिन्धिया के प्रति वफ़ादार रहा। सर राबर्ट हैमिल्टन के द्वारा उसको लिखे गये एक पत्र से साधारणतः यह माना जा सकता है कि उसने न केवल राव साहब की ओर से बल्कि बाला साहब और नाना साहब की ओर से भी मध्यस्थता की थी, क्योंकि सर राबर्ट का यह कहना था कि उसे बाला साहब और नाना साहब से कुछ नहीं लेना-देना और वह केवल राव साहब से सरोकार रख सकता है जब तक कि वह उसके अधिकार-क्षेत्र की सीमा में रहे। "यदि राव साहब समर्पण कर देता है तो उसके जीवन रक्षा की जाएगी। उसे बेड़ियां नहीं पहननी पड़ेंगी और जेल में नहीं रहना पड़ेगा, न उसे कोई अपमान सहन करना पड़ेगा। उसकी जीवन-वृत्ति के लिये साधन जुटा दिए जाएंगे। उसे भारत के ऐसे भाग में रहना पड़ेगा जो सरकार उसके लिये निश्चित करेगी। ये वचन उसे इस शर्त पर दिए जाते हैं कि यदि उसने अपने हाथ से या वाणी से अंग्रेज प्रजा-जनों का बध न करवाया हो और न उसके लिए उत्तेजना दी हो।"[६२] राव साहब ने फिर भी इन शर्तों से लाभ नहीं उठाया। क्या वह यह चाहता था कि उसके चाचा भी क्षमा कर दिए जाएं? जब वह तीन वर्ष बाद जम्मू राज्य-क्षेत्र में गिरफ्तार किया गया, तो उसने उन दोनों पर अभियोग लगाते हुए एक वक्तव्य दिया। परन्तु १८६२ में बाला और नाना किसी भी पार्थिव शक्ति की पहुंच के बाहर थे या ऐसे समझे जाते थे और राव साहब को अपनी जान बचाने की पड़ी थी।

फ़ीरोज़ शाह ने और अधिक अच्छी शर्तों की मांग की। अपनी गतिविधि पर किसी प्रकार के प्रतिबन्धों का लगाया जाना वह स्वीकार न कर सका और न वह यह चाहता था कि उन थोड़े से अनुयायियों से जो उसके साथ अब भी बच गए थे, हथियार डलवाए जाएं। उसके पत्र की शैली और ध्वनि ने मध्यवर्ती-भारत में सर राबर्ट हैमिल्टन के उत्तराधिकारी सर रिचर्ड शेक्सपियर को क्रुद्ध कर दिया। यदि उसका पत्र अधिक विनम्र शब्दों में लिखा गया होता तो शेक्सपियर एक ऐसे आदमी के लिए कुछ साधन जुटाने की सिफारिश करता, "जो अपनी रोजी कमाने के लिए पूर्णतः असमर्थ था।" परन्तु भयंकर विपत्ति में भी गर्वीला शहज़ादा यह नहीं भूला था कि वह तैमूर और बाबर का वंशज है। अपने पूर्वज सम्राटों के खिताब को भी वह नहीं छोड़ना चाहता था और वज़ीर खां के पद या स्थिति के आदमी को वह एक परवाना ही लिख सकता था, पत्र नहीं। सर रिचर्ड शेक्सपियर ने यह देख लिया कि परवाना फ़ीरोज़ शाह के एक अधीनस्थ को सम्बोधित किया गया था, भारत के वायसराय के प्रतिनिधि को नहीं, परन्तु शाही खिताबों के इस्तेमाल से वह क्रुद्ध हुआ। परवाना इस प्रकार था, "जगत और मानव जाति के प्रभु की ओर से, विश्व और उसके विश्वासियों के पवित्र उपदेष्टा का पुत्र, मिर्ज़ा मुहम्मद फ़ीरोज़ शाह बहादुर, अपने विश्वस्त सेवक मौलवी मुहम्मद वज़ीर खां को, दिनांक ३ जिलकब, १२७५ (४ जून, १८५९) को लिखता है। चूंकि तुम्हारी याचना मिल चुकी है और उसकी बातों

६२. फ़ारेन पोलिटिकल कन्सलटेशन्स, संख्या २८८, १७ जून, १८५९

को समझ लिया है, इसलिए मैं कुछ शर्तें लिखता हूं। यदि ये स्वीकार कर ली जाएं और पूरा आश्वासन प्राप्त कर लिया जाए तो मुझे समझौता करने में कोई आपत्ति नहीं है। पहली शर्त—मेरी जीवन-वृत्ति के सम्बन्ध में क्या प्रबन्ध किया गया है। दूसरी शर्त—मुझे पूरी स्वतन्त्रा मिलनी चाहिए, अर्थात् मुझे यह अनुमति मिलनी चाहिए कि जहां भी मैं चाहूं बिना किसी रोक-टोक के आ-जा सकूं। तीसरी शर्त—मेरे अनुचरों से, जो संख्या में करीब दस या बीस हैं, हथियार नहीं डलवाये जाएंगे। उपर्युक्त शर्तों पर उत्तर प्राप्त करने के पश्चात मुझे सूचना दो। एक बार पहले मैंने एक आदमी को इन्दौर भेजा था जिससे मुझे अब तक कोई सूचना नहीं मिली। उसके बारे में जांच करो और अपनी जांच के परिणाम मुझे भेजो।"[६३] किसी भी हालत में सरकार फ़ीरोज़ शाह को आने-जाने की स्वतन्त्रता नहीं दे सकती थी। और उसकी जैसी साहसिक भावना का तरुण व्यक्ति एक निश्चित निवास-स्थान पर रहने को तैयार नहीं हो सकता था। राव साहब के समान, परन्तु एक विभिन्न कारण से, फ़ीरोज़ शाह ने क्षमा-दान की शर्तों को स्वीकार नहीं किया था या वह कर नहीं सका।

अप्रैल में मानसिंह ने तात्या टोपे को धोखा दिया। मेजर मीड ने, जिसे जनरल नेपियर ने पारों के जंगलों को साफ करने और उनमें से सड़क निकालने के लिए नियुक्त किया था, ८ अप्रैल को मानसिंह के पकड़े जाने की खबर दी। मानसिंह में मराठा ब्राह्मण की शक्ति नहीं थी और लगातार युद्ध और जंगल के जीवन ने उसके सैनिक उत्साह को ठंडा कर दिया था। २ अप्रैल को उसने मीड के शिविर में प्रवेश किया और औपचारिक रूप से उसके सामने समर्पण कर दिया। जब वह अपने नए मित्रों को प्रसन्न करने के लिए व्यग्र था और उसने ऐसे भी संकेत किए कि वह तात्या को भी बलिदान करने के लिए इच्छुक था। मीड लिखता है, "मानसिंह ने अपने समर्पण के बाद कई बार ऐसे संकेत दिए हैं जिससे मुझे यह विश्वास होता है कि वह तात्या टोपे को पकड़वा सकता है। इसलिए कृपापूर्ण और उत्साहपूर्ण सलाह देकर मुझसे जो कुछ हो सकता था मैंने सब किया है और मानसिंह से मैंने अनुरोध किया है कि सेवा के इस विशिष्ट कार्य के द्वारा वह सरकार की नजरों में अपने लिए एक उत्कृष्ट स्थान प्राप्त करे।" मानसिंह को अधिक अनुरोध की आवश्यकता नहीं थी। उसने पहले ही संकल्प कर लिया था। उसे सिर्फ यही भय था कि अंतिम क्षण तात्या कहीं उसके चंगुल से निकल न जाए। तात्या जानता था कि मानसिंह मीड के शिविर में गया है, फिर भी वह यह निर्णय नहीं कर सका कि वह ठहरे या चला जाए। वह केवल दो सेवकों के साथ जंगल के बीच में रह रहा था और बाहरी संसार के साथ उसका सम्पर्क टूट गया था। फिर भी वह जंगल के एक गुप्त कोने से दूसरे गुप्त कोने को जा सकता था और यह सम्भव था नियत दिन पर मानसिंह उसका कोई चिन्ह न पा सके। इसलिए मानसिंह ने झूठा बयान करके तात्या से मिलने का प्रबन्ध किया। मीड इस उत्साहपूर्ण कार्य में भाग लेने के लिए इच्छुक था परन्तु मानसिंह ने इच्छा प्रकट की कि यह सारा प्रबन्ध पूरी तरह से उसी के हाथ में रहे। इसलिए देशी पैदल सेना का

६३. फ़ारेन पोलिटिकल कन्सल्टेशन्स, संख्या १७२, १ जुलाई, १८५६

एक छोटा-सा दल उसके अधीन रख दिया गया। मानसिंह इस बारे में सावधान था कि कोई घुड़सवार उसके साथ न चले, क्योंकि थोड़ा-सा भी शोर उसकी योजना को नष्ट कर सकता था। पैदल सिपाहियों को भी यह बिल्कुल भान नहीं था कि वे किस काम पर जा रहे हैं। किसी प्रतिरोध की आशंका नहीं थी क्योंकि मानसिंह अपने मित्र को सोता हुआ पकड़ना चाहता था। "मानसिंह के आदेश से सिपाही एक छोटे से गड्ढे में छिप गए, जहां वह और तात्या टोपे अक्सर जाया करते थे। वह तात्या को वहां ले आया और उसके साथ आधी रात तक बातचीत करता रहा। उसके बाद तात्या सो गया। इसके बाद मानसिंह सिपाहियों को ले आया और तात्या टोपे पकड़ लिया गया और बांध लिया गया। उसके हाथ स्वयं मानसिंह ने पकड़ रखे थे।" दो रसोइए, जो तात्या के साथ थे घबड़ाकर भाग गए। तात्या के पास एक तलवार और एक कुकरी, बस ये दो ही हथियार थे। उसके शरीर पर सोने के तीन बाजूबन्द थे और उसके पास सोने के ११८ सिक्के थे। दूसरे दिन सवेरे वह ब्राह्मण, जिसकी बहुत दिनों से मांग थी, मीड के शिविर में लाया गया जहां से उसे सिप्री भेज दिया गया।[६४] १५ अप्रैल को उस पर सैनिक न्यायालय में मुकदमा चलाया गया। उस पर अभियोग था कि उसने "विद्रोह किया और अंग्रेज़ी सरकार के विरुद्ध जनवरी १८५७ और दिसम्बर १८५८ के बीच विशेषतः झांसी और ग्वालियर में युद्ध किया।" परिणाम पहले से निश्चित था ही। फ़ारेस्ट लिखता है, "उस पर जो नृशंस अपराध लगाया गया था उसका उसे दोषी पाया गया और कानून के अनुसार उसे मृत्यु-दण्ड दिया गया।" एक विदेशी सरकार के विरुद्ध लड़ना नृशंस अपराध नहीं है, हां, देश के वैध अधिकारियों के विरुद्ध लड़ना कानून की दृष्टि में अपराध अवश्य है। यह ध्यान में रखने योग्य है कि हत्या का कोई अभियोग तात्या पर नहीं लगाया गया था। तात्या जन्म से ब्रिटिश प्रजा-जन नहीं था। बाजी राव द्वितीय की मृत्यु तक उसके किसी आदमी से यह आशा नहीं की जा सकती थी कि वह भारत में अंग्रेज़ी सरकार की अधीनता स्वीकार करेगा। तात्या अपने स्वामी के घराने के प्रति वफादारी दिखाने में कभी नहीं चूका।[६५]

राव साहब को भी धोखा दिया गया, परन्तु एक राजपूत के द्वारा नहीं बल्कि महाराष्ट्र के ही एक आदमी के द्वारा। यह मालूम हुआ था कि राव साहब अपनी पत्नी और बच्चों के साथ जम्मू राज्य-क्षेत्र के चेनानी नामक स्थान में निवास कर रहा है।

---

६४. फ़ारेन पोलिटिकल प्रोसीडिंग्स, संख्या, २२ अप्रैल, १८५९

६५. मैलेसन उसकी प्रशंसा करते हुए कहता है कि स्थिति का चुनाव करने में वह बहुत कुशल था और स्थानों के पहचानने की उसकी शक्ति अद्भुत थी। "उसने एक या दो बार से अधिक राजपूताना और मालवा का भ्रमण किया और इन दोनों देशों का क्षेत्रफल मिला कर एक लाख इकसठ हजार सात सौ वर्गमील है।" "जिन गुणों का का उसने प्रदर्शन किया वे और भी अधिक प्रशंसनीय होते, यदि उनके साथ-साथ उसमें एक सेनानी की शक्ति और आक्रामक सिपाही का साहस भी होता।" मैलेसन, उद्धृत ग्रन्थ जिल्द ३, पृ० ३८१-८२

सियालकोट का डिप्टी कमिश्नर मि० मिकनैब उसे गिरफ्तार करने के लिए एकदम जम्मू की ओर बढ़ा और बिना किसी परेशानी के उसे गिरफ्तार कर लिया। अपने वक्तव्य में राव साहब ने इस बात का निषेध किया कि अंग्रेज प्रजा-जनों की हत्या में उसका कोई हाथ न था।[६६] कर्नल विलियम्स ने कानपुर की घटनाओं के बारे में जो जांच की, उसमें ६१ गवाहों में से किसी ने भी राव साहब पर हत्या करने या उसकी उत्तेजना देने का अभियोग नहीं लगाया। ऐसा कोई साक्ष्य नहीं था, जिससे उसे मध्यवर्ती-भारत में भी इस प्रकार के किसी अपराध का भागी माना जा सके। परन्तु बीबीगढ़ का बदला लिया जाना था और राव साहब को दूसरों के पापों का भी प्रायश्चित करना था। नये गवाह उसके अपराध को प्रमाणित करने के लिए सामने आए और पाण्डुरंग सदाशिव, उर्फ़ राव साहब अपराधी पाया गया और उसे फांसी पर लटका दिया गया।

सिरोंज के जंगल को छोड़ने के बाद राव साहब की यात्रा उत्तर-भारत तक ही सीमित रही थी। वह एक तीर्थ-स्थान से दूसरे तीर्थ-स्थान में यात्रा करता रहा और अन्त में चेनानी पहुंचा, जहां उसे गिरफ्तार कर लिया गया। वह सिरोंज से उज्जैन गया था और वहां से उदयपुर गया, और यहीं उसकी पत्नी उससे मिली। उसको साथ लेकर वह दिल्ली गया, सम्भवतः इसलिए कि अत्यधिक भीड़वाले इस शहर में उसे छिपने का सबसे अधिक सुरक्षित स्थान मिल सकता था। बाद में वे थानेश्वर, ज्वालामुखी और कांगड़ा में गए, जहां उनके होने की कभी सम्भावना ही नहीं की जा सकती थी। अन्त में वह चेनानी पहुंचा, जहां वह पकड़ लिया गया।

फ़ीरोज़ शाह ने भारत में ठहरना ठीक नहीं समझा। उसकी घुमक्कड़ वृत्ति उसे पहले भी समुद्रों के पार ले गई थी और वह अब भी अपनी प्रारम्भिक तरुणावस्था में था, जीवन और आशा से परिपूर्ण। यह पता लगा कि सन् १८६० में वह कन्धार में था। स्पष्टतः उसने सिन्ध में होकर यात्रा की थी। इसके बाद उसकी गतिविधि अंग्रेज़ी गुप्तवार्ता विभाग के लिए कोई रहस्य नहीं रही। जहां भी वह जाता था उपर्युक्त विभाग के एजेंटों की सतर्क आंखें उसकी निगरानी करती थीं। सन् १८५९ में वह बुख़ारा चला गया। वह बड़ी आर्थिक कठिनाई में था और उसे स्थानीय राजकुमारों की कृपा पर रहना पड़ा। सन् १८६३ में वह वापस लौटा और वह तेहरान चला गया। सन् १८६३ के प्रारम्भ में यह पूछ-ताछ की गई कि क्या उसके पकड़ने के लिए कोई इनाम रखा गया है। भारत सरकार ने एक विदेशी राज्य में उसके साथ हस्तक्षेप करना और उस राज्य की क्षेत्रीय प्रभुता को भंग करना उचित नहीं समझा। बाद के वर्षों में वह हिरात और बुख़ारा के बीच घूमता रहा और सन् १८६८ में स्वात की घाटी में वह भारतीय सीमान्त के सन्निकट आ गया। स्वात से उसने काबुल की यात्रा की। अमीर ने उसे एक असुविधाजनक अतिथि पाया। उसकी राजधानी में फ़ीरोज़ शाह की उपस्थिति उसके अपने अंग्रेज़ मित्रों और पड़ोसी भारतीयों के हृदय में संशय और बेचैनी ही पैदा कर सकती थी। इसलिए अमीर ने अनुरोध किया कि वह बदख़शां चला जाए। परन्तु वहां भी वह देर तक नहीं ठहरा और

---

६६. फ़ारेन डिपार्टमेण्ट प्रोसीडिंग्स, संख्या २२८-२९, अप्रैल १८६२

उसके बाद उसे समरकन्द में देखा गया। किस उद्देश्य को लेकर वह एक मुस्लिम दरबार से दूसरे मुस्लिम दरबार की यात्रा कर रहा था, इसके बारे में अस्पष्ट अनुमान ही लगाया जा सकता है। परन्तु यदि उसे भारत पर आक्रमण करने की कोई आशा भी थी तो उसे अफगानिस्तान, फारस या मध्य-एशिया से कोई सहायता नहीं मिली। अक्तूबर सन् १८७२ के कुस्तुनतुनिया-स्थित महामहिम सम्राज्ञी के राजदूत ने सूचना दी कि फ़ीरोज़ शाह वहां रह रहा है। तुर्की की राजधानी में फ़ीरोज़ शाह अकेला ही राजनीतिक शरणार्थी नहीं था। कुस्तुनतुनिया ने अनेक अंग्रेज़ विरोधी भारतीय मुस्लिमों को आकृष्ट किया था, परन्तु फ़ीरोज़ शाह उनका नेता नहीं था। अभाव, चिन्ता और कठिनाइयों ने उसके स्वास्थ्य को बिगाड़ दिया था और वह बुड्ढा हो चला था। जुलाई १८७५ में हंटर ने लिखा, "इस्तम्बूल में साधारणतः यह खबर है कि फ़ीरोज़ शाह कुछ महीने पूर्व मिर्ज़ा मुहम्मद बे के साथ मक्का चला गया है। वस्तुतः तथ्य यह है कि वह यहीं है और इस बात की जानकारी केवल हिन्दुस्तानियों को या ऐसे तुर्कों को है जो उससे व्यक्तिगत रूप से परिचित हैं।...जिस आदमी ने मुझे सूचना दी है उसे सुल्तान इब्राहीम फ़ीरोज़ शाह को दिखाने ले गया था और वह उसके पास कुछ समय तक बैठा। उसने फ़ीरोज़ शाह का वर्णन करते हुए कहा है कि वह बिगड़े हुए स्वास्थ्य का आदमी दिखाई पड़ता था, अन्धा या करीब-करीब एक आंख का अन्धा और लंगड़ा।"[६७] उस समय उसकी अवस्था ४५ वर्ष से अधिक की न होगी। जून १८७५ में वह मक्का गया और वहां १७ दिसम्बर, १८७७ को उसे चिर शान्ति मिली।" "ऐसा लगता है कि वह बड़ी दरिद्रता की अवस्था में था और प्रायः उस भत्ते पर आश्रित था जो उसे मक्का के प्रधान शरीफ़ (प्रशासनाधिकारी) की ओर से मिलता था। समय-समय पर उसे भारत के शेखों और आदमियों से भी सहायता मिलती रहती थी। मक्का में उसने अपना एक मात्र जो सम्बन्धी छोड़ा, वह उसकी पत्नी है।"[६८]

इस प्रकार की निराश्रयता की अन्तिम अवस्था में फ़ीरोज़ शाह की मृत्यु हुई। युवावस्था में ही वह बुड्ढा हो गया था। अपरिचितों के बीच वह अपरिचित था। वह अपने देश से बहुत दूर था, जिसके लिए उसने इतने कष्ट सहे। यदि राबर्ट्स ब्रूस एक देशभक्त था तो फ़ीरोज़ शाह भी निश्चय ही देशभक्त था। अकेले ही उसने मक्का से बम्बई की ओर बम्बई से मध्यवर्ती भारत की यात्रा की, जिससे कि वहां विद्रोह का संगठन किया जा सके। अनुयायियों या आर्थिक साधनों के बिना इस तरुण पुरुष ने एक सेना का संगठन किया और विषम परिस्थितियों में उसने दो वर्ष तक युद्ध किया। उसके हाथ बेगुनाह लोगों के रक्त से रंजित नहीं थे। उसे अपने उद्देश्य की अन्तिम सफलता में विश्वास था, परन्तु उसे यह शंका थी कि निरीह स्त्रियों और बच्चों की हत्या से उसमें कुछ काल के लिए बाधा पड़ गई है।[६९]

---

६७. फ़ारेन डिपार्टमेण्ट, सीक्रेट प्रोसीडिंग्स, संख्या ५-१० और के० डब्ल्यू, सितम्बर १८७७

६८. फ़ारेन डिपार्टमेण्ट पोलिटिकल प्रोसीडिंग्स, बी० ३६-४२, जनवरी १८७६

६९. अपनी दिनांक १७ फरवरी, १८५८ की घोषणा में वह कहता है, "अंग्रेज़ों को

अन्य किसी विद्रोही नेता ने हत्याकाण्डों की इतनी खुलकर और स्पष्ट शब्दों में निन्दा नहीं की। तरुणावस्था, पवित्रता और शाही वंश में पैदा होने से वह एक सन्त वीर बन गया और यह उचित ही था कि उसकी मृत्यु मक्का में हुई, जिसके लिए प्रत्येक धार्मिक मुस्लिम उत्सुक रहता है। यह एक दुःख की बात है कि उसने अपने भ्रमणों का कोई वर्णन नहीं छोड़ा है, क्योंकि उसने अपने देश-निकाले के समय में मध्य-पूर्व के अधिकांश भाग और मध्य-एशिया की यात्रा की। इससे भी अधिक दुःख की बात यह है कि उसके थोड़े से देशवासी ही आज उसे याद करते हैं।

फ़ीरोज़ शाह की विधवा पत्नी ने भारत सरकार से एक दयापूर्ण भत्ते के लिए प्रार्थना की। नवम्बर १८८१ में उसे केवल पांच रुपये मासिक की पेंशन इस शर्त पर दी गई कि वह कभी दिल्ली नहीं लौटेगी। लार्ड रिपन ने इस तुच्छ रकम को बढ़ाकर १०० रु० प्रति मास कर दिया गया और उसे पिछले सारे समय से लागू किया गया। यह स्पष्ट कर दिया गया कि यह बेगम के लिए व्यक्तिगत पेंशन है और इसे पैतृक नहीं समझना चाहिए।[७०]

पराजित करने में देर इसलिए हुई है कि आदमियों ने मासूम स्त्रियों और बच्चों को अपने नेताओं की बिना किसी अनुमति के मारा है और उनके आदेशों का उन्होंने पालन नहीं किया है। हमें चाहिए कि हम ऐसे कार्यों को छोड़ दें और तब हमें एक पवित्र युद्ध की घोषणा करनी चाहिए।" फ़ारेन सीक्रेट कन्सल्टेशन्स, संख्या १२२, ३० अप्रैल, १८५८

७०. फ़ारेन डिपार्टमेंट, फ़ाइनेन्शियल प्रोसीडिंग्स, बी०, संख्या ३२-३३ अप्रैल १८८२ और संख्या १२२-२३, जून १८८३

परिशिष्ट १

विदेशी राजनीतिक परामर्श, संख्या ३०२२, ३१ दिसम्बर, १८५८ बिरजिस कादर के नाम से बेगम के द्वारा जारी की गई घोषणा

इस समय कुछ निर्बल मस्तिष्क वाले मूर्ख लोगों ने यह खबर फैला रखी है कि अंग्रेज़ लोगों ने हिन्दुस्तान के आदमियों के दोषों और अपराधों को क्षमा कर दिया है। यह बड़ी आश्चर्यजनक बात है क्योंकि अंग्रेज़ों का तो यह कभी न बदलने वाला रिवाज है कि वे किसी दोष को कभी क्षमा नहीं किया करते, चाहे वह बड़ा हो या छोटा, यहां तक कि यदि अज्ञानवश या प्रमादवश भी कोई छोटा-सा अपराध हो जाए तो उसे भी कभी क्षमा नहीं करते।

१० नवम्बर, १८५८ की घोषणा जो हमारे सामने आई है, बिल्कुल स्पष्ट है और चूंकि कुछ मूर्ख आदमी, इस घोषणा के वास्तविक उद्देश्य को न समझ कर इससे बहक गए हैं, इसलिए हम जो कि चिरस्थायी सरकार हैं और अवध के लोगों के माता-पिता हैं, बहुत ध्यानपूर्वक इस वर्तमान घोषणा को आगे रखते हैं, ताकि इसकी मुख्य बातों का वास्तविक उद्देश्य खुल जाए और हमारे प्रजा-जन सावधान हो जाएं।

१—घोषणा में यह लिखा हुआ है कि हिन्दुस्तान का देश न्यास के रूप में कम्पनी के अधिकार में था और अब रानी ने उसे ले लिया है तथा भविष्य में रानी के कानूनों का ही पालन किया जाएगा। हमारे धार्मिक प्रजा-जनों को इस पर विश्वास नहीं करना चाहिए। इसका कारण यह है कि कम्पनी के कानून, कम्पनी का प्रबन्ध, कम्पनी के अंग्रेज़ नौकर, गवर्नर-जनरल, कम्पनी का न्यायिक प्रशासन, ये सब तो अपरिवर्तित हैं। फिर इसमें नई बात कौन सी है जिससे जनता को लाभ हो सकता है या जिस पर वह आश्रित रह सकती है?

२—घोषणा में यह कहा गया है कि कम्पनी ने जो भी शर्तनामे या समझौते किए हैं, उन्हें रानी स्वीकार करेगी। जनता को यह चालाकी भली प्रकार समझ लेनी चाहिए। कम्पनी ने सारा हिन्दुस्तान छीन लिया है और अब यदि इस समझौते को स्वीकार किया जाए तो इसमें नया क्या है? कम्पनी ने भरतपुर के सरदार के साथ पुत्रवत् व्यवहार करने की घोषणा की, परन्तु उसके बाद उसके राज्य-क्षेत्र को हड़प लिया। लाहौर का सरदार लन्दन ले जाया गया और अभी तक भी वह नहीं लौट पाया है। एक ओर उन्होंने नवाब शमशुद्दीन खां को फांसी पर लटकाया और दूसरी ओर उन्होंने अपने टोप उतार कर उसे सलाम किया। पेशवा को उन्होंने पूना सितारा से बाहर निकाल दिया और बिठूर में आजन्म कारावास में डाल दिया। सुलतान टीपू के साथ उन्होंने जो विश्वासघात किया

वह सुविदित है। बनारस के राजा को उन्होंने आगरा में कैद कर लिया। ग्वालियर के सरदार के देश का प्रशासन करने के बहाने उन्होंने वहां अंग्रेज़ी रीति-रिवाज प्रचलित कर दिए। उन्होंने बिहार, उड़ीसा और बंगाल के सरदारों का नामोनिशान भी बाकी नहीं छोड़ा है। फर्रुखाबाद के रईस को उन्होंने एक थोड़ा-सा मासिक भत्ता दिया और उसका राज्य-क्षेत्र ले लिया। उन्होंने हमारे अधीन पुराने जिले शाहजहांपुर, बरेली, आजमगढ़, जौनपुर, गोरखपुर, इटावा, इलाहाबाद और फतेहपुर इत्यादि को वेतन बांटने के बहाने हमसे ले लिया। घोषणा के सातवें अनुच्छेद में उन्होंने शपथपूर्वक लिखा कि वे अब हमसे और कुछ न लेंगे। यदि कम्पनी के द्वारा किए गए प्रबन्ध स्वीकार किए जाने वाले हैं तो पहले और अब की वस्तुस्थिति में अन्तर ही क्या है? खैर, ये तो पुराने मामले हैं। उन्होंने अभी हाल में सन्धियों और शपथों की अवज्ञा कर और इस बात के बावजूद कि उन पर हमारा लाखों रुपया कर्जा है, बिना किसी कारण, बुरे शासन का और हमारी जनता में असन्तोष का बहाना लेकर, हमारे देश को और लाखों के मूल्य की हमारी सम्पत्ति को ले लिया। यदि हमारी जनता हमारे शाही पूर्वज वाजिद अली शाह से असन्तुष्ट थी तो वह हमसे सन्तुष्ट कैसे है और हमारी प्रजा अपने तन-मन-धन से हमारे लिए जितनी वफादार रही है उतनी वह किसी और शासक के लिए कभी नहीं रही? फिर ऐसी क्या कमी है जिससे वे हमें हमारा देश हमें वापस नहीं देते।

फिर घोषणा में यह लिखा हुआ है कि वे अपने राज्य-क्षेत्र में वृद्धि करना नहीं चाहते। परन्तु फिर भी वे दूसरे राज्यों को अंग्रेज़ी राज्य में मिलाने से विरत नहीं होते। यदि रानी ने शासन ले लिया है तो महामहिम सम्राज्ञी हमारे देश को हमें वापिस क्यों नहीं कर देती, जबकि हमारी जनता यह चाहती है। यह सुविदित है कि किसी राजा या रानी ने विद्रोह के लिए अपनी सारी सेना और जनता को सजा नहीं दी, बल्कि सबको क्षमा कर दिया। बुद्धिमान लोग सारी सेना और हिन्दुस्तानी जनता को दण्ड देने का अनुमोदन नहीं कर सकते। जब तक "सजा" शब्द विद्यमान है, उपद्रव नहीं दबाए जा सकते। मसल मशहूर है, "मरता क्या न करता।" यह असम्भव है कि एक हजार लोग एक लाख पर आक्रमण करें और वे हजार के हजार बच निकलें।

३—घोषणा में यह लिखा हुआ है कि ईसाई धर्म सच्चा है, परन्तु किसी धर्म पर अत्याचार नहीं किया जाएगा और सबके प्रति कानून सम्मत बरताव किया जाएगा। न्याय के प्रशासन को किसी धर्म के सच या झूठ होने से क्या करना है? वही धर्म सच्चा है जो एक ईश्वर को मानता है और किसी दूसरे को नहीं जानता। जिस धर्म में तीन ईश्वर हों उसे न केवल मुसलमान और हिन्दू ही बल्कि यहूदी, सूर्योपासक और अग्नि के उपासक भी कभी एक सच्चा धर्म नहीं मान सकते। सूअर खाना, शराब पीना, चर्बी लगे कारतूसों को दांत से काटना और सूअर की चर्बी को आटे और मिठाइयों में मिलाना, सड़क बनाने के बहाने हिन्दू और मुसलमानों के पूजा-स्थानों को नष्ट करना, गिर्जे बनवाना, ईसाई धर्म का उपदेश देने के लिए पादरियों को सड़कों और गलियों में भेजना, अंग्रेज़ी स्कूल खोलना और अंग्रेज़ी प्रार्थनाएं सीखने के लिए आदमियों को मासिक वृत्तियां देना जबकि हिन्दू और मुसलमानों के पूजा-स्थान आज तक पूर्णतः उपेक्षित पड़े हैं, यह सब होते हुए जनता

किस प्रकार विश्वास करे कि धर्म के बारे में हस्तक्षेप नहीं किया जाएगा ? विद्रोह धर्म के कारण शुरू हुआ और इसके लिए लाखों आदमियों की जान गई । हमारे प्रजा-जन धोखे में न आवें । उत्तर-पश्चिम में हजारों को अपने धर्म से वंचित किया गया और हजारों ने अपने धर्म को छोड़ने की बजाय फांसी पर लटकना स्वीकार किया ।

४—घोषणा में यह लिखा हुआ है कि जिन लोगों ने विद्रोहियों को आश्रय दिया या जो विद्रोहियों के नेता थे, या जिन्होंने लोगों से विद्रोह करवाया, उनका जीवन नहीं लिया जाएगा, परन्तु सोच विचार के बाद सजा दी जाएगी । हत्यारों और हत्या के उकसाने वालों के प्रति कोई दया नहीं दिखाई जाएगी, परन्तु और सब को क्षमा कर दिया जाएगा । एक मूर्ख आदमी भी यह देख सकता है कि इस घोषणा के अनुसार कोई भी नहीं बच सकता, चाहे वह अपराधी हो या निरपराध । हर एक चीज लिखी हुई है, परन्तु कुछ भी नहीं लिखा हुआ है । फिर भी उन्होंने यह साफ तौर पर लिख दिया है कि वे किसी भी ऐसे आदमी को नहीं छोड़ेंगे जिसे वे अपराधी पाएंगे और जिस किसी गांव या रियासत में सेना ठहरी होगी तो वहां के निवासी नहीं बच सकेंगे । इस घोषणा को पढ़कर, जो स्पष्टतः शत्रुता से भरी पड़ी है, हमें अपनी जनता की दशा के बारे में गहरी चिन्ता हो गई है । इसलिए अब हम एक स्पष्ट और विश्वसनीय आदेश देते हैं कि हमारे जिन प्रजा-जनों ने गांवों के मुखियाओं के रूप में मूर्खतावश अंग्रेजों के सामने अपने को उपस्थित किया हो, उन्हें चाहिए कि पहली जनवरी से पूर्व वे हमारे शिविर में आएं । निःसन्देह उनके दोष क्षमा कर दिए जाएंगे और उनके गुणों के अनुसार उनके साथ व्यवहार किया जाएगा । अंग्रेज़ों की घोषणा में विश्वास करने से पूर्व यह याद रख लेना जरूरी है कि हिन्दुस्तानी शासक पूर्णतः दयालु और कृपालु होते हैं । हजारों ने इसे देखा है, लाखों ने इसे सुना है । परन्तु किसी ने कभी स्वप्न में भी यह नहीं देखा होगा कि अंग्रेज़ों ने किसी अपराध को क्षमा किया हो ।

५—इस घोषणा में यह लिखा हुआ है कि जब शान्ति पुनः स्थापित हो जाएगी तो लोगों की दशा सुधारने के लिए सार्वजनिक निर्माण-कार्य शुरू किए जाएंगे, जैसे कि सड़कें बनवाना और नहरें खुदवाना । यह विचार योग्य है कि हिन्दुस्तानियों को उन्होंने सड़कें बनाने और नहरें खोदने से अधिक अच्छे किसी काम में लगाने का वचन नहीं दिया है । यदि जनता स्पष्टतः यह नहीं देख सकती कि इस सब का क्या तात्पर्य है, तो उसे कोई नहीं बचा सकता । इस घोषणा से किसी प्रजा-जन को धोखे में नहीं आना चाहिए ।

परिशिष्ट २

विदेशी राजनीतिक परामर्श, संख्या ८, १८ मार्च १८५९ शेख़ ख़ैरुद्दीन और मुहम्मद हसन खां के बीच पत्र-व्यवहार

ख़ैरुद्दीन की ओर से मुहम्मद हसन को—दिनांक १३ नवम्बर, १८५८

शिष्टाचार के बाद।

अंग्रेज सरकार बहुत शक्तिशाली है और उसने बहुत से विद्रोहियों को समूल नष्ट कर दिया है। अब अधिक ख़ून न बहाने की दृष्टि से वह दया दिखा रही है। हिन्दुस्तान की सरकार चाहती है कि विद्रोही अपने (वर्तमान) अल्पदर्शी व्यवहार को, जो उनका विनाश करके रहेगा, छोड़ दें। इस समय यह गलत विचार फैला हुआ है कि जो लोग समर्पण कर देंगे, उन्हें फांसी दे दी जाएगी, लोगों को यह गलत धारणा छोड़ देनी चाहिए। मैं आपके पास महामहिम सम्राज्ञी की घोषणा की एक प्रति भेज रहा हूं जो इसी महीने जारी की गई और जिसमें सब को क्षमा-दान की घोषणा की गई है। इससे तुम देखोगे कि सिर्फ वही लोग दण्डनीय समझे जाएंगे जो अंग्रेज अधिकारियों या प्रजा-जनों की हत्या के अपराधी होंगे। जो विद्रोही नेता इस प्रकार के अपराध से मुक्त होंगे उनका जीवन नहीं लिया जाएगा। इन परिस्थितियों में तुम्हें गम्भीरतापूर्वक सोचना चाहिए कि विद्रोहियों के साथ बने रहना तुम्हारे लिए किस हद तक व्यर्थ है। यदि तुम उन्हीं में बने रहोगे तो या तो तुम पकड़े जाओगे या मारे जाओगे। तुम्हारे लिए यह अच्छा होगा कि तुम मेरे पास या किसी यूरोपीय अफसर के पास जाकर समर्पण कर दो, जिसे भी तुम पसन्द करो। मैं जानता हूं कि तुमने किसी अफसर या प्रजा-जन की हत्या नहीं की है। इस प्रकार के किसी अपराध के संशय मात्र से भी तुम मुक्त हो। इसलिए यदि तुम वास्तविक रूप में इस दया से लाभ उठाना चाहते हो तो गोंडा के राजा जैसे अन्य सरदारों को भी तुम इसी प्रकार की सलाह दो और सिपाहियों से कहो कि उनमें से प्रत्येक को अपने घर चला जाने दिया जाएगा। उनके मार्ग को कोई नहीं रोकेगा, शर्त यही है कि उन्होंने किसी यूरोपीय या प्रजा-जन के रक्त बहाने का अपराध न किया हो। युद्ध में किसी को मारना अपराध नहीं समझा जाता है।

संख्या २, दिनांक सोलहवीं रबी उल सनी—

मोहम्मद हसन ख़ां की ओर से ख़ैरुद्दीन को

मुझे आपका मित्रतापूर्ण पत्र मिला, जिसके अभिप्राय से मुझे बड़ा सन्तोष हुआ है। साथ में रानी की घोषणा की प्रति भी, जिसे आपने अपने पत्र के साथ संलग्न कर भेजा है, मिली है। इसके दयापूर्ण उपबन्धों को, जैसा आपने मुझे आदेश दिया है, मैं सबको बताऊंगा और उन पर इसका प्रभाव डालने का यत्न करूंगा। भविष्य में हर एक व्यक्ति अपने कार्यों

के लिए उत्तरदायी होगा। मैं भी महामहिम सम्राज्ञी के न्याय का इस प्रकार आश्वासन प्राप्त करने के बाद अपने को अपराधों से मुक्त समझूंगा। आपके पत्र के शब्दों से भी मेरी निष्पापता सिद्ध होती है। मैं बहुत हर्षित हूं क्योंकि मैंने कभी किसी अफसर या प्रजा-जन की हत्या नहीं की है, यद्यपि यूरोपीय अफसरों और उनके सिपाहियों ने हजारों निष्पाप और नगण्य आदमियों को मारा है, जिनमें स्त्रियां, अन्धे और भिखारी भी सम्मिलित हैं। इन अफसरों और सिपाहियों ने लोगों के घरों को जलाया है और उनकी सम्पत्ति को लूटा है। महामहिम सम्राज्ञी की घोषणा के न्याय उपबन्धों के अनुसार जो लोग भी इस प्रकार की हत्या के अपराधी हैं, वे दण्डनीय हैं। मैं उन लोगों में से एक हूं जिन्होंने सिपाहियों के ग़दर शुरू होने के समय यूरोपीय अफसरों की जानें बचाईं। वह समय ऐसा था जब सिपाहियों ने निर्दयतापूर्वक अपने अफसरों की हत्या की और यदि कोई उस समय किसी प्रकार यूरोपीय लोगों की सहायता करने का साहस करता था तो उसे उनके साथ मार दिया जाता था या उनकी सम्पत्ति लूट ली जाती थी या नष्ट कर दी जाती थी। उस समय मैंने निर्भयतापूर्वक अपने कुछ व्यक्तिगत सिपाही भेजे और दो कर्नलों की जानें बचाईं, जिनमें से एक की पत्नी और पुत्री भी साथ थीं। मैंने उनको घर पर कुछ समय के लिए रखा और फिर गोरखपुर के अधिकारियों के पास उन्हें सुरक्षापूर्वक भिजवा दिया। इसके बाद जब मैंने अपने सरदार के आदेश पर, ईश्वर की कृपा से, गोरखपुर को अवध के राज्य को लौटा दिया, जिससे पूर्व काल में यह सम्बद्ध था, तो मैंने सब देशी अधिकारियों को लूटे जाने और मारे जाने से बचाया और अनेक ईसाइयों की भी हानि से रक्षा की और उन्हें सुरक्षापूर्वक अन्यत्र भेज दिया। इसलिए मैं अपने आप को न्यायपूर्ण अंग्रेज़ अधिकारियों की प्रशंसा का अधिकारी समझता हूं। आपने मुझे डराने के लिए अंग्रेज़ सरकार की शक्ति के बारे में जो कुछ लिखा है उससे मैं पूर्णतः सहमत हूं। इतने अधिक विद्रोहियों के समूल नष्ट कर दिए जाने के सम्बन्ध में और विद्रोहियों के साथ रहने से मेरा भी कोई लाभ न हो सकने के सम्बन्ध में आपने जो कुछ लिखा है उसे मैं मानता हूं। महामहिम सम्राज्ञी की जो भयभीत कर देने वाली शक्ति और साधन-सम्पन्नता है, और वे अधीश्वरों की भी अधीश्वरी हैं, इस बात को देखते हुए उनके सफलतापूर्वक विरोध की सम्भावना नहीं की जा सकती। फिर भी सर्वशक्तिमान ईश्वर, जो महान है और जो सबका रक्षक है, उनसे भी अधिक शक्तिशाली है। यदि वह चाहे तो बलवान को कमजोर और कमजोर को बलवान कर सकता है। जिसको वह चाहे ऊपर उठा सकता है और जिसको चाहे नीचे गिरा सकता है। संभ्रम के समय में यह सबको विदित हो गया है। ईश्वर की आज्ञा के बिना न कोई मार सकता है, न जला सकता है। यदि अंग्रेज़ सरकार के पास ईश्वर की शक्ति होती तो उसने सिपाहियों से बदला लेते हुए हिन्दुस्तान के प्रत्येक निवासी को मार दिया होता और हजारों ईसाई, जिन्हें खून के प्यासे सिपाहियों ने मार दिया है, बचा लिए गए होते। यदि आपने विश्व के इतिहास में सत्ता को पलटने वाली इस जैसी क्रान्तियों के बारे में पढ़ा है तो आपको मालूम होगा कि वे सब सोहक और लुहार की गाय की कहानी के समान थीं। यह देखने में आया है कि जो आदमी हत्या को अपना सिद्धान्त मान कर चलता है वह अपने आप को तो पहले ही मरा हुआ समझ लेता है। इसलिए मुझे न पकड़े जाने का भय है और न मारे जाने का।

यदि मैं बन्दी बना लिया जाऊं (ईश्वर न करे कि मुझे बन्दी बनना पड़े) तो मैं समझता हूं कि मैंने ऐसा कोई अपराध नहीं किया है जिसके कारण, घोषणा के अधीन, मुझे दण्डनीय समझा जा सके। महामहिम सम्राज्ञी की अनुकम्पा से मुझे मुक्त कर दिया जाएगा। यदि दूसरी ओर अपने धर्म और पार्थिव प्रभु के लिए लड़ते हुए मैं मारा भी जाऊं तो मुझे दोनों लोकों की समृद्धि मिलेगी। जिस प्रकार आप और सरकार के दूसरे नौकर अंग्रेज़ी सरकार की ओर से दृढ़ संकल्प के साथ लड़कर सांसारिक लाभ और पार लौकिक समृद्धि की कामना करते हैं, उसी प्रकार मैं भी अपने धर्म के सिद्धान्तों के लिए तथा अपने प्रसिद्ध अधीश्वर के उद्देश्य की पूर्ति के लिए लड़ना और मारा जाना एक बड़े गौरव की बात समझता हूं और इससे मुझे इहलोक और परलोक दोनों में लाभ होगा। चूंकि यूरोपीय अफसर अपने अधीनस्थ लोगों की बातों को सोच विचार के साथ सुनते हैं और वे वास्तविक योग्यता का ठीक निश्चय करने में समर्थ हैं, इसलिए मैं समझता हूं कि वे मेरी अविचलता और स्वामिभक्ति से अवश्य प्रभावित होंगे। घोषणा की वाक्य रचना, जहां वह अपराधों की क्षमा का आश्वासन देती है, कुछ अस्पष्ट और अनिश्चित है। इसमें कोई ऐसी बात नहीं है जिसे इस प्रकार की क्षमा का असंदिग्ध आश्वासन मान लिया जाए। उदाहरणतः यह कहा गया है कि वे सब सामान्य जन, जिन्होंने इस विद्रोह के अशान्तिकारी समय में राज्य को हानि पहुंचाने वाले अपराध किये हैं, कुछ विशिष्ट शर्तों पर क्षमा कर दिए जाएंगे। अब सोचिए—सभी किए गए अपराध "राज्य को हानि पहुंचाने वाले अपराध हैं।" इसलिए इस दृष्टि से उन सब को समान रूप से एक वर्ग में रखना पड़ेगा। इसके अलावा "सामान्य" शब्द का प्रयोग और "शर्तों" का एक निश्चित रूप में उल्लेख न करना, ऐसी बातें हैं जो लोगों के दिलों में सन्देह और अविश्वास पैदा करती हैं। अंग्रेज़ शासकों ने भारतीय राजाओं के साथ जो अवश्यंपालनीय समझौते किए थे, उनसे वे हट गए हैं और जिन उपबन्धों को नहीं तोड़ा जाना चाहिए था उनके प्रतिकूल उन्होंने कार्य किया है। फिर भला कौन ऐसे अस्पष्ट शब्दों से भरे हुए समझौतों को, जिन्हें अंग्रेज़ लोगों को करने की आदत है और जिनकी बिलकुल विभिन्न रूप से व्याख्या की जा सकती है, वास्तविक रूप से माननीय समझेगा। अंग्रेज़ लोगों ने अपनी प्रतिज्ञाओं को तोड़ने में सब सीमाओं का उल्लंघन कर दिया है—इसके लिए वे बदनाम हैं—उन सन्धियों को देखिए जो उन्होंने लाहौर के राजा, पेशवा और दूसरे राजाओं के साथ कीं और जिनकी संख्या इतनी अधिक है कि उनका यहां उल्लेख नहीं किया जा सकता। मेरा सम्बन्ध केवल अवध के बादशाह से है। सारा संसार उन बन्धनकारी समझौतों और सन्धियों के बारे में जानता है जो अवध के बादशाह और अंग्रेज़ सरकार, इन दो महान शक्तियों के बीच की गई थीं। इनके अनुसार अंग्रेज़ों को अपने आप को अवध में स्थापित करने का कोई अधिकार न था। इस राज्य के शासक सदा अपने साधनों और सिपाहियों से अंग्रेज़ों की सहायता करते रहे हैं और उन्होंने उनके साथ सदा मित्रतापूर्ण और भाई-चारे का व्यवहार किया है। उन्होंनें कभी कोई ऐसा कार्य नह किया जिसे स्वामिभक्ति का भंग कहा जा सके, बल्कि वे इस हद तक अधीन रहे कि उन्होंने अंग्रेज़ों को बलपूर्वक अवध को अंग्रेज़ी राज्य में मिला लेने दिया। अंग्रेज़ो ने उनके घरों और सब प्रकार की सम्पत्ति ले ली। तब भी उनका कोई प्रतिरोध नहीं हुआ।

अवध का बादशाह कभी उनको शत्रु मानकर उनसे नहीं लड़ा, बल्कि उसने पहले रेजिडेंट से याचना की और फिर गवर्नर-जनरल से; और जब उन्होंने उसकी ओर कुछ ध्यान नहीं दिया तो अन्त में उसने अपने भाई और मां को रानी के पास अपने पक्ष का समर्थन करने के लिए भेजा। कम्पनी ने अभी कोई ध्यान नहीं दिया है। इन समझौतों के तोड़ने और अन्य प्रकार की कृतघ्नता को देखकर भारतीय राजा दांतों तले उंगली दबा रहे हैं। धोखे से अवध का राज्य उस राज-वंश से छीन लिया गया है, जिसने अंग्रेज़ों का कभी विरोध नहीं किया, बल्कि जिन्हें सदा सन्तुष्ट ही किया। उन पर सब प्रकार के अत्याचार किए हैं। अब अंग्रेज़ लोगों में किसी को भी विश्वास नहीं रह गया है। संक्षेप में मैं यह कहावत कहना चाहता हूं, "किसे अपने कर्मों का फल नहीं मिला?" इस धोखे भरे अत्याचार को देख कर हिन्दुस्तान में राजाओं और जनता ने अवसर पाकर सेना में विद्रोह करवा दिया (जो अंग्रेज़ सरकार के अपने कृत्यों का ही फल था) और ग़दर हुआ, जिसमें खुदा के हजारों बेगुनाह बन्दों की जानें गईं और लूट-पाट मची। अंग्रेज़ सरकार पहले रक्तपात के जिन दरवाजों को बन्द करवाने का प्रयत्न करती रहती थी, उन्हें अंग्रेज़ों ने अब अधिक दृढ़ संकल्प के साथ खोल दिया है। यह विद्रोह पूर्णतः अवध को अंग्रेज़ी राज्य में मिलाने के कारण हुआ। यदि अवध को न मिलाया जाता तो रक्तपात न होता, क्योंकि उस हालत में सरदार अंग्रेज़ों के विरुद्ध न होते, बल्कि उन्होंने ग़दर में भाग लेने वाले सिपाहियों को दण्ड दिया होता। यदि अब भी महामहिम सम्राज्ञी न्याय से काम करें और अवध का राज्य उसके बादशाह को वापस दे दें, तो यह उपद्रव समाप्त कर दिया जाएगा और पृथ्वी के सप्त खण्डों में रानी की न्यायिकता और दया उद्दीप्त तथा प्रशंसित हो उठेगी और हिन्दुस्तान के सब सरदार पुनः उनकी अधीनता स्वीकार कर लेंगे तथा इस युद्ध और अराजकता को समाप्त कर देंगे। महामहिम सम्राज्ञी की घोषणा से यही बात निकलती है कि अन्त में वह यही करना चाहती हैं, क्योंकि यह इच्छा व्यक्त की गई है कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने जो समझौते किए हैं या उसके अनुमोदन से जो समझौते किए गए हैं, उन्हें रानी स्वीकार करेगी और उनका पालन करेगी। इसी प्रकार यह भी कहा गया है कि सम्राज्ञी देशी राजाओं से भी यह आशा रखती है कि वे भी अपनी ओर से उन वायदों को पूरा करेंगे जो उन्होंने किए हैं और सम्राज्ञी ने यह भी इच्छा व्यक्त की है कि वह वर्तमान सीमाओं के परे अपने राज्य-क्षेत्र को बढ़ाना नहीं चाहती। इसलिए इन वचनों के अनुसार अब महामहिम सम्राज्ञी को चाहिए कि वह न्यायबद्ध होकर उस समझौते को पूरा करे जो शुजाउद्दौला और कम्पनी की सरकार के बीच हुआ था और इस प्रकार अवध के राज्य को उसके पैतृक शासकों को वापस दे दे। ऐसा करते हुए उसे उन बाद की सन्धियों पर ध्यान नहीं देना चाहिए जो बाद में रेजिडेंटों ने जबर्दस्ती उस समय राज्य करने वाले शासकों से करवाई थीं। क्योंकि मौलिक समझौते में सदा के लिए अवध के बादशाह के वंशजों और कम्पनी के उत्तराधिकारियों का उल्लेख था, अतः इसका उल्लंघन कर बाद में रेजिडेंटों ने राजाओं से बलपूर्वक जो समझौते करवाए, वे अन्यायपूर्ण और बेकार हैं। अवध का राज्य इस समय बादशाह के अधिकार में है और इसके वे भाग जो समय-समय पर अंग्रेज़ लोगों द्वारा बलपूर्वक ले लिए गए हैं, उनके

शासन से मुक्त कर दिए गए हैं। इस प्रकार जिन क्षेत्रों को बलपूर्वक हथिया लिया गया है उन पर ध्यान नहीं देना चाहिए। यदि इस समय 'अधिकार में' शब्द का तात्पर्य उन राज्य-क्षेत्रों से है, जो इस घोषणा के लिखे जाने के समय वास्तविक रूप में अंग्रेजों के अधिकार में थे, तब फिर ऐसे बहुत से भाग जो उस समय उनके अधिकार में नहीं थे, अब उन लोगों वापस दे दिए जाने चाहिए जिनके हाथ में वे पहले थे। मैंने जो कुछ लिखा है, उसका तात्पर्य यह है अवध के बादशाह के सेवक और आश्रित हम लोग दोनों लोकों में अपनी समृद्धि के लिए यह आवश्यक समझते हैं कि इस राज्य की रक्षा में हम निष्ठा प्रदर्शित करें और जो आक्रमणकारी इस पर अपने पैर जमाना चाहते हैं उसका विरोध करें। यदि हम ऐसा करने में प्रमाद करते हैं तो हम राजद्रोही सिद्ध होंगे और दोनों लोकों में हमारे मुंह पर कालिख लगेगी।" "मैं अपने हाथ को तब तक नहीं हटाऊंगा जब तक यह अभिष्ट प्राप्त नहीं कर लेता, जिसे वह चाहता है। मैं अपने अभीष्ट को प्राप्त करूंगा या मर जाऊंगा।" यदि रानी हिन्दुस्तान के निवासियों की अवस्था का ध्यान कर और हत्या के दरवाजों को बन्द करने के लिए या केवल न्याय के विचार से अवध को उसके बादशाह को लौटा दे तो हम लड़ाई और मार-काट बन्द कर देंगे और महामहिम सम्राज्ञी और उसके अधिकारियों की अधीनता में पुनः आ जाएंगे। भारत में उपद्रव समाप्त हो जाएंगे और सब जगह शान्ति स्थापित हो जाएगी। इसलिए मेरी प्रार्थना है कि आप कृपा कर इस पत्र को गवर्नर-जनरल के विचार के लिए भेज दें और यदि वह घोषणा की शर्तों को पूरा करना उचित समझे और अवध को हानि पहुंचाना छोड़ दे तथा शुजाउद्दौला के साथ जो सन्धि हुई है, उसके उपबन्धों के अनुसार समझौता करे, तो मैं एक वकील की तरह काम करूंगा और इसके सब मुद्दों को ईमानदारी से क्रियान्वित करवाऊंगा। मैं शीघ्र उत्तर की प्रतीक्षा में हूं।

खैरुद्दीन की ओर से मुहम्मद हसन को—२८ नवम्बर

शिष्टाचार के बाद।

आपने मेरे पत्र का जो उत्तर भेजा है वह मुझे मिल गया है। इससे मैं देखता हूं कि आप अब भी मूर्खता में पड़े सो रहे हैं। मैं तो केवल आप के मन पर, घोषणा के अर्थ की व्याख्या कर, यह जमाना चाहता था कि यदि आप शीघ्र ही समर्पण कर देंगे तो यह आप के लिए भला ही होगा। आपने इसकी ओर ध्यान न देकर उत्तर में एक लम्बी अर्थहीन शब्द-माला लिख डाली है, जिसमें आपने यूरोपीय सिपाहियों और अधिकारियों के बारे में अनुचित और निन्दात्मक बातें कही हैं। उदाहरणतः आप कहते हैं कि अंग्रेज सेनाओं ने हजारों असहाय आदमियों, अन्धों, अपाहिजों और भिखारियों तथा स्त्रियों और बच्चों को मारा है। इस प्रकार का अभियोग बिलकुल झूठा और निराधार है। आपने और आप के निजी सिपाहियों ने सचमुच ऐसे दुष्कृत्य किए हैं और आज भी कर रहे हैं। साधारणतः जब कभी आपके आदमी अरक्षितों को लूटते हैं, तो अंग्रेज लोग बाहर निकल कर उन्हें बचाते हैं। आप लिखते हैं कि आपने कभी किसी अंग्रेज अधिकारी या

प्रजा-जन को नहीं मरवाया है। तब फिर यह कैसे हुआ है कि आप ने बाला राव को बुलाया, उसके साथ एक सहायक के रूप में सहयोग किया और उसका समर्थन किया, जब कि इसी बाला राव ने अपने भाई नाना से मिलकर कई सौ निर्दोष यूरोपीय स्त्रियों और बच्चों को बन्दी बनवाया और कत्ल करवाया। निर्दोष व्यक्तियों के ऐसे हत्याकाण्ड बहुत से स्थानों पर हुए हैं और किसी धर्म के अनुसार ये न्याय संगत नहीं कहे जा सकते। फिर भी आप कहते हैं कि आप अपने धर्म के लिए लड़ रहे हैं। मुझे एक भी ऐसा धर्म बताओ जो ऐसे कामों की अनुमति देता है। सम्भवतः आप की आंखें बन्द हैं, इसीलिए आप यूरोपीय सिपाहियों और अधिकारियों पर उन अपराधों का अभियोग लगा रहे हैं, जिन्हें वास्तव में विद्रोही सेनाओं तथा बदमाशों ने किया है और आज भी कर रहे हैं। जिस युद्ध का आप समर्थन करते हैं, उसे आप 'जिहाद' कहते हैं। आप मुझे बताएं कि स्त्रियों और बच्चों के ऐसे हत्याकाण्ड किस प्रकार न्याय संगत ठहराये जा सकते हैं और किस सिद्धान्त के अनुसार लूट की अनुमति दी जा सकती है। अवध के राज्य को वापस दिए जाने के बारे में आपने प्रस्ताव किया है और कहा है कि उसके बाद ही आप अधीनता स्वीकार कर सकेंगे। यह अर्थहीन बात है। सरकार ने एक बार जो भूमि ले ली है उसमें से वह एक बीघा जमीन भी कभी नहीं छोड़ेगी। और फिर आपको इस प्रकार के वाद-विवाद से क्या करना है ? आप जो कुछ चाहें, अपने बारे में लिख सकते हैं, परन्तु राज्य के सम्बन्ध में नहीं। संक्षेप में आपको यह समझा देना चाहता हूं कि यदि आप अपने जीवन को बचाना चाहते हैं तो तुरन्त समर्पण कर दें। नहीं तो निश्चित समझो कि अंग्रेज सेनाएं चारों ओर से आप पर आक्रमण करेंगी, गोंडा और बहराइच पर अपना अधिकार करेंगी और उस जंगल को घेर कर, जिसे आप अपना शरण-स्थल समझते हैं, आपको अपनी बन्दूकों के बल से उड़ा देंगी। विद्रोही लोग सिपाहियों और अफसरों के लिए शिकार के निशाने बनेंगे। तब आप देखेंगे कि सरकार के प्रति आपकी स्वामिभक्ति के कथित कार्य किस काम आयेंगे। सरकार को इस बात की चिन्ता नहीं है कि आप समर्पण के लिए प्रेरित हों। मेरे लिखने का उद्देश्य आपके सामने घोषणा की शर्तों की व्याख्या करना था ताकि जब आप पकड़े जाएं तो आप यह न कह सकें कि आपने तो इसे देखा ही नहीं था वरना आप एकदम समर्पण कर देते। आप घोषणा की भाषा को अस्पष्ट करार देते हैं। मेरी राय में यह बिल्कुल साफ है। यदि आप ध्यानपूर्वक इसे पढ़ेंगे तो यह आपकी पूरी तरह समझ में आ जायगी। यदि आप इस बात पर निर्भर करें कि चूंकि आपने कर्नल, उसकी पत्नी और बच्चों की जान बचाई थी, इसलिए आप पकड़ लिए जाने के बाद भी फिर छोड़ दिए जाएंगे तो आपको यह ध्यान में रखना चाहिए कि अब से लेकर केवल एक महीने और दस दिन तक ही दया का समय है। इसकी समाप्ति के बाद इस पर ध्यान नहीं दिया जायगा और पकड़े जाने के बाद आपको और अन्य विद्रोहियों के साथ इस घोषणा के होने के पहले के समान व्यवहार किया जायगा। आपके लिए यह अच्छा होगा कि आप इस अवधि के अन्दर ही आ जाएं, नहीं तो आपको एक स्थान से दूसरे स्थान को भागने के बाद जंगलों में मरना होगा। उत्तर देने से पूर्व इस पर पूर्ण विचार कर लीजिए और बाला राव पर तथा आपके पास जो विद्रोही सेना है उस पर भरोसा

शासन से मुक्त कर दिए गए हैं। इस प्रकार जिन क्षेत्रों को बलपूर्वक हथिया लिया गया है उन पर ध्यान नहीं देना चाहिए। यदि इस समय 'अधिकार में' शब्द का तात्पर्य उन राज्य-क्षेत्रों से है, जो इस घोषणा के लिखे जाने के समय वास्तविक रूप में अंग्रेजों के अधिकार में थे, तब फिर ऐसे बहुत से भाग जो उस समय उनके अधिकार में नहीं थे, अब उन लोगों वापस दे दिए जाने चाहिए जिनके हाथ में वे पहले थे। मैंने जो कुछ लिखा है, उसका तात्पर्य यह है अवध के बादशाह के सेवक और आश्रित हम लोग दोनों लोकों में अपनी समृद्धि के लिए यह आवश्यक समझते हैं कि इस राज्य की रक्षा में हम निष्ठा प्रदर्शित करें और जो आक्रमणकारी इस पर अपने पैर जमाना चाहते हैं उसका विरोध करें। यदि हम ऐसा करने में प्रमाद करते हैं तो हम राजद्रोही सिद्ध होंगे और दोनों लोकों में हमारे मुंह पर कालिख लगेगी।" "मैं अपने हाथ को तब तक नहीं हटाऊंगा जब तक यह अभिप्ट प्राप्त नहीं कर लेता, जिसे वह चाहता है। मैं अपने अभीष्ट को प्राप्त करूंगा या मर जाऊंगा।" यदि रानी हिन्दुस्तान के निवासियों की अवस्था का ध्यान कर और हत्या के दरवाजों को बन्द करने के लिए या केवल न्याय के विचार से अवध को उसके बादशाह को लौटा दे तो हम लड़ाई और मार-काट बन्द कर देंगे और महामहिम सम्राज्ञी और उसके अधिकारियों की अधीनता में पुनः आ जाएंगे। भारत में उपद्रव समाप्त हो जाएंगे और सब जगह शान्ति स्थापित हो जाएगी। इसलिए मेरी प्रार्थना है कि आप कृपा कर इस पत्र को गवर्नर-जनरल के विचार के लिए भेज दें और यदि वह घोषणा की शर्तों को पूरा करना उचित समझे और अवध को हानि पहुंचाना छोड़ दे तथा शुजाउद्दौला के साथ जो सन्धि हुई है, उसके उपबन्धों के अनुसार समझौता करे, तो मैं एक वकील की तरह काम करूंगा और इसके सब मुद्दों को ईमानदारी से क्रियान्वित करवाऊंगा। मैं शीघ्र उत्तर की प्रतीक्षा में हूं।

खैरुद्दीन की ओर से मुहम्मद हसन को—२८ नवम्बर

शिष्टाचार के बाद।

आपने मेरे पत्र का जो उत्तर भेजा है वह मुझे मिल गया है। इससे मैं देखता हूं कि आप अब भी मूर्खता में पड़े सो रहे हैं। मैं तो केवल आप के मन पर, घोषणा के अर्थ की व्याख्या कर, यह जमाना चाहता था कि यदि आप शीघ्र ही समर्पण कर देंगे तो यह आप के लिए भला ही होगा। आपने इसकी ओर ध्यान न देकर उत्तर में एक लम्बी अर्थहीन शब्द-माला लिख डाली है, जिसमें आपने यूरोपीय सिपाहियों और अधिकारियों के बारे में अनुचित और निन्दात्मक बातें कही हैं। उदाहरणतः आप कहते हैं कि अंग्रेज सेनाओं ने हजारों असहाय आदमियों, अन्धों, अपाहिजों और भिखारियों तथा स्त्रियों और बच्चों को मारा है। इस प्रकार का अभियोग बिलकुल झूठा और निराधार है। आपने और आप के निजी सिपाहियों ने सचमुच ऐसे दुष्कृत्य किए हैं और आज भी कर रहे हैं। साधारणतः जब कभी आपके आदमी अरक्षितों को लूटते हैं, तो अंग्रेज लोग बाहर निकल कर उन्हें बचाते हैं। आप लिखते हैं कि आपने कभी किसी अंग्रेज अधिकारी या

प्रजा-जन को नहीं मरवाया है। तब फिर यह कैसे हुआ है कि आप ने बाला राव को बुलाया, उसके साथ एक सहायक के रूप में सहयोग किया और उसका समर्थन किया, जब कि इसी बाला राव ने अपने भाई नाना से मिलकर कई सौ निर्दोष यूरोपीय स्त्रियों और बच्चों को बन्दी बनवाया और कत्ल करवाया। निर्दोष व्यक्तियों के ऐसे हत्याकाण्ड बहुत से स्थानों पर हुए हैं और किसी धर्म के अनुसार ये न्याय संगत नहीं कहे जा सकते। फिर भी आप कहते हैं कि आप अपने धर्म के लिए लड़ रहे हैं। मुझे एक भी ऐसा धर्म बताओ जो ऐसे कामों की अनुमति देता है। सम्भवतः आप की आंखें बन्द हैं, इसीलिए आप यूरोपीय सिपाहियों और अधिकारियों पर उन अपराधों का अभियोग लगा रहे हैं, जिन्हें वास्तव में विद्रोही सेनाओं तथा बदमाशों ने किया है और आज भी कर रहे हैं। जिस युद्ध का आप समर्थन करते हैं, उसे आप 'जिहाद' कहते हैं। आप मुझे बताएं कि स्त्रियों और बच्चों के ऐसे हत्याकाण्ड किस प्रकार न्याय संगत ठहराये जा सकते हैं और किस सिद्धान्त के अनुसार लूट की अनुमति दी जा सकती है। अवध के राज्य को वापस दिए जाने के बारे में आपने प्रस्ताव किया है और कहा है कि उसके बाद ही आप अधीनता स्वीकार कर सकेंगे। यह अर्थहीन बात है। सरकार ने एक बार जो भूमि ले ली है उसमें से वह एक बीघा जमीन भी कभी नहीं छोड़ेगी। और फिर आपको इस प्रकार के वाद-विवाद से क्या करना है? आप जो कुछ चाहें, अपने बारे में लिख सकते हैं, परन्तु राज्य के सम्बन्ध में नहीं। संक्षेप में आपको यह समझा देना चाहता हूं कि यदि आप अपने जीवन को बचाना चाहते हैं तो तुरन्त समर्पण कर दें। नहीं तो निश्चित समझो कि अंग्रेज सेनाएं चारों ओर से आप पर आक्रमण करेंगी, गोंडा और बहराइच पर अपना अधिकार करेंगी और उस जंगल को घेर कर, जिसे आप अपना शरण-स्थल समझते हैं, आपको अपनी बन्दूकों के बल से उड़ा देंगी। विद्रोही लोग सिपाहियों और अफसरों के लिए शिकार के निशाने बनेंगे। तब आप देखेंगे कि सरकार के प्रति आपकी स्वामिभक्ति के कथित कार्य किस काम आयेंगे। सरकार को इस बात की चिन्ता नहीं है कि आप समर्पण के लिए प्रेरित हों। मेरे लिखने का उद्देश्य आपके सामने घोषणा की शर्तों की व्याख्या करना था ताकि जब आप पकड़े जाएं तो आप यह न कह सकें कि आपने तो इसे देखा ही नहीं था वरना आप एकदम समर्पण कर देते। आप घोषणा की भाषा को अस्पष्ट करार देते हैं। मेरी राय में यह बिल्कुल साफ है। यदि आप ध्यानपूर्वक इसे पढ़ेंगे तो यह आपकी पूरी तरह समझ में आ जायगी। यदि आप इस बात पर निर्भर करें कि चूंकि आपने कर्नल, उसकी पत्नी और बच्चों की जान बचाई थी, इसलिए आप पकड़ लिए जाने के बाद भी फिर छोड़ दिए जाएंगे तो आपको यह ध्यान में रखना चाहिए कि अब से लेकर केवल एक महीने और दस दिन तक ही दया का समय है। इसकी समाप्ति के बाद इस पर ध्यान नहीं दिया जायगा और पकड़े जाने के बाद आपको और अन्य विद्रोहियों के साथ इस घोषणा के होने के पहले के समान व्यवहार किया जायगा। आपके लिए यह अच्छा होगा कि आप इस अवधि के अन्दर ही आ जाएं, नहीं तो आपको एक स्थान से दूसरे स्थान को भागने के बाद जंगलों में मरना होगा। उत्तर देने से पूर्व इस पर पूर्ण विचार कर लीजिए और बाला राव पर तथा आपके पास जो विद्रोही सेना है उस पर भरोसा

मत कीजिए, क्योंकि जब भी युद्ध में सामना हुआ है यह सेना यूरोपीय सिपाहियों के सामने से सदा भाग गई है। आप यह आशा कैसे कर सकते हैं कि ये लोग आपके आदेशों का पालन करते हुए युद्ध करेंगे जबकि अपने भूतपूर्व स्वामियों के प्रति, जिनका उन्होंने २० या ३० साल तक नमक खाया, ये कृतघ्न सिद्ध हुए। यह भी सम्भव है कि अपनी बन्दूकों की गोली का लक्ष्य बनाकर वे कहीं आपको ही समाप्त न कर दें। यदि आप में कुछ भी बुद्धि है और जीवन के कुछ और वर्ष आपके बाकी हैं तो मैं जो कुछ कहता हूं उस पर ध्यान दो।

परिशिष्ट ३

विदेशी राजनीतिक परामर्श, संख्याएं ६३-६६, २७ मई १८५६
नाना साहब और बाला साहब के पत्र

गोरखपुर,
दिनांक, २७ अप्रैल, १८५६

महोदय,

मैं आपकी सेवा में माननीय लेफ्टिनेंट-गवर्नर की सूचनार्थ बिठूर के नाना के भारतीय भाषा में लिखे गए एक इश्तहारनामे की प्रति भेज रहा हूं जिसे एक ब्राह्मण घुकेड़ी में कर्नल पिंकने के शिविर में लाया था और जिसे बंगाल योमेनरी कैवेलरी के समादेशक अधिकारी मेजर रिचर्डसन को दिया गया था। इस के साथ मैं इसके अनवाद और मेजर रिचर्डसन के द्वारा दिए गए इसके उत्तर को, जिन्हें ब्रिगेडियर रोक्राफ्ट सी० बी० ने मेरे पास भेजा है, आपकी सेवा में भेज रहा हूं।

गोरखपुर,
कमिश्नर का कार्यालय,
२७ अप्रैल, १८५६

भवदीय,
(ह०) ऐलन स्विंटन
स्थानापन्न कमिश्नर

महामहिम सम्राज्ञी, पार्लियामेंट, कोर्ट आफ़ डायरेक्टर्स, गवर्नर-जनरल, लेफ्टिनेंट-गवर्नर और असैनिक और सैनिक अधिकारियों के नाम इश्तहारनामे का अनुवाद।

आपने सम्पूर्ण हिन्दुस्तान के अपराधों को क्षमा कर दिया है और हत्यारों को क्षमादान दे दिया गया है। यह आश्चर्य की बात है कि आपके ही सिपाहियों ने आपकी स्त्रियों और बच्चों को मारा है। आपने मम्मू खां और फर्रुखाबाद के उच्च वर्गीय आदमियों को, जो सचमुच हत्यारे हैं, क्षमा कर दिया है। आपने जंग बहादुर को लिखा है कि वह बेगम और राजाओं को अपनी संरक्षा में उनके देश भेज दे। यह आश्चर्यजनक है कि आपने मुझे, जिसने असहायावस्था में विद्रोहियों से गठबन्धन किया, अभी क्षमा नहीं किया है। मैंने कोई हत्या नहीं की है। यदि जनरल हौला (व्हीलर) ने मुझे बिठूर से न बुलाया होता, तो मेरे सिपाही विद्रोह न करते। फिर उसने मेरे परिवार को खाइयों में नहीं बुलाया। मेरे सिपाही मेरे देश के नहीं थे और मैंने पहले ही अनुरोध किया था कि मेरे जैसा गरीब आदमी अंग्रेज़ों की कोई वास्तविक सेवा नहीं कर सकेगा। परन्तु जनरल हौला (व्हीलर) ने मेरी कुछ नहीं सुनी और मुझे खाई में बुलाया। जब आपकी सेना ने ग़दर

किया और वह खजाने पर अधिकार करने के लिए आगे बढ़ी, तो मेरे सिपाही उससे मिल गए। इस पर मैंने सोचा कि यदि मैं खाइयों में गया तो मेरे सिपाही मेरे परिवार को मार देंगे और अंग्रेज लोग मेरे सिपाहियों के विद्रोह के लिए मुझे दण्ड देंगे। इसलिए मैंने सोचा कि मेरे लिए मर जाना ही ठीक है। मेरे प्रजा-जन बहुत जल्दी कर रहे थे, इसलिए मुझे विवश होकर सिपाहियों में शामिल होना पड़ा। लगातार दो या तीन वर्ष तक मैंने सरकार से याचना की, परन्तु इसकी ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया। कानपुर में सिपाहियों ने मेरी आज्ञा का उल्लंघन किया और उन्होंने अंग्रेज स्त्रियों और प्रजा-जनों को मारना शुरू कर दिया। जिस किसी उपाय से मैं बचा सकता था, मैंने सबको बचाया और जब वे खाइयों से बाहर आए तो मैंने उन्हें नावें दिलवाई, जिनमें बैठाकर उन्हें इलाहाबाद भेजा। आपके सिपाहियों ने मुझ पर आक्रमण किया। मैंने अपने सिपाहियों से अनुनय-विनय कर उन्हें रोका और २०० अंग्रेज स्त्रियों और बच्चों की जानें बचाई। मैंने सुना है कि जब मेरे सिपाही कानपुर से भाग आए और मेरा भाई घायल हो गया, तो आपके सिपाहियों और बदमाशों ने उन्हें मार डाला। इसके बाद मैंने उस इश्तहारनामे के बारे में सुना, जिसे आपने प्रकाशित किया था और मैंने आपके साथ लड़ने की तैयारी की। तब से मैं आपके साथ लड़ता रहा हूं और जब तक जीवित हूं, लड़ता रहूंगा। आप अच्छी प्रकार जानते हैं कि मैं हत्यारा नहीं हूं, न मैं अपराधी हूं और न आपने मेरे सम्बन्ध में कोई आदेश पारित किया है। मेरे अलावा आपका और कोई शत्रु नहीं है और मैं जब तक जीवित हूं, लडूंगा। मैं भी एक आदमी हूं। मैं आप से दो कोस की दूरी पर रहता हूं। यह एक आश्चर्य की बात हैं कि आप जैसा एक महान और शक्तिशाली राष्ट्र दो वर्ष से मेरे साथ लड़ता रहा है और मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सका है, विशेषतः तब जब कि मेरे सैन्यदल मेरी आज्ञा का पालन नहीं करते और मेरे अधिकार में कोई देश नहीं है। आपने सबके अपराधों को क्षमा कर दिया है और नेपाल का राजा आपका मित्र है। इस सबके होते हुए भी आप कुछ नहीं कर सके हैं। आपने सबको अपनी ओर मिला लिया है। मैं ही केवल बचा हूं, परन्तु आप देखेंगे कि जिन सिपाहियों को मैं दो वर्ष से बचाकर रख रहा हूं, वे क्या-क्या कर सकते हैं ? हम मैदान में मिलेंगे और फिर मैं अधिक खून को बहाऊंगा जो घुटनों तक गहरा होगा। मैं मरने के लिए तैयार हूं। यदि अंग्रेज जैसे शक्तिशाली राष्ट्र के लिए मैं अकेला ही शत्रु होने के योग्य हूं, तो यह मेरे लिए एक बड़े सम्मान की बात है। मेरे हृदय की प्रत्येक इच्छा पूरी हो चुकी है। मृत्यु तो एक दिन आनी ही है, फिर मुझे किसका डर है ? परन्तु आप यह समझ लें कि जिन लोगों को आपने अपनी ओर मिलाया है वे ही नियत दिन पर आपके विरुद्ध हो जायेंगे और आपको मार देंगे। आप बुद्धिमान हैं, परन्तु अपनी बुद्धिमत्ता के कारण ही आप गलती कर गए हैं। मैंने चन्द्रनगर एक पत्र भेजा था, परन्तु वह नहीं पहुंचा। इससे मुझे निराशा हुई। यदि वह वहां पहुंच जाता तो आपको पता चल जाता कि मैं क्या कर सकता हूं। फिर भी मैं चन्द्रनगर पहुंचने का प्रयत्न करूंगा।

यदि आप उचित समझें तो इसका उत्तर दीजिए। एक मूर्ख मित्र की अपेक्षा एक बुद्धिमान शत्रु कहीं अधिक अच्छा है।

दिनांक १६वीं रमज़ान १२७५ हिजरी। या २० अप्रैल १८५६।

बिठूर के महाराजा की मुहर लगे हुए दिनांक १७ रमज़ान १२७५ हिजरी के इश्तहार के सम्बन्ध में बंगाल पेपनरी कैवेलरी के समादेशक अधिकारी मेजर जे० एफ० रिचर्डसन द्वारा प्रेषित उत्तर की प्रतिलिपि।

बिठूर के महाराज की मुहर लगा हुआ इश्तहार, जिसे एक ब्राह्मण के हाथों भेजा गया, यूरोपीय घुड़सवार सेना के समादेशक अधिकारी मेजर रिचर्डसन को मिल गया है और उसने इसकी बातों से अपने को अवगत कर लिया है। अब मैं यह लिखता हूं कि इंग्लैंड की रानी महामहिम सम्राज्ञी ने जो घोषणा निकाली थी, वह किसी एक दल या व्यक्ति के लिए नहीं थी, बल्कि सबके लिए थी। फर्रुखाबाद और बांदा के नवाबों तथा अवध के दूसरे सरदारों और राजाओं ने जिन शर्तों पर हथियार डाले हैं और सरकार के प्रति समर्पण किया है, वे ही शर्तें आपके लिये तथा उन सबके लिए, जो समर्पण करना चाहते हैं, खुली हुई हैं। जैसा आप लिखते हैं आपने स्त्रियों और बच्चों (मेम और लड़कों) का वध नहीं किया है। इस लिए यह आपके लिए उचित ही है कि आप निर्भय होकर समर्पण करें। इसके उत्तर के लिए प्रार्थना है।

शिविर धुकुरिया
२३ अप्रैल, १८५९

(ह०) जे० एफ० रिचर्डसन
समादेशक बी० वाई० सी०

सरकारी सन्देश

प्रेषक — मि० बीडन, कलकत्ता, २ मई
प्रेषिति — लेफ्टिनेंट-गवर्नर, इलाहाबाद

सपरिषद्-गवर्नर-जनरल को आपका इस महीने की ३० ता० का सन्देश मिला। उन्हें नाना के पत्र की प्रति और उस पर मेजर रिचर्डसन का उत्तर भी मिल चुका है। वह पत्र का अनुमोदन नहीं करते। नाना की ओर से या किसी दूसरे विद्रोही की ओर से, जिसे सरकार ने दण्डनीय घोषित कर दिया है, या जिस पर हत्याओं में भाग लेने का सन्देह है, यदि कोई समझौते का प्रस्ताव आता है तो उसका उत्तर केवल समाज्ञी की घोषणा का निर्देश करते हुए देना चाहिए और कुछ नहीं लिखना चाहिए। मेजर रिचर्डसन को तार से सूचना दो कि भविष्य में वह इस सम्बन्ध में अनुदेश प्राप्त किये बिना नाना के किसी पत्र का उत्तर न दे और यदि उन्हें नाना के कोई पत्र मिलें, तो वह उनकी प्रतियां तुरन्त स्थानीय सरकार और भारत सरकार के पास भेजें।

इलेक्ट्रिक टेलीग्राफ़ विभाग,
३ मई, १८५९

प्रेषक ब्रिगेडियर एच० रोक्राफ्ट, समादेशक अधिकारी, जिला गोरखपुर
प्रेषिति मेजर जनरल बर्च सी० बी०, सचिव, भारत सरकार, सैनिक विभाग, कलकत्ता।

दिनांक गोरखपुर, ७ मई, १८५६

महोदय,

हाशिये* में अंकित संलग्न कागज़ात में वायसराय तथा भारत के गवर्नर-जनरल के समक्ष रखने के लिए भेज रहा हूं।

२. मैं आपको सादर सूचना देता हूं कि कर्नल पिंकने को आदेश दिए हैं कि वह किसी नीचे के अधिकारी को इस प्रकार के पत्र-व्यवहार के करने या उस पर हस्ताक्षर करने की अनुमति न दे। इस प्रकार के मामले को वे पूर्णतः अपने हाथों में ले और जहां तक सम्भव हो उसे शिविर में सार्वजनिक रूप से ज्ञात न होने दें। वे इस काम में मेजर रिचर्डसन या किसी अन्य विश्वस्त अधिकारी की सहायता ले सकते हैं। मैंने कर्नल पिंकने को यह भी आदेश भेज दिया है कि भविष्य में विद्रोही नेताओं की ओर से जो भी पत्र या समझौते के प्रस्ताव आएं, तो उनके उत्तर में केवल महामहिम सम्राज्ञी की घोषणा का निर्देश कर दिया जाए और उन पत्रों को बिना विलम्ब किए सरकार के पास पहुंचाने के लिए भेज दिया जाए। सम्बद्ध पक्षों को यह सूचना भी दे दी जाए कि उनके पत्र सरकार की सेवा में भेज दिए गए हैं।

भवदीय,
एच० रोक्राफ्ट,
ब्रिगेडियर,
समादेशक अधिकारी, जिला गोरखपुर

नाना से प्राप्त एक पत्र का अनुवाद

मेजर रिचर्डसन ने मेरे इश्तहार का उत्तर भेजा है, जो मुझे २३ अप्रैल, १८५८ को मिला है। इस उत्तर में मेजर रिचर्डसन ने मेरे पत्र में उल्लिखित अनेक विषयों में से केवल एक पर ध्यान दिया है। इसे मैं स्वीकार करता हूं, परन्तु इस ढंग से मैं समर्पण नहीं कर सकता। यदि एक पत्र महामहिम सम्राज्ञी के द्वारा लिखा गया हो और उस पर उनकी मुहर लगी हो तथा फ्रांसीसी सेना का समादेशक अधिकारी या उससे निचले पद का अधि-

*अनुवादों सहित नाना और बाला राव से प्राप्त दो पत्र अपने मूल रूप में, दिनांक २५ और २६ अप्रैल, १८५६

सैनिक दस्ते के समादेशक अधिकारी कर्नल पिंकने सी० बी० की स्वीकृति से बी० वाई० कैवेलरी के समादेशक अधिकारी मेजर रिचर्डसन के द्वारा प्रेषित उत्तरों की प्रतिलिपियां।

कारी उसे लेकर मेरे पास आए तो मैं इन अधिकारियों में विश्वास कर बिना किसी संकोच के शर्तों को स्वीकार कर लूंगा। आपने हिन्दुस्तान में जो कुछ 'दगाबाजी' की है वह सब मुझे ज्ञात है। फिर मैं आपसे क्यों मिलूं ? यदि आप देश के संकटों को समाप्त करने के लिए हृदय से इच्छुक हैं तो मुझे महामहिम सम्राज्ञी के हाथ का लिखा पत्र, जिसे फ्रांसीसी सेना का समादेशक अधिकारी लावे, दें। मैं उसे स्वीकार करूंगा। कुछ वर्ष पूर्व मैंने एक एलची को लन्दन भेजा था जिसके द्वारा महामहिम सम्राज्ञी ने स्वयं अपने हाथ से लिखकर एक पत्र मुझे भेजा जिस पर उनकी मुहर लगी थी। यह पत्र अब तक मेरे पास है। यदि आप चाहते हैं तो यह चीज इस ढंग पर हो सकती है और इस पर मेरी सहमति है। परन्तु यदि आप ऐसा नहीं करते, तो जीवन तो एक दिन जाना ही है। मैं फिर असम्मानित होकर क्यों मरूं ? जब तक मैं जीवित हूं, आपके और मेरे बीच युद्ध जारी रहेगा, चाहे भले ही मैं मारा जाऊं, या बन्दी बनाया जाऊं या फांसी पर लटका दिया जाऊं। जो कुछ मैं करूंगा, तलवार से ही करूंगा। परन्तु यदि उपर्युक्त रूप से वर्णित महामहिम सम्राज्ञी का पत्र मेरे पास आता है, तो मैं अपने आपको उपस्थित कर दूंगा। यदि आप उचित समझें तो कृपया इसका उत्तर अवश्य दें।

दिनांक, देवगढ़
२२वीं रमजान
२६ अप्रैल, १८५६

प्रेषक बालाराव

"अंग्रेजों को दी गई याचिका" का अनुवाद

मैं नाना का भाई हूं। अंग्रेजों के समय से मैं उसके साथ रहा हूं। उसने मुझे अपने आदेशों के बिना कहीं जाने की अनुमति नहीं दी और यह धमकी दी कि यदि मैंने ऐसा न किया तो वह मुझे उत्तराधिकार से वंचित कर देगा। इसलिए मैं उसके अधीन रहा और उसके पास जो अंग्रेज मिलने आते थे, उनमें से किसी से मैं परिचित नहीं था। इसलिए मैं असहाय रहा। फिर भी मैं अपने सम्मान को बचाने का इच्छुक था और सबसे अलग रहा। किसी ने मेरे विरुद्ध शिकायत नहीं की है। यदि ऐसी कोई "रूबकारी" उपस्थित की जा सकी, तो मैं दोषी हूंगा। जब उसने कानपुर में विद्रोह किया तो वह मुझे धोखा देकर वहां ले गया और मेरी पत्नी को अपनी स्त्रियों में रख दिया जहां वे अब तक एक साथ हैं। जब सिपाहियों ने खजाना लेने के लिए अभियान किया, तो मैंने अपनी असहायावस्था का अनुभव किया, क्योंकि मैं "साहब लोगों" में से किसी को नहीं जानता था। सिपाहियों ने मुझे अपने पास से नहीं जाने दिया। मेरे भाई ने भी मुझे उनसे अलग होने की अनुमति नहीं दी। इसलिए मुझे आवश्यक रूप से अपने भाई के आदेशों के अनुसार कार्य करना पड़ा। मैंने ६ या १० साल की एक बच्ची की जान बचाई है, जो फतेहपुर के जज की पुत्री थी। मैंने उसे अपनी पत्नी के पास छिपा रखा और उसे जनरल बद्री नरसिंह को भी दिखाया है।

जब ग्वालियर का जियाजी सिन्धिया (वह अभी जीवित है) बिठूर आया, तो मैंने अपनी ओर से उससे याचना की, परन्तु उसने उत्तर दिया कि बिना गवर्नर या भाई की अनुमति के वह मुझे उनसे अलग नहीं रख सकता। इस प्रकार मैं बेबस बना रहा। मैं निरपराध हूं और जांच से भी यही बात सिद्ध होगी। यदि आप उत्तर भेजें तो मैं आप के पास आऊं और हर बात आप से कहूं। यह आपकी शक्ति में है कि आप जैसा चाहें मेरे साथ व्यवहार करें। आप मुझे जेल में बन्द कर सकते हैं, मार सकते हैं, या फांसी पर लटकवा सकते हैं। जो कुछ भी हो, मैं अपनी वर्तमान चिन्ताओं से मुक्त हो जाऊंगा। यदि आप मेरे साथ नहीं हैं, तो दुनिया भी नहीं है। जो कोई मरता है, अकेला ही मरता है। यही होता है। आपके उत्तर के अनसार मैं कार्य करूंगा।

दिनांक ८, वैशाख,
संवत् १९१६
अथवा
२५ अप्रैल, १८५९

(ह०) एच० रोक्रफ़ट, ब्रिगेडियर,
समादेशक अधिकारी,
जिला गोरखपुर

बाला राव को मेजर रिचर्डसन का उत्तर

बाला राव, आपका प्रतिवेदन, दिनांक ९वीं बदी, संवत् १९१६ का, जिसे आपने एक ब्राह्मण के हाथ भेजा, मुझे कल शाम मिला। मैंने इसे पढ़ लिया है और इसके उत्तर में मैं नागरी लिपि में लिखी हुई इंग्लैण्ड की रानी की घोषणा की एक प्रति भेज रहा हूं जिस पर महामहिम सम्राज्ञी की राजकीय मुद्रा लगी हुई है। इस घोषणा की शर्तें ऐसी हैं जिन्हें एक महान और अच्छी रानी ही पेश कर सकती है। इसे ध्यान से पढ़कर मुझे अपना उत्तर दें। यदि आप इसे नहीं समझ सकें, तो आप की सूचना मिलने पर, जहां तक मुझसे हो सकेगा, मैं इसकी व्याख्या कर दूंगा। या यदि आप किसी विश्वसनीय आदमी को भेजें तो मैं यह आश्वासन देता हूं कि उसे इधर-उधर आने में मैं पूरी स्वतन्त्रता दूंगा और मैं उससे उन बातों की व्याख्या कर दूंगा, जिन्हें आप न समझ सके हों। इंग्लैण्ड की रानी की घोषणा को गलत मत समझिए। आप ने कहा है कि आप के पास एक ईसाई बच्ची है। आप यह याद रक्खें कि आप एक मानव हैं और एक मानव के रूप में आपका यह कर्तव्य है कि आप उस बच्ची को हानि से बचाएं। महामहिम सम्राज्ञी के इश्तहार में जो शर्तें दी गई हैं, उनके अतिरिक्त कोई और शर्तें पेश करने का मुझे कोई अधिकार नहीं है। चूंकि मेरे पास ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है जो संस्कृत अच्छी तरह पढ़ सके, इसलिए आपके प्रतिनिवेदनों को पढ़ने में मुझे कठिनता रही है। यदि आप उर्दू या नागरी में उत्तर दें तो अच्छा रहेगा।

अध्याय ११

उपसंहार

हम देख चुके हैं कि किस प्रकार १८५७ के आन्दोलन का सूत्रपात हुआ, कैसे उसका जोर बढ़ा और अंत में किस प्रकार वह समाप्त हुआ। क्या वह सिपाहियों के असन्तोष का एक सहज विस्फोट था या कुशल राजनीतिज्ञों द्वारा नियंत्रित एक पूर्व-विचारित विद्रोह ? क्या वह सेना तक ही सीमित एक ग़दर था या उसे विस्तृत रूप से जनता का समर्थन भी प्राप्त था ? क्या वह ईसाइयों के विरुद्ध एक धार्मिक युद्ध था या सर्वोच्च सत्ता के लिए काले और गोरे लोगों का एक जातीय संघर्ष ? क्या इस ग़दर में नैतिक प्रश्न अन्तर्हित थे और क्या लड़ने वाले लोग अनजाने में अपनी सभ्यता और संस्कृति के लिए लड़ रहे थे ? ये कुछ प्रश्न हैं जिनका उत्तर उचित ढंग से और साफ़-साफ़ देना ही होगा।

चपातियों की कहानी पूर्व तैयारी, प्रचार और षड्यन्त्र के सिद्धान्त को कुछ बल प्रदान करती है। जनवरी १८५७ में उत्तर-भारत में बहुत से जिलों में गेहूं के आटे की छोटी-छोटी रोटियां एक गांव से दूसरे गांव में भेजी गई थीं। बाद में लोगों ने इसमें एक दुष्ट अभिप्राय निहित बताया, परन्तु यह संदिग्ध है कि ये रहस्यात्मक चपातियां किसी अपशकुन की सूचक थीं। जिला अधिकारियों ने स्वाभाविक रूप से इस मामले में रुचि ली और जांच करवाई। मथुरा के थार्नहिल ने लिखा है, "यह घटना इतनी विशिष्ट थी कि इसने सरकार का ध्यान आकृष्ट किया और जांच का आदेश दिया गया। परन्तु सम्पूर्ण प्रयत्नों के बावजूद यह निश्चित नहीं हो सका कि चपातियां बांटने की सूझ किसकी थी, कहां बांटना शुरू हुआ और इसका अभिप्राय क्या था। कुछ दिन तक तो यह आश्चर्य का विषय रहा पर फिर लोगों ने इस पर बातचीत करना छोड़ दिया और वे कुछ समय के लिए इसे भूल गए, सिवाय उन लोगों के जिन्हें यह याद था कि गत शताब्दी के अन्त में चपातियों की ऐसी ही बटाई मद्रास में हुई थी, जिसके बाद वेल्लोर का ग़दर हुआ था।[1] गांव के चौकीदार, जिनके द्वारा चपातियां बटवाई गई थीं, सम्भवतः वेल्लोर के बारे में कुछ नहीं जानते थे, और गांव के लोग भी, जिनमें चपातियां बांटी गई थीं, सम्भवतः उतने ही अनभिज्ञ थे। मेरठ के वैलेस डनलप का कहना है कि चौकीदारों का यह ख्याल था कि ये चपातियां सरकार के आदेश से बांटी जा रही हैं। "हिन्दू लोग समझते हैं कि एक जिले से दूसरे जिले को ऐसी छोटी रोटियों का बांटा जाना व्यापक रोग को हटाने के लिए है।"

१. थार्नहिल, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० २-३

मेरठ के जिले में चपातियां फरवरी के अन्त में और मार्च के शुरू में बटती हुई देखी गईं। वॅलेस डनलप कहता है, "उस समय सिपाहियों में उत्तेजना का फैलना और उसके बाद ही ग़दर का होना, इस बात से प्रभावित होकर बहुतों ने चपातियों के बांटे जाने को हमारे उपद्रवों से सम्बद्ध कर दिया है। परन्तु ऐसा कहने के लिए पर्याप्त आधार नहीं हैं। यह सम्भव है कि यदि कोई सम्बन्ध रहा हो, तो वह आकस्मिक ही हो। इन दोनों के बीच जिस सम्बन्ध को फितरती लोगों ने या अनभिज्ञ व्यक्तियों ने स्वीकार किया, वह रोटियों के बांटे जाने के बाद ही स्थापित किया गया, वह आन्दोलन का कारण नहीं था और न वह आन्दोलन के पहले स्थापित ही किया गया था। उसके मतानुसार चपाती कोई भयंकर दुर्घटना की सूचक नहीं थी। अन्त में वह कहता है, "इसका वास्तविक मूल एक मिथ्या विश्वासमय प्रयत्न था जिसे व्यापक हैजे को रोकने के लिए किया गया था। गत वर्ष ही एक भयंकर हैजा फैला था जिसने उत्तर-पश्चिमी प्रान्त को बरबाद कर दिया था और जिसका प्रकोप कहीं कहीं अभी भी विद्यमान था। यह हैजा दुबारा न फैले, इसलिए यह किया गया।"[२] दिल्ली के सर थियोफ़िलस मेटकाफ़ ने भी यही अभिसाक्ष्य दिया कि चपातियां बांटने का कुछ सम्बन्ध बीमारी से था और जो आदमी उन्हें लाए, वे इस खयाल में थे कि सरकारी आदेश से बांटी जा रही थीं।[3] बहादुरशाह के मुकदमे की सुनवाई के समय एक गवाह जटमल ने बताया कि "भिन्न-भिन्न आदमियों के लिए चपाती के भिन्न-भिन्न अर्थ थे। कुछ कहते थे, किसी आने वाली विपत्ति को टालने के लिए यह देवताओं को प्रसन्न करने की क्रिया है।" दूसरे लोग इसमें ईसाइयों के समान खाना खिलवाने की सरकारी चाल देखते थे। चपातियां हिन्दू और मुसलमानों में कोई भेद-भाव किए बिना समान रूप से बांटी गई थीं।[४] हकीम अहसानुद्दौला ने साक्ष्य दिया कि कोई नहीं कह सकता था कि चपातियों के बांटे जाने का उद्देश्य क्या है।[५] बदायूं के एडवर्ड्स ने निश्चयपूर्वक कहा कि सब वर्गों की ग्रामीण जनता, जिनमें चपातियां बंटीं, इसके वास्तविक उद्देश्य के बारे में अनभिज्ञ थी।[६] उत्तर भारत के एक अज्ञातनाम निवासी ने निश्चयपूर्वक बताया कि चपातियां "किसी बीमारी की प्रगति को रोकने के लिए केवल चलावा थीं और राजनीतिक चाल कभी नहीं थी।"[७] सर सैयद अहमद खां ने निर्देश किया कि जिस समय चपातियां बांटी गई थीं उस समय हैजा फैला हुआ था और चपातियां इस बीमारी को रोकने के लिए एक प्रकार का जादू-टोना थीं। "तथ्य यही है कि आज भी हम नहीं जानते कि उन चपातियों के बांटे जाने का क्या कारण था।"[८]

---

२. डनलप, सर्विस एण्ड एडवेंचर विद दि खाकी रिसाला, पृ० ३-२६

३. प्रोसीडिंग्स आफ़ बहादुरशाह ट्रायल, पृ० ८५

४. वही, पृ० ७८

५. वही, पृ० १६५

६. एड्वर्ड्स, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १५

७. दि थाट्स आफ़ ए नेटिव आफ़ नार्दर्न इण्डिया आन दि रिबेलियन, इट्स काज़ेज़ एण्ड रेमेडीज़, पृ० ११

८. सैयद अहमद, दि काज़ेज़ आफ़ दि इण्डियन रिवोल्ट, पृ० ३

ऐसे दुर्बोध और अनिश्चित माध्यम के द्वारा किसी षड्यन्त्र का संचालन नहीं हुआ करता क्योंकि इससे बेहतर उपाय ढूंढ निकालने के लिए असाधारण प्रतिभा की आवश्यकता नहीं थी। यदि चपातियों के पीछे कोई राजनीतिक उद्देश्य होता, तो सरकार उसके साक्ष्य का कुछ-न-कुछ पता लगाए बिना नहीं रह सकती थी।

चपातियां मध्य प्रदेश में भी बांटी गई थीं। परन्तु वहां भी उनके बांटे जाने में किसी राजनीतिक चाल का सन्देह नहीं किया गया। निमाड़ के कैप्टन कीटिंग ने सर राबर्ट हैमिल्टन को लिखा, "निमाड़ में १८५७ के वर्ष का प्रारम्भ कुछ चपातियों के एक गांव में बांटने से हुआ। मैं जानता हूं कि ऐसा ही समस्त भारत में हुआ। इसके बारे में कहा गया है कि यह उन उपद्रवों का संकेत था जो बाद में इसी साल हुए। जब ये रोटियां निमाड़ में बंटती देखी गईं, तो वे सब जगह इन्दौर की दिशा से लाई जा रही थीं। यह शहर उस समय हैजे की बीमारी से पीड़ित था और काफी संख्या में निवासी प्रति दिन मर रहे थे। उस समय निमाड़ के लोगों ने यह समझा और आज भी वे ऐसा ही विश्वास करते हैं कि गेहूं के आटे की चपातियां मन्त्र पढ़ कर भेजी गई थीं ताकि जहां वे रोटियां जाएं, बीमारी भी वहां से निश्चय ही चली जाए।" इस प्रकार मध्य-प्रदेश में चपातियां बीमारी की वाहक समझी गईं, न कि राजनीतिक संकटों की सन्देशवाहक।

सन् १८५८ में, निःसन्देह प्रत्येक असाधारण वस्तु संशय के साथ देखी जाती थी। इसी साल, सितम्बर के महीने में गुड़ और थुली से मिश्रित आटे के छोटे-छोटे गोल पिण्ड बरार में बांटे गए थे। यह सन्देह था कि वे बम्बई से आए हैं। वे किस प्रकार बांटे गए यह ज्ञात नहीं था, परन्तु एक अधिकारी ने उनका आरोपण नाना और उसके साथियों पर किया।[९] गेरुए रंग की झण्डियों का एक जोड़ा और उसके साथ में एक नारियल, एक सुपारी और एक हरा पान का पत्ता, ये चीजें सन् १८५८ के अक्तूबर मास में छिन्दवाड़ा जिले में एक गांव से दूसरे गांव में बांटी जा रही थीं। यह समझा जा रहा था कि यह नाना की भलाई के लिए किया जा रहा है और इसमें कुछ हेतु का आभास भी है क्योंकि शिवाजी का झण्डा भी गेरुए रंग का था। परन्तु कोई धार्मिक संगठन भी इसे ग्रहण कर सकता था। कुछ भी हो, आटे के गोल पिण्ड और गेरुए रंग का झण्डा, ये दोनों चीजें ग़दर के बाद आईं, पहले नहीं।

चपातियां क्यों बांटी गईं, इस सम्बन्ध में एक हिन्दू सन्यासी बाबा सीताराम ने एक नया विचार रखा और जिसकी जांच मैसूर के जुडीशियल कमिश्नर एच० बी० डेवरो और कैप्टन जे० एल० पियर्स ने की। सीताराम से लगातार कई दिनों तक (१८ जनवरी से २५ जनवरी, १८५८ तक) मैसूर में प्रश्न किए गए। उसने बीस वर्ष पूर्व ग्वालियर की बैजाबाई के द्वारा प्रारम्भ किए गए एक षड्यन्त्र की अजीब कहानी कही जिसमें सभी मुख्य राजा सम्मिलित थे। बैजाबाई इस षड्यन्त्र से उस समय अलग हो गई जब जयाजीराव के लिए राज्य प्राप्त करने का उसका उद्देश्य पूरा हो गया। जब बैजाबाई अलग हुई तो नाना

९. नागपुर के डिप्टी कमिश्नर मेजर जे० ए० स्पेंस की ओर से चण्डा के डिप्टी कमिश्नर कैप्टन डब्ल्यू० एच० क्रिचटन को, ३ सितम्बर, १८५८

मेरठ के जिले में चपातियां फरवरी के अन्त में और मार्च के शुरू में बटती हुई देखी गईं। वॅलेस डनलप कहता है, "उस समय सिपाहियों में उत्तेजना का फैलना और उसके बाद ही ग़दर का होना, इस बात से प्रभावित होकर बहुतों ने चपातियों के बांटे जाने को हमारे उपद्रवों से सम्बद्ध कर दिया है। परन्तु ऐसा कहने के लिए पर्याप्त आधार नहीं हैं। यह सम्भव है कि यदि कोई सम्बन्ध रहा हो, तो वह आकस्मिक ही हो। इन दोनों के बीच जिस सम्बन्ध को फितरती लोगों ने या अनभिज्ञ व्यक्तियों ने स्वीकार किया, वह रोटियों के बांटे जाने के बाद ही स्थापित किया गया, वह आन्दोलन का कारण नहीं था और न वह आन्दोलन के पहले स्थापित ही किया गया था। उसके मतानुसार चपाती कोई भयंकर दुर्घटना की सूचक नहीं थी। अन्त में वह कहता है, "इसका वास्तविक मूल एक मिथ्या विश्वासमय प्रयत्न था जिसे व्यापक हैजे को रोकने के लिए किया गया था। गत वर्ष ही एक भयंकर हैजा फैला था जिसने उत्तर-पश्चिमी प्रान्त को बरबाद कर दिया था और जिसका प्रकोप कहीं कहीं अभी भी विद्यमान था। यह हैजा दुबारा न फैले, इसलिए यह किया गया।"[२] दिल्ली के सर थियोफ़िलस मेटकाफ़ ने भी यही अभिसाक्ष्य दिया कि चपातियां बांटने का कुछ सम्बन्ध बीमारी से था और जो आदमी उन्हें लाए, वे इस खयाल में थे कि सरकारी आदेश से बांटी जा रही थीं।[3] बहादुरशाह के मुकदमे की सुनवाई के समय एक गवाह जटमल ने बताया कि "भिन्न-भिन्न आदमियों के लिए चपाती के भिन्न-भिन्न अर्थ थे। कुछ कहते थे, किसी आने वाली विपत्ति को टालने के लिए यह देवताओं को प्रसन्न करने की क्रिया है।" दूसरे लोग इसमें ईसाइयों के समान खाना खिलवाने की सरकारी चाल देखते थे। चपातियां हिन्दू और मुसलमानों में कोई भेद-भाव किए बिना समान रूप से बांटी गई थीं।[४] हकीम अहसानुद्दौला ने साक्ष्य दिया कि कोई नहीं कह सकता था कि चपातियों के बांटे जाने का उद्देश्य क्या है।[५] बदायूं के एडवर्ड्स ने निश्चयपूर्वक कहा कि सब वर्गों की ग्रामीण जनता, जिनमें चपातियां बंटीं, इसके वास्तविक उद्देश्य के बारे में अनभिज्ञ थी।[६] उत्तर भारत के एक अज्ञातनाम निवासी ने निश्चयपूर्वक बताया कि चपातियां "किसी बीमारी की प्रगति को रोकने के लिए केवल चलावा थीं और राजनीतिक चाल कभी नहीं थी।"[७] सर सैयद अहमद खां ने निर्देश किया कि जिस समय चपातियां बांटी गई थीं उस समय हैजा फैला हुआ था और चपातियां इस बीमारी को रोकने के लिए एक प्रकार का जादू-टोना थीं। "तथ्य यही है कि आज भी हम नहीं जानते कि उन चपातियों के बांटे जाने का क्या कारण था।"[८]

---

२. डनलप, सर्विस एण्ड एडवेंचर विद दि खाकी रिसाला, पृ० ३-२६

३. प्रोसीडिंग्स आफ़ बहादुरशाह ट्रायल, पृ० ८५

४. वही, पृ० ७८

५. वही, पृ० १६५

६. एड्वर्ड्स, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १५

७. दि थाट्स आफ़ ए नेटिव आफ़ नार्दर्न इण्डिया आन दि रिबेलियन, इट्स काज़ेज़ एण्ड रेमेडीज़, पृ० ११

८. सैयद अहमद, दि काज़ेज़ आफ़ दि इण्डियन रिवोल्ट, पृ० ३

ऐसे दुर्बोध और अनिश्चित माध्यम के द्वारा किसी षड्यन्त्र का संचालन नहीं हुआ करता क्योंकि इससे बेहतर उपाय ढूंढ निकालने के लिए असाधारण प्रतिभा की आवश्यकता नहीं थी। यदि चपातियों के पीछे कोई राजनीतिक उद्देश्य होता, तो सरकार उसके साक्ष्य का कुछ-न-कुछ पता लगाए बिना नहीं रह सकती थी।

चपातियां मध्य प्रदेश में भी बांटी गई थीं। परन्तु वहां भी उनके बांटे जाने में किसी राजनीतिक चाल का सन्देह नहीं किया गया। निमाड़ के कैप्टन कीटिंग ने सर राबर्ट हैमिल्टन को लिखा, "निमाड़ में १८५७ के वर्ष का प्रारम्भ कुछ चपातियों के एक गांव में बांटने से हुआ। मैं जानता हूं कि ऐसा ही समस्त भारत में हुआ। इसके बारे में कहा गया है कि यह उन उपद्रवों का संकेत था जो बाद में इसी साल हुए। जब ये रोटियां निमाड़ में बंटती देखी गईं, तो वे सब जगह इन्दौर की दिशा से लाई जा रही थीं। यह शहर उस समय हैजे की बीमारी से पीड़ित था और काफी संख्या में निवासी प्रति दिन मर रहे थे। उस समय निमाड़ के लोगों ने यह समझा और आज भी वे ऐसा ही विश्वास करते हैं कि गेहूं के आटे की चपातियां मन्त्र पढ़ कर भेजी गई थीं ताकि जहां वे रोटियां जाएं, बीमारी भी वहां से निश्चय ही चली जाए।" इस प्रकार मध्य-प्रदेश में चपातियां बीमारी की वाहक समझी गईं, न कि राजनीतिक संकटों की सन्देशवाहक।

सन् १८५८ में, निःसन्देह प्रत्येक असाधारण वस्तु संशय के साथ देखी जाती थी। इसी साल, सितम्बर के महीने में गुड़ और थुली से मिश्रित आटे के छोटे-छोटे गोल पिण्ड बरार में बांटे गए थे। यह सन्देह था कि वे बम्बई से आए हैं। वे किस प्रकार बांटे गए यह ज्ञात नहीं था, परन्तु एक अधिकारी ने उनका आरोपण नाना और उसके साथियों पर किया।[९] गेरुए रंग की झण्डियों का एक जोड़ा और उसके साथ में एक नारियल, एक सुपारी और एक हरा पान का पत्ता, ये चीजें सन् १८५८ के अक्तूबर मास में छिन्दवाड़ा जिले में एक गांव से दूसरे गांव में बांटी जा रही थीं। यह समझा जा रहा था कि यह नाना की भलाई के लिए किया जा रहा है और इसमें कुछ हेतु का आभास भी है क्योंकि शिवाजी का झण्डा भी गेरुए रंग का था। परन्तु कोई धार्मिक संगठन भी इसे ग्रहण कर सकता था। कुछ भी हो, आटे के गोल पिण्ड और गेरुए रंग का झण्डा, ये दोनों चीजें ग़दर के बाद आईं, पहले नहीं।

चपातियां क्यों बांटी गईं, इस सम्बन्ध में एक हिन्दू सन्यासी बाबा सीताराम ने एक नया विचार रखा और जिसकी जांच मैसूर के जुडीशियल कमिश्नर एच० बी० डेवरो और कैप्टन जे० एल० पियर्स ने की। सीताराम से लगातार कई दिनों तक (१८ जनवरी से २५ जनवरी, १८५८ तक) मैसूर में प्रश्न किए गए। उसने बीस वर्ष पूर्व ग्वालियर की बैजाबाई के द्वारा प्रारम्भ किए गए एक षड्यन्त्र की अजीब कहानी कही जिसमें सभी मुख्य राजा सम्मिलित थे। बैजाबाई इस षड्यन्त्र से उस समय अलग हो गई जब जयाजीराव के लिए राज्य प्राप्त करने का उसका उद्देश्य पूरा हो गया। जब बैजाबाई अलग हुई तो नाना

---

९. नागपुर के डिप्टी कमिश्नर मेजर जे० ए० स्पेंस की ओर से चाण्डा के डिप्टी कमिश्नर कैप्टन डब्ल्यू० एच० क्रिचटन को, ३ सितम्बर, १८५८

उसकी जगह पर आ गया। दस्स बाबा नामक एक जादूगर की विलक्षण शक्ति में उसका विश्वास था और जम्मू के राजा गुलाबसिंह और मथुरा के सेठ लक्ष्मीचन्द उसकी आर्थिक सहायता करते थे। हैदराबाद का मन्त्री जिसके नाम के अन्त में चंद जा जंग आता था, इस षड्यन्त्र में सम्मिलित था। दस्स बाबा ने कमल के बीजों की एक छोटी-सी मूर्ति बनाई और फिर उसे छोटे-छोटे टुकड़ों में विभक्त कर दिया। प्रत्येक टुकड़े को एक-एक चपाती में रख कर उसने कहा कि जितनी दूर ये चपातियां जाएंगी, उतनी ही दूर तक नाना का प्रभाव बढ़ता चला जाएगा। कहा जाता है कि रात्रि को भारत के सब सैनिक स्थानों पर एक साथ आक्रमण करने की योजना भी बनाई गई। सब अंग्रेज लोगों को मार दिया जाता था, परन्तु स्त्रियों और बच्चों को हानि नहीं पहुंचानी थी। रीवां के राजा को बनारस पर अधिकार करने के बाद बंगाल पर आक्रमण करना था। सीताराम बाबा ने बताया कि इस देश व्यापी षड्यन्त्र का मुख्य संचालक दस्स बाबा पंजाब में था; परन्तु उसके एक शिष्य को बैरागी के वेष में दक्षिण आना था। मैसूर के महाराजा पर यह अभियोग लगाया गया था कि वह गुप्त रूप से षड्यन्त्र में सम्मिलित था और इसी प्रकार दक्षिण के और बहुत से राजाओं पर भी। फ़ोरजेट ने इस कहानी को एक अनुमान से अधिक महत्व नहीं दिया।[१०] गवर्नर-जनरल का विचार था कि सीताराम बाबा के कथनों की जांच होनी चाहिए, यद्यपि उसका वक्तव्य झूठा और गलत बयानों से भरा था। इसलिए मध्यवर्ती-भारत और हैदराबाद में गवर्नर-जनरल के एजेंटों के पास तथा बम्बई और पंजाब की सरकारों के पास प्रतियां जांच के लिए भेजी गईं, परन्तु ऐसा नहीं लगता कि इस मामले पर कहीं गम्भीरता से विचार किया गया हो।[११] अतः सीताराम बाबा की मनगढ़न्त कहानी यह सिद्ध नहीं करती कि भारत व्यापी विद्रोह के लिए कोई षड्यन्त्र पहले से सम्मिलित प्रयत्न के द्वारा किया गया था।

इसके बाद झांसी की रानी लक्ष्मी बाई के एक कथित पत्र पर विचार करना है, जो अभी हाल में पुरी में प्रकाश में आया है। इस पत्र का अभिप्राय पुरी तीर्थ के रानी के कुल-पुरोहित को सम्बोधित किया गया है। पत्र हिन्दी में है और इस पर दिनांक मार्च, १८५६, अंकित हैं। यह लेख सच्चा है तो इससे यह विदित होता है कि मेरठ के उपद्रव से पूरे एक वर्ष पूर्व रानी एक विद्रोह का संगठन करने में लगी हुई थी। परन्तु इस पत्र की भाषा और लिपि आधुनिक जान पड़ती है। सर राबर्ट हैमिल्टन को लिखे गए रानी के खरीते में दिनांक लिखने की मुस्लिम शैली बरती गई है परन्तु इस पत्र में, जो एक ब्राह्मण को सम्बोधित है, अंग्रेजी शैली का अनुमान है। उन दिनों की भारतीय पद्धति के विपरीत रानी ने अपने पण्डे को "माननीय पण्डा जी" कह कर सम्बोधित किया है और अंत में अपने लिए लिखा है, "आप का लक्ष्मी बाई" जो अशुद्ध हिन्दी है। जिस मुद्रा का प्रयोग किया गया है, वह भी प्रामाणिक पत्रों में व्यवहृत मुद्रा से भिन्न है और पत्र के अन्त में चर्बी लगे कारतूस का भी उल्लेख है। यह कारतूस भारत में नवम्बर १८५६ से पहले नहीं आए थे।

---

१०. फ़ोरजेट, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ५०

११. फ़ारेन सीक्रेट कन्सलटेशन्स, संख्याएं ३४४-३४६, २८ मई, १८५८

रानी लक्ष्मी बाई की मोहर

रानी लक्ष्मी बाई के तथाकथित हिन्दी पत्र की मोहर

और आगामी जनवरी तक सम्भवतः सिपाहियों ने इसके बारे में कुछ नहीं सुना था। ऊपर से यह मालूम पड़ता है कि पत्र मेरठ से लिखा गया था परन्तु इस प्रकार का कोई साक्ष्य नहीं है कि मार्च १८५६ में या अन्य किसी समय रानी मेरठ में थी। स्पष्टतः यह रचना एक भद्दी नकल है और इसका लेखक, चाहे वह कोई भी पुरुष या स्त्री हो, अंग्रेज़ी में पत्र-व्यवहार करने का अभ्यस्त रहा है।

क्रक्रोफ़्ट विलसन को यह विश्वास हो गया था कि भारत के सब सैनिक-स्थानों पर एक साथ विद्रोह करने के लिए एक तिथि और समय निश्चित कर दिया गया था, परन्तु अपने इस निष्कर्ष के समर्थन में उसने किसी साक्ष्य का उद्धरण नहीं किया है। ज्ञात तथ्य उसके सिद्धान्त के विपरीत है। हम देख चुके हैं कि मेरठ का विद्रोह पूर्व विचारित नहीं था। लखनऊ में एक रेजीमेंट ने मई के प्रारम्भ में कारतूस को दांतों से काटने से इन्कार किया, सामान्य ग़दर इस मास के अन्त में हुआ और पुलिस-सेना ने इसके भी बाद विद्रोह किया। मेरठ और दिल्ली के ग़दर के बाद दो सप्ताह तक पूर्ण शान्ति रही। सीतापुर और सियालकोट, इन दोनों जगहों पर भिन्न-भिन्न रेजीमेंटों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से व्यवहार किया। मेडले ने बताया है, "जिन रेजीमेंटों को बचने का अवसर नहीं था, उन्होंने ग़दर किया और वे टुकड़े-टुकड़े काट डाले गए। दूसरे लोग जो किसी समय बिना किसी रुकावट या विघ्न के विद्रोह कर सकते थे, उस समय तक वफ़ादार बने रहे जब कि सफलता ही असम्भव हो गयी। तब उन्होंने विद्रोह किया और उनका भी वैसा ही भाग्य हुआ। जैसा कि विदित ही है, अनेक उदाहरण इस इस बात के हैं कि सिपाहयों ने अपने अधिकारियों को परेड में मार दिया, या उनके घरों में उन्हें मार डाला। कुछ ऐसे उदाहरण भी पाए गए हैं कि सिपाहियों ने अपने अधिकारियों और उनके परिवारों की रक्षा की, उन्हें पैसा दिया और उनसे विदा लेते समय आंसू बहाए। यह बात नहीं है कि बरताव की यह विभिन्नता स्वयं अधिकारियों के चरित्र की विभिन्नता पर ही आधारित रही हो।"[१२] कहीं भी सिपाहियों का व्यवहार एक जैसा नहीं था और इससे स्पष्टतः निष्कर्ष यह निकलता है, उनके पास कोई पूर्व विचारित सम्मिलित योजना अनुगमन के लिए नहीं थी। बहुत-से लेखकों ने इस असंगति को जांच के अयोग्य समझ कर उसे निरर्थक ठहरा दिया है। उनका कहना है कि सिपाही एक बालक के समान था और उससे संगत व्यवहार की आशा करना व्यर्थ था। यह ठीक है कि अधिकतर सिपाही अशिक्षित थे और दुनिया की खबरों से अनभिज्ञ थे, परन्तु उनका सोचने का अपना ढंग था और उनके ऊपर से असंगत व्यवहार की व्यवस्था की जा सकती है। सरकार के सुरक्षा-उपायों ने अक्सर उनसे ग़दर करवाया और उन्होंने आत्म रक्षा के लिए विद्रोह किया। मध्यवर्ती-भारत में नीमच और नजीराबाद में, पंजाब में झेलम और सियालकोट में, उत्तर-पश्चिमी प्रान्त में इलाहाबाद और फतेहपुर में और अवध में फ़ैजाबाद और सिकरोरा में, इन सब स्थानों में यूरोपीय सैन्य दलों के आने या उनके आने की खबर मिलने से खतरे की घण्टी बज उठी। जैसा सर जान लारेंस ने बताया है, हथियार डलवाने और घोड़े ले लेने से भय फैला और

१२. मेडले, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० २००-२०१

भय ने विद्रोह उत्पन्न किया। जब एक अज्ञात भारतीय लेखक से पूछा गया कि कुछ सिपाहियों ने सितम्बर और अक्तूबर तक क्यों विद्रोह नहीं किया तो उसने भी इसी आशय का उत्तर दिया। वह लिखता है, "महोदय, मैंने आप को बताया कि यह एक सम्मिलित योजना नहीं थी। बहुत से सिपाही देर तक यह सोचते रहे कि सरकार उन सैन्य दलों को, जो हाथ से निकल चुके थे, निरस्त्र करके पूर्ण सन्तुष्ट हो जाएगी, परन्तु उन्हें दिनोंदिन यह विश्वास हो रहा है कि सरकार केवल यूरोपीय सिपाहियों के आने की प्रतीक्षा कर रही है और उसके बाद वह बंगाल सेना को समूल नष्ट कर उससे अपना पल्ला छुड़ाएगी, या तो उसके सिपाहियों से हथियार डलवा कर या उन्हें बन्दूकों की गोलियों से उड़ा कर।"[13]

सर सैयद अहमद ने बताया है कि सम्भवतः सिपाहियों में चर्बी लगे कारतूस के सम्बन्ध में कुछ पत्र-व्यवहार तो चल रहा था, परन्तु प्रतिरोध की कोई आम योजना नहीं बनी थी। कोई रेजीमेंट घृणित गोला-बारूद का पहले उपयोग करने के लिए प्रस्तुत नहीं थी। ये सैनिक यह प्रतीक्षा कर रहे थे कि दूसरे क्या करते हैं। कर्नल कार्माइकेल स्मिथ के जान-बूझ कर किए हुए अविवेक ने मेरठ में विद्रोह करवाया। एक सैनिक स्थान से दूसरे सैनिक स्थान पर खबर फैल गई और बाकी काम उन रेजीमेंटों के हथियार डलवाने ने पूरा कर दिया जिन्होंने न केवल कोई रुष्ट करने वाला कार्य ही नहीं किया था, बल्कि जो क्रियात्मक रूप से राजभक्त भी थे। यदि दूसरे सिपाहियों को भी वही अवसर दिया गया होता जो नासिरी रेजीमेंट को दिया गया था, तो सम्भवतः उन्होंने भी अपने आप को उतना ही विश्वसनीय सिद्ध किया होता। परन्तु अधिकारियों ने जो एहतियाती कार्रवाई की, दण्ड देने की जो नीति बरती और खुले तौर पर उनके प्रति जिस अविश्वास का प्रदर्शन किया, उससे सिपाहियों के पास सशस्त्र विद्रोह के अलावा और कोई चारा ही नहीं रह गया। पंजाब में सिपाही अपने अधिकारियों की ईमानदारी में विश्वास नहीं कर सकते थे। निकल्सन ने ५९वीं देशी पैदल सेना को जहां एक दिन यह विश्वास दिलाया कि मुझे इस बात की खुशी है कि सिपाहियों से हथियार डलवाने का मैं कोई कारण नहीं देखता वहां दूसरे दिन ही सबेरे सिपाहियों से हथियार जमा करा लिए गए, यद्यपि इस बीच उन्होंने किसी किस्म की हरकत नहीं की थी।

सिपाही या उनके नेता किसी विदेशी सत्ता से भी मिले हुए नहीं थे। इस प्रकार का कोई साक्ष्य नहीं है जिससे कहा जा सके कि ग़दर की प्रेरणा रूस ने दी। बादशाह के मुकदमे में यह कहा गया था कि उसने अपने दूत फारस भेजे थे। एक ऐसे समय में जब कि फारस के लोग इंग्लैंड के साथ युद्ध में रत थे, वे भारत में संकट उत्पन्न करके निश्चय ही प्रसन्न होते। यह सत्य है कि शाह की ओर से निकाली गई एक घोषणा एक बार जामा मस्जिद में प्रदर्शित की गई थी, परन्तु इसे शीघ्रता से हटा दिया गया और दिल्ली की आम जनता का ध्यान इस ओर नहीं गया। इतने बड़े देश में ऐसे व्यक्तियों का अभाव

---

१३. दि थाट्स आफ़ ए नेटिव आफ़ नार्दर्न इण्डिया आन दि रिबेलियन, इट्स काज़ेज़ एण्ड रेमेडीज़, पृ० २२

नहीं था जो विदेशी शासन से अपमान अनुभव करते थे, और यह सम्भव है कि ऐसे ही किसी व्यक्ति की ओर से उपर्युक्त लेख आया हो। कुछ भी हो, अकेली एक घटना षड्यन्त्र को सिद्ध नहीं करती। बादशाह के मुकदमे की सुनवाई के समय मुकुन्दलाल नामक एक गवाह ने साक्ष्य दिया कि मिर्ज़ा सुलेमान शिकोह के पौत्र लखनऊ से दिल्ली के बादशाह और ईरान के शाह के बीच समझौता करवाने के लिए आए। मिर्ज़ा सुलेमान शिकोह, जो शाह आलम द्वितीय का पौत्र था, लखनऊ में शरणार्थी था। उसके वंशजों ने अपने शिया संरक्षक से आत्मीयता बढ़ाने के लिए शिया धर्म अंगीकार कर लिया था। यह अत्यधिक संदिग्ध बात है कि अंग्रेज़ रेज़िडेंट की सतर्क निगाह बचाकर और उसके बिना सूचना पाए ये लोग एक विदेशी सत्ता से पत्र-व्यवहार करते रहे हों, जबकि उनका दिल्ली आना छिपा नहीं था। मुकुन्दलाल के अनुसार सिदि कम्बर नाम का एक आदमी बादशाह के पत्रों को लेकर ईरान गया। परन्तु उसने स्वयं स्वीकार किया है कि बादशाह की गुप्त बातों तक उसका प्रवेश नहीं था और गोपनीय पत्र-व्यवहार इसी नाम के एक दूसरे सचिव को सौंपा गया था। हकीम अहसानुल्ला को सन्देह था कि मिर्ज़ा हैदर (सुलेमान शिकोह के पुत्र) ने बादशाह से शिया बन जाने का अनुरोध किया था। और उस धर्म के पार्थिव प्रधान शाह से पत्र-व्यवहार करे। परन्तु इस सन्देह की अभी पुष्टि नहीं हो सकी और हर हालत में मिर्ज़ा हैदर अवध के अंग्रेज़ी राज्य में मिलाए जाने से पूर्व दिल्ली आया, अतः उस समय यह सम्भव नहीं था कि अवध का राजा ऐसे कार्य को अनुकूल दृष्टि से देखता, क्योंकि उस समय उसे अपने अनेक अंग्रेज़ मित्रों के विरुद्ध कोई शिकायत नहीं थी। यह कभी सिद्ध नहीं किया जा सका है कि सिदि कम्बर अपने साथ कोई पत्र शाह के लिए ले गया। यह कथन केवल अनुमान पर आश्रित था। मेजर हैरियट ने यह तर्क दिया कि शाह ने भारतवर्ष के विभिन्न प्रान्तों की सूबेदारी का वचन अपने दरबारियों को दिया था और हिन्दुस्तान का ताज बहादुरशाह के लिए सुरक्षित रखा गया। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि दिल्ली के बादशाह का ईरान के शाह के साथ कोई समझौता हुआ था, परन्तु यह तो उस शासक की दिल्ली के बादशाह का समर्थन प्राप्त करने के लिए और उसके द्वारा उन भारतीयों का समर्थन प्राप्त करने के लिए, जो उसे अब भी हिन्दुस्तान का न्याय सम्राट मानते थे, एक कुशल कूटनीतिक चाल ही थी। फिर यह भी सिद्ध करना आवश्यक है कि ११ मई से पूर्व बहादुरशाह सिपाहियों से पत्र-व्यवहार करता रहा था। सर जान लारेंस ने ठीक ही संकेत किया है कि "यदि शाह का वास्तविक रूप में यह इरादा होता कि भारत में ब्रिटिश सत्ता को उखाड़ फेंकने के लिए हिंसात्मक प्रयत्न किया जायगा तो यह समझना कठिन हो जाता है वह उस समय हमारे साथ शान्ति-सन्धि क्यों करता जब हमारे भाग्य का संकटमय समय था। ऐसा करके तो उसने भारत के लिए उन सैन्य दलों को मुक्त कर दिया जो अन्यथा फारस में उलझे रहते। फिर यदि शाह को सचमुच ऐसे किसी प्रयत्न का पता होता तो क्या उसने अपने दूत पेशावर और पंजाब में नहीं भेजे होते? यदि उसने ऐसा किया होता तो षड्यन्त्र के कुछ लक्षण अवश्य दिखलाई पड़ जाते, परन्तु ऐसे किसी लक्षण का पता नहीं लगा। तथ्य तो यह है कि बादशाह और उसके दल की अभिसन्धियों के बारे में जो कुछ भी पता हमें लगा है उससे यही प्रकट होता

है कि भारत में किसी षड्यन्त्र या संगठन की ओर उसकी दृष्टि नहीं थी, फारस और रूस का तो कुछ कहना ही नहीं।[१४] श्री कृष्णलाल ने फारस में अंग्रेज राजदूत मरे द्वारा लौर्ड कैनिंग को लिखे गए एक पत्र का उद्धरण देते हुए इन तर्कों का प्रतिवाद किया है। उपर्युक्त पत्र में ब्रिटिश राजदूत ने कहा है कि फारस के एक उच्च पदाधिकारी ने यह स्वीकार किया है कि उसने उत्तर-भारत के मुस्लिम सरदारों को विद्रोह करने के लिए उत्तेजित करते हुए पत्र लिखे।[१५] इस स्वीकारोक्ति से केवल एक इरादे का संकेत मिलता है, इससे अधिक कुछ नहीं। किसी भी षड्यन्त्र के लिए कम से कम दो पक्ष चाहिए। सदरे-आज़म अपनी ओर से किए गए एक एक पक्षीय कार्य का उल्लेख करता है, परन्तु उसके पत्रों की क्या प्रतिक्रिया रही इसका कोई उल्लेख नहीं करता। बहादुर शाह ने ग़दर के दौरान इसी प्रकार के पत्र पटियाला के राजा और उत्तर-भारत के दूसरे राजाओं के पास भेजे, परन्तु हम निश्चित रूप से जानते हैं कि उन्होंने उसके उद्देश्य की पूर्ति नहीं की। प्रथम महायुद्ध के समय कैसर विलियम द्वितीय ने कई पत्र राजा महेंद्र प्रताप के द्वारा भारत के राजाओं को लिखे, परन्तु वे लोग जर्मनी से मिले हुए नहीं थे। हम यह भी नहीं जानते कि जिन पत्रों का उल्लेख मरे के प्रेषण-पत्र में है, वे जिन लोगों के पास भेजे गए थे उनके पास पहुंचे भी या नहीं।

केवल एक मात्र विदेशी सत्ता, जिसके पास विद्रोही पहुंचे, नेपाल थी और यह ग़दर के बाद ही सम्भव हुआ, पहले नहीं। इससे पहले प्रश्न का ठीक उत्तर मिल जाता है। सन् १८५७ का आन्दोलन पूर्व आयोजित नहीं था और न तो यह भारत में किसी राजनीतिक दल द्वारा नियोजित था और न इंग्लैंड विरोधी किसी विदेशी सत्ता द्वारा ही नियंत्रित था। सिपाहियों के असन्तोष से इसका जन्म हुआ और असैनिक जनता में विस्तृत रूप से फैले असन्तोष से इसने शक्ति ग्रहण की। सेना को निरुपद्रवी बनाने की सतत नीति ही सेना के उपद्रव का कारण हुई।

आन्दोलन ने बहुत से स्रोतों से अपने लिए रंगरूट प्राप्त किए। इंग्लैंड में चार्टिस्ट आन्दोलन में भाग लेने वालों की पंक्तियों में मुद्रा-प्रणाली के सुधारक तथा अन्य कई ऐसे तत्व विद्यमान थे उनके राजनीतिक सिद्धान्तों को नहीं मानते थे। यदि एक बार किसी राज्य के विरुद्ध क्रियात्मक असन्तोष को अभिव्यक्ति का एक संगठित साधन मिल जाता है तो उस राज्य के वैध अधिकारियों के विरुद्ध विभिन्न विचार रखने वाले विभिन्न दल एक साथ मिल जाते हैं। यही बात सन् १८५७ में भारत में हुई। आन्दोलन एक सैनिक ग़दर के रूप में शुरू हुआ परन्तु हर जगह वह सेना तक ही सीमित नहीं रहा। यह ध्यान रखना चाहिए कि सेना समग्र रूप से कभी विद्रोह में शामिल नहीं हुई, बल्कि उसके एक काफी बड़े भाग ने सरकार की ओर से क्रियात्मक लड़ाई तक लड़ी। उसकी वास्तविक

---

१४. सेलेक्शन्स फ्राम पंजाब गवर्नमेंट रिकार्ड आफ़िस, जिल्द ७, भाग २ पृ० ४०५

१५. पंजाब गवर्नमेंट रिकार्डस्, दिल्ली डिवीज़न राजनीतिक १८५८ फ़ाइल संख्या १६, कृष्णलाल के "पर्शियन इन्ट्रीग एट देलही", (१८५५-५७) में उद्धृत

शक्ति का हिसाब लगाना आसान नहीं है। हर एक रेजीमेंट, जिससे हथियार डलवा लिए गए थे, आवश्यक रूप से विद्रोही नहीं थी और न सेना को छोड़कर भागने वाला प्रत्येक व्यक्ति ही आवश्यक रूप से ग़दर करने वाला था।[१६] कांगड़ा और नूरपुर में चौथी देशी पैदल सेना की स्वामिभक्ति पर कभी संदेह नहीं किया गया और जिन सिपाहियों से आगरा में हथियार रखवा लिए गए थे उन्हें ऊटरम के अनुरोध पर फिर सेवा के लिए बुलाया गया।[१७] छठी देशी पैदल सेना इलाहाबाद में विद्रोह करने के बाद शान्तिपूर्वक तितर-बितर हो गई और अपने घर चली गई। मोटे तौर पर लगभग ३०,००० आदमी अन्त तक राजभक्त बने रहे और करीब इतनी ही संख्या में सिपाहियों से या तो हथियार डलवा लिए गए या वे सेना को छोड़कर भाग गए। करीब ७०,००० आदमी विभिन्न समयों पर विद्रोह में शामिल हुए। यदि इन सब लोगों ने एक साथ उपद्रव किया होता तो विद्रोह ने एक भयंकर रूप धारण कर लिया होता।

विद्रोहियों में देश की जनसंख्या के सभी वर्गों के लोग शामिल थे।[१८] यदि दिल्ली की संकरी पहाड़ी के पास सिख थे तो शहर के अन्दर भी सिख थे, यदि सीमा प्रान्त के कबायली लोग पुरबियों से लड़ने के लिए भर्ती किए गए थे तो धार और मन्दसौर की विद्रोही सेना में विलायती या अफगानों की अधिकता थी। एक समय ग़दर को एक मुस्लिम आन्दोलन समझने का फैशन चल पड़ा था, एक दूसरे समय इसी प्रकार उसे हिन्दू आन्दोलन समझने का फैशन चल पड़ा, परन्तु सब अवस्थाओं में दोनों ही जातियों का विद्रोही सेना में अच्छा प्रतिनिधित्व था। नाना के पास उसका विश्वासपात्र अज़ीमुल्ला था, ख़ान बहादुर ख़ां के पास सोभाराम और झांसी की रानी के पास उसके विश्वस्त

---

१६. ग़दर के प्रारम्भिक दिनों में सेना को छोड़कर भागने वाला प्रत्येक सिपाही एक विद्रोही के रूप में दंडित किया जाता था। फ़ोरजेट एक सिपाही के मामले का उद्धरण देता है जिस पर सेना को छोड़कर भागने का आरोप था। जब इस सिपाही से पूछा गया तो उसने उत्तर दिया, "मैं कहां जाता ? सारी दुनिया तो यह कह रही थी कि अंग्रेज़ी राज्य समाप्त हो गया है। मैं एक भोला-भाला आदमी था। मैंने यही सोचा कि सबसे अच्छी जगह जहां मैं शरण ले सकता हूं मेरा घर ही है।"

१७. इस सम्बन्ध में एक दूसरा उदाहरण सफर मैना की दो या तीन टुकड़ियां थीं। सफर मैना रुड़की से बुलाये गये थे और वे प्रसन्नतापूर्वक चले आ रहे थे, जबकि उनसे उनके रेजीमेंट के बारूदखाने को लेने का प्रयत्न किया गया, जिसके कारण उन्होंने खुला विद्रोह कर दिया। वे भागे, उनका पीछा किया गया, बहुत से काट डाले गए और शेष तितर-बितर होकर दिल्ली भाग चले और वहां ग़दर करने वालों के पास पहुंचे। सैनिक स्थान के एक दूसरे भाग में दो या तीन टुकड़ियों से शान्तिपूर्वक हथियार डलवा लिए गए थे और जब ब्रिगेडियर विल्सन की सेना दिल्ली के लिए चली तो उन्हें फिर हथियार दे दिए गए और वे उस छोटे सैनिक दस्ते के साथ गए। तब से उन्होंने अद्भुत रूप से अच्छा व्यवहार किया।" मेडले, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ५४-५५

१८. पारसी एक अपवाद थे।

अफगान पहरेदार थे। ग़दर के प्रारम्भिक दिनों में यह कहा गया था कि उपद्रव ऊंची जाति के हिन्दुओं ने करवाए हैं, इसलिए उनके सन्तुलन के लिए नीची जातियों से तथा आदिम जातियों से सिपाहियों को भर्ती करने का निश्चय किया गया। परन्तु पासी लोगों ने अवध में विद्रोही पंक्तियों को भर दिया और राजपूताना और मध्य-भारत में भील भी विद्रोहियों से मिल गए। सन्थालों ने तो एक बार और महाजनों को संरक्षण देने वाली सरकार के विरुद्ध लड़ने का निश्चय किया। कोई सम्प्रदाय, वर्ग या जाति विशेष पूर्ण-रूपेण सरकार के पक्ष या विपक्ष में नहीं थी। कुछ छिट-पुट अंग्रेज़ भी विद्रोहियों के पक्ष में पाए गए थे।[१९] "१५" और "४५" के स्काटलैंड के भूस्वामियों के समान रईसी परिवार अपनी सहानुभूतियों और विद्वेषों में विभक्त थे।[२०]

इसलिए इस संबंध में सावधानी बरती जानी चाहिए कि कहीं कार्य और कारण तथा विद्रोह और अराजकता को न गड़बड़ा दिया जाय। कानून को तोड़ने वाला प्रत्येक व्यक्ति आवश्यक रूप से देशभक्त रहा हो ऐसा तो नहीं था। जब प्रशासन अस्त-व्यस्त हो गया तो कानून विरोधी तत्वों की बन पड़ी। गूजर लोगों ने दोनों पक्षों को बिना भेद भाव के लूटा, यद्यपि उन्हें उस समय की राजनीति में कोई दिलचस्पी नहीं थी। पुराने झगड़े फिर जीवित हो गए और राजनीतिक सम्बन्धों का ध्यान किए बिना एक गांव दूसरे से लड़ने लगा।[२१] देहातों में और भी छोटी-मोटी घटनाएं हुईं जो मुख्य आन्दोलन की शाखा-प्रशाखाएं मात्र थीं, जिनसे उसे कुछ भी शक्ति प्राप्त नहीं हुई। सहारनपुर में बंजारों ने अपना एक अलग राजा बना लिया और गूजरों ने भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में अपने भिन्न-भिन्न राजा बना लिए।[२२] मथुरा जिले में देवीसिंह का एक विचित्र ही मामला था। उसके पूर्वजों के अधिकार में कुछ थोड़े से गांव थे और उसने इस ख्याल में आकर कि अंग्रेज़ी शासन समाप्त हो चुका है अपने को "चौदह गांवों का राजा" घोषित कर दिया। जब थार्नहिल इस विद्रोही सरदार को

---

१९. कूपर कहता है कि २८वीं देशी पैदल सेना विद्रोही सेना का एक सार्जेन्ट-मेजर ग़दर करने वालों से दिल्ली में मिल गया। कूपर, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १९७-९८। जनरल गफ़ ने दिल्ली में ग़दर करने वालों की पंक्तियों में गोर्डन नामक एक यूरोपीय के होने का उल्लेख किया है। गफ़, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १०८-११०। रीज़ ने भी कुछ ऐसे लोगों का निर्देश किया है जिनमें एक तरुण पुरुष भी था जिसका नाम वह नहीं लेना चाहता था। रीज़, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ७५-७६, ११६

२०. मैनपुरी का राजा तेजसिंह भी विद्रोह में शामिल हो गया। उसका चाचा राव भवानीसिंह अंग्रेज़ों के पक्ष में था। अकबराबाद के दो राजपूत जमीदार अंग्रेज़ों से लड़े जब कि उनका तीसरा भाई अंग्रेज़ी सेना में नौकरी करता था। गफ़, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १२५-२६

२१. एडवर्ड्स ने ऐसी पुकारों का या एक गांव या गांवों के गिरोह के द्वारा दूसरे गांव या गांवों के गिरोह पर आक्रमण करने का उल्लेख किया है। गांव वालों को हथियारबन्द रह कर आत्मरक्षा के लिए निगरानी रखनी पड़ती थी। एडवर्ड्स, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ४३

२२. सहारनपुर जिले में फतुवा नामक एक आदमी गूजरों का राजा घोषित कर दिया गया था। रावर्टसन, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १२०

पकड़ने गया तो उसे पता चला कि भयंकर राजा तो अधिक हानि करने में असमर्थ एक साधारण उजड्ड व्यक्ति मात्र था।[२३] गूजर और बंजारे राजा तथा चौदह गांवों का अधिपति, ये सब विद्रोह के उप-परिणाम थे। आंदोलन के द्वारा प्रदत्त अवसरों का उन्होंने अपने लाभ के लिए उपयोग किया, परन्तु उनके उद्देश्यों के साथ उन्होंने अपने आपको एकाकार नहीं किया। लूट-मार करने वाली जातियां अपने आप तो लूट-पाट करती ही थीं, ऐसे उदाहरणों की भी कमी नहीं है जबकि बदमाश और अभावग्रस्त आदमी लूट के माल को पाने के आकर्षण में विद्रोही सेना में मिल गए। महिमजी वाडी एक डकैत था और जब वह तात्या के सैन्य दलों में शामिल तो हुआ, लेकिन देश भक्ति की भावना से प्रेरित होकर नहीं।[२४] बैलसरे नामक एक महाराष्ट्रीय ब्राह्मण दक्षिण में अपने गांव-घर को इसलिए छोड़कर आया था कि वह अपनी तकदीर बना सके लेकिन अंततः वह विद्रोहियों के शिविर में आ पहुंचा।[२५] इन अनिश्चित तत्वों के लिए काफी गुंजाइश रखते हुए भी हम यह कह सकते हैं कि युद्ध के मुख्य क्षेत्रों में विद्रोह को साधारण जनता का समर्थन विभिन्न मात्रा में प्राप्त था और उसका विस्तार मोटे तौर पर पश्चिमी बिहार से लेकर पंजाब की पूर्वी सीमा तक था।[२६]

मद्रास की प्रेसीडेंसी आदि से अन्त तक आन्दोलन से अप्रभावित रही, यद्यपि सेना में बेचैनी के कुछ हल्के से लक्षण अवश्य देखे गए।[२७] शिक्षित समाज ने निर्बाध रूप से अपने को शान्ति और सुव्यवस्था के पक्ष में रखा और स्पष्ट शब्दों में उपद्रव की निन्दा की। बंगाल में सिपाहियों ने अपने स्थानों में उपद्रव किए, परन्तु उन्हें स्थानीय जनता से कोई सहानुभूति प्राप्त नहीं हुई। इसके विपरीत केवल एक साक्ष्य है जो एक पत्र के रूप

---

२३. थार्नहिल कहता है, "वह एक बहुत साधारण दिखाई देने वाला आदमी था जो दूसरे ग्रामीणों से सिर्फ इस बात में भिन्न था कि वह पीली पोशाक पहने हुए था।" फिर भी उसने एक स्वतन्त्र सर्वोच्च शासक का खिताब ग्रहण किया। "दयानिधान, अन्नदाता, वैभवागार, करुणानिधि, गरीब-निवाज, तेजस्वी, राजपुत्र, राजा महाराजा देवीसिंह, चौदह गांवों का अधिपति, युद्ध-विजयी।" थार्नहिल, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १०२-१०३

२४. पेशेवर डकैत महिमजी वाडी की कहानी वाई० के० देशपांडे ने अपने संस्मरणों में कही है।

२५. इस साहसिक व्यक्ति के पाण्डुलिपि-निबद्ध वर्णन के लिए मैं महामहोपाध्याय डी० वी० पोतदार का ऋणी हूं।

२६. मुलतान के क्षेत्र को छोड़कर।

२७. ११ ता० को शहर (हैदराबाद, दकन) और बाजार अफवाहों से विचलित हो रहे थे, जिनमें एक यह था कि सिकन्दराबाद का एक रेजीमेंट निश्चयतः अंग्रेज़ सरकार के विरुद्ध किसी विद्रोह में शामिल हो जाएगा। यह संकेत पहली मद्रास पैदल सेना की ओर था जिसने गत सहायता पहुंचाने के समय अभियान करने से इन्कार कर दिया था जब कि उसे ऐसा करने का आदेश दिया गया। इस समय उसके चाल-चलन की जांच हो रही थी'।" फ़ारेन सीक्रेट कन्सल्टेशन्स, संख्याएं २५१-२५४, १८ दिसम्बर, १८५७

में, जिसे ढाका के दो महत्वपूर्ण व्यक्तियों काली नारायण चौधरी और मुग़ल आग़ा गुलाम अली की ओर से भेजा गया बताया जाता था, प्राप्त है। इस पत्र में इन लोगों ने दावा किया है कि उन्होंने रेजीमेंटों की आर्थिक सहायता की है। परन्तु लेफ्टिनेंट-गवर्नर ने इसे एक फितरती आदमी के द्वारा की गई चालाक जालसाजी समझा, जिसका उद्देश्य "वर्तमान उपद्रवों से लाभ उठाकर अपनी शत्रुता का बदला लेने के लिए झूठे अभियोग लगाना अथवा जबर्दस्ती पैसा वसूल करना था। "इस बात की सूचना देने वाला आदमी भी कहीं चुप-चाप छिप गया और उसका पता लगाना कठिन हो गया।"[२८] कलकत्ता के शिक्षित नागरिक और बंगाल के भू-स्वामी रईस भी अपने वर्ग के मद्रासी लोगों के समान ग़दर की और ग़दर करने वाले लोगों की खुली निन्दा करने में पीछे नहीं रहे। उनकी राय में विद्रोह केवल सेना तक सीमित था और यह केवल मात्र सेना का एक ऐसा ग़दर था जैसे कि समय-समय पर प्रत्येक देश में अक्सर हुआ करते हैं।[२९] आसाम में मणिराम दत्त को फांसी दे दी गई और मधु मल्लिक नामक एक बंगाली को दस वर्ष की कैद की सजा दी गई। मधु मल्लिक के विरुद्ध यह अभियोग था कि उसने अन्तिम अहोम राजा के पौत्र कन्दर्पेश्वर सिंह के साथ राजद्रोहात्मक पत्र-व्यवहार किया और सिपाहियों की सहायता लेकर अपने पूर्वजों के राज्य को पुनः प्राप्त करने के लिए उसे उत्तेजित किया। जोरहाट के डिप्टी कमिश्नर मेजर हेलरायड के मणिराम से अच्छे सम्बन्ध नहीं थे और जिस साक्ष्य के आधार पर उस पर अभियोग लगाया गया था, वह यदि असन्तोषजनक नहीं तो कम से कम अपर्याप्त अवश्य था, विशेषतः उस हालत में जब कि हेलरायड अभियोक्ता और न्यायाधीश दोनों की हैसियत से काम कर रहा था।

उड़ीसा में सम्भलपुर के दो राजकुमार, सुरेन्द्र शाही और उदवन्त शाही, जो उस समय नजरबन्द थे, भाग निकले, परन्तु वे इस शर्त पर समर्पण करने को तैयार थे कि उन्हें बिना दण्ड दिए क्षमा कर दिया जायगा। उड़ीसा के सरदार साधारणतः सरकार के पक्ष में रहे। पोरहाट के राजा ने संकट उत्पन्न किया क्योंकि वह इस कारण रुष्ट था कि उसके ऊपर सरायकेला के राजा को तरजीह दे दी गई थी। बिहार एक अधिक सावधान विश्लेषण की अपेक्षा रखता है क्योंकि बिहार के कुंवर सिंह विद्रोह के एक अत्यन्त प्रमुख नेता थे।

---

२८. बंगाल सरकार के सचिव की ओर से भारत सरकार के विदेशी विभाग के स्थानापन्न सचिव को, दिनांक २५ मार्च, १८५८। फ़ारेन सीक्रेट कन्सल्टेशन्स संख्याएं ३७६-७९ तथा के० डबल्यू०, ३० अप्रैल, १८५८

२९. "विद्रोह मूल रूप से एक सैनिक विद्रोह है। यह एक लाख सिपाहियों का विद्रोह है।" दि म्यूटिनियर्स, दि गवर्नमेंट एण्ड दि पीपुल, पृ० ४। २२ मई, १८५७ को ब्रिटिश इण्डियन एसोसिएशन की समिति ने एक संकल्प पारित किया जिसमें मेरठ और दिल्ली के भारतीय सिपाहियों के अपयश से पूर्ण ग़दर करने वाले व्यवहार की निन्दा की गई थी। दिल्ली के पतन के बाद बर्दवान के महाराजा तथा २५०० दूसरे हस्ताक्षरकर्ताओं ने अंग्रेज़ी राज्य के लाभों का विस्तृत वर्णन करते हुए एक राजभक्तिपूर्ण अभिभाषण प्रस्तुत किया था।

शाहाबाद को छोड़कर शेष प्रान्त राज भक्त रहा। मुज़फ्फरपुर, छपरा, मोतीहारी और बढ़ को वस्तुतः यूरोपीय अधिकारियों ने छोड़ दिया था, परन्तु ये सभी जिले शान्त रहे। कमिश्नर सैमुअलस के मतानुसार भारत के निवासियों ने अद्भुत रूप से अच्छा व्यवहार किया। उसने सूचना दी है कि "बिहार के जिले में आबादी के एक बहुत बड़े भाग ने सोचा कि अंग्रेज़ी शासन समाप्ति पर आ गया है और अब हमें अपना प्रबन्ध स्वयं करना है, इसलिए वे लूट करने चल दिए।" बड़े-बड़े जमीदार न केवल अवैध कार्यवाहियों से दूर रहे बल्कि उन्होंने सरकार की धन और जन से सहायता भी की। सोनपुर का बड़ा मेला शान्तिपूर्वक सम्पन्न हुआ और उसमें लेफ्टिनेंट-गवर्नर ने कहा, "विद्रोह करने के लिए कोई संगठित षड्यन्त्र नहीं हुआ। इन्हीं जिलों से भर्ती किए हुए सिपाहियों ने वस्तुतः ग़दर करने वालों का सामना किया है और उन्हें परास्त किया है।" छोटा नागपुर में आदिम जातियों के एक छोटे और असन्तुष्ट भाग और उनके मुखियाओं तक उपद्रव सीमित था और अंग्रेजों के प्रति विमुखता के कारण जितने उपद्रव हुए उतने ही व्यक्तिगत शत्रुता के कारण हुए। केवल कुंवर सिंह के क्षेत्र में ही विद्रोहियों को जनता की विश्वस्तता से संरक्षण मिला। यह अन्दाज लगाना कठिन नहीं है कि शाहाबाद का किसान इस राजपूत वीर के प्रति अपने व्यक्तिगत भक्ति-भाव से जितना प्रेरित था, उतना संभवतः आंदोलन के उद्देश्य से नहीं।

बम्बई प्रेसीडेंसी में सतारा, कोल्हापुर, नरगुंड में और सावन्तवाडी जिले में विद्रोह हुए। यह लक्ष्य करने योग्य है कि सतारा में विद्रोह के लिए आह्वान किसी उच्चकुलीन मराठा की ओर से नहीं बल्कि एक हिन्दुस्तानी चपरासी की ओर से आया।[३०] बम्बई में पुलिस कमिश्नर फ़ोरजेट ने एक षड्यन्त्र का पता लगाया और उसे वहीं समाप्त कर दिया। इस प्रकार कहीं-कहीं असन्तोष व साधारण प्रदर्शनों के बाद महाराष्ट्र फिर अपनी अभ्यस्त शान्ति की अवस्था में आ गया। यह वास्तव में एक आश्चर्य की बात थी कि पेशवा को अपने प्रान्त में ही इतना कम समर्थन मिला।

उत्तर-पश्चिमी प्रान्त, अवध और रुहेलखण्ड में, विद्रोह को सबसे अधिक सफलता मिली। परन्तु रुहेलखण्ड में, जहां करीब एक साल से अंग्रेज़ी शासन नहीं था, आंदोलन को बिजनौर और मुरादाबाद में कोई ठोस समर्थन नहीं मिला। हम देख चुके हैं कि किस प्रकार नजीबाबाद का नवाब हिन्दू जमीदारों द्वारा बिजनौर से निकाल बाहर किया गया था और जिला कुछ समय तक अंग्रेज़ों की ओर से सैयद अहमद के हाथों में रहा। इस समय में वहां उनकी सैनिक शक्ति लगभग नहीं के बराबर थी। इससे यह निष्कर्ष निकालना अनुचित न होगा कि इस जिले की साधारण जनता विद्रोह के पक्ष में न थी

३०. बम्बई देशी पैदल सेना की २२वीं रेजीमेंट को विद्रोह के लिए फुसलाने के प्रयत्न के अभियोग में जिस हिन्दुस्तानी चपरासी को फांसी पर लटकाया गया, उसने फांसी के तख्ते से दर्शकों को सम्बोधन करते हुए कहा, "यदि वे हिन्दुओं और मुसलमानों की सन्तान हैं तो वे विद्रोह करेंगे। यदि वे ईसाइयों की सन्तान हैं तो चुपचाप बैठे रहेंगे। "फ़ारेन सीक्रेट कन्सल्टेशन्स, संख्या ६३४, २५ सितम्बर, १८५७

और वहां आंदोलन ने बिगड़ कर एक साम्प्रदायिक झगड़े का रूप ले लिया था। मुरादाबाद लगभग पूरी तरह रामपुर के राजभक्त नवाब के नियंत्रण में था। प्रान्त के शेष भाग में भी नया शासन लोक-प्रिय नहीं हो सका, यद्यपि ख़ान बहादुर ख़ां ने हिन्दुओं को प्रसन्न करने के लिए ईमानदारी से प्रयत्न किए। यह ठीक है कि उसने चालीस हजार सैनिक भर्ती लिए थे परन्तु दुर्गादास बंद्योपाध्याय का कहना है कि रंगरूट काम पर लगने की आशा से आकृष्ट हुए थे और किसी उद्देश्य विशेष के लिए उनमें उत्साह नहीं था। हजारों आदमियों के झुण्ड काम मिलने की आशा से ही अंग्रेज़ों के शिविर के पास भी इकट्ठे हो गए थे। साधारण आदमियों को जहां कहीं काम मिलने की आशा होती थी, वे वहीं चले जाते थे। उत्तर-पश्चिमी प्रान्त में बहुत से प्रभावशाली जमींदारों ने ग़दर करने वाले लोगों के साथ समान उद्देश्य बना लिया जबकि उनके बहुत से साथी अपने विदेशी स्वामियों के प्रति वफादार बने रहे। यदि मैनपुरी का राजा हानि की भावना से पीड़ित होकर विद्रोह में शामिल हो गया तो पृथ्वीपाल सिंह (रसेल का प्रेटी पोल) भी अपनी सेवाएं सरकार को समर्पित करने के लिए उतना ही तैयार था। मेरठ और सहारनपुर के जिलों से अंग्रेज़ों का पूर्ण नियंत्रण कभी नहीं हटा। पोलव्हील की पराजय के दो दिन बाद आगरा के धनवान नागरिकों ने लेफ्टिनेंट-गवर्नर की सेवा में उपस्थित होकर अपनी सद्भावनाओं का प्रदर्शन किया। अपनी राजभक्ति के प्रदर्शन में वे भले ही ईमानदार न रहे हों, परन्तु यह निश्चित था कि वे दूसरे पक्ष में सम्मिलित नहीं थे। यदि शहर के मुख्य व्यापारी जोतीप्रसाद ने सहायता न की होती तो सरकार के लिए आवश्यक सामग्री का प्राप्त करना असम्भव हो जाता। दिल्ली के समीप के गांवों की निष्ठा विभक्त थी। रेक्स का दावा था कि उसे "मई, १८५७ में मैनपुरी के लोगों की सद्भावनाओं में विश्वास था।" उसने आगे लिखा है, "मिस्टर फ़िलिप्स और मिस्टर ब्रामले ने, जो दोनों काफी बड़े रुतबे और अनुभव के असैनिक अधिकारी थे, दोआब में फ़र्रुखाबाद और एटा से तथा रुहेलखण्ड में बदायूं से केवल तीन या चार घुड़सवारों के रक्षक-दल के साथ यात्रा की और वे १० जून को आगरा पहुंचे।" "इसी जून के पूरे महीने के अन्दर मैनपुरी के न्यायाधीश मि० आर्थर काक्स, अलीगढ़ के मैजिस्ट्रेट मिस्टर वाटसन, डा० क्लार्क, असैनिक सेवा के तरुण मिस्टर ऊटरम, मिस्टर हर्बर्ट हैरिंगटन और कुछ अन्य थोड़े आदमियों ने अलीगढ़ में या उसके आस-पास ग़दर में उस सैनिक-स्थान के विनष्ट कर दिए जाने के बाद भी वीरतापूर्वक अपनी स्थिति को बनाए रखा। देश के लोग चूंकि हमारे साथ थे, हमारे विरुद्ध नहीं, इसीलिए मुट्ठी भर इन स्वयंसेवक घुड़सवारों के लिए यह सम्भव हो सका कि वे उन झुण्ड के झुण्ड विद्रोहियों के बीच अपनी स्थिति को कायम रख सके जो दिल्ली को जाने वाली ग्रांड ट्रंक सड़क पर होकर चले जा रहे थे।"[३१] ग़दर के प्रारम्भिक दिनों में कैप्टन सैनफ़र्ड ने मेरठ से अम्बाला तक की यात्रा और हाडसन अम्बाला से मेरठ तक घोड़े पर चढ़ कर गया और इन लोगों के साथ बहुत थोड़े से ही अनुचर-वृन्द थे। इससे यह सिद्ध होता है कि इन स्थानों के बीच का समस्त क्षेत्र अंग्रेज़ों के विरुद्ध नहीं था।

---

३१. रेक्स, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १५६-५७

सन् १८५८ के प्रारम्भिक महीनों में मेडले ने दिल्ली से कानपुर तक की यात्रा की और उसे कोई हानि नहीं हुई, "यद्यपि सड़क सुरक्षित नहीं थी क्योंकि नाना का भाई और उसके करीब ५०० अनुयायी कालपी जाने के लिए उसे पार कर रहे थे।" उसने दिल्ली से मसूरी तक और मसूरी से आगरा तक भी पूर्ण सुरक्षित रूप से यात्रा की थी।[३२] परन्तु इससे रेक्स के समान इस परिणाम पर आना उचित न होगा कि चूंकि अंग्रेज लोगों की छोटी टोलियां ग्रामीण क्षेत्र को अपने लिए अरक्षित नहीं पाती थीं, इसलिए उस क्षेत्र के निवासी आवश्यक रूप से सरकार के प्रति राजभक्त थे। जिस निष्कर्ष पर हम निर्भय रूप से पहुंच सकते हैं, वह यह है कि लोग इतने अधिक उदासीन और उपेक्षावान थे कि वे किसी एक ओर निश्चयपूर्वक अपने आपको बद्ध करना नहीं चाहते थे। बंगाल और मद्रास जैसे प्रांतों में भी, जहां उपद्रव नहीं हुए, लोगों में एक निष्क्रिय विद्रोह की भावना थी, जो अंग्रेजों की पराजय की प्रत्येक खबर को सुनकर प्रसन्न होती थी। यही कारण था कि क्रीमिया और फारस की खबरों ने भारत में इतनी उत्तेजना और रुचि उत्पन्न की। डा० अलेक्जेंडर डफ़ शिक्षित भारतीयों से घनिष्ठ रूप से मिला-जुला था। उन्होंने भारतीयों की भावनाओं का सही रूप से विश्लेषण करते हुए लिखा है, "बंगाली लोगों की एक बहुत बड़ी संख्या अब भी इस मामले को एक अहेतुक उदासीनता के साथ देखती है। उनके बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि वे राजभक्त हैं या राज-विरोधी, यद्यपि उनमें से लाखों के हृदय में असन्तोष गहरे रूप से घर किए हुए है। इसमें सन्देह नहीं कि इसके साथ ही उसमें से बहुत से लोग हमारे शासन की ओर अच्छी दृष्टि रखते हैं, परन्तु इसे हम यदि अनुराग कहें तो भ्रामक ही होगा।"[३३]

सन् १८५७ के आन्दोलन की लोक-प्रियता का आकलन करने में हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि किसी विद्रोह या क्रान्ति में एक संकल्पवान अल्प संख्या ही क्रियात्मक भाग लेती है जबकि प्रचुर बहुसंख्या उदासीन रहती है और निहित स्वार्थ वाला एक भाग कदाचित वर्तमान व्यवस्था के साथ अपने को खुले रूप में एकाकार कर लेता है। किसी विद्रोह को कहीं भी सम्पूर्ण समर्थन नहीं मिला। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका ने जब स्वाधीनता प्राप्त की तो वहां राजभक्तों का एक शक्तिशाली दल था जो कनाडा चले जाना अधिक पसन्द करता था। क्रान्तिकारी फ्रांस में भी राजभक्तों की कमी नहीं थी। "१५" और "४५" में स्टुअर्ट राजाओं के उद्देश्य ने ब्रिटिश द्वीप-समूह में कोई अपर्याप्त समर्थन नहीं प्राप्त किया था। यदि एक सारवान बहुसंख्या किसी आन्दोलन के मुख्य उद्देश्य से सहानुभूति रखती है तो वह आन्दोलन एक राष्ट्रीय स्थिति का दावा कर सकता है, फिर चाहे उसे सार्वत्रिक क्रियात्मक समर्थन प्राप्त न हो। अवध और शाहाबाद के बाहर ऐसी सामान्य सहानुभूति का कोई साक्ष्य नहीं मिलता, जिससे ग़दर को एक राष्ट्रीय युद्ध की गरिमा से युक्त किया जा सके। इसके साथ ही इसे केवल एक सैनिक विद्रोह कह कर समाप्त कर देना भी गलत होगा। ग़दर एक विद्रोह हो गया और उसने उस समय एक राजनीतिक

३२. मेडले, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १२०-२४, १४६

३३. डफ़, दि इण्डियन रिबेलियन, इट्स काज़ेज़ एण्ड रिज़ल्ट्स, पृ० १८०

स्वरूप धारण कर लिया। जब मेरठ के ग़दर करने वालों ने अपने आपको दिल्ली के बादशाह के अधीन रख दिया और भू-स्वामी रईसों तथा असैनिक आबादी के एक भाग में उसके पक्ष में घोषणा की। जिस आन्दोलन का प्रारम्भ धर्म के लिए लड़ाई के रूप में हुआ था, उसी का अन्त स्वाधीनता के लिए युद्ध के रूप में हुआ और इसमें रंच मात्र भी सन्देह नहीं है कि विद्रोही विदेशी शासन से मुक्ति प्राप्त करना चाहते थे और वे उस पुरानी व्यवस्था को पुनः संस्थापित करना चाहते थे, जिसका दिल्ली का बादशाह न्यायपूर्ण प्रतिनिधि था।

अवध में विद्रोह ने राष्ट्रीय स्वरूप प्राप्त कर लिया, यद्यपि इस शब्द का प्रयोग एक सीमित अर्थ में ही समझना चाहिए; क्योंकि भारतीय राष्ट्रीयता का विचार अभी अपनी प्रारम्भिक अवस्था में ही था। एक पंजाबी के लिए एक हिन्दुस्तानी अभी अपरिचित ही था और बहुत कम बंगाली यह अनुभव करते थे कि वे उसी राष्ट्र के हैं जिसके महाराष्ट्रीय लोग। इसी प्रकार मध्यवर्ती-भारत और राजपूताना के लोग दक्षिण भारत के लोगों के साथ किसी प्रकार की बन्धुता का सम्बन्ध नहीं मानते थे। हां, दासता की एकता ने विभिन्न प्रकार की अस्पष्ट एकता को एक अवश्य उत्पन्न किया था, परन्तु इस विचार ने अभी समान्यतः समाज में जड़ें नहीं जमाई थीं। परन्तु फिर भी जातीय, धार्मिक और भाषात्मक भेदों के होते हुए भी भारतीय जनता यह अनुभव अवश्य करती थी कि अंग्रेजों के विपरीत उसमें कुछ साम्य है। यही कारण है कि एक राजपूत चारण को भरतपुर की जाट-विजय में अपनी कविता के अनुरूप एक विषय मिला और बुन्देले लोगों ने नेपाल में अंग्रेजों की विपत्ति पर प्रसन्नता मनाई। राज्यक्षेत्रीय देशभक्ति के अभाव में धर्म एक महान बल है, यही कारण है कि सन् १८५७ में सभी जीवन-क्षेत्र के लोगों ने धर्म की रक्षा में सिपाहियों का साथ दिया। अवध के सामन्तों ने अपने काश्तकारों को न केवल धर्म के नाम पर बल्कि उनके राजा के नाम पर भी बुलाया। उनके राजा को गद्दी से अन्यायपूर्वक हटा दिया गया था और उनके देश को बलपूर्वक अंग्रेज़ी राज्य में मिला लिया गया था। इस प्रकार उन्हें न केवल एक राजनीतिक शिकायत दूर करने का उपाय करना था बल्कि एक नैतिक अन्याय का भी प्रतिकार करना था। जैसा मुहम्मद हसन ने बताया, अवध के सरदारों की दृष्टि में अंग्रेज आक्रमणकारी थे और सामन्त लोग अनुभव करते थे कि वे अपने धर्म के साथ-साथ अपने राजा के लिए भी लड़ रहे हैं। सामन्ती भक्ति एक समय देशभक्ति का काम करती थी और लोगों की एक प्रचुर बहुसंख्या की भावनाएं प्रायः वही होती थीं जो उनके मुखिया लोगों की। यह सत्य है कि इसमें अपवाद भी थे। उदाहरणतः बलरामपुर और शाहगंज के राजाओं के ऐसे सरदार भी थे, जो या तो अपने नए स्वामियों के प्रति स्वामिभक्ति की भावना के कारण या इस विश्वास के कारण कि वे अन्त में जीतेंगे, सरकार का साथ देना ही अपने लिए अनुकूल समझते थे। उन्हें उनके व्यवहारिक ज्ञान के लिए प्रभूत पुरस्कार भी दिए गए। वेणी माधव, देवीबख्श जैसे देशभक्त नेता दृढ़तापूर्वक कर्तव्य-मार्ग पर चले, भले ही उनका अन्त मृत्यु में हुआ हो। इन नेताओं के प्रति जनता जो आदर-भाव रखती थी उसके असन्दिग्ध साक्ष्य को रसेल ने शंकरपुर के पतन के बाद "चारों ओर के ग्रामीणों के उदास चेहरों में" देखा।

अवध के देशभक्त अपने राजा और देश के लिए लड़े, परन्तु वे स्वतन्त्रता के समर्थक नहीं थे, क्योंकि वैयक्तिक स्वतंत्रता की कोई धारणा उनके सम्मुख नहीं थी। इसके विपरीत यदि उनका वश चलता तो वे पुरानी व्यवस्था को पुनर्जीवित करते और उस सबको प्रस्थापित करते जिसकी कि वह व्यवस्था प्रतिनिधि थी। अंग्रेज़ सरकार ने अदृश्य रूप से एक सामाजिक क्रान्ति कर दी थी। उसने स्त्रियों की कुछ असमर्थताओं को हटाया था, उसने कानून की दृष्टि में मनुष्यों की समानता स्थापित करने का प्रयत्न किया था और किसान और आसामी के भाग्य को सुधारने का भी प्रयत्न किया था। ग़दर के नेता किये धरे पर पानी फेर देते। नई व्यवस्था के साथ वे नए सुधारों को भी समाप्त कर देते और उन पुराने दिनों की व्यवस्था पर वापस चले जाते जब एक साधारण आदमी एक उच्च कुलीन व्यक्ति के साथ बराबर न्याय पाने की आशा नहीं कर सकता था, जब काश्तकार ताल्लुकेदारों की कृपा के भिक्षुक बन कर रहते थे और जब चोरी का दण्ड अंगच्छेदन था। संक्षेप में, ये लोग एक प्रति-क्रान्ति चाहते थे। सैनिक विजय से यह उन्हें निश्चय ही प्राप्त हो जाती या नहीं, यह एक दूसरा ही प्रश्न है।

ग़दर गोरे और काले लोगों के बीच एक युद्ध भी नहीं था। भारत में सभी गोरे अपने मूल देश का विचार भेद किए बिना निश्चय ही एक और पंक्तिबद्ध थे, परन्तु काले लोगों में ऐसा नहीं था। जैसा कि मेडले ने बताया है, "वस्तुतः (शिविरानुचरों की गिनती करके) शिविर में प्रत्येक गोरे आदमी के पीछे बीस काले आदमी थे"[३४] और शिविर-अनुचरों की सहायता के बिना गोरे सैन्य दल बिल्कुल निष्क्रिय हो गए होते। भयंकरतम आग में गोरे सिपाही के लिए भोजन लाने वाला बवर्ची भारतीय ही होता था और प्रगाढ़ लड़ाई में भारतीय भिश्ती ही उसे पानी लाकर पिलाता था। खतरे के क्षेत्र में घायल हुए सिपाहियों को वहां से डोली में रख कर ले जाने वाला भी भारतीय होता था और उनके साधारण आराम की देखभाल भी भारतीय सेवक ही करते थे।[३५] यदि उन लोगों को हम छोड़ दें, जिन्होंने युद्ध में भाग नहीं लिया था, तो भी जिस सेना ने ग़दर को दबाया उसमें भारतीय सिपाहियों का एक ऊंचा अनुपात था। दिल्ली के सामने ११,२०० क्रियात्मक सैन्य दलों के जवानों में से कम से कम ७,९०० भारतीय थे।[३६] इस प्रकार यह एक ऐसा युद्ध

३४. मेडले, उद्धृत ग्रन्थ पृ० ६५

३५. मेडले कहता है, "कुछ हालतों में अंग्रेज़ सिपाही एक भव्य साथी है। उसे अच्छा खाना खिलाओ, अधिक काम न लो, अधिक मार्च न कराओ और उसे खुले मैदान में ले जाओ तो उसके विरुद्ध चाहे जितनी संख्या में शत्रु हों वह उन्हें मार भगायेगा, जब तक कि अवस्था उसके बिल्कुल ही विपरीत और निराशाजनक न हो जाए, मगर उस अवस्था में भी वह अपना सर्वोत्तम प्रयत्न करेगा। परन्तु एक लम्बे और थकाने वाले युद्ध में, जो एक विदेश में और एक आजमाने वाली जलवायु में हो रहा हो, वह बहुत असहाय अनुभव करने लगता है।" मेडले, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० २०६

३६. इनस, 'दि सिपाय रिवोल्ट, पृ० १४६। लार्ड क्लाइड के अन्तिम युद्ध के समय उसकी कमान के नीचे अंग्रेज़ी सैन्य दलों के ८०,००० जवान थे "परन्तु इस समय

था जिसमें एक ओर काले विद्रोही थे और गोरे शासक जिन्हें दूसरे काले लोगों का समर्थन प्राप्त था। यह एक ऐसा मामला था जिसमें अपने समान स्वामी के निरीक्षण में एक दास अपने साथी दूसरे की बेड़ियों को दृढ़तापूर्वक बांध रहा हो।

१८५७ के युद्ध में नैतिक प्रश्न सन्निहित नहीं थे। जैसा दूसरे युद्धों में होता है, सत्य सबसे पहले हत हुआ और दोनों पक्ष झूठे प्रचार के लिए अपराधी थे। इतना समय बीत जाने पर हमारे लिए यह निश्चय करना आज सम्भव नहीं है कि यह जान-बूझकर किया गया था या उत्तरदायी पक्षों को यह ईमानदारीपूर्वक विश्वास था कि उनकी सूचना सच्ची थी। इस संघर्ष को, जैसा कि रीज़ का भी मत है, "ईसाइयों के विरुद्ध धर्मान्ध लोगों का युद्ध" कहा जा सकता है, परन्तु ग़दर के दौरान में लड़ने वालों के ऊपर उनके अपने अपने धर्मों में अन्तर्हित नैतिक सिद्धान्तों का कुछ भी प्रभाव न था। दोनों ही युद्धरत पक्ष नैतिक उल्लंघनों को हल्का करने के लिए अपने-अपने शास्त्रों से उद्धरण दे रहे थे। ईसाई लोगों ने विजय प्राप्त कर ली थी, परन्तु ईसाई धर्म ने नहीं। हिन्दू और मुसलमान पराजित हुए थे परन्तु उनके अपने-अपने धर्म नहीं। पाश्चात्य विज्ञान के समान ईसाई धर्म ने भी भारतीयों के मन पर प्रभाव डाला, परन्तु ईसाई धर्मोपदेशकों को अपने धर्म-परिवर्तन के काम में कोई उल्लेखनीय सफलता नहीं मिली।

१८५७ का युद्ध बर्बरता और सभ्यता के बीच एक संघर्ष भी नहीं था, क्योंकि किसी भी पक्ष ने उस एक भी बन्धन का पालन नहीं किया, जिसे मानवता ने लगाया है और जिसका सम्मान करने के लिए पूर्वी और पश्चिमी राष्ट्रों ने मौन स्वीकृति दी है। घृणा और भय से उन्मत्त लोगों की यह एक अमानवीय लड़ाई थी। क्रुद्ध सिपाहियों ने युद्ध में भाग न लेने वाले लोगों की भी उतनी ही दुर्गति की जितनी हथियार लेकर लड़ने वालों की। उस बर्बर निर्दयता से आयु अथवा स्त्री-पुरुष भेद कोई सुरक्षा प्रदान नहीं करते थे और मृत्यु भी जंगली अपमान से मुक्ति नहीं दिलाती थी। उन बुरे दिनों की स्मृति को फिर से जगाना वांछनीय नहीं जान पड़ता, परन्तु इतिहास को इस बात का लेखा प्रस्तुत करना चाहिए कि किस प्रकार युद्ध मानवीय चरित्र को हीन करता है और सभ्यता का वह अवगुण्ठन, जिसे हम पहने हुए हैं कितना क्षीण है तथा कितनी सरलता से हमारी सोई हुई पाशविक वृत्तियां जाग पड़ती हैं और क्या हिन्दू, क्या मुसलमान तथा क्या ईसाई सब के सब समान रूप से उस आदिम युगीन बर्बरता के शिकार हो जाते हैं, जिससे धर्म और सभ्यता ने उनके पूर्वजों को प्रकट रूप से उबारा था।

यह स्वीकार किया जाना चाहिए कि अंग्रेज़ लोग अपने साथियों के वध, बच्चों की हत्या, और स्त्रियों के अपमान की निर्दय कहानियों से पागल हो उठे थे। इन भयंकर कहानियों के स्रोतों की जांच के लिए वे नहीं ठहरे और असन्दिग्ध चरित्र के पुरुष भी अपनी क्षणिक भावना के अधीन हो गए और उन्होंने उन कहानियों के विस्तृत प्रचार में सहायता दी। धर्म के पवित्र क्षेत्र में कार्य करने वाले लोग भी भूल गए कि बदला ईश्वर

तक अकेले पंजाब से ही भर्ती किए गए जवानों की संख्या इससे मुकाबला करने लगी थी।"
इनस, 'लखनऊ एण्ड अवध इन दि म्यूटिनी', पृ० ३०७

के हाथ में था और वे मंच पर खड़े होकर बदले की मांग करने लगे। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं थी कि गोरा आदमी बदले के लिए प्यासा था। गुड़गांव के सहायक कलक्टर क्लिफ़र्ड ने सुना था कि उसकी बहन को और कुमारी जेनिंग्स को "महल में नंगा कर दिया गया और उसी अवस्था में उनको तोपों को ले जाने वाली गाड़ियों के पहियों में बांधा गया था और दिल्ली के चांदनी चौक में घसीट कर ले जाया गया था और वहां बादशाह के पुत्रों की उपस्थिति में उन्हें टुकड़े-टुकड़े कर काट डाला गया था।" क्लिफ़र्ड "के मन में यह बात भी थी कि उसकी बहन का वध होने से पूर्व उसके साथ बलात्कार भी किया गया था।" इसलिए स्वभावतः वह बदले के अतिरिक्त और कुछ सोच भी नहीं सकता था और जब दिल्ली का पतन हुआ तो उसने ग्रिफ़िथ्स से कहा कि, "जो भी उसके सामने आया उसको उसने मरवाया और स्त्रियों और बच्चों को भी नहीं छोड़ा।"[३७] इससे भी एक बुरी कहानी बंगलौर से सुनी गई, परन्तु वह दिल्ली के सम्बन्ध में थी। यह खबर दी गई थी कि ४८ स्त्रियों को, जिनमें से अधिकतर दस से चौदह वर्ष तक की लड़कियां थीं, नंगी कर दिल्ली की गलियों में घुमाया गया, उनके साथ दिन में बलात्कार किया गया और फिर उन्हें निर्दयतापूर्वक मार डाला गया। बाद की खोजों से यह सिद्ध हुआ कि कुमारी क्लिफ़र्ड और कुमारी जेनिंग्स की हत्या महल में उनके कमरे में की गई थी, और उनके साथ अपमान का कोई व्यवहार नहीं किया गया और लेकी ने ४८ स्त्रियों की कहानी को 'फ़िक्शन्स कनेक्टेड विद दि इंडियन आउटब्रेक' की काल्पनिक कहानियों में शुमार किया रखा।[३८] विलबरफ़ोर्स ने एक ऐसी महिला की कहानी को दूसरे लोगों तक पहुंचाया जो एक कप्तान की पत्नी थी और मेरठ और दिल्ली के ग़दर करने वालों ने जिसे जीवित अवस्था में घी में उबाल दिया था।[३९] मेजेण्डी ने बच्चों के सूली पर चढ़ाये जाने के बारे में लिखा है[४०] और इससे अधिक निर्दय अत्याचारों की दूसरी कहानियां इंग्लैंड में और भारत में ब्रिटिश शिविर में प्रचलित हो गई।

जब अंग्रेज़ लोगों की विजय का अवसर आया तो जलाने और फांसी लगाने के लिए अभियान साधारण दिनचर्या बन गए और निरपराध और अपराधी में कोई भेद नहीं किया जाने लगा। कैप्टन ओलिवर जोन्स ने कहा "इन विपत्तिग्रस्त किसानों पर गोली चलाना और उन्हें मारना एक दुखद काम है जबकि अधिक क्रियात्मक धूर्त जिन्होंने अत्याचार किये थे, बच कर निकल जाते हैं। परन्तु नीच युद्ध सदा ऐसा ही होता है और ऐसी ही क्रूर उसकी आवश्यकताएं भी होती हैं।"[४१] रसेल ने रेनो के जवानों द्वारा बिना किसी भेद-भाव के की गई मार-काट के बारे में उसके सैनिक दस्ते से सम्बद्ध एक अधिकारी से सुना।

---

३७. ग्रिफ़िथ्स, उद्धृत ग्रन्थ पृ० ६६-६७

३८. एडवर्ड लेकी, फ़िक्शन्स कनेक्टेड विद दि इण्डियन आउटब्रेक, पृ० १२३ से आगे।

३९. विल्बरफ़ोर्स, एन अनरिकार्डेड चैप्टर आफ़ दि इण्डियन म्यूटिनी, पृ० २३

४०. मेजेण्डी, पृ० २२५

४१. जोन्स, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ४६

"पंक्ति में चलते हुए देशी लोगों को फांसी पर लटकवाना अन्तिम सीमा का अविवेकपूर्ण कृत्य था। जिस अधिकारी की कमान में यह काम हो रहा था वह नील का अनुकरण कर रहा था और उसका विचार था कि इस कार्य को वह नील के समान ही उत्साहपूर्वक पूरा कर सकता है। दो दिन में ४२ आदमी सड़क के किनारे फांसी पर चढ़ा दिए गए और बारह आदमियों को इसलिए फांसी लगा दी गई कि जब वे चल रहे थे तो उनके चेहरे 'गलत दिशा में मुड़े हुए थे'। जो भी गांव उसके सामने आए उन्हें उसने पड़ाव डालते समय जला दिया। ये अत्याचार कानपुर के हत्याकाण्ड की बिनाह पर उचित नहीं ठहराये जा सकते थे, क्योंकि ये उस पैशाचिक कृत्य से पूर्व हुए।[४२] "रसेल जान-बूझ कर की गई नृशंसता का एक और उदाहरण देता है, जो दिखाता है कि युद्ध एक आदमी को, जो सामान्य परिस्थितियों में एक सभ्य पुरुष के साधारण गुणों से रहित नहीं होता, किस प्रकर पशु बना देता है। यह घटना लखनऊ की है, "बन्दूकधारी सिपाहियों के दरवाजे तक चले जाने के बाद एक कश्मीरी लड़का एक अन्धे और बुड्ढे आदमी को लेकर चौकी पर आया और अधिकारी के पैरों पर गिरकर उससे रक्षा की प्रार्थना करने लगा। उस अधिकारी ने, जैसा मुझे उसके साथियों ने सूचित किया, अपना रिवाल्वर निकाला और विपत्तिग्रस्त प्रार्थी के सिर पर उसे लगाया। आदमी चिल्लाकर उससे 'शर्म' कहने लगे। फिर उसने घोड़ा दबाया, परन्तु रिवाल्वर नहीं चला। तीन बार उसने प्रयत्न किया, परन्तु रिवाल्वर नहीं चला, मानो तीन बार उसे दया दिखाने का अवकाश था। चौथी बार वह सूरमा अधिकारी सफल हुआ और लड़के का रक्त उसके पैरों पर बह निकला और उसके आदमी चिल्ला-चिल्लाकर अपना रोष प्रकट कर रहे थे।"[४३] मेजेण्डी यातना देने के एक ऐसे मामले के बारे में लिखता है जिसे देखकर आत्मा विद्रोह कर उठती है और जिसके समान उदाहरण ग़दर के नृशंस इतिहास में नहीं मिलता। यह उस समय हुआ जब लखनऊ के पीले बंगले पर अधिकार किया गया। इसी बंगले में एक सिख रेजीमेंट के लोकप्रिय तरुण अधिकारी एण्डरसन की जान गई थी। "अपने अधिकारी की मृत्यु से अत्यन्त क्रुद्ध होकर सिख (मुझे खेद है कि कुछ अंग्रेज-लोगों ने भी इनकी सहायता की) इस अकेले अभागे से बदला लेने के लिए आगे बढ़े। उन्होंने उसकी दोनों टांगें पकड़ कर उसे दो भागों में चीरने का प्रयत्न किया। इसमें सफल न होने पर उन्होंने उसे पैरों से घसीटा और चलते हुए उन्होंने अपनी संगीनों को उसके चेहरे में भोंका। मैंने उस गरीब अभागे को अत्यधिक पीड़ा में तड़पते देखा जबकि उस पर चोटें पड़ रही थीं। उसके कटे हुए और दबोचे हुए शरीर में जब उसके पकड़ने वाले अपनी संगीनों को घुसेड़ रहे थे तो उसका कराहना मुझे सुनाई पड़ रहा था। जिस धरती पर वह घसीट कर ले जाया जा रहा था उसके रेत पर पड़ा हुआ उसका खून उसे रक्तवर्ण बना रहा था। परन्तु सबसे बुरी बात अभी होनी बाकी थी। यद्यपि अनेक घावों के कारण वह निर्बल और बेहोश था, परन्तु उसमें जान बाकी थी। इसी अवस्था में उन्होंने उसे जान-बूझ कर सूखी लकड़ियों की

४२. रसेल, उद्धृत ग्रंथ, जिल्द २ पृ० ४०२

४३. वही, जिल्द १, पृ० ३४८

धीमी आग के ऊपर रख दिया जिसे इसी उद्देश्य के लिये तैयार किया गया था। वे उसे आग के ऊपर लटकाए रहे और वह मृत्यु से संघर्ष करता रहा। ये संघर्ष प्रति क्षण निर्बल और धीमे पड़ते गए। उसमें बेहोशी और निष्फल हतोत्साह था और वह एक दर्दनाक दृश्य था। जब यह भयंकर कृत्य किया जा रहा था तो एक बार वह अभागा पीड़ा से उन्मत्त होकर अपने पीड़ादायकों से भाग निकला और चूंकि वह भयंकर रूप से जल चुका था इसलिये थोड़ी दूर ही भाग सका। वे उसे पकड़कर वापस ले आये और फिर उसे उसी आग पर रख दिया और तब तक रखे रहे जब तक उसके प्राण पखेरू उड़ नहीं गए।"[४४] विजित और विजेता के बीच इस युद्ध ने, जो जाति और धर्म के भेदों से और अधिक कटु बन गया था, भारतीय और अंग्रेज दोनों में सभ्यता और मानवता के सब निशानों को मिटा दिया। रसेल कहता है कि लखनऊ में स्त्रियां भी उन अन्यतम अपमानों से नहीं बच पाईं जो कि किये जा सकते हैं।[४५] परन्तु संतोष की एक बात यह थी कि दोनों शिविरों में ऐसे भी आदमी थे जो इन बर्बरताओं से घृणा करते थे। मृत्युदण्ड प्राप्त विद्रोहियों के लिए नील की धार्मिकता ने एक घृणाजनक पोशाक निश्चित की थी जिसे क्लाइड ने बन्द करवा दिया। सेना का हेनरी मेटकाफ़ नामक एक व्यक्ति भी, जो सैनिक अधिकारी नहीं था, उन ग्रामीणों को जो हथियार छिपाने के स्थानों के संबंध में अपनी अनभिज्ञता प्रकट करते थे, कोड़े लगाये जाने का समर्थक नहीं था।[४६] शहज़ादा फ़ीरोज़ शाह स्त्रियों और बच्चों के वध को अनुकूलता की दृष्टि से नहीं देखता था और उसे केवल एक जुर्म ही नहीं बल्कि पाप भी समझता था। इस असभ्य युद्ध की अमानुषिक क्रूरताओं की तुलना में दया, सेवामय वीरता, उदारता, साहस, धार्मिकता और निष्ठा के बहुत से कार्यों को भी लेख बद्ध किया जा सकता है और उन्हीं में मनुष्य के भविष्य की आशा है।

जब ग़दर दबा दिया गया और पुनः शान्ति स्थापित हो गई तो जैक पाण्डे और टाम एटकिन्स अपने सामान्य काम पर लौट आए। परन्तु विद्रोह ने अधिक उत्तरदायी अंग्रेज और भारतीय लोगों को विचार करने पर विवश किया। ग़दर अवश्यंभावी था। कोई पराधीन राष्ट्र सदा के लिए विदेशी आधिपत्य के साथ समझौता नहीं कर सकता। एक निरंकुश सरकार को अन्त में तलवार से शासन करना ही पड़ेगा चाहे वह तलवार भले ही मखमल के म्यान में रखी हुई क्यों न हो। भारत में तलवार प्रकट रूप से सिपाही सेना की अभिरक्षा में थी। सिपाहियों और उनके विदेशी स्वामियों के बीच जाति, भाषा और धर्म के कोई सामान्य बन्धन नहीं थे। भारतीय आदमी ब्रिटिश ताज के लिए सम्भवतः उस राजभक्ति का अनुभव नहीं कर सकता था जिसे एक अंग्रेज अपनी माता के दूध के साथ प्राप्त कर लेता है। नमक हलाली के दायित्व ने अब तक सिपाही और उनके मालिकों को

---

४४. मेजेण्डी, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १८६-८७

४५. "गरीब ढंग के आदमी शहर में वापस आ रहे हैं, परन्तु हम खेदपूर्वक सुनते हैं कि कभी-कभी स्त्रियों के साथ दुर्व्यवहार किया जाता है और हिन्दू लोगों का जब अपमान किया जाता है तो वे आत्महत्या कर लेते हैं।" रसेल, उद्धृत ग्रन्थ, जिल्द १, पृ० ३६०

४६. टकर, उद्धृत ग्रन्थ पृ० ७८

साथ-साथ रखा था, परन्तु यह राजभक्ति और देशभक्ति का स्थानापन्न नहीं हो सकता था। सिपाही अपनी रोटी के लिए सेना में भर्ती हुआ था। जल्दी या देर से उस पर अपनी कृत्रिम स्थिति के स्पष्ट अपमान की प्रतिकूल प्रतिक्रिया होनी अनिवार्य थी, क्योंकि एक सिपाही के रूप में उसका यह कर्तव्य हो जाता था, कि वह अपने देश को विदेशी लोगों की एड़ी के नीचे रखे। वह सम्भवतः इतने स्पष्ट शब्दों में नहीं सोचता था, परन्तु वह एक असमानता की भावना से पीड़ित था, जिसे वह नहीं भुला सकता था, क्योंकि एक विदेशी सरकार विजित जाति के दो व्यक्तियों के बीच में भले ही सन्तुलन स्थापित कर दे परन्तु वह अधीन जाति के प्रति शासक राष्ट्र के विरुद्ध न्याय नहीं कर सकती। ग़दर सन् १८५७ में अनिवार्य नहीं था परन्तु वह साम्राज्य की रचना में अन्तर्हित था। सन् १८५६ में कुछ अंग्रेज़ लोगों को विश्वास था कि भारतवर्ष को पुनः जीत लिया गया है। इसी प्रकार उन्हें यह भी विश्वास था कि केवल तलवार से देश को अपने अधिकार में रखा जा सकता था और सेना के पुनर्गठन पर तत्काल विचार आवश्यक था। रिकेट्स भारतवर्ष को एक अफ्रीकी सेना के द्वारा शासित देखना चाहता था। फ़ोरजेट ने भारत को एक ब्रिटिश उपनिवेश बनाने का सुझाव दिया परन्तु उसकी योजना के अनुसार उपनिवेशकों को और अधिक नई सेनाएं इंग्लैंड से नहीं भेजी जानी थीं। उन्हें इस देश के निवासियों के साथ अन्तर्जातीय विवाह करने थे। जिससे एक ऐसी नई जाति उत्पन्न हो सके जो इंगलैंड के साथ रक्त और संस्कृति के सम्बन्ध से बंधी हो। हर्बर्ट एडवर्ड्स भारत में ईसाइयत फैलाने का पक्षपाती था क्योंकि जिस समय हिन्दू और मुसलमानों ने अंग्रेज़ों के विरुद्ध सशस्त्र विद्रोह किया, तो जिन लोगों ने धर्म-परिवर्तन कर ईसाई धर्म ग्रहण कर लिया था केवल उन्हीं ने पूरी तरह शासक राष्ट्र के साथ अपने को एकाकार किया। अंग्रेज़ लोग जानते थे कि भारत के लोगों का अपने शासकों के प्रति कोई प्रेम न था, यद्यपि व्यक्तिगत रूप में भारतीयों और अंग्रेज़ों के बीच घनिष्ठतम मित्रता के सम्बन्ध हो सकते थे। एक सुझाव यह भी दिया गया था कि भारतीयों को सेना से बिल्कुल अलग रखना चाहिए और एक विशुद्ध रूप से यूरोपीय सेना को भारत में रखना चाहिए। प्रारम्भ से ही यह अनुभव किया गया था कि एक यूरोपीय सेना, जो इतनी बड़ी हो कि सब आपत्तिक स्थितियों का सामना कर सके, भारतीय राजस्व पर एक बहुत भारी बोझ होगी और जैसा मेडले ने बताया है कुछ परिस्थितियों में वह निष्प्रभ भी होगी जब तक कि उसे पर्याप्त भारतीय सेना के द्वारा अनुपूरित न किया जाए। इसलिए भारतीय सेना को जीवित रहने की अनुमति दे दी गई, परन्तु भारतीयों को तोपखाने से अलग रखा गया। वेतन और भावी उन्नति का भेद पहले के समान तो चलता रहा और जब तक प्रथम विश्व-युद्ध नहीं हुआ कोई भारतीय सेना में कमीशन प्राप्त अफसर पदप्राप्त करने की महत्वाकांक्षा नहीं कर सकता था। अंग्रेज़ लोग उन संकटों को नहीं भूल सकते थे, जो उन पर सन् १८५७ में पड़े थे, और अब उन्होंने संकल्प कर रखा था कि भविष्य में वे कमजोरी का अल्पतम लक्षण भी नहीं दिखाएंगे। इससे कुका विद्रोह के बाद की गई सख्तियों की और अमृतसर में डायर के द्वारा किए गए निर्दय गोलीकाण्ड की व्याख्या हो जाती है। स्त्रियों और बच्चों के वध को भुलाया नहीं गया था।

शिक्षित भारतीयों को पहले सशस्त्र विद्रोह में विश्वास नहीं था और विप्लव की असफलता ने उन्हें अपने विश्वास में पक्का कर दिया। उसने ब्रिटिश उदारता में अपनी आशा रखी और उसे इसमें कोई सन्देह नहीं था कि जैसे ही वह अपने को अधिकारी सिद्ध करेगा हैम्पडन, मिल्टन और बर्क के देशवासी उसके जन्मसिद्ध अधिकार उसे वापस दे देंगे। परन्तु स्थगित आशा ने उसके हृदय को पीड़ित कर दिया और उसका विश्वास हिल गया। इसके बाद एक नई पीढ़ी पैदा हुई जिसे वैधानिक आन्दोलन के ढंग की बजाय इटली के कार्बोनरी और रूस के निहिलिस्ट जैसे हिंसात्मक ढंगों में अधिक विश्वास था। उसने ग़दर की स्मृति से भी प्रेरणा ग्रहण की और दो विश्व-युद्धों के दौरान भारतीय क्रान्तिकारियों ने एक और सैनिक विद्रोह के संगठन करने में ढील नहीं की। भारत में अंग्रेज़ सरकार भी अधिकाधिक सुनिश्चित होती गई कि राष्ट्रीय भारत के साथ अपने राजनीतिक संघर्ष में वह केवल अपनी सेना पर निर्भर नहीं कर सकती। महात्मा गांधी के अहिंसक असहयोग आन्दोलन ने देश से एक नए दर्शन को स्वीकार करवाया और अंग्रेज़ नौकरशाही के ऊपर एक और चोट की। इंग्लैंड भारत से शोभा के साथ और अपनी प्रतिष्ठा की हानि किए बिना चला गया। जिस स्वतन्त्रता के लिए १८५७ के वीर लड़े थे, भारत ने उससे बहुत अधिक प्राप्त कर लिया। उसने स्वतंत्रता भी प्राप्त की है और स्वाधीनता भी।